प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन

लेखक

डा० ईश्वरी प्रसाद

एम० ए०, एल-एल० बी; डी० लिट्०; भूतपूर्व एम० एल० सी०

(इतिहास शिरोमणि, नैपाल)

अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, इतिहास, अध्यक्ष, राजनीति विभाग एवं

इमॅरिटस प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय

एवं

शैलेन्द्र शर्मा, एम० ए०

प्रकाशक

मीनू पब्लिकेशन्स

२० म्योर रोड, इलाहाबाद

प्रकाशक
मीनू पब्लिकेशन्स
२० म्योर रोड, इलाहाबाद

संस्करण : १९८०

मूल्य : १०० रु०

मुद्रक :
बृज कौशल प्रेस
म्योर रोड,
इलाहाबाद-२

प्राक्कथन

विश्व में जितनी भी संस्कृतियाँ तथा सभ्यताएँ उत्पन्न एवं विकसित हुईं, उनमें केवल दो—भारत और चीन—ही ऐसी है जो पारसीकों, यूनानियों, सीथियनों, हूणों तथा तुर्कों के आक्रमण की लहरों तथा आन्तरिक संघर्षों के बावजूद भी चार सहस्र या इससे अधिक वर्ष से लेकर अब तक निरन्तर जीवित रहते हुए अपनी परम्पराओ को अक्षुण्ण रख सकी है। भारत ने सभी वाह्य आक्रमणों को आत्मसात कर लिया और बहुत से यूनानियो, शकों, एवं अन्य विदेशी जातियों को भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का पोषक बना कर उनके लिये भारतीय सामाजिक रचना में एक स्थान निर्धारित कर दिया। केवल इतना ही नही, भारत ने अपनी संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार भी किया। यह प्रसार आक्रमणों द्वारा देशों को जीत कर नहीं, प्रत्युत शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा किया गया था।

भारतीय संस्कृति का सहस्राब्दियों तक निरन्तर चलते रहना, एक आश्चर्यजनक बात है। ऐसा क्यों कर संभव हुआ? इसका उत्तर पाने के लिये हमें भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित मौलिक विचारो, मूल्यों एवं विशेषताओं पर ध्यान देना होगा। प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। इसका यह व्यक्तित्व भारतीयो द्वारा विभिन्न क्षेत्रों और विषयों में किये गये प्रयोगों के परिणामों द्वारा सुदृढ़ हुआ है। भारतीय संस्कृति एक लम्बी और वैविध्यपूर्ण परम्परा है। यह समाज, कला, राजनीति, शासन, साहित्य, धर्म, दर्शन तथा विज्ञान आदि के क्षेत्रों में एक महान और अटूट प्रयास है। इसका जो विशाल दृश्यपट हमारे सामने विस्तृत है, उसमें दृश्यावलियाँ परिवर्तित हो जाती है, धरती पर चलने वाली आकृतियाँ अपरिमेय अज्ञात में विलीन होती रहती हैं, परन्तु विकासक्रम अविच्छिन्न अबाध गति से निरन्तर चलता रहता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकासक्रम में आने वाली घटनाएँ एव परिस्थितियाँ, हमारे सामने जो अनेकरूपता और विविधता उपस्थित करती हैं, हमें उनकी तह में छिपी तात्विक एकरूपता को उजागर करके प्रगति के शाश्वत सिद्धान्तों का अन्वेषण करना है। यही इस ग्रन्थ का वास्तविक विषय है।

अतीत की उपलब्धियो के प्रति अन्धनिष्ठा, हमें सत्य पर आवरण डालने के लिये प्रायः प्रेरित करती है, परन्तु ऐसी भावना से प्रेरित होकर लिखे गये ग्रन्थ व्यापक राष्ट्रहित के लिये अहितकर ही होंगे। इस ग्रन्थ की रचना में उपलब्धियों की महानता के प्रति अन्धनिष्ठा को त्याग कर सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है। काल-क्रमानुसार मूल ग्रन्थो की सहायता ली गई है। ग्रन्थ के प्रणयन में आधुनिक गन्वेषणात्मक रचनाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया गया है। उन सभी विद्वान लेखकों के हम आभारी हैं जिनकी कृतियो का प्रत्यक्ष या गौण रूप से उपयोग किया गया है। वैसे इस ग्रन्थ का विषय क्षेत्र ही इस प्रकार का है कि उसमें 'मौलिकता का प्रदर्शन' करने का प्रश्न ही नहीं उठता, फिर भी हमें अपनी परिसीमाओं का पूरा आभास है और हम इस बात को भली-

भाँति समझते हैं कि इस ग्रन्थ में कोई गुण है तो उसका समस्त श्रेय उन विद्वानों को है जो सम्बन्धित विषयों के प्रकाण्ड पण्डित हैं और जिन्होंने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों और रचनाओं द्वारा हमारा पथ-प्रदर्शन किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में प्राचीन भारतीय संस्कृति के सभी पहलुओं का विवरण दिया गया है। इसकी रचना भारत के कई विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिये स्वीकृत विषय 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' के अनुकूल पाठ्यक्रम तथा लोक सेवा आयोग द्वारा पी० सी० एस० प्रतियोगितात्मक परीक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर की गई है। यथाशक्ति, ग्रन्थ को उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है तथा इसमें अन्य उपलब्ध पुस्तकों की अपेक्षा अधिक सामग्री दी गई है। प्रत्येक विषय को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करते हुए, उसे सरल और सुगम बनाने की चेष्टा भी की गई है।

—ईश्वरी प्रसाद,
—शैलेन्द्र शर्मा

विषय-सूची

———

अध्याय एक

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व

यदि विश्व इतिहास पर व्यापक दृष्टि से विचार किया जाये, तो यह मालूम होता है कि सम्पूर्ण मानव जाति और उसके क्रियाकलापो के कुछ मौलिक और आधारभूत लक्षण हैं जो हमारे वर्तमान से अधिक महत्वपूर्ण और प्राथमिक है। ये आधारभूत लक्षण ही संस्कृति को एक रूप, गुण, विशिष्टता और श्रेष्ठतम परम्पराएँ प्रदान करते है। दूसरे शब्दो मे, संस्कृति मानव जाति को समतुलन और दृढता प्रदान करती हे। संस्कृति के विषय मे विचार करने का अर्थ और मन्तव्य यह हे कि संस्कृति को जीवित रखने वाले मूल्यो, आदर्शों, विश्वासो और उसकी दिशा निर्धारित करने वाली शक्तियो के विषय मे ठोस परिणाम प्राप्त किये जायें। इस दिशा मे प्रयास करते समय सर्व प्रथम यह प्रश्न उठता है कि संस्कृति क्या है?

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ

हिन्दी भाषा मे प्रयुक्त किया जाने वाला 'संस्कृति' शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। 'संस्कृति' मे दो शब्द हे—'सम' + 'कृति'। इस शब्द का मूल 'क' धातु मे हे—जिसका अर्थ हे क्रिया। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का शाब्दिक अर्थ—सम प्रकार अथवा भली प्रकार किया जाने वाला व्यवहार अथवा क्रिया हे। यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक हे। संस्कृति शब्द का एक अन्य अर्थ संस्कार से भी जोडा जाता हे। अँग्रेजी भाषा मे संस्कृति के लिये 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया जाता हे। यह शब्द लैटिन भाषा के 'कलचुरा' तथा 'कोलियर' से निकला है। इन दोनो लैटिन शब्दो का अर्थ क्रमशः 'उत्पादन' तथा 'परिष्कार' है। उत्पादन तथा परिष्कार से जो अर्थ निकलता है उनके अनुसार संस्कृति को 'परिष्कृत मानसिक उत्पादन' माना जा सकता है। अनेक भाषाओ मे संस्कृति के लिये जो विभिन्न शब्द मिलते है उन सभी से संस्कृति का सम्बन्ध क्रिया, व्यवहार, उत्पादन, संस्कार तथा परिष्कार से जुडा मिलता ह। संस्कृति मे व्यक्ति तथा समाज की वे क्रियायें, उत्पादन, व्यवहार, संस्कार तथा परिष्कार सम्मिलित है जिनके द्वारा व्यक्ति तथा समाज के लक्षणों को पहचाना एवं परखा जा सकता हे। इस आधार पर यह कहा जा सकता हे कि संस्कृति मानव के आदि काल से लेकर आज तक की वह संचित निधि है जो उत्पादन तथा परिष्कार द्वारा निरन्तर प्रगति करती हुई, एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती चली आई है तथा भविष्य मे भी उसकी यही गति रहेगी।

संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति का अर्थ बडा ही व्यापक है। इसकी व्यापकता के फलस्वरूप सस्कृति की परिभाषा भी अनेक दृष्टिकोणो से की गई है। इससे पूर्व कि हम संस्कृति की परिभाषा स्वयं अपने ही शब्दो मे करें, कतिपय विद्वानो की सस्कृति के विषय मे की गई परिभाषा को समझ लेना उचित होगा।

डा० जी० सी० पाण्डेय के अनुसार—'मूलत सस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, अनुभव के मूल्याकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और मूलभूत प्रकार है। विचार, भावना तथा आचरण के विभिन्न प्रस्तरो मे संस्कृति की सिद्धि है। इस दृष्टि स्वरूपा संस्कृति की सिद्धि के वाह्य विस्तार निरन्तर वदलते रहते हैं किन्तु उनकी प्रभावात्मक दृष्टि और प्रेरणा का अनुस्यूत, वृहत्तर और गम्भीरतर सत्ता के रूप मे बना रहता है और किसी भी समाज के जीवन मे चेतना का यह गहरा और अटूट अनुबन्ध ही सस्कृति का सार है।"

श्री मैथ्यू आर्नाल्ड ने संस्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"Culture is the pursuit of our total perfection by means of getting to know all matters that most concern us, the best which has been thought and said in the world."

पं० जवाहरलाल नेहरू के अनुसार—"संस्कृति क्या है? शब्दकोष उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाये मिलती है। एक वडे लेखक का कहना है कि समार मे जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई है उनसे स्वय को परिचित कराना सस्कृति है। एक अन्य परिभाषा मे कहा गया है कि संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचि की परिष्कृति अथवा शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। इन सभी अर्थो मे संस्कृति किसी ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है।"

श्री ए० एन० ह्वाइटहेड महोदय के अनुसार—Culture is the complex whole, which includes knowledge, beliefs, art, morals, laws, customs and any other capacities and habits acquired by man as a member of the society"

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार—"संस्कृति अपने सदस्यो को विपरीत दिशाओ मे क्रियाशील वलो को अत्यन्त सूक्ष्म सतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न सतुलन और दृढता प्रदान करती है।……सभ्यता का कठोर हो जाना ही संस्कृति है।"

ओटावी महोदय का कथन है—"सामाजिक संस्कृति का अर्थ है सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ढंग।"

डा० रामधारीसिंह दिनकर ने संस्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"असल मे संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियो से जमा होकर उस समाज मे छाया रहता है जिसमे हम जन्म लेते है।……अपने जीवन मे हम जो सस्कार जमा करते है वह भी हमारी संस्कृति का अंश वन जाता है और मरने के वाद हम अन्य वस्तुओ के साथ साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी भावी पीढ़ियो के लिये छोड जाते हैं। इसलिये संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास मे अनेक सदियो के अनुभवो का हाथ है। यही नही, अपितु सस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तरो तक करती

है। अपने यहाँ एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार होता है उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है।' सस्कार या संस्कृति असल मे शरीर का नही, आत्मा का गुण है।"

संस्कृति सम्बन्धी उपरोक्त अभिव्यक्तियो पर विचार करने के उपरान्त संस्कृति की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव की दशा तथा दिशा का बोध कराती है। संस्कृति को मानव की समस्त उपलब्धि माना जा सकता है। संस्कृति मानव जीवन का आधारभूत लक्षण है। इसमे मानव जीवन के समस्त गुण निहित हैं। सस्कृति के गुणो के वशीभूत होकर ही मनुष्य उन क्रियाओ को करता है जो उसे ज्ञान-विज्ञान, समाज, धर्म, साहित्य, कला, दर्शन और चिन्तन की ओर अग्रसर करती हैं। समस्त मानव सभ्यता के विकास की कहानी संस्कृति के रूपो का ही बखान करती है। मानव की समस्त क्रियाओ, व्यवहारो, उत्पादन, परिष्कार एवं उन्नति का मिला जुला रूप ही सस्कृति है। संस्कृति द्वारा सत्यं, शिव, सुन्दरम् के लिये मनमस्तिष्क मे आकर्पण उत्पन्न होता है और उसकी अभिव्यक्ति होती है। संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का पूर्ण विकसित रूप है।

संस्कृति के तत्व तथा उपकरण

जैसा कि हमने पहले कहा है संस्कृति का सम्बन्ध मानव की क्रियाओ तथा उसके वैचारिक जगत मे है। क्षुधा, तृष्णा तथा यौन सम्बन्धो की पूर्ति तो समस्त प्राणी समान रूप से प्राकृतिक नियमानुसार कर लेते है परन्तु मनुष्य अन्य प्राणियो की अपेक्षा भिन्न है। प्राणीजगत मे मनुष्य की स्थिति को अलग करने का श्रेय केवल उसकी संस्कृति को ही प्राप्त है। पशुओ की कोई संस्कृति नही होती अतः वे क्षुधातृष्णा तथा वशवृद्धि के क्रियाक्रम मे ही बधे हुये है। इसके विपरीत मानव संस्कृतियुक्त प्राणी है—उसका अपना एक विशिष्ट ढंग है। फलतः वह प्राकृतिक क्षुधा तृष्णा को शान्त करने के साथ साथ अन्य अनेकानेक कार्य भी करता है। संस्कृति के तत्वो तथा उपकरणो का सम्बन्ध मनुष्य की जिन क्रियाओ से है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) आदर्श परम्पराएँ, रीतिरिवाज, विश्वास तथा दृष्टिकोण।
(२) सद्गुण, व्यक्ति की भावनाएँ, स्थायी भाव इत्यादि।
(३) विज्ञान, विचार, वैचारिक प्रणाली, क्रिया तथा कौशल आदि।
(४) आध्यात्मिक मूल्य, धर्म, धार्मिक क्रियायें तथा धर्म दर्शन।
(५) कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, साहसिक अभिरुचियाँ तथा कलात्मक कल्पना आदि।
(६) सामाजिक कुशलता, नियन्त्रण, अनुशासन, नियम, विधि आदि।
(७) शासन व्यवस्थायें, न्याय, दण्ड तथा सम्मान आदि।
(८) पारिवारिक व्यवस्थायें, परिवार की कार्य प्रणाली तथा संगठन।
(९) मानव की भौतिक आवश्यकतायें तथा भौतिक जीवन को उन्नत करने वाले साधन।
(१०) भाषा, सकेत, लिपि तथा भावो को अभिव्यक्त करने वाले साधन।
(११) आर्थिक सगठन तथा सम्पत्ति का विभाजन तथा व्यवस्था।
(१२) सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली विभिन्न संस्थायें।
(१३) मनोरंजन तथा अवकाश काल की क्रियाये आदि।
(१४) वाणिज्य, व्यापार, उद्योग तथा सुविधाओ का आदान-प्रदान आदि।

(१५) वैदेशिक सम्बन्ध तथा उनका नियमन एवं निर्धारण।

(१६) यातायात के साधन, भ्रमण आदि।

(१७) युद्ध तथा शान्तिकाल की व्यवस्था आदि।

(१८) ज्ञानार्जन, अध्ययन तथा मानसिक स्तर को ऊँचा उठाने वाले साधन।

संस्कृति मानव सभ्यता का सारतत्व है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते है कि मानव जीवन की समस्त आवश्यकताओ को संस्कृति के उपकरणो के रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संस्थाओ, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, नाटक, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, गृह निर्माण, उपासना गृह, वस्त्राभूषण, वर्तन, जीवन के उपयोगी यन्त्र-उपकरण आदि, विभिन्न पर्व, संस्कार, संगीत, मनोरंजन के साधन, क्लब, पुस्तकालय, नाट्य संग्रहालय, उद्योगशालाएँ, विद्यालय, खेलकूद आदि संस्कृति के विभिन्न उपकरण हैं।

संस्कृति की प्रकृति

इतिहास पर व्यापक दृष्टि डालने से विदित होता है कि सम्पूर्ण विश्व मे संस्कृति के अनेक रूप तथा गुण हैं—जो तुलनात्मक दृष्टि से एक दूसरे मे समानता रखते हैं। हिन्दू संस्कृति, मुसलमान संस्कृति या पूर्व की संस्कृति और पश्चिम की संस्कृति अलग-अलग शब्द हैं परन्तु इन सब के कुछ मौलिक लक्षण हैं जो सभी संस्कृतियो मे समान रूप से विद्यमान हैं।[1] इन मौलिक लक्षणो मे ही संस्कृति की प्रकृति निहित है। संस्कृति की प्रकृति की विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं—

(१) **संस्कृति एक सामाजिक प्रक्रिया है**—संस्कृति का विकास सामाजिक वातावरण मे होता है। यह किसी एक व्यक्ति के या व्यक्तिगत प्रयास का परिणाम नही होती है। संस्कृति मे मानव जाति की सामाजिक अभिव्यक्ति होती है अत यह कोई व्यक्तिगत प्रकिया नही, वरन सामाजिक प्रक्रिया है।

(२) **संस्कृति का प्रवाह निरन्तर तथा अनावरुद्ध है**—संस्कृति कोई जड़ या स्थिर वस्तु नही है। मानव के विकास के साथ-साथ संस्कृति भी विकासशील तथा निरन्तर है। यह एक पीढी द्वारा दूसरी पीढी को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती रहती है।

(३) **संस्कृति का स्वरूप आदर्श होता है**—संस्कृति द्वारा आदर्शो की प्राप्ति तथा निर्धारण किया जाता है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते है कि संस्कृति द्वारा समाज के आदर्श निर्धारित किये जाते है तथा सांस्कृतिक विकास द्वारा उन आदर्शो की प्राप्ति की जाती है।

(४) **संस्कृति मे अनुकूलन की क्षमता होती है**—संस्कृति कोई जड विचारधारा नही है वरन वह परिवर्तनशील तथा अनुकूलनशील होती है। मानव की आवश्यकताओ तथा वैचारिक परिवर्तनो के अनुरूप संस्कृति अपना अनुकूलन कर लेती है। गणित अथवा विज्ञान की भाँति इसके नियम शाश्वत तथा जड नही हैं।

(५) **संस्कृति व्यावहारिक होती है**—यद्यपि संस्कृति के तत्व सैद्धान्तिक होते हैं तथापि ये सिद्धान्त पूर्णत: व्यावहारिक होते है। अपनी व्यावहारिकता के कारण ही संस्कृति मे निरन्तरता तथा अनुकूलन की प्रवृत्ति पायी जाती है।

---

१. डा० राधाकृष्णन 'पूर्व और पश्चिम'।

(६) संस्कृति में मानव की भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति का समन्वय होता है—यद्यपि मनुष्य की शारीरिक स्थिति भौतिक जगत से सम्बन्धित है तथापि उसके मस्तिष्क का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत से होता है। संस्कृति द्वारा मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

(७) संस्कृति द्वारा अनेकता में एकता की स्थापना होती है—देश, काल अथवा जातियों की अनेकता के कारण संस्कृति का भी विभाजन किया जाता है परन्तु यह अध्ययन के लिये ही किया जाता है। अपने सम्पूर्ण अर्थों तथा प्रवृत्ति मे मानव जाति की संस्कृति एक है तथापि उसके वर्ग अनेक हैं।

संस्कृति की व्यापकता अथवा विस्तार क्षेत्र

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन की सर्वागपूर्ण अवस्था है। यह जीवित रहने का ढग है। यदि विवेचनात्मक दृष्टि से निरीक्षण किया जाये तो हमे इस परिणाम की प्राप्ति होगी कि जन्म से लेकर मृत्यु तक तथा उसके भी उपरान्त जन्म जन्मान्तर तक संस्कृति समस्त मानव चेतना को व्याप्त किये हुए है। व्यक्ति के आचरण, चिन्तन, क्रियाशीलता, ज्ञान, आध्यात्म एवं कल्पना मे संस्कृति का ही रूप स्थित है। संस्कृति मानव जीवन के आन्तरिक तथा वाह्य रूप को समान रूप से व्याप्त किये हुए है। यह मानव जीवन की एक परम तथा आवश्यक विशेषता है तथा इसमे सभ्य मानवता के सर्वश्रेष्ठ गुण विद्यमान है। जीवन का कोई भी अग संस्कृति की परिधि के बाहर नही है। संस्कृति के वशीभूत हो कर मानव उन क्रियाओं को करता है जिनके द्वारा उसका भविष्य निर्धारित होता है। डा० रामधारी सिह 'दिनकर' के अनुसार "संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना एवं विकास मे अनेक पीढ़ियों के अनुभवों का हाथ है।" सक्षेप मे, हम कह सकते है कि संस्कृति मानव के भौतिक तथा पारलौकिक जगत को समान रूप से व्याप्त किये हुए है। अपने विस्तार क्षेत्र के अनुरूप संस्कृति जीवनयापन की विधि है। संस्कृति के रूपो का उत्तराधिकार मनुष्य के साथ-साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला उसी के अग हैं।

सभ्यता और संस्कृति

स्पैंग्लर के शब्दो में, "संस्कृति कठोर होकर सभ्यता बन जाती है, एक निश्चित आकार ग्रहण कर लेती है, जिसमे कोई और रूप धारण करने और आगे विकास की क्षमता नही रह जाती।" सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों को प्रायः साथ-साथ प्रयुक्त किया जाता है। इन दोनो शब्दो को एक साथ प्रयुक्त करने का कारण इनकी व्यापकता है। ये दोनों विषय मानव की गाथा के साथ सम्बन्धित हैं अतः इनके बिना मानव इतिहास तथा मानव के क्रियाकलापों का अनुमान, मूल्यांकन तथा उद्देश्य समझ पाना असंभव है। सभ्यता तथा संस्कृति मानव समाज की उपलब्धियो की ओर संकेत करती है। ये दोनो शब्द मानव जाति के उदय, विकास तथा सामूहिक जीवन से सम्बन्धित हैं। सभ्यता तथा संस्कृति के अन्तर को समझ लेना तभी सम्भव है जबकि हम इन दोनो के अर्थों को स्पष्ट रूप से समझ लें।

सभ्यता का अर्थ

सभ्यता का सम्बन्ध उपयोगिता से होता है। मनुष्य केवल उन्ही कार्यों को करता है जो

उसके लिये उपयोगी होते हैं। सभ्य जीवन का प्रारम्भ क्रियाशीलता द्वारा उपयोगिता की प्राप्ति स्वरूप हुआ है। जंगलीपन अथवा बर्बरता की स्थिति से उभर कर जब मनुष्य ने अपनी सुरक्षा, सुविधा तथा सामाजीकरण की ओर प्रथम चरण उठाये तभी से उसे 'सभ्य' की संज्ञा मे विभूषित किया जाने लगा। दूसरे शब्दो मे हम कहते हैं कि जब मनुष्य ने बन्दर की स्थिति को त्याग कर अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सफल प्रयोग करने प्रारम्भ किये तभी वह सभ्यता की स्थिति मे आ गया। इस प्रकार सभ्यता बर्बरता के विरुद्ध जीवित रहने की दशा है।

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति के अर्थ को सभ्यता के अर्थ के सन्दर्भ मे भी समझा जा सकता है। सभ्यता जीवित रहने की दशा है तो संस्कृति इस दशा को दिशाबोध कराती है। भौतिक लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु किये गये प्रयासो से जिन परिणामो की प्राप्ति हुई—उन्ही परिणामो को संस्कृति की संज्ञा प्राप्त है। संस्कृति का सम्बन्ध उपयोगिता से न होकर, उपयोगिता से प्राप्त मूल्यो से है। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।

जब मनुष्य लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है तो सभ्यता का जन्म होता है और जब मनुष्य को लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है तो उसके क्रियाकलाप, विचार एवं कल्पना आदि परिष्कृत हो जाते हैं—यह परिष्कार ही संस्कृति है। सभ्यता तथा संस्कृति के अर्थो के आधार पर हम इन दोनो के अन्तर को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) **सभ्यता तथा संस्कृति का अन्तर अनिश्चिततापूर्ण है**—सभ्यता के श्रेष्ठ गुणो को ही प्रायः संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस दृष्टिकोण से सभ्यता तथा संस्कृति एक दूसरे के पर्यायवाची तो हैं ही, साथ ही इनके अन्तर को तत्काल नही समझा जा सकता। संस्कृति रूपी पुष्प सभ्यता रूपी उद्यान मे ही खिलते हैं अत. सभ्यता तथा संस्कृति का अन्तर अनिश्चितताओ से भरा हुआ है और इसे स्पष्ट रूप से कह पाना सम्भव नही।

(२) **सभ्यता तथा संस्कृति भिन्न है**—सभ्यता भौतिक उपलब्धियो की प्राप्ति हेतु प्रयास करके जीवन के उपकरणो की प्राप्ति करना है तथा संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक, मानसिक तथा चिन्तन जगत से है।

(३) सभ्यता का सम्बन्ध जीवनोपयोगी साधनो से है तथा संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा, मन, और मस्तिष्क से है।

(४) सभ्यता ने मनुष्य को केवल सभ्य बनाया है तथा संस्कृति ने मानव को 'सुसंस्कृत भद्र' बनाया है।

(५) सभ्यता मनुष्य के विकास की कहानी है तो संस्कृति उसके जीवन की अर्थपूर्ण व्याख्या है।

(६) सभ्यता केवल भौतिक उपलब्धियो से सम्बन्धित है तथा संस्कृति भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का प्रतिनिधित्व करती है।

सभ्यता तथा संस्कृति का सम्बन्ध

सभ्यता तथा संस्कृति का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि उन्हे एक दूसरे से अलग करना असंभव सा है। सभ्यता का विकास सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे होता है। मनुष्य द्वारा समाज, सामाजिक

प्रयास द्वारा सभ्यता तथा सभ्यता के साथ संस्कृति का क्रमिक विकास हुआ है। यह विकास पूर्णत: एक विकासवादी प्रक्रिया का परिणाम है। जब मनुष्य अपने प्रयास द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ तो सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। यह सभ्यता सामाजिक वातावरण मे ही सम्भव हो पायी थी। जब सभ्यता ने अपने लक्ष्यो की प्राप्ति की तो कतिपय परिणाम सामने आये—ये परिणाम ही संस्कृति के तत्व हैं। इस प्रकार व्यक्ति, समाज, सभ्यता तथा सस्कृति मानवजाति की प्रगति के बढते हुए चरण है। अत. सभ्यता तथा संस्कृति का सम्बन्ध क्रमिक है।

मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता स्वयं उसके अपने अस्तित्व को बनाये रखना है। इसके लिये मनुष्य ने विभिन्न उपयोगी कार्य किये—जैसे अन्नोत्पादन, जीवन की सुरक्षा हेतु प्रबन्ध, दैनिक जीवन के उपकरणो का निर्माण आदि। जब उसका अपना जीवन सुरक्षित एवं निश्चिन्त हो गया तो उसका ध्यान अपने मानसिक जगत की ओर गया तथा उसने संस्कृति के गुणो का विकास किया। क्षुधा तथा तृष्णा शान्त होने पर मानसिक क्षुधा जागृत हुई तो उसने अनेकानेक अभौतिकीय कल्पनाएँ की तथा इनसे मधुर सम्बन्ध, प्रेम, धर्म, कला, साहित्य, सुरुचिपूर्ण निर्माण, आनन्द, चिन्तन और दर्शन आदि सास्कृतिक क्रियाओ का जन्म हुआ। शनै. शनै. ये सास्कृतिक क्रियाएँ भी अत्यावश्यक हो गईं। इस प्रकार सभ्यता तथा संस्कृति बिलकुल एकाकार हो गई।

सभ्यता तथा सस्कृति की आदि गाथा मे पहले तो मनुष्य सभ्य हुआ और फिर उसने सास्कृतिक गुणो का विकास किया परन्तु कुछ ही समय पश्चात सभ्यता सस्कृति की अनुगामिनी हो गई। अब सस्कृति ने सभ्यता को विकसित होने की क्षमता प्रदान करना शुरू किया और आज हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि सस्कृति के अभाव मे सभ्यता का अपना अस्तित्व नही हो सकता।

सभ्यता तथा संस्कृति के सम्बन्ध का एक अन्य पक्ष यह है कि इन दोनो के बीच कोई मौलिक भेद नही है। सभ्यता तथा सस्कृति आपस मे कुछ इस तरह घुल मिल गई है कि उनके मध्य कोई भेद करना असंभव सा है। निवास के लिये एक झोपडी भी पर्याप्त है परन्तु अनेक प्रकार की सुख सुविधाओ से युक्त कलात्मक भवनो का भी निर्माण किया जाता है। उपयोगी वस्तुओ को बनाते समय यह भी प्रयास किया जाता है कि वे टिकाऊ होने के साथ साथ सुन्दर और कलात्मक भी हो। इस प्रकार मनुष्य के उपयोगी टिकाऊ क्रिया कलापो पर उसकी चिन्तन, कल्पना तथा सौन्दर्य सम्बन्धी अभिरुचियो का प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि अपनी आदि अवस्था के बाद सभ्यता तथा संस्कृति साथ साथ विकसित होती चली आ रही है।

भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता

किसी भी देश की मौलिक एकता का सम्बन्ध उस देश की भौगोलिक स्थिति, सास्कृतिक मूल्यो तथा विश्वासो से होता है। सम्पूर्ण रूप मे सस्कृति का विकास विभिन्न तत्वो, विश्वासो तथा मूल्यो द्वारा होता है। किसी भी देश की एकता की बात करने का अर्थ है—उस देश के मूल्यो, विश्वासो, सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक विचारो, परम्पराओ, आचार-विचार तथा व्यवहार आदि की बात करना। राष्ट्रीय एकता तभी तक जीवित रह सकती है जब तक कि वहाँ की सस्कृति अपने आदर्शों मे एकताबद्ध रहती है। आदर्श खण्डित हो जाने पर विश्वास टूट जाते है। विश्वास का टूटना सास्कृतिक ह्रास का लक्षण है। संस्कृति की जड़ें यदि मजबूत होगी तो वह संस्कृति एक

दिन कठोर होकर महान् सभ्यता का रूप धारण कर लेगी। इस प्रकार किसी भी देश की मौलिक एकता के लिये विश्वासो, मूल्यों तथा आदर्शो मे समन्वय तथा सहिष्णुता होना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि मौलिक एकता का अर्थ किसी भी देश के वंशो, वर्णो, जातियो, धर्मो, भाषाओ, रीति रिवाजो, वस्त्राभूषणो एवं अन्य अनेक विभिन्न तत्वो मे एकीकरण तथा समन्वय स्थापित करना है।

भारतीय सस्कृति का इतिहास विविधताओ के मध्य एकता की स्थापना करने की गाथा है। डा० वेनी प्रसाद के अनुसार "बहुत पुराने समय मे ही जब आना जाना बहुत मुश्किल था—भारतवासियो ने बहुत अच्छी तरह समझ लिया था कि हमारा देश तथा शिष्टाचार बाहर वालो से जुदा है। रामायण तथा महाभारत के समय मे 'भारतवर्ष' नाम मे काश्मीर तथा कन्याकुमारी तक के तथा सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक के देश का सम्बोधन होने लगा था। आपस मे कितना ही फर्क हो पर दूसरो के सामने सब भारतवासी एक से जान पड़ते थे। सभ्यता तथा संस्कृति के विभिन्न अंगो मे इस एकता का प्रतिबिम्ब नजर आता।' प्राचीन काल से लेकर आज तक की भारतीय सस्कृति के रूपो मे वैविध्यपूर्ण एकता है। प्रश्न उठता है कि भौगोलिक, सामाजिक, रूढ़ियो, परम्पराओ, रहन-सहन, खान पान, वेशभूषा, रीतिरिवाज, आध्यात्मिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विषमताओ तथा विविधताओ के बावजूद भारतीय संस्कृति मे मौलिक एकता होने के क्या कारण हैं? इस एकता का क्या आधार है?

(१) भारत की भौगोलिक अनेकता में एकता—भारत की भौगोलिक स्थिति तथा वातावरण की पाँच प्रमुख विशेषताएँ हैं—यथा (१) पृथक्त्व; (२) सम्पर्क; (३) विशालता; (४) विविधता तथा (५) एकता। इन विशेषताओ के कारण विश्व के मानचित्र मे भारत को ससार का 'संक्षिप्त प्रतिरूप' कहा जाता है। जब हम मौलिक एकता के सन्दर्भ मे भारत की भौगोलिक विशेषताओ की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमे विदित होता है कि भारत की भौगोलिक विविधताओं तथा अनेकरूपता ने भारत की सस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। राजनैतिक क्षेत्र मे भौगोलिक अवस्था ने देश को एकता के रूप मे प्रशासित करने वाले तन्त्र की स्थापना को असंभव बना दिया। फलस्वरूप भारतीय राजनीति मे फ्रान्स या इगलैण्ड जैसी एक शासन पद्धति नही रही। परन्तु जब हम भारत की भौगोलिक अनेकता को सास्कृतिक दृष्टिकोण से देखते है तो हमे एक अद्भुत तथा आश्चर्यजनक परिणाम की प्राप्ति होती है। राजनैतिक अलगाव के होते हुए, भारतीय सस्कृति की एकता—विरोधाभास सा प्रतीत होती है। इस क्षेत्र मे भौगोलिक अवस्था सस्कृति द्वारा पूर्ण रूप से विजित कर ली गई है। भौगोलिक विविधता के होते हुए भी भारतीय सस्कृति एक जैसे आदर्शो, विचारो तथा विश्वासो मे बधी हुई है। कन्याकुमारी मे रहने वाले भारतीय के लिये कैलाश पर्वत उतना ही पवित्र है जितना की उत्तर मे रहने वाले भारतीय के लिये रामेश्वरम्। भारतीय तीर्थ भारत के कोने-कोने मे विस्तृत है तथा इन सब की यात्रा करना आवश्यक समझा जाता है। 'आपस मे कितना अन्तर हो, परन्तु दूसरो के सामने भारतवासी एक से जान पडते हैं।' भारतीय सस्कृति के अनेक अगो मे इस एकता का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है।

(२) जातिगत अनेकता मे एकता—आर्य, द्रविड, शबर, पुलिन्द, मगोल, किरात, हूण, यवन, शक, पह्लव, अरब, तुर्क, पठान आदि जातियो ने इस देश के जातिगत वातावरण को विभिन्नताओ से परिपूर्ण किया हुआ था। इन जातियो के शारीरिक, मानसिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा पारम्परिक

व्यवहार और सिद्धान्त अलग-अलग हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति की उदारता एव सहिष्णुता ने सभी जातियो को स्वयंभू कर लिया। जब भी कोई जाति किसी भी रूप मे भारत आई तो शुरू शुरू मे तो उसकी जातिगत भावना प्रबल रही परन्तु जब भारतीय सस्कृति से उसका सामना हुआ तो शनै. शनैः उसकी जातिगत भावना निर्बल होती गई और उसने भारतीयता का परिवेश धारण कर लिया। नाम अलग रहें, रूप भिन्न रहे—परन्तु भारतीय सस्कृति मे एकीकरण की प्रक्रिया इतनी सशक्त थी कि सभी जातियो मे भावात्मक एकता बनी रही। अनेकानेक प्रमाण तथा इतिहास की घटनाएँ इस मान्यता की पुष्टि करती हैं कि भारतीय जातियो की अनेकता मे एक अद्भुत एकता है।

(३) **भाषागत अनेकता में एकता**—भारत को प्राय. भाषाओ का अजायब-घर कहा जाता है। भारत मे लगभग १८० भाषायें है। यह स्वाभाविक भी है कि जहाँ पर विभिन्न जातियाँ होगी—वहाँ अनेक भाषाएँ भी होगी। द्रविड, कोल, आर्य, ईरानी, यूनानी, हूण, शक, मध्य युगीन अरब, तुर्क, पठान, मंगोल तथा पश्चात् कालीन डच, फ्रेंच, अंग्रेज आदि की भाषा अलग-अलग थी—परन्तु जब उन्होने इस देश मे बसना शुरू किया तो एक दूसरे को समझने तथा विचारो के आदान-प्रदान की आवश्यकता पडी। फलस्वरूप एक ऐसी भाषा का जन्म हुआ जो भारत के अधिकाश की भाषा बन गई। भारत को लगभग समस्त भाषाओ मे संस्कृत का पुट है। बंगला, तामिल तथा तेलगु भाषा पर तो संस्कृत का बहुत ही गहरा प्रभाव पडा। मुसलमानो के साथ फारसी भाषा आयी तथा संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओ के प्रभाव द्वारा उर्दू का जन्म हुआ। फिर जब अंग्रेज आये तो अंग्रेजी भाषा का प्रसार हुआ। इस प्रकार भारत मे अनेक भाषाये तो आयी परन्तु आधुनिक समय तक हमे यहाँ पर भाषागत टकराव का कोई प्रमाण नही मिलता। स्वाधीन भारत ने भाषागत अनेकता को एकता के रूप मे परिवर्तित करने के लिये हिन्दी को राष्ट्र भाषा की मान्यता दी है परन्तु इस विषय मे कतिपय तत्व बाधाये उत्पन्न कर रहे है। हमे आशा करनी चाहिये कि एक दिन भारत की रही सही भाषागत अनेकता एकता मे परिवर्तित हो जायेगी।

(४) **धार्मिक अनेकता मे एकता**—जब हम भारतीय धर्मो की अनेकता के विषय मे विचार करते है तो हमे इस निष्कर्ष की प्राप्ति होती है कि यहाँ पर सदैव से ही अनेक धर्मों तथा धार्मिक सम्प्रदायो का बोलबाला रहा है। परन्तु विभिन्न धर्मो के मतानुयायी अपनी धार्मिक विभिन्नता के विपरीत भी स्वयं को भारतीय मानते हैं। विभिन्न धर्मानुयायी अपने धर्म मे विश्वास रखते हुए भी एक मानवधर्म मे आस्था रखते हैं। भारतीय आत्मा धर्म निरपेक्ष है।

(५) **राजनैतिक अनेकता में एकता**—भारत मे मुगलो के समय तक राज्यतन्त्रात्मक प्रणाली की प्रधानता रही। अंग्रेजो के शासनकाल मे परोक्षरूप से तानाशाही प्रणाली कार्य करती रही परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत ने गणतन्त्रीय प्रणाली को अपनाया। इन शासन प्रणालियो के अन्तर्गत भारतीय राजनैतिक वातवरण मे अनेकता होते हुए भी एकता की भावना बनी रही। राज्यतन्त्रीय राजनैतिक प्रणाली के अन्तर्गत सदैव से ही विशाल साम्राज्य स्थापना के प्रयास किये जाते रहे। मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य भारत की राजनैतिक एकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के संग्राम मे समस्त भारत ने एकजुट होकर राजनैतिक एकता का परिचय दिया। गणतन्त्रीय प्रणाली अपनाये जाने के उपरान्त भारत मे अनेक राजनैतिक विचारधाराओ के राजनैतिक संगठनो

तथा दलो का जन्म हुआ। ये सभी राजनैतिक दल—पारस्परिक मतभेद होते हुए भी—भारत की राजनैतिक एकता को सर्वोपरि मानते है।

(६) **सामाजिक अनेकता में एकता**—भारत का सामाजिक जीवन एक सरीखा है। यद्यपि भारत की सामाजिक इकाइयो के रूप में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन तथा बौद्ध आदि अपने सामाजिक विश्वासो, परम्पराओ तथा रीति-रिवाजो मे भिन्न है तथापि उनके पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध सहिष्णु, उदार तथा मधुर है। भारतीय समाज का आदर्श तथा उद्देश्य लोकमंगल एवं मानव कल्याण है। भारतीय समाज मे लचीलापन है तथा इसकी प्रवृत्ति समन्वयवादी है। कठोर से कठोर दुर्भाग्य भी हमारी सामाजिक संस्कृति की एकता को नही मिटा पाया है।

(७) **आर्थिक विषमता में समता**—यद्यपि आधुनिक समय मे आर्थिक विषमता का प्राबल्य है तथापि प्राचीनकाल मे वस्तु स्थिति ऐसी नही थी। आर्थिक दृष्टि से समस्त भारतीयों की दशा सन्तोषजनक थी। आर्थिक विषमता के होते हुए भी समाज मे आर्थिक सन्तोष था। परन्तु आधुनिक भारत मे आर्थिक समता की बात को कदापि स्वीकार नही किया जा सकता। इस विषय में पं० नेहरू ने उचित ही लिखा है "अमीरी और गरीबी से उपजी हुई अनगिनत बाते सभी जगह हैं और इसके हैवानी पंजे के निशान हर माथे पर लगे हुए हैं।" हमारा विचार है कि भारत की बढती हुई आर्थिक विषमता पर यदि शीघ्र ही अंकुश न लगाया गया तो हमारी संस्कृति तथा बुनियादी विश्वासो के लिये संकट उत्पन्न हो जायेगा।

(८) **सांस्कृतिक एकता**—संस्कृति का सम्बन्ध मन तथा हृदय से होता है। मन तथा हृदय से भारत एक है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, जातिगत अनेकता आदि को एकता के सूत्र मे पिरोने का श्रेय भारतीय संस्कृति को है। भारत मे मन तथा हृदय की सास्कृतिक एकता न होती तो पता नही इस देश का रूप आज क्या होता? प्रो० हुमायूँ कबीर के अनुसार "भारतीय संस्कृति की कहानी एकता, समाधानो का एकीकरण तथा प्राचीन भारतीय परम्पराओ के पूर्णत्व एवं उन्नति की कहानी है। यह प्राचीनकाल मे रही है और जब तक विश्व रहेगा तब तक रहेगी। सभी संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं परन्तु भारतीय संस्कृति की एकता सतत एवं अमर है।" सांस्कृतिक एकता के कारण ही हम अपने को भारतीय कहते है तथा 'भारतीयता' मे गौरव का अनुभव करते हैं।

विवेचना

भारतीय सस्कृति सम्पूर्ण मानव समाज की एक अमूल्य निधि है। इसके विस्तृत अतीत की सीमाओ के चिन्तन मे हमारे अनुमान के पाँव लड़खडाने लगते है। भारत की भौगोलिक अनेकता ने हमे एकता के मूल्य और महत्व के प्रति जागरूक बनाया है। जातिगत तथा भाषागत अनेकता ने हमे अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिये पारस्परिक मतभेदो को भुलाने की प्रेरणा दी है। धार्मिक तथा सामाजिक अनेकता के दुष्परिणामो के प्रति धार्मिक चिन्तको तथा सामाजिक सुधार-वादियो ने हमे अति प्राचीन काल से ही सजग किया तथा इन मतभेदो को भुलाकर राष्ट्रीय भावना को बलवती बनाने की प्रेरणा दी। आधुनिक आर्थिक असन्तुलन की विषम परिस्थितियो मे भी हम एकता को सर्वोपरि मानते हैं तथा आर्थिक क्रान्ति की अपेक्षा आर्थिक सुधारो पर विशेष बल देते हैं। संकट तथा विषम परिस्थितियो का सामना करने के लिये हमने एकता का ही सहारा लिया है।

समय की कसौटी पर हमारी एकता तथा भारतीय चेतना सफल सिद्ध हुई है। एकता हमारी आत्मा का अन्तर्निहित गुण है।[1]

भारत ही अकेला देश है जहाँ मन्दिरों, गिरजों, मसजिदों, गुरुद्वारों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व है।[2] यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भारत की विविधता उस महीन आवरण की भाँति है जिसमें ध्यानपूर्वक देखने पर भारत की अखण्ड मौलिक एकता ही दृष्टिगोचर होती है। वास्तविकता के प्रति आस्था, आध्यात्मिक अनुभव का महत्व, संस्कारो और सिद्धांतो की सापेक्षता, बौद्धिक आदर्शों के प्रति रूढ़ अवलम्बन तथा प्रत्यक्ष विरोधों को सम करने की आतुरता के गुणो से युक्त भारतीय संस्कृति ने भारत की अनेकता को एकतावद्ध किया हुआ है।[3]

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतीय सस्कृति की एक लम्बी और वैविध्यपूर्ण गाथा है। अनेक मध्यान्तरो पर भारत ने देखा है कि उसकी समकालीन संस्कृतियाँ अपनी अगली पीढ़ी की संस्कृति को जगह देकर विलीन हो गई। फिर वे नवीन संस्कृतियाँ भी लुप्त हो गई, किन्तु भारतीय संस्कृति फिर भी जीवित है। उसकी आत्मा के दीपक को लौ काँपी तो जरूर, परन्तु कभी बुझी नही।[4]

ऐसा देश जो अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये दूसरो की ओर न देखता हो, जिसकी सभ्यता तथा संस्कृति निकटवर्ती देशो से उच्चतर तथा प्राचीन रही हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही कि उस देश की सस्कृति की कतिपय मौलिक विशेषताएँ हो।[5] भारतीय संस्कृति की इस आत्म उत्कृष्टता का स्पष्टीकरण निम्नलिखित है—

---

१. "The realisation of unity in diversity, the establishment of a synthesis amidst variety is inherent in India" रवीन्द्रनाथ टैगोर।

२ डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन—'पूर्व और पश्चिम'।

३. "मैं नही चाहता कि मेरे घर के चारो ओर एक दीवार उठा दी जाये और खिड़कियो को बन्द कर दिया जाये। मैं चाहता हूँ कि यथासंभव स्वतन्त्रतापूर्वक सभी संस्कृतियाँ मेरे घर के चारो ओर मँडराती रहे। लेकिन यह निश्चित है कि कोई भी सस्कृति मेरे पाँव नही उखाड़ सकती।"
महात्मा गाँधी—'यंग इण्डिया'

४. "She (India) triumphed over natural calamities and human misrule. The story of Indian culture unravels the secret of vitality and wisdom. It is a story of unity and synthesis of reconciliation and development of a perfect fusion of old and new tradition."
— हुमायूँ कबीर

५. "अनेक प्रमाणो द्वारा भारत मे एक अत्यन्त विकसित संस्कृति की उपस्थिति का पता चलता है।"
—सर जॉन मार्शल

—'मिश्र तथा बेबीलोनिया के समान भारत मे ईसा से तीन चार हजार वर्ष पूर्व एक सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्तिशालिनी सभ्यता तथा संस्कृति थी।"
—प्रो० गोर्डन चाइल्ड

—"भारत मे आने वाले योरोपीय यात्रियो ने यहाँ पर एक ऐसी संस्कृति पायी, जिसे अपनी प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान था।"
—ए० एल० बाशम

(१) **प्राचीनता**—जैसा कि बाशम महोदय ने लिखा है, विभिन्न प्रमाणों तथा साक्ष्यो के आधार पर यह पूरी तरह से निश्चित हो चुका है कि मानव अस्तित्व के समय से ही भारत भूमि सास्कृतिक चेतना तथा क्रियाशीलता की क्रीडा भूमि रही। पूर्व पाषाण काल के अनेक अवशेष चिन्ह पल्लावरम, चिंगलपेट, वेल्लोर, तिन्नवल्ली आदि दक्षिण भारतीय प्रदेशो, पंजाव मे सोहन नदी की घाटी तथा पिंडिघेर से, उत्तर प्रदेश मे मिर्जापुर के रिहन्ड क्षेत्र से तथा मध्य प्रदेश मे नर्मदा नदी की घाटो के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। होशगाबाद, पंचवटी, कैमूर तथा रायगढ से अनेक उपकरण एवं सिंघनपुर तथा कवरा की गुहाओ से प्राप्त अनेक अभिव्यक्ति पूर्ण चित्र आदि भी प्राप्त हुए है। हड़प्पा तथा मोहन जो-दडो मे भारतीय सस्कृति की प्राचीनता के साथ-साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता के भी प्रमाण उपलब्ध हुए है। इन समस्त प्रमाणो द्वारा यह प्रमाणित होता है कि जब विश्व के अन्य भागो मे सस्कृति के अकुर फूटने वाले थे उस समय भारत मे एक विकसित संस्कृति पल्लवित हो चुकी थी। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि इसने लगभग चार-पाँच हजार वर्षों से विश्व की अनेक सस्कृतियो को प्रभावित किया हुआ है।

(२) **आध्यात्मिकता**—भारतीय संस्कृति की मान्यतानुसार आध्यात्मिक उत्पीड़न द्वारा ही मानव महान हो सकता है। "भारतीय संस्कृति मे मानव की तार्किक प्रवृत्ति से अधिक जोर आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर दिया गया है। ऋग्वेद के शब्दो मे जिस आत्मिक खोज, आध्यात्मिक अस्थिरता और बौद्धिक सन्देहवाद की अभिव्यक्ति है—वह भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिक विशेषता का आधार है।"[1] इन विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक चरणो मे ही पुनर्जन्म से मुक्ति पाना जीवन का सर्वप्रमुख लक्ष्य माना गया है। आध्यात्मिक प्रगति एवं चेतना की पराकाष्ठा भारतीय सस्कृति की सर्वतोमुखी विशेषता है।

(३) **दार्शनिकता**—सिन्धुघाटी से प्राप्त योगिराज की ध्यानमग्न मूर्ति भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति का सर्वप्रथम उदाहरण है। प्रतीत होता है कि सिन्धु सभ्यता के प्रारम्भिक क्षणो मे भारतीय संस्कृति मे दार्शनिकता के तत्वों का जन्म हो चुका था। सिन्धु सभ्यता के कालावतीत होने पर भारत भूमि पर जिन अन्य सभ्यताओ का विकास हुआ—उनकी आधारशिला सुविकसित तथा गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तो पर रखी गई। भारतीय दर्शन का सर्वोपरि सिद्धान्त यह है कि जो कुछ है—वही सब कुछ नही है—उससे आगे भी बहुत कुछ है। चेतना और जिज्ञासा के आधार पर भारतीय दर्शन ने सस्कृति को बौद्धिक पराकाष्ठा प्रदान की है। विभिन्न दार्शनिक मतो, प्रणालियो, सिद्धान्तो तथा परम्पराओ का आश्रय लेकर भारतीय संस्कृति ने अभूतपूर्व निरन्तरता तथा विकास की क्षमता प्राप्त की।

(४) **धर्म प्रधानता**—भारतीय जीवन का मूलाधार धर्म है और क्योकि सस्कृति का सम्बन्ध मानवजीवन से है—यथा भारतीय सस्कृति की विशेषता इसका धर्म प्रधान होना है। भारतीय संस्कृति के समस्त अग तथा उपाग—यथा शरीर और मन की शुद्धि, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, दैनिक चर्या, करने तथा न करने योग्य कार्य, व्यक्तित्व का विकास, कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, शिल्प, निर्माण, कला, संगीत, साहित्य, विज्ञान, अनुशासन, सामाजिक व्यवस्थाएँ, कर्त्तव्य, अधिकार, संस्कार, शिक्षा आदि धर्म की परिधि मे आते है। केवल यही नहीं,

---

१. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन 'पूर्व और पश्चिम'।

भारतीय धर्मों में उन सिद्धान्तो को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनके द्वारा भौतिक प्रगति के साथ आध्यात्मिक प्रगति भी हो सके। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का विकास तथा पोषण धर्म की छत्रछाया मे हुआ है। धर्म प्रधानता भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न विशेषता है।

(५) **देवपरायणता**—धर्म प्रधान संस्कृति मे देवपरायणता की विशेषता होना अति स्वाभाविक है। भारतीय जनजीवन के प्रत्येक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेकानेक देवता हैं। भारतीय धार्मिक जीवन की मान्यता है कि शुभ तथा अच्छे कार्य इसलिये करने चाहिये क्योंकि उनसे देवता प्रसन्न होते हैं। अशुभ कार्य पाप हैं तथा उनके करने से देवता अप्रसन्न होते है। देवपरायणता का यह पक्ष भारतीय संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व करता है। 'सत्कार्य करो, दुष्कार्य नही' इस भावना के वशीभूत होकर भारतीयजन अपना सर्वस्व देवताओ के लिये अर्पित कर देते थे। देवपरायणता की इस भावना ने भारतीय संस्कृति को उदारता तथा सहिष्णुता की विशेषताओ से युक्त कर दिया।

(६) **बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद**—भारतीय सामाजिक जीवन के समस्त अंगो तथा पहलुओ का सम्बन्ध किसी, न किसी देवता के साथ सम्बन्धित है। ये देवता भौतिक जगत की लीलाओ तथा पारलौकिक कल्पना जगत का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। सारी सृष्टि को देवरूप स्वीकार करते हुए, भारतीय संस्कृति मे समस्त जड़ चेतना को उपास्य समझा गया है तथा समस्त सृष्टि के रचयिता रूप मे ब्रह्मा को 'एकः ब्रह्म' स्वीकार करके बहुदेववाद को एक देवता के रूप मे केन्द्रिय सत्ताधारी माना गया है। बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद का यह अद्‌भुत समन्वय भारतीय संस्कृति की अपनी अनुपमेय विशेषता है।

(७) **कर्म प्रधानता**—आध्यात्मवाद तथा देवपरायणता के गुणो से अभिभूत भारतीय संस्कृति मे कर्म को धर्म माना गया है। गीता मे कर्म मार्ग पर बल देते हुए, श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है—

"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुभूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि"

गीता के इस उपदेश से प्रेरणा लेकर भारत का जनमानस अपने कर्म मे अटूट विश्वास रखता चला आया है। कर्म परायणता की भावना से प्रेरित हो कर भारतीयजन अपना सब कुछ अर्पण करने को तत्पर रहते चले आये हैं। परिणाम की चिन्ता अथवा अपेक्षा न करते हुए, कर्म किये जाना भारतीय संस्कृति की अद्वितीय विशेषता है।

(८) **एकीकरण तथा समन्वय**—भारतीय मनीषी कभी भी हठधर्मी नही रहा है। उसने सब कुछ देख कर, सोच कर, परख कर ही श्रेष्ठता की प्राप्ति करने का प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति की वैचारिकता, दार्शनिक तत्व, आध्यात्म, धर्म, आचार विचार तथा संस्कार आदि किसी पर थोपे नही गये हैं। भारतीय संस्कृति ने कभी भी शस्त्र अथवा बल प्रयोग द्वारा अपना विस्तार या प्रभाव स्थापित करने का प्रयास नही किया है।[1] अपनी एकीकरण तथा समन्वयी प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति ने इस भूमि पर आने वाली समस्त संस्कृतियो को स्वयभू कर लिया तथा स्वयं मन्थर गति से प्रवाहित होती रही है।

---

१ "भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता तथा समाधानो के एकीकरण तथा प्राचीन भारतीय परम्पराओ के पूर्णत्व की कहानी है। सभी संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं परन्तु भारतीय संस्कृति की एकता तथा समन्वय सतत तथा अमर हैं।"

—हुमायूँ कबीर

(९) **सहिष्णुता**—भारतीय भूमि अनेक धार्मिक विचारो तथा धार्मिक क्रान्तियों की क्रीड़ा भूमि रही है। यहाँ पर अनेक विदेशी जातियाँ भी आईं। इन धर्मों तथा जातियो की मान्यताएँ परस्पर विरोधी थी परन्तु भारतीय भूमि मे कुछ ऐसी चमत्कारिकता है कि यहाँ पर समस्त विरोधी प्रवृत्तियां सहिष्णु हो गईं। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता को सहज ही समझा जा सकता है।

(१०) **सत्य, अहिंसा, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह**—भारतीय संस्कृति की धारा को निश्चित रूप देने वाले अनेकानेक महापुरुषों ने सत्य, अहिंसा, करुणा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के मूल गुणो को भारतीय जनजीवन मे अनुप्राणित किया। भारतीय संस्कृति के विकास मे इन गुणो ने अभूतपूर्व योग दिया। इन्हीं गुणो से अभिभूत हो कर अशोक ने 'भेरिघोष' का परित्याग कर के 'धम्म घोष' की दुन्दुभी बजाई।

(११) **वर्ण व्यवस्था**—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज को चार विभागो में विभाजित करके समाज की चार प्रमुख आवश्यकताओं—यथा—रक्षा, धर्म, अर्थ और सेवा की पूर्ति के लिये कार्य विभाजन कर दिया गया। कार्य कुशलता के लिये इस विभाजन ने अभूतपूर्व योग दिया। परन्तु पश्चातकाल मे सामाजिक असन्तुलन भी उत्पन्न होने के कारण वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध आवाजें उठाई गईं तथा आज के युग मे वर्ण व्यवस्था के अनेक दोषो का निवारण किया जा चुका है।

(१२) **आश्रम व्यवस्था**—व्यक्ति तथा सामाजिक प्रगति के विभिन्न स्तरो को दृष्टिगत करते हुए आश्रम व्यवस्था की स्थापना द्वारा भारतीय संस्कृति को एक महान विशिष्टता प्राप्त हुई। आश्रम व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन का सर्वांगीण विकास करके सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति करना था। इस व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति को अभूतपूर्व समर्थता प्रदान की।

(१३) **संस्कार**—भारतीय संस्कृति मे अति प्राचीनकाल से ही संस्कारो का विशेष महत्व रहा है। संस्कारो द्वारा सामाजिक प्रेरणा तथा व्यक्तिगत प्रयास का समन्वय करके व्यक्ति एवं समाज के मध्य श्रेष्ठ तथा मधुर सम्बन्धो की स्थापना की गई।

(१४) **सब जन सुखाय-सब जन हिताय**—भारतीय संस्कृति मे मानव मात्र के कल्याण की कामना की उत्कट भावना है। सभी के सुख तथा वृद्धि की जितनी कामना भारतीय संस्कृति मे है उतना अन्य किसी संस्कृति मे नही है। भारतीय मन्दिरो तथा उपासना गृहो मे प्रायः यह गूँज तथा उद्घोष सुनाई देता है—'धर्म की विजय हो—विश्व का कल्याण हो।' भारत का विश्वास 'सर्वे सुखिनः सन्तु' मे रहा है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम' समस्त विश्व के लिये है।

(१५) **असाम्प्रदायिकता**—सहिष्णुता, उदारता तथा ग्रहणशीलता के गुणो से युक्त भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है। सभी धर्मों का समान आदर करना, सभी जातियो को आत्मसात करके उन्हें भारतीय परिवेश में ढाल लेना तथा अपने द्वार सभी के लिये-खोले रखना भारतीय संस्कृति की असाम्प्रदायिक विशेषता के परिचायक हैं।

अपनी सांस्कृतिक विशेषताओ के कारण ही भारत पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक एक सूत्र मे बँधा हुआ है। सभ्यता के प्रारम्भिक युग से लेकर आज तक भारत के निवासियो ने एक संस्कृति का विकास किया है और उसे निरन्तर कायम रखा है। भारतीय संस्कृति कोई जड़ विचारधारा नहीं है बल्कि यह एक जीवित प्रक्रिया है। यह परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालते हुए अधिक से अधिक समृद्ध होती गई है। इसने सभी विरोधियो को स्वीकार किया

है परन्तु उसकी आत्मा फिर भी अपरिवर्तित ही रही। उसकी आत्मा के दीपक की लौ काँपी तो जरूर, परन्तु बुझी नही।

भारतीय संस्कृति की भौगोलिक पृष्ठभूमि

संस्कृति पर भूगोल का गहरा प्रभाव पड़ता है। संस्कृति का विकास मनुष्य की क्रियाशीलता द्वारा होता है और मनुष्य की क्रियाशीलता उसके चरित्र के अनुसार होती है। चरित्र पर जलवायु तथा भौगोलिक संचरना का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिये हमारे देश मे जीवन का आधार कृषि है, कृषि वर्षा पर निर्भर है। वर्षा पर मनुष्य का कोई वश नही। आषाढ या जून माह के आते ही कृषक ही क्या, भारत की सारी जनता आकाश पर टकटकी लगाये रहती है। वर्षा के लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं और अगर तब भी वर्षा न हो तो लाचारी से हाथ ही मलना पडता है। इसके विपरीत अगर अति वृष्टि हो जाये, तो सभी कुछ नष्ट हो जाता है। यही कारण कि भारत में लोग भाग्य को प्रबल मानते हैं और बहुदेववादी हैं। हिमालय की ऊँची चोटियाँ, हजारो मील लम्बे मैदान, झूमझूम कर बहने वाली लम्बी चौड़ी नदियाँ, मूसलाधार वर्षा और तूफान, आकाश में नक्षत्र मण्डलो के ढेर सारा ही प्राकृतिक कौतुक भारतवासियो की कल्पना को उत्तेजित करता है।[1]

स्पष्ट है कि सभ्यता तथा संस्कृति पर भौगोलिक दशा का केवल गहरा ही नही अपितु अमिट प्रभाव पड़ता है। मानव कार्यकलापो पर जितनी गहरी छाप उस देश की भौगोलिक दशा की पड़ती है उतनी गहरी छाप स्वयं उसके अपने चिन्तन तथा विचारो की भी नही पडती। भौगोलिक दशा किसी भी देश की संस्कृति तथा सभ्यता को विशिष्टताएँ एव दिशा प्रदान करती है। भौगोलिक वातावरण की पृष्ठभूमि मे ही मानव जीवन का विकास हुआ है। संस्कृति तथा सभ्यता के चरित्र, कार्यकलापो तथा उपलब्धियो की पृष्ठभूमि भौगोलिक दशा ही होती है। इस सन्दर्भ में जब हम भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की भौगोलिक पृष्ठभूमि के विषय मे विचार करते हैं तो हमे विदित होता है कि भारत की भौगोलिक विभिन्नताओ ने इस देश को अनेकानेक विशिष्टताएँ प्रदान की हैं।

भारत की भौगोलिक स्थिति तथा विस्तार

भारत उत्तरी गोलार्द्ध के दक्षिणी एशिया में ८° और ३७° अक्षाश तथा पूर्वी देशान्तर के ६८° एवं ९७° के मध्य स्थित है। भारत के मध्य भाग से गुजरती हुई कर्क रेखा ने भारत को दो भागो मे विभाजित किया हुआ है। भारत का दक्षिणी भाग ऊष्ण कटिबन्ध तथा उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध मे स्थित है। भौगोलिक स्वरूप मे भारत एक त्रिकोण के आकार का प्रायद्वीप है। प्राचीन काल मे भारत का विस्तार पूरब से पश्चिम की ओर २५०० मील तथा उत्तर से दक्षिण की ओर २००० मील तक था। इसकी स्थल सीमा ६००० मील तथा जलसीमा ५००० मील लम्बी थी। भारत का क्षेत्रफल बीस लाख वर्ग मील था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त पाकिस्तान तथा बंगला देश के निर्माण स्वरूप भारत का एक तिहाई भाग कम हो गया। वर्तमान भारत का

---

१. डा० वेनीप्रसाद 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'।

विस्तार पूरब से पश्चिम की ओर १६७७ किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर ३२२० किलोमीटर है।

भारत का भौगोलिक स्वरूप

(१) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश—भारत के उत्तरी भाग मे पर्वतीय प्रदेश, तराई वाले भूभाग तथा वन खण्ड हैं। इनके अन्तर्गत काश्मीर, कागडा, टेहरी, कुमायूँ, नैपाल, सिक्किम तथा भूटान आदि प्रदेशो की गणना की जाती है। इस प्रदेश मे हिमालय पर्वत की ऊँची पर्वतीय शृखलाएँ दूर दूर तक विस्तृत हैं। हिमालय को भारत की 'उत्तरी दीवार' भी कहा जाता है। हिमालय के उस ओर तिब्बत तथा इस ओर सिन्ध, सतलज तथा ब्रह्मपुत्र नदियो का उद्गम है। हिमालय के दक्षिणी भाग की ओर भारतीय भूभाग मे गगा तथा अन्य सहायक नदियो का उद्गम स्थल है। हिमालय की अर्गला के पूर्वी कोने पर नाग, लुशाई तथा पटकोई पहाड़ियाँ तथा उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र मे कुराकुर्रम पर्वत है। इसी के निकट हिन्दुकुश । । इसके उस पार सफेद कोह तथा दक्षिण मे सुलेमान पर्वत है। हिमालय पर्वत की पूर्वी शृखलाएँ भारत को वर्मा से अलग करती है।

(२) सिन्ध तथा गगा-यमुना का विस्तृत मैदान—इस क्षेत्र मे सिन्ध, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र तथा अन्य सहायक नदियो का जाल सा बिछा हुआ है। इस क्षेत्र को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) वह भूभाग-जिसे सिन्धु नदी तथा उसकी सहायक नदियाँ सीचती हैं। (२) वह भूभाग जिसे गगा-यमुना तथा उनकी सहायक नदियाँ सीचती हैं। इन दोनो के बीच अरावली पर्वत शृखलएँ तथा राजस्थान का मरुस्थल है। अरावली पर्वत के उत्तर मे कुरुक्षेत्र के बाँगर के रूप मे वह तग मार्ग स्थित है जिसके द्वारा पंजाब मे से होकर गंगा-यमुना के मैदान मे प्रवेश किया जा सकता है। यह मार्ग भारतीय इतिहास के अनेक दुखदायी प्रसगो का कारण भी रहा है। अध्ययन की सुविधा के लिये सिन्धु तथा गंगा-यमुना के विस्तृत मैदान को पाँच प्रदेशो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) पजाब, (२) सिन्ध, (३) राजस्थान, (४) गगा तथा यमुना द्वारा सीचा जाने वाला प्रदेश, तथा (५) गगा का मुहाना और ब्रह्मपुत्र की घाटी वाला प्रदेश।

(३) विन्ध्याचल पर्वत शृङ्खलाएँ तथा दक्षिणी पठार—उत्तरी भारत के मैदान के दक्षिण की ओर विन्ध्याचल पर्वत शृखलाएँ हैं। ये शृखलाएँ उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के मध्य एक प्राकृतिक प्राचीर के रूप मे अवस्थित हैं जो पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तृत है। इन शृंखलाओ के उत्तर मे स्थित प्रदेश मध्य प्रदेश तथा दक्षिण की ओर स्थित प्रदेश दक्षिण भारत कहलाता है। अपने पूर्ण स्वरूप मे यह भूभाग तीन ओर से सागर द्वारा तथा उत्तर की ओर विन्ध्याचल पर्वत शृंखलाओ से घिरा हुआ है। इस प्रदेश मे पूर्वी तथा पश्चिमी घाट तथा उनके मध्यवर्ती पठार सम्मिलित हैं। इसी ओर कृष्णा नदी के नीचे वाले प्रदेश को 'धुर दक्षिण' कहा जाता है। दक्षिणी पठार के उत्तर मे महाराष्ट्र तथा दक्षिण मे कर्नाटक प्रदेश हैं। सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुन्दर तथा मनोहारी है। विशिष्ट भौगोलिक पृथकता के कारण दक्षिण भारत की सभ्यता तथा सस्कृति बहुत कुछ भिन्न रही है।

(४) पूर्वी तथा पश्चिमी घाट एवं तटीय मैदान—भारत के इस भौगोलिक भाग मे गोदावरी, कावेरी तथा कृष्णा नदियो की उर्वरा भूमि है। पश्चिमी घाट की पर्वत श्रेणियाँ दक्षिण भारत के अरब सागर तट के समानान्तर तटीय मैदान की लगभग ४४ मील की पट्टी को छोड़ कर, उत्तर से

दक्षिण की ओर लगभग ६५० मील तक विस्तृत है। इस मैदान का दक्षिणी भाग मलाबार अथवा केरल कहलाता है। इसके उत्तर में कोंकण स्थित है। इस क्षेत्र में मानसून अपेक्षाकृत अधिक पहले आ जाता है फलत. यहाँ पर अच्छी उपज होती है।

(५) जलवायु—अनेक भूगोल वेत्ताओं ने यह सिद्ध किया है कि विश्व के अनेक देशों की जलवायु मे अब काफी परिवर्तन हो गया है। प्राचीन भारत के विषय मे यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत की जलवायु तीन हजार वर्ष पूर्व इतनी गरम नहीं थी जितनी कि आजकल है। वैदिक साहित्य से पता चलता है कि ठण्डे क्षेत्र से आये हुए आर्यों को यहाँ गर्मी की कोई शिकायत नहीं थी। यही कारण है कि ऋग्वेद कालीन जैसे जीवन का उल्लास आज इस क्षेत्र मे नही है। हड़प्पा और मोहन जो दडो मे हाथी और गैंडे के अस्तित्व के प्रमाण मिले है परन्तु सिंह के नही। इससे स्पष्ट है कि उस समय यहाँ पर हरियाली और नमी ही अधिक थी। यह भी सिद्ध हो चुका है कि सिन्ध मे उस समय सिन्ध नदी के अतिरिक्त एक और नदी भी प्रवाहित होती थी। जलवायु के इन बदलते चरणो ने प्राचीन भारत की संस्कृति को ढालने मे महत्वपूर्ण प्रभाव डाला होगा।

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव

स्वयं मानव अपनी प्रतिभा तथा कार्य कौशल द्वारा संस्कृति के विकास मे बहुत महत्वपूर्ण योगदान देता है परन्तु भौगोलिक प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नही होते। भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर भौगोलिक प्रभाव का स्पष्टीकरण निम्नलिखित है।

(१) **आत्मनिर्भरता**—भारत के भौगोलिक पृथकत्व द्वारा इस देश को वे समस्त भौगोलिक उपादान प्राप्त हैं—जिनकी प्राप्ति विश्व के किसी एक देश मे अप्राप्य है। दूसरे शब्दो मे भारत को विश्व का 'संक्षिप्त प्रतिरूप' कहा जा सकता है। लिली के अनुसार 'सत्य तो यह है कि भारतवर्ष की उपज मे सभी मानवोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हैं।'' अपनी इस भौगोलिक उपलब्धि के परिणाम-स्वरूप भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास स्वच्छन्द रूप से हुआ। भारतीयों के आत्मनिर्भर होने के कारण यहाँ की प्रारम्भिक सभ्यता तथा संस्कृति का जो स्वरूप विकसित हुआ उसके समस्त गुण मौलिक तथा विशिष्ट हैं।

(२) **पृथकत्व**—भारत की भौगोलिक परिस्थितियो ने इस देश को विश्व के अन्य देशो से भौगोलिक रूप से अलग रखा है। हिमालय की दुर्गम पर्वत श्रृंखलाओ ने उत्तर मे तथा सागर की लम्बी सीमा ने दक्षिण मे, सागर की ही ऊबड़-खाबड़ उत्ताल तरंगो ने पश्चिम मे इस देश को प्राकृतिक पृथकता प्रदान की हुई है। इस प्रकार एक लम्बे समय तक भारत विदेशो के प्रभाव से मुक्त रहा तथा इस बीच इस देश की संस्कृति का विकास भारत के ही स्वतन्त्र वातावरण मे होता रहा। अपना मूल रूप स्थापित होने के उपरान्त जब अन्य संस्कृतियों ने भारत के भौगोलिक अवरोधों को पार करके इस देश की संस्कृति से सांस्कृतिक टक्कर ली तो भारतीय संस्कृति ने उन सभी को आत्मसात कर लिया तथा अपने मूल गुणो मे वह तब भी अप्रभावित ही बनी रही।

(३) **समागम**—इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि सांस्कृतिक क्षेत्र मे प्रभावित करना अथवा प्रभाव ग्रहण करना कोई विशेष उपलब्धि या अनुपलब्धि नही है। श्रेष्ठ का स्वागत करना तथा दोष का परित्याग करना संस्कृति का विशेष लक्षण है। इस सन्दर्भ मे हम कह

सकते हैं कि भारतीय संस्कृति ने भौगोलिक प्रभाव रखकर अपनी संस्कृति का स्वच्छन्द तथा स्वतन्त्र विकास तो किया ही था साथ ही साथ उसने अन्य आगन्तुक संस्कृतियो के श्रेष्ठ गुणो के साथ समागम भी किया।

(४) **विभिन्नता अथवा विविधता**—विन्ध्याचल पर्वत श्रृंखलाओं ने उत्तर तथा दक्षिणी भारत की संस्कृति मे अलगाव की स्थिति के रूप मे अपना भौगोलिक प्रभाव बनाये रखा है। आज भी हमे उत्तर तथा दक्षिण भारत के जनजीवन, रहन-सहन, भाषा, वेश-भूषा आदि में पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। डा० बेनी प्रसाद के अनुसार "उत्तर और दक्षिण की सभ्यता के मूल सिद्धान्त एक ही थे, परन्तु उनके सांस्कृतिक चक्र अलग-अलग घूमते रहे।" भारतीय संस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव केवल उत्तर तथा दक्षिणी भारत की विभिन्नता मे ही नही, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी परिलक्षित होता है। कृषि, उद्योग धन्धो, व्यवसाय, व्यापार आदि, जातिगत मान्यताओं, परम्परागत विचारो आदि, धार्मिक मान्यताओ, क्रिया-अनुष्ठानो आदि, भाषा, शिक्षा तथा ललित कलाओ आदि के क्षेत्र मे भी पर्याप्त विभिन्नता का कारण बहुत कुछ सीमा तक भौगोलिक प्रभाव ही है।

(५) **एकता**—उत्तर मे हिमाच्छादित हिमालय की पर्वत श्रृङ्खलाओं से लेकर सुदूर दक्षिण मे सागर तटीय सीमाओ तक, पश्चिम के ऊबड़-खाबड सागर के तट से लेकर पूर्व के गहन वन प्रदेशो तक भारत का मानचित्र एक है। यद्यपि इन सीमाओ के मध्य मे बने भारत मे अनेक भौगोलिक अवरोध हैं परन्तु वे उतने प्रभावशाली नही है कि इस समस्त भारत की संस्कृति को पूर्ण रूप से विभिन्न कर सके। फलस्वरूप भारत की संस्कृति मे यत्र-तत्र विविधता के विपरीत एकता का सूत्र सदैव से ही बना रहा है। भौगोलिक अलगाव होते हुए भी इस देश की संस्कृति मे अद्भुत एकता भी है।

विवेचना

सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के कारण या साधन केवल यही नही होते है कि देश मे भौतिक सम्पत्ति या शक्ति का सञ्चय हो। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि देश मे अधिकाधिक तेजस, बौद्धिक शक्ति तथा आध्यात्मिक चेतनता हो। साहस, गम्भीरता, सहकारिता तथा धैर्य आदि की उदात्त वृत्तियाँ भी संस्कृति को संवर्धित करती हैं। इस दृष्टिकोण से भूगोल महत्वपूर्ण तो है परन्तु वह सब कुछ नही।

भारतीय संस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव के उपरोक्त वर्णन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत की भौगोलिक परिस्थितियो ने भारतीय संस्कृति के विकास को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया हैं। संस्कृति का भौगोलिक परिस्थितियो द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक देश की संस्कृति भौगोलिक वातावरण तथा प्रभाव के अन्तर्गत ही विकास करती है। जब कि भौगोलिक प्रभावो के कारण विश्व के विभिन्न देशो की संस्कृति समान नही है तो भारत इसका अपवाद कैसे हो सकता है?

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. संस्कृति क्या है ? सभ्यता और संस्कृति से आप क्या अर्थ समझते हैं ? इनके पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिये ।

२. संस्कृति के तत्वों तथा उपकरणों की व्याख्या कीजिये ।

३. आपके विचार में भारतीय संस्कृति की वे आधारभूत विशेषताएँ क्या हैं, जिनसे भारत के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है । (पी० सी० एस० १९६२)

४. "सहनशीलता तथा व्यापक दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं ।" भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के सन्दर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिये । (पी० सी० एस० १९६३)

५. "भारतीय संस्कृति की आधारभूत विशेषता अनेकता में एकता की स्थापना करना है ।" विवेचना कीजिये । (पी० सी० एस० १९६५)

६. प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास पर भौगोलिक तत्वों का प्रभाव विवेचित कीजिये । (पी० सी० एस० १९६७)

७. "भारतीय संस्कृति उसके भूगोल का प्रत्युत्तर है ।" स्पष्ट कीजिये ।

अध्याय दो

सिन्धु संस्कृति

पूर्वाभास

सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण मे मानव जीवन के एक सर्वाङ्गपूर्ण समायोजन का प्रतिनिधित्व करती है। यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी है और आधुनिक भारतीय संस्कृति के लिये आधार प्रस्तुत करती है। सिन्धु सभ्यता और संस्कृति, केवल भारत की ही नही, वरन् विश्व इतिहास की एक ऐसी कडी है जिसका जन्म सभ्यता के उषाकाल मे हुआ, चरमोत्कर्ष काल तक वह जीवित रही और किसी समय दैविक लीला के प्रहार स्वरूप भूमिस्थ हो गई। शेष बचे ऐसे खण्डहर, अवशेष और स्मृतियाँ, जिन्होंने भारत की संस्कृति की पिछली सीमाओ को और भी पीछे खीच लिया। "यह एक रोचक बात है कि हिन्दुस्तान की कहानी के इस उषाकाल मे हम उसे (भारत) एक नन्हे बच्चे के रूप मे नही देखते है, बल्कि इस समय भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका है। वह जीवन के साधनो से अनजान नही है'''बल्कि उसने जीवन की कला मे, रहन सहन के साधनो मे काफी उन्नति कर ली है और न केवल सुन्दर वस्तु की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और विशेष चिन्हो—अच्छे हम्मामो और नालियो को भी तैयार किया है।"[1] विश्व की प्राचीनतम संस्कृति किसको माना जाये, यह विषय अभी भी विवादास्पद है। लगभग एक ही युग मे दजला फरात की घाटी मे सुमेरियन, बेबीलोनियन, असीरियन आदि सभ्यताएँ फली फूली थी। नील नदी की घाटी मे मिस्र की प्राचीन सभ्यता उदित हुई थी। इन सभ्यताओ के लगभग समकालीन भारत मे सिन्धु नदी की घाटी मे शान्त, स्वच्छ, स्वस्थ सभ्यता अपने यौवन पर थी। इन प्राचीन सभ्यताओ का आपस मे क्या आदान-प्रदान था? इनमे से किसने किसको प्रभावित किया? आदि प्रश्नो पर प्रश्न चिह्न यद्यपि कुछ धूमिल होता जा रहा है, परन्तु मिटा नही है।

रहस्योद्घाटन—१८५६ ई० मे भारत की अंग्रेजी सरकार ने करांची से लाहौर के बीच रेलवे लाइन बिछाने के लिये यह कार्य ठेकेदारो को सौप दिया। ईंटो की आवश्यकता पडने पर ठेकेदारो ने सिन्धु नदी के निकटवर्ती खण्डहरो को खोदना शुरू कर दिया। किन्तु इस बीच कुछ आश्चर्य-जनक घटनाएँ घटने लगी। श्रमिको ने इस स्थान को भूतादि से उत्पीडित क्षेत्र समझ कर ठेकेदारो तथा अन्य उच्चाधिकारियो को सूचना दी। श्रमिको की भावना तथा भय को ध्यान मे रखते हुए

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू 'डिसकवरी आफ इण्डिया'।

अधिकारियो ने अव्यवस्थित खुदाई बन्द करवा दी और सारी बात यही समाप्त हो गई।

सन् १९२२ ई० मे स्वर्गीय राखालदास बनर्जी बौद्ध स्तूप के उत्खनन के सिलसिले में हड़प्पा के क्षेत्र मे कार्य कर रहे थे। यहाँ कुषाण काल का एक बौद्ध स्तूप था। यहाँ पर उन्हें प्रागैतिहासिक काल की कतिपय मुद्राओ की प्राप्ति हुई। जिज्ञासावश बैनर्जी महोदय ने स्तूप के पास स्थित दो टीलो को खुदवाया। वहाँ पर भूगर्भ मे पक्की नालियाँ तथा कमरे मिले। उन्होने पुरातत्व विभाग के पास प्रस्ताव भेजा कि इस क्षेत्र मे किसी सभ्यता के भूमिस्थ होने का अनुमान है अतः यहाँ पर उत्खनन कार्य आपेक्षित है। पुरातत्व विभाग ने प्रस्ताव को योजना रूप दिया तथा दस वर्षो तक लगातार उत्खनन कार्य होता रहा। इस कार्य मे सर जान मार्शल, अर्नेस्ट मैके, दयाराम साहनी, काशीनाथ दीक्षित, माधव स्वरूप वत्स, एन० जी० मजूमदार, सर अरियल स्टीन, एच० हारग्रीव्ज, पिगट तथा व्हीलर महोदय एव अन्य अनेक सम्बद्ध कर्मचारियो ने बडी निष्ठा तथा लगन से कार्य किया। क्योकि ये उत्खनन समस्त सिन्धु घाटी के क्षेत्र मे किये गये थे अतः विभिन्न स्थानों पर प्राप्त इस सभ्यता का सामूहिक नाम 'सिन्धु सभ्यता' है। इस प्रकार सिन्धु घाटी की सभ्यता की खोज करने की जिज्ञासा का अकुरण तो डा० राखाल दास बैनर्जी के मस्तिष्क मे हुआ परन्तु इस सभ्यता के रहस्योद्घाटन का श्रेय सर जॉन मार्शल को प्राप्त है। सन् १९२४ ई० मे मार्शल महोदय ने घोषणा की कि सिन्धु घाटी मे एक नवीन सभ्यता के प्रमाण प्राप्त हुए है।

विस्तार

पुरातात्विक विभाग द्वारा जिन स्थानो पर उत्खनन कार्य सम्पादित कराया गया तथा जिन स्थानो से इस सभ्यता के प्रमाण एवं अवशेष प्राप्त हुए हैं वे इस प्रकार है—

(१) **मोहनजोदड़ो**—सिन्ध के लरकाना जिले मे कराची से लगभग ४८० किलोमीटर उत्तर की ओर स्थित है। 'मोहनजोदड़ो' का शाब्दिक अर्थ है—मुर्दो का टीला। प्रमाणो के आधार पर कहा जाता है कि लगभग ५००० वर्ष पूर्व यहाँ पर एक नगर था जिसका सात बार निर्माण तथा विनाश हुआ। अब तक इस क्षेत्र की सातो तहो का उत्खनन हो चुका है, फिर भी कतिपय विद्वान जिनमे सर मोर्टिमर व्हीलर का नाम प्रमुख है—यह विश्वास करते है कि इसके नीचे भी सभ्यता के अवशेष दबे पड़े हैं। यह स्थान आधुनिक डोगरी रेलवे स्टेशन से लगभग १२ किलोमीटर तथा सिन्ध से लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

(२) **चन्हूदड़ो**—मोहनजोदड़ो से लगभग १५० किलोमीटर दक्षिण पश्चिम तथा जमाल किरियो से लगभग एक किलोमीटर दक्षिण पश्चिम की ओर एक दूसरे से सम्बद्ध तीन टीले हैं—ये चन्हूदडो के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस स्थान पर १९३१ ई० मे उत्खनन द्वारा मोहनदोजडो से मिलती-जुलती सामग्री प्राप्त हुई है।

(३) **नाल**—बलूचिस्तान के कलात राज्य मे स्थित यह प्रदेश अब पाकिस्तान मे है। यहाँ पर भी सिन्धु सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है।

(४) **भूकरदडो तथा कान्हूदड़ो**—ये दोनो पंजाब मे स्थित है।

(५) **हड़प्पा**—सिन्धु सभ्यता का यह केन्द्र पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) मे मान्टेगोमरी जिले मे लाहौर तथा मुलतान के बीच स्थित है। हड़प्पा तथा मोहनजोदडो में लगभग ६०० किलोमीटर की दूरी है परन्तु इन दोनो स्थानो पर प्राप्त होने वाली वस्तुओ को यदि मिला दिया

जाय तो यह भेद करना असम्भव होगा कि कौन सी वस्तु हडप्पा से मिली है तथा कौन-सी मोहनजोदडो से।

(६) अन्य केन्द्र—सिन्धु सभ्यता के उपरोक्त केन्द्रो के अलावा लोहूमजोदडो, रूपड, रंगपुर, लोथल, दबारकोट, घुण्डई, मेही, अमरी, पेरियानो, कुल्ली तथा सुत्कगेण्डोर आदि स्थानों से भी तत्सम्बन्धित सामग्री की प्राप्ति हुई है।

सिन्धु सभ्यता का विस्तार सिन्धु नदी की घाटी मे ही समझना एक भारी ऐतिहासिक भूल होगी। उत्तर पूर्व दिशा मे इस सभ्यता के अवशेप रूपड (पजाव) से लेकर रावी नदी के पास हडप्पा तक, फिर वहाँ से बीकानेर की मरुभूमि मे फैले कांठे को पार करते हुए सिन्धु नदी के तट पर मोहनजोदडो तक तथा यहाँ से लेकर सौराष्ट्र प्रदेश मे स्थित नगर लोथल तथा रंगपुर तक प्राप्त हुए हैं। नर्मदा के उस पार भगतराव मे भी ऐसे अवशेपो की प्राप्ति हुई है जो सिन्धु सभ्यता का विस्तार वहाँ तक प्रमाणित करते है। वर्तमान समय मे राजस्थान मे उदयपुर के निकट स्थित आहार नामक स्थान पर तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश मे भी सिन्धु सभ्यता के अवशेपो का खोज कार्य चल रहा है। उपरोक्त आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता का क्षेत्र अति विस्तृत था तथा इस सभ्यता के विशेप उल्लेखनीय केन्द्रों मे मोहनजोदडो, हडप्पा के अतिरिक्त दबारकोट, घुण्डई, पेरियानो, मेही, कुल्ली, अमरी, चन्हूदडो. लोहुमजोदडो, रुपड, अलीमुराद तथा रगपुर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता का देशगत विस्तार विश्व की उन प्राचीनतम सभ्यताओ से कही अधिक था जो मिश्र मे नील नदी के तट पर तथा तिग्रा एवं इफ्रातू नामक घाटियो के उपकंठ प्रदेशो मे फैली थी। आशा की जाती है कि सिन्धु सभ्यता की लिपि के स्पष्ट हो जाने पर इस सभ्यता के विस्तार पर और प्रकाश पडेगा।

सिन्धु सभ्यता का काल

डा० राजवली पाडे के अनुसार इस सभ्यता का काल चार हजार वर्ष ई० पू० है। उन्होने लिखा है—"यहाँ की खुदाई मे जल के धरातल तक प्राचीन नगरो के खण्डहरो के एक के ऊपर एक, सात स्तर प्राप्त हुए है। मोटे तौर पर यदि एक नगर के पनपने, वसने तथा ध्वस्त होने के के लिये ५०० वर्ष का समय लिया जाये, तो सात नगरो के बसने, पनपने तथा ध्वस्त होने के लिये तीन हजार पाँच सौ वर्ष लगेंगे' इस प्रकार सिन्धु सभ्यता कम से कम चार हजार वर्ष ई० पूर्व प्राचीन है।" डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार—"मोहनजोदड़ो के अवशेपो के सात विभिन्न स्तरो मे प्रत्येक के लिये ५०० वर्षों का भी समय माना जाये, क्योकि बार-बार बाढ़ो के आने से वहाँ पुरानी वस्तुओं का ध्वंस और नई का निर्माण शीघ्रता से हुआ, तो सिन्धु सभ्यता का समय ३२५०-२७५० ई० पू० मे उचित रूप से रखा जा सकता है, यद्यपि उनका मूल विकास और पूर्व इतिहास और भी पहले ले जाना होगा।" उपरोक्त दोनो विद्वानो ने जिन सात स्तरो की बात लिखी है इनमे से तीन स्तर पश्चातकालीन, तीन मध्यकालीन तथा एक प्राचीन है। अनुमान लगाया जाता है कि इस सभ्यता के और भी प्राचीनतम स्तर रहे होगे। मोहनजोदड़ो का अति विकसित रूप एवं जटिल होते हुए भी सुचारु प्रशासन निश्चय ही इस सभ्यता की प्राचीनतम सीमाओ को बहुत पीछे ले जाता है। पुरातत्वशास्त्रियो के अनुसार सिन्धु सभ्यता ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व की है।

सिन्धु सभ्यता के निर्माता

अतिप्राचीन सभ्यता होने के कारण सिन्धु सभ्यता के निर्माताओ का परिचय देने वाले साक्ष्यो का अभाव है। डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने सिन्धु सभ्यता के निवासी या निर्माताओ के विषय मे लिखा है "मोहनजोदडो से प्राप्त नर ककालो से चार नस्लो का प्रमाण मिलता है, अर्थात् आद्यनिषाद, भूमध्य सागर से सम्बन्धित जन, मंगोल तथा अल्पाइन।...... ...... इस प्रकार सिन्धु घाटी की जनता नाना दिगदेशगत थी।" इस विचार के विपरीत सर्वश्री रामचन्द्रन, शकरानन्द, पुसलेकर तथा दीक्षितार आदि विद्वान वैदिक आर्यो को सिन्धु संस्कृति के निर्माता मानते है। कतिपय अन्य विद्वानो का अभिमत है कि इस सभ्यता एव संस्कृति के निर्माता वे थे जो आर्यो के आगमन से पूर्व यहाँ पर निवास करते थे। एक अन्य मतानुसार ऋग्वेद मे वर्णित 'दास-दस्यु' सिन्धु सभ्यता के निवासी तथा निर्माता थे। डा० सुनीत कुमार, फादर हेरास तथा हाल के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे। गार्डन चाइल्ड ने सुमेरियनो को सिन्धु सभ्यता का निर्माता माना है।

सिन्धु सभ्यता के निर्माताओ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है—वह संभावनाओ और अनुमानो पर आधारित है। सिन्धु सभ्यता के निर्माता चाहे जो रहे हो, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उनकी उपलब्धियाँ महान थी। उन्होने तत्कालीन ही नही वरन् आधुनिक समय के लिये भी अनुकरणीय मानदण्ड स्थापित किये। सिन्धु सभ्यता के निर्माता और निवासियो के निश्चितीकरण के विषय मे, अभी मौन धारण करना ही अधिक उचित होगा।

सिन्धु सभ्यता की कला

सिन्धु सभ्यता के उदघाटन के फलस्वरूप भारतीय कला का चमत्कारिक अध्याय प्रारम्भ होता है। क्योकि यह सभ्यता और संस्कृति विशुद्धत भारतीय है, अत इस कला का उद्देश्य, रूप और प्रयोजन मौलिक एवं स्वदेशी है। यह अलग बात है कि अपने चरमोत्कर्ष काल मे सिन्धु सभ्यता ने अन्य समकालीन सभ्यताओ से सम्पर्क स्थापित किया। इस सम्पर्क से मौलिकता पर कोई आँच नही आती। संस्कृति के विकास मे विदेशो से सम्पर्क होना स्वाभाविक ही है। उत्खनन द्वारा जो पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है उसके आधार पर तत्कालीन कला का जो जीवन्त रूप उभर कर सामने आता है वह निम्नलिखित है :—

नगर निर्माण

सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगर मोहन-जोदड़ो, लोहमजूदड़ो, चन्हूदड़ो तथा हड़प्पा थे। मोहन-जोदडो तथा हडप्पा क्रमशः सिन्धु तथा रावी नदी के तट पर अवस्थित थे। फलस्वरूप नगर के चारो ओर बाँध बनाया गया था। बाढ मे बचाव के साथ जो दूसरी समस्या होती है वह है अतिवृष्टि के समय तथा नगर को स्वच्छ रखने के लिये पानी की निकासी का प्रबन्ध करना। सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत नगर निर्माण की इस समस्या का पूरी तरह से नियोजन किया गया था। सारे नगर मे छोटी नालियो तथा बडी नालियो का जाल सा बिछा हुआ है। सड़क तथा गली के दोनो ओर पक्की तथा ऊपर से ढकी हुई नालियाँ बनी हुई मिली है। अनेक छोटी नालियाँ बड़े नालो से जाकर

मिलती थी तथा इस प्रकार नगर का सारा गन्दा पानी नगर से बाहर निकल जाता था। कुछ स्थानो पर नालियो के बीच मे कुछ गड्ढे भी बने हैं—इनमे कीचड़ तथा ऐसी गन्दगी भर जाती थी जो पानी का वेग कम होने के कारण स्वत: नही बह सकती थी।

नगर मे बडी-बडी सडको का जाल सा बना हुआ था जो चारो दिशाओ मे जाती थी। मोहन-जोदडो मे जो सर्वाधिक चौड़ी सडक मिली है उसकी चौडाई ११ मीटर है। इस सड़क के दोनो ओर समानान्तर रूप मे उपमार्ग बने हुए थे। नगर की सभी सडकें इसमे आकर मिलती थी। सड़को का नियोजन सीधी रेखाओ के समान होने से सारा नगर कई खण्डो मे विभाजित हो गया था। यह प्रत्येक खण्ड—जो एक मोहल्ले जैसा था—लगभग ३६६ मीटर लम्बा तथा २४४ मीटर चौडा था। कूडा इत्यादि इकट्ठा करने के लिये सड़को के एक ओर गड्ढे बनाये जाते थे। मोहन-जोदडो मे एक सडक के दोनो ओर कुछ चबूतरे बने हुए मिले है। सम्भवत: इन चबूतरो पर दूकानें लगायी जाती थी। कतिपय दो सडको के मिलन स्थल पर भोजनालय बने होते थे। मोहन-जोदड़ो से इसके अवशेष प्राप्त हुए हैं।

गृह निर्माण

नागरिको के आवासीय गृह सडक के दोनो ओर एक सुनियोजित प्रणाली के आधार पर बनाये जाते थे। घरो मे प्रकाश तथा हवा के आवागमन का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। घर आवश्यकतानुसार छोटे तथा बडे होते थे। सबसे छोटा आवास गृह ३० फिट लम्बा तथा २७ फिट चौडा है। बडे आवास गृह २६ × ३० मीटर के भू-क्षेत्र मे बनाये जाते हैं। छोटे घरो मे चार या पाँच कमरे तथा बडे घरो मे अधिकतम ३० कमरे होते थे। मोहन-जोदडो के भवन पकाई हुई ईंटो द्वारा बनाये गये है। छोटी ईंटें १०$\frac{1}{4}$ × ५ × २$\frac{1}{2}$ इंच तथा बड़ी ईंटें २०$\frac{1}{4}$ × १०$\frac{1}{2}$ × ३$\frac{1}{2}$ इंच की है। ईंटे गहरे लाल रग की हैं। ईंटो को इतनी अच्छी तरह पकाया जाता था कि आज तक उनका रंग लाल है। कुछ स्थानो पर चूने के प्रयोग के प्रमाण मिले है। कुछ मकानो की दीवारें आज भी २५ से ३० फिट की ऊँचाई तक खडी हुई हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मकान कई मंजिलो के होते थे। मकानो की दीवारे काफी मोटी हैं तथा उनमे कड़ियाँ पाटने के चिह्न भी प्राप्त हुए है। सुरक्षा की दृष्टि से छतो के चारों ओर उठी हुई चहारदीवारी बनाई जाती थी। इन छतो से बरसाती पानी निकालने के लिये नालियाँ बनाई जाती थी। इन नालियो के मुख आकर्षक होते थे। छत पर जाने के लिये सीढियाँ बनाई जाती थी जो प्राय: मकान के अन्दर होती थी। ये सीढियाँ कुछ सकरीली है तथा इनका प्रत्येक पग लगभग सवा फिट चौडा है।

सिन्धु नगरो के गृहो के अधिकतर द्वार तथा खिडकियाँ सडको की ओर न होकर, गलियो मे खुलते थे। दरवाजो के सामने दीवार बना दी जाती थी जो कदाचित आवरण मात्र होती थी। घर के बीचोबीच रसोईघर बने होते थे। इन रसोईघरो मे कई चूल्हो के अवशेष मिले है। चूल्हे ईंटो तथा मिट्टी द्वारा बनाये जाते थे। रसोईघरो मे कई घडे के आकार के बर्तन जमीन मे गड़े हुए मिले हैं। इनसे दो प्रकार के अनुमान लगाये जा सकते हैं—पहला सम्भवत: इनमे खाद्यान्न संचित किया जाता था, दूसरा—यह भी हो सकता हे कि रसोईघर का गन्दा जल इनमे एकत्र होता था।

प्रत्येक मकान मे एक स्नानागार होता था। इसका फर्श पक्की तथा चिकनी ईंटो द्वारा बनाया जाता था। स्नानागार मे गोलाकार या चौकोर बड़ा बर्तन रखा जाता था जिसमे नहाने के लिये

पानी एकत्र किया जाता था। स्नानागार के फर्श पर अपेक्षाकृत अधिक चिकनाहट के प्रमाण मिले हैं—इससे स्पष्ट होता है कि स्नान के पूर्व शरीर पर तेल इत्यादि का लेप लगाया जाता था। नालियो में ईंटो को इस कुशलता के साथ बिछाया जाता था कि इनके बीच मे न तो गड्ढे ही होते थे और न ही पानी बीच मे रिसता था। सभी मकानो मे कुएँ पाये गये है। सारे कुएँ अण्डाकार हैं तथा इनके अन्दर की दीवारो पर ईंटों की चिनाई की जाती थी। कतिपय कुओ के अन्दर की ओर सीढ़ियाँ हैं जिनका प्रयोग कुओ की सफाई के लिये किया जाता था।

गढ़ी तथा विशाल गोदाम—मोहन-जोदडो, हडप्पा तथा चन्हूदड़ो के भग्नावशेषो मे हमें कतिपय अतिविशाल भवनो की प्राप्ति हुई है। आकार प्रकार मे ये भवन मध्यमवर्गीय निवास स्थानो से भिन्न तथा विशिष्ट है। ये भवन सार्वजनिक तथा राजकीय भवन प्रतीत होते है। हडप्पा से समानान्तर चतुर्भुज के आकार की एक गढी मिली है। इस गढी के भीतर चबूतरे पर भवन बनाये गये है। मोहनजोदडो मे भी ऐसी ही गढी मिली है। यह १० मीटर से लेकर २० मीटर तक की एक कृत्रिम पहाड़ी पर बनाई गई है। बाढ से रक्षा के लिये इसके चारो ओर २१ मीटर चौड़ा बाँध बनाया गया था। इस गढी में अनेक द्वार तथा मीनारें बनी हुई थी। हडप्पा तथा मोहन-जोदड़ो की उपरोक्त दोनो गढी अपने आकार प्रकार के आधार पर दुर्ग प्रतीत होती हैं। मोहन-जोदड़ो की गढ़ी के भीतर बने एक विशाल भवन के अवशेष प्राप्त हुए है। गढी के इस विशाल भवन की लम्बाई ७० मीटर, चौडाई २४ मीटर, बाहर दीवार २ मीटर चौडी, भीतर का आँगन १०×१० मीटर वर्गाकार है। भवन मे अनेक कक्ष, स्नानागार तथा बरामदे है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशाल भवन भी प्राप्त हुआ है। इसकी लम्बाई ७० मीटर, चौडाई २४ मीटर है तथा इसकी दीवार डेढ़ मीटर चौडी है। इसमे दो विशाल आँगन, अनेक कक्ष तथा भण्डारागार हैं। इस गढी का एक अन्य भवन वर्गाकार आकृति का है तथा इसका क्षेत्रफल ७१×७१ मीटर है। इस भवन मे एक विशाल प्रांगण है जो २० स्तम्भो पर टिका हुआ था। इस प्रांगण के चारो ओर अनेक स्थानो पर कुर्सियो के आकार की चौकियाँ बनी हुई हैं। आकार प्रकार के आधार पर यह कोई सभा भवन प्रतीत होता है।

हडप्पा से एक विशाल गोदाम के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। खेद की बात है कि अवशेष को ईंटचोरो ने बडा नुकसान पहुँचाया है। यह चोरी इस बात की प्रतीक है कि आधुनिक सभ्यता मे सिन्धु सभ्यता की ईंटो को काफी महत्व दिया गया है। विशाल गोदाम मे बारह बारह दीवारो के दो समूह हैं, एक पूर्व की ओर तथा दूसरा पश्चिम की ओर। इन दोनो के बीच लगभग ५ मीटर का अन्तर है। प्रत्येक भण्डारागार अथवा गोदाम का मुख नदी की ओर है, इसका कारण यह है कि इन गोदामो मे नदी के मार्ग से सामान आता होगा। इन भण्डारागारो के निकट छोटे-छोटे मकान बने हैं। भण्डारागार से लगभग ८५ मीटर की दूरी पर दक्षिण दिशा मे ईंटो के बने हुए अनेक गोलाकार चबूतरे बने हुए हैं तथा प्रत्येक चबूतरे का व्यास ३½ मीटर के लगभग है। इस चबूतरे के बीच मे एक छेद बना हुआ है—जिसका प्रयोग कदाचित अनाज पीसने के लिये किया जाता था।

सार्वजनिक स्नानागार—'विशाल स्नानागार' का क्षेत्र १८० फिट लम्बा, १०२ फिट चौडा है। यह एक विशाल वर्गाकार प्रांगण मे स्थित है तथा इसके चारो ओर गैलरी, कक्ष, कमरे इत्यादि बने हुए हैं। प्रागण के मध्य एक बड़े आँगन मे मुख्य स्नानकुण्ड है इसकी लम्बाई ३० फिट, चौड़ाई

२३ फिट तथा गहराई ८ फिट है। स्नानकुण्ड के निकट ही कुआँ है जिसके द्वारा जल प्राप्त करके स्नानकुण्ड को भरा जाता था। स्नानागार के गन्दे जल को बाहर निकालने के लिये तथा उसमे उतरने के लिये सीढियो की व्यवस्था है। स्नानकुण्ड के चारो ओर अनेक चबूतरे बने हुए हैं। स्नानकुण्ड के चारो ओर बरामदा बना हुआ है तथा इन बरामदो मे अनेक कक्ष बने हुए है। सीलन से बचाव तथा पानी न रिसने हेतु स्नानकुण्ड की दीवारो को मजबूत ईंटो द्वारा बनाकर उन पर प्लास्टर किया गया है। विशाल स्नानागार के निकट ही कई छोटे छोटे स्नानागार भी प्राप्त हुए है। इनमे गर्म तथा ठण्डा जल रखा जाता था। स्वास्थ्य विज्ञान के अनुसार जल मिश्रण द्वारा सार्वजनिक स्नान की इतनी उत्कृष्ट व्यवस्था हमे आज भी अप्राप्य है।

सिन्धु घाटी की वास्तुकला महान उपलब्धियो की परिचायक है। इस सभ्यता का नगर विन्यास तथा निर्माण शैली अद्भुत एव आश्चर्यजनक है। व्यवस्थित तथा सुनियोजित ढंग से बने विशाल भवन, स्नानागार, भण्डारागार, दुर्ग, बाँध आदि तत्कालीन स्थापत्य की श्रेष्ठता के उदाहरण हैं। पुर विन्यास मे परिधि, वक्रता, प्रकार आदि पर विशेष ध्यान दिया गया है। तत्कालीन राजमार्ग, प्रासाद, कोष्ठागार, सभा भवन, स्नानागार तथा अट्टालिकाओ आदि की निर्माण विधि मे तकनीकी गुणो का समावेश दृष्टिगोचर होता है।

मूर्तिकला—तत्कालीन मूर्ति कला के उदाहरणो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) धार्मिक रूप मे उपास्य मूर्तियाँ, (२) सामान्य आकृतियो की मूर्तियाँ। मूर्तियो के सामान्य निरीक्षण द्वारा हमे यह विदित होता है कि इनके निर्माण मे चार प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थी—(१) धातुओ को तपा कर उन्हे साँचो मे ढाल कर मूर्तियाँ बनाना, (२) ठप्पा लगा कर मूर्ति बनाना, (३) मिट्टी की मूर्तियाँ बना कर उन्हे आग मे तपा कर तैयार करना, तथा (४) छेनी द्वारा पत्थर का तक्षण-लक्षण करके मूर्ति बनाना। तत्कालीन मूर्तियो मे भावाभिव्यंजना, हाव भाव प्रदर्शन तथा शरीर के विभिन्न अंगो की संतुलित अभिव्यक्ति है। मोहनजोदडो से प्राप्त नर्तकियो की मूर्तियो मे तथा खड़िया मिट्टी की बनी ध्यानावस्थित योगी की मूर्ति मे अग विन्यास, अलंकरण तथा चिन्तन के यथार्थ गुण विद्यमान है। हड़प्पा से प्राप्त दो मूर्तियाँ तो इतनी उत्कृष्ट है कि मार्शल महोदय को कहना पडा है कि ई० पू० चौथी शताब्दी का कोई भी यूनानी कलाकार इन मूर्तियो को स्वय द्वारा निर्मित कहने मे गौरव का अनुभव करेगा।

धातु कृतियाँ—सिन्धु सभ्यता के कलाकार को विभिन्न धातुओ के प्रयोग तथा उपयोगिता का पूरा-पूरा ज्ञान था। सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, पीतल, कली तथा सीसे के साथ-साथ वे हड्डियो, घोघो, सीपो तथा हाथी दाँत आदि धातुओ से परिचित थे। उनका धातुकला ज्ञान इतना विकसित था कि वे विभिन्न धातुओ के मिश्रण गुणो की भी जानकारी रखते थे। विभिन्न धातुओ को गलाने, ढालने, काटने, मोड़ने तथा चिकना एव चमक पैदा करने की कला अब पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। पीतल के बने हुए बकरी, बत्तख, नर्तकियो के खिलौने, ताँबे के बने हुए कूबड़दार बैल, सीसे की तश्तरी तथा सोने, चाँदी, हाथी दाँत, सीप आदि के बने आभूषण तत्कालीन धातुकला की विशिष्टता प्रमाणित करते है।

पाषाणकला—सिन्धु कलाकार को पाषाण की उपयोगिता, आकार, प्रकार, विविधता तथा रंगों का पूरा-पूरा ज्ञान था। पाषाण को काटने, छाँटने, तराशने तथा भावो के अंकन मे सिन्धु

कलाकार कुशल हस्त था। सिन्धु कलाकार को किसी ऐसे मिश्रित मसाले का भी ज्ञान था जो पाषाण को जोड देता था।

गुरिया निर्माण कला—सिन्धु घाटी से पर्याप्त मात्रा में सोने, चाँदी, मिट्टी, पाषाण, हाथी दाँत, सीपो तथा घोंघो द्वारा निर्मित गुरियाओ की प्राप्ति यह प्रमाणित करती है कि इस समय गुरिया निर्माण कला मे विशेष प्रगति हुई थी। इन गुरियाओ पर विभिन्न रंगो की पालिश तथा पच्चीकारी की गई है।

चित्रकला—सिन्धु घाटी की सभ्यता की चित्रकला का विषय सामान्य जीवन से सम्बन्धित था। इस काल के चित्रो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) ज्योमितीय अंकन—इसमे रेखाओ की सहायता से चित्र बनाये जाते थे। (२) दृश्यात्मक अंकन—इस प्रकार की चित्रकला में पशुपक्षियो, वेलबूटो, मानव आकृतियो, पत्रो-पुष्पों आदि का चित्रण है। तत्कालीन चित्रकला की भावाभिव्यक्ति तथा स्वरूप इतना उन्नत तथा विकसित है कि हमे प्रतीत होता है कि इसके पीछे किसी परम्परागत अभ्यास का हाथ है।

मुद्रा निर्माण कला—सिन्धु घाटी से प्राप्त मुद्राओ की संख्या लगभग ५५० है। इन मुद्राओ के आकार-प्रकार, स्वरूप तथा प्रतीक चिह्नो से विदित होता है कि यह कला पर्याप्त रूप से विकसित थी। सिन्धु कलाकार मुद्राओ को ढालने, एकरूपता देने तथा उन पर विभिन्न आकृतियो को उत्कीर्ण करने मे पूर्णत दक्ष था।

लेखन कला—सिन्धु निवासी लेखन कला से परिचित थे तथा उनकी लिपि सकेतात्मक एव चित्र प्रधान थी। सिन्धु घाटी से प्राप्त लगभग सभी मुद्राओ पर चित्रात्मक लिपि का प्रयोग किया-गया है।

संगीत तथा नृत्य कला—हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर संगीत समारोह का अंकन, एक अन्य मुद्रा पर नर्तकी की नृत्य मुद्रा का अंकन तथा अनेक मुद्राओ पर वीणा तथा ढोल का अंकन, कतिपय पक्षियो के खिलौनो की पूँछ मे साटी तथा बाँसुरी का होना—आदि यह प्रमाणित करते है कि उस समय नृत्य तथा संगीत कला भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। प्रतीत होता है कि सिन्धु निवासी नृत्य कला के विभिन्न हावभावो से परिचित थे तथा इसकी शिक्षा का भी प्रबन्ध था।

कलागत विशेषताएँ—विभिन्न कला शीर्षको के अन्तर्गत किये गये उपरोक्त वर्णन के आधार पर सिन्धु घाटी सभ्यता की कला के निम्नलिखित गुण प्राप्त होते हैं—

(i) सिन्धु घाटी की कला सहज, सरल होते हुए उपयोगितात्मक है।

(ii) सिन्धु घाटी की कला के रूप तथा गुण मौलिक है तथा उसमे स्वदेशीपन है।

(iii) सिन्धु कला यथार्थवादी गुणो से ओत-प्रोत है।

(iv) इस कला मे सजीव, स्वाभाविक तथा सामान्य भावाभिव्यक्ति है।

(v) सिन्धु कला मे तकनीकी गुण हैं।

(vi) इस सभ्यता की कला ने प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा अन्य समकालीन सभ्यताओ की कला को प्रभावित किया था।[1]

---

१. सर जॉन मार्शल "In fine arts, the magnificent, statues, seals and jewellary are found nowhere else in the world until we come to the age of

सिन्धु सभ्यता में सामाजिक जीवन

समाज की रचना—प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि सिन्धु सभ्यताकालीन सामाजिक जीवन सरल, सादा, उन्नत तथा मानवीय अभिरुचियों की परिष्कृत अनुभूतियों से ओत-प्रोत था। प्रत्येक परिवार का निवास पृथक गृह में था। अतः परिवार की इकाई परम्परागत परिवार था। प्रत्येक पारिवारिक इकाई के रूप मे अति निकट सम्बन्धी एक ही घर मे रहते थे। पारिवारिक परिभाषा के अन्तर्गत माता-पिता तथा सन्तान थे। नारियो की मूर्तियाँ बहुतायत मे प्राप्त होने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार तथा समाज में नारी को प्रमुख स्थान प्राप्त था। विश्वास किया जाता है कि परिवार मातृ प्रधान था। यदि द्रविड सभ्यता तथा सिन्धु सभ्यता मे कोई समानता है तो उसका आधार परिवार की मातृ प्रधानता ही है।

सामाजिक वर्गीकरण तथा संगठन—सिन्धु समाज के वर्गीकरण का आधार कार्यकुशलता प्रतीत होता है। समाज मे अनेक वर्ग थे। ये वर्ग पदाधिकारी, पुरोहित, राजकीय कर्मचारी, चिकित्सक, व्यापारी, व्यवसायी, श्रमिक, स्वर्णकार, धातुकार, कुम्भकार, बुनकर, कृषक आदि के थे। इन वर्गों के आधार पर चार प्रमुख वर्गों का अनुमान लगाया जा सकता है—यथा (१) विद्वान या बौद्धिक वर्ग—इसमे पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी आदि थे। (२) राजकीय पदाधिकारी, योद्धा तथा सुरक्षा कर्मचारी वर्ग—इसमे राज्य के उच्च पदाधिकारी, कर्मचारी, सैनिक तथा योद्धा थे। (३) व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग—इसमे समाज का व्यापारी, व्यवसायी, उद्योगपति तथा धनी वर्ग था। (४) श्रमिक तथा कारीगर आदि का वर्ग—इस वर्ग मे वे लोग थे जो अपना जीविकोपार्जन शारीरिक श्रम तथा हस्तकौशल आदि के माध्यम से प्राप्त करते थे। सिन्धु सभ्यता से जाति प्रथा अथवा वर्ग भेद के कोई प्रमाण प्राप्त नही हुए हैं। सिन्धु सभ्यता के सन्दर्भ मे उपरोक्त वर्ग विभाजन समाज के आवश्यक तत्वों के रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है।

भोजन तथा खाद्य सामग्री—अनेक ऐसी मुद्राएँ, जिन पर मछली पकड़ने, शिकार करने तथा बलि देने के वे रेखांकित चित्र हैं—यह संकेत देती हैं कि वे मांसाहारी थे। चित्रो द्वारा पता चलता है कि उन्हें विभिन्न उपयोगी फलो का ज्ञान था। इन फलों मे अनार, नारियल, खजूर, नीबू तथा तरबूज प्रमुख हैं। वे मुख्यतः गेहूँ, जौ, राई, तिल, चावल तथा विभिन्न शाक सब्जियो का प्रयोग करते थे। कतिपय चित्र यह प्रमाणित करते हैं कि उन्हे मुर्गी पालन का भी ज्ञान था अतः संभव है कि वे अण्डो का भी प्रयोग करते थे।

वस्त्र तथा पहनावा—अनेक मूर्तियो पर स्त्री पुरुष के वस्त्रहीन चित्र मिले है। वस्त्र है भी, तो मात्र आधा शरीर ही ढका हुआ है परन्तु इस आधार पर यह अनुमान लगाना कि वे वस्त्रो आदि के प्रति उदासीन थे अथवा नग्नताप्रिय थे—गलत होगा। विशाल स्नानागार मे बने कमरो मे पर्दो तथा आवरणो का प्रबन्ध, मकानों की खिड़कियों तथा द्वारो की दिशा मुख्य मार्ग की ओर न होकर गलियो की ओर होना तथा मुख्य द्वार के सामने छोटी सी दीवार के रूप मे बेपर्दगी से बचने की व्यवस्था—यह प्रमाणित करते है कि उस समय पर्दे की प्रथा थी। जब वे अपने घरो को पर्दे की ओट

Pericles in Greece and India had produced an entirely original civilisation which has left a lasting legacy on later Hinduism."

मे रखते थे तो निश्चय ही वे अपने शरीर को भी आवरण मे रखते ही होगे। मुद्राओ तथा चित्रो मे नग्नता उनकी किसी विशिष्ट अभिरुचि का प्रमाण हो सकता है स्वयं उनके समस्त जीवन का नही। एक ऐसे पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमे वह एक शाल ओढे हुए है तथा यह बायें कंधे से होता हुआ दाहिनी कांख के नीचे की ओर बँधा हुआ है। शरीर को ढकने के लिये संभवत: दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था—पहला कूल्हो से नीचे के भाग को ढकने के लिये तथा दूसरा शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये। स्त्रियो तथा पुरुषो की वस्त्राभूषा मे कोई विशेष अन्तर नही था। पुरुष प्राय. एक उत्तरीय या दुपट्टा दायें कन्धे के नीचे से लेकर बायें कन्धे के ऊपर डाल लेते थे तथा बैठने पर इसी से पाँवो को भी ढक लेते थे। कमर के नीचे के भाग को ढकने के लिये पुरुष तथा स्त्रियाँ लुंगी जैसा वस्त्र भी धारण करती थी। स्त्रियाँ सर पर एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती थी जो सर के पीछे की ओर उड़ता रहता था।

शृंगार—मातृ देवी की मूर्ति, अनेक रेखांकित चित्र तथा मुद्राओ पर उत्कीर्ण मानव मुद्राएँ इस विश्वास के प्रमाण हैं कि उनकी शृङ्गार प्रियता मे विविधता तथा मौलिकता थी। स्त्री पुरुषों को समान रूप से शृङ्गार में विशेष अभिरुचि थी। पुरुष दाढ़ी मूँछ रखते थे तथा कुछ लोग इन्हे मुँडवाते भी थे। कुछ पुरुष लम्बे केश रखते थे तथा इन्हे सर के पीछे काढ कर जूड़ा भी बनाते थे। यहाँ से कंघे तथा शीशे की प्राप्ति इस बात का प्रमाण है कि वे बालो मे तेलादि लगाकर उन्हे काढते थे। मातृ देवी की मूर्तियो के शिरोभाग पर कुल्हाड़ी के आकार की अलंकृत शिरोभूषा इस बात का प्रमाण है कि सिन्धु नारी को शिरोभूषा का विशिष्ट ज्ञान था। कुछ स्त्रियाँ पगडी भी धारण करती थी। अनेक स्त्री पुरुष सर पर नुकीली टोपी पहनते थे। हड़प्पा मे एक बोतल प्राप्त हुई है जिसमे संभवत: काजल रखा जाता रहा होगा। सीपो के पात्र मे पाउडर जैसी चीज की प्राप्ति तथा शृङ्गार स्थानो से प्राप्त घोंघे के पात्र इस बात के सूचक हैं कि इनमे अनेक प्रकार की प्रसाधन सामग्री रखी जाती रही होगी।

आभूषण—कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री पुरुष समान रूप से पहनते थे तथा कुछ ऐसे थे जो केवल स्त्रियाँ अथवा पुरुष ही पहनते थे। आभूषण की आकृति आकर्षक तथा कलात्मक होती थी तथा वे साधारण एवं बहुमूल्य धातुओ द्वारा बनाये जाते थे। कन्दौरे, कान के इयरिंग तथा फूल, पैरो की पायल तथा बालियाँ स्त्रियाँ ही पहनती थी। हार, भुजबन्धन, लौंग, नाक की बालियाँ, अंगूठी, करधनी, बालो के पिन आदि अन्य प्रमुख आभूषण थे। आभूषणो के निर्माण मे सोना, चाँदी, हाथीदाँत, कीमती पत्थर, सीपी, मोती आदि का प्रयोग किया जाता था। निर्धन तथा निम्न वर्ग के लोग अस्थियो, घोंघो, सीपियो, ताम्र तथा पकाई हुई मिट्टी के आभूषण पहनते थे।

मनोरंजन के साधन—अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिन पर ढोल, वीणा, तुरही, तथा नर्तकी के रेखांकित चित्र बने हुए हैं। एक मुद्रा पर दो लड़ते हुए मुर्गो का चित्र बना हुआ है। अनेक चित्रो मे सिंह तथा अन्य पशुओ के आखेट का अंकन है। नर्तकी, गुड़ियो तथा विविध खिलौने की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर शारीरिक व्यायाम करते हुए मनुष्य का चित्र बना हुआ है। मोहनजोदड़ो से अनेक प्रकार के ताँबे, पत्थर, मिट्टी के खिलौने, संगमरमर, अन्य विविध पाषाणो तथा सीपो की गोटियाँ मिली हैं साथ ही मिट्टी की गोलियाँ भी प्राप्त हुई हैं। उन्हे शतरंज से मिलते जुलते खेल का भी ज्ञान था। मुर्गे तथा अन्य पशुओं को लड़ा कर देखने मे उन्हे विशेष आनन्द प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त मछली पकड़ना, शिकार खेलना तथा तैराकी उनके प्रमोद

में रखते थे तो निश्चय ही वे अपने शरीर को भी आवरण मे रखते ही होगे। मुद्राओं तथा चित्रो मे नग्नता उनकी किसी विशिष्ट अभिरुचि का प्रमाण हो सकता है स्वयं उनके समस्त जीवन का नही। एक ऐसे पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमे वह एक शाल ओढे हुए हे तथा यह बायें कंधे से होता हुआ दाहिनी कांख के नीचे की ओर बँधा हुआ है। शरीर को ढकने के लिये संभवत: दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था—पहला कूल्हो से नीचे के भाग को ढकने के लिये तथा दूसरा शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये। स्त्रियो तथा पुरुषो की वस्त्राभूषा मे कोई विशेष अन्तर नही था। पुरुष प्राय एक उत्तरीय या दुपट्टा दायें कन्धे के नीचे से लेकर बायें कन्धे के ऊपर डाल लेते थे तथा बैठने पर इसी से पाँवो को भी ढक लेते थे। कमर के नीचे के भाग को ढकने के लिये पुरुष तथा स्त्रियाँ लुँगी जैसा वस्त्र भी धारण करती थी। स्त्रियाँ सर पर एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती थी जो सर के पीछे की ओर उडता रहता था।

शृंगार—मातृ देवी की मूर्ति, अनेक रेखाकित चित्र तथा मुद्राओ पर उत्कीर्ण मानव मुद्राएँ इस विश्वास के प्रमाण हैं कि उनकी शृङ्गार प्रियता मे विविधता तथा मौलिकता थी। स्त्री पुरुषों को समान रूप से शृङ्गार मे विशेष अभिरुचि थी। पुरुष दाढी मूँछ रखते थे तथा कुछ लोग इन्हे मुँडवाते भी थे। कुछ पुरुष लम्बे केश रखते थे तथा इन्हे सर के पीछे काढ़ कर जूडा भी बनाते थे। यहाँ से कघे तथा शीशे की प्राप्ति इस बात का प्रमाण है कि वे बालो मे तेलादि लगाकर उन्हे काढते थे। मातृ देवी की मूर्तियो के शिरोभाग पर कुल्हाड़ी के आकार की अलंकृत शिरोभूषा इस बात का प्रमाण है कि सिन्धु नारी को शिरोभूषा का विशिष्ट ज्ञान था। कुछ स्त्रियाँ पगड़ी भी धारण करती थी। अनेक स्त्री पुरुष सर पर नुकीली टोपी पहनते थे। हडप्पा से एक बोतल प्राप्त हुई हे जिसमे संभवत: काजल रखा जाता रहा होगा। सीपी के पात्र मे पाउडर जैसी चीज की प्राप्ति तथा शृङ्गार स्थानो से प्राप्त घोघे के पात्र इस बात के सूचक हैं कि इनमे अनेक प्रकार की प्रसाधन सामग्री रखी जाती रही होगी।

आभूषण—कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री पुरुष समान रूप से पहनते थे तथा कुछ ऐसे थे जो केवल स्त्रियाँ अथवा पुरुष ही पहनते थे। आभूषण की आकृति आकर्षक तथा कलात्मक होती थी तथा वे साधारण एवं बहुमूल्य धातुओ द्वारा बनाये जाते थे। कन्दौरे, कान के इयरिंग तथा फूल, पैरो की पायल तथा बालियाँ स्त्रियाँ ही पहनती थी। हार, भुजबन्धन, लौग, नाक की बालियाँ, अगूठी, करधनी, बालो के पिन आदि अन्य प्रमुख आभूषण थे। आभूषणो के निर्माण मे सोना, चाँदी, हाथीदाँत, कीमती पत्थर, सीपी, मोती आदि का प्रयोग किया जाता था। निर्धन तथा निम्न वर्ग के लोग अस्थियो, घोघो, सीपियो, ताम्र तथा पकाई हुई मिट्टी के आभूषण पहनते थे।

मनोरंजन के साधन—अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिन पर ढोल, वीणा, तुरुही, तथा नर्तकी के रेखांकित चित्र बने हुए हैं। एक मुद्रा पर दो लडते हुए मुर्गो का चित्र बना हुआ है। अनेक चित्रो मे सिंह तथा अन्य पशुओ के आखेट का अंकन हे। नर्तकी, गुड़ियो तथा विविध खिलौने की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर शारीरिक व्यायाम करते हुए मनुष्य का चित्र बना हुआ हे। मोहनजोदड़ो से अनेक प्रकार के ताँबे, पत्थर, मिट्टी के खिलौने, सगमरमर, अन्य विविध पाषाणो तथा सीपो की गोलियाँ मिली है साथ ही मिट्टी की गोलियाँ भी प्राप्त हुई हैं। उन्हे शतरंज से मिलते जुलते खेल का भी ज्ञान था। मुर्गे तथा अन्य पशुओं को लडा कर देखने मे उन्हे विशेष आनन्द प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त मछली पकड़ना, शिकार खेलना तथा तैराकी उनके प्रमोद

के साधन थे। वे स्वास्थ्यरक्षा की ओर विशेष ध्यान देते हुए शारीरिक व्यायाम भी करते थे। उन्हे नृत्य से विशेष लगाव था। सिन्धु निवासियों को द्यूत विद्या का पर्याप्त ज्ञान था तथा यह उनके मनोरंजन का प्रमुख साधन थी।[1]

विविध गृहोपयोगी उपकरण तथा सामग्री—सिन्धुघाटी के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओ में दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाले पकाई हुई मिट्टी तथा धातु के घडे, कटोरियाँ, थाली, चम्मच, गिलास, तश्तरियाँ, कलश आदि हैं। सामान रखने के लिये टोकरियों का प्रयोग किया जाता था। जमीन पर विछाने के लिए चटाई, बैठने के लिए तिपाई, कुर्सी आदि का प्रयोग होता था। लेटने तथा शयन करने के लिये पलग तथा खाट का प्रयोग होता था। इन सभी उपकरणो के चित्र विभिन्न मुद्राओं पर अंकित है। रात्रि मे सादे और अलकृत दीपक प्रयोग मे लाये जाते थे। गृहोपयोगी वर्तनो की एक विशिष्ट बात यह थी कि मिट्टी के बर्तन काले, लाल, कत्थई तथा पीले रंगो द्वारा रंगे जाते थे तथा उन पर रेखाओ द्वारा बिन्दुओं के माध्यम से विभिन्न पशु पक्षी तथा वृक्ष आदि बनाये जाते थे। इन बर्तनो की पालिश इतनी चमकदार है कि वे आज भी चीनी के बर्तनो जैसी चमक लिये हुये हैं। हडप्पा के बर्तनो पर अनेक लेख भी अंकित है। गृहस्थ जीवन की सामग्री मे सूत कातने की तकई, सुई, हाथी दाँत या अस्थि के बने कघे, हँसिया, चाकू, कुल्हाड़ी, छेनी, छुरी, आरी, कासे, ताम्र के उस्तरे तथा मछली पकडने के काँटे आदि है।

सिन्धुवासियो का अनेक औषधियो का भी ज्ञान था। मोहनजोदडो से शिलाजीत तथा समुद्रफेन की प्राप्ति हुई है। वैद्य तथा चिकित्सक औषधि के साथ-साथ जादू टोने द्वारा भी उपचार करते थे। स्वास्थ्य रक्षा के लिये अनेक प्रकार के तावीज पहनने की भी प्रथा थी। इन तावीजो पर मातृदेवी, पशु तथा पक्षियो के चित्र अंकित है।

नारी की स्थिति—सिन्धु सभ्यता के अवशिष्ट प्रमाण इस बात को प्रमाणित करते है कि तत्कालीन परिवार मातृ प्रधान था। मातृ प्रधान परिवार मे नारी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। मातृका देवी प्रमुख उपास्य थी—यह भी स्त्रियों की महत्वपूर्ण स्थिति का प्रमाण है। उत्खनन द्वारा जितनी मानव आकृतियो के चित्रो की उपलब्धि हुई है उनमे स्त्रियो के चित्र ही बहुसख्यक है—अत. इससे प्रमाणित होता है कि जीवन के सभी क्षेत्रो मे नारी को पुरुष के समान या उमसे भी अधिक आदर प्राप्त था। स्त्री का मुख्य कर्त्तव्य गृह-सचालन तथा सन्तानोत्पत्ति करना था। सामाजिक तथा धार्मिक कार्यो मे नारी को प्रमुखता प्राप्त थी।

आर्थिक जीवन

जब हम सिन्धुघाटी के आर्थिक जीवन के विषय मे सोचते है तो हमारा ध्यान अनायास ही मोहनजोदडो तथा हडप्पा जैसे नगरों के विलासमय तथा वैभवशाली नागरिक जीवन की ओर आकृष्ट हो जाता है। ऐसे जीवन का भार संभालने के लिये निश्चित ही किसी सुसगठित, सुव्यवस्थित तथा सुचारु आर्थिक व्यवस्था का होना अवश्यभावी है।

---

१. "Gambling was obviously a favourite amusement and various kinds of discs have been found as well as counters resembling chessmen."

—पद्मिनीसेन गुप्त

कृषि—सिन्धु सभ्यता में कृषि को प्रमुख स्थान प्राप्त था। विशाल भण्डारागार इस बात का प्रमाण है कि सिन्धु निवासी खपत के अतिरिक्त अकाल आदि दैवी प्रकोपों को ध्यान में रखते हुये खाद्यान्न संचय भी करते थे। वे कृषि कर्म से भली-भाँति परिचित थे। वर्षा तथा जल की पर्याप्तता के कारण सारा प्रदेश उर्वरक तथा हरा-भरा था। गेहूँ, जौ, तिल, कपास, चावल, आदि की खेती की जाती थी। क्योंकि सिन्धु निवासियों को ऋतुओं का पर्याप्त ज्ञान था अत. वे मौसम के अनुसार फसलें लगाते थे। शाक भाजी तथा फलों से परिचित होने के कारण वे इसकी उपज भी करते थे। विविध आकार के वर्तनों की प्राप्ति से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे विविध प्रकार का भोजन करते थे अतः उनके द्वारा विविध खाद्यान्न उपजाये जाते होंगे। कपास के माध्यम से वे सूती वस्त्र बनाते थे तथा चारा अधिक होने के कारण वे पशुपालन भी करते थे।

व्यापार तथा वाणिज्य—सिन्धु सभ्यता नगर प्रधान सभ्यता थी। नगर प्रधान सभ्यता प्रायः व्यापार वाणिज्य के क्षेत्र में उन्नत होती है। क्योंकि सिन्धु सभ्यता शान्ति एवं सुरक्षा पर आधारित थी अत. यहाँ का आन्तरिक व्यापार वाणिज्य समुन्नत था। नगरों के प्रमुख मार्गों के दोनों ओर बने अनेक चबूतरों से पता चलता है कि यहाँ पर विविध सामग्री का क्रय-विक्रय होता था।

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो से ऐसी अनेक सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं जिनका पुरातात्विक विश्लेषण यह निश्चित करता है कि ये विदेशों से आयातित सामग्री रही होगी। यहाँ के निवासी सोना, चाँदी, टिन तथा सीसा आदि ईरान तथा अफगानिस्तान से आयात करते थे। आभूषणों आदि में प्रयुक्त होने वाले बहुमूल्य पत्थरों का आयात बदख्शाँ से होता था। सिन्धु घाटी में सीपी, शंख, समुद्रफेन तथा मोती आदि की प्राप्ति से पता चलता है कि इस सामग्री को काठियावाड़ के समुद्री किनारे से मँगवाया जाता था। राजपूताने से ताँबे की मांग पूरी होती था। सिन्धु घाटी में बड़ी मात्रा में देवदार की लकड़ी के बने अवशेष प्राप्त हुए हैं—यह लकड़ी सिन्धु प्रदेश में नहीं होती थी अत यह पर्वतीय प्रदेश से मँगवायी जाती रही होगी। सिन्धु घाटी से ऐसे प्रमाणों की प्राप्ति भी हुई है जो यह इंगित करते हैं कि यहाँ से अन्तर्देशीय व्यापार भी होता था। सुमेरियन सभ्यता के क्षेत्रों से हड़प्पा की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। प्राचीन ईरान के अवशेषों में ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जो सिन्धु प्रदेश की हैं। एक मुद्रा पर सूती वस्त्र का चित्रण है जो सिन्धु घाटी में तैयार किया जाता था। अत इस बात के निश्चित संकेत उपलब्ध हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा अन्य वैदेशिक सभ्यताओं के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध थे।

यातायात के साधन—सिन्धु घाटी सभ्यता के यातायात के साधनों में विविधता थी। इक्के, बैलगाड़ी तथा मनुष्यों द्वारा खींचने वाली दो और चार पहियों की बनी हुई सवारियों के अनेक खिलौने प्राप्त हुए हैं। गाड़ियों में हाथी, गधे, बैल आदि का प्रयोग किया जाता था। ये स्थलमार्ग के यातायात साधन थे। एक मुद्रा तथा मिट्टी के वर्तनों पर जल मार्ग में प्रयुक्त होने वाले जहाज तथा नौका के चित्रों की प्राप्ति हुई है। इससे पता चलता है कि स्थल मार्ग के अतिरिक्त जल मार्ग से भी व्यापार होता था।

वस्त्र निर्माण—कृषि शीर्षक के अन्तर्गत हम लिख चुके हैं कि सिन्धु निवासी कपास की खेती भी करते थे। कपास को बट तथा कात कर सूत बनाया जाता था तथा इसके द्वारा विविध सूती कपड़े बनाये जाते थे। उस समय ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का भी प्रचलन था। वस्त्रों को अनेक आकर्षक रंगों में रंगा जाता था। वस्त्रों के ऊपर विविध सुन्दर प्रकार के फूलों, पत्तियों तथा अन्य

आकृतियो को छापा तथा काढा जाता था। उत्खनन द्वारा प्राप्त सामग्री मे हड्डियो तथा सीपो के बटन तथा धातु की सूइयो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्हे वस्त्रो की सिलाई, कढाई का भी ज्ञान था। सिन्धु घाटी मे निर्मित वस्त्रो का निर्यात सुदूर पश्चिमी देशो को होता था।

अन्य विविध उद्योग—सिन्धु घाटी का जीवन सादगी की सीमाओ को लाँघ कर जटिल तथा विविध हो चुका था। जीवन की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति विविध उद्योगो द्वारा की जाती थी। सिन्धु घाटी से कैंची, कुल्हाड़ी, हँसिया, हथौडा, सुई, विविध खिलौने, कुर्सियाँ, तिपाई, पलंग, विभिन्न आकार-प्रकार के वर्तन, मूर्तियाँ तथा मुद्राएँ आदि प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त गृह निर्माण के विभिन्न उपकरण, जल निकास प्रणाली मे प्रयुक्त सामग्री, विविध प्रसाधन सम्बन्धी चीजें आदि भी प्राप्त हुई हैं। वहाँ के नागरिको को विभिन्न उद्योगो मे कार्यगत कुशलता प्राप्त थी। वढई, सुनार, जौहरी, चित्रकार, मूर्तिकार, रंगरेज आदि कुशल कारीगरो की कमी नही थी।

मुद्रा प्रसार—विभिन्न मुद्राओ की प्राप्ति के अतिरिक्त हमे कोई ऐसा प्रमाण नही मिला हे कि उस समय किसी सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन था अथवा नही। किन्तु भारी सख्या मे प्राप्त सिक्को के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता हे कि क्रय-विक्रय का माध्यम वस्तु विनिमय तथा सांकेतिक मुद्रा के रूप मे किया जाता होगा।

धातुएँ तथा खनिज पदार्थ—प्राप्त प्रमाणो से पता चलता हे कि सिन्धु निवासी अनेक धातुओ तथा खनिज पदार्थों से परिचित थे। धातु तथा खनिज पदार्थो की उपलब्धता किसी भी सभ्यता की आर्थिक उन्नति की परिचायक होती हे। सिन्धु सभ्यता के आर्थिक जीवन मे इन बहुमूल्य निधियो का प्रयोग व्यापार वाणिज्य की वृद्धि हेतु किया जाता था। हडप्पा तथा मोहनजोदडो के ध्वंसावशेषो से अनेक ताँबे के कुल्हाड़े—जिनका वजन २ सेर तक हे—प्राप्त हुए हैं। ताँबे की ऐसी आरी भी प्राप्त हुई जिसमे लकड़ी का हत्था लगा हुआ हे। ताम्र तथा काँसे के वर्तन भी भारी मात्रा मे प्राप्त हुए हैं।

नाप तोल के साधन—सिन्धु घाटी की आर्थिक दशा का सुनिश्चित प्रमाण देने वाली सामग्री मे नाप तौल के अनेक रूपो तथा विविधता का दर्शन होता हे। हडप्पा के अवशेषो मे ताम्रनिर्मित एक शलाका प्राप्त हुई हे। इस पर एक ही आकार के अनेक छोटे-छोटे भाग वने हुए है। विद्वानो का मत ह कि इस समय का फिट १३ २ इच का होता था। सीपी का वना हुआ मापक यन्त्र भी प्राप्त हुआ हे। कई तराजुएँ भी मिली हैं। इनका प्रयोग विभिन्न वस्तुओ का वजन तोलने के लिये किया जाता था। वाँट, बटखरे प्राय पत्थर के होते थे तथा इनका आकार चौकोर होता था। वड़े भार के वटखरो से अनाज, लकडी, रुई आदि तोले जाते थे। छोटे वटखरो का प्रयोग वहुमूल्य पत्थरो, धातुओ तथा छोटी सामग्रियो को वजन करने के लिये किया जाता था। वटखरो की इकाइयाँ १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३४० तथा ६८० थी। सबसे छोटे वाँट की तौल १३·६४ ग्राम के वरावर हे।

आर्थिक वर्ग—यह तो एक सार्वभौमिक सत्य हे कि समाज के सभी लोग आर्थिक दृष्टि से पूर्णत. सम्पन्न नही होते है परन्तु मुख्य वात यह होती हे कि आर्थिक वर्ग विभेद कितना हे ? सिन्धु सभ्यता के अवशेषो मे गृहो के आकार प्रकार मे कुछ विभिन्नता हे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ घर अपेक्षाकृत वड़े थे तथा कुछ एक या दो कमरे वाले ही थे। इससे यह अनुमान लगाया जा

सकता है कि छोटे घरो में आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग निवास करता रहा होगा। अत निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि उस समय आर्थिक विषमताएँ तो अवश्य ही रही होंगी परन्तु आर्थिक भेद अधिक नहीं था।

धार्मिक विश्वास तथा मान्यताएँ

सिन्धुघाटी के उत्खनन से प्राप्त विविध सामग्री द्वारा यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि इस सभ्यता के धार्मिक विश्वास एवं जीवन की पृष्ठभूमि मे एक दीर्घकालीन परम्परा थी। डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार "यह धर्म कुछ बाहरी अंगो के होते हुये भी मुख्यतः इसी भूमि की उपज था और हिन्दू धर्म का पूर्व रूप था, जिसमे आज की कई विशेषताएँ पाई जाती है, जैसे शिव शक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष और पाषाण की पूजा एव लिंग और योनि की पूजा तथा योग।" अनेकानेक प्रमाणो तथा उनके तथ्य निरूपण द्वारा हमे सिन्धुघाटी के धार्मिक जीवन एवं विश्वास का रूप प्राप्त होता है।

मातृदेवी की उपासना—मोहनजोदड़ो, चन्हूदड़ो तथा हड़प्पा से मिट्टी की बनी हुई मातृदेवी की मूर्तियाँ, भाण्डो तथा मुद्राओं पर मातृदेवी के अंकित चित्र एवं इन मूर्तियो तथा चित्रो मे अंकित मेखला, गले के हार, शीश पर कुल्हाडी की आकृति का शिरस्त्राण तथा अन्य अनेक आभूषण आदि मातृदेवी के विभिन्न रूपो तथा प्रतीको के परिचायक है। मातृदेवी के इन अंकनो मे उसके प्रतीक स्वरूपो यथा वनस्पति के रूप मे उपास्य, जगत-जननी के रूप मे पूज्य तथा पशुजगत की अधीश्वरी का आभास मिलता है। विद्वानो का विचार है कि मातृदेवी के ये अनेकानेक रूप उसकी विभिन्न शक्तियो के परिचायक है। सिन्धुवासियो की यह धारणा थी कि सृष्टि के आधार, संचालन तथा विनाश की शक्ति मातृदेवी मे ही निहित है। सर जॉन मार्शल के अनुसार सिन्धु प्रदेश मे मातृदेवी को आद्य शक्ति के रूप मे पूजा जाता था।

परमपुरुष अथवा शिवोपासना—सिन्धुघाटी से प्राप्त एक मुद्रा पर शिव के प्रारम्भिक रूप यथा परमपुरुष की आकृति अंकित है। इस परमपुरुष के तीन मुख है तथा वह त्रिनेत्र धारी है। नीची चौकी पर अवस्थित इस परम पुरुष के दाहिनी ओर हाथी तथा बाघ एवं बायीं ओर गैंडा तथा भैसा बना हुआ है। चौकी के नीचे हिरण के समान दो सींगो वाला पशु अंकित है। डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने इस मूर्ति का निरूपण करते हुए लिखा है—"उसकी सज्ञा ऋग्वैदिक रुद्र या शिव के समान पशु-पति सिद्ध होती है।" इस मूर्ति के ऊपरी भाग पर छः शब्द अंकित है परन्तु इनका अर्थ अभी भी बोधगम्य नही हो पाया है। चीनी मिट्टी की एक अन्य मुहर पर नागो से घिरे योगासीन पुरुष की आकृति तथा एक अन्य मुद्रा पर अंकित धनुषधारी पुरुष का आखेटक रूप आदि के संकेतो तथा प्रतीको का निरूपण करने पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते है कि इस समय परम-पिता परमेश्वर के पुरुष रूप तथा प्रतीक चिह्नो के रूप मे सिन्धु सभ्यता मे शिवोपासना प्रचलित थी। सर जॉन मार्शल ने सिन्धुघाटी को शैव धर्म का उत्पत्ति क्षेत्र मानकर उसे विश्व का प्राचीनतम धर्म माना है।

लिंग पूजा—वैदिक आर्यों द्वारा सिन्धुवासियो को अनार्य कहा जाना तथा लिंग पूजा को अनार्य पूजा पद्धति मानना एवं स्वय सिन्धुघाटी से प्राप्त अनेक लिंगाकारो की प्राप्ति होना आदि यह सिद्ध करते हैं कि सिन्धुघाटी के निवासी लिंगपूजा करते थे। उत्खनन द्वारा प्राप्त होने

वाले लिंग दो प्रकार के हैं (१) रक्षवीटिका लिंग—ये शैवों के शिव लिंग तथा शालिग्राम की भाँति हैं। (२) अन्य लिंग—इनमें कुछ नुकीलापन है। बड़े लिंग चूने तथा पत्थर के बने हुए हैं तथा छोटे लिंग प्रायः घोंघे के बने हुए हैं।

योनि पूजा—लिंग पूजा तथा योनि पूजा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों सृष्टिकर्ता के सृजनात्मक रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। सिन्धुघाटी में योनिपूजा प्रचलित थी। योनि स्त्रीलिंग का प्रतीक मानी जाती थी। सिन्धुवासी यह मानते थे कि स्त्रीलिंग धारण करने से अनेक विपदाएँ समाप्त हो जाती हैं।

वृक्ष पूजा—सिन्धुघाटी से अनेकानेक वृक्षों की मूर्तियाँ तथा अंकन प्राप्त हुए हैं। एक मुद्रा पर वस्त्रहीन नारी के निकट वृक्ष की टहनियाँ, हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर मानव आकृति पीपल की पत्तियाँ पकड़े हुए, मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर जुड़े पशु के सिर पर पीपल की पत्तियों का अकन है। चित्रों में पीपल वृक्ष के अतिरिक्त नीम, बबूल, शीशम, खजूर आदि के वृक्ष प्रमुख हैं। इन समस्त प्रमाणों से यह पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी वृक्षोपासना करते थे।

जल पूजा—मोहनजोदड़ो से प्राप्त विशाल स्नानागार तथा अन्य अनेक छोटे स्नानागारों का प्रबन्ध आदि के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु निवासियों के जीवन में स्नानादि तथा जल का विशेष महत्व था। कुछ विद्वानों का विचार है कि मोहनजोदड़ो का विशाल स्नानागार जलदेवता का मन्दिर था तथा नगर निवासी यहाँ पर धार्मिक विश्वासों के फलस्वरूप स्नान करते थे।

पशु-पक्षी एवं नाग पूजा—सिन्धुघाटी के उत्खनन द्वारा अनेक पशुओं की मूर्तियाँ तथा उत्कीर्ण चित्रादि मिले हैं। इनमें बैल के चित्र प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भैसा, बाघ, भेड, बकरी, गैंडा, हिरन, ऊँट, घड़ियाल, मछली, बिल्ली, कुत्ता, मोर, तोता तथा मुर्गे आदि के खिलौने भी मिले हैं। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते हुए व्यक्ति का चित्र मिला है। एक तावीज पर नाग एक चबूतरे पर लेटा हुआ है। पशुपक्षियों के उपरोक्त चित्रों के आधार पर यह कहना तो गलत होगा कि उपरोक्त सभी पशुपक्षी उनके उपास्य थे परन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बैल तथा नाग का सम्बन्ध सिन्धुवासियों के धार्मिक विश्वास के साथ था।

देवी-देवताओं का मानवीयीकरण—सिन्धुघाटी से मनुष्य की आकृति युक्त अनेक मुद्राओं तथा चित्रों का मिलना तथा परम पुरुष एवं मातृदेवी के चित्र यह प्रमाणित करते हैं कि इस समय देवताओं को मानवीय गुणों से युक्त मान कर उनकी उपासना की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन धार्मिक विश्वासों में मानव तथा देवता के मध्य गहरा सम्बन्ध था।

सूर्य तथा अग्नि की पूजा—उत्खनन द्वारा प्राप्त कतिपय प्रतिमाओं पर ऐसा चक्र बना हुआ है जिसके चारों ओर किरणें निकल रही हैं। यह सूर्योपासना का प्रचलन प्रमाणित करता है। कतिपय ऐसी सामग्री भी मिली है जिसके द्वारा यह पता चलता है कि इस समय अनेक अग्निशालाएँ भी थी। हो सकता है कि धार्मिक मान्यतानुसार उस समय अग्नि पूजा भी प्रचलित था।

बलिपूजा—मोहनजोदडो से प्राप्त एक मुद्रा पर बकरे के समीप तेज धार वाले हथियार का अंकन, हड़प्पा में एक स्थान पर सामूहिक रूप में बैल, भेड़, तथा बकरों के अस्थि पंजरों का प्राप्त होना—इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उपास्य देवता की प्रसन्नता तथा अभीष्ट पूर्ति के लिये बलि पूजा का प्रचलन था।

मूर्ति पूजा—सिन्धु सभ्यता के निर्माता चिन्तन की अपेक्षा साकार दृश्य देवी-देवताओं में आस्था रखते थे। विभिन्न देवी-देवताओं तथा वृक्ष, पशु पक्षी, नाग आदि मूर्तियो की प्राप्ति एवं अकित चित्रो से पता चलता है कि वे साकार उपासना मे विश्वास रखते हुए मूर्ति पूजा करते थे।

अन्ध विश्वास—सिन्धु घाटी से वडी मात्रा मे तावीजो की प्राप्ति इस वात की ओर इंगित करती है कि अनिष्ट निवारण के लिये चाँदी तथा ताँवे के तावीज धारण किये जाते थे। पशु वलि तथा जादू टोने मे उनका अतिरेक विश्वास था।

उपासना गृह अथवा मन्दिर—यह एक आश्चर्यजनक वात है कि सिन्धु-निवासी मूर्ति पूजक थे परन्तु उनके निर्माणो मे किसी उपासनागृह अथवा मन्दिर का सर्वथा अभाव है। मार्शल महोदय का विश्वास है कि उस समय लकडी के मन्दिर वनाये जाते थे। इस कथन से असहमत होते हुए हम कह सकते है कि जब सभी निर्माण ईंटो तथा पत्थरो के वने थे तो मन्दिर ही लकडी के क्यो वनाये जाते थे? कतिपय विद्वानों का विचार है कि मोहनजोदड़ो मे जो कुपाण-कालीन स्तूप प्राप्त हुआ है उसी के नीचे मन्दिर स्थित है जो अभी भी दवा हुआ है। इसी स्थान से सिन्धु सभ्यता के स्नानागार, पुरोहित के कक्ष तथा सभा भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं। अतः यह सभावित है कि यहाँ पर कोई मन्दिर हो।

उपासना विधि—सिन्धु निवासियो का धार्मिक जीवन शुद्ध, पवित्र तथा स्वच्छ था। प्रतीत होता है कि वे धार्मिक विश्वासानुसार स्नानादि करते थे। उत्खनन द्वारा अनेक अलंकृत दीपक प्राप्त हुए हैं। कुछ स्तम्भो के शीर्ष भाग मे दीपक तथा नीचे अग्नि प्रज्वलित करने के प्रमाण भी मिले है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि उपासना विधि मे वातावरण की पवित्रता तथा शुद्धता के लिये सुगन्धित सामग्री, धूपदीप आदि का प्रयोग किया जाता था। नृत्य, संगीत तथा वादन आदि दृश्यों से अकित मुद्राओ एवं मूर्तियो के आधार पर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि उपासना विधि मे अनेक अनुष्ठानो, क्रियाओं तथा मनोरजनो की आयोजना की जाती थी।

मृतक सस्कार—वैसे तो मृतक सस्कारो का सम्वन्ध सामाजिक संस्कारों के साथ होता है परन्तु इसका आधार धार्मिक विश्वास होता है। प्रतीत होता है कि सिन्धु निवासी शव को भूमि मे दफना कर, चिता मे जला कर तथा शव को जंगलो मे फेंक कर मृतक संस्कार करते थे। मोहनजोदड़ो से अनेक घड़ों की प्राप्ति हुई है जिनमें मानव अस्थियाँ तथा भस्म मिली है। सिन्धु निवासी मरणोत्तर जीवन मे विश्वास रखते हुए, शव के साथ जीवनोपयोगी उपकरण भी रख देते थे।

धर्म दर्शन का अभाव—सिन्धु घाटी के निवासियो का धर्म केवल विश्वास तथा आस्था पर निर्भर था। अभी तक जितने भी प्रमाण उपलब्ध हो पाये हैं उनके आधार पर हम यह प्रमाणित करने मे सर्वथा असफल रहे हैं कि सिन्धु निवासियो का कोई धर्म दर्शन था अथवा नही। इस विषय मे तव तक मौन रहना ही श्रेयस्कर होगा जव तक कि सिन्धु लिपि वोधगम्य न हो जाये। फिर भी हम इतना तो निश्चय पूर्वक कह ही सकते है कि सिन्धु निवासी वहुदेववाद मे आस्था रखने के साथ-साथ एकेश्वरवादी भी थे। इसी एकेश्वरवाद के आधार पर उन्होंने परम पुरुष तथा मातृदेवी के मध्य द्वन्द्वात्मक विचार को जन्म दिया।

सर जान मार्शल ने लिखा है कि 'यहाँ का साधारण नागरिक जिस मात्रा में सुविधा तथा विलास का उपभोग करता था—उसकी तुलना तत्कालीन सभ्य संसार के अन्य भागो से नही की जा सकती। विशाल, सुनियोजित, साफ सुथरे, नियमबद्ध तथा उपयोगी आदि ऐसे विश्लेषण हैं जिनका प्रयोग सिन्धु सभ्यता के नगर जीवन के विषय मे करने में इतिहासकार को तनिक भी हिचक नही होती। सिन्धु नागरिको की परिष्कृत अभिरुचि उनके श्रेष्ठ मानव स्वभाव की द्योतक है। उनके उद्योग-धन्धे, व्यापार, वाणिज्य तथा वैदेशिक सम्बन्ध सिन्धु सभ्यता की नियोजित आर्थिक व्यवस्था का परिणाम थे।

(२) **दृढ़ शासन व्यवस्था**—किसी निश्चित साक्ष्य के अभाव मे सिन्धु शासन व्यवस्था के विषय मे यह निर्णय कर पाना कठिन है कि वहाँ राजतन्त्रात्मक शासन अथवा जनतन्त्रात्मक शासन था। किन्तु स्वाभाविकता तथा अनुमान के आधार पर यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि वहाँ पर कोई दृढ केन्द्रीय सत्ता शासन करती थी तथा आवश्यकतानुसार उसका विकेन्द्रीकरण कर दिया गया होगा। सिन्धु घाटी के नगर नियोजन तथा जनजीवन की सुव्यवस्था इस बात की ओर संकेत करती है कि नगरो का शासन करने के लिये नगरपालिका के समान कोई विशिष्ट संस्था अवश्य ही रही होगी तथा उसके द्वारा निर्धारित नियमो का दृढतापूर्वक कडाई के साथ पालन किया जाता होगा। नापतौल आदि के विषय मे नियमित कानून थे। सुख सुविधाओ को प्रदान करने, शान्ति व्यवस्था को कायम रखने के लिये किसी न किसी रूप मे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका जैसे संगठनो का होना भी अवश्यभावी है।

(३) **शान्तिप्रियता**- सिन्धु सभ्यता शान्तिप्रिय थी तथा अस्त्रशस्त्रो का प्रयोग केवल रक्षा के लिये किया जाता था।

(४) **उद्योग, व्यापार वाणिज्य की प्रधानता**—सिन्धु सभ्यता व्यापार, वाणिज्य प्रधान सभ्यता थी। सिन्धु निवासियो के दैनिक जीवन की विभिन्नता तथा उनके निर्माण कार्यों की प्रचुरता इस बात का प्रमाण है कि वे उद्योग धन्धो को विशेष महत्व देते थे तथा इन साधनो से प्राप्त धन, सामग्री आदि को आमोद-प्रमोद, सुख सुविधा, विलासिता तथा जीवन को रसमय बनाने मे लगाते थे।

(५) **कॉस्य काल की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि**—सिन्धु सभ्यता काँस्य काल की समाप्ति से प्रारंभ होती है फलस्वरूप इस सभ्यता मे काँस्य काल की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(६) **धार्मिक मान्यताओं की मौलिकता**—सिन्धु सभ्यता के धार्मिक जीवन मे अनेक मौलिकताओ के दर्शन होते है। वे द्विदेव मे विश्वास रखते थे। वे नारी तथा पुरुष को ईश्वर की सृष्टि का प्रतीक मानते थे। उनका धार्मिक जीवन स्वच्छ, पवित्र तथा निश्चित था।

(७) **कला विषयक मौलिकता**—सिन्धु घाटी की कला भारतीय कला के इतिहास मे एक चमत्कारिक अध्याय है। सिन्धु कला का जन्म भारत मे हुआ था और यह सर्वथा स्वदेशी है। सिन्धु कला का सौन्दर्य, आकर्षण तथा अनुभूति सिन्धु निवासियो की मौलिक रचना के प्रकाश से आलोकित है।

यह सत्य है, कि किसी भी सभ्यता को श्रेष्ठतर कहलाने का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है

जब कि एक लम्बे समय तक वह आने वाले समय को अपने विचारों, उपलब्धियो तथा प्राप्तियो से प्रभावित करती रहे। सिन्धु सभ्यता मे यह सब कुछ था।[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. सिन्धु घाटी की सभ्यता की प्रमुख विशेपताओ का विश्लेपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३)

२. सिन्धु घाटी सभ्यता के निवासियो की भौतिक संस्कृति का विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९६२)

३. प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन के विकास मे आर्येतर तत्वो के प्रभाव का निरूपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९६६)

४. सिन्धु घाटी सभ्यता के धार्मिक जीवन का आलोचनात्मक विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० ११७६)

५ सिन्धु घाटी के निवासियो की प्रमुख सास्कृतिक देनो का निरूपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९७७)

---

१. "As early as 3000 B C., India ranked with Mesopotamia and Egypt and was far superior to the western civilisation in city organisation In fine arts, the magn.ficent statues, seals and jewellary are found nowhere else in the world until we come to the age of Pericles in Greece and India had produced an entirely original civilisation which has left a lasting legacy on later Hinduism" —सर जान मार्शल

अध्याय तीन

ऋग्वेद कालीन संस्कृति

पूर्वाभास

सिन्धु सभ्यता के ध्वंसावशेषो से प्राप्त जिस सभ्यता और संस्कृति का वर्णन पिछले अध्याय मे किया गया है, उसके तुरन्त पश्चात् के इतिहास का अभी तक कोई पता नही लग पाया है। अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्य सभ्यताओ की भाँति, अनेक परिवर्तन आये होगे, कुछ प्रगति या अवनति हुई होगी तथा दूसरी किसी सभ्यता का अंकुरण भी हुआ हो।

तत्पश्चात भारतीय इतिहास की गाथा, भारत मे आर्यों के आगमन से प्रारम्भ हुई। 'भारत का इतिहास एक प्रकार से इस देश मे आर्य जाति का इतिहास है।'[1] ऋग्वेद स्वयं आर्य जाति की ही नही, वरन सम्पूर्ण मानव जाति की प्रथम ग्रन्थ रचना प्रतीत होती है।[2] आर्यों के भारत आगमन मे भारतीय इतिहास का आरम्भ होना तथा स्वय आर्यों की सभ्यता के विषय मे प्रथम जानकारी ऋग्वेद से ही प्राप्त होना, इतना तो सुनिश्चित करते हैं कि ऋग्वेद भारतीय आर्य शाखा की पहली और प्राचीनतम रचना है। इससे पूर्व की उनकी किसी रचना का कोई प्रमाण प्राप्त नही हुआ है और न ही ऋग्वेद मे किसी पूर्व रचना का कोई संकेत है।

ऋग्वेद की रचना कब हुई? यह प्रश्न विवादग्रस्त है। कई विद्वानो ने इस विषय मे गम्भीर प्रयास किये, परन्तु कोई ऐसी तिथि नही प्राप्त हुई जिस पर सभी सहमत हो सकें।[3] मोटे

---

१. 'हिन्दू सभ्यता', डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

२. पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य मात्र की पहली पुस्तक है। इससे हमे मानवीय मास्तिष्क के सबसे पहले उद्गार मिलते है, काव्य की छटा मिलती है, और मिलती है, प्रकृति की सुन्दरता तथा रहस्यमय आनन्द की भावना।'' ('डिसकवरी ऑफ इण्डिया'—पं० जवाहर लाल नेहरू।)

३. 'वैदिक मीटर'—आर्नाल्ड, ऋग्वेद संहिता पर मैक्समुलर की लिखी भूमिका; 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' कीथ; 'ओरियन' बाल गंगाधर तिलक, 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर—मैकडानेल; 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी रीडरशिप लैक्चर्स'—विण्टरनिज।

तौर पर ऋग्वेद का समय २५०० ई० पू० माना जाता है। इसका अर्थ यह नही समझना चाहिये कि ऋग्वेद के इस समय से हमारा तात्पर्य ऋग्वेद कालीन सभ्यता की तिथि निश्चित करने से है। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना से पहले उसमे वर्णित सभ्यता का एक लम्बा समय बीत चुका था। ऋग्वेद से जिस सभ्यता का बोध होता है वह उसकी रचना से पहले ही फलफूल चुकी थी और अब प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो रही थी। ऋग्वेद में अपने पूर्वजों, ऋषियो, मार्ग प्रदर्शको आदि के नाम पर अनेक समर्पण यह स्पष्ट करते हैं कि इसमे वर्णित सभ्यता का स्वरूप पहले ही निर्धारित हो चुका था।[1]

ऋग्वेद का स्वरूप

ऋग्वेद दस मण्डलो मे विभक्त है। इसमें कुल १०२८ मन्त्र है। इन मन्त्रो की रचना विभिन्न ऋषियो ने विभिन्न समयान्तरो पर अलग-अलग स्थानो मे की थी। ऋग्वेद का रचनाक्रम स्थिर करना कठिन है, परन्तु दसवे मण्डल की रचना बाद मे की गई थी। ऋग्वेद कालीन सभ्यता का निर्धारण प्रथम नौ मण्डलो के आधार पर ही किया जा सकता है। इन नौ मण्डलो के विषय मे अनुमान है कि सर्वप्रथम २-७ मण्डलो की रचना हुई जो गृत्समद, विश्वमित्र, कामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ ऋषियो के नाम से है। इनके बाद सभवत वे मन्त्र रचे गये जिनकी संख्या पहले मण्डल मे ५१ से १९१ तक है। इसके उपरान्त पहले मण्डल के एक से पचास मन्त्र तथा आठवें मण्डल के मन्त्रो की रचना हुई। इसके उपरान्त सोम देवता से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र संभवत. इन आठ मण्डलो मे से निकाल कर नवें मण्डल में रखे गये। आर्यों के प्रसार, प्रारम्भिक सभ्यता, सामाजिक मान्यताओ आदि के ज्ञान के लिए हमे ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो से ही सामग्री प्राप्त होती है। ऋग्वेद मे आर्यों के भारत आगमन का कोई सकेत नही है परन्तु उसमें एक व्यवस्थित समाज और उन्नत सभ्यता का वर्णन है। "हिन्दू अनुश्रुति का विश्वास है कि ऋग्वेद मे भारतीय सस्कृति के उषा काल के स्थान पर उसके मध्याह्न काल के दर्शन होते हैं। यह संस्कृति सरस्वती देवी की उस मूर्ति के समान है जो पूर्ण युवती के रूप मे एक समय मे प्रगट हुई। भारतीय विचारो के महान् वट वृक्ष का मूल ऋग्वेद है जिनसे अनेक मत, दर्शन और धर्मों की शाखा-प्रशाखाएँ फूटी है। ऋग्वेद आज तक उस गायत्री मन्त्र का मूल स्रोत है जिसके अक्षरशः जप मे श्रद्धा रखने वाले करोड़ो हिन्दू उसके प्रत्येक स्वर, वर्ण और शब्द को पवित्र मानते हैं और उसके स्थान में मनुष्य विरचित किसी भी अनुवाद या अन्य जप को स्वीकार नही करते।"[2] "जीवन के अचरज और भय की तरफ, एक जन समाज की मिलीजुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरम्भ मे ही एक जोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होने हरेक तत्व मे, प्रकृति की प्रत्येक शक्ति मे देवत्व देखा। उनका जीवन आनन्दमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनके जीवन मे

---

१. "Therefore in the hymns (of Rigveda) lies the key to understanding not only the subsequent development of Indians. . . . but the key to production of speculative power on earth." (L. Geiger.)

२. 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

एक जादू पैदा कर दिया था।"[1] हमारे पास अन्य शब्द नही है जो अधिक जोर देकर कह सकें कि ऋग्वेद आर्य सभ्यता के निर्धारण मे बेहद सहायक है।

आर्यों का राजनैतिक उत्कर्ष

ऋग्वेद के माध्यम से जिस सभ्यता एवं संस्कृति का बोध होता है—उसके विकास के लिए एक ठोस राजनैतिक आधार की आवश्यकता थी। ऋग्वेद के वर्णनो से पता चलता है कि ऋग्वेद-कालीन भारत मे राजनैतिक एकता का विकास पूरे जोरो पर था। ऋग्वेद मे दशराज अथवा दस राजाओं के संघर्ष का वर्णन है।[2] यह संघर्ष उत्तर पश्चिम मे बसे हुए पूर्वकालीन जन और ब्रह्मावर्त के उत्तर कालीन आर्यों के मध्य राज्याधिकार की प्राप्ति के लिए भरतो के राजा सुदास के साथ हुआ था। विदित होता है कि ऋग्वेदकालीन सभी जातियो ने—जिनमे अनार्य भी शामिल थे—इस युद्ध मे भाग लिया। ऋग्वेद मे ज्ञात होता है कि इस युद्ध मे भाग लेने वाले दलो मे भरत, अनुस, मत्स्य, द्रह्यु, तुर्वसु, यदु, पुरु आदि प्रमुख थे। कहा गया है कि विश्वामित्र की मन्त्रणा से 'दशराज' (दस राजाओ का एक संघ) बनाया गया जिसका उद्देश्य भरतो के राजा सुदास पर आक्रमण करना था। सुदास ने 'दशराज' को पराजित कर दिया। इसके अतिरिक्त सुदास ने अलिनो, पक्थो, शिवो, भलानसो तथा विषाणिनो को भी पराजित कर दिया। भेद की अध्यक्षता मे अज, शिग्रु तथा यक्षु ने भी सुदास के हाथो पराजय खायी। इस प्रकार सुदास ने प्रत्येक संघर्ष मे विजयश्री प्राप्त करके सारे ऋग्वैदिक भारत को अपने अधीन कर लिया। प्रभुत्व के लिए किये गये इस संघर्ष के फलस्वरूप राजनैतिक विकास हुआ तथा ऋग्वैदिक भारत सामूहिक राजनेतिक संगठन की इकाई के रूप मे एक सार्वभौम सम्राट के शासनान्तर्गत आ गया।[3]

राजनैतिक संगठन तथा प्रशासन

ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों ने उत्तरी भारत के विशाल भूभाग मे पर्याप्त विस्तार कर लिया था। ऋग्वेद के भौगोलिक विवरण से विदित होता है कि आर्य कुभा या काबुल, क्रुमु या कुर्रम, गोमती या गोमल, सुवस्तु या स्वात, सिन्धु या सिन्ध, वितस्ता या झेलम, अश्किनि या चिनाव, परुष्णी या रावी, विपाश या व्यास, शुतुद्री या सतलज, सरस्वती, यमुना तथा गंगा नदियो एव उनके भूभागो से पूर्णतः परिचित थे। बादलो की गड़गड़ाहट, बिजली फटने तथा पर्वतो के हिमाच्छादित आदि उल्लेखो से प्रमाणित होता है कि प्रारम्भिक आर्य हिमालय के प्रदेश में निवास करते थे। ऋग्वैदिक आर्य सरस्वती तथा यमुना के मध्य के भूभाग मे रहते थे। इन्हे अपने आर्य प्रतिद्वन्द्वियो से पूर्व की ओर तथा अनार्य प्रतिद्वन्द्वियो से पश्चिम की ओर संघर्ष करना पडा था।

---

१. रवीन्द्र नाथ टैगोर।

२ ऋग्वेद ७।३३।२, ५।८३।८

३. "इस राजनैतिक विकास का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि आर्य लोग आदिम निवासी अनार्य जातियो पर पूर्ण रूप से अपनी विजय स्थापित कर सके। आर्य और अनार्य लोगो के मौलिक द्वन्द की झांकी ऋग्वेद मे प्रायः मिलती है। इस संघर्ष का कारण सांस्कृतिक भी था और राजनैतिक भी।" 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

दिवोदास तथा सुदास इस 'भारत' जाति के प्रमुख शासक थे। सरस्वती नदी के दानो तटो पर पुरुवंशी आर्य थे। कृविवंश सिन्धु तथा चिनाव में, शृज्जंयवश पाचाल प्रदेश मे, अणुवंश, द्रुह्यु वंश, यदुवंश तथा तुर्वषवंश पंजाब के विभिन्न भागो मे, मत्स्यवंश वर्तमान जयपुर तथा अलवर प्रदेश में, चेदिवंश यमुना तथा विन्ध्य पर्वत की शृङ्खलाओ के प्रदेश मे, तथा उशीनर वंश सरस्वती नदी के निकट निवास करते थे। ऋग्वेद के अनुसार इन भागो मे अनेक अनार्य भी रहते थे जो लिंग पूजक तथा कटुवक्ता थे। वे गाय-बैलों का अपहरण करने वालो के रूप मे कुख्यात थे।

यद्यपि आर्यों के भारत आगमन पर इन्हे यहाँ पर किसी प्रमुख राजनैतिक सत्ता का सामना नही करना पडा, तथापि उन्हें दो प्रमुख संघर्ष करने पडे थे। उन्हे उत्तरी भारत के प्रदेशो मे अनार्यों से संघर्ष करना पडा। ऋग्वेद मे इन अनार्यों को 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। यक्षु, अज, किकट, पिशाच तथा शिग्रु आदि अनार्य जातियो के राजाओ मे भेद नामक राजा को आर्य राजा सुदास ने पराजित किया। सम्बर, धुनि तथा चुमुरि नामक अन्य अनार्य नरेश भी आर्यों द्वारा परास्त कर दिये गये। आर्य इन अनार्य जातियो से घोर घृणा करते थे। आर्यों ने अनार्यों पर निर्णायक विजय प्राप्त करके उन्हे अपने अधीन कर लिया।

ऋग्वेद से विदित होता है कि अनार्यों को पराजित करने के कुछ समय बाद आर्यों के विभिन्न वशो के बीच प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो गई। प्रतीत होता है कि संघर्ष का कारण विजित प्रदेशो के विभाजन से सम्बन्धित था। अनुमान है कि सुदास की विस्तृत विजयों के कारण उसके अनेक प्रतिद्वन्द्वी ईर्ष्या करने लगे। सुदास के विरुद्ध दस राजाओ का नेतृत्व 'भेद' ने किया तथा सारा षड़यन्त्र विश्वामित्र ने रचा। सुदास की सहायता वशिष्ठ ने की। सुदास की विजय हुई तथा समस्त ऋग्वैदिक भारत पर उसका अधिकार हो गया। इस युद्ध मे अनार्यों सहित समस्त ऋग्वैदिक नरेशो ने भाग लिया था। यह समय भारत मे आर्यों के राजनैतिक विस्तार का प्रारम्भिक काल था। आर्यों के पारस्परिक संघर्ष का सुखद परिणाम यह हुआ कि आर्य सभ्यता के उन प्रारम्भिक चरणो मे भारत में आर्य क्षेत्र को वह राजनैतिक सुरक्षा सुलभ हो गई जिसके आधार पर राजनैतिक संगठन तथा संस्कृति का विकास होना प्रारम्भ हो गया।

राज्य की विभिन्न इकाइयाँ अथवा राजनैतिक संगठन

(i) 'गृह' 'कुल' या 'परिवार'—गृह-कुल या परिवार सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था की इकाई थी। परिवार के प्रमुख को 'कुलाप' या 'गृह- पति' कहा जाता था। पितृसत्तात्मक परिवार मे पिता के पश्चात माता को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। 'कुलाप' या 'गृहपति' का पद वंशानुगत था।

(ii) ग्राम—कई 'गृह' या 'कुल' या 'परिवार' के समूहो को मिलाकर ग्राम बनता था। इसका प्रधान 'ग्रामणी' था। 'ग्रामणी' के पद के विषय मे यह जानकारी उपलब्ध नही हो पायी है कि उसकी नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, या वह निर्वाचित किया जाता था अथवा उसका पद वंशानुगत था। आनुमानिक आधार पर हम इतना तो कह ही सकते है कि 'ग्रामणी' ग्राम के कुटुम्बो मे सर्वाधिक सम्माननीय, वयोवृद्ध तथा अनुभवी व्यक्ति होता था। ग्रामो की संख्या सर्वाधिक थी। शासन की प्रमुख प्रशासनिक इकाई के रूप मे ग्रामों की रक्षा, व्यवस्था तथा नियन्त्रण के लिये

अनेक उपाय किये जाते थे। कतिपय ग्रामों में दुर्ग व्यवस्थ की जाती थी। वैसे तो ग्राम की भूमि का नामधारी स्वामी राजा था परन्तु उपभोग के आधार पर यह जनता की अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जाती थी।

(iii) विशः—ग्राम के ऊपर 'विशः' थे। यह कहना कठिन है कि ऋग्वैदिक काल मे 'विशः' कोई प्रशासनिक इकाई था अथवा कबीले की भाँति था। प्रोफेसर आप्टे का विचार है कि 'विशः', 'जन' तथा 'ग्राम' पर्यायवाची शब्द हैं। हमारा अनुमान है कि कई ग्रामो को मिलाकर 'विशः' का संगठन किया जाता था। 'विशः' के प्रधान को 'विशपति' कहा जाता था।

(iv) जन—साधारणतः यह कहा जाता है कि कई 'विशो' के समूह को जन कहा जाता था। परन्तु 'विशः' और 'जन' का सम्बन्ध स्पष्ट नही है। भरतवंशी केवल एक 'जन' के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। प्रतीत होता है कि 'विशः' का बहुवचन 'जन' था तथा 'जन' मे 'विशः' की कई इकाइयाँ होती थी। ऋग्वेद मे 'पंचजनः', 'यादवजन.' तथा 'भरतजनः' आदि के उल्लेख मिलते हैं। प्रो० आप्टे का विचार है कि 'विश.' 'जन' तथा 'ग्राम' संज्ञाओं को पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया गया है।

(v) राष्ट्र—सम्पूर्ण राज्य के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद मे 'राष्ट्र' के पर्यायवाची रूप मे 'गण' शब्द का भी उल्लेख मिलता है। 'राष्ट्र' तथा 'गण' शब्दो द्वारा संघात्मक शासन प्रणाली का सकेत मिलता है। प्रतीत होत है कि 'जन' प्रान्तीय शासन जैसी संस्था थी तथा 'राष्ट्र' केन्द्रीय सत्ता के समान था।

ऋग्वैदिक शासन व्यवस्था

राजा—ऋग्वेद मे राजा के लिये 'राजन' शब्द प्रयुक्त किया गया है। 'राजन' को 'गोप जनस्य' (प्रजा का रक्षक) तथा 'पुरन् भेत्ता' (नगरो पर विजय पाने वाला) कहा गया है। ऋग्वेद मे उन जातियो की दीन स्थिति का उल्लेख किया गया है जो राजा के नायकत्व से विहीन थी। ये उल्लेख राजा के महत्व को प्रमाणित करते है। वस्तुतः आक्रमण करने और रक्षा करने में राजा का नेतृत्व विशेष उपयोगी समझा जाता था। राजा का पद वशानुगत था, परन्तु ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं जबकि विशिष्ट परिस्थितियो मे प्रजाजन, राजवंश या उच्च पदाधिकारी किसी उपयुक्त व्यक्ति को राजा चुन लेते थे। प्रजा की रक्षा का भार धारण करके राजा को प्रजा से स्वामीनिष्ठा तथा आज्ञाकारिता प्राप्त होती थी। ऋग्वेद मे राजा को प्रजा की सहायता पर निर्भर रहने वाला कहा गया है। इस समय मे राजा भूमि का स्वामी नही था। वस्तुतः वह युद्ध का स्वामी था। ऋग्वेद के अनुसार राजा का वरण जन तथा विशः के प्रमुखों द्वारा होता था उन्हे 'राजकृतः' कहा जाता था। राजा 'राजानः राजकृत.' का मुखिया समझा जाता था। यह समझा जाता था कि जनता तथा राजा के बीच एक समझौता है जिसके अनुसार राजा प्रजा की रक्षा करेगा तथा प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करेगी। राज्याभिषेक के समय राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन की शपथ लेता था। प्रतिज्ञाच्युत होने पर राजा को पद से निलम्बित किया जा सकता था। ऋग्वेदकाल मे राजा के दैविक पद अथवा दैवी अधिकार का कोई संकेत नही मिलता।

राजा के कार्य—वैसे तो ऋग्वेद मे राजा के कर्त्तव्यो का कोई क्रमानुसार उल्लेख नही किया

'सभा' एक शोभा युक्त संस्था थी तथा 'समिति' की अपेक्षा वह कम सार्वजनिक तथा राजनैतिक थी। 'सभा' तथा 'समिति' से सम्बन्धित अनेकानेक उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों संस्थाएँ राजनैतिक महत्व की थी तथा राजा पर अंकुश रखती थीं।

शासकीय पदाधिकारी—ऋग्वेद में सेनापति, पुरोहित तथा ग्रामणी नामक शासकीय पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। पुरोहित के विषय में हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। सेनापति सेना का नायक या अध्यक्ष था तथा सैनिक अभियानो मे वह राजा की सहायता करता था। सेनापति की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। ग्रामीण ग्राम का मुखिया तथा ग्राम का ही प्रमुख शासकीय पदाधिकारी था। वह ग्राम से सम्बन्धित विषयों के कार्यों की देखभाल करने के साथ-साथ ग्रामजनो के विषय मे राजा तथा प्रशासन के अधिकारियों को परामर्श एवं सूचना देता था। राज्य के अन्य पदाधिकारियों मे 'पुरुष', 'स्पर्श' तथा 'दूत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पुरुष' दुर्गपति होता था तथा वह सैनिक कार्य भी करता था। 'स्पर्श' गुप्तचर तथा 'दूत' राजनैतिक गतिविधियो पर दृष्टि रखते थे। ऋग्वेद मे सूत, रथकार तथा कर्मार आदि पदो के नाम भी मिलते हैं। प्रतीत होता है कि ये तीनो पद व्यावसायिक तथा औद्योगिक वर्ग से सम्बन्धित थे। राज्याभिषेक से पूर्व राजा इनकी पूजा भी करता था। शासकीय पदाधिकारी राजा के प्रति उत्तरदायी थे। इनकी नियुक्ति तथा निलम्बन का अधिकार राजा के हाथो मे था। इन पदाधिकारियों को वेतन स्वरूप स्वर्ण, चाँदी, वस्त्र, अन्न आदि की प्राप्ति होती थी।

न्याय-व्यवस्था तथा दण्डनीति—ऋग्वेद द्वारा तत्कालीन न्याय-व्यवस्था के विषय मे बहुत ही कम परिचय प्राप्त हो सका है। यत्र-तत्र उल्लेखो द्वारा विदित होता है कि राजा तथा पुरोहित न्याय-व्यवस्था के प्रमुख पदाधिकारी थे। न्याय का उद्देश्य सुधारात्मक तथा आदर्शात्मक था। ऋग्वेद मे विधि तथा रीति-नियमो के लिये 'धर्मन' शब्द प्रयुक्त किया गया है। चोरी, डकैती, ठगी तथा लूटपाट के अपराधो का उल्लेख मिलता है। रात के समय गाय बैलो का अपहरण किया जाना—साधारण अपराध था। दण्ड व्यवस्था मे प्रतिकार की नीति का त्याग किया जा चुका था। हत्यारे द्वारा मृतक के सम्बन्धियो की क्षतिपूर्ति की जाती थी। एक व्यक्ति को 'शतदम' कहा गया है—क्योंकि उसके जीवन का मूल्य सौ मुद्राओ के बराबर था। अपराधी को सूली पर टाग देना सामान्य दण्ड था। दीर्घ व्यास की कथा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अग्नि-परीक्षा, जल परीक्षा तथा गर्म परशु या कुल्हाडी द्वारा अपराधी की परीक्षा ली जाती थी। इन परीक्षाओ के प्रतीत भय से सन्त्रस्त होकर अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता होगा। ऋणी को उधार देने वाले की सेवा करने का दण्ड दिया जाता था। ऋग्वेद के 'मध्यमशी' शब्द से विदित होता है कि पंच निर्णय द्वारा भी न्याय किया जाता था। 'उग्र' एवं 'जीव-गृभ' को पुलिस कर्मचारियो के पदो का नाम समझा गया है। ऋग्वेद मे बन्दीगृह का भी उल्लेख मिलता है। अनेक अपराधो के लिये कारावास का दण्ड दिया जाता था।

युद्ध प्रणाली—ऋग्वेद मे अनेकानेक युद्धो का उल्लेख किया जाना यह प्रमाणित करता है कि इस काल के राजनैतिक जीवन मे युद्धो को पर्याप्त महत्व प्राप्त था। युद्धो का कारण आत्मरक्षा, विस्तारवादी प्रवृत्ति तथा भूमि की आवश्यकताओ की पूर्ति करना था। ऋग्वैदिक काल मे नियमित सेना का संगठन नही किया गया था। युद्ध होने पर जनसाधारण को युद्ध मे भाग लेना पड़ता था। सैनिक अपनी रक्षा के लिये कवच, शिरस्त्राण तथा ढाल धारण करते तथा शस्त्रों के रूप

मे धनुष-बाण, फरसा, कुल्हाडी, भाला, तलवार, हस्तघन, बरछी आदि का प्रयोग करते थे। 'पुरचीरेष्णु' दुर्गों को भेदने वाला यन्त्र था। युद्ध प्रेरणा को जाग्रत करने के लिये ढोल, तुरही तथा रण वाद्यो का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के 'शर्ध', 'व्रात' तथा 'गण' आदि शब्दो को सैनिक इकाइयाँ माना गया है।

ऋग्वेद कालीन सामाजिक जीवन

ऋग्वैदिक काल मे आर्यों ने भारत मे तीन महत्त्वपूर्ण कार्य किये – पहला—देश की विजय करके अनार्यों को वनो और पर्वतो की ओर ढकेल दिया और अनेक को दास बना लिया। दूसरा—उन्होंने विजित प्रदेश के अतिरिक्त अन्य निकटवर्ती भागो का उपनिवेशीकरण किया, और तीसरे, देश को एक संस्कृति प्रदान की। देश मे बस जाने पर उन्होंने अपने विगत कटु अनुभवो और विषम परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए, एक ऐसे समाज का संगठन किया जो सुव्यवस्थित वैज्ञानिक ढाँचे पर अवस्थित था। परन्तु अभी इस सामाजिक संगठन की प्रारम्भावस्था ही था। "ऋग्वेद के श्लोको मे व्यभिचार, सतीत्वहरण, वैवाहिक विश्वासघात, गर्भपात कराने, धोखे, चोरी और डकैती के उल्लेख मिलते हैं। इसलिये ऋग्वैदिक लोगो को न तो हम भोले भाले चरवाहे मान सकते हैं और न ही अत्यधिक सभ्य। इसके श्लोको मे जिस संस्कृति का चित्रण किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि आर्य फुर्तीले, प्रसन्नचित्त तथा युद्धप्रिय लोग थे, जिनकी रुचियाँ सरल और कुछ असभ्य थी।"[1] यह सब कुछ होते हुए भी 'ऋग्वेद के समय मे जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था, वैसा हिन्दुस्तान मे फिर कभी नही देखा गया।[2]

सामाजिक संगठन के आधार

जिस समय समय आर्य भारत आये उस समय वे पूर्ण रूप से एक जाति थे। उनमे कर्म तथा जन्मानुसार वर्ण की विभिन्नता की भावना मात्र भी नही थी। वे भेदभाव रहित दृष्टिकोण से मिलजुल कर कृषिकर्म, व्यवसाय तथा धार्मिक अनुष्ठान करते थे। परन्तु शीघ्र ही उनके शान्ति-प्रिय जीवन मे संघर्षो ने जन्म ले लिया। उनका मुकाबला ऋग्वेद मे वर्णित 'दस्यु', 'दास', 'अनार्य' आदि से हुआ अत. उन्हे अब वर्ण, जाति भेद का अनुभव होने लगा।[3]

ऋग्वैदिक सभ्यता मे जाति प्रथा के विषय मे ऋग्वेद के प्रारम्भिक नौ मण्डल चुप हैं। दसवें मण्डल मे वर्णित पुरुष सूक्त मे 'विराट पुरुष' द्वारा चार वर्गो की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। मान्यता के अनुसार ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल बाद मे जोड़ा गया था तथा यह ऋग्वैदिक काल का

---

१. डा० विण्टर निज।

२. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद।

३. ऋग्वेद मन्त्र १।१०४।७-८ से इन संघर्षों की सूचना मिलती है। इसमें पृथ्वी को दासो की श्मशान भूमि कहा गया है। मन्त्र २०।६।७ मे इन्द्र को पुरन्दर और कृष्ण योनि दासो की सेनाओ का नाश करने वाला कहा गया है। मन्त्र १०।२२।८ मे इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—'हमे सब ओर दस्यु घेरे हुए हैं। वे यज्ञ कर्म नही करते, न किसी चीज को मानते हैं, उनके व्रत हमसे भिन्न हैं। वे मनुष्यो जैसा व्यवहार नहीं करते। हे शत्रुनाशन, तू उनका वध कर और दासो का नाश कर।"

नही है। अतः ऋग्वैदिक भारत मे जाति प्रथा की उपस्थिति के विषय मे विद्वान सहमत नही हैं। म्योर, वेवार तथा गीगर आदि विद्वान ऋग्वैदिक काल मे वर्ण व्यवस्था की प्रथा के जन्म को स्वीकार नही करते। गोल्डेनवर्ग आदि के अनुसार इस समय वर्ण व्यवस्था जन्म ले चुकी थी।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के कथन तथा विभिन्न विद्वानो की मान्यताओ के मध्य स्थिर तथ्यो के निरूपण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उस समय आर्य जाति में कोई न कोई जातिगत वैषम्य उत्पन्न हो चुका था। यह अंकुरण था तथा कालान्तर मे इसने वृक्ष रूप धारण किया। हम ऋग्वेदकालीन सभ्यता मे केवल दो ही वर्ग मानेंगे—आर्य तथा अनार्य।

ऋग्वेद मे अनार्यों को दास, दस्यु या असुर कहा गया है। ऋग्वेद मे आर्य तथा अनार्यों का भेद भी वर्णित है। यह भेद शारीरिक तथा सास्कृतिक भी है। आर्यों ने अनार्यों को वनो और पर्वतो की ओर ढकेल दिया या उन्हे दास बना लिया। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म, भाषा, रीति-रिवाज तथा सामाजिक जीवन के क्षेत्रो मे आर्यों तथा अनार्यों मे काफी भेद था। आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का रंग गहरा काला था। संस्कृत मे रंग को वर्ण कहते हैं। वर्ण के भेद से वर्ण-व्यवस्था का नाम पडा तथा उसका प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वेद २।२०।६-७ मे कहा गया है "इन्द्र काले दासो की सेनाओ का नाश करता है।" ऋग्वेद ६।४१।१ में 'काले चमड़े वाले को दूर भगा' का उल्लेख है।

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का अंकुरण तथा आर्य-अनार्य सम्बन्ध ऋग्वैदिक सामाजिक ढाँचे के दो प्रमुख आधार थे। वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक जीवन की विशेषताओ का विकास उपरोक्त दो प्रकरणो से हुआ है।

सामाजिक जीवन

परिवार—आर्य समाज पितृसत्तात्मक था परन्तु नारी को मातृरूप मे पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। पिता अथवा पितामह परिवार का प्रधान होता था तथा उसे 'गृह पति' और 'कुलाप' कहा जाता था। परिवार के सभी सदस्य उसके आज्ञाकारी होते थे। यह पद वशानुगत होता था तथा पिता की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र अथवा पिता का छोटा भाई 'गृहपति' अथवा 'कुलाप' का स्थान ग्रहण करता था। पुत्र पिता की सम्पति का उत्तराधिकारी होता था। कतिपय परिस्थितियो में पैतृक सम्पत्ति का विभाजन भी होता था।[1] पिता की सम्पत्ति पर पुत्री को अधिकार नही था। सयुक्त-परिवार प्रणाली होने से उत्तरदायित्व भी समान तथा सामूहिक था।[2] परिवार के सम्मान, पारिवारिक परम्पराओ रीति-रिवाजो तथा मान्यताओ के पालन मे समस्त कुटुम्ब तत्पर रहता था। इसके अतिरिक्त कोटुम्बिक प्रेम तथा पारस्परिक सद्भावना एवं सहानुभूति ने पारिवारिक जीवन को सुख समृद्धता प्रदान की हुई थी। पत्नी अपने पति के साथ धार्मिक अनुष्ठानो मे प्रमुख भाग लेती थी। ऋग्वेद के मन्त्रो मे कहा गया है—"पत्नी ही गृह है, वही गृहस्थी है तथा उसमे आनन्द है।"[3] परिवार की सम्पन्नता का मापदण्ड परिवार की वृहदता था। "हमारे घर सन्तान से भरे रहें हमे वीर पुत्रों की कमी न हो।"[4]

---

१. ऋग्वेद १।७०।५ २. ऋग्वेद ३।५३।६; २।४२।३
३. ऋग्वेद ३।५३।४ ४. ऋग्वेद ७।१।११-१२-१६

दैनिक जीवन

भोजन—दूध तथा उससे बने हुए पदार्थ आर्यो को विशेष प्रिय थे। दूध के साथ वे चावल पकाते थे। चावल और जौ को घी मे मिलाकर खाया जाता था। एक प्रकार का हलवा दूध तथा 'यव के मिश्रण से बनाया जाता था। कीथ महोदय ने लिखा है "समूचे भारतीय इतिहास मे तरकारियो तथा फलो के ही भोजन उपादान रहे है, परन्तु वैदिक भारतीय मासाहारी था।" ऋग्वेद कालीन आर्य भोजन के विषय मे अभिव्यक्त इस मत से हमें पूर्ण सहमति नही है। जिन पशुओ के मास का प्रयोग इस समय किया जाता था वे भेड़ तथा बकरी थे। ऋग्वेद मे मछली का नाम नही है तथा गाय पवित्र तथा माता समान मानी जाती थी अतः इनके मांस का भक्षण करने का प्रश्न ही नही उठता।[1] जहाँ तक ऋग्वेद के वर्णनो का प्रश्न है—हम इतना ही कह सकते है कि आर्यों को शाकाहारी भोजन प्रिय था तथा केवल विशेष अवसरो पर ही मास का प्रयोग किया जाता था। खाद्यान्नो मे गेहूँ, जौ, धान, उड़द, मूँग तथा अन्य दालो का विशेष प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद मे रोटी तथा तवे का उल्लेख नही मिलता है अत हम यह नही कह सकते कि वे आटे का उपयोग किस रूप में करते थे। मोटे तौर पर आर्यों का भोजन सादा, सन्तुलित तथा शक्ति वर्द्धक था

सुरापान—सुरा निन्दित समझी जाती थी। "पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम।"[2] सुरा पीकर लोग दुर्मुद हो जाते थे तथा सभा समितियो मे आपस मे लड़कर उपद्रव करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि आर्य सुरापान के दोषो से परिचित थे। परन्तु यह परिचय—सुरापान का निषेध रूप नही था। सुरापान किया जाता था। ऋग्वेद के नवें मण्डल तथा छहो अन्य सूक्तो मे सोम की प्रशसा की गई है। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत पर अथवा कीकटो के देश मे उत्पन्न होती थी।[3] सोम की मादकता तथा आनन्ददायिनी विशेषताओ का वर्णन भी मिलता है। सुरापान विशेप रूप से यज्ञादि के अवसर पर किया जाता था। यह देवताओ को भी अर्पित की जाती थी।

वस्त्र-वेशभूषा—आर्य प्रमुखत· तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे—(१) अधोवस्त्र; (२) उत्तरीय, तथा (३) अधिवास। ऋग्वेद मे 'उष्णीय' अर्थात् सर पर धारण की जाने वाली पगडी का भी उल्लेख है। उनके वस्त्र सूत, ऊन तथा मृग-चर्म द्वारा बनते थे। वे सिलाई से परिचित थे तथा उनके वस्त्र नाना प्रकार के होते थे। धनी तथा विलासी व्यक्ति जरी तथा अनेक रगों के वस्त्र धारण करते थे। उत्सवो के अवसरो पर नये तथा विशेष आकार-प्रकार के वस्त्र पहनने की प्रथा थी। पेशस्कारी नामक स्त्रियाँ सूई द्वारा कढाई करके वस्त्र बनाती थी।

शृङ्गार—शृङ्गार मे स्त्रियो की विशेष रुचि थी। वे अपने केशो को अनेक प्रकार से गूँथती थी। वेणी स्त्री की सुन्दरता का प्रतीक मानी जाती थी। शृङ्गार विविध प्रकार के फूलो तथा आभूषणो द्वारा किया जाता था। काजल, तिलक, विभिन्न तेलो, सुगन्धियो तथा रगों के शृङ्गार प्रयोग से उन्हें परिचय था। आर्य पुरुष भी लम्बे बाल रखते थे। दाढ़ी को 'श्मश्रु' कहा जाता था

---

१. मांस प्रायः यज्ञीय पशुओ का, जैसे भेड़-बकरी (अजावयः) का होता था। गाय को अघ्न्या अर्थात वध के अयोग्य कहा गया है—(ऋग्वेद ८।१०।१-५-१६)

२. ऋग्वेद ८।२।१२।

३. ऋग्वेद १।९३।६; ३।५३।४।

परन्तु क्षौर कराने की प्रथा थी। नाई को वप्ता कहा जाता था।[1] सिल्ली पर उस्तरा तेज करने का उल्लेख मिलता है। अनेक स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य तथा शृङ्गार पर फूली नही समाती थी तथा प्रेमियो का चित्तहरण करने मे कुशल थी।[2]

आभूषण—स्त्री तथा पुरुष समान रूप से आभूषण प्रिय थे। वे कानो मे कर्णशोभन, गले में निष्क, हाथो मे कड़े और पैरो मे खड्डुवे, छाती पर सुनहले पदक, गले मे मणियाँ पहनते थे। इनके अतिरिक्त 'क्रम्ब' (माथे का टीका) भुजवन्ध, केयूर, नुपुर, कंकण, मुद्रिका तथा खादि आदि आभूषणो का उल्लेख ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं मे मिलता है। आभूषणो का निर्माण करने वालो को स्वर्णकार कहा जाता था। आभूषणो मे प्रयुक्त होने वाली सामग्री स्वर्ण, चाँदी, कीमती पत्थर, हाथीदाँत तथा मोती मूँगे आदि थे।

मनोरंजन—ऋग्वेद मे मनोरंजन की अनेक विधियों, साधनों तथा प्रणालियो का उल्लेख मिलता है। आमोद-प्रमोद के लिये विभिन्न उत्सवो तथा 'समनो' का आयोजन किया जाता था। संगीत मनोरंजन का मुख्य साधन था—इसके तीन अंग थे—नृत्य, गायन तथा वाद्य। वाद्यो मे वीणा, शंख, झांझ, मृदग तथा दुन्दुभि आदि प्रमुख थे। आखेट, घुडदौड, मल्लयुद्ध तथा रथों की दौड़ का आयोजन किया जाता था। 'प्रेम और प्रसन्नता के भाव मे आर्य लोग आनन्द से जीवन बिताते थे, परलोक की बहुत अधिक चिन्ता नही थी।.........जर्मनो की तरह हिन्दू आर्य भी जुआ बहुत खेलते थे।......खुले मैदान मे स्त्री और पुरुष बडे चाव से नाचा करते थे।......सब लोगो को खास तौर से स्त्रियो को नदियो और तालावो मे नहाने का बहुत शौक था। ऋग्वेद के समय मे जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था वैसा हिन्दुस्तान मे फिर कभी नही देखा गया।"[3]

स्त्रियों का पद तथा दशा—सामाजिक परम्पराओ की मान्यतानुसार स्त्रियो का पद बहुत ऊँचा था। समाज के मानसिक तथा धार्मिक नेतृत्व में स्त्रियो का पर्याप्त सहयोग आपेक्षित रहता था। पर्दे की प्रथा नहीं थी। शिक्षा के द्वार स्त्रियो के लिये भी खुले हुए थे। धार्मिक साहित्य मे रुचि रखने वाली स्त्रियो को अपनी प्रवृत्ति के पालन मे कोई रोक-टोक नही थी। कई ऋषि स्त्रियो की रचनाएँ ऋग्वेद संहिता मे हैं।[4] साहस और वीरता मे स्त्रियाँ काफी आगे थी। उदाहरणार्थ विष्पला नामक स्त्री लड़ाई मे गई थी तथा वह घायल हो गई तो अश्विनो ने उसकी चिकित्सा की थी।[5] प्रत्येक माता पिता की अभिलाषा पुत्री की अपेक्षा पुत्र प्राप्त करने की होती थी। पुत्र अपने पिता के कार्यों मे सहायक होता था तथा जनधन की रक्षा के साथ पूर्वजो का तर्पण करता था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि पुत्री हेय तथा घृणा की वस्तु थी। ऋग्वेद के अनेक स्थानो पर पुत्र तथा पुत्रियो को दीर्घायु के लिये कामना करने का वर्णन मिलता है। पुत्र के अभाव मे पुत्री को ही पुत्र सदृश माना जाता था। क्योंकि बाल विवाह की प्रथा नही थी अतः विवाह होने से पहले कन्याओ को शिक्षा प्राप्त करने का समय मिल जाता था। गृहकार्य, कताई, बुनाई, नाना प्रकार के

१. ऋग्वेद १०।१४२।४। २. ऋग्वेद १।१२३।१०।
३. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनी प्रसाद।
४. ऋग्वेद १।११७।१, ५।२८।६; २।८।६१।
५. ऋग्वेद १।११२।१०; १।११६।१५।

व्यंजन बनाने की शिक्षा, नृत्य, गायन, संगीत, वाद्य वृन्दादि स्त्री शिक्षा के प्रमुख अंग थे। कन्याओं को वैदिक शिक्षा दी जाती थी। पुत्री का भी उपनयन संस्कार किया जाता था। ऋग्वेद मे लोपामुद्रा, घोषा, सिक्ता, निवावरी तथा विश्ववारा जैसी पारंगत तथा विदुषी स्त्रियों का उल्लेख किया गया है। स्त्रियों को यज्ञ करने का भी अधिकार था।

विवाह—लौकिक तथा पारलौकिक शान्ति के लिये पुत्रों की कामना की जाती थी। यज्ञादि के अवसरो पर सपत्नीक उपस्थिति आवश्यक थी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विवाह आवश्यक था। विवाह व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग था। वर की ओर से बारात वधू के घर जाती थी तथा वहाँ पर सामूहिक भोज के पश्चात् यज्ञाग्नि के चारों ओर परिक्रमा करके वर-वधू का विवाह होता था। इसके पश्चात् दोनो दाम्पत्य जीवन मे प्रवेश करते थे। यह गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने का अनुष्ठान भी माना जाता था। विवाह होने से पहले वर-वधू के गुण दोषो को आंक लिया जाता था। विवाह के उपरान्त स्त्री—पति के नियन्त्रण मे रहती थी।

प्रेम विवाह—विवाह के मामलो मे स्त्रियो को बडी स्वतन्त्रता थी। यौवनावस्था मे स्त्री-पुरुष परस्पर मिला जुला करते थे। अपनी रुचि के अनुसार प्रेम किया करते थे तथा प्रेम के कारण विवाह कर लिया करते थे। युवक-युवतियाँ छिप कर मिलने का प्रयत्न करते थे। एक स्थान पर युवक द्वारा मन्त्र का प्रयोग करके अपनी प्रेमिका के घर वालो को सुलाने का वर्णन मिलता है।[1]

बाल विवाह—प्रेम विवाह तथा विवाह प्रणाली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बाल विवाह की प्रथा नही थी। ऋग्वेद मे कही पर भी बाल विवाह का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख नही है। इसके विपरीत ऋग्वेद मे कहा गया है कि घोषा नामक स्त्री प्रौढावस्था तक अविवाहित रही थी। अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी थीं जो विवाह नही करती थी। एक ऐसी स्त्री का उल्लेख है जो अपने माँ बाप के घर पर ही अविवाहित होते हुए वृद्धा होती जा रही थी।[2]

बहुविवाह—कुछ गिने-चुने तथा समर्थ पुरुष ही बहुविवाह करते थे।[3] आर्थिक कारणो तथा साधारण कौटुम्बिक सुख के कारणो से बहुविवाह करना जीवन को दुखमय बनाना था। ऋग्वेद मे कहा गया है कि अनेक महापुरुष बहुविवाह करके घरेलू चिन्ताओ तथा पारिवारिक मनमुटाव के कारण बेहद परेशान रहते थे।[4]

विधवा विवाह—ऋग्वेद में विधवा विवाह का निषेध नहीं था। ऋग्वेद की एक ऋचा मे उस स्त्री से जो अपने पति के शव के साथ लेटी हुई है, कहा गया है—"स्त्री, उठो। तुम उसके पास लेटी हो जिसकी इहलीला समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हट कर जीवितो के संसार मे आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को इच्छुक है।[5] इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

गोद लेने की प्रथा—पैतृक सत्ता के कारण संतानहीनता बड़ा भारी दोष माना जाता था।

---

१. ऋग्वेद १।११५।२; ६।३२।५; ६।५६।३। २. ऋग्वेद २।१७।७।
३. ऋग्वेद १।६१-११; १।७१।१। ४ ऋग्वेद १।१०४।३।
५. ऋग्वेद १०।१८।८०।

संतानहीन दूसरे के पुत्रो को गोद लिया करते थे। गोद ली हुई सन्तान बड़े स्नेह से पाली जाती थी परन्तु गोद ली हुई संतान वास्तविक संतान के समकक्ष नही मानी जाती थी।[१]

दास प्रथा—ऋग्वेद मे एक ऋषि उषा से पुत्रो के साथ-साथ दासों की प्रार्थना करता है।[२] राजा त्रसदस्यु ने पचास दासियाँ दान मे दी थी।[३] एक प्रार्थना में कहा गया है कि 'हे अग्नि। अश्वावर्तिनि चायमान ने मुझे बीस बैल इत्यादि के साथ-साथ बहुत सी लड़कियाँ भी दी।'[४] इन उल्लेखो से यह प्रमाणित होता है कि समाज मे दास प्रथा का प्रचलन था परन्तु इस प्रथा का प्रचलन प्राचीन यूनान या रोम की भाँति नही था।

आतिथ्य सत्कार—ऋग्वेद मे अग्निदेव को अतिथि के नाम से पुकारा गया है।[५] राजा दिवोदास को अतिथियो का विशेष स्वागत करने के कारण 'अतिथिग्व' की उपाधि दी गई थी।[६] आर्य समाज में अतिथि सत्कार को गुण समझा जाता था।

नैतिक आदर्श—अनेक मन्त्रो मे असत्य की बडी निन्दा की गई है। असत्य तथा झूठा अपराध लगाने वाले को शाप दिया गया है।[७] ऋषि अनेक मन्त्रो द्वारा सत्मार्ग तथा सत्कर्म के लिये देवताओ से याचना करते थे। ऋग्वेद के अनुसार देवता इन्द्र के नियमो का उल्लंघन नही करते थे।[८] सत्य के लिये 'ऋत' शब्द प्रयुक्त किया जाता था। विश्व मे जो कुछ है उसे 'ऋत' कहा गया है। 'देवता मित्र वरुण अनृत को जीत कर ऋत का पालन करते हैं। वरुण तो अनृत से स्वभावत: घृणा करता है तथा ऋत को बढाता है।'[९] ऋग्वेद के इन कथनों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य नैतिक आदर्शो मे आस्था रखते थे।

शिक्षा

ऋग्वेद द्वारा तत्कालीन शिक्षा तथा शिक्षा विधान के विषय मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। आचार्य का घर विद्यालय था। यहाँ पर वह अपने शिष्यो, जिनमे उसके पुत्र, सम्बन्धी आदि भी होते थे, वैदिक शास्त्रीय शिक्षा देता था। ये ग्रन्थ कण्ठस्थ किये जाते थे। प्रवचन तथा उच्चारण का विशेष ध्यान रखा जाता था। शिक्षा का मौखिक विधान 'तप' था। इसके प्रभाव से ही विशिष्ट विद्वानो का बौद्धिक विकास होता था। विद्यार्थी के नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक उन्नति तथा विकास का पूरा ध्यान रखा जाता था। शिक्षा मौखिक अभ्यास द्वारा दी जाती थी। ऋग्वेद में लेखन सामग्री या लेखन कला का कोई उल्लेख नही है। एक मन्त्र मे शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी की तुलना बरसात मे बोलने वाले मेढक से की गई है। प्रवचन तथा उच्चारण का बहुत महत्व था। उच्चारण के सात प्रकार और वाक की चार अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे मानसिक चिन्तन तथा ध्यान का उल्लेख मिलता है जिसके फलस्वरूप ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है तथा शिष्य स्वयं प्रवक्ता या आचार्य बन जाता है।[१०]

---

१. ऋग्वेद १।६१।२० २. ऋग्वेद ७।४।४८ ३. ऋग्वेद ८।१९।३६
४. ऋग्वेद ६।२७।८ ५ ऋग्वेद ७।३।५ ६. ऋग्वेद १।५१।६
७. ऋग्वेद १।१४७।५ ८. ऋग्वेद ७।४७।८, ९. ऋग्वेद १।१५२।१
१०. "It was so designed as to broaden the student's outlook on the life,

शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक एवं मानवीय गुणो के मध्य सन्तुलन बनाये रखना था। शिक्षा अनिवार्य नही थी। प्राय. गुरु के समीप रह कर शिष्य गुरु के दैनिक जीवन तथा कर्मों में जो सहायता करता था उसी के द्वारा उसे जीवन विषयक ज्ञान हो जाता था। सामूहिक शिक्षा की अपेक्षा व्यक्तिगत शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता था।[1]

आर्थिक जीवन

कृषि—ऋग्वैदिक सभ्यता ग्राम प्रधान थी। सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से भी ग्राम की प्रमुख विशेषता थी। आर्यो ने साफ सुथरी कृषि योग्य उर्वरा भूमि को प्राप्त करने के लिये वन प्रदेशो का सफाया कर दिया था। इस प्रकार सम्पूर्ण पंजाब और सिन्धु प्रदेश और उसके बाद शेष उत्तरी भारत मे बहुसंख्यक ग्रामों की स्थापना हो गई थी। ऋग्वेद मे कही भी नगरों का उल्लेख नही मिलता।

ग्रामो मे आर्यों के गृह होते थे। ये मिट्टी तथा लकड़ी के होते थे। ग्राम निवासियो के खेत उनके घर के निकट ही होते थे। घर की भाँति खेत भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थे। राजा अपनी प्रजा से कर के रूप मे उपज का कुछ भाग लेता था। राजा भूमि का स्वामी नही समझा जाता था। आर्यो की जीविका तथा समृद्धि का मुख्य स्रोत कृषि कर्म था। इसका ज्ञान उन्हे भारत आने से पूर्व ही हो चुका था। ऋग्वेद मे 'कृषि' अनेक बार प्रयुक्त हुआ है इससे कृषि प्रियता का बोध होता है। कृषि एवं तत्सम्बन्धी उपकरणो के उल्लेखो से भी प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में कृषि की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी और यह मनुष्य की समृद्धि का कारण बन गई थी। ऋग्वैदिक देवता कृषि कर्म मे भाग लेते अथवा सहायता करते दिखाये गये हैं। उस समय उत्पन्न किये जाने वाले अन्नो मे गेहूँ तथा जौ प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न फलो, तरकारियो एवं दालो की भी खेती होती थी। हल-बैल से जोतने के बाद भूमि मे बीज बोये जाते थे। पकने के बाद खेती को काटा जाता था तथा कूट-पीट कर संग्रहालयो में सुरक्षित रखा जाता था।[2] वे लोग खाद का भी प्रयोग करना जानते थे। पानी की कमी पडने पर सिंचाई की भी व्यवस्था थी और इसके लिए कुओ का प्रयोग होता था।[3] खेत यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्ति थे, परन्तु चरागाह सामूहिक सम्पत्ति माने जाते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर अच्छी खेती के लिए प्रार्थना की गई है।[4] कृषि को क्षति

---

give him enlightenment, sharpen his intellect and establish his character through the development of personality. In this scheme, of course, religious instructions predominated but the importance of the other humanistic subjects was not lost sight" (श्री बी० जी० गोखले)

१. "The aim of education was achievment of the highest knowledge or 'Mukti' by a mind disciplined to concentrate on it, in detachment from matter or the objective world. Thus education was treated mainly as a process of life and growth of discipline and development as the instrument of knowledge." (डा० राधाकुमुद मुखर्जी)

२. ऋग्वेद १०।४८।७; ३. ऋग्वेद १।५५।८; ४. ऋग्वेद ८।९१।५-६;

पहुँचाने वाले कीडे-मकोडो का, पक्षियो का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। कभी-कभी अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि से भी कृषि को क्षति पहुँच जाती थी। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर समय पर वर्षा के लिए प्रार्थनायें की गई हैं।[1]

पशु-पालन—कृषि-कर्म के साथ-साथ पशु-पालन भी ऋग्वैदिक आर्यों का प्रमुख उद्यम था। ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पर पशु-धन वृद्धि के लिए देवताओं से प्रार्थनायें की गयी हैं। वास्तव मे आर्यों की आर्थिक स्थिति का मूलाधार पशु था। यह कृषि मे सहायक होने के साथ-साथ अन्य खाद्य-पदार्थ प्राप्त करने का भी माध्यम था। धन के रूप मे 'पशु-धन' शब्द का प्रयोग होता था। गाय मुद्रा की भाँति समझी जाती थी। मुख्यत. ये लोग गाय, बैल, साँड, घोडे, भेड़, बकरी, गधे तथा कुत्ते हाथी, ऊँट आदि पालते थे। गाय से दूध, दही, मक्खन, गोबर आदि प्राप्त होता था। बैल तथा साँड हल जोतने मे प्रयुक्त होते थे। साँड तथा बैल खाद्यान्न ढोने का तथा अन्य सामान ढोने, गाडी खीचने के काम मे भी लाये जाते थे। ऋग्वेद मे प्राप्त उल्लेखों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि गाय आर्य जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। उसका दूध आर्यों के भोजन का प्रमुख अंग था। 'दुहिता' शब्द से प्रकट होता है कि दूध दुहने का कार्य प्राय: घर की पुत्रियाँ करती थी। उसका गोबर उपली बनाने के काम मे आता था। गाय-बैल की खाल से थैले, आच्छादन आदि बनाये जाते थे।

गाय के अतिरिक्त अन्य पशुओ का उपयोग भी आर्य जानते थे। ऋग्वेद मे अवि (भेड) और अजा (बकरी) का उल्लेख अनेक स्थानो पर हुआ है। ये दोनो पशु अपने दूध, माँस तथा ऊन के लिए उपयोगी समझे जाते थे। घोडा भी आर्य समाज मे अति उपयोगी पशु था। घोडे की उपयोगिता युद्ध मे प्रयुक्त होने के कारण थी। ऋग्वैदिक आर्यों की सेना मे अश्वारोही भी होते थे। घोडा रथो और गाडियो को भी खीचता था। घुडसवारी एव घुडदौड आर्यों के मनोरंजन का भी साधन था। घोड़ा दान-दक्षिणा मे भी दिया जाता था। घोडे की ही भाँति हाथी का भी सामरिक उपयोग होता था। उनकी सेना मे गजारोही भी होते थे। ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर ऊँट का उल्लेख भी मिलता है।[2] भारतवर्ष के पश्चिमी मरुस्थलीय प्रदेश मे ऊँट की विशेष उपयोगिता थी। वह भी सवारी एवं बोझ ढोने के कार्य मे लाया जाता था। बैल एवं घोडे की भाँति ऊँट भी गाडी खीचते थे।

गृह-उद्योग तथा अन्य व्यवसाय—विभिन्न प्रकार की कलाएं एव दस्तकारी भी उस समय होती थी। आर्य लोग कला-कौशल मे दक्ष थे। हर ग्राम मे बढई, लुहार तथा कुम्हार होता था। बढ़ई हल, रथ, नाव, घरो के लिए दरवाजे, खिडकियाँ आदि बनाता तथा लकडी पर सुन्दर नक्काशी भी करता था। लुहार हलो के फल, धुरे, तलवार तथा दैनिक जीवन मे काम आने वाली अन्य चीजें बनाता था। ऋग्वेद मे जुलाहो एवं हिरण्यकार (सुनार) का भी उल्लेख मिलता है। जुलाहे कपड़ा बुनते थे तथा रगकार कपड़े रगते थे। हिरण्यकार अथवा सुनार सोने से विभिन्न कलात्मक आभूषण बनाते थे। कुम्हार विभिन्न प्रकार के उपयोगी बर्तन एवं खिलौने बनाते थे। चर्मकार पशुओ की खाल निकालने तथा उससे विभिन्न आवश्यक उपकरणो को तैयार करते थे। उन्हे चमड़ा पकाने की कला का भी भली प्रकार ज्ञान था। शिल्पकारो, दस्तकारो तथा कारीगरो को महत्व प्राप्त था। उस समय कर्म के आधार पर कोई भी हीन नही समझा जाता था। अत: आर्य बिना किसी लज्जा

---

१. ऋग्वेद ४।५७।१ २. ऋग्वेद ८।५; २।४६

के अपनी रुचि के अनुसार व्यवसाय करते थे। स्त्रियाँ गृह-उद्योगो मे पर्याप्त सहायता देती थी। कताई बुनाई का कार्य स्त्रियाँ ही करती थीं। चिकित्सा भी व्यवसाय था। ऋग्वेद मे अनेक बार वैद्य का उल्लेख आया है।[1] स्वर्णकार को भी विशेष महत्व प्राप्त था। उसके द्वारा निर्मित वस्तुएँ ऐश्वर्य एव समृद्धता की प्रतीक थी। विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो के करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को थी।

व्यापार—ऋग्वेद मे पाणि शब्द मिलता है यह व्यापारियो से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में व्यापारियो को वणिक भी कहा गया है। ये लोग विभिन्न प्रकार की सामग्रियो का बड़े पैमाने पर क्रय करके उसे अधिक लाभ पर बेच देते थे। इसके अतिरिक्त ये ब्याज पर ऋण भी देते थे। व्यापार के प्रयोजन मे नावो, रथो तथा अन्य उपयोगी पशुओ का प्रयोग भी होता था। ऋग्वेद मे हमे 'गण' एवं 'व्रात' शब्द मिलते हैं—संभवतः ये व्यापारिक संघो के नाम रहे होगे परन्तु यह निश्चित नही है। व्यापार की वस्तुओ मे वस्त्र, आभूषण तथा मूल्यवान धातुएँ प्रमुख थी। इस समय तक सम्भवतः विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो पाया था अथवा नही, इस विषय मे अनेक विद्वानो मे मतभेद है।

विनिमय के साधन—उस ऋग्वैदिक युग मे भारतीय आर्यों ने व्यापार के क्षेत्र मे अपार उन्नति की, जो उनके सीमित साधनो को देखते हुए पर्याप्त थी। आर्यों ने सिक्को का निर्माण नहीं किया था। गाय तथा बैलो को धन का माप तथा विनिमय का साधन माना जाता था।[2] ऋग्वेद में हमें 'निष्क' शब्द मिलता है, कुछ विद्वान 'निष्क' को मुद्रा मानते है तो कुछ अन्य विद्वान इसे किसी प्रकार का आभूषण स्वीकार करते है। मुद्राशास्त्रियो मे निष्क के अर्थ पर प्रचुर मतभेद है। क्योकि निष्क का भार निश्चित होता था अतः संभव है कि इसका प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता रहा हो। ऋग्वेद के एक उल्लेखानुसार एक राजा पुरोहित को दस 'हिरण्यपिण्ड' दान मे देता था। दस 'हिरण्यपिण्ड' की संख्या के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सभी एक तोल के रहे होगे। डा० भण्डारकर का मत है कि 'निष्क' निश्चित माप की चित्रित तथा अंकपूर्ण मुद्रा थी तथा 'हिरण्यपिण्ड' पिटे हुए स्वर्ण का निश्चित टुकडा था। इस आधार पर हम यह कह सकते है कि इस समय निश्चित मापतोल का ज्ञान था तथा वस्तु विनिमय के अलावा लेनदेन के कार्यों मे मुद्रा का भी प्रयोग किया जाता था।

सामान्य आर्थिक दशा—ऋग्वेद की ऋचाओ से जिस सामाजिक जीवन का शाब्दिक चित्र हमारे सामने उभरता है उससे प्रतीत होता है कि प्रजा का सामान्य जीवन सुख समृद्धिपूर्ण था। प्रश्न उठता है कि ऋग्वैदिक जन के इस सुख एवं समृद्धि के क्या कारण थे ? इस प्रश्न का उत्तर हमे तत्कालीन आर्थिक दशा के समुन्नत तथा विकसित होने मे मिलता है। ऋग्वैदिक समाज मे आर्थिक विषमता नही थी। कर्म प्रधान होने के कारण सभी आर्थिक कर्म समानरूप से आदरणीय थे। उदारता, दानशीलता एवं सहानुभूति के कारण ऋग्वैदिक काल मे न तो आर्थिक विषमता थी और न ही आर्थिक असमानता। यूँ, थोड़ा बहुत आर्थिक अन्तर होना तो स्वाभाविक ही है।

---

१. ऋग्वेद ९।११२।१

२. 'पशुओ का प्रयोग मूल्य के प्रमाण अथवा विनिमय के माध्यम के लिए होता था।' —आप्टे

मे सोचता हे। क्योकि आर्य स्वयं मानव थे अत: उन्होने अपने धार्मिक विश्वासों की कल्पना सर्वप्रथम मनुष्य तथा विभिन्न शक्तियों के मानवीय रूप के सन्दर्भ मे की। उनका विश्वास था कि विभिन्न देवता केवल प्रकृति के प्रतीक ही नही है वरन् उनका मानवीय रूप भी हे तथा वे शरीरधारी हैं। मानव तथा देवता मे केवल इतना ही अन्तर हे कि शरीरधारी मनुष्य दुर्बल, अमृत्वहीन, पराधीन, संकोची तथा कतिपय अवगुणो से युक्त हैं तथा मानवरूपधारी देवता अमर, सर्वशक्तिमान, विजयी, स्वतन्त्र तथा सर्वगुणसम्पन्न है।

श्रेष्ठ देवता की कल्पना—पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष वर्गीय देवी देवताओं की संख्या इतनी अधिक थी कि ऋग्वैदिक आर्यों के मन मे अतिस्वाभाविक प्रश्नो का जन्म हुआ कि इन असंख्य देवी देवताओ मे श्रेष्ठ कौन हैं ? इन समस्त देवी देवताओं को किसने बनाया तथा उनकी शक्ति का स्रोत क्या हे ? समस्त देवता शक्तिशाली, पूज्य तथा सम्मानित थे अत: यह प्रश्न जटिल था। ऋग्वेद की कतिपय कथाओ मे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हुए कहा गया हे कि प्रमुख देवत्व की प्राप्ति के लिए देवताओ मे होड लग गई तथा अन्त मे एक दूसरे को इस पद से अपदस्थ करते हुये इन्द्र देवादिदेव के पद पर आसीन हो गये।

एकेश्वरवाद—इन्द्र देवादिदेव के पद पर अधिक समय स्थिर नही रह सके। आर्य कल्पना का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। बौद्धिक वर्ग श्रेष्ठतर की खोज मे और आगे बढा तथा उन्होने अब एकेश्वरवाद की कल्पना करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे केवल एक परम सत्ता की मान्यता को जन्म दिया। ऋग्वेद मे इस परम सत्ता के अनेक नाम—प्रजापति, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ आदि—मिलते हैं।

परम तत्व—एकेश्वरवाद की कल्पना से बहुसंख्यक आर्य देवी देवताओ के कार्य क्षेत्र सीमित हो गये तथा अब वे सभी एक प्रमुख स्रोत से उत्पन्न माने जाने लगे। इस कल्पना के निरन्तर विकास द्वारा आर्यों ने परमतत्व के ज्ञान से साक्षातकार किया। परमतत्व न तो देवी था और न देवता। वह रूप विहीन था तथा सम्पूर्ण विश्व उसी के विशाल रूप की अभिव्यक्ति था। सृष्टि की अभिव्यक्ति तो अनेक रूपो मे होती है परन्तु उसका सारतत्व एक हे। इस सारतत्व अथवा परम तत्व का ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान माना गया हे।

आशावादिता—ऋग्वैदिक दर्शन की मान्यता थी कि धर्म के अनुसार आचरण द्वारा मानव परमतत्व को प्राप्त कर सकता हे अत: स्वयं अपने प्रयास द्वारा आशावादी मनुष्य अमृत्व को प्राप्त कर सकता हे। यहाँ निराशावाद के लिए कोई स्थान नही था।

नैतिकता—शुद्ध आचरण द्वारा परमतत्व की प्राप्ति की जा सकती हे—इस मान्यता के अनुसार नैतिकता पर विशेष बल दिया जाने लगा। नैतिकता शुद्ध आचरण का आधार तथा साधन थी। ऋग्वेद मे एक उपासक प्रार्थना करता है कि "हे देव, यदि हमने अपने किसी सुहृद के प्रति पाप किया हो अथवा किसी का अहित किया हो तो हमे इस पास से मुक्त कर।" इससे सिद्ध होता हे कि धार्मिक जीवन का आधारभूत गुण नैतिकता थी। यह नैतिकता केवल कल्पनाजगत की वस्तु नही अपितु चारित्रिक, व्यवहारिक एवं अनुकरणीय थी।

आत्मा तथा पुनर्जन्म—ऋग्वेदकालीन आर्य आत्मा मे विश्वास रखते थे। इसका सम्बन्ध परमतत्व तथा परम सत्ता से था। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो मे पुनर्जन्म का कोई संकेत नही है। डा० बेनी प्रसाद के अनुसार "ऋग्वेद के आर्यों को परलोक की उतनी चिंता नहीं थी जितनी कि

उनके वंशजो को चार पाँच सौ बरस पीछे हो गई थी।......उस समय आर्यों की दृष्टि मुख्यत: इसी जीवन पर रहती थी, यही वे आनन्द प्रमोद करना चाहते थे, जीवन का उभाड़ जैसा यहाँ है, वैसा किसी आगामी युग मे नहीं मिलता।"

स्वर्ग और नर्क—ऋग्वेद मे जहाँ पर पाप और पुण्य का उल्लेख है वही पर नर्क और स्वर्ग की भी कल्पना है। ऋग्वैदिक आर्यो की मान्यता यह थी कि सत्कर्म द्वारा मनुष्य मृत्योपरान्त स्वर्ग प्राप्त करता है तथा दुष्कर्म और पाप करने वाला दण्ड स्वरूप नर्क मे जाता है। ऋग्वेद मे अमरत्व का भी उल्लेख है परन्तु मोक्ष का वर्णन नही है।

स्तुति तथा उपासना—ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं मे विभिन्न वरदानो की प्राप्ति के लिये स्तुतियाँ की गई है। स्तुतियाँ देवताओ के नाम लेकर तथा उनकी प्रशंसा एवं शक्ति को सम्बोधित करके की जाती थी। इन स्तुतियो द्वारा आर्यजन शतायु, पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति, विजय, मंगल, कल्याण एवं शान्ति के लिये याचना करते थे। इनमे देवताओं के प्रति अनुराग एवं अभ्यर्थना थी। स्तुतियाँ सरल तथा कर्मकाण्ड विहीन थी।

यज्ञ—सभी आर्यजनो का कर्त्तव्य था कि वे देवताओ की उपासना मे मन्त्रो का उच्चारण करें तथा घी, अन्न, सोम तथा मास द्वारा यज्ञ करके उन्हे तृप्ति सामग्री का अर्पण करें। अत: देवता को स्तुति तथा वरदान प्राप्ति के लिये यज्ञ किया जाता था। साधारण गृहस्थ ब्राह्मणो तथा पुरोहितो द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराते थे। राजा तथा धनी वर्ग विराट यज्ञों का आयोजन करते थे।

कर्मकाण्ड—ऋग्वेदकाल मे यज्ञीय कर्मकाण्ड की इतनी वृद्धि हो गई थी कि उसके विधान तथा सम्पादन के लिये विराट आयोजन किये जाने लगे। डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार "कुछ यज्ञ बहुत विस्तारयुक्त तथा व्ययसाध्य होते थे, जिन्हे केवल राजा या धनी वर्ग (मघवन्) ही कर सकते थे। ऋग्वेद का दृष्टिकोण धनिक वर्ग के लिये है, जिसमें सार्वजनिक धर्म, जो जनसाधारण के लिये उपयुक्त हो, कम ही मिलता है।" अकेले सोम-यज्ञ के लिये ही कई पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। एक ऋचा मे इनकी गणना इस प्रकार है—होतृ, पोतृ, नेष्टृ, अग्निध, प्रशास्तृ, अध्वयु तथा ब्रह्मन्। यज्ञ का सारा कार्य इतना पेचीदा हो गया था कि उसके सम्पादन के लिये एक पुरोहित-वर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण के नाम से विख्यात है।

ऋग्वैदिक धर्म की उपरोक्त विविध मान्यताओ, विकास की अनेक अवस्थाओ वादों एवं विशेषताओ का अध्ययन करने पर हम पाते है कि ऋग्वैदिक धर्म तथा दर्शन अपने आरम्भिक चरणो मे ही बड़ा प्रौढ था तथा आगे आने वाली पीढियो के सम्मुख अनेक आदर्श तथा मापदण्ड का स्रोत बना रहा।[1]

ऋग्वैदिक सभ्यता का मूल्यांकन

"ऋग्वेद की ऋचाओ के समय से हम जीवन और विचार की दोनो धाराओ का विकास बराबर देखते हैं। आरम्भ की ऋचाओ मे बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी है, प्रकृति की सुन्दरता और रहस्य और जीवन के आनन्द का वर्णन है और जीवन बल भरपूर देखने को मिलता है।......

---

1. "Therefore in the hymns lies the key to understanding not only of the subsequent development of Indians........but the key to production of all speculative power on earth." —(एल० गीगर)

इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है, और इस लोक से परे जो लोक है—उसका रहस्य गहराई पकड़ता है।"[1] ऋग्वैदिक काल की आर्य सभ्यता विश्व की महानतम सभ्यताओं की विकासावस्था के दृष्टिकोण से ही नही, अपितु अपने सभ्य समाज के सारतत्वो के परिवेश मे उन सभ्यताओ की पूर्ण विकसित अवस्था से भी श्रेष्ठ प्रमाणित होती है। इतिहास की उस प्रारम्भिक अवस्था मे ही हमारा समाज उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा था।[2] आरम्भिक काल मे ही भारत मे ऐसी राजनैतिक संस्थाएँ तथा विधान विकसित हो चुके थे जिनके आधार पर न केवल कालान्तर मे विशाल साम्राज्यों का ही निर्माण हुआ वरन् आज तक उस राजनैतिक दर्शन को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। आर्थिक दृष्टि से ऋग्वैदिक सभ्यता की समृद्धता दिनोदिन बढ़ती जा रही थी। किन्तु इस सभ्यता की महान् एवं अविस्मरणीय देन धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र मे है। धर्म और दर्शन का जितना भी विकास हुआ—उसका आधार ऋग्वैदिक धर्म तथा दर्शन ही रहा है। वृक्ष की हरी भरी पत्तियों से उसकी जडो के शक्तिशाली तथा पोषक होने का अनुमान लगाया जाता है। यही बात भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सन्दर्भ मे देखी जाय तो हमारी वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति के अटूटपन तथा निरन्तरता के मूल गुणो की प्राप्ति ऋग्वैदिक सभ्यता मे ही प्राप्त होती है।[3]

ऋग्वेद के सृष्ट्रा सत्य और सौन्दर्य को पृथ्वी पर उतार लाये और उन्हे शब्दों मे व्यक्त किया। उनका मस्तिष्क निश्चय ही आत्मा का वाहन था। यद्यपि उनकी व्याख्या के कुछेक निष्कर्ष अब पुराने पड गये है, किन्तु उनकी कार्यविधि, उनकी आत्मिक और बौद्धिक ईमानदारी तथा धर्म दर्शन के बारे में उनके विचारो का स्थायी महत्व है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. ऋग्वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिये।

२. ऋग्वेद सुव्यवस्थित जनसंख्या, सुसंगठित समाज तथा सुविकसित सभ्यता की ओर संकेत करता है।" (डा० वी० ए० स्मिथ) विवेचना कीजिये।

३. पूर्ववैदिक धर्म का सक्षिप्त निरूपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९६७)

४. ऋग्वेद के आधार पर वैदिक समाज का सक्षिप्त विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९७२ तथा १९७६)

---

१. 'डिसकवरी आफ इण्डिया'—पं० नेहरू।

२. 'ऋग्वेद मे जिस समाज का चित्र है, वह समाज अत्यन्त सुखी और सम्पन्न था और कही भी यह संकेत नही मिलता कि उस समाज के लोग तनिक भी असन्तुष्ट थे। यह संसार दुःख का आगार है अथवा जीवन नश्वर एवं क्लेशपूर्ण है, इस भावना पर ऋग्वेद ने कही भी जोर नही दिया।"
—'संस्कृति के चार अध्याय—डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'

३. "अनेक महान् आत्माओ के प्रयत्नो से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है—उसकी पीड़ाओ से ढांचा ऊपर उठा और रक्त से निर्मित हुआ है। शताब्दियाँ बीतने के साथ-साथ उसमे मिट्टी का रंग मिल गया है। अपनी लम्बी वृद्धि के सारे घाव और धब्बे उस पर मौजूद है। यह आकर्षक भी है और विकर्षक भी। यह अपने विरोधाभासो से हमे चौका देती है और अविनाशी जीवनी शक्ति से हमे मोह लेती है।"
—डा० राधाकृष्णन

अध्याय चार

उत्तरवैदिक कालीन संस्कृति

पूर्वाभास

ऋग्वेद कालीन संस्कृति के उपरान्त भारतीय संस्कृति के विकास क्रम मे जिस नवीन युग का प्रारम्भ हुआ, उसे उत्तर वैदिक काल कहा जाता है। मूल रूप से इन दोनो युगो के बीच कोई निश्चित सीमा रेखा खीचना न तो समत्र है और न ही उचित। सस्कृति की गति निरन्तर तथा अवाध होती है। पुराना बिलकुल समाप्त नही होता और नया बिलकुल नया नही होना। हाँ, एक सक्रमण काल अवश्य होता है—जिसमे दोनो धाराएँ मिली-जुली रहती है। फिर भी इस नवीन आगन्तुक युग की दो बातें विशेष महत्वपूर्ण थी—पहली तो यह कि उत्तर वैदिक काल की संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा समृद्ध थी, तथा दूसरी यह कि ऋग्वैदिक युगीन संस्कृति की अपेक्षा अब सिद्धान्त और व्यवहार मे और अधिक परिपक्वता आ गई थी।

उत्तर वैदिक काल की सभ्यता और संस्कृति का काल निर्णय नही किया जा सकता। फिर भी जिस समय से ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से कुछ भिन्नता परिलक्षित होनी प्रारम्भ हुई, वह काल १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक, (ऋग्वेद के अन्तिम चरणो से लेकर महात्माबुद्ध के आविर्भाव तक) माना जाता है। कुछ समय पूर्व पुरातत्व वेत्ताओ ने हस्तिनापुर ('आसन्दीवत')[1] नगर का उत्खनन किया। यहाँ से विशेष प्रकार के मिट्टी के बर्तन, ताँवे के उपकरण तथा कच्ची ईंटो के बने मकानो के ध्वंसावशेष मिले हैं। इस प्रकार की सामग्री पश्चिम मे सरस्वती से लेकर पूर्व मे अहिच्छत्र तक भी यत्र तत्र मिली है। इस सामग्रीकाल भी १००० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक निर्धारित किया गया है।

जानकारी के स्रोत

ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो के उपरान्त दसवें मण्डल की रचना हुई। यह भाषा, शैली और

---

१ शतपथ ब्राह्मण १३।५।४२—'आसन्दीवत' कुरु राज्य की राजधानी थी तथा यहाँ के अन्तिम शासक निचक्ष के समय यह नगर बाढ द्वारा नष्ट प्रायः हो गया था और कुरु राज्य की राजधानी अब कौशाम्बी (प्रयाग के निकट) मे आ गई थी।

विषय मे भिन्न है । लगभग इसी समय मे ऋग्वेद के मन्त्रों को चुन कर दूसरे वेद का संकलन हुआ जिसे सामवेद कहा गया इसमे मौलिक मन्त्र मात्र ७५ हैं । ऋग्वेद के ही कुछ मन्त्रो को चुन कर तीसरे वेद की रचना हुई—यह यजुर्वेद था । यज्ञों के समय अध्वर्यु इसका पाठ करते थे । इसके दो संस्करण हे कृष्ण और शुक्ल । कृष्ण की तीन पूर्ण और एक अधूरी संहिता है—तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायिणी और कपिष्ठल संहिता । शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता है । इसी समय मे अथर्ववेद की रचना हुई । यह चौथा वेद है । इसके बीस भागो मे ७३० मन्त्र जिनमे मे कुछ ऋग्वेद से लिये गये हैं । कुछ विद्वानो का मत है कि अथर्ववेद मे आर्यों पर अनार्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।[1]

वैदिक सहिताओं के बाद ब्राह्मणो की रचना हुई । ये भारत-योरोपीय गद्य साहित्य के सर्व-प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं । इनमे वैदिक कर्मकाण्ड का सूक्ष्मतर विवेचन किया गया है । प्रत्येक ब्राह्मण का सम्बन्ध प्रत्येक वेद से है—यथा ऐतरेय ब्राह्मण का ऋग्वेद से, पंचविंश ब्राह्मण का सामवेद से, शतपथ ब्राह्मण का यजुर्वेद से तथा गोपथ ब्राह्मण का अथर्ववेद से । तत्पश्चात ब्राह्मणों के उपसंहार प्रतीत होने वाले आरण्यकों की रचना हुई । उपलब्ध आरण्यको मे ऐतरेय, कौषीतिकी तथा तैत्तिरीय आरण्यक प्रमुख हैं । ये इन नामो के ब्राह्मणो के ही भाग हैं । इस काल के विशद साहित्य मे उपनिषदो को विशेष महत्व प्राप्त है । इनमें दर्शन की व्याख्या की गई है । प्रमुख उप॰ निषदो मे *बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, केन, प्रश्न, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैतिरीय* आदि की गणना की जाती है । उत्तर वैदिक काल की जानकारी का अन्य स्रोत वेदाग हैं । ये क्रमानुसार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष कहलाते हैं । यद्यपि उपरोक्त ग्रन्थों का उद्देश्य इतिहास का बखान करना नही था, तथापि उनमे प्रतिपाद्य विषयों से तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास निस्सन्देह आलोकित हो उठता है ।

उत्तर वैदिक भारत में आर्यो का विस्तार

उत्तर वैदिक काल मे आर्य सभ्यता ने विस्तार क्रम को और आगे बढ़ाया । इस युग की सभ्यता का केन्द्र कुरुक्षेत्र था । आधुनिक दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार की गणना मध्यदेश के रूप मे होती थी । यहाँ पर कुरु, पाचाल, वश तथा उशीनर आदि आर्य राज्य थे । उत्तर बिहार मे विदेह तथा पूर्वी बिहार मे अंग, यमुना के किनारे पारावत, हिमालय तक कुरुओं के निकट उत्तरमद्र आदि राज्य थे । इन आर्य राज्यो के अतिरिक्त शिवि, वैत, मत्स्य, द्रुह्य, विदर्भ आदि आर्य समूहों के अन्तर्गत अनेक प्रदेश थे । इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य प्रदेश (मुख्यत: पूर्वी भाग) तथा कतिपय दक्षिण प्रदेशो मे आर्य फैल चुके थे । इस काल के ग्रन्थो मे आन्ध्र जाति, पुन्ड्र, मूतिव, पुलिन्द तथा शबर आदि का भी उल्लेख मिलता है परन्तु ये सभी अनार्य समूह थे । सम्भव है कि ये अनार्य समूह आर्यों द्वारा राजनैतिक रूप से प्रभावित थे ।

संस्कृति के विकास और सभ्यता का दृढीकरण होने के उपरान्त अब आर्यों को अधिक भूमि

---

१. "पर वास्तव मे अथर्ववेद भी उतना ही आर्य है जितना कि ऋग्वेद । भेद यह है कि ऋग्वेद मे आर्य जीवन का एक अंग है, अथर्ववेद मे दूसरा । अथर्ववेद के कुछ अंग शायद ऋग्वेद के बराबर ही पुराने हे पर कुछ अश अवश्य ही बाद के है ।" डा० बेनी प्रसाद—'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता ।

की आवश्यकता पड़ी। राजनैतिक संगठन भी अब पहले से अधिक सुसंगठित था। इन अनुकूल परिस्थितियों और समय की आवश्यकता के कारण अब आर्य जाति ने विस्तारवादी नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया था। आर्यों की सस्कृति एवं सभ्यता का केन्द्र उत्तरी पंजाब से बढ़ कर कुरुक्षेत्र मे आ गया तथा वे गंगा की उत्तरी तथा मध्य घाटी मे अच्छी तरह जम गये। अपनी महत्वाकांक्षी प्रेरणा द्वारा उन्होंने दक्षिण की ओर प्रसार किया तथा गगा यमुना के विस्तृत क्षेत्र में अपने अनेक राज्यों की स्थापना करके अपने सैन्यबल तथा शासन को सुदृढ़ कर लिया।

आर्यों के राजनैतिक विस्तार के इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर वैदिक काल की राजनैतिक परिस्थितियाँ तेजी से एक सुसंगठित साम्राज्य निर्माण की ओर प्रवृत्त हो रही थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इसी राजनैतिक दृष्टिकोण के आधार पर कालान्तर मे भारतभूमि पर विशाल साम्राज्यो का निर्माण हुआ तथा केवल भारत मे ही नही अपितु विदेशो-विशेषकर सुदूर पूर्व की ओर भारतीय संस्कृति ने अपने चरण बढ़ाये।

राजनैतिक संगठन तथा प्रशासन

वस्तुत. जिस राजनीतिक दृष्टिकोण का जन्म ऋग्वैदिक काल मे हो चुका था इस काल मे उसी के आधार पर क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। उत्तर-वैदिक काल मे राजनैतिक परिस्थिति भी पहिले की अपेक्षा बदल गयी थी। राजनीतिक संगठनों एव संस्थाओ के अन्तर्गत हमे उत्तर-वैदिक काल की निम्नलिखित विशेषताओ की प्राप्ति होती है :—

राज्यतन्त्रात्मक प्रणाली—राज्यतन्त्रात्मक प्रणाली शासन का सामान्य रूप धारण कर चुकी थी। उत्तर-वैदिक काल के सम्पूर्ण साहित्य मे हम राजाओ, सम्राटो तथा राजतन्त्रात्मक राज्यो का ही वर्णन पाते है। गणराज्यो का भी उल्लेख मिलता है परन्तु यह व्यवस्था अपनी अति प्रारम्भिक अवस्था मे ही थी। राज्यतन्त्र के अन्तर्गत कई प्रजातन्त्रीय प्रथाएँ थी—जैसे राजा के वरण मे जनता की सम्मति, राजा के अधिकारो पर लगाई गई मर्यादाएँ, सभा—समिति नामक जन संस्थाएँ तथा राज्यकार्य के लिये मन्त्रि परिषद आदि। इस काल मे हमे राज्यतन्त्र के विभिन्न रूप मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण मे 'राज्य', 'स्वराज्य', 'वैराज्य', 'महाराज्य', 'आधिपत्य', तथा 'साम्राज्य' शब्द मिलते हैं।[1] साम्राज्य का शासक सम्राट कहलाता था। बहुत से ग्रथो मे अधिराज शब्द आया है। पंचविशब्राह्मण में आधिपत्य शब्द का प्रयोग किया गया है। साम्राज्य का निर्माण छोटे-छोटे राज्यों को विजित कर उनके शासको को शासन अधिकार लौटा कर तथा अधीनता स्वीकृत करने के रूप मे कुछ उपहार आदि लेकर, एक सत्ताधारी राज्य की स्थापना द्वारा होता था। संभवत: सामन्त-प्रणाली का जन्म हो चुका था। तत्कालीन राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की अन्य विशेषता यह थी कि ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा अब राज्यो की सीमायें तथा क्षेत्र निश्चित हो गये थे तथा आये दिन छोटे-छोटे राज्यों मे सघर्ष को आशंका कम हो गई थी। इसका कारण यह था कि अपनी अर्न्तराज्यीय नीति, युद्ध और विराम सधियो के लिए ये छोटे राज्य सम्राट के प्रति उत्तरदायी हो गये थे।

राजा की स्थिति—अरक्षा, असंगठन, पराजय एवं अशान्ति को दूर करने के लिए 'राजा'

---

१. ऋग्वेद १०।२८।६; पंच० ब्राह्मण १५।३।३५; का० सं० १४।५।

का आविर्भाव ऋग्वैदिक काल मे ही हो चुका था। यह पद सबसे अधिक योग्य, सबल एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति को मिलता था। अतः अपने गुणो के कारण राजपद क्रमिक विकास द्वारा अब उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा था। राज-प्रतिष्ठा के पीछे जनमत का भी महत्व था। अथर्ववेद के अनुसार नये राजा के आरोहण के लिए जनता की स्वीकृति आवश्यक थी।[1] वैदिक साहित्य से प्रकट होता है कि राजा की दैविक उत्पत्ति का भी सिद्धान्त प्रचलित था।[2] अथर्ववेद मे परीक्षित राजा को देवता कहा गया है। ऋग्वेद मे राजा स्वय कहता है—"मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।"[3]

राजा पूर्णतः निरंकुश नही था। जनमत का विशेष महत्व था। राजा पर धर्म का अंकुश था उसे सदैव धर्मानुकूल व्यवहार करना पड़ता था। राजा का पद अब अधिकांशतः वंशानुगत होता था। ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी होने मे प्राथमिकता थी परन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि राज्याभिषेक होने के पूर्व प्रजा की अनुमति की भी व्यवस्था थी। अथर्ववेद के अनुसार नये राजा के आरोहण के लिए जनता की स्वीकृति आवश्यक थी। कुछ विद्वानो का मत है कि राजा का निर्वाचन चुनाव द्वारा होता था। *अथर्ववेद मे एक स्थान पर 'विश' द्वारा राजा के चुनाव का वर्णन है*, एक अन्य स्थान पर कहा गया है, "तुझे राज्य के लिए वरण करें, तुझे ये पाँचो प्रकाशमान दिशायें चुनें।" शतपथ ब्राह्मण मे एक कथनानुसार राजा वही होता है जिसे प्रजा का अनुमोदन प्राप्त हो। शतपथ ब्राह्मण मे एक राजा का उल्लेख है जिसके पूर्वज दस पीढ़ियो मे राज्य कर रहे थे। अतः प्रतीत होता है कि राजा का पद वंशानुगत रहा होगा तथा प्रजा का अनुमोदन आवश्यक शर्त रही होगी।

राज्याभिषेक—प्रजा की स्वीकृति के बाद अभिषेक होता था जिसके लिए दूर-दूर से तरह-तरह के जल मंगाये जाते थे। अभिषेक से पहिले राजा चमकीले कपड़े पहन कर शेर के चमड़े पर चढ़ कर सभी दिशाओ की ओर जाता था जो प्रभुता का एक चिह्न था। अथर्ववेद के अनुसार इसी तरह की और रस्मे भी होती थी।[4] अथर्ववेद एवं वाजसनेयिसंहिता के उल्लेखानुसार इसके बाद शक्ति, प्रभुता और प्रधानता की प्रार्थना के मन्त्र पढ़ते-पढते पुरोहित जलो से राजा का अभिषेक करते थे। इस प्रथा के कई गुण थे। प्रथम तो यह कि राजा को अभिषेक से पूर्व रानियो का अनुमोदन प्राप्त करना होता था। शतपथ ब्राह्मण मे इनके नाम दिये गए हैं। दूसरे, राज्याभिषेक से पूर्व पुरोहित राजा को उसके कर्त्तव्यो, पद की मर्यादा तथा महत्व का गुण बताता था। इसका वैधानिक महत्व था। पुरोहित के कहे हुए वचनो के उत्तर मे राजा अपने कर्त्तव्यो एवं प्रजा के हित की शपथ लेता था। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् राजा लकड़ी की चौकी पर बैठता था। पुरोहित सौ छेद वाली सोने की छलनी मे गंगाजल डाल कर उसका पुनः अभिषेक करता था तथा इन शब्दो को कहता था—"हे राजन् यह राज्य तुम्हे इसलिए प्रदान किया गया है कि तुम इसे समृद्धिशाली बनाओ।" इसके उत्तर में राजा कहता था, "यदि मैं राजनियमो के प्रति निष्ठावान न रहूँ, ब्राह्मणो तथा धर्म की रक्षा न करूँ, तो मेरा जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक का संचित पुण्य, स्वर्गलोक, सन्तान तथा जीवन नष्ट हो जायें।" इससे स्पष्ट होता है कि राजा के पास राज्य-सत्ता एक धरोहर के रूप मे रहती थी। परन्तु इस काल के राजाओ

---

१. अथर्ववेद ३।४।१-२; २. तैति० सं० १।८।१६; ३. ऋग्वेद १०।१७३
४. अथर्ववेद ४।८। ५-६।

के प्रभाव और उनकी शक्ति मे भारी वृद्धि हो गयी थी। वह राज्य के किसी भी व्यक्ति को दण्ड दे सकता था। प्रजा से कर वसूल कर सकता था तथा किसी भी कर्मचारी को अपदस्थ कर सकता था। वह साम्राज्य का विस्तार, यश और कीर्ति का प्रसार, दिग्विजय करने के लिए राजसूय, अश्वमेध तथा संवमेध यज्ञ एवं नाना प्रकार की उपाधियाँ धारण करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र था। इस प्रकार राजा को स्वेच्छाचारिता प्राप्त होती जा रही थी। वह प्रसन्न होने पर भूमि देता तथा रुष्ट होने पर छीन लेता था। वह न्यायकर्ता, सेनापति और स्वामी जैसे सर्वोच्च पदो पर भी कार्य करता था।

समिति—अथर्ववेद में राजा प्रार्थना करता है कि 'प्रजापति की पुत्रियाँ, सभा और समिति मेरे ऊपर कृपा करें।'[1] एक मन्त्र मे राजा के लिये बहुत से अनुग्रहो की प्रार्थना की गई है—इनमे से एक अनुग्रह यह है कि समिति अनुकूल रहे। अथर्ववेद मे अनेक ऐसे जादू टोनो का भी उल्लेख है जिनसे समिति राजा के वश मे रहे। इसमे समिति को 'अरिष्टा' भी कहा गया है।[2] प्रतीत होता है कि समिति जनता का प्रतिनिधित्व करती थी और महत्वपूर्ण निर्णयो मे भाग लेती थी। इसके विषयो मे युद्ध, सन्धि, आय-व्यय तथा सार्वजनिक कार्य थे।[3] यह न्याय के विषय मे भूमि, द्यूतक्रीडा, ऋण, दायभाग, चोरी, चोट तथा हत्या के मामलो का निर्णय करती थी।[4] प्रतीत होता है कि समिति छोटे-छोटे राज्यो मे ही प्रभावशाली थी। जैसे-जैसे राज्य बडे होते गये, वैसे-वैसे समिति की प्रथा भी समाप्त होती गई।

राज्य के पदाधिकारी—पाणिनी के अनुसार राज्य के प्रमुख पदाधिकारो रक्षिन कहलाते थे, अथर्ववेद के अनुसार राजकतृ कहलाते थे। मन्त्री पद पुरोहित का होता था, वह प्रत्येक मामले मे राजा को परामर्श देता, नियुक्ति तथा पदच्युति, राज्य के न्यायिक, सधिविग्रह, युद्ध, विस्तार, आर्थिक नीति आदि अन्यान्य विषयो मे राजा की सहायता करता था। इसके अतिरिक्त धार्मिक कृत्यो मे, यज्ञ हवनादि के आयोजन, समाज अथवा अनुष्ठान के अवसर पर उसका विशेष महत्व होता था। कालान्तर मे मन्त्रियो की सख्या मे वृद्धि होने लगी तथा महत्वपूर्ण कार्यों के पदो पर अन्य पदाधिकारियो के बदले सहायक मन्त्रियो की नियुक्ति होने लगी। सम्भवत. ये मन्त्री पुरोहित के नायकत्व मे ही कार्य करते थे। उपरोक्त पदो के पश्चात् सेनापति, संग्रहाणी (कोपाध्यक्ष); ग्रामणी; कर वसूल करने वाले, सूत अथवा भार, प्रतिहारा, आक्षावाय (आय, व्यय का विवरण रखने वाला), पालागरव (दूत या सदेश वाहक), राजस् (राज घराने का सदस्य) तथा युवराज आदि थे।[5]

उपरोक्त पदाधिकारियो के अतिरिक्त अंगरक्षक, धर्माध्यक्ष, दौवारिक (राजमहल द्वार का प्रमुख प्रहरी) परिचारक, वृन्दाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष आदि पदाधिकारियों के नाम भी मिलते है। इन पदाधिकारियो के नीचे छोटे पदाधिकारी थे। ये सहायक के रूप मे कार्य करते थे। पुलिस अधिकारी उग्र था। इनके अलावा गुप्तचर तथा राजदूत के पद भी थे। गाँव मे ग्रामणी राज का काम करते थे। न्यायपालिका का सर्वोच्च अधिकारी तो राजा स्वयं ही था परन्तु स्थानीय तौर

---

१. अथर्ववेद ७।२।१।
२. अथर्ववेद ६।८८; २।२७; ६।६६, ४।३१।
३. अथर्ववेद ६।७५।१०३।
४. कृ० यजु० २।२।१, २।६।१।
५. पंचविंश ब्राह्मण १६।१।४।

पर ग्रामो मे न्याय पंचायतें थी। बड़े न्यायालय का नाम 'सभा' था। उपरोक्त अवस्था से ऐसा अनुमान होता है कि राजा के पद के अतिरिक्त राज्य में एक उच्चपदाधिकारी वर्ग भी पनप रहा था।

राज्य की आय के स्रोत—ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर-वैदिक काल मे राज्य के विस्तार एवं व्यवस्था मे प्रचुर विकास हो चुका था। ऋग्वैदिक काल में राज्य को प्रजा से नियमित कर नही प्राप्त होते थे परन्तु उत्तर-वैदिक काल में राज्य के कार्यों का दिनोदिन विस्तार होता जा रहा था अतः व्यय मे वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। इस व्यय के लिए आय होना अत्यावश्यक है। इसके लिए कर ही आय का मुख्य साधन होते हैं। अब कर-संग्रह करने के लिए 'भागधुक' नामक अधिकारी की नियुक्ति हुई। राज-कर का अधिकांश भाग अन्न तथा पशुओ के रूप मे प्राप्त होता था। आय का सोलहवाँ भाग कर मे दिया जाता था। उस समय राज्य-कर न तो संख्या मे ही अधिक थे और न ही मात्रा मे। राज्य की आमदनी राजा को प्राप्त उपहारो के रूप मे भी होती थी।

न्याय—न्याय-व्यवस्था ऋग्वैदिक कालीन न्याय व्यवस्था की अपेक्षा अधिक परिष्कृत थी। न्याय करना राजा के मुख्य कर्त्तव्यो मे था।[1] विशेष मामले मे न्याय के लिए पूरी जाति का आयोजन होता था। 'ग्राम्यवादिन' गाँवो मे साधारण मामलो का फैसला करती थी।[2] ब्राह्मण की हत्या सबसे बडा अपराध था। न्याय के सम्बन्ध मे ब्राह्मणो को विशेषाधिकार प्राप्त थे। राजद्रोह भीषण अपराध माना जाता था तथा उसके लिये पुरोहित भी प्राण दण्ड का भागी हो सकता था।[3]

सामाजिक जीवन

यह युग सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास का युग था। इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि अब सामाजिक जीवन स्थिरता प्राप्त करने लगा था।

कुटुम्ब—कौटुम्बिक जीवन लगभग ऋग्वेद काल के समान था पितृ सत्तात्मक परिवार का कर्ताधर्ता, पालक तथा स्वामी पिता था। परिवार का प्रमुख होने के कारण सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे तथा उसमे निष्ठा रखते थे। परिवार का प्रधान होने के नाते पिता ग्राम-परिषद तथा पचायत मे परिवार का प्रतिनिधित्व करता था। माता का भी बहुत आदर था।[4] पैतृक सम्पत्ति संयुक्त परिवार की निधि होती थी तथा इसकी बढ़ोत्तरी के लिये परिवार के सदस्य सयुक्त प्रयास करते थे। अपने जीवनकाल मे ही पिता अपने पुत्रों के मध्य सम्पत्ति का विभाजन कर देता था। पिता को पुत्रो से विशेष प्रेम होता था। प्रमाणो से पता चलता है कि पुत्र के दुष्चरित्र तथा व्यसनी होने पर पिता द्वारा दण्ड दिया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र ने अपने परिवार के पचास सदस्यो को आज्ञापालन न करने के कारण दण्डकारण्य वन मे निर्वासित कर दिया था। ऋग्वेद मे उल्लेख है कि ऋजरास्व की आँखे उसके पिता ने फोड दी थी क्योकि वह द्यूत का व्यसनी था। परिवार के सभी सदस्य एक ही घर मे साथ-साथ रहते थे पर सम्मिलित परिवार मे अन्न कलह का डर रहने लगा था। कलह के कारण कई स्त्रियाँ ससुराल छोड़ कर मायके जाने लगी थी।[5] पति-पत्नी के सम्बन्ध बड़े सुखद थे। अनेक मन्त्रो मे इनके प्रेम के बड़े सुन्दर वर्णन

---

१. अथर्ववेद ४।८।२; काठक सहिता—२७।४।
२. 'वैदिक इण्डेक्स' कीथ तथा मैकाडानल।
३. पंचविश ब्राह्मण। ४. ऋग्वेद १०।८६।१० ५. अथर्ववेद १०।१।३

मिलते हैं। ऋग्वेद के अनुसार पत्नी घर की देखभाल करती थी तथा सास-ससुर, देवर, ननद आदि उसका बड़ा आदर करते थे।[1] कुटुम्ब सत्य, धर्म तथा शांति की पवित्र संस्था मानी जाती थी।[2]

नगर जीवन—ऋग्वेद युग में हमें किसी नगर का उल्लेख अथवा प्रमाण नही मिलता है परन्तु उत्तर वैदिक काल में हमें अनेक नगरों की स्थिति तथा महत्व के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। यह विकासक्रम के परिणाम थे। आर्य विस्तार के कारण जंगलो की सफाई होने, जनसंख्या की वृद्धि होने तथा उद्योग धन्धों का विकास होने के कारण विशिष्ट ग्राम नगरो के रूप मे खिल उठे। गङ्गा यमुना के मध्यवर्ती प्रदेशो मे आर्यों के अनेक नगर थे जो धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा सामाजिक गतिविधियो के प्रमुख केन्द्र थे।

खानपान—भोजन साधारण, रुचिकर, पौष्टिकर तथा विविधतापूर्ण था। वे गेहूँ, जौ के आटे की रोटी खाते थे तथा शाक-सब्जियो एवं फलो का प्रयोग भी करते थे। गोवध का निषेध था परन्तु भेड़-बकरे का मांस खाया जाता था।[3]

विशेष अवसरो पर सोमरस का पान किया जाता था। जौ द्वारा विशेष प्रकार की शराब बनाई जाती थी। सामाजिक दृष्टि मे मद्यपान निन्दनीय तथा घृणित था। शहद का प्रयोग किया जाता था। बाजरा तथा सत्तू की रोटियाँ बनाने का उल्लेख मिलता है। गन्ने के रस द्वारा गुड़ बनाया जाता था। खाद्य व्यंजनो मे 'क्षीरौदन' (खीर), 'तिलौदन', 'मुदगौदन' (लड्डू) 'घृतौदन', 'पक्ति', 'करम्भ', 'पुरोपाप', 'यवगु' 'लाज' तथा 'सक्तु' आदि नामो की प्राप्ति विभिन्न ग्रंथो द्वारा होती है।

वस्त्राभूषण—ऋग्वैदिक काल मे प्रयुक्त तीन प्रकार के वस्त्रो के अतिरिक्त अब चीर, चेवर तथा चेल नामक वस्त्रो का प्रचलन हो गया था। अब वे कई प्रकार की नीची धोतियों, गमछे, कम्बलो तथा शालों का प्रयोग करने लगे थे। स्त्रियो की साडियाँ किनारेदार, बहुरंगी तथा कढ़ी हुई होती थी। ऋषि तथा ब्रह्मचारी पशुचर्म का प्रयोग करते थे। पुरुष प्राय लम्बे बाल रखते थे। दाढी मूँछ मुडाने तथा रखने की प्रथा समान रूप से थी। स्त्रियाँ पुष्पो द्वारा वेणियो का अलंकरण करती थी। अंगो का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये विभिन्न लेपो का प्रयोग किया जाता था। सिर मे तेल डालना, आँखो मे काजल लगाना सौन्दर्य सूचक तथा स्वच्छता का प्रतीक माना जाता था। सुअर के चमड़े के जूते पहने जाते थे। सुगन्धित द्रव्यो का प्रयोग किया जाता था। स्वर्ण, चाँदी, मोती, माणिक्य तथा शंखो द्वारा विभिन्न आभूषण बनाये जाते थे। निष्क, प्रवर्त, प्रकाश, विमुक्ता आदि स्त्रियों के प्रिय आभूषण थे।

मनोरंजन—सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव अभिरुचियो मे विविधता आना स्वाभाविक है। उत्तर वैदिक काल इसका अपवाद नही था। यद्यपि रथो की दौड़, आखेट, द्यूत, चौपड़

---

१. ऋग्वेद १०।१४९।४

२. ऋग्वेद १०।८५।२३—२४, २६, ४२, ४७—इसमे पति-पत्नी के मध्य वार्ता है।

३. 'यज्ञ के लिये दीक्षित पुरुष मास न खायें'—ऋग्वेद १०।२७।२, १०।८६।१४, । 'तपस्वी को मास नही खाना चाहिये—शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।२९, । 'यज्ञायज्ञीय साम सूक्त जानने वाला जीवन भर कम से कम एक वर्ष तक मास न खाये'—छन्दोग्य—२।१९।२, (इन निषेधो से यह सिद्ध होता है कि एक वर्ग ऐसा था जो मांस भक्षण को प्रतिकूल मानता था।)

आदि अभी भी मनोरंजन के प्रमुख साधन थे तथापि इन विषयो मे अब अधिक उत्सुकता एवं प्रवीणता उत्पन्न हो गई थी । उत्सवो, पर्वो यज्ञो, तथा सामाजिक अनुष्ठानो के आयोजनो पर संगीत तथा नृत्य के कार्यक्रम होते थे । स्त्री पुरुष समान रूप से इनमे भाग लेते थे । वाजपेय यज्ञ के अवसर पर रथो की दौड़ होती थी । सामाजिक उत्सवो मे वीणावादन तथा अन्य संगीत वाद्यो के लयताल पर गाथा तथा गीत गाये जाते थे । सामवेद तो स्वयं मे ही एक गीति काव्य की भाँति है । विभिन्न स्थानो पर 'शैलूप' (अभिनेता) शब्द के प्रयोग से अनुमान लगाया जाता है कि इस समय संगीत प्रधान नाटको का अभिनय होने लगा था । वाद्ययन्त्रो के कतिपय नाम मिले है जिनमे वीणा, आघाटि, शंख तथा मृदङ्ग आदि है । जुआ खेलने के तो ऐसे नियम बन गये थे कि उन्हे तोडने पर प्रायश्चित करना पड़ता था ।[1] कभी कभी जुआरी अपना सब कुछ हार कर अपमान के पात्र बनते थे ।[2] प्रतिद्वन्द्वियो को नीचा दिखाने की भी अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं ।[3]

स्त्रियों की दशा—ब्राह्मणो मे स्त्रियो की परतन्त्रता तथा निन्दा के अनेक उल्लेख मिलते है । साथ ही साथ स्त्रियो के पद-सम्मान मे वृद्धि के भी विवरण मिलते है । बृहदारण्यक उपनिषद मे तो शिक्षिकाओ का भी उल्लेख है । ऋग्वेद मे पुत्री के जन्म पर खिन्नता व्यक्त करने का उल्लेख है । ऐतरेय ब्राह्मण मे उसे 'कृपण' कहा गया है ।[4] इससे प्रतीत होता है कि पुत्र प्राप्ति पर विशेष सुख तथा पुत्री के जन्म पर उदासीनता का अनुभव किया जाता था । पुत्र का जन्म होने पर आर्य उसे गोद मे उठा लेते थे परन्तु पुत्री का जन्म होने पर उसे भूमि पर रख देते थे । इसके विपरीत इस बात के प्रमाण उपलब्ध है जिनके अनुसार पुत्री-जन्म के लिए कामना की गई है । पुत्री भी सौभाग्य तथा समृद्धता की सूचक मानी जाती थी ।

नारी की स्थिति के विषय मे हमे परस्पर विरोधी वर्णनो की प्राप्ति होती है । वैदिक संहिताओ तथा ब्राह्मणो के अनेक कथनो से पता चलता है कि स्त्रियो को बड़ा आदर सम्मान प्राप्त था । अनेक स्त्रियाँ तत्वज्ञान के वादविवाद मे पुरुषो से होड लेती थीं । ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौशितिकी ब्राह्मण मे अनेक विदुषी स्त्रियो का नामोल्लेख है ।[5] याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी को ब्रह्मविद्या मे रुचि थी ।[6] ऋग्वेद मे कहा गया है कि ऋषि मुद्गल को डाकुओ का सामना करने में उनकी स्त्री ने बडी सहायता की थी ।[7]

उत्तर वैदिक ग्रन्थो मे नारी रूप का दूसरा चित्रण उनका पद ह्रास बताता है । मैत्रायिणी संहिता स्त्रियो को जुए तथा मद्य के समान खराब मानती है । यही संहिता उन्हे 'अनृत्य' 'निऋति' या आयन्ति बताती है । तैत्तिरीय संहिता मे स्त्री को बुरे शूद्र से भी नीचा बताया गया है । अनेक धार्मिक तथा सामाजिक कृत्य, जो अभी तक स्त्री की सूची मे थे, पुरुष सूची में जोड़ दिये गये । "ऋग्वेद की अपेक्षा अब जीवन का आनन्द कम हो गया था और तपस्या की प्रवृत्ति बढ़ रही थी । जब संसार त्याग एक आदर्श बनने लगा तो स्त्री जो इस त्याग मे सबसे बड़ी बाधा है, अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी ।"[8]

उपरोक्त परस्पर विरोधी प्रमाणो के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि

---

१. अथर्ववेद ६।११८ २. ऋग्वेद १०।३४ ३ अथर्ववेद २।२६।१३ तथा ८।२।४,-६,१०,१२
४. ऐतरेय ब्रा० ७।१५; ५ कौशी० ब्रा० २।६ । ६. बृह० उप० ३।४।१, ४।५।१ !
७. ऋग्वेद १०।१०२ ! ८. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद ।

समाज में स्त्रियों को आदर सम्मान तो प्राप्त था परन्तु अपेक्षाकृत उनका पद कुछ गिर गया था। अब स्त्रियों के अधिकार सीमित थे। कम बोलने वाली तथा पति के भोजनोपरान्त भोजन करने वाली स्त्री अब आदर्श थी।

विवाह की स्वतन्त्रता—ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे युवक युवतियो के प्रेम सम्बन्धों का वर्णन है।[1] एक मन्त्र के अनुसार धनी कन्या से विवाह के लिए अनेक युवक इच्छुक रहते थे।[2] अथर्ववेद मे प्रेम प्रयासो की सफलता के लिए मन्त्र, जादू तथा टोने के प्रयोग का वर्णन है। प्रेमी कहता है "………तुम मेरे वश मे आ जाओ……मैं घेरने वाला गन्ना लेकर तुम्हारे पास आता हूँ।" इसी प्रकार एक युवती कहती है "हे। देवताओ प्रेम भेजो, वह पुरुष मुझ पर मरे……हे मरुत, वह मेरे लिए पागल हो जाये। हे अग्नि। वह मुझ पर पागल हो मुझ पर मरे।[3] इन वर्णनो से यह प्रमाणित होता है कि एक तो उस समय बाल-विवाह की प्रथा नही थी, दूसरे, स्त्री-पुरुष अपनी इच्छानुसार विवाह करते थे।

विवाह प्रथा—सामाजिक दृष्टि से विवाह का बडा महत्व था। अविवाहित व्यक्ति को तो यज्ञ का अधिकार भी नही था। एक मान्यता के अनुसार स्त्री ही पुरुष को पूर्णता प्रदान करती थी। पुत्र प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक था। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' अर्थात् पति की प्राप्ति के लिए कन्या ब्रह्मचर्य के नियमो का पालन करती थी। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि युवावस्था आने पर कन्या का विवाह कर दिया जाता था।

विवाह संस्कार पर उत्सवो जैसा आयोजन किया जाता था। वरपक्ष के लोग बारात लेकर कन्या पक्ष के यहाँ जाते थे तथा वहीं पर वैवाहिक संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। ऋग्वेद मे दहेज का वर्णन नही है। दामाद द्वारा श्वसुर को द्रव्य देने का उल्लेख मिलता है परन्तु इस उल्लेख मात्र से इसे सामान्य प्रथा स्वीकार करना भूल होगी। विवाह को धार्मिक महत्व भी प्राप्त था तथा "स्वयं देवता भी इसमें सम्मिलित होते थे।"

अन्तर्जातीय विवाह—अभी जाति प्रथा इतनी कठोर नही होने पाई थी जितनी कि सूत्रो के काल मे हो गई थी। यह कुछ मिली जुली जाति व्यवस्था थी। अत. हमे कई अन्तर्जातीय विवाहों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद मे केवल भाई-बहन पिता पुत्री आदि के विवाहो का निषेध है। शतपथ ब्राह्मण मे यह निषेध तीसरी या चौथी पीढी तक के लिये था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने से छोटी जातियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोडते थे। क्षत्रिय राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या, ब्राह्मण च्यवन ऋषि के साथ ब्याही गई थी।

बहु विवाह—मैत्रायिणी सहिता मे मनु की दस पत्नियो का उल्लेख है। वैदिक साहित्य मे राजाओ की अनेक पत्नियो के उल्लेख मिलते हैं। साहित्य मे अनेक स्थानो पर सौतो के देवासुर सग्रामो का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद मे एक पत्नी अपनी सौत को शाप देती हुई कहती है कि "तेरे कभी सतान न हो, तू बाँझ हो जाये।" इन प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बहु विवाह की प्रथा थी किन्तु समर्थ पुरुष ही ऐसा करते थे अन्यथा कौटुम्बिक जीवन दुखद एवं कलहपूर्ण हो जाता था।

विधवा विवाह—ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है एक पुरुष अनेक पत्नियाँ रख सकता था पर

---

१. ऋग्वेद १०।३०।६ २. ऋग्वेद १०।२७।१२ ३. अथर्ववेद १।३४।२,४,५

एक स्त्री 'एक ही समय मे' अनेक पति नही रख सकती थी।[1] 'एक ही समय मे' शब्द से प्रकट होता है कि भिन्न समयो पर एक स्त्री के अन्य पति हो सकते थे—अर्थात विधवा विवाह होता था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मन्त्रो में सती प्रथा का विधान मिलता है, जो विधवा होने की प्रथा का परोक्ष रूप से समर्थन करता है। अन्य प्रमाण भी उपलब्ध है—जैसे, अथर्ववेद में 'दिधुपू' शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि विधवा अपने देवर से विवाह करती थी। 'पर पूर्वा' शब्द से मालूम होता है कि स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।

स्त्री शिक्षा—बृहदारण्यक उपनिषद मे स्त्री शिक्षको का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य की स्त्री को ब्रह्मविद्या मे बडी रुचि थी। बौद्धिक क्षेत्रो मे स्त्रियाँ महत्वपूर्ण भाग लेती थी। गार्गी द्वारा दार्शनिको की परिषद मे भाषण देने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद मे विश्ववारा, घोषा, अपाला आदि स्त्रियो द्वारा मन्त्रो की रचना करने का उल्लेख है।

आतिथ्य—अथर्ववेद मे आतिथ्य को वड़े यज्ञ के समकक्ष माना गया है। आतिथ्य की भिन्न-भिन्न क्रियाओ की तुलना यज्ञ की विभिन्न रीतियो से की गई है। इससे प्रतीत होता है कि कुटुम्ब मे अतिथि के आगमन को सौभाग्यसूचक तथा कृपास्वरूप माना जाता था।

नैतिकता—अथर्ववेद के एक उल्लेख के अनुसार 'ऋण चुकाना बहुत आवश्यक है, न चुकाने से पाप होता है जिसके लिये प्रायश्चित करना चाहिये।[2] अथर्ववेद के एक अन्य विवरण के अनुसार 'देवताओ तथा मनुष्यो से की गई प्रतिज्ञाओ का पालन करना ही चाहिए अन्यथा प्रायश्चित करना पड़ेगा।'[3] सामाजिक शान्ति, व्यवस्था तथा सहयोग के अनेक आदर्शों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। तत्कालीन ग्रन्थो मे जन कल्याण के लिए अनेक प्रार्थनायें की गई हैं।

वर्ण व्यवस्था

आर्य सभ्यता के प्रसार तथा अनार्यों से नये सम्बन्धो की स्थापना के कारण अब वर्ण अथवा जातियो की समस्याएँ उभड़ कर सामने आने लगी थी। फलस्वरूप अब सामाजिक स्तर के स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव होने लगी। "दृष्टिकोण का परिवर्तन आर्यों के साहित्य तथा सामाजिक संगठन पर असर डाल रहा था। ऋग्वेद के पहले नौ मण्डलो के समय मे वर्ण व्यवस्था बन चुकी थी। वर्ण व्यवस्था कोई अनोखी चीज नही है, अच्छी हो या बुरी हो, वह सब देशो और सब युगों मे पाई जाती है। परन्तु उत्तर वैदिक काल मे जो चातुर्वर्ण्य बना अर्थात जा। पात की जो व्यवस्था दृष्टिगोचर हुई, वह एक विचित्र संस्था है।"[4]

उत्पत्ति—वैदिक साहित्य मे वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गई है। ऋग्वेद मे कहा गया है कि "सृष्टि के आरम्भ मे एक पुरुष प्रगट हुआ। उसके सौ सिर, सौ आँखें और सौ पैर थे। उसने चारो ओर से पृथ्वी को ढक लिया तथा दस अगुल वाहर भी फैल गया। जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होने को है वह सब पुरुष ही है।·· ···उसके चौथाई मे सब प्राणी हैं तीन चौथाई मे स्वर्ग का अमर जीवन है। सारी प्रकृति पुरुष से ही पैदा हुई है।····· जब पुरुष के भाग किये गये तब कितने भाग हो गये ? उसके मुँह को और बाँहो को क्या कहते हैं ? उसकी जाँघो और पैरों को क्या कहते है ? ब्राह्मण उसका मुख था, उसकी दोनो बाँहो से राजन्य बना। उसकी जांघें

---

१. ऐतरेत ब्राह्मण ३।२३ २ अथर्ववेद ६।११७ ३. अथर्ववेद ६।११९

४. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० वेनी प्रसाद

वैश्य बन गई तथा उसके पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का यह दैवी सिद्धान्त था जिसमे हमें केवल एक कथा मात्र का बोध होता है। समसामयिक परिस्थितियो तथा तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का विकास क्रमिक था। इसका सम्बन्ध आर्य अनार्यों के भेद तथा भावना, जाति समिश्रण से बचाव के प्रयत्न, पार्थक्य, रंगभेद तथा प्रारम्भिक आर्यों की कम संख्या के साथ था।

विकास—वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति एवं अंकुरण तो ऋग्वैदिक काल मे ही हो चुका था और अब उसका विकास हो रहा था। अब यह वर्गीकरण साधारण से जटिल की ओर विकसित हो रहा था। धार्मिक अनुष्ठानो के बढ़ते हुए महत्व तथा जीवन के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण वर्ण सम्बन्धी भावनाएँ तेजी के साथ उभर रही थी। वैवाहिक नियम अब कुछ कठोर होने लगे थे। मिश्रण के भय के कारण स्त्रियो की स्वतन्त्रता का ह्रास हो रहा था तथा सामाजिक नियम रूढिवादी होते जा रहे थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अब सुसगठित वर्णों का रूप धारण करते जा रहे थे। वर्ण व्यवस्था का विकासक्रम शुरू हो गया था परन्तु अभी तक इसे पूर्णत्व प्राप्त नही हो पाया था। उत्तर वैदिक काल इस विकासक्रम का माध्यमिक चरण था।

इस काल मे विभिन्न क्षेत्रो के समान स्तर वाले व्यक्तियो मे सगठन की भावना पैदा हो रही थी। यह एक स्वस्थ्य प्रवृत्ति थी। हितो की रक्षा, नियमो की स्पष्ट व्याख्या, कर्त्तव्य सीमा का निर्धारण, कार्य विभाजन का सीमांकन तथा उत्तरदायित्व का भार आदि निश्चित कर देने से वस्तुत: समाज को लाभ ही होता है। उत्तर वैदिक काल में भी ऐसा ही हुआ। वर्ण भेद का आधार कर्मगत था जन्मगत नही। इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि इस युग मे सभी प्रकार की श्रेणियो से उठ कर लोग, ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते थे।

ब्राह्मण—तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार "ब्राह्मण दिव्य वर्ण वाला है", "वह पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवता है", तथा "जिसमें समस्त देवता वास करते हैं।" पंचविश ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण इतना पवित्र है कि उसके विषय में कोई पूछ ताछ नही करनी चाहिए। इन उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि इस काल मे ब्राह्मण के पद तथा प्रतिष्ठा मे भारी बढ़ोत्तरी हो गयी थी। शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्टत: कहा गया है कि ब्राह्मण क्षत्रियो से श्रेष्ठ है। जैसे-जैसे आर्यों की दृष्टि परलोक की ओर अधिक जाने लगी और यज्ञ विधान बढने लगा, वैसे-वैसे ब्राह्मणो का महत्व बढ़ा और उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। ब्राह्मणो को विद्या का बल था। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि विद्या बड़ा पुण्य है। जिसके पास विद्या है वह इस लोक और परलोक दोनो में सुख पाता है। सारे इतिहास मे मस्तिष्क का बल एक प्रधान सामाजिक शक्ति रहा है। ब्राह्मणो के कार्य क्षेत्र में वेदो का पठन-पाठन, यज्ञादि का सम्पादन, धर्म अनुष्ठान तथा राजा को मन्त्रणा देना था। शिक्षा का संचालन भी मुख्यत: उन्ही के हाथो मे था। वे अपने तपस्वी, त्यागपूर्ण तथा आदर्श जीवन के कारण श्रद्धा तथा आदर के पात्र थे। वे नैतिकता के प्रतीक समझे जाते थे।

क्षत्रिय—शतपथ ब्राह्मण में तो क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा दूसरे स्थान पर ब्राह्मण को क्षत्रिय से श्रेष्ठ कहा गया है। इस प्रतियोगी स्वर का कारण सम्भवत: वे अनेक क्षत्रिय थे जिन्होंने गहन अध्ययन करके तत्व ज्ञान प्राप्त किया था। देश की रक्षा, समाज एवं राज्य को सुव्यवस्था

---

१. ऋग्वेद १०।९०।१-३, ११-१२

प्रदान करना, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना तथा राजनैतिक विस्तार करना क्षत्रियो का परम कर्त्तव्य था। क्षत्रियो के पास सैन्य बल था, राजनैतिक प्रभुता थी, विद्याव्यसन भी था, उनका पद ब्राह्मणो से कुछ ही कम था। वैदिक साहित्य मे यह कथन आता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर संसार का भार उठाते हैं।

वैश्य—शेष आर्य जो 'विश' वर्ग के थे अब 'विश्य' या वैश्य कहलाने लगे। 'विश्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाजसनेयि संहिता मे मिलता है। इस वर्ग का कार्य कृषि, व्यवसाय, व्यापार तथा उद्योग-धन्धो द्वारा धनार्जन करना था। प्रतीत होता है कि आर्यों का अधिकांश वैश्य वर्ण के अन्तर्गत था। बहुसख्यक साधारण आर्य जो न ब्राह्मण, न क्षत्रिय थे तथा जो अपना जीविकोपार्जन कृषि कर्म द्वारा करते थे इसी वर्ग मे गिने जाते थे। यद्यपि वैश्यो को अपेक्षाकृत कम अधिकार प्राप्त थे तथापि वे अपनी धन समृद्धता के कारण सम्मान के अधिकारी थे। राज्य की आय का स्रोत यही वर्ण था। वैश्यो के लिये 'यथाकामज्येय'—अर्थात् जितना चाहो काम लो—शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजा उनकी सम्पत्ति छीन सकता था। भौगोलिक तथा अन्य व्यावसायिक कारणो से वैश्यो की अनेक उपजातियाँ बन गई थी। कुछ वैश्य व्यापार करते थे तो कुछ उद्योग धन्धो मे लगे थे। अनेक वैश्य कृषिकर्म करते थे। स्वर्णकार, लौहकार, बढई, रथकार आदि भी वैश्य वर्ण की उपजातियाँ थी। उत्तर वैदिक साहित्य मे वैश्यो को 'अन्यस्य बलिकृत' कहा गया है, जिससे प्रगट होता है कि समाज मे इनका स्थान क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रियो के बाद आता था।

शूद्र—वर्ण-व्यवस्था के उपरोक्त तीन वर्णों में समस्त आर्य, कतिपय अनार्य तथा समिश्रित वर्ग सम्मिलित थे परन्तु कुछ अनार्य जातियाँ इतनी निम्नस्तर की समझी गईं कि वे इस वर्ण-व्यवस्था से बहरहाल बाहर ही रखी गईं। आर्यों ने अपने आगमन पर जिन अनार्यों को पराजित किया तथा ऋग्वेद मे जिन्हे 'दस्यु', 'दास' की संज्ञाएँ दी गई थी, अब वे शूद्रवर्ण मे रख दिये गये। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'शूद्र' आर्यों के भृत्य हैं, इच्छानुसार रखे या निकले जा सकते हैं, उनका वध तक किया जा सकता है।" शूद्रो को वेदो का अध्ययन करने का अधिकार नही था। वे अस्पृश्य थे, शूद्र स्त्री से सम्पर्क तथा विवाह निषिद्ध था तथा वे भूमि के स्वामी नही हो सकते थे। इनका निवास स्थान ग्राम या नगर के बाहर होता था।

वर्णो के पारस्परिक सम्बन्ध—च्यवन ब्राह्मण ऋषि थे तथापि उन्होने क्षत्रिय वर्ण की कन्या सुकन्या से विवाह किया था। विदेहजनक, काशी के अजातशत्रु, पाञ्चाल के प्रवाहण जैवलि आदि ने क्षत्रिय होते हुए भी तत्वज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान आदि के विशद ज्ञान द्वारा ब्राह्मणो की समकक्षता प्राप्त की थी। संहिताओ तथा ब्राह्मणो के उल्लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्णों का क्रम निर्धारित कर दिया गया था। ऐतरेय ब्राह्मण मे क्षत्रियो को दान देने वाला, सोम पीने वाला, भोजन ढूढ़ने वाला तथा यथाकाम प्राप्य कहा गया है। वैश्य को 'अन्यस्य बलिकृत्' अर्थात दूसरो को कर देने वाला' 'अन्यस्याद्य' अर्थात् दूसरो द्वारा भोग किया जाने वाला और 'यथा कामज्येय' अर्थात जैसे चाहो वैसे रखा जाने वाला कहा गया है। शूद्र को 'अन्यस्यप्रेष्य' अर्थात दूसरो का नौकर, 'कामोत्थाप्य' अर्थात जब चाहो निकाल दो, 'यथाकामवध्य' अर्थात इच्छानुसार मार दिया जाने वाला कहा गया है। यद्यपि वर्णों के पारस्परिक सम्बन्धो को समझने के लिये उपरोक्त कथन पर्याप्त है तथापि ये सही वस्तुस्थिति के द्योतक नही है। अपनी इस प्रारम्भिक अवस्था मे वर्ण व्यवस्था मे काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे जाना असम्भव नही था।

विद्या तथा शिक्षा

उत्तर वैदिक काल में विस्तृत और विविध विषयक साहित्य की रचना हुई। उपनिषदो मे बुद्धि और ज्ञान की उन्नति की पराकाष्ठा है। "यह साहित्य का स्वर्णयुग था, जिसका जन्म उन चरण संज्ञक वैदिक संस्थाओ मे हुआ जो अपनी शिक्षा विधि की क्षमता और सफलता के लिये विख्यात थी।'[1] ब्रह्म विद्या को मोक्ष का साधन मानते हुए विद्या और योग को मुक्ति का उपाय माना गया। जैसे-जैसे साहित्य की उन्नति हुई, वैसे-वैसे पठन पाठन की रीति नीति बढ़ती गई।

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि ब्रह्मचारी होकर पढ़ना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है।[2] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के समय से तप की क्रिया चल निकली थी। उपनिषदों की रचना होने तक तपरत मुनियो की संख्या मे बड़ी वृद्धि हो गई थी। इस प्रकार ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रभाव से जीवन के प्रारम्भ और अन्तिम चरण मे ब्रह्मचर्य और तपस्या का महत्व बढ गया। उपनिषदो मे गृहस्थ और तपस्वी का भेद बताया गया।[3] इसके उपरान्त तपस्वी जीवन के भी दो भाग कर दिये गये—ये श्रमण और तापस थे। इस प्रकार अब चार आश्रम स्पष्ट हो गये।

अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में ब्रह्मचर्य के आश्रम नियमो तथा तत्कालीन विविध साहित्य मे उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा के विभिन्न प्रकारो तथा विकास क्रमो का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्कालीन शिक्षा तथा शिक्षण-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

गुरुकुल तथा ब्रह्मचर्य—उपनयन संस्कार तथा ब्रह्मचर्य प्रणाली का वर्णन अथर्ववेद मे आया है।[4] उपनयन संस्कार द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन मे दीक्षित करता था तथा ब्रह्मचारी द्विज बन जाता था। उपनयन संस्कार के पश्चात ब्रह्मचारी नवीन वस्त्रो को धारण करता हुआ गुरु के समीप पहुँचता था। गुरु अपने आश्रम—जिसको प्राय. गुरुकुल भी कहा जाता था—मे निवास करता था। यहाँ पर प्रकृति के एकान्त तथा शान्त वातावरण मे विद्यार्थी ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तो का पालन करता हुआ 'कर्पणम वसना.' (मेखला तथा केश) धारण करता था। श्रम और तप ही उसके प्रमुख कार्य थे। वह यज्ञ के लिए सामग्री जुटाता था तथा भिक्षा माँगता था। उसे भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का पुनीत कर्त्तव्य था। यह भिक्षा हेय नही थी। गुरु ईश्वर तुल्य था। गुरुकुल मे निवास करने वाले ब्रह्मचारी का शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास गुरु के नियन्त्रण मे होता था। कार्यगत विशेपता की शिक्षा के लिए गुरु शिष्य की अभिरुचि के अनुसार ही उसे शिक्षा देता था।

गुरुकुलवास अथवा छात्रावस्था के आरम्भ और अवधि का कोई निश्चित मापदण्ड नही था। छान्दोग्य के अनुसार श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की आयु में अध्ययन आरम्भ किया तथा बारह वर्ष तक जारी रखा। इसके अलावा ३२ वर्ष या जीवन पयन्त तक अध्ययन करने का उल्लेख मिलता है।[5] आचार्य कुल वासी अथवा गुरुकुल वासी शिष्य के प्रमुख कर्त्तव्य थे—आचार्य के लिए भिक्षान्न लाना; अग्नि परिचर्या करना; घर का कार्य करना; आचार्य के लिये गोसेवा करना आदि। शिष्य के लिए दिन मे सोना वर्जित था।

---

१. 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी। २. तैत्ति० ब्रा० ६।३।१०
३. छान्दोग्य उपनिषद ५।१०।१ ४. अथर्ववेद ६।१०८।२
५. छान्दोग्य ६।१।२; ४।१०।१ तथा ८।७।३

शिक्षा के अन्य साधन—गुरुकुलो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शिक्षा साधनो का उल्लेख भी मिलता हे। इस समय अनेक वृहद विद्यापीठो की स्थापना हो चुकी थी। अनेक विपयगत प्रवीण आचार्य यहाँ पर सामूहिक शिक्षा देते थे। नियमित छात्रावस्था की समाप्ति पर भी शिक्षा की समाप्ति नही होती थी। अनेक शिक्षित व्यक्ति ऐसे थे जो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के उपरान्त भी प्रसिद्ध विशेपज्ञो तथा विद्वानो द्वारा शिक्षा लाभ करते थे। ये विशेषज्ञ तथा विद्वान 'चरक' कहलाते थे तथा ये देश मे ज्ञान का प्रचार तथा प्रसार करते थे। ग्रन्थो में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमे चरको के मध्य वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख है। उच्च शिक्षा के लिये नियमित संस्था के रूप मे 'परिपद' नामक संस्थाएँ थी। उदाहरणस्वरूप पाचाल परिषद का नाम लिया जा सकता है, इसे पाचाल जनपद के राजा प्रवाहण जैवलि का संरक्षण प्राप्त था।

विद्वत् सम्मेलन—गुरुकुल, शिक्षा परिपदो तथा चरको द्वारा ज्ञान एव शिक्षा का प्रचार तो हो ही रहा था साथ ही साथ राजाओ द्वारा आमन्त्रित विद्वत्-सम्मेलनो मे ज्ञान मीमासा की जाती थी। इन सम्मेलनो मे ज्ञान-पिपासु जिज्ञासु अपनी शिक्षा की भूख मिटा सकता था। इसका उदाहरण वैदेह जनक द्वारा वहु-दक्षिण यज्ञ के समय आमन्त्रित वह सभा थी जिसमे देश के अनेक विद्वत् ब्राह्मण सम्मिलित हुये थे।

वेदपाठ—शिक्षा पद्धत्ति का मुख्य उद्देश्य धार्मिक ग्रन्थो के मौलिक स्वरूप की रक्षा करना था। अतः वेदपाठ की शिक्षा पर विशेप वल दिया जाता था। प्रातः काल पक्षियो के कलरव से भी पूर्व ब्रह्मचारी वेदपाठ प्रारम्भ कर देते थे। वेदपाठ के महत्व तथा आवश्यकता के कारण स्वर सम्वन्धी शिक्षा शास्त्र का विकास हुआ।[1] उच्चारण तथा वाक्शुद्धि उत्तम संस्कृति का प्रतीक मानी जाती थी। अर्थ को न समझ कर केवल शब्द मात्र का पाठ ऋग्वेद मे निन्दित माना गया है। यास्क के निरुक्त मे ऐसे व्यक्ति को बोझ ढोने वाला कहा गया हे। अतः वेदपाठ, मात्र शाब्दिक ही नही था अपितु ब्रह्मचारी उसके अर्थ-ज्ञान को समझते थे।

अध्ययन के विविध विषय—तत्कालीन ग्रन्थो मे पाठ्य विपयो का उल्लेख भी मिलता है। छान्दोग्य उपनिपद मे इनकी सूची मिलती है जो इस प्रकार है—(१) ऋग्वेद; (२) यजुर्वेद; (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद, (५) पंचमवेद—(इतिहास तथा पुराण); (६) व्याकरण, (७) पित्र्य, श्राद्ध तथा ओर्ध्वदैहिक क्रियाओं से सम्बन्धित विपय, (८) अंक विद्या अथवा राशि; (९) निमित्त शास्त्र; (१०) खनिज विद्या; (११) वाकोवाक्य, अर्थात् तर्कशास्त्र, (१२) नीतिशास्त्र, (१३) देव विद्या, (१४) ब्रह्म विद्या; (१५) प्राणिशास्त्र या भूत विद्या, (१६) सैनिक शास्त्र, (१७) नक्षत्र विद्या या ज्योतिप; (१८) सर्प विद्या, विप चिकित्सा सम्बन्धी विपय, (१९) आयुर्वेद, तथा (२०) संगीत गायन, वादन नृत्य।

शिक्षा में स्त्रियों तथा क्षत्रियो का योगदान—उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा पद्धत्ति की विशेपाताओ मे ध्यान देने योग्य बात यह हे कि इस समय मे स्त्रियाँ शिक्षा एवं विद्या के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण भूमिका निवाह रही थी। गार्गी ने दार्शनिको की परिपद मे उच्च ज्ञान से सम्बन्धित विषयो पर भापण दिया था। मैत्रेयी के विपय मे कहा गया है कि उसने उच्चतम ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। ऋग्वेद मे ही विश्ववारा, घोपा, अपाला आदि स्त्रियो को मन्त्रो का रचयिता वताया गया है।

---

१. तैत्तिरीय उप० १।१।२।

उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा प्रसार का श्रेय प्रमुखतः क्षत्रिय वर्ग को दिया जाना चाहिये। अनेक राजाओ द्वारा विद्वत् सम्मेलनों का आयोजन, शिक्षा केन्द्रों की स्थापना तथा आचार्यों को प्रोत्साहन तथा पुरस्कार देकर इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया था। विद्या के उपासक तथा संरक्षक के रूप मे विदेह के राजा जनक अधिक आगे थे। पांचाल राज प्रवाहण जैवलि, राजा उद्दालक, आरुणी, श्वेतकेतु, जानश्रुति पौत्रायण, वृहद्रथ आदि भी प्रमुख थे।[1]

उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा की उपरोक्त वर्णित पद्धति, विषय विस्तार तथा विशेषताओ से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन सभ्यता का आधार एक सुनियोजित एवं विकसित शिक्षा प्रणाली थी। शिक्षा का उद्देश्य मानव एवं सभ्यता के श्रेष्ठ गुणो की प्राप्ति के साथ व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तथा उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति था।

आर्थिक जीवन

कृषि—अथर्ववेद मे कृषक तथा वणिक की उन्नति और समृद्धि के लिये अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं। कृषि के उपकरणो का पर्याप्त विकास हो जाने के कारण पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न होता था। शतपथ ब्राह्मण मे कृषि कर्म मे प्रयुक्त किये जाने वाले तरीको—यथा, जुताई, बुआई, कटाई, ओसाई आदि का उल्लेख मिलता है। काठक संहिता में २४ बैल वाले हल का उल्लेख है। खेतों मे उर्वरकों का प्रयोग किया जाता था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार शीत काल में जौ तथा वर्षा ऋतु मे धान बोया जाता था। पूरे वर्ष मे तीन फसलें बोई जाती थी। गेहूँ, जौ, कपास, तिलहन, विभिन्न शाक सब्जियाँ तथा फल इत्यादि की पर्याप्त पैदावार होती थी। खेत व्यक्तिगत सम्पत्ति थे। कृषक समृद्ध थे तथा उनका जीवन आनन्दमय था।

कृषि के लिये पशुओ का प्रयोग किया जाता था। साथ ही इनका प्रयोग धन के रूप मे भी होता था। गाय को पूज्य समझा जाता था। स्वयं राजा भी अनेक पशु पालता था। गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़े, ऊँट, गदहे, कुत्ते आदि पालने योग्य पशु थे। इस युग मे हाथी (हस्ती या वारण) को भी पालतू बना लिया था गया।[2] पशुओं के चरने के लिये चारागाह सामूहिक सम्पत्ति समझे जाते थे। पशुओं की प्राकृतिक खाद को मूल्यवान समझा जाता था।[3]

व्यापार-वाणिज्य—ऋग्वेद के अतिरिक्त वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण मे 'वाणिज्य' शब्द का उल्लेख मिलता है। इस शब्द का प्रयोग उस वर्ग के लिये किया गया है जो देश में विचरण करता हुआ विविध सामग्री का क्रय विक्रय किया था। उस समय व्यापारिक मार्ग सुरक्षित नही थे। मार्ग मे हिंसक पशुओ तथा दस्युओ का भय बना रहता था। ग्रन्थो द्वारा पता चलता है कि आर्य व्यापारी एक राज्य से दूसरे राज्य तथा विदेशो मे माल लाते ले जाते थे। वणिक व्यापार और सूद पर रुपये देने वाले बोहरे का उल्लेख भी मिलता है।[4] कई स्थानो पर श्रेष्ठी या प्रधान व्यापारी का उल्लेख है। व्यापारी वर्ग धन सम्पन्न था। व्यापारियो को समाज मे आदर प्राप्त था परन्तु कभी कभी अपनी धृष्टता तथा बेईमानी के कारण उन्हें अपमानित भी होना पड़ता था।

व्यवसाय—उत्तरवैदिक काल मे व्यवसायो तथा उद्योग धन्धो के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई।

---

१. छान्दोग्य उप० ४।१-२; कौषीतिकी, ब्रा० ७।१; कौ० उप० १।१

२. अथर्ववेद ३।२२।६ ३. अथर्ववेद १९।३१।३ ४. शतपथ १३।४।३-११

यजुर्वेद के पुरुषमेघ सूक्तों में किसान, चरवाहे, गड़रिये, मछुए, रथकार, नापित, धोबी, लकड़हारे, कुम्हार, लोहार, रंगरेज, सुनार, रस्सी टोकरी बनाने वाले आदि का उल्लेख मिलता है इस काल में वैद्यकशास्त्र की बड़ी उन्नति हुई थी । सुरा उत्पादन भी प्रमुख व्यवसाय था । विभिन्न व्यवसायी तथा श्रमिकों को बड़ी आय होती थी तथा ये बड़े पैमाने पर सामान बनाकर व्यापारियों को बेच देते थे ।

वस्त्र निर्माण व्यवसाय—उत्तर वैदिक साहित्य में कपास का उल्लेख नही मिलता परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इस समय के आर्य कपास से अपरिचित थे । वस्त्र निर्माण प्रमुख व्यवसाय था । 'ऊर्णा' शब्द का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि वस्त्र उपकरणो मे ऊन का प्रयोग होता था । धनी तथा राज घराने के लोग 'क्षौम' वस्त्रो का प्रयोग करते थे । तैत्तिरीय संहिता मे कर्घे के लिये 'वेमन' शब्द का प्रयोग मिलता है । वस्त्र निर्माण का कार्य जुलाहे करते थे तथा रंगसाजी एवं कढ़ाई आदि में स्त्रियाँ संलग्न रहती थी ।

धातुओं का प्रयोग—यजुर्वेद मे हिरण्य, अयस, श्याम, लोह, सीस और त्रपु (क्रमशः सोना, कासा, लोहा, तांबा, सीसा और राँगा) का उल्लेख यह सूचित करता है कि धातुओं के विषय मे ज्ञान और प्रयोग बढ़ चुका था ।[1] स्वर्ण की भांति रजत के भी आभूषण बनाये जाते थे । तांबे तथा टिन द्वारा भी अनेक दैनिक उपकरण बनाये जाते थे । विविध धातुओं के उपयोगी मिश्रण द्वारा अस्त्र-शस्त्र, खेती के उपकरण तथा गृहोपयोगी सामग्री आदि का निर्माण किया जाता था ।

व्यावसायिक संगठन—उत्तर वैदिक काल मे 'श्रेष्ठि' के साथ-साथ 'गण' तथा 'गणपति' शब्द भी मिलते हैं । ये शब्द व्यावसायिक संगठनो के लिये प्रयुक्त किये जाते थे । विभिन्न व्यवसाय करने वाले अपने पृथक-पृथक संघ बनाये हुए थे । इन संगठनो को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी । प्रतीत होता है कि इस समय श्रमिक संघ का भी जन्म हो चुका था ।

मुद्रा—उत्तर वैदिक काल मे मुद्रा का प्रचलन तो हो चुका था परन्तु सामान्य लेन देन मे वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन था । 'निष्क'—जो ऋग्वैदिक काल मे आभूषण था—अब मुद्रा माना जाने लगा था । अथर्ववेद मे सौ सुवर्ण 'निष्क' दान मे देने का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि यह निश्चित माप तौल का स्वर्ण सिक्का था । इस काल में प्रयुक्त होने वाले 'शतमान' तथा 'पाद' नामक शब्द भी मुद्रा से सम्बन्धित माने गये हैं ।

धार्मिक जीवन

गुरुचरण सुश्रुषा, तप और त्याग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से विकसित आर्यों का धर्म अद्वितीय था । सभ्यता के उस चरण में विश्व के किसी भी भाग मे धर्म का ऐसा रूप नही मिलता । साधारण से परिवर्तन के अतिरिक्त उत्तर वैदिक काल का धार्मिक जीवन लगभग ऋग्वैदिक काल के ही समान था । आवागमन के सिद्धान्त का जन्म नही हुआ था तथा अहिंसा की नीति का प्रतिपादन होना अभी शेष था । अथर्ववेद की अधिकांश प्रार्थनाओं में आयु, सन्तान, धन एवं प्रभुता की कामना ही मिलती है ।[2] यजुर्वेद की लगभग सारी स्तुतियाँ तथा क्रियाएँ भौतिक सुख प्राप्ति विषयक ही हैं । नई धार्मिक प्रवृत्तियो मे परलोक गमन विषयक विश्वास इस युग की नई देन थे ।

---

१. यजुर्वेद १८।१३ २. अथर्ववेद २।२९।१३; ८।१; ८।२।४,६,१०,१२; ८।५।१७ ।

अथर्ववेद में कहा गया है कि अच्छे काम करने वाले व्यक्ति देवताओं के पास जाते हैं और यम के साथ रहते हैं। स्वर्ग में घी, दूध, शहद, दही और सुरा की भरमार है। स्वर्ग का उलटा नरक है जहाँ पर पापी लोग रक्त मे बैठ कर बाल चबाते है।[1] इन कथनो से प्रगट होता है कि उत्तर वैदिक काल में स्वर्ग और नरक की चिन्ता सताने लगी थी। इसी चिन्ता के फलस्वरूप जिस नई भावना का जन्म हुआ वह यह थी कि इस सब—स्वर्ग और नरक—का क्या तात्पर्य है ? यह विश्व क्या है ? किसने इसे बनाया ? क्यो बनाया ?[2] आदि आदि। ये खोजकर्ता के स्वाभाविक प्रश्न थे। "इस पर मनन करते-करते विश्व के आदि कारण की कल्पना हुई। विश्वचक्र में संसार क्षण भंगुर प्रतीत होता है; अतएव इसमे स्थायी सुख नही हो सकता; दुख तो बहुत सा है; इस सारे जंजाल को छोड़ कर शान्ति पाने की चेष्टा करनी चाहिये।"[3] इसी विचार से तप की परिपाटी चल निकली। ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे सात ऋषियो द्वारा तप करने का उल्लेख है। अथर्ववेद में कहा गया है कि तप, यज्ञ, ऋत और ब्रह्म आदि के आधार पर ही विश्व स्थिर है। ऐतरेय ब्राह्मणों के अनुसार तप और यज्ञ द्वारा ही देवताओ ने स्वर्ग जीता था। इन सभी उल्लेखों आदि से स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल मे कुछ नये दृष्टिकोणो का जन्म हो रहा था।

यज्ञ—यज्ञ उत्तर वैदिक काल के धार्मिक जीवन का एक आवश्यक अंग था। यज्ञ और अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध था। पवित्रता के ये दोनो उपादान इस काल के धार्मिक विश्वासो के स्तम्भ थे। पुरुष सूक्त मे पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बताई गई। ऋग्वैदिक काल में यज्ञ विधि कठिन तो अवश्य थी परन्तु उसकी प्रक्रिया सामान्य थी। उत्तर वैदिक काल मे मन्त्रों का महत्व तथा प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यज्ञ विधि जटिल तथा सूक्ष्म हो गयी। 'यज्ञ के विषय मे कल्पना की गई कि विश्व की स्थिति के लिये यह नितान्त आवश्यक है।' एक यज्ञ का सम्पादन करने में सोलह-सत्रह पुरोहितो की आवश्यकता होती थी। ये पुरोहित यजुर्वेद मे वर्णित विधिनुसार यज्ञ का प्रतिष्ठापन करके ऋग्वेद के मन्त्रो द्वारा आयोजनकर्ता की कामना सिद्धि के लिये देवताओ को प्रसन्न करते थे। यज्ञ की प्रधानता के कारण मनुष्य का जीवन कर्त्तव्यो मे बँध गया था। देवता, ऋषि, पितृ, जन्तु आदि सबके लिये यज्ञ किया जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कई बार कहा गया है कि जो अच्छी तरह यज्ञ करता है वह स्वर्ग मे देवताओ के साथ अमर हो जाता है।

कर्मकाण्ड—अब यह विश्वास प्रबल होता जा रहा था कि यज्ञो के सम्पादन द्वारा सभी इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति की जा सकती है। पहले परिवार का मुखिया स्वयं यज्ञ कर लेता था परन्तु अब पुरोहित ही यज्ञ सम्पादन का वास्तविक ज्ञाता था। ब्राह्मण ग्रन्थो में यज्ञ की अनेक जटिलतम विधियो का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण मे तो यहाँ तक कहा गया है कि "यदि बलि नही दी जायेगी तो सूर्योदय नही होगा।" इस प्रकार कर्मकाण्डीय जटिलता के कारण धार्मिक जीवन की ठेकेदारी पुरोहितो के नियन्त्रण में थी। "यज्ञीय कर्मकाण्ड और ऋत्विज सम्बन्धी प्रणाली की उस समय बहुत बढती हुई।"[4]

पुरोहितों तथा ब्राह्मणों का प्रभुत्व—जटिल, रहस्यमय तथा पेचीदा कर्म काण्ड का परिणाम यह हुआ कि पुरोहित तथा ब्राह्मण वर्ग को अतिरेक महत्व दिया जाने लगा। धार्मिक क्रिया विधियो

---

१. अथर्ववेद १८।२।४, ६।१२०।२,३; १२।३।१७ २. ऋग्वेद १०।१२६।६७।
३. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता डा० बेनी प्रसाद ४. 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी

के भेदो तथा सूक्ष्मतर विधानों का निर्धारण करके इस वर्ग ने धार्मिक कर्मकाण्ड को जन साधारण की समझने की शक्ति से परे कर दिया तथा केवल इस बात का अन्धाधुन्ध प्रचार किया कि लौकिक सुखो की प्राप्ति तथा पारलौकिक शान्ति के लिए धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, हवनादि कराना अनिवार्य है तथा कर्मकाण्ड की उपेक्षा करने से भारी अनर्थ होगा। फलतः अधिकाश गृहस्थ ब्राह्मणो तथा पुरोहितो के आश्रित हो गये।

अन्धविश्वास—अथर्ववेद मे ऐसे तन्त्र मन्त्रो का उल्लेख है जिनके द्वारा भूत प्रेतो से रक्षा तथा जादू टोने के प्रयोग द्वारा अनेक प्राप्तियाँ की जा सकती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रेत आत्माओं, वशीकरण, इन्द्रजाल आदि मे विश्वास किया जाने लगा था। अब अन्ध विश्वास भी धार्मिक जीवन का अंग बन गये थे। यह संभवतः अनार्य प्रभाव था।

तप—उत्तर वैदिक काल मे तप का महत्व बढ़ गया था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे तप द्वारा मन एवं आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने का वर्णन किया गया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवो ने तप के बल पर ही देवत्व की प्राप्ति की थी। तैत्तिरीय उपनिषद में वरुण अपने पुत्र को तप के लिए प्रेरित करते हुये कहता है कि "तप द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि तप ही ब्रह्म है।" उत्तर वैदिक काल के धार्मिक विश्वासों मे तप को निःसन्देह महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। तप के लिए किसी अनुष्ठान अथवा आयोजन की आवश्यकता नही थी।

देवी-देवता—आर्य अभी भी प्रकृति के निकट थे अत प्रकृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक देवी-देवता थे। प्रकृति की उपासना स्थूल रूप मे न हो कर लाक्षणिक थी। कतिपय प्राचीन देवी-देवताओ के पलायन के साथ इस काल मे अनेक नये देवी-देवताओ का प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वैदिक देवी-देवताओ के उल्लेख के साथ-साथ शिव, पार्वती, रुद्राग्नि, भवानी आदि शैव-सम्प्रदाय के देवताओं के नाम भी मिलते है। अनेक ग्रन्थो मे 'वासुदेव' का नाम मिलना—यह प्रमाणित करता है कि वासुदेव-सम्प्रदाय का जन्म इसी युग मे हुआ था। उत्तर वैदिक काल मे 'विष्णु प्रजापति' का महत्व बढ़ गया था। अब वे विश्व के पालनकर्ता तथा देवादिदेव के रूप मे उपास्य थे। ऋग्वेद के अव्यक्त देवता प्रजापति अब यज्ञो के स्वामी बन गये। नाग, किन्नर, गन्धर्व, अप्सराएँ आदि की गणना अब देव मण्डलीय देवताओ की श्रेणी मे की जाने लगी। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में देवता मानव रूपधारी प्रकृति के प्रतिनिधि मात्र न रह कर, प्रकृति से भिन्न माने जाने लगे।

भक्ति सम्प्रदाय का जन्म—भक्ति का सम्बन्ध हृदय से तथा धर्म का सम्बन्ध सदाचार से है। इस विचारानुसार कर्म की शुद्धता एवं पवित्रता पर बल दिया जाने लगा। शैव-सम्प्रदाय तथा वासुदेव सम्प्रदाय की प्रमुख मान्यता यही थी कि अन्त करण की शुद्धता तथा सदाचार ही परम धर्म है। भक्ति सम्प्रदाय के विचारो की शुरुआत होना—उत्तर वैदिक काल के धर्म दर्शन की प्रमुख देन है।

मूर्ति पूजा—पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' के सूत्र से पता चलता है कि मूर्तियो का प्रतिष्ठापन सार्वजनिक स्थानो तथा देवालयो मे किया जाता था परन्तु इस विषय में किसी अन्य स्रोत से मूर्ति पूजा का प्रमाण प्राप्त नही हुआ है। अतः इस विषय मे निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि उत्तर वैदिक काल मे मूर्तिपूजा का प्रचलन था अथवा नही।

---

१. ऋग्वेद १०।१९१।१।

दर्शन तथा अध्यात्म

उत्तर वैदिक काल मे एक ओर जटिल कर्मकाण्ड का विधान मिलता है, तो दूसरी ओर तत्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान जैसी दार्शनिक प्रवृत्तियो के विषय में गंभीर चिन्तन भी। ज्ञान की अतृप्त अभिलाषा, शान्ति, तथा इहलोक एवं परलोक के वास्तविक रूप की व्याख्या तत्कालीन दर्शन का आधार थी। तत्कालीन दार्शनिको ने तर्कशक्ति के आधार पर आत्मा, परमात्मा, परमतत्व, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की परिभाषा करके उसका स्पष्टीकरण किया। इस सन्दर्भ मे दार्शनिको ने यज्ञादि तथा कर्मकाण्ड को निरर्थक बताया। दार्शनिकों का मत था कि कर्मकाण्ड द्वारा परम तत्व का ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। उनके विचार मे कर्मकाण्ड कुछ व्यक्तियो की झूठी महत्ता को बनाये रखना तथा उनकी स्वार्थपरता का साधन है। उत्तर वैदिक काल में दर्शन सम्बन्धी अनेक विचार-धाराएँ प्रवाहित हो रही थी तथा उनमें मत वैभिन्य था।

आत्मा तथा ब्रह्म—उपनिषदों में आत्मा को जीवन का मूल तत्व माना गया है। विश्व मे व्याप्त आत्माओ का स्रोत परम ब्रह्म है। आत्मा अजर अमर है। ब्रह्म अनन्त, असीम तथा अनादि है। वह सृष्टि का नियन्त्रक है तथा सृष्टि के समस्त जीवधारियो में आत्मा के रूप मे व्याप्त है। ब्रह्म ही नित्य है, अनित्य है। अतः ब्रह्म को आत्मा के माध्यम से जाना गया। 'तू भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ'—आत्मा एव ब्रह्म का यह सम्बन्ध उत्तर वैदिक काल की महान दार्शनिक देन है।

मोक्ष तथा पुनर्जन्म—उत्तर वैदिक काल मे आवागमन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन तो नही हुआ था परन्तु स्वर्ग एव नरक के विषय मे काफी सोचा गया था। उपनिषदो मे यह विचार प्रतिपादित किया गया कि मोक्ष प्राप्ति के पश्चात आत्मा परब्रह्म में लीन हो जाती है। यदि मनुष्य का कर्म पवित्र है, वह सदाचारी तथा संयमी है तो वह मुक्ति पा जायेगा अन्यथा उसे कर्मानुसार फिर से जन्म लेना होगा। देवता तथा मनुष्य ही नही अपितु समस्त जीवधारियो को कर्मानुसार फल भोगना पड़ता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि सत्कर्मों द्वारा पुनर्जन्म से छुटकारा नही मिल जाता है। वृहदारण्यक मे कहा गया है "मनुष्यो का जन्म कर्मानुसार होता है।"

उत्तर वैदिक काल मे बहुदेववादिता तो थी परन्तु इसके रूप, स्वरूप एवं मान्यताओ मे काफी परिवर्तन आ गया था। समसामयिक विरोध होते हुए भी, ब्राह्मण का प्रभाव इतना अधिक बढ गया था कि वह धरती पर देवता सदृश बन बैठा था। यह धर्म रूपी मुद्रा का एक पक्ष था। दूसरे पक्ष मे दार्शनिक तथा बौद्धिक चिन्तन ने क्रान्तिकारी विचारो के बीज बो दिये थे। इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानो मे ही लिप्त नही थे अपितु उनका ध्यान ब्रह्म विद्या तथा तत्व चिन्तन की ओर भी गया था। इस समय जिन दार्शनिक मतो का जन्म अथवा प्रतिपादन हुआ वे वर्तमान दार्शनिक चिन्तन की भी दिशा निश्चित करते है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. उत्तर वैदिक काल की सभ्यता, ऋग्वैदिक सभ्यता से कितनी भिन्न थी? स्पष्ट कीजिये।

२. उत्तर वैदिक कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो की व्याख्या कीजिये।

३. उत्तर वैदिक कालीन विद्या और शिक्षा का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

४. उत्तर वैदिक काल के धार्मिक जीवन और धर्म दर्शन का संक्षिप्त उल्लेख कीजिये।

अध्याय पाँच

सूत्रकालीन संस्कृति

पूर्वाभास

सभ्यता के अंकुरण होने के समय से लेकर आज तक यह नियति चली आ रही है कि सभ्यता और संस्कृति की क्रियाशीलता कभी स्थिर नही रही। विचार और क्रिया ने सभ्यता को जन्म दिया। जहाँ ये दोनो होगें वहाँ परिवर्तन होगा, क्रान्ति होगी और कुछ न कुछ नया पन आता ही रहेगा। उत्तर वैदिक काल की सभ्यता—जिसका निरूपण पिछले अध्याय मे किया गया है, वह पहले की सभ्यता से बेहतर थी। नई भूमि की खोज से प्रसार और विस्तार हुआ; राजनैतिक संगठन के कारण शासकीय गुणो का विकास हुआ; कृषि उद्योग तथा व्यवसाय के प्रसार से आर्थिक जीवन उन्नत हुआ और इन सभी के मिले जुले प्रभाव से सास्कृतिक मूल्यो की अभिवृद्धि हुई। सूत्र काल के आगमन तक भारतीयो ने न केवल सास्कृतिक धारा को निरन्तर बनाये रखा अपितु उन्होने सांस्कृतिक परिपक्वता भी प्राप्त कर ली थी। अब भारतीय संस्कृति, स्वयं को परिस्थितियो के अनुकूल ढालते हुए अधिकाधिक समृद्ध हो चली थी।

काल विभाजन

"इतिहास मे युगो का विभाजन अध्ययन की सुगमता के लिये किया जाता है। वास्तव मे बड़े परिवर्तन किसी एक बरस मे नही होते, वे बहुत बरसो मे, कभी-कभी सदियो मे होते है और किसी एक बरस का जीवन आगामी या पूर्ववर्ती बरस से बहुत पुराना नही हो सकता।"[1] प्रागैतिहासिककाल से लेकर आज तक की भारतीय संस्कृति का सूत्र एक है तथा आज हम अपने को जिस परिवर्तित दशा मे पाते है वह किसी एक युग की मौलिक देन नही है। परिवर्तन होने के साथ-साथ पुराने विचार, परम्पराएँ तथा मान्यताएँ काफी समय तक स्थिर रहती है। ऋग्वेद से लेकर सूत्रकालीन साहित्य तक की सभ्यता की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस लम्बी अवधि मे बहुत से परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन तत्काल उतने महत्वपूर्ण प्रतीत नही हुए जितने कि अब। परिणाम स्वरूप हमे सूत्रकाल को एक नया युग मानने लगे हैं।

---

१. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद।

सूत्रों का रचनाकाल सातवी शताब्दी से लेकर दूसरी शताब्दी ई० पू० तक माना जाता हे। सूत्रकाल का निर्धारण करते हुए, विद्वानों ने इस काल का सर्वप्रथम ग्रंथ पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' माना है। गोल्डस्टकर तथा आर० जी० भण्डारकर महोदय के अनुसार इस ग्रंथ की रचना ७०० वर्ष ई० पू० मे हुई थी। किन्तु मैकडोनल महोदय का विचार हे कि "पाणिनि का काल ३५० ई० पू० के लगभग माना जाता है लेकिन इस विषय मे प्रस्तुत प्रमाण सन्देहरहित नही है। सम्भवतः उसका काल ५०० ई० पू० के लगभग या उसके शीघ्र बाद का था।" सूत्र साहित्य की समीक्षा से यह सिद्ध होता है कि समाज मे बहुत से परिवर्तन हो रहे थे और कुल मिलाकर वे इतने महत्वपूर्ण थे कि ई० पू० ७-६ सदी से एक नये युग का प्रारम्भ अच्छी तरह मान सकते हैं।

सूत्र-ग्रन्थ

सूत्र साहित्य मे वेदांग, यास्क कृत 'निरुक्त', पाणिनि कृत 'अष्टध्यायी', 'श्रौत सूत्र', 'गृह्य-सूत्र', तथा 'धर्मसूत्र' सम्मिलित हैं। वेदागो में 'कल्प', 'शिक्षा', 'व्याकरण', निरुक्त', 'छन्द', तथा 'ज्योतिष' ग्रंथ थे। पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' संस्कृत व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ हे। श्रौत सूत्रो में पुरोहितो द्वारा सम्पादित किये जाने वाले विभिन्न संस्कारों का विवरण दिया गया है। 'धर्मसूत्रो' मे परम्परागत नियम तथा विधियाँ दी गई हैं तथा 'गृह्य सूत्रो' मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की जीवन विषरक क्रियाओ का उल्लेख हे। प्रमुख सूत्रकारों मे गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ आश्वालायन तथा कात्यायन आदि की गणना की जाती हे।

सूत्रों का महत्व

प्रश्न उठता ह कि सूत्र ग्रन्थो की रचना की क्या आवश्यकता थी? अथवा वे कौन-सी परिस्थितियाँ थी जिन्होंने इनके रचनाकारों के मस्तिष्क को प्रभावित किया?

उत्तरवैदिक युग में कर्मकाण्डी जटिलता, नियमों तथा अर्थ की क्लिष्टता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि स्वयं पुरोहितो के लिये उनका समझना और सम्पादन करना कठिन हो गया। अब यह आवश्यक समझा गया कि सभी तौर तरीको को क्रमबद्ध करके लिखित रूप दे दिया जाये। फलतः सक्षिप्त नियमों के रूप मे पिरोए गये ग्रंथ सूत्र (धागा) कहलाये गये। सूत्रो की प्रमुख उपलब्धि यह थी कि इनमे गम्भीर और जटिल नियमो को स्पष्ट और सरल रूप दिया गया।

धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से सूत्र ग्रंथ बड़े महत्वपूर्ण हैं। पठन पाठन की सुगमता से सूत्रग्रथो का प्रचार सारे देश मे हो गया। जीवन के लगभग सभी विषयों के लिये सूत्र प्रामाणिक तथा विश्वसनीय माने जाने लगे। गर्भाधान, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि क्रिया, कानून, वर्ण, जातिभेद, भोजन, समुद्रयात्रा, विदेशी भाषा आदि जैसे सामान्य परन्तु विशिष्ट महत्व वाले जीवन विषयो की सूत्रो ने विषद व्याख्या तथा परियोजन किया और वस्तुतः इस क्षेत्र मे ये अद्भुत महत्व रखते हैं।

सूत्रकालीन राजनैतिक संगठन तथा शासन

सूत्रकाल मे राजनैतिक एकता का सर्वथा अभाव था। सारे आर्यावर्त मे राज्यो का बाहुल्य था तथा किसी शक्तिशाली साम्राज्य या केन्द्रीय राज्य सत्ता का जन्म नही हो पाया था। परन्तु यह सब होते हुए भी राजनैतिक तनाव की स्थिति नही थी। प्रमुख रूप से राज्यतन्त्र का बोलबाला था।

नैतिकता—सूत्रो की विभिन्न व्यवस्थाओ, न्याय तथा दण्ड प्रणाली आदि के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सूत्रकाल के नैतिक दृष्टिकोण मे परिपक्वता आ गई थी। अनेक संस्कारो का सम्पादन व्यक्ति को उसके महत्व एव कर्त्तव्यो तथा अधिकार क्षेत्र का स्मरण करता था। अतः यह स्वाभाविक है कि तत्कालीन समाज मे नैतिक आदर्शो पर विशेष बल दिया जाता था। दैनिक जीवन मे शिष्टाचार तथा वैचारिक पवित्रता थी। गुरुजनो तथा अपने से बडो के लिये श्रद्धा, भक्ति, विनय तथा उदारता थी।

स्त्रियों की दशा—सूत्रो में स्त्रियों की स्थिति के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। बौधायन तथा गौतम के अनुसार स्त्रियाँ यज्ञ या उत्तराधिकार के विषयो मे स्वतन्त्र नही थी।[1] वे अपनी इच्छानुसार वैदिक यज्ञ नही कर सकती थी। वशिष्ठ के अनुसार स्त्रियाँ 'स्व' (सम्पत्ति) के अन्तर्गत रखी जाती थी।[2] परन्तु इन उल्लेखो के आधार पर स्त्रियो की दशा को पूर्णतः निराशाजनक नही मानना चाहिये। स्त्रियो का विवाह युवावस्था मे होना, उनका उपनयन, ब्रह्मचर्य तथा वेदाध्ययन की अधिकारिणी होना, पुनर्विवाह तथा कतिपय परिस्थितियो में पति से तलाक होना, एक पत्नीकता की प्रथा का होना—आदि अनेक कारणो से यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियो को समाज मे पर्याप्त अधिकार, पद तथा प्रतिष्ठा प्राप्त थी। गौतम के अनुसार माता रूप में नारी का पद पिता और आचार्य से भी श्रेष्ठ है। वशिष्ठ के अनुसार पतित होने पर भी माता त्याज्य नही है। बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार यदि कन्या का विवाह होते समय मासिक धर्म प्रारम्भ हो जाये तो उसका प्रायश्चित करना चाहिये। आपस्तम्ब, साख्यायन तथा पारस्कर के अनुसार विवाह के तीन दिन पश्चात नव-विवाहित दम्पत्ति का चतुर्थीक-- समागम—होना चाहिये। अतः प्रमाणित होता है कि उस समय बाल विवाह की प्रथा का प्रचलन नही हुआ था।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार जो पति अपनी पत्नी का बिना कारण त्याग करे उसे पापी माना जाना चाहिये। परन्तु धनी तथा राजवंश के लोग अनेक पत्नियाँ रखते थे। पुत्र प्राप्ति हेतु दूसरा विवाह करने की अनुमति थी। सूत्रकारो ने सती होने की प्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार मृतक के दाह संस्कार के पश्चात उसकी पत्नी के घर वापस लौटने की प्रथा थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि सती प्रथा का प्रचलन नही था। सूत्रो मे विधवा विवाह की अनुमति का उल्लेख मिलता है। बौधायन एकमात्र अमुक्त विधवा को पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं। पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' तथा उससे उत्पन्न सन्तान को 'पौनभव' कहा जाता था। वशिष्ठ के अनुसार पति के परिव्राजक होने, उन्मत्त अथवा पतित होने पर स्त्री उससे सम्बन्ध विच्छेद कर सकती थी। साधारणतया तलाक को हेय समझा जाता था।

वर्णव्यवस्था

सूत्रकाल, आर्य सभ्यता का एक ऐसा युग था जिसमे प्राचीन परम्पराओ तथा मान्यताओ को समयानुसार नये परिवेश मे ढाला गया था। फलतः इस काल में वर्णव्यवस्था का भी पुनः संगठन किया गया। मान्यताएँ वे ही थी परन्तु अब उनको नियमबद्ध कर दिया गया तथा उनके अधिकार एवं कर्त्तव्यो की सुस्पष्ट सीमाएँ निर्धारित कर दी गई थी। "सामाजिक संगठन वर्णाश्रम

---

१. बौधा० २।५०-५२। २. वशिष्ठ ५।१।

धर्म के अनुसार बना हुआ था, इसे स्पष्ट, विस्तृत तथा अटिलस्वरूप वाले हिन्दू धर्म की सर्वोत्तम परिभाषा कहा जा सकता है।[1]

विभिन्न वर्ण तथा उनके कर्त्तव्य—अब वर्णों को आश्रम व्यवस्था के समानान्तर बना दिया गया था तथा इसी दृष्टिकोण से वर्णो के कर्त्तव्य भी निर्धारित किये गये थे। ये इस प्रकार हैं—ब्राह्मण के कर्म—(i) अध्यापन, प्रवचन, (ii) यज्ञ करना (याजन); (iii) दान स्वीकार करना (प्रतिग्रह)। क्षत्रिय के कर्म—(i) सब प्राणियो की रक्षा करना (सर्वभूत रक्षणम); (ii) न्याय के अनुसार दण्ड व्यवस्था करना (न्याय दण्डत्वम); (iii) ब्राह्मणो का पालन; (iv) आपद्ग्रस्तो का पालन; (v) भिक्षुको, छात्रो चिकित्सकों, सेवारत लोगो का पालन पोषण; (vi) युद्ध के लिये तत्पर रहना; (vii) सेना के साथ सारे राज्य मे विचरण करना, (viii) युद्ध में मृत्युपर्यन्त जमे रहना; तथा (ix) राज्य की रक्षा के लिये कर संग्रह करना। वैश्य के कर्म—(i) कृषि, (ii) वाणिज्य; (iii) पशुपालन; तथा (iv) महाजनी करना (कुसीद)। शूद्रो के कर्म (i) सत्य, नम्रता तथा शौच का पालन करना; (ii) आचमन मन्त्र के बिना स्नान; (iii) श्राद्धकर्म; (iv) अपने परिवार का भरणपोषण करना; (v) अपनी जाति मे विवाह करना; (vi) जीवन भर गृहस्थ रहना, (vii) उच्च वर्गो की सेवा करना; तथा (viii) नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार आदि के कार्य करना।

वर्णों की स्थिति—सूत्रकाल मे सैद्धान्तिक रूप से वर्णव्यवस्था के नियम कठोर थे परन्तु व्यावहारिक रूप से इन वर्णों की स्थिति कठोर होते हुये भी लचीली थी। "सिद्धान्त मे वर्णव्यवस्था चारो ओर कडी हो रही थी। पर उद्योग धन्धे के मामले मे उसे जीवन संग्राम के समक्ष हार माननी पडी। पेट भरने के लिये ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य जो व्यवसाय पाते थे करने लगते थे। जब वर्णो की संख्या बढ़ गई तो और भी ढील हो गई। सूत्रकाल से लेकर आज तक व्यवसाय के मामले मे वर्णव्यवस्था के नियम पूरे तौर से कभी व्यवहार मे नही आये।"[2]

सूत्रकाल मे वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणो की स्थिति मजबूत थी। वे अपने वर्णगत कार्यों के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्णो के कार्य अपना सकते थे। गौतम आपत्ति मे ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य कर्म करने की अनुमति देता है। इसी तरह क्षत्रिय या वैश्य भी अपने से निम्न वर्ण के कार्य अपना सकते थे। गौतम ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण अपने लिये दूसरो से खेती, व्यवसाय तथा महाजनी करा सकता है।[3] निश्चय ही इससे ब्राह्मणो को व्यावसायिक क्षेत्र में भी प्रभुता प्राप्त होने लगी होगी। गौतम के ही अनुसार ब्राह्मण राजा की प्रभुता से स्वतन्त्र थे जब कि क्षत्रिय केवल राज दण्ड से मुक्त किये गये।[4] विशेष बात यह है कि वर्णव्यवस्था के नियमो का लचीलापन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को ही सुलभ था। शूद्र वैसे के वैसे ही नही वरन और भी बदतर कर दिये गये। गौतम के विधानानुसार अगर शूद्र वेद सुन ले तो कान मे लाख भर देनी चाहिये, अगर उच्चारण करे तो जिह्वा काट लेनी चाहिये और यदि याद करे तो शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिये।[5] परन्तु हमे सन्देह है कि क्या वास्तव मे इस विधान को व्यवहार मे लाया जाता था अथवा यह पद प्रतिष्ठा की उन्मत्त भावनाओ की अभिव्यक्ति मात्र थी। लगता है यह वर्ण

---

१ 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

२. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद।

३. गौतम ७।२६, १०।५-६। ४. गौतम ८।७-१३। ५. गौतम १२।४६

व्यवस्था केवल सिद्धान्त मे ही कठोर थी व्यवहार मे नही। सिद्धान्त रूप में सभी ब्राह्मणा का कार्य यज्ञ, अध्यापन तथा धर्म था, जब कि बौधायन से पता चलता है कि कुछ ब्राह्मण किसान, गडरिये, नट, कारीगर तथा श्रमिक के कामो को अपनाए हुये थे।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था के क्षेत्र मे सूत्रकाल ने अनेक व्यवस्थाओ को पर्याप्त संगठित कर दिया। मनुष्य के जीवन को चार भागो मे विभाजन करके, प्रत्येक भाग के नियमो तथा कर्त्तव्यो का निश्चितीकरण कर दिया गया। जीवन की आयु सौ वर्ष मानकर प्रथम २५ वर्ष ब्रह्मचर्य, तत्पश्चात ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम, ७५ वर्ष की आयु तक वानप्रस्थ एवं शेष २५ वर्ष सन्यासाश्रम के अन्तर्गत कर दिये गये। शूद्रो के लिये जीवन पर्यन्त गृहस्थाश्रम ही प्रस्तावित किया गया। इस प्रकार चार आश्रम प्रतिपादित करके विभिन्न आश्रमो के नियम तथा कार्यप्रणाली भी निश्चित कर दी गई। सूत्र कालीन चार आश्रम (१) ब्रह्मचारी, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ तथा (४) सन्यास थे। इन आश्रमो के नियम तथा विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **ब्रह्मचारी**—इस आश्रम जीवन मे 'आचार्य कुलवसनम्' अर्थात आचार्य के यहाँ रहना था। यह प्रवास दो प्रकार का था। पहला, गुरुदक्षिणा देकर घर लौटना (उपकुर्वाण), तथा दूसरा, जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत लेकर विद्याध्ययन करना (नैष्ठिक)।

(२) **गृहस्थ**—'उपकुर्वाण' के पश्चात विवाह करके गृहस्थ बना जाता था। गृहस्थ जीवन मे तीन ऋणो से मुक्ति पानी थी। यज्ञ द्वारा देव ऋण से मुक्ति, सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति तथा पर्व के दिनो मे ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा ऋषि ऋण द्वारा मुक्ति। मोटे तौर पर गृहस्थ के कार्यों में यज्ञ, अध्ययन, दान देना तथा वंश वृद्धि करना था।

(३) **वानप्रस्थ**—वानप्रस्थ आश्रम के अनुसरणीय नियम थे—(i) वस्तुओ का संग्रह न करना, (ii) ब्रह्मचारी रहना, (iii) वर्ष से अधिक एक स्थान पर स्थिर न रहना, (iv) केवल भिक्षा के लिये ग्राम मे प्रवेश करना, (v) शरीर ढकने के लिये कौपीन धारण करना, (vi) अहिंसक रहना, (vii) वर्षा ऋतु के बाद किसी गाँव मे दो रात से अधिक विश्राम न करना, (viii) उदासीन वृत्ति रखना।

(४) **सन्यास**—आपस्तम्ब ने सन्यासी के अनुसरणीय नियमो की व्याख्या करते हुये लिखा है—"सत्य और अनृत्य, सुख और दुख, वेद, इह लोक तथा परलोक को त्यागकर केवल आत्मा की जिज्ञासा करने वाला ही सन्यासी होता है।" सूत्र साहित्य मे सन्यासी को भिक्षु, परिव्राजक, यदि, मौन, वैखानस आदि नामो से सम्बोधित किया है। इस आश्रम के अन्तर्गत सन्यासी संसार से विरक्त, अहिंसक, व्रती, सत्यनिष्ठ, क्रोधहीन तथा क्षमाशील होता था। बौधायन के अनुसार सन्यासी को पाँच, सात या १० गृहस्थों के द्वार पर भिक्षा माँगनी चाहिये।

विद्या तथा शिक्षा

उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रवेश होते ही विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ हो जाता था। सामान्य रूप से जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष विद्याध्ययन के लिये निश्चित कर दिये गये थे। फिर भी अनेक प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि अनेक ब्रह्मचारी आयुपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत लेकर (नैष्ठिक) विद्याध्ययन करते थे। ब्रह्मचर्य जीवन अनुशासनबद्ध होता था। अतः विद्यार्थी जीवन मे

व्यक्ति को अपना संयमित सर्वांगीण विकास करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता था। निश्चय ही २५ वर्ष तक आचार्य अथवा गुरु के चक्षुछत्र के नियन्त्रण में रहने वाला छात्र जीवन के वास्तविक गुणों से परिचित हो जाता था। भोजन, वस्त्र, उपहास, स्त्री सम्पर्क, शयन आदि नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था। मानसिक तथा शारीरिक विकास की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था। शिक्षा मौखिक थी तथा पाठो को समझकर कंठाग्र किया जाता था। प्रातः काल पक्षियों के कलरव के साथ ही गुरुकुलो मे ब्रह्मचारियों के वेद स्वर गूँज उठते थे। वेद, गणित, व्याकरण, ज्योतिष, ब्रह्मविद्या, सैन्य-शिक्षा, भूत विद्या तथा देवजन विद्या आदि प्रमुख विषय थे। विशिष्ट अवसरो पर धर्म चर्चा, वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ का आयोजन किया जाता था। ब्रह्मचर्य अथवा विद्यार्थी जीवन मे नियमोल्लंघन तथा अपराधों के लिये कड़ा दण्ड दिया जाता था। शिक्षा-विधि की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र के अनुसार दीक्षान्त समारोह मे शिष्य स्नातक घोषित किया जाता था। 'स्नातक' नाम की संज्ञा का जन्म समावर्तन के समय विधिपूर्वक किये जाने वाले स्नान के कारण हुआ। स्नातक तीन प्रकार के होते थे—विद्याव्रत स्नातक, विद्यास्नातक तथा व्रत स्नातक।

आपस्तम्ब तथा बौधायन ने शिक्षा विषयो तथा विद्या प्रचार के विषय मे दो रोचक बातें कही थी। आपस्तम्ब के अनुसार 'वह ज्ञान जो लोक परम्परा से स्त्री तथा शूद्रो मे व्याप्त है—विद्या की अन्तिम सीमा है।' प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब के इस कथन का अभिप्राय उस ज्ञान से है जो लोकगीतो, परम्पराओं तथा मान्यताओ के रूप मे स्त्रियो तथा छोटी जातियों मे उपस्थित था अर्थात लोक साहित्य मे था। विद्या की ऊपरी सीमा वेद तथा नीचे की सीमा यह लोक साहित्य था। बौधायन के अनुसार अनेक अध्यापक ब्राह्मण नहीं थे। आश्वलायन गृह्य सूत्र मे इसका उल्लेख है कि स्त्रियो का भी समावर्तन संस्कार होता था। हरित के अनुसार स्त्रियो का भी उपनयनसंस्कार होता था परन्तु उनकी शिक्षा घर पर ही होती थी।

आर्थिक जीवन

कृषि और पशुपालन—अन्य कालो की भाँति, सूत्र काल में कृषि आर्थिक जीवन की आधार शिला थी। व्यक्ति की धनाढ्यता का अनुमान उसकी कृषि समृद्धता के आधार पर लगाया जाता था। सांख्यायन गृह्यसूत्र द्वारा कृषि मे प्रयुक्त विधियो का पता चलता है। हल चलाने के लिए बैलो का प्रयोग किया जाता था। कृषि सम्बन्धी कार्य सम्पादन में मन्त्रो द्वारा आहुतियाँ दी जाती थी। चावल तथा जौ मुख्य उत्पादन थे। बंजर भूमि तथा परती भूमि छोड़ने के उल्लेख भी मिलते हैं। बैल तथा गायो को विशेष महत्व प्राप्त था। भेड़, बकरी, घोड़े तथा गधे भी पाले जाते थे। घोड़ो तथा बैलो को भार वाहक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता था। भेड़ के बालो से ऊन बनाई जाती थी। पशुओं के चमड़ो द्वारा अनेक उपयोगी उपकरण बनाये जाते थे। भैंस तथा महिष (भैंसा) भी क्रमशः दूध देने तथा भारवाहक पशुओ के रूप मे पाले जाते थे।

उद्योग, व्यवसाय और व्यापार—गृह उद्योगो का पर्याप्त विकास हो चुका था परन्तु किसी बड़े कारखाने या उद्योगशाला के उल्लेख अप्राप्य हैं। गृह उद्योगो के अन्तर्गत मिट्टी के बर्तन बनाना, कुशा के आसन, चटाई, पर्दे इत्यादि बनाना, लकड़ी के उपकरणो का निर्माण, सिल, प्याले, भाले, बरछी, तीर बनाना आदि थे। वस्त्रव्यवसाय मे पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। रेशम के कीड़े पाले

जाते थे, इससे रेशम प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त सूती, ऊनी तथा तिनेल के वस्त्र बनाये जाते थे। वस्त्रो को आकर्षक रूप छटा देने के लिये विभिन्न रंगो द्वारा रंगाई तथा छपाई की जाती थी।

सूत्र काल की आर्थिक दशा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इस समय स्वर्ण, चाँदी, लोहे, तांबे, पीतल, सीसा आदि धातुओ का बहुत अधिक प्रयोग किया जाने लगा था। धातु मिश्रण द्वारा अनेक उपयोगी घरेलू उपकरण—जिनमे बर्तन आदि थे—बनाये जाते थे। इसके अतिरिक्त धातुओ द्वारा बरछो, भाले, तीर, मुग्दर आदि युद्धोपयोगी उपकरण भी बनाये जाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि धातु व्यवसाय पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था।

कर्मगत वर्ण व्यवस्था के अनुसार व्यापार वाणिज्य वैश्यो द्वारा किया जाता था। व्यापार मे लाभ होने के लिये 'पाण्ड्य सिद्धि' नामक संस्कार किया जाता था। सूत्र ग्रंथों मे नावो तथा नदियो का तो उल्लेख मिलता है परन्तु बन्दरगाहों या समुद्रिक नावो के उल्लेखो का अभाव है। दक्षिण भारत मे शास्त्रास्त्र, ऊन का व्यापार और समुद्र यात्रा को निंद्रित समझा जाता था। समुद्र यात्रा करने से मनुष्य पतित हो जाता था।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि समुद्रिक मार्ग से व्यापार होने का अभाव था तथा वैदेशिक व्यापार भी बहुत ही सीमित था।

धार्मिक जीवन

सूत्र कालीन धार्मिक जीवन मे पूर्वकाल की अपेक्षा कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड को मान्यता प्राप्त थी हाँ, अब उसका नियमन तथा व्याख्या अवश्य की गई। अभी भी यज्ञ धार्मिक जीवन के प्रमुख अंग थे। श्रौत सूत्रो मे वैदिक यज्ञो को प्रमुखता प्राप्त है। गृह्य सूत्रो मे पंच महायज्ञ, गृह्य संस्कार तथा ऋतु यज्ञ का उल्लेख मिलता है।

सूत्रकाल मे अनेक नये देवी देवताओ का भी जन्म हुआ। इनमे रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, शर्वाणि तथा भवानी की कल्पनाएँ प्रमुख है। इस देव समूह के कारण शैव सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव भी इसी काल मे हुआ था। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' से पता चलता है कि 'वासुदेव' नामक देवता की उपासना की जाती थी। वासुदेव उपासना के कारण वासुदेव सम्प्रदाय का जन्म हुआ। मूर्तिपूजा की मान्यता बढ़ने लगी। सार्वजनिक देवालयो की स्थापना का क्रम प्रारम्भ हो गया। लोग शुभ अशुभ, पाप पुण्य, स्वर्ग और नरक की कल्पना करने लगे थे। शुभ परिणाम की प्राप्ति, पाप से प्रायश्चित तथा स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा के लिये अनेक संस्कार तथा यज्ञ किये जाते थे। अनेक व्यक्ति निवृत्ति मार्ग मे विश्वास रखते थे। ब्रह्मज्ञान, तत्व ज्ञान तथा आत्म ज्ञान की खोज, गहन चिन्तन इस मार्ग की प्रमुख विशेषता थी। अनेक सन्यासी संसार से उदासीन होकर आत्मचिन्तन तथा तप करते थे।

प्रतीत होता है कि अनार्यों ने आर्य धर्म को कई रूपो मे प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। यक्ष, गन्धर्व, राक्षस तथा सर्प उपासना का प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी परन्तु इसका प्रभाव मुख्यत: निम्नवर्ग तथा बौद्धिक चेतना रहित वर्ग पर अधिक पड़ा।

सूत्रकाल का सांस्कृतिक महत्व

गौतम का धर्मसूत्र उत्तर भारत मे, उसके बाद बौधायन धर्मसूत्र दक्षिण भारत में, तत्पश्चात

---

१. बौधायन—२।१।२।२.

आपस्तम्ब का धर्म सूत्र आन्ध्र प्रदेश मे तथा वशिष्ठ का धर्मसूत्र उत्तर भारत में रचा गया प्रतीत होता है। देश काल तथा चरण के भेदों के कारण इन धर्म सूत्रो में साधारण सा भेद है परन्तु सिद्धान्त की समानता है। "धर्मसूत्रो की तुलना से सिद्ध होता हे कि अब सारे देश मे एक ही सभ्यता का राज्य था, एक ही तरह के धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्त और व्यवहार प्रचलित थे, एक ही तरह का राजनैतिक सगठन था।"[१] सिद्धान्त तथा व्यवहार की एकता का भारतीय क्षेत्र में विस्तृत प्रसार होना, इस बात का निश्चितीकरण करता है कि अब भारतीय संस्कृति की एकरूपता तथा उसके विशिष्ट गुणो का चरम विकास होना प्रारम्भ हो गया था।

प्रतीत होता है कि सूत्रो मे ग्रामीण जीवन का विवरण है नगर जीवन का नही। आपस्तम्ब मे उल्लेख हे 'उसे चाहिये कि नगरो मे न जाए।'[२] बौधायन में लिखा है "जो धूल वक्कड़ से भरे हुए नगर मे रहता है, उसे मोक्ष पाना असम्भव है।" आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्मसूत्रों से यह भी संकेत मिलता हे कि किन्ही विपयो मे जीवन का दृष्टिकोण सीमित हो गया था। समुद्र यात्रा, विदेश यात्रा और म्लेच्छो की भापा सीखने का निपेध इसके प्रमाण हैं।[३] यह सब होते हुए भी यह युग सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूत्र ऐसी जाति के दर्शन, धर्म, समाज, अर्थ एवं राजनीति को एक सूत्र मे पिरोते है जिसने अब तक एक लम्बी दूरी तय कर ली तथा आने वाले समय का सामना करने के लिये कुछ देर को ठहर गई थी। कर्मकाण्ड आदि की जटिलता ने जो अन्तर्विरोध पैदा कर दिया था उसको दूर करके तथा आर्य प्रणाली का पुनर्गठन करके सूत्रकाल ने वैदिक धर्म में नये प्राण फूँक दिये। तत्कालीन समाज को व्यवस्थित तथा सुसंगठित करके, सूत्रग्रन्थो ने जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त एवं उसके पश्चात मरणोत्तर जीवन तक की दिशायें तथा दशाएँ निश्चित कर दी। सामाजिक प्रथाओ तथा व्यवहारो का निरूपण करके उन्हे नियमबद्ध कर दिया गया। समाज, अर्थ, धर्म, राजनीति की व्यवस्थाओ के नियमन, निर्धारण तथा निश्चित कर दिये जाने के कारण इस युग ने भारतीय सस्कृति को विशेष योगदान किया।

पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' में वर्णित सभ्यता तथा संस्कृति

प्रथम सूत्र ग्रंथ वेदाग से सम्बन्धित थे। वेदांग में ६ विषय थे—कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' व्याकरण ग्रंथ है। पाणिनि ने जिन ग्रंथो का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, छन्द, कल्पसूत्र, व्याख्यान, गाथा, कथा तथा महाभारत। प्रायः यह माना जाता हे पाणिनी ५०० ई० पू० में हुए थे। गोल्डस्टूकर महोदय के अनुसार पाणिनि केवल तीन वैदिक संहिताओ तथा यास्क और निरूक्त से परिचित थे। परन्तु यहाँ पर हम इस विवाद में न पड़ कर, पाणिनीय भारत की सभ्यता का ही वर्णन उचित समझते हैं। 'अष्टाध्यायी के आधार पर इस सभ्यता की विशेषताओ का वर्णन निम्नलिखित हे।

पाणिनी के भौगोलिक ज्ञान की सीमाएँ पूर्व मे कलिंग, पश्चिम मे सिन्ध और कच्छ, उत्तर में तक्षशिला तथा स्वात नदी के प्रदेश एवं दक्षिण में अस्मक (गोदावरी तट पर स्थित) तक विस्तृत

१. हिन्दुस्तान की पुरानी सम्ययता' डा० वेनी प्रसाद। २. आपस्तम्ब २।३।६।
३ आपस्तम्व १।३।२।१८ तथा वसिष्ठ ६।४१।

थी। उसने बाइस विभिन्न राज्य अथवा जनपदो का उल्लेख किया है जिनमे कैकय, गन्धार, कम्भोज, मद्र, अवन्ति, कुरु, साल्व, कोसल, भरत, उशीनर, यौधेय, वृजि और मगध आदि हैं। इनके अतिरिक्त प्राच्य जनपदो का भी उल्लेख है जिनमे पाचाल, विदेह, अंग और वंग सम्मिलित हैं। पाणिनि के ग्रन्थ में दक्षिण भारत का उल्लेख बहुत ही मिलता है।

राजनीति और प्रशासन

पाणिनी ने जिन राज्यो का उल्लेख किया है उनके नाम उनमे रहने वाले क्षत्रियो के नाम पर पड़े थे। क्षत्रिय शासक 'जनवादिन' कहलाते थे। एक ही जनपद के निवासी 'सजनपदा' कहे जाते थे।[1] जनपद का प्रतिनिधि उसका शासक राजा था। भिन्न-भिन्न जनपदो की सीमाएँ सुनिश्चित थी। प्रत्येक जनपद मे विषय, नगर तथा ग्राम थे। तत्कालीन भारत मे राजतन्त्र तथा गणतन्त्र शासन पद्धतियाँ प्रचलित थी। राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। उनको मन्त्रणा देने के लिये मन्त्रिपरिषद राजसभा होती थी। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये अनेक विभाग होते थे जिसके प्रमुख अधिकारी को अध्यक्ष कहा जाता था। सामान्य अधिकारी 'युक्त' कहलाते थे। सैन्य शक्ति मे पदाति, अश्वारोही, गजारोही तथा रथारोही होते थे। पाणिनि ने ऊँटो तथा खच्चरो की सेना टुकड़ियो का भी उल्लेख किया है। न्याय व्यवस्था सुसंगठित थी। सामान्य झगड़ो का निर्णय 'मध्यस्थो' द्वारा किया जाता था।

गणतन्त्रात्मक राज्यो का शासन संघात्मक पद्धति पर आधारित था। प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा होता था। विभिन्न कुलो के राजाओ की 'संघ सभा' होती थी। सम्पूर्ण संघ के प्रमुख को 'संघ मुख्य' कहा जाता था। शासकीय कार्यों के सुचारु संचालन हेतु 'संघपरिषद' का गठन किया जाता था। संघ शासन में राजनैतिक दल भी होते थे जो वर्ग कहलाते थे तथा इनका नामकरण नेता के नाम पर होता था—जैसे अन्धकवृष्णि संघ मे वासुदेववर्ग तथा अक्रवर्ग।

आर्थिक जीवन

'अष्टाध्यायी' के उल्लेखो से समृद्ध आर्थिक जीवन का पता चलता है। समाज का एक वर्ग वेतन द्वारा जीवकोपार्जन करता था। सरकारी कर्मचारी जिनमें अध्यक्ष तथा 'युक्त' सम्मिलित थे—इसी श्रेणी मे आते थे। आयुध-जीविका अर्थात सैनिक, वृत्ति या मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिक, 'परिक्रयण' अर्थात तय की गई शर्तों पर काम करने वाले ठेकेदार आदि का उल्लेख मिलता है। वेतन मुद्रा तथा सामग्री के रूप में दिया जाता था। क्रय, विक्रय के आधार पर दुकानदारी का उल्लेख किया गया है। कृषिकर्म में हल का प्रयोग तथा जोतने-बोने की विधियो का भी उल्लेख मिलता है। ब्रीहि, शालि, जौ, साठी, तिल, उड़द, अलसी, सन इत्यादि बोये जाते थे। गोणी (बोरी) आवाय (करघा) तथा प्रवाणि (ढरकी या कंघी) आदि के उल्लेख से कताई-बुनाई के शिल्प का पता चलता है। वस्त्रों को रंगने के लिये नील, लाख, गोरोचना, कर्दम तथा मिट्टी के ठीकरो से बनने वाले रंगो का उल्लेख किया गया है। कुम्हार को कुलाल कहा जाता था। इन शिल्पियो के अनेक संगठन भी थे। जैसे ग्राम शिल्पियो को ग्राम तथा ठेकेदारों को कटौतक्षा कहा जाता था। राज्य की आय का प्रमुख साधन शुल्क या चुगी थी। शराब बनाने की भट्टी को आसुति तथा भभके को

---

१. अष्टाध्यायी—४।३।१००; ६।३।५८।

शुण्डिका कहा जाता था। नाप-तौल के विविध आकार प्रकार थे, जैसे पात्र, शतमान, खारी, आढक, आचित, पुरुष, दिष्टि तथा वितस्ति। मुद्राओ के अनेक नामो का उल्लेख भी मिलता है—जिनमें कार्षापण, निष्क, पण, पाद तथा शाण आदि थे।

सामाजिक जीवन

पाणिनीकृत अष्टाध्यायी मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजन्य, वैश्य, आर्य तथा दो शूद्र समुदायों—यथा अनिर वासित और निरवसित आदि के उल्लेखो से प्रकट होता है कि उस समय चतुर्वर्ण को व्यवस्था कठोर होने लगी थी। 'ब्रह्मचारी' तथा 'ब्रह्मचर्य', 'गृहपति', 'स्नातक' तथा 'भ्रमण' आदि शब्दो के प्रयोग से ज्ञात होता है कि चतुर्राश्रम व्यवस्था विद्यमान थी। 'अष्टाध्यायी' द्वारा संयुक्त पारिवारिक प्रणाली का पता चलता हे। परिवार पितृप्रधान था परन्तु अब माता को भी पर्याप्त सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। 'मातामह' शब्द का प्रयोग 'पितामह' से पहले करना माता की स्थिति को इंगित करता है। समाज मे बहुसंख्यक गोत्र थे तथा प्रत्येक गोत्र का आदि पुरुष कोई न कोई ऋषि माना जाता था। परिवार राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन की इकाई था। अविवाहित कन्या को 'कुमारी' तथा विवाह योग्य कन्या को 'वर्या' कहा गया है। कतिपय स्त्रियों के आजीवन अविवाहित रहने, स्वयंवर की प्रथा प्रचलित होने तथा अनेक युवतियो द्वारा पति के वरण के उल्लेखों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओ का अनुमान होता हे। स्त्रियो की उच्च शिक्षा तथा अध्ययन कार्य करने का भी उल्लेख है। पाणिनी ने 'अतिथेय' तथा 'आतिथ्य' शब्दो का प्रयोग किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि अतिथि का सत्कार तथा सम्मान किया जाता था। 'तूल' (कपास), 'औणिक' (ऊनी वस्त्र), 'कोषेय' (रेशमी वस्त्र) आदि शब्दो के प्रयोग के कारण हम यह कह सकते हैं उस समय प्रयुक्त होने वाले वस्त्रो मे विविधता थी। 'अष्टाध्यायी' मे प्रयुक्त 'उप सव्यान' (धोती), 'नीवी' (कमर मे बाँधने का फेटा) के अतिरिक्त 'उत्तरीय', 'अन्तरीय', 'उपानह' (जूते) आदि शब्द तत्कालीन वेशभूषा का परिचय देते हैं। आभूषणो मे 'ग्रैवेयक' ललाटिका, 'कर्णिका' तथा 'मंगलीय' आदि प्रमुख थे। 'केशवेष' शब्द से स्पष्ट होता है कि उस समय केश विन्यास की प्रथा थी।

पूर्ववर्ती खाद्यान्नो का प्रयोग अभी भी होता था। 'ओदन' (चावल), 'मासोदन' (मास और चावल का पुलाव), 'अयूप' सयाव (हलुआ), 'यवाग' (जौ की लपसी), 'मन्थ' (धान का सत्तू), 'पल्ल' (तिलकुट), 'श्राणा' (तरकारियाँ) आदि शब्दो की प्राप्ति 'अष्टाध्यायी' से होती है। इनसे तत्कालीन खानपान की विविधता का पता चलता है।

वैदिक काल मे प्रचलित 'द्यूत' अभी भी प्रचलित था। यह 'प्रक्षो' द्वारा खेला जाता था। 'समज्या' नामक उत्सव मे विभिन्न खेलकूदो का आयोजन किया जाता था। सगीत नृत्य का भी प्रचलन था। 'अष्टाध्यायी' मे 'प्राच्य' देश की क्रीडाओं का उल्लेख हे जिनके अन्तर्गत शालभंजिका, उद्दालक, पुष्पभंजिका आदि खेल के प्रकार हैं। शरीरिक क्षमता वाले पुरुष मल्लयुद्ध करते थे।

धर्म

अष्टाध्यायी में इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, वायु, सोम, रुद्र, उषा, पृथ्वी आदि देवी-देवताओ के उल्लेख से बहुदेववाद के प्रचलन का अनुमान लगाया जाता है। वासुदेव के उपासक को 'वासुदेवक'

तथा अर्जुन के उपासक को 'अर्जुनक' कहा जाता था। पाणिनि द्वारा रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी आदि के उल्लेख से प्रकट होता है कि अब इनकी प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। यह शैव-सम्प्रदाय के विकास का प्रमाण है। अष्टाध्यायी से यह भी स्पष्ट होता है कि अब अनार्य पूजा पद्धतियाँ—यथा गन्धर्व-पूजा, राक्षस पूजा, सूर्य पूजा आदि का प्रचलन आर्यों मे भी हो गया था। पाणिनि ने यज्ञ देवता के रूप मे शेवल, सुपरि तथा विशाक का उल्लेख किया है। पाणिनि के वर्णन से यह भी पता चलता हे कि अब मूर्ति पूजा की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। अनेक दूकानो पर मूर्तियाँ बेची जाती थी। यज्ञो का भी पर्याप्त प्रचलन था। भक्ति सम्प्रदाय की भावना भी पनप रही थी। 'ज्योतिष विद्या' तथा 'लक्षण फल' मे आस्था थी। पाणिनि ने तप, शम, दम, विवेक आदि नैतिक गुणो का भी वर्णन किया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. सूत्रकालीन संस्कृति से आप क्या समझते हैं? तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का उल्लेख कीजिये।

२. सूत्रकालीन संस्कृति और वैदिक संस्कृति का भेद स्पष्ट कीजिये।

३. पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' के आधार पर तत्कालीन संस्कृति का वर्णन कीजिये।

अध्याय छह

महाकाव्यों के युग की संस्कृति

पूर्वाभास

पिछले अध्याय मे हमने वेदागों तथा सूत्र साहित्य में वर्णित विषयो के आधार पर तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का मूल्यांकन किया। यह सभ्यता अपने मूल्यो तथा आदर्शों में उससे पूर्व की सभ्यता से कुछ भिन्न थी। अव हम महाकाव्यों के युग की सभ्यता का विहंगावलोकन करेंगे।

महाकाव्य कालीन सभ्यता और संस्कृति का सम्वन्ध रामायण और महाभारत मे वर्णित विषयों से है। भारतीय इतिहास मे इन दोनों ग्रंथो का उतना ही महत्व है जितना यूनानियो के लिये 'इलियड' तथा 'ओडेसी' का है। वल्कि यह भी कहा जा सकता है कि विषय विविधता, भाषा-शैली और सामाजिक विवरणो की विस्तृता के कारण ये दोनो महाकाव्य यूनानी महाकाव्यो से भी अधिक महत्वपूर्ण और रोचक है।[१]

रामायण तथा महाभारत का रचना काल

रामायण तथा महाभारत की रचना क्रमशः किसी एक रचनाकार द्वारा अथवा युग मे नही हुई थी। इनकी रचना विभिन्न युगो मे हुई होगी। रूढ़िवादी हिन्दुओ की मान्यता है कि रामायण त्रेता युग तथा महाभारत द्वापर युग की रचनाएँ है। अनेक इतिहासकारों की मान्यतानुसार इन महाकाव्यों का रचनाकाल वैदिक युग तथा बुद्ध धर्म के समय के बीच मे स्थित है। कतिपय विद्वान इन दोनो महाकाव्यो का काल सूत्रो के रचनाकाल के समकक्ष मानते हैं। डा० विण्टरनिट्ज का विचार है कि वाल्मीकि ऋषि ने रामायण की रचना तीसरी शती ई० पू० में पुरातन लोक गीतो के कथानको के आधार पर की थी।[२] पार्टीजर महोदय के अनुसार महाभारत का युद्ध ई० पू० ९५०

1. "I do not know of any books anywhere which have exercised such a continuous and pervasive influence on the mass mind as these two. Dating back to a remote antiquity they are still a living force in the life of Indian people." —'डिसकवरी आफ इण्डिया'—प० जवाहर लाल नेहरू।

२. 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर'—डा० विण्टरनिट्ज।

के लगभग हुआ था।[1] डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार रामायण मे जिस भौगोलिक स्वरूप का वर्णन किया गया है उसके आधार पर यह महाभारत से प्राचीन प्रतीत होती है। वाल्मीकि रामायण मे प्रमुखतः विन्ध्य पर्वत शृखलाओ का विवरण मिलता है जब कि महाभारत मे दक्षिण भारत के उन राजाओ का भी वर्णन है जो युद्ध मे भाग लेने आये थे। पाणिनि का महाभारत से परिचय था।[2] डा० वेनी प्रसाद के अनुसार "सूत्रो के आसपास हिन्दुस्तान के दो बड़े इतिहास काव्य—रामायण तथा महाभारत—रचे गये।...... महाभारत की मुख्य काव्य कथा का बीज तो ब्राह्मण ग्रंथों मे मिलता है......पर कथा ने वर्तमान रूप ई० पू० ४००-२०० मे ग्रहण किया।........महाभारत की तरह इसकी (रामायण) रचना भी धीरे-धीरे अनेक कवियो के द्वारा अनेक समयो मे हुई। मुख्य रचनाकाल ई० पू० ५००-२०० जान पड़ता है।"[3]

महाभारत मे रामोपाख्यान तथा रचयिता वाल्मीकि का नाम मिलता है जब कि रामायण मे महाभारत का कोई उल्लेख, वर्णन या कथानक अप्राप्य है। रामायण मे वर्णित भारत की भौगोलिक सीमाएँ सीमित है जबकि महाभारत के भारत की सीमाएँ पर्याप्त विस्तृत हैं। इन आधारों पर रामायण महाभारत की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानी गई है।

रामायण के रचना काल के विषय मे जैकोबी महोदय कहते है कि रामायण के मूल काण्ड पाँच है तथा प्रथम एव सप्तम काण्ड बाद मे जोड़े गये। वाल्मीकि रामायण के द्वितीय से लेकर पंचम काण्ड तक मे राम को महान पुरुष कहा गया है परन्तु प्रथम एवं सप्तम काण्ड मे उन्हे ईश्वर का अवतार माना गया है। इसी आधार पर वे रामायण के प्रथम तथा सप्तम काण्ड को बाद मे की गई रचना मानते है। उनकी मान्यता है कि रामायण के मूल अंश की रचना ६०० ई० पू० में हुई थी।[4] कुछ अन्य विद्वान जिनमे वेबर महोदय प्रमुख हैं—रामायण को बुद्ध काल के बाद की रचना मानते है। परन्तु रामायण मे किसी भी स्थान पर न तो महात्मा बुद्ध का नाम ही मिलता है और न ही उनके मत का दृष्टान्त ही मिलता है। सभी साक्ष्यो को ध्यान मे रखते हुए यह माना जा सकता है कि रामायण की रचना ६०० ई० पू० के लगभग हुई थी।

महाभारत का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वालायन गृह्य सूत्र मे मिलता है पर इस सूत्र का रचना काल अभी तक निश्चित नही हो पाया है। मैकडोनल्ड महोदय के अनुसार महाभारत का रचनाकाल ५०० ई० पू० तथा विण्टर निट्ज महोदय के अनुसार यह ४०० ई० पू० के लगभग रची गयी थी। इस विषय पर उल्लेखनीय बात यह है कि महाभारत मे रामायण का उल्लेख है अतः यह रामायण के बाद की रचना सिद्ध होती है। अनेक साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर भण्डारकर महोदय ने महाभारत का रचनाकाल ५०० ई० पू० के लगभग निश्चित किया है।

रामायण तथा महाभारत किसी एक युग की रचना प्रतीत नही होती। प्रतीत होता है कि महाकाव्य युग की सभ्यता किसी एक राज्य, काल, जाति अथवा वर्ग की सम्पदा नही है, इसके सांस्कृतिक कण चारो ओर बिखरे हुये थे, जिन्हे एकत्र करके महाकाव्य का रूप दे दिया गया है।

---

१. 'एशियन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन'—पार्टीजर।
२. 'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधा कुमुद मुखर्जी।
३. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद।
४. 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर'—जैकोबी।

वैदिक युग के बाद की तथा बौद्ध युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिये इन दो महाकाव्यों से बढ़कर साधन हमारे पास नहीं हैं।

राजनैतिक अवस्था

महाकाव्य युग की राजनैतिक दशा कुछ विच्छिन्न सी थी। छोटे-छोटे अनेकानेक राज्य थे। कतिपय राज्य तो इतने छोटे थे कि उनमें केवल एक 'जन' ही निवास करते थे। उदाहरण के लिये इक्ष्वाकु वंश के राजा केवल कौशल जन के स्वामी थे। इस काल के राज्यों का स्वरूप बहुत कुछ प्राचीन यूनान के 'पोलिस' अथवा इटली के 'सिविटास' नगर राज्यों की भाँति था। महाभारत में सर्वप्रथम भारत या भारतवर्ष शब्द मिलता है। इससे प्रकट होता है कि अब देश में एकता का भाव आ रहा था।

अब राजनैतिक अनेकता परोक्षरूप से एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दे रही थी जिसके अन्तर्गत देश में किसी राजनैतिक एकसूत्रता की स्थापना की जा सके। कुछ शक्तिशाली राज्य अपना प्रभुत्व जमाने के लिये प्रसार का प्रयत्न कर रहे थे। योग्य, शक्तिशाली तथा उत्साही राजाओं ने अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ करके साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया। अब इसके लिये अश्वमेध यज्ञ भी किया जाने लगा। रामायण में ऐसे अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख है। परन्तु इस काल की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का रूप कुछ अनोखा था। प्रायः विजित राज्य को उसकी सत्ता लौटा दी जाती थी परन्तु फिर भी उसे अधीन माना जाता था। प्राच्य देश में साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत विजित राज्य के शासक को बन्दी बना लिया जाता था तथा उसके सम्पूर्ण राज्य को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया जाता था।

राजा—महाभारत के अनुसार राजा का प्रमुख कर्त्तव्य धर्म-शास्त्रों के अनुसार शासन करके प्रजा का हित साधन तथा लोकरंजन करना था। राजा को अग्निरूप, सूर्यरूप, कुबेररूप, यमरूप आदि माना जाता था। जो धर्मानुसार आचारण करे—उसी को श्रेष्ठ राजा माना जाता था।[1] राजा प्राणियों का रक्षक तथा विनाशक होता है, जब वह धर्मात्मा होता है तो प्रजा की रक्षा तथा अधर्मी होकर प्रजा का विनाश करता है। यदि राजा विधिवत शासन नहीं करता तो राज्य की अकाल मृत्यु हो जाती है।[2] राजा का पद बहुधा वंशानुगत था पर नये राजा के लिये जनता की स्वीकृति लेनी होती थी।[3] कई अवसरों पर प्रजा आन्दोलन द्वारा राजा पर बड़ा प्रभाव डालती थी।[4]

रामायण में राम भरत को उपदेश देते हैं कि "तुम तीन अथवा चार मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करना।" शासकीय कार्य के संचालन हेतु कई मन्त्री होते थे जो राजा के असमर्थ होने पर राजभार भी धारण कर लेते थे।[5] महाभारत के अनुसार 'जिस प्रकार पशु मेघों पर, ब्राह्मण वेदों पर तथा स्त्री पति पर आश्रित होती है, उसी प्रकार राजा अपने मन्त्रियों पर निर्भर होता है।' दोनों ही महाकाव्यों में हमें 'अमात्य', 'मन्त्रिन्' तथा 'सचिव' शब्द मिलते हैं परन्तु इनके अर्थों का अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका है। प्रतीत होता है कि इस समय मन्त्रिपरिषद तथा मन्त्रिमण्डल जैसे संगठनों का जन्म हो चुका था। मन्त्रिपरिषद अन्तरंग संस्था रही होगी तथा इसमें अति विश्वसनीय मन्त्री रखे जाते होंगे। आमात्य का पद अपेक्षाकृत कम महत्व का तथा सचिव मन्त्रियों के अन्तर्गत कार्य

---

१. शान्ति पर्व। २. शान्ति पर्व। ३. उद्योग पर्व। ४. आदि पर्व। ५. बाल काण्ड ७।

करते रहे होगें। पुरोहित को राजकीय पदाधिकारियो में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। राजा के योग-क्षेम तथा राज्य के विशिष्ट मामलो मे वह राजा को विशेष परामर्श देता था। वस्तुतः वह राजा एवं मन्त्रि परिषद के मध्य की कड़ी के रूप मे था।

रामायण मे १८ राजकीय पदाधिकारियो का उल्लेख किया गया है—(१) मन्त्री, (२) पुरोहित (३) युवराज, (४) सेनापति, (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वेदिक, (७) कारागाराधिकारी, (८) द्रव्य संचयकृत, (९) कृत्याकृत्येषु चार्थाना विनियोजक, (१०) प्रदेष्टा (न्यायाधीश), (११) नगराध्यक्ष, (१२) कार्य निर्माणकृत, (१३) धर्माध्यक्ष, (१४) सभाध्यक्ष, (१५) दण्डपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) राष्ट्रान्तपालक, (१८) अटवी पालक।[1]

सेना की व्यवस्था—वाह्य आक्रमण, आन्तरिक सुरक्षा तथा अन्य राज्यों पर आक्रमण करने के लिये सुसंगठित सेना थी। सेना के चार विभाग थे तथा इनके संयुक्त नाम—'चतुरंगिणी सेना' का उल्लेख रामायण तथा महाभारत मे मिलता है। पदाति (पैदल), अश्वारोही (घुड़सवार), गजारोही (हाथी पर सवार) तथा रथी (रथ पर सवार) सैन्य संगठन के अंग थे। सेना के अनेक छोटे पदाधिकारी भी होते थे, परन्तु मुख्य पदाधिकारी सेनापति तथा सर्वोच्च सैन्य संचालक स्वयं राजा होता था। युद्धो मे अनेक प्रकार के व्यूह रचे जाते थे। महाभारत मे अभिमन्यु को चक्रव्यूह मे घुसने का ज्ञाता बताया गया है परन्तु इससे बाहर निकलने के तरीके से वह अनभिज्ञ था। युद्ध के अनेक नियम थे। शस्त्रहीन, कवचहीन, भयग्रस्त, नपुसक, अप्रशस्त तथा स्त्री पर शस्त्र प्रहार करना या उससे युद्ध करना नियम विरुद्ध तथा निन्दनीय था। सूर्यास्त के पश्चात् युद्धबन्दी हो जाती थी तथा चिकित्सक बेरोक-टोक किसी भी युद्धरत दल मे घायलो की चिकित्सा तथा कुशल क्षेम के लिये जा सकता था।[2] युद्ध मे वीरगति प्राप्त सेनानी की विधवा पत्नी तथा आश्रितो को निवृत्ति (पेंशन) दी जाती थी। महाकाव्य काल मे प्रयुक्त किये जाने वाले शस्त्रो मे धनुष-बाण, तलवार, भाला, गदा, ढाल, कवच, शिरस्त्राण, फर्सा, बरछी, चक्र आदि प्रमुख थे। महाभारत के महान सेनापतियों को अनेक प्रकार की 'शक्तियों' के प्रयोग का भी ज्ञान था। रामायण मे 'लक्ष्मण शक्ति' का उल्लेख है।

राजकीय आय—महाभारत के शान्तिपर्व मे राजा की कर प्राप्त करने की नीति का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार प्रजा से जमीन की पैदावार का छठवाँ भाग कर के रूप में लेना चाहिये। व्यापारियों पर आयकर लगाया जाता था। न्यायालय द्वारा दण्ड रूप मे अर्थदण्ड दिये जाने मे राज्य को अच्छी आय होती थी। धनसंकट के समय धनीवर्ग की सम्पत्ति का अधिकरण कर लेने का भी नियम था। ब्राह्मण कर मुक्त थे।[3] कर की अधिकतम सीमाएँ निश्चित थी। सभापर्व के अनुसार कर की मात्रा इतनी अधिक नही होनी चाहिये जिससे कि कर दाता का ही विनाश हो जाये। जो राजा अधिक कर लगाता था वह प्रजाद्वेषी कहलाता था। कर निर्धारण करते समय प्रजा को दुग्धदायिनी गाय के समान समझा जाता था।

शान्तिपर्व तथा सभापर्व मे इस बात का भी उल्लेख है कि कर प्राप्ति के बदले में राजा द्वारा प्रजा को कौन-कौन सी सुविधाएँ दी जानी चाहिये? यथा—"राजा को चाहिये कि वह कृषि के लिये नई जमीन को विकसित करे, तालाब, नहरें आदि बनवा कर वर्षा से निराश्रित करे,

---

१. अयोध्या काण्ड १००। २. शान्तिपर्व ६९।३४-४०; ५५।

३. शातिपर्व ८६।३-११; सभापर्व ४६!

अनावृष्टि आदि में कृषकों को तकावी दे, मार्ग तथा प्याऊ बनवाए, दस्युओं तथा लुटेरों का नाश करे, राजसूय यज्ञों पर खूब दान दे तथा राज्य मे समस्त सुविधायें प्रदान करे।" ये मात्र सिद्धान्त ही नही थे अपितु प्रत्येक शासक इस कर्त्तव्य पालन को अपना धर्म समझता था।

न्याय व्यवस्था—अपराध अपेक्षाकृत कम होते थे। दण्ड व्यवस्था कठोर थी तथा अनेक अपराधो के लिये सार्वजनिक स्थानो पर कोडे लगाकर या अन्य प्रकार की विधियों से अपमानित किया जाता था। न्याय करते समय परम्पराओं, सामाजिक आचार-विचार के नियमो, प्रमाणों, साक्ष्यो तथा प्रत्यक्षदर्शियो के बयानों आदि का सहारा लिया जाता था। अपेक्षाकृत छोटे अपराधो तथा मामलो का निपटारा ग्रामणी द्वारा पंचायत की सहायता से किया जाता था। न्याय का सर्वोच्च दाता राजा था तथा उसका निर्णय सर्वमान्य एवं अन्तिम होता था। स्वयं भगवान राम ने न्याय की मर्यादा को दृष्टि मे रखते हुए, अपनी प्रिय पत्नी सीता को लोक निन्दा के कारण वन मे भेज दिया तथा था इससे पूर्व लंका विजय के बाद ही उनकी अग्नि परीक्षा ली थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन राजाओ मे न्याय के उच्च आदर्शों के पालन की भावना थी तथा अग्नि परीक्षा, जल परीक्षा आदि विधियाँ भी प्रचलित थी।

कूटनीति—महाकाव्य युग मे हमें जिस कूटनीति प्रयोग की प्राप्ति होती है, वह वैदिक काल मे अप्राप्य थी। साम्राज्य का विस्तार प्रत्येक शासक का प्रमुख कर्त्तव्य था तथा इसके लिये सत्य, असत्य, साम, दाम, दण्ड, भेद का प्रयोग उचित ठहराया गया था। शान्तिपर्व आपद्धर्म में भीष्म पितामह ने कहा है कि शत्रु की सेना तथा प्रजा में भय फैलाना, लोभ देना तथा विश्वास प्राप्त करके उनका विनाश करना अनुचित नही है। रामायण मे राम द्वारा वाली की हत्या कूटनीति का प्रमाण है। असहाय कर्ण के ऊपर अर्जुन ने युद्ध की नैतिकता को त्याग कर बाण चलाया था। लाक्षागृह का निर्माण करा कर दुर्योधन द्वारा पाण्डवों की हत्या का प्रयत्न, चक्रव्यूह मे अभिमन्यु जैसे निरीह बालक का वध, पाण्डवो को छलकपट द्वारा जुए मे हराना, आदि तत्कालीन कूटनीति के ही प्रसंग हैं।

सामाजिक दशा

सामान्य जीवन—आतिथ्य की बड़ी महिमा थी। अतिथि का आशीर्वाद सौ यज्ञों के पुण्य से बढ़ माना गया। इस युग के सामान्य-जन स्वभाव से सरल, सत्यप्रिय, मितव्ययी, मधुरभाषी तथा सीधे-सादे थे। आत्म संयम सबसे बड़ा धर्म माना जाता था।[१] वेश-भूषा साधारण एवं सादी थी। लोग धोती, शाल, पगड़ी तथा अँगरखे की भाँति का कपड़ा पहनते थे। मौसम के अनुसार सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रो का प्रयोग होता था। इनका भोजन भी सादा था और अब मांस का प्रयोग अधिक होता था। राजा रन्ति देव के यहाँ प्रतिदिन दो हजार पशु काटे जाते थे और मांस प्रजा में बाँट दिया जाता था।[२] गेहूँ, जौ, बाजरा, चावल में विभिन्न दालों के अतिरिक्त घी, दूध, दही, फल, हरी सब्जियाँ दैनिक आहार थे। इस काल के लोगो को आम का ज्ञान था और वह काफी लोकप्रिय हो रहा था। उत्सवों, अनुष्ठानो एवं त्योहारो पर सुरापान का प्रचलन था। महाभारत के एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि यादवो ने एक बार किसी अवसर पर खूब सुरापान

१. शान्तिपर्व राजधर्म १६०; २२०। २. आदि पर्व २३, २५; वनपर्व २०८।

करके आपस मे ही युद्ध कर लिया जिसके कारण इनका सर्वनाश हो गया। इस प्रकार के उदाहरण से यह भी स्पष्ट होता है कि सुरापान को निन्दनीय एवं अपराध समझा जाता था। लोग संयमी तथा कठोर परिश्रमी थे। उनके आचार-विचार में शुद्धता थी। अभी भी संयुक्त परिवार की प्रथा थी किन्तु अब उसकी कठोरता समाप्त होती जा रही थी। परिवार पितृ-प्रधान था। साधारणतया जन-जीवन मे नैतिकता को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वे वचनों का पालन करते थे तथा सत्य बोलते थे। जीवन के दैनिक नियमो के पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था जीवन आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण था। "कृष्ण, बलदेव अर्जुन हजारो स्त्री पुरुषो को लेकर वन को जाते है, मास-मदिरा से, नाच गाने से, हँसी मजाक से आनन्द प्रमोद करते हैं।"[1] रामायण में व्यक्तिगत चरित्र का आदर्श अति उच्च है। मृदुता, शान्ति, दया, शौर्य, संयम-कृतज्ञता को चारित्रिक गुण माना जाता था।[2]

स्त्रियों की दशा

आदि पर्व मे कहा गया है "सौ कुओ की अपेक्षा एक तालाब बनवाने मे अधिक पुण्य है, तालाब से अधिक पुण्य यज्ञ मे है और यज्ञ से अधिक पुत्र मे।' पुत्र-प्राप्ति द्वारा ही माता-पिता का भौतिक एवं पारलौकिक जीवन सफल एवं सार्थक माना जाता था। इसके विपरीत पुत्री को दुःख एवं वियोग का कारण माना जाता था। महाभारत में बहुत से ऐसे वाक्य उपलब्ध होते हैं कि "स्त्री ही सब बुराइयो की मूल है और पुत्री का जन्म एक अनर्थ की बात है।" इस काल में स्त्रियो का वह उच्च स्थान न रह गया था जो वैदिक-काल मे था। महाभारतकाल में स्त्रियो की दशा मे हीनता आ गयी थी। महाभारत के आदि पर्व मे कहा गया है "आत्मा पुत्र सखाभार्या कृच्छ्रं हि दुहिता किल।" रामायण की दृष्टि मे भी पुत्री माता, पिता एवं पति के लिये संकट मानी जाती थी परन्तु इन कथनों के आधार पर यह परिणाम निकाल लेना सर्वथा भूल ही होगी कि पुत्री को नितान्त व्यर्थ एवं तुच्छ समझा जाता था। महाकाव्यो मे ही ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पुत्री को भी पुत्र समान स्नेह, प्रेम एवं अनुकम्पा प्राप्त थी। सावित्री तथा दमयन्ती का जन्म अपने पिताओ की कठिन साधनाओ के पश्चात हुआ था। सीता, कुन्ती, द्रौपदी, देवयानी तथा उत्तरा जैसी महान नारी विभूतियाँ इसी काल मे पैदा हुई थी। महाभारत में भीष्म ने कहा है कि पुत्री, पुत्र के समान ही होती है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों द्वारा तत्कालीन नारी की प्रतिष्ठा, त्याग एवं महानता का बोध होता है। कहीं-कहीं सती प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। पाण्डु की एक पत्नी अपने पति के साथ सती हो गई थी। प्रायः विधवाओं का विवाह ही हो जाया करता था। स्त्रियो का आदर्श बडा ऊँचा होता था। सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि का जीवन अनुकरणीय है। सुभद्रा का त्याग तथा पतिप्रेम भी उच्चकोटि का था। गान्धारी का त्याग तथा पति निष्ठा स्तुत्य थी। उर्मिला भी त्याग एवं सन्तोष का मूर्ति थी। द्रौपदी आदर्श जीवनसंगिनी थी। स्त्री का वध महापाप समझा जाता था और वह पुरुष की अर्धांगिनी समझी जाती थी। रामायण के अनुसार अविवाहित कन्या का जीवन स्वरविहीन वीणा तथा चक्रहीन रथ के समान है। महाभारत के अनुसार गृहिणी गृह, मनुष्य का श्रेष्ठतम सखा, त्रिवर्ग का मूल तथा मोक्ष पाने का साधन

१. हरिवंश १४६-४७।

२. अयोध्या काण्ड १; आदि पर्व ६४।

मानी गई है। अपनी पुत्री का उचित युवक के साथ विवाह न करने वाला पिता ब्रह्मघाती तथा कन्या के पिता के विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकार करने वाला पुरुष निन्दनीय समझा जाता था। इस प्रकार विवाहित जीवन को समाज में श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी माना जाता था।

महाभारत के काल मे बाल विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की ही आयु में हो गया था। अनुशासन पर्व में भीष्म ने कहा है कि—"तीस वर्ष की आयु का पुरुष दस वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।" महाकाव्य काल मे नियोग प्रथा भी प्रचलित थी। नियोग उस प्रथा को कहते थे जब पति की असमर्थता मे स्त्री किसी अन्य व्यक्ति के साथ संसर्ग करके सन्तान उत्पन्न कर लेती थी। महाभारत मे लिखा है, "पति के मर जाने पर स्त्री देवर के साथ नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकती है।" पाण्डवो की माता कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि को नियोग द्वारा उत्पन्न किया था क्योंकि पाण्डु इस कार्य में असमर्थ थे। महाभारत की एक कथा के उल्लेखानुसार जब परशुराम ने बहुत से क्षत्रियो का विनाश कर दिया तो क्षत्रिय स्त्रियो ने ब्राह्मणो के साथ नियोग करके सन्तानें उत्पन्न की और अपने वंश को चलाया।

तत्कालीन समाज मे वैश्यावृत्ति का जन्म हो चुका था। महाभारत मे कहा गया है कि शान्तिवार्ता के लिए आने पर श्री कृष्ण का स्वागत वैश्याओ ने किया। पाण्डवो की सेना में मनोरंजन के लिए वैश्यायें भी सम्मिलित थी। प्रमाणो द्वारा विदित होता है कि विभिन्न अवसरो पर वैश्याओ के नृत्य का आयोजन होता था तथा इसे मंगलकारक समझा जाता था।

नारी-जीवन उच्च, आदर्शवादी तथा प्रतिष्ठित था। रामायण मे कहा गया है—"अनन्य-रूपा पुरुषस्य द्वारा" (पत्नी रूप मे स्त्री पुरुष का अनन्य रूप है)। महाभारत के अनुसार स्त्री पुरुष की सर्वप्रिय सखा तथा अर्धाङ्गिनी है। "माता गुरुतरा भूमेः (माता रूप मे नारी भूमि से भी उच्च है); गुरुणाम् चैव सर्वेषाम् माता परमको गुरुः" (वह माता रूप में गुरु से भी श्रेष्ठ है); इन उल्लेखो द्वारा नारी के आदर एवं सम्मान का पता चलता है। महाभारत में नारी को अवध्य बताया गया है। रामायण मे भी रावण ने सीता का वध नही किया, कारण यह था कि स्त्री-वध नैतिकता के विरुद्ध था।

वर्ण-व्यवस्था—इस काल में वर्णों का रूप और अधिक विस्तृत हो गया था। अब स्वयं एक वर्ण के मध्य कई वर्ग बनते जा रहे थे—उदाहरणार्थ, ब्राह्मणो में छः प्रमुख वर्ग उल्लिखित है—ब्रह्मसम, देवसम, चाण्डालसम क्षत्रियसम तथा वैश्यसम। इस काल मे सारी राज्यसत्ता तो क्षत्रियो के हाथो मे थी परन्तु ब्राह्मण को धर्म, आदर्श तथा नैतिकता का प्रतीक माना जाता था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग सर्वसाधारण जनता (विशः) से स्पष्ट रूप से अलग हो गये थे। ब्राह्मणो की उत्कृष्ठता और पवित्रता की भावना सर्वसम्मत रूप से स्वीकार कर ली गई थी। साधारण जनता अब भी उनके कोप एवं श्राप से थर्राती थी। अब जन्म जाति निर्णय का प्रधान मापदण्ड बन गया था। क्षत्रिय ब्रह्मविद्या का अध्ययन तो कर सकता था परन्तु उसे यज्ञ का अधिकार नही था। इसके विपरीत द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त क्षत्रियजनित गुणो में भी पारंगत थे तथा महाभारण के युद्ध मे योद्धा रूप मे उन्हें विशेष ख्याति प्राप्त हुई। कुछ स्थानो पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से उच्च बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पारस्परिक मतभेद एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए महाकाव्यो के वर्णनो मे सन्तुलन की नीति को अपनाया गया है तथा निश्चित रूप से इन दोनो के मध्य श्रेष्ठतर का निर्णय करना असम्भव है। वैश्य वर्ग भी कई श्रेणियो मे विभाजित हो गया था। प्रमुख

श्रेणियो की संख्या १८ थी। इसमें प्रत्येक श्रेणी मे प्रमुख ज्येष्ठक, महाश्रेष्ठिक, अन्त श्रेष्ठिक एवं श्रेष्ठिन होते थे। अपने संगठन एवं विकसित नियमो के कारण वैश्य वर्ण भी राजनीतिक क्षेत्र मे शक्तिशाली होता जा रहा था। शूद्र वर्ण समाज का निम्नतर वर्ण था। उसे न तो अध्ययन करने का अधिकार था और न ही अन्य विकास के साधनों द्वारा वह उन्नति कर सकता था। पूर्व-मान्यताओ की भाँति वह अभी भी दास था जिसका धर्म केवल सेवा करना था। रामायण मे वर्णित है कि शम्बूक शूद्र को रामचन्द्र जी ने इसलिए मार डाला कि वह तप कर रहा था। महाभारत मे विदुर ने कहा है कि 'शूद्र को मैं शिक्षा नही दे सकता।' शूद्र द्वारा चतुर्राश्रम का नियम-पालन करना भी निषिद्ध था।

धार्मिक जीवन

उत्तर वैदिक युग की यज्ञों की प्रथा अभी भी प्रचलित थी। रामायण काल तक यज्ञों का खूब महत्व रहा। स्वयं राम ने यज्ञ किये। महाभारत में भी यज्ञ सर्वथा विलुप्त नहीं हुये थे। कौरवों-पाण्डवो ने भी अनेक प्रकार के यज्ञ किये थे। राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ अभी भी प्रचलित थे परन्तु क्रूर एव रक्तमय यज्ञो के प्रति लोगो की आसक्ति, विश्वास एवं श्रद्धा नष्ट हो रही थी। यज्ञ मे पशु-वलि धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी थी। यज्ञों के स्थान पर आत्मसंयम और चरित्र-शुद्धि पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इस काल मे यज्ञ धार्मिक जीवन के मुख्य अंग हो गये थे। सोलह संस्कार एवं पंचमहायज्ञ जीवन के आवश्यक कृत्य थे। यज्ञों का आयोजन पूर्ण आडम्बरों एवं विशाल पैमाने पर होता था। साधारण लोग पुरोहितो द्वारा अपने घर मे ही यज्ञादि कर लेते थे परन्तु इसका सामाजिक आयोजन एवं अनुष्ठान महान् धार्मिक कृत्य समझा जाता था। प्राय: राज्य की ओर से समय-समय पर विशाल यज्ञो का आयोजन होता था। कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। यज्ञ स्वर्ग की प्राप्ति तथा मोक्ष का साधन माने जाते थे।

ऋग्वैदिक काल के देवी-देवताओं की पूजा अब कुछ कम हो गयी थी परन्तु उत्तर-वैदिक काल के देवी-देवता भी परम पूज्यनीय थे। देवताओं के स्वरूप मे कुछ अन्तर अवश्य आ गया था। इस काल मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती दुर्गा आदि देवी-देवता पूजे जाते थे। वैदिक कालीन देवता ब्रह्मा की उपासना सृष्टि के रचायिता के रूप मे की जाती थी। विष्णु सृष्टि के पालक एवं यज्ञ के प्रमुख देवता माने जाते थे। उनके विराट स्वरूप मे ही प्रकृति एवं सृष्टि निहित थी। शिव की उपासना सृष्टि संहारक के रूप मे होती थी। विघ्ननाशक के रूप मे गणेश, दानवलिनी के रूप मे दुर्गा तथा तपस्विनी के रूप मे पार्वती अब विशेष स्तुत्य हो गई थी। सूर्य भी प्रमुख देवता थे। जनसाधारण मे यह विचार दृढ़ हो रहा था कि धर्म के पतित होने पर तथा जनता के कष्टों को दूर करने और दुष्टात्माओ का दमन करने के लिये भगवान अवतार लेते हैं। फलतः राम और कृष्ण को अवतार-पुरुष माना गया था। वीर पूजा पद्धति इस युग की नवीन देन थी।

इस काल मे कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्तो का विकास हो रहा था और भक्ति मार्ग पर बहुत जोर दिया जा रहा था। यह विश्वास व्याप्त था कि मनुष्य को अपने कर्मानुसार ही मोक्ष, स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति होती है। मृत्योपरान्त प्राणियों का निर्णय इसी जन्म के सत्कर्म अथवा दुष्कर्म पर निर्भर है अत. मनुष्य को अच्छे कर्म करने चाहिये। इस धारणा से भक्ति, मार्ग का प्रारम्भ हुआ। ईश्वर का प्रसाद अथवा आर्शीवाद केवल भक्तो को ही प्राप्त होता है। भगवान्

कृष्ण ने जो निष्काम भक्ति का संदेश दिया वही भक्ति मार्ग का आधार है। अतः इस युग में कर्मवाद की धारा ने भक्तिवाद को जन्म दिया। महाकाव्य काल में आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त पूर्णतः मान्य हो चला था। इस आवागमन से छुटकारा पाने के लिए तपस्या, ज्ञान और भक्ति के मार्ग बताये गये।

दर्शन की भी उन्नति हुई पर यह प्रगति वैदिक दार्शनिक विचारधारा के विकास के रूप में हुई। इस काल के प्रतिष्ठित ऋषियो ने महान चिन्तन कर सांख्य योग, पूर्व-मीमांसा जैसे दार्शनिक विषयो एवं धाराओ को जन्म दिया। कर्मवाद, अवतारवाद और भक्तिवाद आदि के दार्शनिक तथ्यो की समीक्षात्मक व्याख्या की गयी। इस प्रकार इस युग मे हिन्दू समाज ने अपनी बहुमुखी उन्नति कर समाज के सर्वाङ्गीण विकास मे पर्याप्त योग दिया।

वैदिकयुगीन धर्म मे हमे उदारता के चिह्न दृष्टिगत होते हैं परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे धार्मिक जीवन मे संकीर्णता की स्थिति पैदा होती जा रही थी। इस काल मे धर्म केवल मात्र तीन वर्णों की ही उपलब्धि था। इसमें शूद्र के लिए कोई स्थान न था। इसी कारण कालान्तर मे वैदिक धर्म के विरोध में बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।

महाकाव्य युगीन सभ्यता का पर्यवेक्षण

भारतीय भूमि पर महाकाव्य युग के आने तक एक परिपक्व तथा पुरातन काल से चली आ रही संस्कृति ने ठोस रूप धारण कर लिया था। विकास के साथ-साथ सभ्यता तथा संस्कृति मे अनेकानेक गुणो के साथ दोषो का आना एक स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया है परन्तु मुख्य बात यह होती है कि तत्कालीन मानव मस्तिष्क या सभ्यता के निर्माता अपने दोषो का विवेचन कर पाते है अथवा नही। इतिहास का मूल यही है कि यह इंगित करे कि फलाँ व्यक्ति ने जो अपराध किया था—उसके परिमाण का उसे ज्ञान था अथवा नही। यदि उसे ज्ञान था तो वह इतिहास मे कलुषित रूप से जाना जायेगा अर्थात वह आदर्श नही बन सकता। यदि उसे ज्ञान नहीं था तो इतिहास अज्ञान के परिणामों से वर्तमान को चेतावनी तथा भविष्य को सावधान करता है। महाकाव्य युग में हमे इतिहास के इन मूल्यों के कतिपय प्रसंग प्राप्त होते हैं। इनमें से सभी का वर्णन हम कर चुके है परन्तु यहाँ पर अपनी बात समाप्त करते हुए हम इस काल की सर्वोपरि विशेषता का उल्लेख करेंगे।

महाकाव्य युग इस बात के तो अपरिचित था कि आगे कौन सा युग आयेगा परन्तु अब सभ्यता तथा संस्कृति के ठेकेदारो को यह आभास होने लगा कि कुछ संभलो अन्यथा 'क्रान्ति' आ जायेगी। कर्मकाण्ड तथा वर्ण व्यवस्था—ऐसे ही प्रकरण थे जिन्हे विवादास्पद तथा वर्गगत होने के बावजूद भी त्यागा नही गया था। अब महाकाव्य युग में पाराशर कहने लगे "धर्म परायण शूद्र ब्रह्म के बराबर है, विष्णु है, सारे संसार मे श्रेष्ठ है।" वनपर्व में भविष्य का बड़ा ही वास्तविक अनुमान लगाये हुये कहा गया है—"कलियुग मे ब्राह्मण शूद्रो के काम करेंगे, क्षत्रिय यज्ञ करेंगे, शूद्र धनोपार्जन करेंगे, म्लेच्छ राजा पृथ्वी का शासन करेंगे—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अपने कर्मों का परित्याग कर देगें, शूद्र ब्राह्मणो का निरादर करेंगे, ब्राह्मण शूद्रो का आदर करेंगे।" यह सब क्यो ? कारण स्पष्ट है। वर्णगत भेदो के अन्यायो का पाप ढोते ढोते महाकाव्य काल का विचारक सत्य

अध्याय सात

स्मृतियों में वर्णित संस्कृति

पूर्वाभास

स्मृतियां, धर्मसास्त्र भी कही जाती है । प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में ये पर्याप्त सूचना देती है । इनका जो वर्तमान रूप है—उसमें रामायण तथा महाभारत की भांति अनेक अंश बाद में जोड़ा गया है । स्मृतियो की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये कर्तव्यों, अधिकारों, सामाजिक नियमो तथा शासन की विधियों को व्यवस्थित रखने के लिये इन सभी विषयो का विवेचन करती हैं । अपने महत्व में ये श्रुतियो अर्थात वेदों से कुछ ही कम हैं । महाकवि कालीदास ने गुरु वशिष्ठ की गाय नन्दिनी के पीछे सुदक्षिणा को चलते हुए बताकर यह उपमा दी है कि जिस प्रकार स्मृतियां श्रुतियों के पीछे जाती हैं, उसी प्रकार सुदक्षिणा गाय के पीछे चलती है ।[1] वेदों के साथ स्मृतियो को भी धर्म का स्रोत मानते हुए कहा गया है कि वेद, स्मृति, सदाचार और जिसकी स्वयं अपनी आत्मा स्वीकार करे— ये ही चार धर्म के लक्षण हैं । श्रुति और स्मृति में भेद होने पर यद्यपि श्रुति को ही प्रमाण माना जाता था तथापि अन्यत्र स्मृतियो को वेद के समान अधिकार प्राप्त था । स्मृतियो मे मुख्य और महत्वपूर्ण ग्रंथ मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारद रचित स्मृति ग्रंथ हैं । विष्णु स्मृति के अतिरिक्त ये ग्रंथ श्लोको में हैं । इनमे मनु सबसे पहिले हुए । इसका प्रमाण है पाराशर संहिता का यह उल्लेख कि सतयुग में मनु, त्रेता मे गौतम, द्वापर में शंख तथा कलियुग में पाराशर का धर्मशास्त्र प्रमाण माना जायेगा ।

मनु के नाम का उल्लेख प्राचीनकाल से ही मिलता है । तैत्तिरीय मैत्रायिणी संहिताओं तथा छान्दोग्य उपनिषद मे उन्हे वैदिक ऋषि और ताण्डय ब्राह्मण में धर्म का विधान रचने वाला कहा गया है ।[2] मनु स्मृति मे धर्मशास्त्रो का प्रमाण देते हुए अत्रि, वसिष्ठ, गौतम तथा शौनक का नामोल्लेख किया गया है । याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद तथा बृहस्पति ने स्वयं मनु का प्रमाणोल्लेख किया है ।

---

१. तस्याः, खुरन्यास पवित्र पांसुमपासुलाना धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।। (रघुवंश) ।

२. तैत्तिरीय—२।२।१०।२—मैत्रायिणी १।१।५—छान्दोग्य उपनिषद ८।१५—
तण्डय् ब्राह्मण—२३।१६।७ ।

राजनैतिक संगठन और प्रशासन

मनुस्मृति में स्वराष्ट्र, परराज्य, मित्र राष्ट्र, शत्रु राष्ट्र, मण्डल राष्ट्र का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि देश मे राजनैतिक एकता नहीं थी। 'राष्ट्र' शब्द राज्य के लिये प्रयुक्त किया गया है। 'राष्ट्र' मे राजा प्रजा पर शासन करता था। 'राष्ट्र' के अन्तर्गत कई देश या जनपद होते थे।[1] प्रशासन दशम पद्धति के अनुसार संगठित था। ग्राम सबसे छोटी इकाई था तथा इसका प्रबन्धक ग्रामणी था। दस ग्रामो के समूह का अधिकारी दशी था। बीस ग्राम का प्रबन्धक विंशी, सौ ग्रामों का प्रबन्धक शतेश तथा सहस्र ग्रामो के प्रबन्धक को सहस्त्रेश कहा जाता था। राजा राष्ट्र का सर्वोच्च भोक्ता कहा गया है। राजा के सचिव 'सहाय्य' कहे जाते थे तथा वह इनकी सहायता से अपना कार्य करता था। प्रधान 'मुख्यामात्य' के अन्तर्गत छः या सात अमात्यों की मन्त्रि-परिषद होती थी। यह राजा की परामर्शदात्री संस्था थी। राजकीय अधिकारियों को 'युक्त' तथा विभागाध्यक्षों को 'महामात्र' कहा जाता था।

प्रजा को स्वायत्त शासन के रूप में अनेक अधिकार प्राप्त थे। राजा का सर्वोपरि कर्त्तव्य धर्म की स्थापना और प्रजा को उसके (धर्म) अनुसार चलाना था। मनु के अनुसार वेद या श्रुति, स्मृति या धर्म शास्त्र, शील और आचार ही धर्म या विधि के स्रोत थे। जिन धर्म सम्बन्धी विषयों पर शंका अथवा मतभेद होता था—उनका समाधान ३ से १० सदस्यो द्वारा गठित शिष्टों की परिषद करती थी। इन सदस्यों मे तीन सदस्य वेदो के ज्ञाता, एक तार्किक, एक मीमांसक, एक नैरुक्त, एक धर्म पाठक, एक ब्रह्मचर्याश्रम, एक गृहस्थाश्रम और एक वानप्रस्थाश्रम से लिया जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रजा को नियम बनाने के विषय में पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त थीं। अनेक स्वायत्त संस्थाएँ, जातियाँ, श्रेणियाँ और संघ जो नियम अपने लिये बनाते थे—राजा को स्वीकार करने होते थे।

विष्णु स्मृति के अनुसार युद्ध मे विजयी राजा के लिये यह निर्देश है कि वह विजित देश के धर्म को अस्त-व्यस्त न करे।[2] याज्ञवल्क्य ने कुल, जाति, श्रेणी, गण और जनपद का उल्लेख किया है। ये सभी स्वायत्त संस्थाएँ थीं तथा राजा इनके धर्मों का सम्मान और स्थापना करता था।[3] नारद स्मृति में व्यावहारिक धर्म और नीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि राजा कितना भी गुणरहित हो, वह प्रजा द्वारा उतना ही पूज्य है जैसे पत्नी द्वारा पति।[4] नारद ने स्वायत्त संस्थाओ मे कुल, श्रेणी, गण, पूग, व्रात, पाषण्डों का समूह और नैगम व्यापारियों के समुदायों का उल्लेख किया है।

भूमि की उपज का आठवें भाग से लेकर चौथे भाग तक कर के रूप में लेने का विधान था। ब्राह्मणों को मृत्यु दण्ड का निषेध था। न्याय के लिये नीचे से ऊपर के न्यायालय में अपील की जा सकती थी। गवाही की भी अनेक व्यवस्थाएँ थीं। कुल, श्रेणी और गण अपने सदस्यों के लिये न्याय किया करते थे परन्तु ये सभी राजसभा के अधीन थे। राजा अन्तिम न्यायकर्त्ता था।[5]

---

१. मनुस्मृति १०।६१; ९।२२६ तथा ९।२५१।

२. विष्णु स्मृति ३।२६।

३. याज्ञवल्क्य स्मृति १।३६१।

४. नारद स्मृति-प्रकीर्णक २०।२।

५. नारद स्मृति—१।७।

सामाजिक व्यवस्था तथा दशा

सामाजिक जीवन वर्ण और आश्रमो के नियमो से बँधा हुआ था। समाज के दो प्रमुख वर्ग थे—पहला आर्य और दूसरा अनार्य।[१] पहले की भाँति आर्य वर्ग मे चार वर्ण थे। ब्राह्मणों का पद चरित्र तथा आध्यात्मिक स्तर के कारण ऊँचा था। भोजन और प्रतिग्रह सम्बन्धी नियमो के उल्लंघन, निन्दित कर्म करने तथा धर्म और गुण रहित होने पर ब्राह्मण पतित समझे जाते थे।[२] अध्यापन, न्याय, मुख्यामात्य, सभासद तथा धर्म परिषद के सदस्यो के रूप मे ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यो का पालन करते थे। क्षत्रिय वर्ण का दूसरा स्थान था। उनका कर्त्तव्य शस्त्रो तथा शस्त्रो का अभ्यास और सैनिक कर्म करना था। कृषि, विपणि कर्म (दुकान रखना), वाणिज्य तथा पशुपालन वैश्य वर्ण के कर्म थे। शूद्रो को संस्कार का अधिकार नही था। मनु ने शूद्र अध्यापको तथा विद्यार्थियों का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके लिये विद्याध्ययन का निषेध नही था। अनार्यों मे दस्यु और म्लेच्छों की गणना की जाती थी। इनका जीवन निम्नतर था। उनका धन गदहे तथा कुत्ते थे, वे मृत व्यक्तियो के वस्त्र पहनते, जूठा भोजन करते तथा लोहे के आभूषण धारण करते थे। मनु के अनुसार 'क्षत्रिय यदि अकाल ग्रस्त हो तो दस्युओं के धन को छीन सकता है।'[३] इससे स्पष्ट होता है कि उन्हे सम्पत्ति का अधिकार नही था। विष्णु स्मृति मे म्लेच्छो के साथ भाषण पर भी प्रतिबन्ध है। इस समय कुछ मिश्रित जातियाँ भी थी। इनमे अवैध सन्तान, असवर्ण तथा निषिद्ध विवाहो से उत्पन्न सन्तान और कर्म रहित लोगो की गणना की जाती थी। स्मृतियो मे दासों का काफी उल्लेख है। मनु ने सात प्रकार तथा नारद ने पन्द्रह प्रकार के दासो का उल्लेख किया है। दासों के प्रति स्वामी के कुछ कर्त्तव्य होते थे। इससे दासो के प्रति कोई विशेष अत्याचार न हो पाता था। विष्णु स्मृति मे शूद्र भिक्षु का उल्लेख मिलता है।[४] इनका दर्शन अशुभ माना जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लिये आश्रमधर्म का निर्वाह आवश्यक था। इस विषय मे समाज के तीन वर्णों के मध्य (शूद्रो को छोडकर) समानता थी।

सामाजिक जीवन पूर्वकाल की भाँति था। प्रावासीय गृह ईंट, पत्थर, और लकडी से बनाये जाते थे। घरो के मध्य गलियाँ तथा सड़कें होती थी। गृह सीमा के सम्बन्ध मे उत्पन्न विवादों में पडोसियो को गवाही को ही महत्व प्राप्त था।[५] मनु ने द्यूत का निषेध बताया है। नारद तथा याज्ञवल्क्य ने द्यूत को राजकीय नियन्त्रण मे उचित बताया है। सामाजिक व्यवहार में नैतिकता पर बल दिया गया है। मनु ने अहिंसा को महत्व देते हुए, क्रूरता का निषेध किया है तथा अहिंसा के साथ धर्म का पालन करते हुए अच्छे वाक्यो को बोलने का आदेश दिया है—'वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।'

स्त्रियों की दशा—गृहस्थाश्रम को आदर्श आश्रम बताते हुए, मनु ने कहा है कि जहाँ भार्या से भर्त्ता सन्तुष्ट होता है और भर्त्ता से भार्या सन्तुष्ट होती है, उस कुल में नित्य कल्याण का वास होता है।[६] स्त्री का मुख्य कर्त्तव्य घर का प्रबन्ध करना तथा आय-व्यय की रक्षा करना था।[७] स्त्रियों

---

१. मनुस्मृति १०।६६-६७। २. मनुस्मृति ३।१५०-१६६; ४।१५३-१५४।
३. मनुस्मृति ११।८। ४. विष्णुस्मृति ५।११।
५. मनुस्मृति—८।२६२। ६. मनुस्मृति ३।५०। ७. मनुस्मृति ९।११।

को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। स्त्रियाँ पुरुष सम्बन्धियों के नियन्त्रण में रख दी गई थी। अविवाहित अवस्था मे पिता, विवाहोपरान्त पति तथा वृद्धावस्था मे पुत्रो का संरक्षणत्व उन्हे उपलब्ध था।[1] मनुस्मृति मे आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। इसका अर्थ यह हुआ कि ये सभी विवाह धर्म सम्मत थे। मनु ने ब्राह्मण द्वारा शूद्र कन्या से विवाह उचित ठहराया है परन्तु याज्ञवल्क्य ने इसको अनुचित बताया है। मनु ने नियोग की निन्दा की है इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने इसे उचित ठहराया है। नारद ने नियोग को धर्म संगत बताते हुए स्त्रियो को पुनर्विवाह की भी आज्ञा दी है।

स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार

मनुस्मृति में स्त्रीधन की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतितः स्त्रियै।
भ्रातृमातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम॥

अर्थात अग्नि के सम्मुख, विदाई के समय, प्रेम सहित, जो दिया जाये, भाई से जो प्राप्त हो, माता तथा पिता से जो प्राप्त हो—वह सब 'स्त्रीधन' है। इस धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार माना गया है।[2]

विवाह के समय, पवित्र अग्नि के सम्मुख जो सम्पत्ति स्त्री को दी जाती थी उसे 'अध्यग्नि स्त्रीधन' कहा जाता था। इस प्रकार पिता के घर से विदाई होते समय पुत्री जो कुछ भी पिता के घर से प्राप्त करती थी उसे 'अध्यावाहनिक स्त्रीधन' कहा जाता था। इसी प्रकार सास ससुर द्वारा आशीर्वाद और प्रेम स्वरूप जो सम्पत्ति या धन स्त्री को दिया जाता था, उसे 'आधिवेदनिकं स्त्रीधन' कहा जाता था। विवाहित अथवा अविवाहित कन्या को, उसके पति के घर मे, या स्वयं अपने पिता के घर मे जो धन अथवा सम्पत्ति भाई द्वारा दी जाती थी उसे 'सौदायिकं स्त्रीधन' कहा जाता था। कात्यायन ने इस धन के स्वामित्व के विषय मे लिखा है—

"सौदायिकं धन प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते।
यस्माद्दत्तानृशंस्यार्थं तैर्दत्तं तत्प्रजीवनम्।"

इसका अर्थ यह हुआ कि इस धनसम्पत्ति का उपयोग स्त्री स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी रुचि के अनुसार कर सकती थी। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है पिता, माता, भाई और पति से स्त्री को अग्नि की साक्षी मे जो कुछ भी धन दिया जाता हे तथा उसके अधिकार स्वरूप जो सम्पत्ति दी जाती हे वह सब 'स्त्री धन' माना जाये और उस पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व होगा। याज्ञवल्क्य ने यह भी प्रावधान निश्चित किया था कि एक पत्नी के होते हुए दूसरी पत्नी के आने पर, पहली पत्नी तथा दूसरी पत्नी को सम्पूर्ण स्त्री धन का (दोनो पत्नियो का सम्मिलित स्त्री धन) आधा-आधा भाग मिलेगा—यथा

---

१. मनुस्मृति ५।१४८।

२. "What Manu means by speaking of the six kinds of 'Stridhana', is that the number of its varieties cannot be less than six, it does not mean that it cannot be more" —'हिन्दू लॉ इन इट्स सोर्सेज़'—डा० गंगानाथ झा।

"अधिविन्तस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम् ।
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै-दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत ।।"

स्मृतियो में स्त्री धन पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व मानते हुए, यह प्रावधान किया गया था कि उसमें से यदि आपदकाल मे पति धन ले तो ब्याज सहित लौटाये ।

मनुस्मृति मे कहा गया है—

"स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु क न्याभ्य: प्रदद्युर्भ्रातर: पृथक् ।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिता: स्युरदित्सव: ।।"

अर्थात प्रत्येक भाई अपने-अपने भाग मे से एक चौथाई भाग बहन को दे । जो यह भाग नही देगा वह हीन माना जायेगा । इसी प्रकार कन्या को अपने भाई के भार्ग मे से चौथाई भाग पर अधिकार था—"भ्रातृभ्योऽशचतुर्भागं तत्र कन्या हरेद् धनम् ।

याज्ञवल्क्य स्मृति मे कहा गया है—

"पितुरुर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ।।"

अर्थात पिता की मृत्यु होने पर जब पुत्रो मे सम्पत्ति का विभाजन होगा तो उनकी माता को सम्पत्ति का बराबर भाग मिलेगा । यह सम्पत्ति, विधवा के अपने स्त्री धन के अतिरिक्त होती थी । याज्ञवल्क्य स्मृति में पहली पत्नि के होते हुए दूसरा विवाह करने पर पहली पत्नि के अधिकार रहित होने पर उसे क्षतिपूर्ति (compensations) देने का भी प्रावधान है ।

स्मृतिकारो ने स्त्री के सम्पत्ति के अधिकार पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए, उसके पुत्र-हीन होने पर, अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर अधिकार का प्रावधान किया था । स्त्री को 'कुलपालिका' मानते हुए यह नियम बनाया गया कि पति की मृत्यु होने पर, क्योकि स्त्री परिवार की शुद्धता कायम रखती है अत: उसे जीवनपर्यन्त पति ।की सम्पत्ति पर अधिकार रहेगा । परन्तु ऐसी सम्पत्ति को वह न तो बेच सकती थी, न दे सकती थी और न ही धरोहर रख सकती थी ।[1]

स्मृतियों मे स्त्री के सम्पत्ति पर अधिकार के उपरोक्त प्रावधानो के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों को आर्थिक क्षेत्र में व्यापक अधिकार प्राप्त थे । सम्पत्ति पर विस्तृत अधिकार होने और 'स्त्रीधन' के उपयोग पर पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त होने के कारण, स्त्रियों को सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक महत्व प्राप्त था ।

विद्या और शिक्षा

विद्या और शिक्षा का विधि विधान करना स्मृति ग्रंथो की अपूर्व विशेषता है । शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना था । इसकी विधि तप या ध्यान बताया गया ।[2] विद्या के विषयो का वर्णन इस प्रकार है—(१) श्रुति संज्ञक (तीन वेद), (२) वैदिक सूत्र और मन्त्र,

---

१. "...........When a man dies sonless, all his property-immovable, movable, gold and so forth—go to his wife, even when his uterine brother, paternal uncle, daughter's son and others are there and those who oppose her or take away the property themselves should be punihed like thieves," 'हिन्दू लॉ इन इट्स सोर्सेज'—डा० गंगानाथ झा ।

२. मनुस्मृति—२।१६४ ।

(३) अथर्ववेद, (४) ब्राह्मण ग्रन्थ, (५) आरण्यक, (६) उपनिषद, (७) वेदांग, (८) दर्शन शास्त्र, (९) धर्म शास्त्र अर्थात स्मृतियाँ, (१०) इतिहास तथा पुराण, (११) भिक्षुओं के लिये वैखानस सूत्र, (१२) पापण्डियो का नास्तिक शास्त्र, तथा (१३) वार्ता अथवा धर्मेतर विषय ।[1] ब्रह्मचर्याश्रम मे उपनयन सस्कार द्वारा विद्यारम्भ होती थी । सन्ध्या, अग्निहोत्र, परिचर्या, स्वाध्याय, भिक्षा प्राप्ति, आचार्य के लिये आवश्यक सामग्री जुटाना तथा गुरु के प्रवचन सुनना आदि विद्यार्थियो के नित्यकर्म थे । छात्रावस्था की अवधि अध्ययन के विषय पर निर्भर करती थी । यदि विद्यार्थी का अध्ययन उसके व्रत की अवधि से पहले पूरा हो जाता था—तो वह विद्यास्नातक कहलाता था । यदि व्रत पूरा हो जाता था और अध्ययन अपूर्ण रहता था तथा इसी समय वह लौट जाता था तो उसे व्रतस्नातक कहा जाता था । इस तरह अध्ययन और व्रत दोनो पूर्ण होने पर जो विद्यार्थी घर लौटता था, उसे विद्याव्रत स्नातक कहते थे ।[2] जो विद्यार्थी अपना सारा जीवन विद्याध्ययन मे संलग्न कर देते थे—उन्हे 'नैष्ठिक' कहा जाता था ।

विद्यार्थी जीवन की अवधि की गणना वर्षो मे की जाती थी । प्रत्येक शिक्षा वर्ष मे दो सत्र होते थे । ऋग्वेदियो तथा यजुर्वेदियो के लिये पहला सत्रारम्भ श्रावणी पूर्णिमा को तथा सामवेदियो का उससे एक माह पश्चात होता था । दूसरा सत्र माघ शुक्ल पंचमी से होता था । प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में उपाकर्म होम तथा अन्त मे उत्सर्ग होम किया जाता था । प्रत्येक माह मे दो अष्टमी, दो चतुर्दश, अमावश्या और पूर्णिमा को अनध्याय रहता था । इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपाकर्म और उत्सर्ग के उपरान्त तीन-तीन दिन और तीन चातुर्मासी पूर्णिमाओ को भी अवकाश रहता था । वर्षा, कोहरा, अग्नि, ग्रहण, आँधी तथा डकैती इत्यादि के कारण भी अनध्याय हो जाता था ।[3]

आर्थिक दशा

स्मृतियो द्वारा आर्थिक जीवन के विषय मे जो सूचनाएँ मिलती हैं उनसे स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र मे अब पर्याप्त विकास हो चुका था । वसन्त और शरद ऋतु मे अलग-अलग फसलें बोई जाती थी । बीजो की अच्छी तरह जांच की जाती थी । इनमे मिलावट करने वालो को दण्ड देने का प्राव-धान था । भूमि की भी जाँच की जाती थी और उर्वरको के प्रयोग द्वारा उपज बढाई जाती थी ।[4] सिचाई के लिए कुओ से बरत और चरस द्वारा पानी निकाला जाता था । अब कृषि कराने के लिये किराये पर श्रमिक रखे जाते थे ।[5] उचित तथा अधिक उपज करने के लिये राजा दण्ड का प्रयोग करता था । गाय, भैस, भेड, बकरी, आदि को चराने के लिये 'पशुपाला' (ग्वाले) उत्तरदायी थे ।[6]

व्यापार और वाणिज्य के विषय मे अनेक नवीन सूचनाएँ मिलती है । राजा व्यापारियो के परामर्श द्वारा आयात, निर्यात, मूल्यो का निश्चितीकरण आदि करता था । स्थल तथा जलमार्गों से खूब व्यापार होता था । नदी मार्ग से सामग्री लाने ले जाने के किराये की दरें निश्चित थी जबकि समुद्र मार्ग से माल के आयात निर्यात के भाड़े की दरें पारस्परिक समझौते द्वारा तय की जाती थी ।[7] यातायात मे व्यापारिक सामग्री के क्षतिग्रस्त होने पर यातायात के साधन स्वामी को क्षतिपूर्ति

---

१. मनुस्मृति ! २. मनुस्मृति ४।३१ ! ३. मनुमृति ४।११३, ११६, २६।६।१० ।
४. मनुस्मृति ६।३३०, ६।२६१, ६।३८ । ५. मनुस्मृति ४।२५३; ६।५३ !
६. मनुस्मृति ८।२३२ ! ७. मनुस्मृति ८।४०६ !

करनी पड़ती थी । इस प्रथा मे बीमा कराने की भी व्यवस्था थी । क्रय विक्रय के लिये वस्तु विनिमय का भी प्रचलन था । निर्यात को जाने वाली सामग्री के विषय मे विस्तृत तथा सूझबूझ वाले नियम बनाये गये थे । निर्यात की जिन वस्तुओ पर प्रतिबन्ध था या जिस माल पर राजा का एकाधिकार था, उसका निर्यात करने वाले व्यापारी की सारी सम्पत्ति हर ली जाती थी । व्यापार शुल्क द्वारा राज्य को पर्याप्त आय होती थी । वाणिज्य पथो पर शुल्कशालाएँ थी । जिनमें शौल्कशालिक नामक अधिकारी नियुक्त रहते थे । ऋण, साझे, न्याय, बन्धक आदि के विषय मे नियम बने हुए थे ।

शिल्प और धन्धो का व्यवसाय उन्नत दशा मे था । मनुस्मृति मे शिल्पकारो द्वारा निर्मित उपकरणो तथा सामग्रियो का विस्तृत विवरण है । लुहार (कर्मार), दीप्तशूल (लोहे की गरम सलाखें), सीता (हल), ऋष्टि (भाले), आयासदण्ड (लोहे का डण्डा), शस्त्र, लम्बी कीलें, लोहे का पलंग आदि बनाते थे । धोबी रीठे से ऊनी कम्बल तथा क्षार से रेशमी तथा ऊनी वस्त्र धोते थे । बुनकर, कुम्हार, चर्मकार, शौण्डिक (शराब बनाने वाले) तत्सम्बन्धित चीजें बनाते थे । नारद के अनुसार शिल्पियो के अनेक नियम थे । शिल्पी अनेक शिष्यो को शिल्प की शिक्षा देते थे ।[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. स्मृतियो के महत्व का उल्लेख करते हुए, तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

२. स्मृतियो के आधार पर स्त्रियो के सम्पत्ति के अधिकारो की सक्षेप मे विवेचना कीजिये ।
(पी० सी० एस० १९७७)

---

१. नारद स्मृति ५।१६।२१ ।

अध्याय आठ

परिवर्तनों के युग की संस्कृति

पूर्वाभास

उत्तरोत्तर क्रियाशीलता के कारण सभ्यता तथा संस्कृति मे अनेकानेक गुणो के साथ दोपो का आना एक स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया है परन्तु मुख्य वात यह होती है कि तत्कालीन मानव मस्तिष्क या सभ्यता के निर्माता अपने दोपो का विवेचन कर पाते हैं अथवा नही। इतिहास का मूल यही है कि वह यह इंगित करे कि इतिहास के निर्माताओ ने जो कुछ भी भला बुरा किया था उसके परिणामो का उन्हे आभास था अथवा नही। इतिहास अज्ञान के परिणामों से वर्तमान को चेतावनी तथा भविष्य को सावधान करता है। इतिहास का मूल उद्देश्य यही है।

महात्मा बुद्ध के समय से जरा सा पहले की भारतीय संस्कृति का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें, तो विदित होता है कि इस समय के विचारक, दार्शनिक, सामाजिक व्यवस्थाकार आदि वर्तमान को भविष्य की आशंकाओं से परिचित करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। इस समय देश मे सन्यासियो की संख्या वढ़ रही थी। समाज मे लोगो के दो स्पष्ट वर्ग उभर रहे थे। एक तो वे जो वैदिक धर्म, कर्मकाण्ड, ब्राह्मणो को दान दक्षिणा देने तथा देवी देवताओं को पूजने मे ही सन्तुष्टि का अनुभव करते थे, और दूसरे वे जो इस प्रकार की रीति-नीति से केवल असन्तुष्ट ही नहीं. वरन् उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी अभिव्यक्त कर रहे थे।

इस युग मे एक विचित्र विशेपता दिखाई देती है। राजनीति के छिन्न-भिन्न होते हुए भी इस काल का सामाजिक जीवन पर्याप्त सुखी, समृद्ध तथा विलासी था। गणतन्त्रीय प्रणाली के कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विकास को वढावा मिल रहा था। राजनैतिक परिस्थितियो के प्रतिकूल होते हुए भी आर्थिक क्षेत्र मे समृद्धि वनी हुई थी। जहाँ तक सामाजिक क्षेत्र का सम्वन्ध है, यह काल अनेक पारम्परिक तथा वैदिक धर्म द्वारा प्रतिष्ठापित सामाजिक व्यवस्थाओ मे विश्वास खोता जा रहा था। इसके अनेक कारणो मे प्रमुख कारण ब्राह्मणों की अधिनायकतावादी प्रवृत्ति थी। अव ब्राह्मणों के नेतृत्व को नकारा जा रहा था तथा अनेक रूढ़िवादी मान्यताओ, वर्णव्यवस्था की कुरीतियो गूढ कर्मकाण्डो आदि के सिद्धान्तो का तर्कपूर्ण खण्डन किया जा रहा था। धार्मिक क्षेत्र में अनेक मत थे तथा विभिन्न मतावलम्वी किसी सरल, सुवोध तथा व्यावहारिक धर्मदर्शन की खोज मे व्यस्त थे।

संस्कृति तथा सभ्यता के उपरोक्त स्वरूप मे पूर्वकाल की अपेक्षा अनेक नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती है। ये मात्र नवीनता ही नही परन्तु परिवर्तन थे। ऋग्वैदिक काल से चली आ रही लकीर अब टेढी मेढ़ी हो रही थी जो सामान्यत: एक नयी दिशा, दशा तथा क्रान्ति की ओर ले जा रही थी।

छठी शताब्दी ई० पू० के इस काल को हम भारतीय इतिहास का परिवर्तन युग या संक्रमणकाल भी कह सकते हैं। इसके पूर्व मे एक ऐसी सुनिश्चित सभ्यता थी जो लम्बी यात्रा के बाद क्लान्त हो चुकी थी तथा इसके पश्चात में एक क्रान्ति थी—ऐसी क्रान्ति जिसने भारतीय जीवन को ऊपर से नीचे तक परिमार्जित कर दिया।

धार्मिक क्रान्ति

छठी शताब्दी ई० पू० में विश्व के अनेकानेक भागो के समान भारत ने भी सुधार मार्ग तथा धार्मिक चेतना की ओर चरण बढ़ाये। अब अनेक परिव्राजक, दार्शनिक, मीमांसक, विचारक, उपदेशक आदि पारम्परिक मान्यताओ के प्रति तार्किक विरोध प्रस्तुत करने लगे। यह समय वह था जब कि ऋग्वैदिक युग से चला आ रहा वैदिक धर्म कठोर बन गया था। अब स्वयं उसके प्रयासो मे समय की गति के अनुसार चलने की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। यह बात विशेष महत्व की है कि कोई भी धर्म, विचार तथा सिद्धान्त तभी तक जीवित रह सकता है जब तक उसमे काल के कठोर हाथों से लड़ने की क्षमता रहती है। जब इस क्षमता का ह्रास होने लगता है तो यह निश्चित समझना चाहिये कि अब अन्त निकट है। अत: भारत की तत्कालीन क्रान्ति ह्रासजनित धर्म या परम्परा की शिला पर ज़न्म ले रही थी।

धार्मिक क्रान्ति के कारण

कालक्रम, कार्यक्रम तथा क्रमबद्धता के दृष्टिकोण से छठी शताब्दी ई० पू० की धार्मिक क्रान्ति आकस्मिक नही थी अपितु इसके अनेक कारण थे। क्रान्ति के आगमन से पूर्व एक लम्बे अर्से से प्राचीन मान्यताओ के विरोध मे अनेक प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे तथा जब क्रान्ति आयी तो लोगो ने उसे हृदय से लगा लिया। अनेक विद्वानो ने क्रान्ति के कारणो का वर्णन करते हुए इसे धार्मिक या वैचारिक क्रान्ति नही माना है।[1]

काल क्रमानुसार छठी ई० पू० की भारतीय क्रान्ति न तो आकस्मिक थी और न ही इसका

---

१. "पुराने मतों से इसका संघर्ष और धर्म के मामलो मे स्थापित स्वार्थों से लडाई चल रही थी।.......... सन्देश बहुत पुराना था, फिर भी बहुत नया था और जो लोग कि ब्रह्मज्ञान की बारीकियो मे उलझे हुये थे उनके लिये मौलिक था। इसने विचारशील लोगो की कल्पना पर अधिकार कर लिया था; यह लोगो के दिलो मे गहरा पैठ गया।" 'हिन्दुस्तान की खोज'—पं० जवाहरलाल नेहरू।

"It is necessary to add here that the remarkable excitement of the sixth century B. C which led to the rise of Buddhism and Jainism was largely intellectual and religious in origin, but not exclusively so.........The deep seated and wide-spread resentment against the existing conditions which characterised the age, greatly strengthened the quest of new values and philosophies." 'ग्राउन्ड वर्क्स ऑफ एन्शियन्ट इण्डियन हिस्ट्री'—जे० एस० नेगी।

कोई एक कारण था। पूर्व वैदिक काल से चले आ रहे अनेक कारण इसको पूर्व निमन्त्रण दे चुके थे। क्रान्ति के कारणो का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

आर्य तथा अनार्यों की प्रतिद्वन्द्विता—यद्यपि आर्य-अनार्य संघर्ष को हुए कई युग बीत चुके थे तथापि आर्य-अनार्य भेद समाप्त नही हो पाया था। राजनैतिक दृष्टिकोण से देश दो प्रमुख भागो मे विभाजित प्रतीत होता था। दक्षिण पूर्वी भारत अनार्य सभ्यता तथा उत्तरी पश्चिमी भारत आर्य सभ्यता का केन्द्र था। आर्य व्यवस्थाकारो ने दक्षिण पूर्वी भारत को अनार्य घोषित किया हुआ था। द्वेष से द्वेष तथा प्रेम से प्रेम उत्पन्न होता है। आर्यों ने अनार्यों को ताड़ना, तिरस्कार तथा उपेक्षा ही दी थी अतः अनार्य प्रदेश आर्य प्रदेश को अपने लिये अनुपयुक्त समझते थे। देश मे दो परस्पर विरोधी सभ्यताएँ अपनी मान्यताओं मे अडिग थी। आर्यों के प्रबल विरोध का केन्द्र मगध था और यहीं से आर्य धर्म तथा ब्राह्मण एकाधिपत्य के विरुद्ध प्रथम संघर्ष छेड़ा गया।

ब्राह्मणों के प्रभुत्व का परिणाम—धार्मिक क्रान्ति के उदय का कारण यह भी था कि उस समय ब्राह्मणो की प्रभुता चरम सीमा पर थी। इस कारण समाज के अन्य वर्णों मे असन्तोष व्याप्त था। अनेक विधियो तथा परम्पराओ के अनुसार ब्राह्मण यदि अन्याय भी करता था तो वह क्षम्य था। वे अनेक करों से मुक्त थे। एक ओर तो ब्राह्मण या पुरोहित समाज मे अपनी सर्वोपरिता कायम किये हुआ था तथा दूसरी ओर वे जनसाधारण की भावनाओ को कुचल रहा था।[1] निश्चय ही—यह धार्मिक क्रान्ति का प्रबल कारण था।

ब्राह्मण तथा क्षत्रियो की प्रतिद्वन्द्विता—समाज के दो प्रमुख वर्ण ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की पारस्परिक प्रतिद्विन्द्विता अब उभर कर सामने आ गयी थी। पूर्व काल के क्षत्रिय शासक या तो धर्मभीरु थे अथवा वे राज्य मे धर्म की स्थापना के कारण स्वतः धर्म के प्रतिनिधि के रूप में ब्राह्मण या पुरोहित को पूज्य मानते थे—परन्तु अब दशा बदल गई थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के बीच विरोध अब ठीक वैसा ही था जैसा कि मध्यकाल के योरोप मे पोप तथा राजा के बीच था। पूर्वकाल मे अपने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के कारण क्षत्रियो ने ब्राह्मणो को श्रद्धा तथा आदर का स्थान दिया। यहाँ तक कि शासकीय कार्यों मे भी उसे अपना प्रमुख सलाहकार माना। उसे समाज की शिक्षा तथा धार्मिक जीवन मे अनेक उत्तरदायित्व दिये गये। क्षत्रिय अपने कर्म के अनुसार देश की रक्षा, शासन व्यवस्था तथा न्याय का अधिकारी था। क्षत्रिय अपने कार्य की सीमाओ का उल्लंघन भी नही करता था। परन्तु ब्राह्मणो को अभी भी अपने प्रभुत्व से सन्तोष नही था। शनैः शनैः ब्राह्मणो ने धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड तथा मन्त्रणा के माध्यम से क्षत्रियो के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। अब वे कहने लगे कि क्षत्रिय राजा तो केवल शासक है, परन्तु वे (ब्राह्मण) उसके संरक्षक

---

१. "एक तो वह (ब्राह्मण) क्रिया काण्ड पर बहुत जोर देता था, यज्ञ कराते-कराते कभी थकता ही नही था और तपस्या भी बहुत कराता था। बाहरी बातो पर बहुत जोर देता था पर आत्मा की आभ्यान्तरिक तृष्णा बुझाने का कोई प्रयत्न नही करता था।.........ब्राह्मण धर्म अनुयायी के बीच ब्राह्मण पुरोहित ने अपना आसन और प्रभुत्व जमा लिया था। जो भक्ति, श्रद्धा और धर्म के लिये थी उसे उसने अपनी ओर खीच लिया था। थोड़े दिन तक यह क्रम चलता रहा पर यह भी अवश्यम्भावी था कि किसी दिन सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होकर पुरोहिती को ध्वंस कर दे।"

—डा० बेनी प्रसाद

हैं। इस आड़ मे वे नीति निर्धारण, वैदेशिक सम्बन्धो तथा शासकीय कार्यों में हस्तक्षेप करने लगे। यह क्षत्रिय राजा के लिये चुनौती थी। अपने कर्म के महत्व के कारण क्षत्रियो को भी समाज में बड़ा आदर सम्मान प्राप्त था। क्षत्रिय के हृदय में अब दुविधा हुई; क्योंकि समाज में उसका महत्व भी कुछ कम नही था। स्वयं ब्राह्मण भी अपनी रक्षा के लिये उसी पर आश्रित था। अब क्षत्रिय सोचने लगा कि चतुर्वर्णो मे उसे दूसरा स्थान ही क्यो प्राप्त है ? क्या वह ब्राह्मण से कम महत्व रखता है ? ब्राह्मण को सर्वोपरि प्रतिष्ठा क्यो प्राप्त है ? निश्चय ही इन प्रश्नो पर क्षत्रियो ने गंभीर रूप से विचार किया होगा और परिणामस्वरूप उनके मन मे ब्राह्मणो के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई होगी। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप क्षत्रिय को ब्राह्मण से उच्च बनाया गया है।

क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण में असन्तोष—क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्ण की प्रतिद्विन्द्विता को देख कर वैश्य वर्ण ने भी विचार किया। धर्म तथा राजनीति का आधार अर्थ या धन होता है। आर्थिक समृद्धि का दायित्व वैश्य के कंधो पर था। अतः वैश्य वर्ण को भी अपने महत्व का आभास होने लगा। ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिद्विन्द्विता तथा वैश्य वर्ण को अपने महत्व का आभास होने से क्षत्रियो तथा अनेक वैश्यो ने ब्राह्मणो की भाँति पठन-पाठन प्रारम्भ कर दिया। इनका विचार था कि ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा तथा प्रमुखता का कारण वेदों में उनकी पारंगतता है अतः यदि मानसिक प्रयास किया जाये तो उन्हे भी ब्राह्मणों के ज्ञान की समकक्षता प्राप्त हो सकती है। ऐसी भावना तथा प्रयास का जन्म छठी शताब्दी ई० पू० से काफी पहले हो चुका था।

शूद्रों की दयनीय दशा—शूद्रों की दशा दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती जा रही थी। समाज के हीन कार्यों का सम्पादन तथा दूसरो की दया का आश्रय—बस यही उनकी उपलब्धि थी। जन्म लेकर मृत्यु तक शूद्र कोल्हू के बैल की तरह आँखो पर पट्टी बाँध कर सेवा करके केवल प्रताड़ना पाता था। जनसंख्या मे बहुसंख्यक होते हुए भी उनको कोई अधिकार प्राप्त नही था। इनकी दशा तो इतनी दयनीय थी कि वे स्वयं अपने विषय में कुछ सोच भी नही सकते थे, कर भी नही सकते थे। दया की भावना तथा मानव की इतनी दुर्दशा देखकर समाज सुधारको का ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार शूद्रो की दयनीय दशा के कारण असन्तोष का फैलना—धार्मिक क्रान्ति का एक प्रमुख कारण था।

कर्मकाण्ड तथा यज्ञादि की जटिलता—वैदिक सभ्यता के आरम्भिक तथा मध्यकाल मे कर्मकाण्ड तथा यज्ञ विधि सरल, विशुद्ध, आडम्बरहीन तथा सभी के लिये सुलभ थी। तब व्यक्तिगत रूप से यज्ञ सम्पादित किये जाते थे। सदाचार, प्रार्थना तथा आत्मनिवेदन द्वारा कोई भी व्यक्ति धार्मिक सन्तोष प्राप्त कर सकता था। तब के यज्ञों में न तो कर्मकाण्ड की जटिलता थी और न ही हिंसा और अपव्यय था। पुरोहित थे परन्तु वे अत्यावश्यक प्रकरण नही थे। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० में आराध्य और आराधक के बीच पुरोहित अथवा कर्मकाण्डी ब्राह्मण का होना आवश्यक [illegible]ह कि महत्व को जमाये रखने के लिये ब्राह्मणो ने यज्ञ का सम्पादन जटिल तथा कठिन [illegible] माता-पिता के की विधियाँ तथा कर्मकाण्डी क्रियायें इतनी जटिल तथा गोपनीय बना दी गई [illegible]ने इस व्यवस्था का भी कठिनता का सामना करना पड़ जाता था। पहले एक पुरोहित की ज[illegible] और तत्पश्चात सत्रह की। यज्ञ के अनुष्ठान वृहद तथा उनके सम्पाद[illegible]ाये गये नियमो में घोर कई यज्ञ तो वर्षों तक चलते थे। यज्ञो मे नाना प्रकार के होम, [illegible]त्रिय करे तो अधिक, वैश्य के [illegible]कार ही नही था। फलतः इस

क्रियाओं की वृद्धि कर दी गई। जन साधारण तो ऐसे यज्ञ का आयोजन करने की सोच भी नहीं सकता था। फलतः कर्मकाण्ड की जटिलता तथा यज्ञो में होने वाले अपव्यय के कारण इनका विरोध होने लगा और ब्राह्मण धर्म द्वारा मान्य कर्मकाण्डी यज्ञ अनावश्यक तथा व्यर्थ समझे जाने लगे। समाज के बौद्धिक रूप से जागृत वर्ग ने अनुभव किया कि यज्ञो की अपेक्षा आचार-विचार की शुद्धता तथा कर्म की पवित्रता ही धर्म है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने यज्ञ और कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहा—"ब्राह्मण, मैं लकड़ी जलाने की अपेक्षा आन्तरिक ज्योति जगाना चाहता हूँ········क्रोध धुआँ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्त्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है।·········ब्रह्म प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। सो, तू ऐसे हवन करने वालो को नमस्कार कर।" अब वैदिक धर्म को वर्ण विशेष यथा ब्राह्मणो के स्वार्थ का साधन समझा जाने लगा। परिणामतः धार्मिक असन्तोष और गहरा हो गया।

वेदवाद—वैदिक धर्म द्वारा वेदो को अपौरुषेय, निर्विवाद, अक्षय एवं पूर्ण माना जाना तथा उनका सभी के लिए ग्राह्य न समझा जाना भी धार्मिक असन्तोष का कारण था। यहाँ पर एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि वेदो को सभी ने पवित्र तथा सम्माननीय माना है। बौद्ध-जैन धर्म तथा सभी अन्य मतो या दर्शनो ने वेदो के प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की है तथा कभी भी वेदो मे निहित ज्ञान को चुनौती नही दी। परन्तु बाद के व्यवस्थाकारो ने यह कहना शुरू कर दिया कि 'वेद वाक्य सत्य हैं, वे ही धर्म हैं, उनके विरुद्ध कुछ कहना या उन्हे न मानना अधर्म है। यह उचित नही था। अपने आपको श्रेष्ठ कहने मे कोई दोष नही परन्तु दूसरे को निकृष्ट कहना तो स्वयं वेद की उक्तियो के विरुद्ध आचरण करना है। यह असन्तोष का कारण था। इसके अतिरिक्त छठी शताब्दी ई० पू० मे वेदों के ज्ञाता तथा ऐसे ऋषि-मुनियो का अभाव था जो तत्कालीन परिस्थितियो मे वेद ज्ञान की उपयोगिता तथा महत्व को स्पष्ट कर पाते। इसके विपरीत अब वेदज्ञान, मन्त्रो तथा कार्यों का प्रयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाने लगा। फलत. समाज का अधिकांश बौद्धिक वर्ग आन्दोलित हो उठा। अब कहा जाने लगा कि वेदों का ज्ञान तथा कर्मकाण्ड संकुचित तथा सीमित है। सुधारकों ने आवाज उठायी तथा कहा कि वेदो मे आस्था रखने तथा मन्त्र पाठ द्वारा मोक्ष या सत्य की प्राप्ति असंभव है। मन्त्र ज्ञान मानसिक विषय है, आत्मा का विषय नही। ब्राह्मण वर्ग के पास इसका कोई उत्तर नही था और न ही अब उनमें इतनी क्षमता थी कि वेदो के ज्ञान रहस्य को पुनः उजागर करके व्यक्त शंकाओ का निवारण कर सकें।

बहुदेववाद—ब्राह्मण धर्म के अनुसार मानव का अस्तित्व देवताओ की कृपा पर निर्भर था। उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति के सभी कार्य किसी न किसी देवता के नियन्त्रण मे होते हैं तथा उस देवता की कृपा के अभाव मे सब कुछ व्यर्थ है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं मानव की स्वतन्त्रता नगण्य थी। इसके अलावा देवता भी एक या दो नही वरन अनगिनत थे। सृष्टि का कोई भी भाग ऐसा ही नही था और ...का कोई प्रमुख देवता न हो। आकाश, वायु, पृथ्वी, पाताल, अन्तरिक्ष तथा प्रकृति के आभ्यान्तरिक तृष्णा बु... ...यवो के अलग-अलग देवता थे। मनुष्य के वाह्य तथा अर्न्तजगत में भी अनेक ब्राह्मण पुरोहित ने अपना ... के विविध स्वरूपो की उपासना विधि और उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के साधन उसे उसने अपनी ओर खीच ... हो सकते थे तथा रुष्ट भी। यह सब मानव जीवन को बजाय सन्तोष देने था कि किसी दिन सच्ची धार्मि... ...ी दशा मे जनजीवन देवता का मित्र या सहयोगी न होकर केवल देवता ...न गया। मनुष्य कठपुतली के समान देवता की इच्छा का दास था।

मनुष्य के आत्मविश्वास, पुरुषार्थ, परिश्रम तथा व्यक्तित्व का नाश हो रहा था। इससे हीनता की भावना उत्पन्न हो रही थी। जिस मानव कल्पना ने देवता का निर्माण किया वह स्वयं देवता का दास बना हुआ था। वह स्वयं तो नियन्त्रण मे हो गया और उसके द्वारा निर्मित देवता उसके नियन्त्रक हो गये। फलस्वरूप अनेक चेतनशील मानव मस्तिष्को ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा देवी-देवताओ के प्रभाव से मुक्ति के साधनो के विषय मे क्रान्तिकारी ढंग से सोचना शुरू कर दिया।

तन्त्र मन्त्र का बाहुल्य तथा अन्धविश्वास—वैदिक ऋचाओ का स्थान अब अनेक तन्त्र मन्त्रों ने लिया था। इस धारणा के फलस्वरूप कि मन्त्र शक्ति द्वारा देवताओ को बुलाकर अनेक दुरूह कार्य सम्पादित कराये जा सकते हैं, अन्धविश्वास पनपने लगा। जिनका मन्त्र ज्ञान सीमित था वे भूत, प्रेतो, जादू, टोने में विश्वास करने लगे। बौद्धिक रूप से चेतन मस्तिष्क इस व्यवस्था तथा विश्वास से असन्तुष्ट होने लगा। अतः अन्धविश्वास के विरुद्ध सत्य विश्वास की प्रतिक्रिया हुई।

धार्मिक साहित्य की गूढ़ता तथा क्लिष्टता—प्रत्येक समाज के धर्म के दो स्वरूप होते हैं—पहला जन साधारण का धर्म तथा दूसरा बौद्धिक रूप से जागृत वर्ग का चिन्तन। छठी शताब्दी ई० पू० मे धर्म का केवल एक ही स्वरूप था यथा वैदिक धार्मिक साहित्य मे वर्णित गूढ़ रहस्य तथा उसकी क्लिष्ट भाषा। जन साधारण के धर्म के रूप में केवल अन्धविश्वास तथा बहुदेववादिता थी। प्रायः जन साधारण जब स्वयं अन्धविश्वास से ऊब कर धार्मिक साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था तो उनमे वर्णित गूढ रहस्य उसकी समझ मे नही आते थे। इसके अलावा इस साहित्य की भाषा जनसाधारण की समझ से बाहर थी। अतः इस समय ऐसे धार्मिक साहित्य की आवश्यकता थी जो सीधे सादे सिद्धान्तों से युक्त हो तथा जन साधारण की भाषा मे हो। इस धार्मिक असन्तोष की प्रतिक्रियास्वरूप जिस बौद्ध तथा जैन धर्म के साहित्य का सृजन हुआ—वह सरल, साधारण तथा जन भाषा मे था।

सामाजिक नियमों की कठोरता और असमानता—इस काल की सामाजिक व्यवस्था मे कठोर नियमों का बोलबाला था। चतुर्वर्णों के कारण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रतिद्वन्द्विता मे अब वैश्य भी सम्मिलित हो गये। शूद्र वर्ण भी अब अपने कर्मगत महत्व को समझने लगा था। अतः उसने भी अपनी दशा को उन्नत बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। कठोर नियमो का उल्लघन होने पर अनेक प्रकार के दण्डो की व्यवस्था के कारण प्रतिक्रिया होने लगी।

रक्त मिश्रण तथा अनुलोम, प्रतिलोम एव अन्तर्जातीय विवाहो के परिणामस्वरूप अनेक उपजातियाँ उत्पन्न होने लगी। विभिन्न प्रदेशो के एक ही वर्ण के लोग अब उसी वर्ण के दूसरे प्रदेश वालो को अपने से भिन्न समझने लगे। अब प्रश्न उठा कि उपजातियो तथा वर्णसंकरो को किस वर्ण मे रखा जाये। ब्राह्मणो ने उन्हे शूद्र घोषित कर दिया। इसके दो परिणाम हुए—पहला तो यह कि इसे न तो शूद्रो ने ही स्वीकार किया और न ही उपजातियो या वर्ण संकरो ने। माता-पिता के वैवाहिक सम्बन्धों के परिणाम उन्हे क्यो भोगने पड़ें? समाज के प्रगतिशील वर्ग ने इस व्यवस्था का घोर विरोध किया।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के विभिन्न वर्णों के लिए बनाये गये नियमो में घोर असमानता भी थी। ब्राह्मण अपराध करे तो उसे कम दण्ड मिले, क्षत्रिय करे तो अधिक, वैश्य के लिए और कठोर तथा शूद्र के लिए कठोरतम। शूद्र को तो कोई अधिकार ही नही था। फलतः इस सामाजिक असमानता ने असन्तोष की अग्नि मे घी डाल दिया।

जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था में अब छुआछूत तथा अस्पृश्यता का दोष आ गया था। शूद्र की छाया से भी बचा जाने लगा। उनके निवास गृह नगर तथा ग्राम के बाहर निश्चित कर दिये गये। सामाजिक जीवन मे आचार विचार तथा व्यावहारिक नियमो की शुद्धता तथा पवित्रता के स्थान पर अन्धविश्वास, जादू,-टोने, भूत-प्रेत आदि को महत्व दिया जाने लगा। स्त्री का महत्व दिनोंदिन घटता जा रहा था। वैदिक काल मे उसे जो प्रतिष्ठित पद प्राप्त था वह अब छिन चुका था। अब वह केवल भोग विलास तथा सन्तान प्राप्ति का साधन समझी जाने लगी। उसके सारे अधिकार पुरुषो ने ले लिए तथा एक प्रकार से वह पुरुष की गृहदासी हो गई। समाज का नैतिक स्तर गिरने लगा था। अब वर्णवाद, वर्गवाद, उपजातियो के प्रादुर्भाव, स्त्रियो की शोचनीय दशा, अन्धविश्वासो मे आस्था तथा समाज के नैतिक पतन के कारण बौद्धिक रूप से चेतन वर्ग ने सुधारवादी आन्दोलन करके इन समस्याओ का हल ढूंढना शुरू कर दिया।

आर्थिक विषमता—छठी शताब्दी ई० पू० मे देश को आर्थिक दशा उन्नत तो थी परन्तु समाज मे आर्थिक असमानता थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि समाज के बहुसंख्यक लोग शूद्र थे। वे सम्पत्ति संचय करने मे असमर्थ थे। वाणिज्य व्यापार उनके लिये निपिद्ध था। श्रम करके जीविकोपार्जन करने के कारण वे आर्थिक समृद्धा से वंचित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि धनी और धनी तथा निर्धन केवल निर्धन ही रहा। आर्थिक प्रगति के कारण जो समृद्धता आई उसका अधिकांश वैश्य वर्ण, कुछ कम ब्राह्मण वर्ण तथा उनसे कम क्षत्रिय वर्ण को मिला। यह क्रम भी आर्थिक असमानता सिद्ध करता है।

वर्ण व्यवस्था का आधार जो पूर्वकाल मे कर्मगत विशेपता पर निर्भर करता था अब जन्मगत हो गया। पहले समाज की आवश्यकतानुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्मक्षेत्र निश्चित था। चारो वर्ण सुचारु रूप से अपने कर्म, कर्त्तव्यो तथा कुशलता द्वारा समाज की आवश्यकता पूर्ति करते थे। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० वर्ण कर्मगत न रह कर जन्मगत हो गया। फलतः एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के कार्यों को अपनाने लगे। ब्राह्मण अर्थ सिद्धि के लिए धर्म कर्म को त्याग कर व्यवसाय क्षेत्र मे आने लगे तो क्षत्रिय भी रक्षा भार त्याग कर अर्थोपार्जन करने लगे। दीघ निकाय में ऐसे ब्राह्मणो का उल्लेख है जो पशुपालक, भूमिधर, कृषक, व्यवसायी, गायक, चारण तथा चिकित्सक का कार्य करते थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, धर्म तथा राजनीति के साथ साथ आर्थिक क्षेत्र मे भी प्रभुत्व जमाने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार चतुर्वर्ण की आर्थिक व्यवस्था नष्ट होने लगी जिसके कारण आर्थिक असन्तुलन का जन्म हुआ।

नैतिक मूल्यों में पतन—वैदिक काल के नैतिक स्तर तथा छठी शताब्दी के नैतिक स्तर में जमीन आसमान का अन्तर था। अब नैतिकता का पतन हो चुका था। चारित्रिक पतन के साथ साथ कुरीतियाँ तथा अन्धविश्वास पनप रहे थे। उच्च वर्ग के लोग भोग विलास मे लिप्त होकर स्त्रियो तथा शूद्रो के साथ अनैतिकता का व्यवहार करने लगे थे। मदिरा पान का प्रचलन जोरो पर था। वैश्यावृत्ति का प्रादुर्भाव तथा उसे समाज का आवश्यक अंग माना जाना, स्त्रियो की दशा मे गिरावट पुरुष के नैतिक पतन का संकेत है। मदिरा, वैश्या, द्यूत क्रीडा आदि ने अपराधी प्रवृत्ति तथा दुराचार को बल दिया। फलतः समाज का नैतिक ह्रास होने लगा। ऐसी दशा मे सुधारवादी विचारो का पनपना स्वाभाविक ही था। इस समय के नैतिक पतन का अनुमान हम महात्मा बुद्ध के इन शब्दो से लगा सकते हैं "जो लोग जातिवाद मे फँसे है, गोत्रवाद मे लिप्त हैं, आवाहविवाह

करते हैं—वे अनुपम विद्याचरण से दूर है"…… …"जाति मत पूछ—आचरण पूछ।" आचरण को प्रमुखता देने वाले ये शब्द निश्चय ही तत्कालीन नैतिक पतन के निराकरण के लिये कहे गये थे।

परिवर्तन की आकाँक्षा

छठी शताब्दी ई० पू० का वातावरण सत्यान्वेषण के प्रयासो मे लगा था। इस काल की वैचारिक प्रवृत्ति पुरातन मान्यताओं को उनके मूल रूप मे स्वीकार करने को तैयार नही थी। "स्वयं देखो, सुनो, अनुभव करो और तव यदि मस्तिष्क और हृदय चाहे तो स्वीकार करो," अव अन्धश्रद्धा का युग बीत चुका था तथा किसी भी धर्म, विचार, व्यवस्था तथा परम्परा को ग्रहण करने से पहले उसे परख लेने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। गणतन्त्रीय राज्यो ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अभिव्यक्ति के अधिकार पर विशेष वल देकर, राजतन्त्रीय व्यवस्था में सन्देह उत्पन्न कर दिया था। परिवर्तन की चाह तो सभी मे होती है इसके परिणाम चाहे जेसे भी हो। डा० वेनी प्रसाद ने इस विषय में वडी सही बात कही हे उनके अनुसार "वहुत से लोगो के विचार पढ़ने, सुनने से वदल गये थे पर पुराना धर्म पुरानी लकीर ही पीट रहा था। वही देवता, वही मन्त्र, वही यज्ञ, भावनाएँ जारी थी। यह अवश्यम्भावी था कि जल्दी या देर में नई लहरें इन सवको पीछे ढकेल दें और पुरानी जमीन पर अधिकार जमा लें।"

परिवर्तनों का प्रारम्भिक स्वरूप

छठी शताब्दी की क्रान्ति के उपरोक्त कारणो से जिस असन्तोप ने जन्म लिया उसकी अभिव्यक्ति पुरातन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के विरोध मे हुई। परिणामस्वरूप नवीन धार्मिक आन्दोलन, बौद्धिक चेतनता तथा नवीन सुधारों को सहज ही समर्थन तथा प्रोत्साहन मिलने लगा। परिस्थितियो की माँग पूर्ति के लिये अनेक विचारको, दार्शनिको, चिन्तको, सुधारवादियो, परिव्राजको, मीमासको, प्रगतिवादी प्रवृत्ति वाले धर्म प्रचारको का प्रादुर्भाव हुआ। यह क्रान्ति का प्रारम्भ था जो अभी संगठित रूप से अभिव्यक्त नही हो पा रहा था। प्रयासों के उद्देश्य तथा दिशा मे समानता थी परन्तु विधि तथा साधनो मे अनेकता थी।

सुधारवादी तथा धार्मिक कारणो से जिन परिवर्तनो का प्रादुर्भाव हुआ उसकी सर्वप्रथम अभिव्यक्ति नये विचारको, मतो तथा वादो के रूप मे हुई। देश का वातावरण सुधार एवं धार्मिक परिवर्तन की वाणी से गूंजने लगा। स्थान स्थान पर श्रमण, भिक्षु, परिव्राजक, प्रचारक अपने विचारो तथा तर्क-वितर्क द्वारा पुरातन मान्यताओ पर कुठाराघात करने लगे। अभी तार्किक वाद-विवाद का स्वरूप अस्त-व्यस्त था तथा उसने एक निश्चित दिशा ग्रहण नही की थी। पुरातन और नवीन के बीच का यह समय नये-पुराने विचारो का संक्रमण काल था। तत्कालीन सुधारवादी सम्प्रदायो का वौद्ध तथा जैन ग्रन्थो से पर्याप्त परिचय प्राप्त होता हे। इनमे मुख्य सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं :—

(i) **अक्रियावादी**—इस सम्प्रदाय का नाम जैन ग्रन्थ 'सूयगडंग' मे मिलता हे। इसकी ८४ शाखायें थी। इस सम्प्रदाय के मतानुसार सभी कुछ नाशवान था। मानव जीवन न तो कर्म प्रधान है और न ही आत्मा का कोई अस्तित्व।

(ii) **क्रियावादी**—जैन ग्रन्थ 'सूयगडंग' मे प्रक्रियावादी सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुये

इसकी १०८ शाखायें बताई गई हैं। यह सम्प्रदाय आत्मा के अस्तित्व तथा कर्म फल में विश्वास करता था। इस जीवन के सत्कर्मों का फल प्राप्त होता है यह मानते हुये इस सम्प्रदाय ने सदाचार, सत्कर्मों तथा नैतिकता आदि गुणो पर विशेष बल दिया।

(iii) उच्छेदवादी—इस सम्प्रदाय का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस सम्प्रदाय का मत था कि पुनर्जन्म तथा परलोक का सिद्धात मिथ्या है तथा इस जीवन के पश्चात कोई जीवन नहीं होता।

(iv) अहेतुवादी—इनके मतानुसार जन्म तथा मृत्यु का कोई कारण नहीं होता तथा यह सब आकस्मिक घटना के रूप मे होता है।

(v) पुब्बेकतावादी—ये पुनर्जन्म मे विश्वास रखते थे। इनका कथन था कि पूर्व जन्म के कर्मानुसार इस जन्म मे कर्मफल प्राप्त होता ह।

(vi) अज्ञानवादी—इस सम्प्रदाय का नामोल्लेख जैन ग्रन्थ सूयगडंग में मिलता है। इस सम्प्रदाय का मत था कि ज्ञान मिथ्या है तथा कोई भी ज्ञान पूर्ण नही है। अतः मनुष्य को आध्यात्मिक विषयो पर चिन्तन नही करना चाहिये। जैन साहित्य के अनुसार इस सम्प्रदाय की ६७ शाखायें थीं।

(vii) विनयवादी—इस सम्प्रदाय का वर्णन जैन ग्रंथ 'सूयगडंग' मे मिलता है तथा इसकी ३२ शाखाओ का नामोल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय का विश्वास था कि केवल विनय, विनम्रता एवं अहिंसा द्वारा जीवन का कल्याण होता है।

स्थानीय आधार पर भी अनेक सम्प्रदाय अपने मतो का प्रचार कर रहे थे। इनमें चण्डिदेवक भूयकम्पिय, धम्म चिन्तक, पिण्डोलग, वाणभिग, वारिखल, इस्सरकारणवादी तथा खाविज्जावादी सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मोटे तौर पर बौद्ध साहित्य मे इस समय के ६२ सम्प्रदायो तथा जैन साहित्य मे ३६३ सम्प्रदायो का उल्लेख है। इन सभी सम्प्रदायो ने क्रान्ति के प्रारम्भ में मानव जीवन के अनेकानेक नवीन प्रकरणो का रहस्योदघाटन किया तथा सरल, बोधगम्य एवं व्यावहारिक सिद्धान्तो को जन्म दिया।

बौद्ध तथा जैन धर्म के अनेक उद्धरणो से पता चलता है कि इस समय चारो ओर श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक, तार्किक तथा मीमांसकों की वाणी गूँज रही थी। मज्झिमनिकाय के अनुसार इस समय ६ प्रमुख विचारक थे। ये सब महात्मा बुद्ध के समकालीन बताए गये हैं। इन विचारको का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या वर्ग से नहीं था अपितु ये स्वतन्त्र विचारक थे। इनके नाम तथा दर्शन धर्म सम्बन्धी विचार निम्नलिखित हैं—

(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप)—ये दास पुत्र थे तथा अपनी हीन स्थिति से ऊब कर घर से निकल भागे। इन्हें कष्ट सहने पड़े तथा चोरो ने इनके वस्त्रादि छीन लिये। नग्नावस्था में ये एक ग्राम में पहुँचे तथा अपना जो परिचय दिया उसमे हमें इनके दार्शनिक विचारो का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा 'मेरा नाम पूरण कस्सप हैं। मैंने सारी विद्याओं का अध्ययन किया है। मैं ब्राह्मण भी हूँ तथा बुद्ध भी। मैंने सारी इच्छाओं का दमन कर लिया है।" पूरण कस्सप बौद्ध धर्म के विरोधी बताए गये हैं तथा कहा गया है कि वे पाप और पुण्य मे कोई भेद नही मानते थे। इनकी मान्यता थी कि मनुष्य जो कुछ भी करता है वह उसे परिस्थितिवश करना पड़ता है।

(२) अजितकेस कम्बलि—मानव केश से बना हुआ कम्बल पहनने के कारण इनके नाम मे

'कम्बलि' शब्द जुड़ा हुआ था। ये भौतिकवादी थे तथा इनकी मान्यता थी कि शरीर का निर्माण चार भौतिक तत्वो—पृथ्वी, अग्नि, जल तथा वायु—द्वारा होता है। मृत्यु के पश्चात ये चारो तत्व अपने मूल स्वरूपों मे लौट जाते हैं। इनका कथन था कि विश्व में मनुष्य की स्थिति सराय मे रहने वाले अजनबी व्यक्ति की तरह है तथा पाप, पुण्य, यज्ञ, होम, दान, दक्षिणा, बलि, असत्य आदि निरर्थक हैं।

(३) **मक्खलिपुत्त गोसाल**—कहा जाता है कि प्रारम्भ मे ये जैन धर्म में विश्वास रखते थे परन्तु बाद में इन्होने अलग से 'आजीवक सम्प्रदाय' की स्थापना की। इस सम्प्रदाय को बड़ा सम्मान प्राप्त था। अशोक ने भी इस सम्प्रदाय की सहायता के लिये बाराबर की पहाडियो मे कतिपय निर्माण करवाये थे। मक्खलिपुत्त गोसाल के अनुसार सारा संसार नियति के अधीन है तथा इस पूर्व निश्चितता के कारण मानव प्रयासो का कोई फल नही है। भाग्य तथा दुर्भाग्य के अनुसार सुख दुख भोगना पड़ता है। इस प्रकार के विचारों के कारण इन्हे नियतिवादी तथा अहेतुवादी कहा गया। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के अनुसार मक्खलिपुत्त गोसाल के 'आजीवक सम्प्रदाय' के अनुयायी वस्त्रहीन, गन्दे तथा एकान्तप्रिय थे।

(४) **पकुध कच्चायन (प्रक्रुध कात्यायन)**—इनके विचार अनोखे थे। इनका मत था कि जीवन में नैतिकता, सद्व्यवहार, आचार विचार अनावश्यक है। वे केवल सात सत्यो में विश्वास करते थे, यथा—पृथ्वी, जल, वायु, सुख, दुख तथा जीवन के अतिरिक्त शेष मिथ्या तथा भ्रामक है।

(५) **संजय बेलट्ठिपुत्त (संजय वेलष्ठि पुत्र)**—इनके मतानुसार विश्व में कुछ निश्चित नही है। अतः किसी भी दर्शन या सत्य को निश्चित रूप से स्वीकार नही किया जा सकता। ईश्वर हो भी सकता है और नही भी हो सकता। मोटे तौर पर इनके सारे मत अनिश्चित तथा सन्देहास्पद थे।

(६) **निगण्ठ नाट पुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र)**—ये महावीर स्वामी थे। इनके विचारों का वर्णन आगे चल कर करेंगे।

बौद्ध धर्म के साहित्य में उपरोक्त ६ प्रचारको का उल्लेख बौद्ध धर्म की मान्यता तथा स्थापना को बल देने के सन्दर्भ मे किया गया है अतः इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि अपने विचारो से असहमत होने के कारण बौद्ध धर्मग्रन्थों के रचनाकारो ने उपरोक्त धर्माचार्यो के मतो के उल्लेख करने मे पक्षपात किया हो।

उपरोक्त सम्प्रदायो तथा प्रचारको के सबल एवं सतत प्रयासो के फलस्वरूप छठी शताब्दी ई० पू० मे भारतीय चिन्तन, जिज्ञासा तथा नवीन विचारो के क्षेत्र मे अद्भुत क्रियाशीलता आ गई। विचार एवं तर्क भिन्न होते हुए भी सभी का लक्ष्य समान था जो जनता के पददलित निम्न वर्ग को प्रगति पथ पर अग्रसरित होने के लिए प्रेरित कर रहा था। धीरे-धीरे ये धार्मिक सम्प्रदाय अपने से बड़े सम्प्रदाय की ओर खिचने लगे और अन्त मे बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय ही शेष रहे। जैसे राजनैतिक रंगमच पर सतत संघर्ष एवं साम्राज्यवादी भावना के कारण एकसूत्रता जन्म ले रही थी ठीक उसी तरह ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदाय भी संगठित होते जा रहे थे।

तत्कालीन सम्प्रदायो तथा प्रचारको मे बड़ा जोश तथा लगन थी। वातावरण की हलचल

तथा उत्तेजना का परिचय बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। अनेकानेक उद्धरणों से पता चलता है कि क्रान्ति का प्रारम्भ घोर तार्किक वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ के माध्यम से हुआ। अभी तक जिन दोषों का मात्र अनुभव ही होता था अब वे सुधारकों की वाणी द्वारा उद्घोषित होने लगे। यहाँ पर हम एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रायः ऐसा सोचा जाता है कि इस क्रान्ति का प्रारम्भ किसी विस्फोट के रूप में हुआ था। परन्तु हमारा मत यह है कि इस क्रान्ति का प्रारम्भ बड़े स्वाभाविक रूप में हुआ था। यह न तो आकस्मिक थी और न विस्फोटक ही।

परिवर्तनों का स्वरूप

हम पहले ही कह चुके हैं कि विचार एवं तर्क की विभिन्नता के पश्चात भी तत्कालीन सम्प्रदायों तथा दार्शनिकों का लक्ष्य एक ही था। परन्तु जब सम्प्रदायों की विभिन्नता तथा प्रचारकों के विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण उद्देश्य प्राप्ति में विलम्ब होने लगा तब धार्मिक वातावरण कुछ अस्तव्यस्त सा हो गया। परोक्ष रूप से यह अस्तव्यस्तता अभिशाप होने की बजाय वरदान बन गई। जिन छोटे बड़े परस्पर विरोधी सम्प्रदायों ने क्रान्ति के प्रारम्भिक काल में जन्म लिया वे स्वतः धीरे-धीरे विलीन होने लगे तथा केवल चार प्रमुख मत ही शेष बचे। ये चार मत थे—(१) जैन धर्म; (२) बौद्ध धर्म, (३) वैष्णव धर्म; तथा (४) शैव मत। इन चारों सम्प्रदायों ने मुख्य रूप से ब्राह्मण धर्म की रूढ़िवादिता पर प्रहार किया। प्रचलित यज्ञवाद तथा कर्मकाण्डी विधानों की मान्यता का खण्डन करके इन्होंने सहज ही जन साधारण का समर्थन प्राप्त कर लिया। यद्यपि ये चारों मत अपने दर्शन तथा मान्यताओं में भिन्न थे परन्तु उनके उद्देश्य समान थे। बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय नास्तिक थे तो वैष्णव तथा शैव आस्तिक थे। यदि बौद्ध और जैन मतानुसार संयम, अनुशासन, तथा सदाचार प्रमुख थे तो वैष्णव तथा शैव मत भक्ति तथा आध्यात्म पर जोर देते थे। परन्तु यह सब होते हुए भी चाहे उनका माध्यम भिन्न हो परन्तु लक्ष्य एक था। फलतः क्रान्ति के प्रारम्भ होते ही क्रान्ति के स्वरूप की अभिव्यक्ति निम्नलिखित स्वरूपों में हुई—

(i) **धार्मिक स्वरूप**—इस क्रान्ति का मूल तथा आधारभूत स्वरूप धार्मिक था। इस स्वरूप के अनुसार तत्कालीन विचारक तथा दार्शनिक बुद्धिवादी तथा तार्किक थे। अपने तर्क की प्रबलता द्वारा उन्होंने रूढ़िवादी तथा परम्परागत ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का जोरदार खण्डन किया। उन्होंने वेदों की प्रमाणिकता तथा ब्राह्मणों की पुरोहिताई को साहसिक चुनौती देकर यज्ञों, बलियों तथा अपव्ययी कर्मकाण्ड का विरोध किया। कर्म पर जोर देकर उन्होंने मनुष्य को अपना भाग्य-विधाता बनाया तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बढ़ावा दिया। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में उन परिवर्तनों के चिह्न स्पष्ट होने लगे जो क्रान्ति के धार्मिक स्वरूप का ही परिणाम थे।

(ii) **सामाजिक स्वरूप**—छठी शताब्दी ई० पू० की सामाजिक दशा के अनेक दोषों के परिणामस्वरूप इस समय के विचारों तथा सुधारकों ने सशक्त आवाज उठायी। उन्होंने समाज के बहु-संख्यक पददलित वर्ग का समर्थन किया तथा वर्ण व्यवस्था, जाति पाँति एवं ऊँच नीच को अस्वीकार किया। फलतः सामाजिक सुधारों द्वारा समाज को एक नयी दिशा मिली तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता, आचार विचार की पवित्रता, अनुशासन, स्त्री पुरुष की समानता आदि को बढ़ावा मिला।

(iii) **राजनैतिक स्वरूप**—छठी शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में देश की राजनैतिक दशा बड़ी अस्तव्यस्त थी। अनेक राजतन्त्रीय तथा गणराज्य प्रणाली वाले राज्यों में पारस्परिक संघर्ष हो रहे

थे । शनैः शनै. इन संघर्षों के परिणामस्वरूप अनेक छोटे-छोटे राज्यो का अस्तित्व समाप्त होने लगा तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी । जब धर्म तथा सामाजिक क्षेत्रों में हलचल हो तो राजनैतिक क्षेत्र उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता । अतः क्रान्ति के स्वरूप की अभिव्यक्ति राजनैतिक क्षेत्र मे भी हुई तथा इस काल मे साम्राज्यवाद की जिस प्रवृत्ति ने जन्म लिया उसके परिणामस्वरूप ही कालान्तर मे मौर्य सामाज्य की स्थापना हुई ।

(iv) सांस्कृतिक स्वरूप—छठी शताब्दी ई० पू० की क्रान्ति ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तनो को जन्म दिया । क्रान्ति से पहले साहित्य की भाषा संस्कृत थी । धार्मिक स्तुतियाँ, उपासना-विधि, मन्त्रोच्चारण आदि संस्कृत मे होते थे जो प्रायः जनसाधारण की समझ मे नही आते थे । परन्तु इस समय के धर्म प्रचारको, उपदेशको आदि ने जनसाधारण की भाषा का उपयोग किया । जैन धर्म ने प्राकृत तथा बौद्ध धर्म ने पाली भाषा का प्रयोग किया । अनेक ग्रंथों की रचना पाली तथा प्राकृत भाषा मे हुई । सांस्कृतिक जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी गहरे परिवर्तन हुए । नैतिकता, सदाचार, अहिंसा, पवित्रता तथा व्यावहारिकता पर अधिक बल दिया गया । लोगो का सामान्य जीवन सरल हो गया । कुल मिलाकर इस क्रान्ति के सास्कृतिक स्वरूप ने जनसाधारण का हृदय जीत लिया ।

परिवर्तनों की विशेषताएँ

वैसे तो छठी शताब्दी ई० पू० की क्रान्ति ने भारतीय मस्तिष्क के सोचने तथा व्यवहार का तरीका ही बदल डाला परन्तु अभी भी वह सभी कुछ शेष था जो आर्य सभ्यता ने 'श्रेष्ठ' के रूप में व्यवस्थित किया था । इस क्रान्ति के चाहे जितने भी गुण गाये जायें, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस समय जो कुछ हुआ वह किसी भी प्राचीन मान्यता के विरुद्ध किया जा सकता था—चाहे उसमें दोष हो अथवा न हो । परिवर्तन, संशोधन तथा पुनरावृत्ति ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ हैं जो समय समय पर प्राचीन मान्यताओ को झकझोर कर उन्हे जागृत करके कुछ सोचने समझने को विवश करती है । डा० बेनो प्रसाद ने ठीक लिखा है कि "संसार के इतिहास मे अनेक बार जीवन के तत्व ने रस्मो से विद्रोह किया है । शायद ई० पू० छठी सदी मे यहाँ भी ऐसी ही स्थिति थी । इस एकत्रित असन्तोष के कारण नये धर्मों का बहुत प्रचार हो गया पर इतिहासकारो की यह धारणा निर्मूल है कि इनके सामने ब्राह्मण धर्म लुप्तप्राय हो गया । ब्राह्मण धर्म कई सदियो तक मुख्य धर्म नही रहा पर वह मिटा नही; जनता के बहुत से भागो मे उसका चलन बना रहा ।" हम यहाँ इस बात पर जोर देना चाहते है कि इस क्रान्ति की विशेषताओ के सन्दर्भ मे यह नही समझ लेना चाहिये कि इसने ब्राह्मण धर्म को लुप्त कर दिया । वास्तविक अर्थों मे इस क्रान्ति की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने पूर्वकाल के ब्राह्मण धर्म को अनुकूलन तथा समयानुसार परिवर्तन की क्षमता प्रदान की ।

इस क्रान्ति की अन्य विशेषता यह थी कि जिन परिस्थितियो में इस क्रान्ति का बीजारोपण हुआ—वे समाज के अधिकांश वर्गों में असन्तोष व्याप्त किये हुये थी। अब स्वतन्त्र वातावरण था तथा अनेक ब्राह्मणो ने भी क्रान्ति का समर्थन किया । अप्रत्यक्ष रूप से इसे हम ब्राह्मणो की उदारवादिता ही कहेगे । उनके पद, महत्व तथा व्यवस्थाओ पर कुठाराघात हो रहा था परन्तु वे स्वयं मूक दर्शक

वने रहे। अभिमान और द्वेष की भावना से ऊपर उठ कर उन्होने स्वयं अपने हृदय को टटोला तथा क्रान्ति के परिणामों को स्वीकार करके अपना ही परिमार्जन किया।

इस क्रान्ति की एक अन्य विशेपता यह थी कि क्रान्ति के अन्तर्गत सुधारवादी आन्दोलनों का विकास प्रमुखत· गणराज्यो मे हुआ। गणराज्यो का वातावरण स्वतन्त्र था। वहाँ पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता थी तथा वैयक्तिक विकास को महत्व प्राप्त था। इसके परिणामस्वरूप क्रान्ति ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर जोर दिया। वातावरण तथा परिस्थितियो के अनुरूप इस क्रान्ति के विचार स्वतन्त्र, प्रगतिवादी तथा स्पष्ट थे। जिस प्रकार गणराज्य प्रणाली मे सारे निर्णय वादविवाद तथा तर्क के आधार पर लिये जाते थे उसी प्रकार क्रान्ति के समस्त अर्थ घोर तार्किक वादविवाद तथा शास्त्रार्थ आदि के माध्यम से प्राप्त किये गये थे। पुरातन व्यवस्थाओ के विरुद्ध अनेक विचार तथा मत अभिव्यक्त किये गये तथा मतो के आदान प्रदान द्वारा नवोदित विचारो ने सत्य-असत्य, गुण-दोषों को परखा। परिणामस्वरूप निरर्थक मतो को अस्वीकार करके विशुद्ध हितकारी मतो को शक्ति मिली तथा अन्य सभी सम्प्रदाय उनमे विलीन हो गये। इस प्रकार सुधारवादी आन्दोलन की अनेक धाराएँ एक गहरी नदी के रूप मे प्रवाहित होने लगी। इस क्रान्ति की एक अनुपम विशेपता अनेकता से एकता की ओर अग्रसर होना था।

छठी शताब्दी ई० पू० के सुधारवादी आन्दोलनों तथा धार्मिक क्रान्ति की विशेपता धर्म तथा राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी अभिव्यक्त हुई। अभी तक धर्म तथा राज्य दो अलग शक्तियाँ थी। धर्म का प्रतिनिधि राजपुरोहित तथा राजनीति का प्रतिनिधि शासक राजा था। इनमें प्रति-द्वन्द्विता होने के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। परन्तु क्रान्ति के फलस्वरूप यह व्यवस्था वदल गई। अब धर्म को राज्याश्रय की आवश्यकता पड़ने लगी तथा राजा, धर्म एवं शासन का समान रूप से अधिकारी वन गया।

विवेचना

छठी शताब्दी ई० पू० के सुधारवादी आन्दोलनो तथा धार्मिक क्रान्ति के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत रूप से विचार करने के उपरान्त हमें जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं वे अपने परिणामो में वड़े सुखद हैं। ऋग्वैदिक काल से चली आ रही अनेक मान्यताएँ जव समय के साथ आनुकूलन न कर पायी तो उनका धराशायी होना स्वाभाविक भी था और आवश्यक भी। एशिया तथा योरोप के इतिहास मे अनेक वार ऐसा हुआ है कि स्थापित धर्म ने पहले तो वदलने से इन्कार कर दिया और जब प्रतिद्वन्दी धर्म चल निकले तो उसकी आँखें खुल गईं। हिन्दुस्तान मे भी यही हुआ। धार्मिक क्रान्ति के निष्कर्षों का वर्णन करते हुए हम कह सकते हैं कि एशिया सदैव से ही सम्पूर्ण विश्व को धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों की समृद्धता प्रदान करता रहा है तथा भारत—एशिया का अंग होते हुए—महान धार्मिक क्रान्तियो का जन्मदाता रहा है। युद्ध से प्रताड़ित तथा विशुद्ध भौतिक प्राप्तियो से क्षुब्ध मानवता अपनी आध्यात्मिक भूख मिटाने के लिये भारत की ओर आकृष्ट होती रही है। विश्व के कोने-कोने से भौतिक सुखो के विपाक्त परिणामो से त्रस्त कितने ही जिज्ञासु प्राचीन काल से दिन-प्रतिदिन भारत आते रहे हैं। परम शान्ति की खोज मे। परम सुख की खोज में। परम सत्य का दर्शन करने।

भारत सारे विश्व को शान्ति, अहिंसा, सहिष्णुता का सन्देश देता रहा है। ऋग्वेद से लेकर, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, अशोक, अकबर, गांधी तथा नेहरू इस प्रक्रिया की कड़ी हैं।

छठी शताब्दी ई० पू० मे हुए उपरोक्त परिवर्तनों ने तत्कालीन मानव मस्तिष्क के सोचने का तरीका बदल डाला। इसका प्रभाव राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक, जीवन और कला आदि पर पड़ा। अब हम सभ्यता और संस्कृति के उस रूप पर विचार करेंगे जो ६४२ ई० पू० से ३२२ ई० पू० तक व्याप्त रहा।

राजनैतिक जीवन और प्रशासन

राजनैतिक जीवन का अनुमान लगाने के लिये प्रायः राजनैतिक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। सातवीं शती ई० पू० तक के राजनैतिक इतिहास में हमें केवल शून्य ही प्राप्त होते हैं। साहित्य के आधार पर जैसे-जैसे रामायण और महाभारत के काल—सातवी शती ई० पू०—तक का राजनैतिक इतिहास अनेक भ्रान्तियो और विवादो से परिपूर्ण है। उसके बाद के राजनैतिक इतिहास का निर्धारण करने के लिये हमे मुख्यतः जैन और बौद्ध साहित्य तथा अन्य सम-सामयिक साहित्यिक ग्रंथो की शरण लेनी पड़ती है। पुराणो का अनुसरण करने वालो ने भी अनेक वंशावलियों का निर्धारण किया है।[1] इन सभी प्रयासो के फलस्वरूप ६४२ ई० पू० से ३२२ ई० पू० तक का कुछ सुसम्बद्ध राजनैतिक इतिहास निर्धारित किया गया है।

षोडश महाजनपद

महाजन पदो के प्रादुर्भाव की वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें छठी शताब्दी ई० पू० से पीछे की ओर देखना होगा। सामान्य रूप में वैदिक साहित्य के युगों में आर्य सभ्यता के नौ राज्य थे—यथा (१) गांधार; (२) कैकय; (३) मद्र; (४) वश-उशीनर; (५) मत्स्य; (६) कुरु; (७) पांचाल; (८) काशी; तथा (९) कोसल। ये समस्त राज्य जनपद कहलाते थे। मगध और अंग आदि जनपद अभी आर्य राजनैतिक प्रभाव से लगभग मुक्त थे। इनके अलावा दक्षिणापथ में कतिपय अनार्य जनपद भी थे। जिनमे आन्ध्र, पुलिन्द, शबर, पुण्ड्र तथा नैषध आदि प्रमुख थे। इन समस्त जनपदो मे क्या कुछ होता रहा—यह हमारा वर्तमान विषय तो नही है परन्तु राजनैतिक इतिहास की बिखरी कड़ियाँ जोडने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है।

अब छठी शताब्दी ई० पू० का समय आता है—महात्मा बुद्ध का अवतीर्णकाल। इस समय राजनैतिक मंच पर अस्तव्यस्तता ही नही वरन् विविधता भी थी। कही राजतन्त्र तो कही गणराज्य और कुछ राज्यो मे इन दोनों शासनतन्त्रों का समन्वित रूप था। आश्चर्य की बात है कि तत्कालीन यूनान मे भी इसी के समान राजनैतिक तन्त्रो का बोलबाला था। राजनैतिक क्षितिज पर छायी इस विविधता के परिणामस्वरूप बहरहाल किसी विशाल राज्य की कल्पना भी नही की जा सकती। सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें तो प्रायः राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के कारण केन्द्रीयकरण की भावना का उपजना स्वाभाविक था।

---

१. 'पौराणिक टैक्स्ट आफ दि डाइनैस्टीज आफ दि कलि एज'—पार्टीजर।

बौद्ध ग्रंथ 'अनुगुत्तर निकाय' मे उन 'षोडश महाजनपदों' का नाम मिलता है जो अपेक्षाकृत विस्तृत तथा शक्तिशाली थे। इन राज्यों के नाम इस प्रकार थे—(१) काशी, (२) कुरु, (३) कोशल, (४) पाँचाल, (५) अंग, (६) मच्छ (मत्स्य), (७) मगध, (८) सूरसेन, (९) वज्जि, (१०) अस्सक, (११) मल्ल, (१२) अवन्ति, (१३) चेदि, (१४) गान्धार, (१५) वत्स तथा (१६) कम्भोज।

जैन धार्मिक साहित्य के 'भगवती सूत्र ग्रन्थ' मे इन राज्यो के नामो मे कुछ अन्तर है। इस ग्रन्थ के अनुसार ये षोडश महाजनपद इस प्रकार थे—(१) अंग, (२) वंग, (३) मगहा (मगध), (४) मलय, (५) मालव, (६) अपच्छ, (७) वत्स (८) कोच्छ (कच्छ), (९) पाध (पान्डय), (१०) वज्जि (वज्जि), (११) लाध, (१२) मोलि, (१३) काशी, (१४) कोसल, (१५) अवाह तथा (१६) सम्मुत्तर।

उपरोक्त दोनो सूचियो मे हमे कुछ राज्यो के नामो मे समानता मिलती है जैसे अंग, मगध, काशी, वत्स, वज्जि तथा कोशल। इसके अतिरिक्त अनुगुत्तर निकाय के अवन्ति तथा भगवती सूत्र का मालव भी समान माने जा सकते है। इसके अतिरिक्त अन्य नाम अपेक्षाकृत नये हैं। इससे सम्भवत: यह प्रतीत होता हे कि भगवती सूत्र मे सुदूर पूर्व तथा दक्षिण राज्यो के नाम भी सम्मिलित कर लिये गये है। 'अनुगुत्तर निकाय' की रचना 'भगवती सूत्र' से पहले की गयी थी अत: तत्कालीन षोडश महाजन पदो की सत्य-सम्मत सूची के रूप मे हम बौद्ध ग्रन्थ को ही प्राथमिकता देनी चाहिये। डा० रायचौधरी का मत है कि अनुगुत्तर निकाय मे ही हमे छठी शताब्दी ई० पू० की राजनैतिक दशा का सत्य स्वरूप प्राप्त होता है। 'दीर्घ निकाय' नामक ग्रन्थ मे हमे तत्कालीन राज्यो के नाम आपस मे सम्बन्धित से लगते हैं जैसे कि ये जोड़े (Pairs) हो यथा काशी-कोशल, वज्जि-मल्ल, चेदि-वत्स, कुरु-पांचाल तथा मत्स्य सूरसेन आदि। यद्यपि ये नाम एक दूसरे से जुड़े हुए है तथापि ये षोडष महाजनपदो की सूची से मिलते-जुलते हैं।

यद्यपि उपरोक्त षोडष महाजनपदो के विषय मे हमारे ज्ञान का क्षेत्र केवल साहित्यिक स्रोतो तक ही सीमित है (क्योकि अन्य साक्ष्यो का अभाव है) तथापि प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल की राजनैतिक दशा तरल थी—उसमे ठोसपन नही था। तीव्र प्रतिद्वन्द्विता के कारण इनका आपसी वैमनस्य तथा संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था। षोडष महाजनपदो की एक और विशेषता यह थी कि इस काल के सभी शासक क्षत्रिय वंश के नही थे—जातक कथाओ मे एक स्वेच्छाचारी क्षत्रिय शासक को हरा कर ब्राह्मण राजा के सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख है। महाजनपदो मे प्रमुखत' राज्य-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की प्रधानता थी और राजनैतिक एकता का सर्वथा अभाव था। पारस्परिक संघर्ष के परिणाम-स्वरूप विकेन्द्रीयकरण की इस अवस्था मे केन्द्रीय करण की जाग्रत भावना के भी दर्शन होते हैं। कालान्तर मे केवल चार महाजनपद—मगध, कोशल, अवन्ति तथा वत्स—ही शेष रहे और इसके पश्चात मगध सर्वप्रभुसत्तासम्पन्न बन गया।

गण-राज्य

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थो से गंगा घाटी मे स्थित इसी काल की बहुत सी अराजतान्त्रिक जातियों का बोध होता है। रीज डेविड्स ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट-इण्डिया में निम्नलिखित ११ जातियाँ निर्दिष्ट की हैं—

(१) कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) के शाक्य, (२) अल्लकप्प के बुली,

(३) केसपुत्त के कालाम,
(४) सूंसुमारगिरि के भग्ग,
(५) रामगाम के कोलीय,
(६) पावा के मल्ल,
(७) कुशीनारा के मल्ल,
(८) पिप्पलिवन के मोरिय,
(९) मिथिला के विदेह,
(१०) वैशाली के लिच्छवी तथा,
(११) वैशाली के नाग।

षोडष महाजनपदो तथा अनेक गणराज्यो के उपरोक्त वर्णन के पश्चात हमें जो बात निष्कर्ष के रूप मे प्राप्त होती है वह कोई सुखद प्रसंग नही है। राजनैतिक अवस्था का जटिल एवं विविध रूप निश्चय ही जन-जीवन को अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित बनाये रहा होगा। जब किसी सुनिश्चित एवं संगठित शक्ति का अभाव होता है तो संघर्षमय वातावरण को बल मिलता है। इस समय का वातावरण निश्चय ही संघर्ष एवं तनावपूर्ण था।

इस राजनैतिक दशा के परिणाम जीवन के अन्य क्षेत्रों में परिलक्षित होते है। वैदिक काल से लेकर महाकाव्य युग तक के जन जीवन की जो श्रृंखला निर्विरोध रूप से विकसित होती आ रही थी—उसमे ठहराव सा आ गया था। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानो ने इस काल को राजनैतिक अन्धकार युग माना है। परन्तु अन्धेरे के बाद प्रकाश आता है। ठहराव का यह समय राजनैतिक काल के प्रभात की प्रतीक्षा कर रहा था। प्रभात आया और छठी शताब्दि ई० पू० से ही भारतीय राजनीति मे केन्द्रीयकरण से तत्व जोर पकड़ने लगे। उत्तर वैदिक काल के पश्चात जिस अर्थहीन राजनैतिक युग का प्रारम्भ हुआ था उसे अब एक निश्चित दिशा मिलने लगी तथा राजनीति की अनेक धाराएँ किसी विशाल राजनैतिक सागर की ओर तीव्रगति से भागने लगी। यह राजनैतिक एकता की दिशा थी। राजनैतिक अस्तव्यस्तता के पश्चात एक नये युग का अंकुरण होने लगा जो मौर्य साम्राज्य के आने पर एक विशाल वृक्ष बन गया।[१]

राज्यतन्त्रीय शासन तथा व्यवस्था

छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे राज्यतन्त्रीय शासन संगठन का रूप लगभग वैसा ही था जैसा कि वैदिक काल से चला आ रहा था। आधारभूत सिद्धान्तो तथा व्यावहारिक रूप में ग्राम शासन संगठन का इकाई थे और फिर ग्राम समूह; नगर और सबका सम्मिलित संगठन-राज्य था। पूर्व एवं वर्तमान काल का अन्तर केवल इतना ही था कि सामाजिक विकास के कारण कतिपय नई राजनैतिक सस्थाओ का जन्म हो गया था तथा कतिपय सस्थाओ का अस्तित्व समाप्त हो चुका था। इस सन्दर्भ मे तत्कालीन राज्यतन्त्रीय संगठन तथा शासन व्यवस्था का विवरण निम्न-लिखित रूप से किया जा सकता है—

(१) राजा—यह पद वशानुगत था तथा राजा की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र

---

१. "Slowly but surely a superior controlling force triumphs over centryfugal elements and leads to the emergence of supreme power, that of Magadha, in the country The process is diffused one, lasting for about three centuries and it is only is the Mauryan period that its culmination is reached in the from of a great Empire embrcing nearly the whole of the Indian sub continent" 'ग्राउन्ड वर्क आफ एन्शियेन्ट इण्डियन हिस्ट्री'—जे० एस० नेगी।

सिंहासनारूढ़ होता था। कतिपय प्रमाणों से विदित होता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों मे ज्येष्ठ पुत्र के बजाय दूसरा पुत्र भी उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाता था। ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य, विक्षप्त, अंगहीन तथा चारित्रिक दोषो के कारण ही ऐसा किया जाता था। उत्तराधिकारी के लिये यदाकदा संघर्ष भी होता था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। राजा ही विधि निर्माण, कार्यपालिका का सर्वेसर्वा तथा न्याय का सर्वोच्च दाता था। शासन कार्य का संचालन प्राचीन परम्पराओ, रीत-रिवाजो तथा स्वीकृत विधियों के आधार पर किया जाता था। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कतिपय राजा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर थे।

(२) **मन्त्रिपरिषद**—राजकीय मामलो मे राजा को परामर्श तथा सहायता प्रदान करने के लिये प्राचीन पारम्परिक आधार पर मन्त्रिपरिषद का गठन किया जाता था। मन्त्रिपरिषद का सर्वोच्च स्थान अभी भी पुरोहित ही को प्राप्त था। वह धर्माधिकारी तथा शासकीय मामलों में राजा का प्रमुख परामर्शदाता था। संकट काल मे वह राजा के साथ ही रह कर उसे कूटनीतिक परामर्श देता था। पुरोहित के अलावा कुशल अनुभवी तथा वयोवृद्ध व्यक्ति अनेक मन्त्रिपदों पर नियुक्त किये जाते थे। ये राजा को अंतरंग परामर्श देते थे तथा अन्य विभागो के प्रधान अधिकारी के रूप मे कार्य करते थे। 'रज्जुक' नामक मन्त्री मालगुजारी तथा कर वसूल करने वाले विभाग का प्रधान होता था। वह राजकीय कोष की देखभाल भी करता था। पुरोहित के अलावा सेनापति राजा का विश्वासपात्र होता था। इस काल मे अनेक सेनापति न्याय विभाग की देखभाल भी करते थे।

(३) **अन्य अधिकारी**—बौद्ध ग्रंथो तथा अन्य समसामयिक ग्रंथो मे महामात्र, महापात्र, दोषमापक, सत्यी, वोहरिक, हिरण्यक आदि राजकीय पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। ये इस बात के प्रमाण हैं कि राज्य के विभिन्न विषयो का संचालन, नियन्त्रण तथा देखभाल करने के लिये अनेक अधिकारियो की नियुक्ति की जाती थी। नागरिक जीवन की सुरक्षा, जानमाल की रक्षा तथा सामान्य अपराधो पर नियन्त्रण रखने के लिये 'सुत्तिक' (कोतवाल) की नियुक्ति की जाती थी।

(४) **सैन्यसंगठन**—राज्यतन्त्रीय व्यवस्था तथा राज्य का उद्देश्य प्रायः सीमा विस्तार से सम्बन्धित होता है। इसके अलावा स्वयं राजा द्वारा अपनी रक्षा तथा विदेशी आक्रमण की आशंका के कारण सैन्य संगठन तथा शक्ति पर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही है। अतः प्रत्येक राज्य की अपनी सेना होती थी। इसका प्रधान सेनापति होता था। उसके अन्तर्गत सेना अनेक विभागों—जैसे पदाति, अश्वारोही, गजारोही तथा रथारोही—मे संगठित थी।

(५) **न्याय व्यवस्था**—न्याय का स्रोत राजा था। उसका निर्णय अन्तिम होता था। न्याय की स्थापना राजा का प्रमुख गुण तथा कर्त्तव्य माना जाता था। न्याय प्रणाली सरल तथा सुलभ्य थी। राज्य मे अनेक स्तरो पर न्यायाधीश होते थे। ग्रामो के मामलों का निबटारा प्रायः ग्राम पंचायत जैसी संस्था के माध्यम से किया जाता था। दण्ड व्यवस्था कठोर थी तथा छोटे-छोटे अपराधो के लिए अंग-भंग कर दिया जाता था। जल-परीक्षा, अग्निपरीक्षा तथा गवाहों द्वारा अभियुक्त की जांच की जाती थी।

गणतन्त्रात्मक संगठन तथा शासन व्यवस्था

भारतीय इतिहास के लिये और विशेषतया भारतीय राजनीति के लिये कितने सौभाग्य की बात है कि आज हम जिस शासकीय प्रणाली को ग्रहण किये हुये हैं उसका जन्म आज से

लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व इसी भूमि पर हो चुका था।[१]

छठी शताब्दी ई० पू० के गणराज्यों की शासन व्यवस्था का वर्णन करने से पूर्व हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि तत्कालीन गणराज्यों की संघीय व्यवस्था तथा आधुनिक भारत की गणतन्त्रात्मक प्रणाली पर्याप्त भिन्न है। आज गणतन्त्रीय प्रणाली से प्रजातन्त्र का अभिप्राय है परन्तु उस समय के गणतन्त्र पूर्णतः प्रजातन्त्रीय पद्धति पर आधारित नही थे। लोकतन्त्र के अधिकार समाज की अपेक्षा एक सीमित वर्ग को प्राप्त थे तथा वे ही राज्यसत्ता के अधिकारो का प्रयोग प्रजातान्त्रिक ढंग से कर सकते थे। गंगाघाटी के तत्कालीन गणराज्यो तथा राज्यतन्त्रात्मक राज्यो मे इतना ही भेद करना उचित तथा न्यायसगत होगा। इस विषय मे इतिहासकार को भावुक नही होना चाहिये। समस्त गणराज्य सीमित अर्थों मे जनतन्त्र अपनाये हुये थे। जनतन्त्र की पूर्ण विकासावस्था अभी दूर थी। तत्कालीन गणराज्यो के संगठन तथा शासन व्यवस्था का विवरण निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) **केन्द्रीय समिति**—गणतन्त्र अथवा जनतन्त्र का सार यह है कि सारे मामलो का निर्णय करना तथा शासन कार्य पारस्परिक वैचारिक आदान प्रदान तथा वादविवाद द्वारा प्राप्त बहुसंख्यक सहमति द्वारा किया जाये। इसी मान्यतानुसार गणराज्यो की शासन सत्ता का स्रोत एक केन्द्रीय समिति होती थी। इस समिति को राजा के नियंत्रण तथा मन्त्रिपरिषद के अधिकार क्षेत्र से स्वतन्त्रता थी। यद्यपि इस समिति का अध्यक्ष राजा था तथापि राज्य के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति यही समिति करती थी। समस्त राजकीय कर्मचारी केन्द्रीय समिति के प्रति उत्तरदायी होते थे। नीति निर्धारण, वैदेशिक मामले, सन्धि तथा सन्धि विग्रह, युद्ध तथा शान्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्णय भी केन्द्रीय समिति करती थी।

केन्द्रीय परिषद या समिति का अधिवेशन निश्चित समय तथा स्थान पर होता था। बैठक के स्थान को 'संस्थागार' तथा इसके अध्यक्ष को 'विनयधर' कहते थे। प्रत्येक अधिवेशन किसी प्रस्ताव पर विचार करने के लिये आयोजित किया जाता था। अधिवेशन के लिये सदस्यो की निश्चित पूरक संख्या (कोरम) होनी आवश्यक थी। अध्यक्ष की गिनती पूरक संख्या में नही की जाती थी। बैठक मे पूर्व अनुमति के बिना कोई विषय उपस्थित नही किया जाता था। इस प्रकार समिति के समक्ष केवल उसी प्रस्ताव पर वादविवाद होता था जो पूर्व अनुमति द्वारा कार्यसूची में सम्मिलित किया जा चुका होता था। जिस प्रस्ताव पर कोई मतभेद नही होता था, उसे केवल एक बार अन्यथा प्रस्ताव तीन बार पढ़ा जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव पर वादविवाद होने के उपरान्त मतदान किया जाता था। मौन रहना प्रस्ताव का समर्थन सूचक था तथा जो कोई उसके विरुद्ध होता था वह अपना मत व्यक्त करता था। समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव 'संघ कर्म' या 'कर्मवाचा' कहलाते थे। विशेष महत्व के प्रश्नो या प्रस्तावो को सर्वसम्मति द्वारा पारित होना आवश्यक था। यदि सर्वसम्मति की प्राप्ति

---

१. "भारतीय राजनैतिक विकास मे संघो के उदय से आवश्यक जनतन्त्रीय कार्य पद्धति का भी विकास हुआ, जिससे संघों का कार्य नियमित तथा प्रशासित होता था। उस समय श्लाघनीय, लोकव्यापी लहर जनतन्त्री मनोभाव और पद्धत्ति के लिये फैल गई थी जिसके कारण राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रो मे भी संघीय कार्यपद्धति से कामकाज का निर्वाह होने लगा था।"

'हिन्दू सभ्यता'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

नही होती थी तो वह मामला विशेष समिति के पास भेज दिया जाता था। पक्षपात, दोष, मोह तथा भय से रहित व्यक्ति को मतदान अधिकारी या शलाका ग्राहक नियुक्त किया जाता था। मत के लिये 'छन्द' शब्द—जिसका अर्थ 'स्वतन्त्रता' होता था—प्रयुक्त किया जाता था। मतदान शलाका द्वारा होता था जो लकडी की बनी हुई होती थी। मत एकत्र करने वाले को 'शलाका ग्राहक' कहा जाता था। शलाकाएँ अनेक रंगो की होती थी। प्रत्येक मतदाता से कहा जाता था कि वह उस रंग की शलाका चुने जो उसके मत के अनुरूप हो। प्रत्यक्ष मतदान की प्रथा प्रचलित थी। मत संग्रह की चार विधियाँ प्रचलित थी—(i) विवृतक—खुले रूप मे, (ii) गुह्यक—छिपे ढंग से, (iii) स्वकर्ण जल्पक—मतदाता के कान में बताकर कि कौन सी शलाका चुननी है, तथा (iv) विश्वस्त—सबके सामने प्रत्यक्ष रूप से।

अधर्म, असमान व्यवहार, वर्ग द्वेष तथा मतदाता पर प्रभाव डालने आदि द्वारा किया जाने वाला मत अवैध माना जाता था। कम महत्व की बातो तथा विषयो मे बहुमत की विधि लागू नही की जाती थी। कभी-कभी मतदान अधिकारी द्वारा मतदान का फल स्थगित या निग्रहीत कर दिया जाता था। अनुपस्थित सदस्यो के मत प्राप्त करने की विधियाँ भी थी। इस प्रकार के मत निर्दिष्ट व्यक्ति के माध्यम से डलवाये जाते थे।

समिति या सभा के अधिवेशन मे व्यक्तिगत आरोपों तथा अनर्गल वादविवाद करने पर कड़ा प्रतिबन्ध था। सभा की मर्यादा का पालन करना प्रत्येक सदस्य का पुनीत कर्त्तव्य था। सुसंयत तथा विषयगत भाषा का प्रयोग ही मान्य था।

केन्द्रीय समिति के सदस्य कौन होते थे तथा इनका चुनाव किस प्रकार किया जाता था? इस प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान नही मिल पाया है। जातको के अनुसार संयुक्त परिवारों के प्रधान ही समिति के सदस्य होते थे। क्योकि तत्कालीन समय मे शासन की इकाई के रूप मे परिवार की सत्ता का अनुमोदन था अतः हम यह मान सकते है कि समिति के सदस्यो के रूप मे परिवार के प्रधान को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

(२) राजा, राष्ट्रपति अथवा नायक—गणतन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका के प्रधान को राजा, राष्ट्रपति या नायक कहा जाता है। तत्कालीन गणराज्यो मे 'राजा' या कार्यपालिका के अध्यक्ष के विषय मे हमारा ज्ञान सीमित सा है। यह तो पता चलता है कि गणराज्यो मे 'राजा' होता था, परन्तु उसकी पद प्रतिष्ठा, कार्यकाल, नियुक्ति आदि के विषय स्पष्ट नहीं हैं। जातक संख्या १ मे कहा गया है कि 'राजा का चुनाव समस्त नगर के मत से हुआ। नागरिको ने एक मत होकर अपना निर्णय दिया।' इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती थी। 'राजा' के परम्परागत कर्त्तव्यो आदि के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कार्यपालिका का प्रधान होता होगा। कुछ गणराज्यो मे 'राजा' के लिये 'नायक' शब्द का प्रयोग किया गया। प्रतीत होता है कि 'नायक' राजा अथवा राष्ट्रपति के समान का पद रहा होगा। कतिपय गणराज्यो में समिति या सभा का अध्यक्ष 'राजा' या 'नायक' का कार्यभार धारण किये हुए था। एक जातक मे वैशाली के गणराज्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "इस नगर को संचालित करने के लिये ७,७०७ राजा थे। इस कथन के आधार पर विद्वानो ने अनेक अनुमान लगाये हैं। प्रतीत होता है कि उपरोक्त उल्लेख में 'राजा' शब्द का प्रयोग केन्द्रीय समिति के सदस्यों

के लिये किया गया है। इन राजाओ मे से ही राजा, राष्ट्रपति अथवा नायक को चुना जाता रहा होगा।

(३) **मन्त्रिमण्डल**—गणराज्यो में कार्यपालिका के विषयो का संचालक करने के लिये मन्त्रि-मण्डल का गठन किया जाता था। लिच्छवियो के मन्त्रिमण्डल मे नौ तथा मल्लो के मन्त्रिमण्डल मे चार सदस्यो का उल्लेख मिलता हे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की संख्या आधुनिक काल को अपेक्षा कम थी तथा विभिन्न गणराज्यो मे यह संख्या समान नही थी। प्रत्येक मन्त्री कोई न विभाग सम्भाले रहता था।

(४) **अन्य पदाधिकारी**—सभापति, पुरोहित तथा उपराजा प्रमुख पदाधिकारी थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न विषयो तथा विभागो के अनुरूप पदाधिकारियो की नियुक्ति की जाती थी। प्रत्येक गणराज्य मे कार्य विभाजन के आधार पर तीन प्रमुख विभाग थे—

(i) **सैन्य सम्बन्धी**—इस विभाग का प्रमुख सेनापति था। क्योकि गणराज्यो को सदैव ही आक्रमण का भय बना रहता था अतः सेना व्यवस्था अनिवार्य थी।

(ii) **आय व्यय सम्बन्धी**—आय व्यय विभाग का प्रमुख अधिकारी भाण्डागारिक कहलाता था। वह अपने आय व्यय का ब्योरा एक निश्चित अवधि पर केन्द्रीय समिति तथा राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता था।

(iii) **न्याय सम्बन्धी**—न्याय विभाग बड़ा महत्वपूर्ण था। न्यायालय अधिकारियो को वोहारिक, विनिच्छय, महामात्त तथा सूत्रधार आदि नामो से सम्बोधित किया जाता था।

(५) **न्याय व्यवस्था**—गणराज्यो का आधार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थी। इसको सुरक्षित रखने के लिये प्रभावशाली न्याय व्यवस्था की स्थापना की गई थी। न्याय व्यवस्था सरल तथा सुलभ्य थी। वह पक्षपात रहित तथा सुचारु रूप से कार्य करती थी। न्यायालयो के कई विभाग या स्तर थे। प्रारम्भिक मामलों की सुनवाई स्थानीय स्तर के न्यायालयो मे होती थी। न्याय से असन्तुष्ट व्यक्ति उच्च न्यायालय मे अपील कर सकता था। अपराधी के दोष प्रमाणित होने पर ही दण्ड दिया जाता था। अभियुक्त को अपने बचाव मे गवाह तथा प्रमाण प्रस्तुत करने का पूरा-पूरा अवसर दिया जाता था। न्यायालय के प्रमुख अधिकारियो को महामात्त, वोहारिक, अट्ठकुलक, सूत्रधार तथा विनिच्छय आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था।

गणतन्त्रीय शासन की पद्धति की समालोचना

यूनानी लेखको ने भारतीय गणराज्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गणराज्यों के शासकीय कार्यों मे यद्यपि राज्य की पूरी जनता को समान रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त नही था तथापि अपने प्रतिनिधियो द्वारा वह परोक्ष रूप से शासन तन्त्र मे भाग लेती थी। राजा की निरंकुशता से त्राण पाकर नागरिको को अपना मत प्रकट करने तथा मताधिकार के प्रयोग द्वारा शासकीय अधिकारियो पर अंकुश रखने के कारण सार्वजनिक हितो की रक्षा होती थी। गणराज्यो के नेता कर्त्तव्यनिष्ठ, अनुभवी तथा ईमानदार ही होते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कारण किसी एक वंश को प्रभुत्व प्राप्त नही था तथा राज्य का कोई भी सामान्य नागरिक उच्चतम पद की आकांक्षा को साकार बना सकता था। वादविवाद तथा मत विभाजन की प्रणाली के कारण प्रत्येक विषय के गुणदोषो का पता चल जाता था तथा श्रेयस्कर निर्णय ही सफल हो पाते थे। शासकीय

सुव्यवस्था के कारण आर्थिक समृद्धता थी। युद्ध के समय अपने गणराज्यों के आदर्शों की रक्षा के लिये सारा राज्य एकजुट हो कर संघर्ष करता था। अनेक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन गणराज्य उन्नत संस्कृति, कला तथा सभ्यता के केन्द्र थे।

गणराज्यो के निर्णय वादविवाद द्वारा होने की वजह से गोपनीयता नहीं रह पाती थी तथा इसका असर राज्य की सुरक्षा पर पड़ता था। प्रायः आवश्यक विषयो का निवटारा या उन पर निर्णय लिये जाने मे विलम्ब हो जाना असन्तोष का कारण बनता होगा। गणतन्त्रीय राज्यो का आकार तथा प्रभुत्व क्षेत्र राज्यतन्त्रीय राज्यो की अपेक्षा छोटा तथा सीमित होता था। इस वजह से उनके साधन सीमित तथा आवश्यकताएँ अधिक हो जाती थी। बड़े-बड़े नेता दलगत गुट बन्दियों मे पड कर प्रायः राष्ट्रीय हित भूल जाया करते थे तथा आपस मे ही तनावपूर्ण स्थिति पैदा कर लेते थे। व्यक्तिगत वैमनस्य तथा पद लोलुपता के कारण विभिन्न प्रकार के षड्यन्त्र भी रचे जाते थे। कभी-कभी तो समिति के सदस्य ही एक दूसरे के प्रबल शत्रु हो जाते थे। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के कारण शत्रु राज्यो को उनके सारे भेदो का पता चलता था, जिसका लाभ उठा कर वे उचित समय पर आक्रमण कर बैठते थे। भारतीय गणतन्त्रों की पराजय तथा समूल नाश का यही कारण था। चाणक्य नीति के अनुसार गणतन्त्रो मे फूट डालना सरल है अतः उसमे इसी की शिक्षा दी गई है। राज्यसत्ता का विकेन्द्रीकरण होने के कारण गणतन्त्र के पदाधिकारी उत्तरदायित्व-विहीन हो जाते थे। इन अन्तर्निहित दोषो के कारण ही कालान्तर मे एक के बाद एक करके वे नष्ट होते गये।

प्राचीन भारतीय गणराज्यो के उपरोक्त गुण-दोषों का वर्णन यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन गणराज्य शासकीय पद्धत्ति जन जीवन के लिये एक ओर तो बड़ी ही उपयोगी तथा दूसरी ओर सर्वथा अनुपयोगी थी। किसी भी सिद्धान्त अथवा व्यवहार मे गुण दोषो का समान रूप से पाया जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही है। गणतन्त्र मे जो दोष तब थे वे आज भी हैं। परन्तु महत्व इस बात का है कि दोषो के होते हुए भी गणराज्यीय सिद्धान्त तथा व्यवहार आज विश्वव्यापी हो रहे हैं। इसका क्या कारण है? उत्तर स्वरूप हम कह सकते है कि व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता तथा विचारो की अभिव्यक्ति करना है। गणराज्य मे चाहे कुछ भी न हो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामाजीकरण तो होता है।[1] यही कारण है कि गणतन्त्रात्मक अथवा लोकतन्त्रीय प्रणाली को आज सर्वमान्यता प्राप्त है।

क्या यह कम गौरव की बात है कि आज से लगभग पौने तीन हजार वर्ष पूर्व भारत के राजनैतिक प्रागण मे शासन व्यवस्था की पद्धत्ति के रूप मे दो विपरीत धाराएँ साथ-साथ बह रही थी? निश्चय ही इतने वर्ष पूर्व गणतन्त्र जैसी जटिल व्यवस्था का सुचारु सचालन भारतीय राजनीति के लिये गौरव का विषय है!

---

1. "They would sacrifice paternal homes and lands to preserve their political self and soul. They would go to deserts but live in democratic glory and rule in parliament It is a settled principle of Hindu politics that freedom is more important than home and is to be preserved at the cost of life. Republics seem to have fully acted on this principle." डा० के पी० जायसवाल।

सामाजिक जीवन

वर्ण-व्यवस्था—समाज का आधार वर्ण-व्यवस्था थी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म ने वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया था, पर समाज मे वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। सामाजिक जीवन में वर्ण का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। बुद्ध और महावीर का यह उपदेश था कि किसी व्यक्ति का कार्य जन्म से ही निश्चित नही होना चाहिये; अपितु कर्म से होना चाहिये। इन दोनो युगप्रवर्तको के मूल सिद्धान्त जाति-पाति के विरुद्ध थे, पर वर्ण व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी थी कि उनका उन्मूलन संभव नही था। फिर भी अब यज्ञ और पूजा पाठ का महत्व कम होने से ब्राह्मणो की स्थिति में अन्तर आ गया था। निर्वाण के लिए वर्ण भेद निरर्थक था। बौद्ध धर्म के द्वार सभी के लिए खुले हुए थे। कोई भी पुरुष भिक्षु और कोई भी स्त्री भिक्षुणी हो सकती थी। लौकिक जीवन मे चरित्र और नैतिकता पर विशेष बल दिया जाने लगा था। "ब्राह्मण जन्म से नही होता। ब्राह्मण वह है जिसका मन ऊँचा है, हृदय पवित्र है, चरित्र शुद्ध है, आत्मा मे संयम और धर्म है।"[1] जातक ग्रन्थो में ब्राह्मणो को कृषक, पशुपालक, सुतार, बुनकर, वैद्य, सारथी, पुजारी, अंगरक्षक, श्रमिक, प्रतिहारी, शिकारी, पथ-प्रदर्शक, नौकर, फल व मिठाई बेचने वाले, सपेरे आदि का कार्य करते हुए बताया गया है। इसी प्रकार इन्हीं जातक ग्रन्थो में उल्लेख है कि क्षत्रिय मालाकार, नलकार, कुम्भकार, आदि के व्यवसाय और पेशे करते थे। कई जातको मे बोधिसत्व की कथाओं में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल, पुक्कुस आदि का भेद निरर्थक बताया गया है। बौद्ध साहित्य मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि इनमे वर्णों के क्रम में क्षत्रियों का नाम पहले आया है फिर ब्राह्मणो का। दीर्घ निकाय और निदान कथा मे तो स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि क्षत्रियो का पद ब्राह्मणो से ऊँचा है।[2] बौद्धग्रन्थो से तत्कालीन सामाजिक असमानता का पता चलता है। चित्र सम्भूत जातक मे कथा है कि सम्भ्रान्त परिवार की दो कन्याएँ एक यात्रा में दो चाण्डालो को देखकर वापस लौट गईं। जिन लोगो को इन कन्याओ की यात्रा की समाप्ति पर खानपान की आशा थी उन्होंने उन चाण्डालो को बुरी तरह पीटा। इस अपमान और अत्याचार से क्षुब्ध होकर दोनो चाण्डाल ब्राह्मण वेष मे तक्षशिला के महान विश्वविद्यालय में पढ़ने गये। परन्तु वहाँ पर उनके जन्म का पता चल गया। वे बेचारे बुरी तरह पीटे गये।[3] इससे प्रामाणित होता है कि अब समाज में भेद भाव बढ रहा था। अस्पृश्यता के भाव पर यद्यपि बौद्ध धर्म ने अंकुश रखा पर जब बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ तो यह भाव और बढ़ गया।

तीनो वर्णों के अतिरिक्त समाज मे शूद्र थे। चाण्डाल, निषाद, दस्यु, बहिष्कृत व्यक्ति, आदिवासी एवं अन्य लोग भी थे। समाज मे दास भी होते थे। परन्तु दासो के साथ छूआछूत और अमानुषिक व्यवहार की भावना नही थी। अधिकाश दास गृह-कार्य मे लगे होते थे।

यद्यपि जाति-व्यवस्था और भेदभाव की जटिलता थी, फिर भी विभिन्न वर्ण के लोग परस्पर विवाह करते थे। ब्राह्मणो ने राजवंश की स्त्रियो से विवाह किये थे। खानपान के प्रतिबन्ध प्रारम्भ हो गये थे। एक जातक कथा के अनुसार एक क्षत्रिय अपनी दासी से उत्पन्न अपनी ही कन्या के

---

१. मिलिन्दपन्हो ४।५।२५—२६।   २. दीघ ३।१।२४; निदान० १।४६।

३. जातक ४।३७८।

साथ भोजन करने से नकारता है और इस विषय मे विवाद होता है कि क्या क्षत्रिय की दासो से उत्पन्न सन्तान क्षत्रिय मानी जाये? कई जातको मे ब्राह्मण और क्षत्रियो के साथ-साथ भोजन करने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी जाति और सामाजिक सम्मान के खोये बिना ही विभिन्न व्यवसाय करते थे, जैसे कृषि, पशुपालन, व्यापार, नौकरी आदि। परन्तु शिल्पियो, व्यापारियो आदि मे अपने पूर्वजों के धन्धे-व्यवसाय अपनाने का स्वाभाविक अनुराग था। इस समय वैश्य वर्ण समृद्धिशाली था। बौद्ध साहित्य मे वैश्यो के लिये गृहपति, वाणिक, श्रेष्ठी, कुटुम्बिक आदि संज्ञाओ का प्रयोग किया गया है। इस वर्ण के लोग भी अपने वर्ण कर्म को प्राय त्यागकर अन्य वर्णो के कर्म करने लगे थे। जातको से पता चलता है कि अनेक वैश्य, कुम्हार, वस्त्रकार, दस्तकारी आदि के कार्य करने लगे थे।

आश्रम प्रणाली—ब्राह्मण धर्म की प्रभुता के समय आश्रम व्यवस्था लोकप्रिय थी। ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की प्रणाली का जीवन मे अनुकरण किया जाता था। परन्तु जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने वर्णव्यवस्था और आश्रम प्रणाली दोनो का विरोध किया। फलतः आश्रम प्रणाली ढीली पड गई थी और तप एवं संन्यास पर बल नही दिया जाता था। इनके स्थान पर दैनिक जीवन की नैतिकता, शुद्ध और पवित्र आचरण, सेवा और संयम का अधिक महत्व माना जा रहा था।

नागरिक जीवन—जातको से विदित होता है कि इस युग मे नगरो का उदय हो रहा था और इनमे सुखी तथा सम्पन्न नागरिक जीवन था। यद्यपि अधिकाश जनता मिट्टी के बने कच्चे मकानो मे ग्रामो मे रहती थी, परन्तु प्राचीरो से सुरक्षित नगर भी थे। बौद्ध साहित्य मे राजगृह, चम्पा, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वैशाली, वाराणसी, मिथिला, काम्पिलय, पाटलिपुत्र, उज्जैन, विदिशा, साकल, पैंठन, तक्षशिला आदि नगरो का विवरण है। बड़े-बड़े नगरो का निर्माण योजना-बद्ध होता था। उनमे कई महत्वपूर्ण स्थान, उद्यान और भवन होते थे, जैसे परिषद भवन, न्यायालय भवन, राजमहल, उच्च प्राचीरो मे प्रहरी स्तम्भ, सार्वजनिक भवन आदि। गरीबो के मकान छोटे और साधारण तथा धनिको के विशाल और आकर्षक होते थे। नगरो मे बाजारो और दुकानो की पंक्तियाँ रहती थी। नगर मे सफाई व स्वच्छता की व्यवस्था थी। प्रायः नगर के चारो ओर विशाल प्राचीर होती थी। नगर प्राय नदियो के तटो पर बसे हुये थे। इन नगरो में जीवन के आमोद प्रमोद के सभी साधन तथा अन्य सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थी। विशेषकर समृद्ध लोगो के यहाँ नृत्य, गायन, वादन होता था।[1] वैश्याओं का नृत्य भी होता था। अनेक रंगीन मिजाज के लोग उनके साथ रंगरेलियाँ मनाते थे।[2]

परिवार—समाज की न्यूनतम इकाई परिवार था। सयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। पारिवारिक जीवन सामान्यतया सरल, नैतिक, सुखी और सन्तोषपूर्ण था। घर में सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति ही परिवार का स्वामी होता था। वही परिवार के अन्य सदस्यो की देख-भाल करता था। परिवार मे माता-पिता का बडा आदर और सम्मान होता था। माता-पिता ही बालको की शिक्षा की व्यवस्था करते थे और उनके विवाह भी नियोजित करते थे। परिवार मे सन्तानोत्पत्ति पर वड़ा समारोह मनाया जाता था और नवजात शिशु के माता-पिता को विभिन्न प्रकार के उपहार

---

१. बुद्धघोप—धम्मपिटक १।१६३। २. धम्मपदटीक १७; ५।७।

दिये जाते थे। परन्तु पुत्र-जन्म पर जो आनन्द और उत्सव मनाया जाता था, वह पुत्री-जन्म पर नहीं होता था। अतिथि सत्कार गृहस्थ का कर्त्तव्य माना जाता था।

भोजन और वेशभूषा—बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण पशु-वध क्रूर, नृशंस और घृणास्पद माना जाता था। गाय को अवध्य माना जाता था। इससे प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना लोगों में विकसित हो गई थी। फलतः भोजन में माँस का प्रयोग दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा था। साधारण दैनिक भोजन में गेहूँ, जौ, चावल, दालें, साग-सब्जी, फल, दूध, दही, घी, छाछ, तेल, तिल, मधु, आदि का उपयोग होता था। धनवान और सम्पन्न परिवारों में भोजन सोने के थालों में परोसा जाता था। जब लोग खुले में खाते थे, तब वे एक ही साथ भोजन करते थे। धार्मिक समारोहों और उत्सवों के अतिरिक्त मद्यपान की प्रथा विशेष रूप से प्रचलित नहीं थी।

लोग सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे। एक कुर्ता तथा दो अन्य वस्त्र होते थे, जिनमें से एक कन्धे पर लपेट लिया जाता था और दूसरे का उपयोग शरीर के नीचे के भाग के लिये होता था। सिर पर वस्त्र या पगड़ी होती थी। छाते और जूतों का उपयोग होता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण-प्रिय होते थे। पुरुष कान में बालियाँ पहिनते थे, अपनी दाढ़ी को रंगते थे। कुलीन-वर्ग की नारियाँ कई प्रकार की मेखलाएँ या कन्दौरे पहिनती थीं। वे अपने सिर और बालों को स्वर्णिम तारों से अलंकृत करती थीं तथा कई प्रकार के बहुमूल्य रत्नजटित हार और चूड़ियाँ पहनती थीं।

स्त्रियों की दशा—इस युग में स्त्रियों की दशा में वैदिक युग की अपेक्षा अधिक पतन हो गया था। सन्यासी प्रवृत्ति बढ़ने के कारण स्त्रियों की निन्दा भी की जाती थी। कहा गया कि स्त्रियाँ चंचल होती हैं, दुराचारी होती हैं, पापी होती हैं। पुरुष स्त्रियों को सुख का साधन समझते हैं—पर वास्तव में वे अज्ञान, दुख, मृत्यु और नरक की द्वार हैं।[१] समाज में उनकी दशा सन्तोषप्रद नहीं थी। स्वयं गौतम बुद्ध प्रारम्भ में अपने बौद्ध धर्म के संघ में नारियों के प्रवेश के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा था कि "जहाँ स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन का परित्याग कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं, वहाँ धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा।" यद्यपि बाद में बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी थी, परन्तु उन्होंने भिक्षुणियों पर आठ कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये। इससे प्रकट होता है कि स्त्रियों को तत्कालीन समाज में पुरुष के साथ समान अधिकार नहीं थे। उनकी स्वतंत्रता सीमित थी। वह पुरुष की आश्रित मानी जाती थी। परन्तु स्त्रियों के साथ आदर का व्यवहार किया जाता था। कन्याओं की शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। उन्हें साधारण शिक्षा के अतिरिक्त गृह कार्यों की और नृत्य-संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। गृह कार्य की निपुणता उनका विशेष गुण और योग्यता मानी जाती थी। कुछ नारियाँ और भिक्षुणियाँ तो अपने ज्ञान, विद्वत्ता और तर्क विद्या के लिये प्रसिद्ध थीं। इनमें खेमा सुभद्रा, जातक, अमरा उदुम्बरा, भद्राकुण्ड-केशा, जयन्ती, सुमा, सुमेधा, अनोपमा आदि विशेषरूप से प्रसिद्ध थीं।

अशोकावदान तथा अवदानशतक से पता चलता है कि अभी समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी। स्त्रियाँ पतियों के साथ उत्सवों में जाती थीं और सभी से मिलती थीं।[२] दीघनिकाय के अनुसार बुद्ध के निर्वाण का समाचार पाते ही मल्लकुल के स्त्री, पुरुष, बच्चे कुशीनगर को

---

१. जातक १।३००-३०२, ३३८; आचारांग सूत्र १।२।४।३। २. ललित विस्तार १२।

गये थे। जातको मे ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनके अनुसार पति की मृत्यु होने पर उनकी पत्नियों ने राज-काज चलाया। यद्यपि सारे देश मे सती-प्रथा नही थी, परन्तु उत्तर-पश्चिम में सती-प्रथा से लोग अवगत थे और कुछ यूनानी लेखको ने इसका उल्लेख किया है।

इस युग मे बाल-विवाह प्रथा नही थी। विवाह प्रायः वयस्क अवस्था में होते थे। विवाह लडके-लडकियों के माता-पिता द्वारा ही नियोजित किये जाते थे। अनेक राजकुमारियों के स्वयंवर के दृष्टान्त जो प्राप्त होते हैं, वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि समाज में स्वयंबर प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपद टीका और कुलाल जातक मे वर्णित उदाहरणों से प्रतीत होता है कि कभी-कभी कन्याएँ स्वयं अपना वर चुन लेती थी। समाज में कभी-कभी गान्धर्व विवाह और अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थो मे सगोत्र विवाह, स्वयं की भगिनी के साथ विवाह और मामा की कन्या के साथ विवाह के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते है। बहुविवाह की प्रथा थी। बुद्धघोष से पता चलता है कि सौतो मे इतने भयंकर झगड़े होते थे कि हत्या तक हो जाती थी।

शिक्षा—इस युग मे बौद्ध धर्म के विहार, जहाँ बौद्ध सन्त और भिक्षु भिक्षुणियाँ रहते थे, शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। गुरुकुलो मे-बहुत से ब्रह्मचारी पढ़ते थे। बौद्धभिक्षु आचार्य और गुरु का कार्य करते थे। उनके शिष्य को दस वर्ष तक भिक्षु का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। गुरु शिष्य के बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक विकास के लिये उत्तरदायी था। विद्यार्थियो को अपराध करने पर शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था।[1] वाराणसी, तक्षशिला तथा अन्य बड़े नगर शिक्षा के केन्द्र थे। इनमे शिक्षण सस्थाएँ भी थी, जो शासकीय सहायता एवं दान-दक्षिणा से चलती थी। कुछ शिक्षण सस्थाएँ सार्वजनिक होने की अपेक्षा वर्ग विशेष के लिये होती थी। ब्राह्मणो, क्षत्रियो और राजकुमारों के लिये विभिन्न शिक्षण संस्थाओं के उल्लेख है। तक्षशिला मे चिकित्साशास्त्र, शल्यशास्त्र, धनुर्विद्या, राजनीति, आखेट, पशु-चिकित्सा तथा अन्य शिल्पो की शिक्षा दी जाती थी। पाठ्यक्रम प्रायः सात वर्ष का होता था।

आर्थिक जीवन

कृषि और पशुपालन—बहुसख्यक लोगो का व्यवसाय कृषि करना और पशुओ को पालना था। गाँव के पार्श्ववर्ती भागो मे चरागाहो तथा वनो से पशुपालन मे बड़ी सुविधा होती थी। गाँव के प्रत्येक परिवार के अपने खेत होते थे। प्रायः ये उपजाऊ खेत पहाड़ो से दूर होते थे। सिचाई की नालियो द्वारा खेत अनेक टुकडो मे विभक्त होते थे। प्रायः खेत छोटे होते थे, पर बड़े खेतो का अभाव नही था। कृषक खेतो के स्वामी होते थे। वे अपने परिवार के सदस्यो, खेतिहर श्रमिकों और कभी-कभी दासों की सहायता से अपने खेतो को जोतते थे। सभी खेतो मे एक साथ फसलें उत्पन्न की जाती थी। चावल, गेहूँ, जौ, तिल और गन्ने की उपज मुख्य थी। उपज मे वृद्धि करने हेतु सिचाई की पूर्ण व्यवस्था थी। नहरो और कुओ से सिचाई होती थी, परन्तु नहरो की खुदाई सामुदायिक रूप से होती थी और गाँव का प्रमुख पानी के वितरण पर नियन्त्रण रखता था। खेतो की सीमाएँ साझे मे होती थी।

विभिन्न उद्योग-धन्धे—गाँवो और नगरो में बहुसंख्यक व्यवसायी और शिल्पकार रहते थे। व्यवसायो की संख्या अधिक थी। बौद्ध साहित्य मे कतिपय व्यवसायो और शिल्पियो का उल्लेख है।

१, जातक २।२७८।

इनमें निम्नलिखित मुख्य थे—हाथीदांत का काम करने वाले शिल्पी, जुलाहे, लोहे की वस्तुएँ बनाने वाले कम्मार, वर्धकी (सुनार या बढ़ई), कुम्भकार, चर्मकार, स्वर्णकार, मालाकार (माली), नलकार (बाँस की टोकरियाँ बनाने वाला), रंगरेज, सूद (हलवाई), ज्योतिषी, वैद्य, नट, रजक (धोबी), शिकारी, वधिक (कसाई), मछुए, सपेरे, आभूषणो व रत्नो का काम करने वाले, नाविक, संगीतज्ञ, नृत्य और अभिनय करने वाले, नाई, धनुषबाण बनाने वाले, रसोइये, चित्रकार, पुरोहित आदि। वस्त्र उद्योग इस युग मे खूब समृद्ध था। गांधार ऊनी वस्त्रो के व्यवसाय के लिये, वाराणसी रेशमी वस्त्रो के लिये और शिविदेश सूती वस्त्रो के लिये अधिक प्रसिद्ध थे। लोग आभूषण प्रिय थे। इसलिये सोने-चाँदी, मोती, हीरे, हाथीदात आदि के विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। स्वर्णकार और जौहरी का व्यवसाय भी खूब उन्नत था। हाथीदांत के काम और वस्तुओ के लिये वाराणसी अधिक प्रख्यात था। कुछ शिल्प कार्य और व्यवसाय उनके कार्य और वृत्ति के अनुसार उच्च और निम्न श्रेणी के माने जाते थे। शिकारी, मछुए, चर्मकार, कसाई, सपेरे आदि व्यवसाय-हीन माने जाते थे। शिल्पकलाओ में लोग पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे। कुछ व्यवसायो में विशेषतः वस्त्र उद्योग, हाथीदात का व्यवसाय आदि में अत्यधिक विशिष्टीकरण हो गया था परतु ये व्यवसाय स्थानीय थे और कुछ परिवारो तक ही सीमित थे। व्यवसाय परिवार की पैतृक सम्पत्ति माना जाता था।

व्यावसायिक संघ या श्रेणियाँ—जातको मे व्यवसायियो की बहुत सी श्रेणियाँ मिलती हैं। राजगीर, लुहार, बढ़ई, चित्रकार, सौदागर, माली, सिपाही आदि अपनी अपनी श्रेणियाँ बनाते थे।[1] एक ही धन्धा करने वाले लोग प्रायः अपने को शिल्पी संघ या "श्रेणी" मे संगठित करते थे। प्रत्येक श्रेणी का एक अध्यक्ष या सभापति होता था, जिसे "प्रमुख", "ज्येष्ठक" या "श्रेष्ठिन" कहते थे। "महाश्रेष्ठिन" सर्वोपरि प्रधान या अध्यक्ष और "अनुश्रेष्ठित" उपाध्यक्ष होते थे। कभी-कभी विविध श्रेणीयाँ या संघ अपनी सुरक्षा, उन्नति और लाभ के लिये एक ही अध्यक्ष या श्रेष्ठिन के अन्तर्गत संगठित हो जाते थे। ज्येष्ठक का समाज और राजसभा मे बड़ा सम्मान होता था। कभी-कभी श्रेणियो के अध्यक्ष राज-सभासद, दरबारी या मन्त्री भी होते थे। ये व्यावसायिक संघ या श्रेणियाँ अपने सदस्यो के पारस्परिक झगड़ो का निर्णय करती थी, उनकी सामग्री के निर्माण, क्रय-विक्रय आदि मे सहायता करती थी। इसके लिये उनके नियम और उपनियम थे। संघ प्रशिक्षण के हेतु कतिपय उम्मीदवार भी रखते थे, जिन्हे "अन्तेवासी" कहा जाता था। श्रेणी के नियमो और विधि-विधान को राज्य भी मानता था। सरकार उनमे हस्तक्षेप नही करती थी। कभी-कभी व्यापारियो के संघ या श्रेणियाँ होती थी और इनमे उद्योग तथा व्यापार के हेतु व्यापक साझेदारी होती थी। व्यापारियो के लिये 'श्रेष्ठी' शब्द का प्रयोग होता था।

वाणिज्य और व्यापार—आन्तरिक और बाहरी दोनो प्रकार के व्यापार उन्नत थे। देश मे अन्तर्राज्यीय और अन्तर्प्रान्तीय व्यापार होता था। व्यापार द्वारा अपार धन उत्पन्न करने वाले श्रेष्ठियो या महाजनो का बौद्ध साहित्य मे उल्लेख है। नगरो मे "नेगमगाम" व्यापारियो के केन्द्र थे जहाँ विभिन्न स्थानो मे निर्मित या उत्पन्न हुई वस्तुएँ क्रय विक्रय के लिये लाई जाती थी। क्रय-विक्रय के लिये व्यापारियो की दूकानो के बड़े-बड़े बाजार थे। इसके अतिरिक्त जनसाधारण की सुविधा

---

१. जातक १।२६८, ३९६, ३२०, २३१।

के लिये फेरी वाले अपने व्यापारिक सामान को गाड़ियो, बैलो, गधो घोड़ो आदि पर लाद कर गली-गली, गाँव-गाँव भी घूमते थे। व्यापारीगण स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय-विक्रय के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान तक आ जा सकते थे। कभी-कभी व्यापारीगण पांच-पांच सौ गाड़ियो मे अपना माल भरकर एक साथ समूह मे चलते थे। ये कारवाँ सार्थवाह कहलाते थे और ये सशस्त्र सैनिकों के संरक्षण मे बढ़ते थे। निश्चित स्थानो पर इन्हे चुंगी या व्यापारिक कर भी देना पड़ता था।

विदेशो से स्थलीय और समुद्रीय दोनो मार्गों से व्यापार होता था। भारत का विदेशी व्यापार एशिया के बड़े स्थल मार्ग से होता था। यह मार्ग भारत के सीमान्त प्रान्त गाधार देश के तक्षशिला नगर और मध्य एशिया मे से होता हुआ भूमध्यसागर के तट तक जाता था। अरब और पाश्चात्य देशो के साथ भारतीय व्यापार फारस की खाड़ी और लाल समुद्र के जलमार्ग से होता था। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थो से विदित होता है कि भारत का समुद्री व्यापार सिंहलद्वीप (लंका), ब्रह्मा, सुमात्रा (स्वर्णभूमि) और मलाया प्रायद्वीप से बंगाल की खाड़ी के जलमार्ग से होता था। इन देशो मे भारतीय समुद्री यात्राओ और व्यापार के हेतु जहाजो और नावो द्वारा जाते थे। भृगुकच्छ (आधुनिक भडोच), सूरपरक या सुप्पारक (बम्बई के उत्तर मे सोपरा), ताम्रलिप्ति (पश्चिम बंगाल मे तामलुक) आदि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहाँ से विदेशो का माल भेजा और लाया जाता था।

विनिमय और मुद्रा—व्यापार की व्यापकता, जटिलता और विस्तार के कारण तथा व्यापारिक सामग्री की बाहुल्यता के कारण वस्तुविनिमय-प्रथा समाप्त हो गई थी और मुद्राओ के प्रचलन की प्रणाली प्रारम्भ हो गई थी। मूल्य की सबसे न्यूनतम इकाई कार्षापण या कहपण थी। यह तांबे का सिक्का था। इसकी तौल लगभग १४६ ग्रेन से कुछ अधिक होती थी। कार्षापण चाँदी का भी होता था और उसका वजन लगभग ५८ ग्रेन से थोडा अधिक होता था। कार्षापण के अतिरिक्त निक्ख (निष्क) और सुवण्ण (सुवर्ण) नामक स्वर्ण के सिक्के भी होते थे। इन सिक्को के अतिरिक्त तांबे के छोटे-छोटे सिक्के भी प्रचलित थे। इन्हे मासक, काकनिक, कस, पाद आदि कहते थे। ऋण-पत्र, उधार पर्चों, हुण्डियो आदि के माध्यम से भी वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता था। सभी प्रकार के सौदो का व्यापारीगण लिखित विवरण रखते थे। व्याज पर ऋण दिया जाता था। गिरवी रखने की प्रथा भी थी। व्यापारी साझेदारी की प्रथा से जलयानो और नावो मे माल भेजते थे। उद्योग-व्यवसाय और व्यापार मे साझेदारी प्रथा प्रचलित थी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. छठी शती ई० पू० को परिवर्तनो का युग क्यो कहा जाता है?
२. छठी शती ई० पू० मे हुई धार्मिक, क्रान्ति के क्या कारण थे?
३. छठी शती ई० पू० के सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन का संक्षिप्त विवरण दीजिये।
४. "बौद्धधर्म ब्राह्मणो के एकाधिकार तथा वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध केवल क्रान्ति था।" क्या आप इस मत से सहमत हैं? (पी० सी० एस० १९६३)

अध्याय नौ

मौर्यकालीन संस्कृति

पूर्वाभास

संस्कृति के इतिहास में विविध राजनैतिक घटनाओ का महत्व उनके स्थायी परिणामो के आधार पर आका जाता है। यह एक निश्चित बात है कि किसी भी काल की राजनैतिक गतिविधियाँ उस काल की संस्कृति को प्रभावित करती है। इस दृष्टिकोण से सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि मौर्य साम्राज्य का क्या सांस्कृतिक मूल्य था ? भारत के ऐतिहासिक युग मे प्रथम बार मौर्य युग मे संस्कृति के सभी क्षेत्रो मे सर्वतोमुखी और अद्भुत विकास हुआ।

चतुर्थ शताव्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध मे विश्व के रंगमंच पर कई घटनाएँ घटी। यूनान के नगर-राज्यो और भारत के गणराज्यो ने साम्राज्यो के रूप धारण कर लिए। इससे दक्षिण योरुप, मध्य पूर्व तथा भारत के इतिहास को गति तथा दिशा प्राप्त हुई। इसी समय समस्त भूमध्य-सागर एक शक्ति के अधीन सघटित हो सका, मध्य एशिया मे भी सेल्युकिडीयो ने अपनी शक्ति स्थापित की और भारत मे मौर्य साम्राज्य की प्रतिष्ठा हुई।

भारत मे मौर्य साम्राज्य के साथ, भारतीय इतिहास मे तिथिबद्धता के आवश्यक अंश का प्रादुर्भाव होता है और अनुमान का सहारा कम हो जाता है। यूनानी इतिहासकार, मुद्राएँ तथा अन्य पुरातात्त्विक सामग्री, शिलालेख आदि से तत्कालीन इतिवृत्त के विश्लेषण मे बहुत सहायता मिलने लगती है और इतिहास को यह बल प्राप्त होने लगता है कि वह अपने निश्चयो को अपेक्षाकृत ठोस नींवो पर स्थित कर सके।

भारत के सास्कृतिक इतिहास मे भी, मौर्य युग (ई० पू० ३२०—ई० पू० १८७) गम्भीर परिवर्तनो का युग रहा है। समाज, धर्म एवं राजनीति आदि सभी क्षेत्रो मे इस युग मे अनेक नवीन परिवर्तन हो गये, जिनका समुचित परिणाम यह सिद्ध करता है कि भारतीय संस्कृति की एक पुनरावृत्ति इस युग में हुई। इसका सबसे प्रमुख और स्पष्ट परिणाम यह था कि अब भारत में सर्वप्रथम एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हो गया जो सिद्धान्त की दृष्टि से—वैदिक राजतन्त्र से सर्वथा भिन्न था। यह नया विकास देश मे आदर्श रूप से राजपूत काल तक क्रियान्वित रहा, जब

पुनः जनपदीय राज्य स्थापित हुए। यह नया राजतन्त्र उन सामाजिक परिवर्तनों का द्योतक है जो उत्तर वैदिक काल से होने आरम्भ हो गये थे।

मौर्यकाल मे भारतीय 'धम्मघोष' का निनाद—'विजयघोष' का नही—भारत की सीमा पार कर अन्य देशो मे भी सुनाई पड़ा और उसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति ने भारत की सीमाओं को लांघा।

मौर्यकाल के राजनैतिक इतिहास मे चन्द्रगुप्त तथा अशोक का शासन काल स्वर्णाक्षरो में अंकित है। अपने समय तक के शासकों मे चन्द्रगुप्त मौर्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण और तेजस्वी शासक था। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त भारतीय राजनीति मे एक महान क्रान्तिकारी व्यक्तित्व प्रमाणित होता है, ठीक उसी प्रकार अनेक प्रसंग तथा प्रमाण उसे भारतीय शासन प्रणाली के मूल स्वरूप का निर्माता प्रमाणित करते हैं। विशाल साम्राज्य के स्थायित्व के लिए उसने जिन बीजो को बोया, उनके अंकुरित होने पर कालान्तर मे कई स्वर्ण युग रूपी वृक्ष पल्लवित हुये। चन्द्रगुप्त के सम्मुख कोई अतीत आदर्श या मार्गदर्शन नही था। उसने अपने मौलिक प्रयासों द्वारा आदर्शों का निर्माण किया। यह बात शासन प्रवन्ध के विषय मे तो पूर्णतः निश्चित है।

मौर्यों का राजनैतिक संगठन तथा शासन प्रबन्ध

संगठन

मौर्य-साम्राज्य के संगठन का रूप एकतन्त्रीय था। चन्द्रगुप्त ने इस व्यवस्था का प्रयोग प्रबल राज्यतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए किया था। केन्द्रीय व्यवस्था को सबल एवं सुदृढ़ बनाने के लिए चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभाजित कर रखा था। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त की शासन-प्रणाली मे संघीय शासन के गुण भी विद्यमान थे। इन प्रान्तो को चक्र कहा जाता था। चन्द्रगुप्त के समय मे कितने चक्र थे—इसके विषय मे जानकारी नही हो पायी है परन्तु अशोक के काल मे अवस्थित चक्रो के आधार पर हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त के समय निम्न प्रान्त थे—

(१) **उत्तरापथ**—इसके अन्तर्गत कम्बोज, गान्धार, कश्मीर, पंजाव तथा अफगानिस्तान थे। इस प्रान्त की राजधानी तक्षशिला थी। (२) **अवन्तिराष्ट्र**—इसमे काठियावाड, गुजरात, मालवा तथा राजपूताना के प्रदेश थे। (३) **मध्यदेश**—इसमे उत्तर प्रदेश, विहार एवं बंगाल के प्रदेश सम्मिलित थे। (४) **दक्षिणापथ**—विन्ध्याचल के दक्षिण मे स्थित सारा प्रदेश इसके अन्तर्गत था। इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।

इस प्रकार समस्त साम्राज्य उपरोक्त चार प्रान्तो अथवा चक्रो मे विभाजित था। राज्य सत्ता का प्रमुख स्रोत, केन्द्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथ मे था। मौर्य शासन प्रणाली का यह रूप संघीय व्यवस्था पर आधारित होकर एकतन्त्रतात्मकता मे विलीन हो गया था। सम्पूर्ण शक्ति पाटलिपुत्र मे स्थित सम्राट मे निहित थी।

केन्द्रीय शासन

सम्राट का पद—इस सम्पूर्ण साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी सम्राट था। वह शासन में साम्राज्य का केन्द्र तथा कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्याय-पालिका का प्रधान था। यद्यपि शासन के समस्त अधिकार सम्राट को प्राप्त थे परन्तु वह स्वेच्छाचारी नही था। सम्राट की स्वेच्छाचारिता

पर नियन्त्रण रखने के लिये तीन प्रमुख साधन थे—मन्त्रिपरिषद, पौरजनपद तथा लोकमत। कौटिल्य के अनुसार 'जिस प्रकार रथ एक पहिये से नही चल सकता उसी प्रकार राजत्व भी सचिवों के बिना केवल राजा से नही चल सकता। राजा को चाहिये कि वह सचिवो को नियुक्त करे और उनकी सम्मति का श्रवण करे।"[1] पौरजनपद की सम्मति पर सम्राट विशेष ध्यान देता था।[2] कौटिल्य के अनुसार यदि ठीक तरह शासन न किया जाये, या राजनीति मे काम, क्रोध और अज्ञान आ जाये, तो वानप्रस्थ तथा परिव्राजक भी कुपित हो जाते है।[3] सम्राट, उच्च आदर्शों का पालन करता हुआ अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। अपने कर्म मे वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर प्रजा का अनुरंजन करता था।[4]

चन्द्रगुप्त को शासन एवं न्याय सम्बन्धी विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। मेगस्थनीज के अनुसार वह शासन में बहुत व्यस्त रहता था तथा अपनी प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए सदैव उपलब्ध एवं तत्पर रहता था। शासन सम्बन्धी कार्यों मे उसके प्रमुख कर्तव्य विदेशो से सम्बन्ध स्थापित करना, प्रशासकीय कर्मचारियो की नियुक्ति करना, शासन सम्बन्धी नीति का निर्धारण करना तथा गुप्तचरो से देश की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना आदि थे। आय-व्यय का निरीक्षण भी वही करता था। कौटिल्य के अनुसार राजा को नयी विधियो के निर्माण का अधिकार प्राप्त था तथा प्रजा के आचरण हेतु वह 'शासन' की घोषणा करता था। सम्राट न्याय करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। मेगस्थनीज के अनुसार जिस समय सम्राट महल मे अपने बदन की मालिश, करा रहा होता था उस समय भी प्रजा उससे मिल सकती थी। 'अर्थशास्त्र' मे कौटिल्य ने भी इसकी पुष्टि की है। कौटिल्य के अनुसार "राजा को चाहिए कि वह अपने आवेदको को अधिक समय तक द्वार पर प्रतीक्षा करने का अवसर न दे। जब आवेदको के लिए सम्राट अप्राप्य हो जाता है तो प्रजा मे असन्तोष पैदा होता है।"

चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकाक्षा को पूर्ण करने वाला प्रमुख साधन स्वयं उसी की सामरिक प्रवृत्ति थी अतः सेना के संचालन, नियुक्ति एवं देखभाल के समस्त व्यापक अधिकार उसी के हाथों में थे। शान्ति एवं युद्धकाल मे वह सेना का सर्वोच्च अधिकारी था। युद्ध-काल मे वह सेना का नेतृत्व करता था तथा युद्ध सम्बन्धी नीतियो पर अपने सेनापति से परामर्श लेता था।

कुछ इतिहासकारो ने चन्द्रगुप्त मौर्य के इतने व्यापक अधिकारो को देख कर उसे निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी कहा है।[5] परन्तु हम इससे सहमत नही हैं। शासन-कार्य मे सम्राट का कठोर होना निषिद्ध नही है, बशर्ते कि वह अपनी समस्त उपलब्धियो द्वारा प्रजा का पुत्रवत् पालन करके लोक-कल्याण एवं लोकरंजन की भावना से प्रेरित रहे।

मन्त्रिपरिषद—सम्राट की सहायतार्थ एवं परामर्श हेतु एक मन्त्रि-परिषद का गठन किया

---

१. कौटि० अर्थ० १।३। २. कौटि० अर्थ० ५।२। ३. कौटि० अर्थ० २।२।

४. "प्रजासुखे सुखं राज्यः, प्रजानां चहिते हितम्।
नात्म प्रियं हितं राज्ञः, प्रजानां तु हितं प्रियम्॥" कौटि० अर्थ०

५. "The known facts of Chandragupta's administration prove that he was a stern despot." —डा० विन्सेन्ट स्मिथ

गया था। कौटिल्य ने लिखा है कि "सम्राट को अवश्य ही सचिव वनाने चाहिये, क्योंकि राज्यत्व सहाय साध्य है। सहायको और सलाहकारो के विना वह चल नही सकता।"[1] अनेक उल्लेखो से पता चलता है कि राजा को सदैव षड़यन्त्रो का भय वना रहता था। इसी कारण वह योग्य मन्त्रियो के परामर्श द्वारा ही कार्य करता था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुसार 'मन्त्रिन' (प्रधान मन्त्री), पुरोहित, सेनापति तथा युवराज अठारह 'तीर्थों' मे प्रधान थे तथा सम्राट की अन्तरंग परिषद (Cabinet) में रह कर, उसे प्रत्येक विषय एवं कार्य मे परामर्श प्रदान करते थे। इन अठारह 'तीर्थों' के अन्तर्गत विभिन्न विभाग थे तथा प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष मन्त्रिपरिषद का सदस्य होता था। ये 'तीर्थ' थे—(१) मन्त्रिन (प्रधान मन्त्री), यह पद चाणक्य को प्राप्त था, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज (यह राजकुल से सम्वन्वित अथवा सम्राट का पुत्र होता था), (५) दौवारिक (राजदरवार, सीमाद्वारो तथा अन्य प्रमुख राजकीय द्वारों का रक्षक), (६) अन्तर्वेदिक (अन्त.पुर का अध्यक्ष), (७) समाहर्ता (आय का संग्रहकर्ता), (८) सन्निघाता (राजकीय कोष का अध्यक्ष), (९) प्रशास्तृ (कारागारो का अध्यक्ष), (१०), प्रदेष्ट्री (कमिश्नर), (११) नायक (नगर-रक्षा का अध्यक्ष), (१२) पौर (नगर का कोतवाल), (१३) व्यावहारिक (प्रमुख न्यायाधीश अथवा ज्यूडीशियल मजिस्ट्रेट), (१४) कर्मान्तिक (उद्योगो एवं कारखानों का अध्यक्ष), (१५) मन्त्रिपरिषद अध्यक्ष, (१६) दण्डपाल (पुलिस तथा अनुशासन स्थापित करने वाले दल का अध्यक्ष), (१७) दुर्गपाल (राजकीय दुर्ग रक्षको का अध्यक्ष), तथा (१८) अन्तपाल।

कौटिल्य के अनुसार मन्त्रिपरिषद मे अधिक से अधिक मन्त्रियो की नियुक्ति का वड़ा महत्व होता है। उसने इन्द्र की परिषद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन्द्र की मन्त्रिपरिषद में १००० ऋषि सदस्य थे। वह क्षुद्र (छोटी) मन्त्रिपरिषद की निन्दा करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने मगध-साम्राज्य के विस्तार को ध्यान में रखते हुए वृहद मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था की थी। प्रत्येक को वेतन स्वरूप १२,००० पण प्रतिवर्ष मिलते थे। आवश्यक कार्यों पर परामर्श के लिए ही मन्त्रि-परिषद का अधिवेशन वुलाया जाता था। इसके निर्णय वहुमत द्वारा होते थे तथा मन्त्रणा वहुत ही गुप्त विषय था।[2] प्रत्येक परिस्थिति मे राजा के लिए मन्त्रिपरिषद का प्रस्ताव स्वीकृत करना आवश्यक नही था। 'सर्वोपधाशुद्ध' आमात्य ही मन्त्रिपरिषद के सदस्य हो सकते थे। साम्राज्य के अन्य पदाधिकारी मन्त्रियो के परामर्शानुसार नियुक्त किये जाते थे।

अन्य विभागीय अध्यक्ष—इसके अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद के नीचे द्वितीय श्रेणी के पदाधिकारी थे। इन्हे अध्यक्ष कहा जाता था। कौटिल्य एवं मेगस्थनीज के उल्लेखानुसार इन विभागीय अध्यक्षो के पद इस प्रकार थे—(१) कोषाध्यक्ष, (२) आकाराध्यक्ष, (३) लौहाध्यक्ष, (४) लक्षणाध्यक्ष (मुद्रा अथवा टकसाल का अध्यक्ष), (५) लवणाध्यक्ष, (६) स्वर्णाध्यक्ष, (७) कोष्ठागाराध्यक्ष, (८) पण्या-

---

१. 'सहाय साध्यं राजत्व चक्रमेकं न वर्तते।' कौ० अर्थ० १।३।

२. कौटिल्य के अनुसार 'गुह्य विषयो पर राजा अकेला ही विचार करे। यह भारद्वाज का मत है। क्योंकि मन्त्रियों के भी मन्त्री होते हैं और उनके भी अन्य सलाह देने वाले होते हैं और यह परम्परा मन्त्र को गुप्त नहीं रहने देती।" परन्तु आचार्य विशालाक्ष का मत है कि 'अकेले कभी मन्त्र सिद्धि नहीं होती।" आचार्य पाराशर का विचार है कि राजा को जो करना हो उससे उल्टा करके मन्त्रियो से पूछे।

ध्यक्ष (राजकीय व्यवसाय का अध्यक्ष), (९) कुप्याध्यक्ष (वन-सम्बन्धी कार्यों का अध्यक्ष), (१०) आयुधाध्यक्ष (अस्त्र-शस्त्र के निर्माण एवं रक्षा का अध्यक्ष), (११) पौतवाध्यक्ष (नाप-तौल, बाट, तराजू आदि से सम्बन्धित विषयो का अध्यक्ष), (१२) मानाध्यक्ष (समय तथा स्थान के निर्णय सम्बन्धित कार्यों का अध्यक्ष), (१३) शुल्काध्यक्ष (राजकीय वन, जुर्माने इत्यादि से सम्बन्धित कार्यों का अध्यक्ष), (१४) सूत्राध्यक्ष (सूत, कताई-बुनाई का निरीक्षक), (१५) सीताध्यक्ष (राजकीय कृषि का प्रबन्धक), (१६) सुराध्यक्ष (आबकारी विपयों का अध्यक्ष), (१७) सूनाध्यक्ष (कसाईखाने का अधिकारी), (१८) मुद्राध्यक्ष (यह राजकीय चिह्न, मुद्रा तथा पासपोर्ट से सम्बन्धित कार्यों का अधिकारी था), (१९) विवीताध्यक्ष (चरागाहो का अधिकारी), (२०) द्यूत अध्यक्ष (जुये आदि विपयो का अध्यक्ष), (२१) बन्धनागाराध्यक्ष (जेल-विभाग का निरीक्षक), (२२) नवाध्यक्ष (पशु निरीक्षक), (२३) नौकाध्यक्ष (जल मार्ग से सम्बन्धित यातायात का अध्यक्ष), (२४) पत्तनाध्यक्ष (बन्दरगाहो का अधिकारी), (२५) गणिकाध्यक्ष (वेश्यालयो का निरीक्षक), (२६) संस्थाध्यक्ष (व्यापार का प्रबन्धक), तथा (२७) सैन्यविभागाध्यक्ष (पदाति, अश्व, रथ तथा गज-सेना के विविध अध्यक्ष) ।

उपरोक्त विभागो के कर्तव्य एवं अधिकारो के निरूपण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द्रगुप्त ने एक सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की नीव डालकर, अपने साम्राज्य को उत्कृष्ट शासन व्यवस्था में संजोया था। केन्द्रीय शासन समानता एवं योग्यता के आधार पर चलाया जाता था।[1]

प्रांतीय शासन

विभाजन—चन्द्रगुप्त मौर्य ने शासन की सुविधा हेतु अपने विशाल साम्राज्य को चार प्रान्तो में विभाजित किया। प्रत्येक प्रान्त की एक-एक राजधानी थी तथा इन प्रान्तो का शासन सीधे सम्राट द्वारा नियन्त्रित न होकर, उसके प्रतिनिधि द्वारा सचालित होता था। ये प्रतिनिधि 'कुमार' (प्रान्तीय शासनाध्यक्ष) कहलाते थे। इस पद का भार अति विश्वसनीय तथा राजघराने से सम्बन्धित व्यक्ति को ही सौंपा जाता था। पहले प्रान्त उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, दूसरे प्रान्त अवन्ति राष्ट्र की राजधानी उज्जैन, तीसरे प्रान्त दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरी तथा चौथे प्रान्त मध्यदेश (प्राच्यदेश) की राजधानी पाटलिपुत्र थी। प्राच्य प्रदेश का शासन स्वयं सम्राट के हाथ मे था तथा अन्य तीनो प्रान्तो के शासक, सम्राट द्वारा नियुक्त युवराज, राजकुमार अथवा राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति थे। उदाहरणार्थ, अशोक सिंहासनारूढ होने से पूर्व उत्तरापथ एवं अवन्ति प्रान्तो का 'कुमार' रह चुका था। प्रान्तीय शासक सम्राट के आदेशानुसार ही शासन करते थे। शासन मे ढील करने, अत्यधिक अत्याचार करने, जनता मे असन्तोप फैलाने पर उस प्रान्त के 'कुमार' को सम्राट पदच्युत कर सकता था।

पदाधिकारी—कुमारामात्य की सहायता हेतु प्रत्येक प्रान्त मे 'महामात्र' नामक अधिकारी होता था। इसका ज्ञान हमे अशोक के शिलालेखो द्वारा प्राप्त होता है। कौशाम्बी के अभिलेखो मे

1. "The Mauryan state was organised elaborately with full supply of departments and carefully graded officials with defiined duties"

—डा० विन्सेन्ट स्मिथ।

महामात्रो के लिए आदेश भी दिये गये है। महामात्रो के अन्तर्गत विभिन्न विषयक पदो पर सामन्त अथवा विषय-पति होते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार कुमारामात्य का वेतन १२,००० पण वार्षिक था। सम्राट को सदैव ही षड्यन्त्रो का भय बना रहता था। अतः प्रान्तीय शासन की गतिविधियो पर कड़ा नियन्त्रण रखने के लिए सम्राट का व्यक्तिगत गुप्तचार विभाग सदा सजग एवं सक्रिय रहता था। ये गुप्तचर, साम्राज्य के प्रत्येक समाचार एव घटना की सूचना राजा तक पहुँचाते रहते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे गुप्तचर विभाग को बहुत ही महत्वपूर्ण तथा आवश्यक बताया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रान्तीय शासन पर सम्राट का मुख्य नियन्त्रण गुप्तचर विभाग द्वारा ही सम्भव हो पाता था क्योकि इनके भय से कोई भी प्रान्तीय शासक अथवा कुमारामात्य, सम्राट विरोधी अवांछनीय कार्य नही करते थे।

ऐसा विदित होता है कि उपर्युक्त चारो प्रान्तो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रदेश थे जो चन्द्र-गुप्त मौर्य को केवल कर ही देते थे और आन्तरिक शासन की दृष्टि से उसके अधीन नही थे। सम्भवतः अपनी विदेशी नीति के निर्धारण मे उन्हे स्वाधीनता प्राप्त नही थी। एरियन ने ऐसे नगरो एवं जातियो का उल्लेख किया है जिन्हे आन्तरिक रूप से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र मे भी ऐसे संघो का उल्लेख है। इन संघो अथवा प्रान्तो की पूर्ण सत्ता का हनन न करके, उन्हें शासन की स्वायत्तता प्रदान करना, विदेशी-नीति पर प्रतिबन्ध लगाकर उनके विस्तार को रोकना तथा केवल कर के रूप मे ही धनराशि प्राप्त करना—इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि चन्द्रगुप्त मौर्य बड़ा ही दूरदर्शी एवं कुशल शासक था।[2]

नगर-शासन

विभाजन तथा संगठन—प्रत्येक प्रान्त कई जनपदो मे विभाजित था। प्रत्येक जनपद का संगठन मोटे तौर पर अग्रलिखित प्रकार से था—(१) स्थानीय—इसके अन्तर्गत ८०० ग्राम होते थे। (२) द्रोण मुख—इसके अन्तर्गत ४०० ग्राम होते थे। (३) खार्वटिक—इसके अन्तर्गत २०० ग्राम होते थे। तथा (४) सग्रहण—इसके अन्तर्गत १०० ग्राम होते थे।

इनमे से प्रथम चार 'नगर शासन' के अथवा जनपद के रूप मे थे तथा इनके शासन की व्यवस्था नागरीय विधान के अन्तर्गत होती थी।

महत्व—चन्द्रगुप्त के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन का स्वरूप उच्चकोटि का था परन्तु उसका नगर-शासन अपनी मौलिकता एवं विशेषता के कारण, इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे नगर-शासन का उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज ने मुक्त कंठ से चन्द्रगुप्त के नगर-शासन की प्रशंसा की है। अनेक विदेशी राजदूतो एवं लेखको ने मौर्य साम्राज्य के नगरो की सुन्दर व्यवस्था का वर्णन किया है। हमारी ऐसी धारणा है कि मेगस्थनीज का पाटलिपुत्र से सम्बन्धित वर्णन अन्य नगरो की शासन-व्यवस्था पर लागू होता है। उसका कथन है कि पाटलिपुत्र मौर्य-साम्राज्य का सबसे बड़ा नगर है।

---

2. "The control of the Mauryan central Government over distant provinces and subordinate officials, appear to have been more stringent than that exercised by Akbar."
—डा० विन्सेन्ट स्मिथ।

समितियाँ—नगर-शासन के निमित्त तीन सदस्यों की एक समिति थी।[१] यह समिति सम्पूर्ण नगर के शासन की देख-भाल करती थी। अपने निर्धारित कार्य-क्षेत्र के अतिरिक्त यह प्रजा के सुख एवं समृद्धि का यथेष्ट ध्यान रखती थी। भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिये तीस सदस्य, ६ समितियों में विभाजित थे अतः प्रत्येक उपसमिति की सदस्य संख्या पाँच थी।[२] इन नगर समितियो के नाम तथा कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) **शिल्प एवं औद्योगिक कला-समिति**—इस समिति के सदस्यो का प्रमुख कार्य शिल्प एवं उद्योग-धन्धो की देख-भाल करना, उनके विषय में नीति निर्धारित करना तथा उसके विकास का भरसक प्रयत्न करना था। यह समिति उत्पादन के गुणो का भी निरीक्षण करती थी। कारीगर, कलाकार तथा श्रमिक, स्त्रियो के पारिश्रमिक का निर्णय एवं कार्य-कुशलता का संचालन भी इसी समिति की देख-रेख में था। इसके साथ ही यह श्रमिक वर्ग के हितों का भी पूरा ध्यान रखती थी। यदि कोई व्यक्ति श्रमिक का निरर्थक शोषण तथा उन पर अत्याचार करता था तो उसे राज्य की ओर से कठोर दण्ड दिया जाता था।

(२) **वैदेशिक समिति**—इस समिति का प्रमुख कार्य विदेशी निवासियो एवं यात्रियो की गतिविधियो का निरीक्षण करके उनके हितो का ध्यान रखना था। नगर में विदेशियों के सुख तथा सुविधाओं को दृष्टिगत करते हुये, यह समिति उनके भोजन, निवास तथा चिकित्सा की व्यवस्था करती थी। यदि किसी विदेशी की मृत्यु हो जाती थी तो यह समिति उसके अन्तिम संस्कार की व्यवस्था करने के साथ-साथ, मृतक की सम्पत्ति, उसके उत्तराधिकारियो को देती थी। विदेशियो को मार्ग निर्देशन देकर, स्थानीय लोगो से उनकी रक्षा करने का भार भी इसी समिति पर था।

(३) **जनगणना समिति**—इस समिति का प्रमुख कर्त्तव्य नगर के जन्म एवं मरण का लेखा-जोखा रखना था। इसके द्वारा नगर की योजना निर्धारित करने के साथ-साथ कर वसूलने की सुविधा भी प्राप्त हो जाती थी। इस समिति द्वारा नगर की शिक्षा, न्याय, उत्सव तथा निर्माण आदि की व्यवस्था मे भी पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता था।

(४) **वाणिज्य समिति**—वाणिज्य व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों के साथ-साथ यह समिति वाणिज्य के विकास हेतु सुविधायें उपलब्ध कराती थी। यह उत्पादन के क्रय-विक्रय, भाव, नाप-तौल की व्यवस्था करते हुये, इस पर पूर्ण नियन्त्रण रखती थी। व्यापारियो को व्यापार करने के लिये राजकीय आज्ञा पत्र प्राप्त करना अनिवार्य था। इसके अभाव मे कोई व्यक्ति व्यापार नहीं कर सकता था। एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करने पर उसको उतना ही अधिक कर देना पड़ता था।

(५) **वस्तु निरीक्षक समिति**—वाणिज्य-व्यवसाय तथा उद्योग के उत्पादन का निरीक्षण करके उसके गुण, मात्रा तथा भाव निर्धारित करना इस समिति का कार्य था। कोई भी व्यक्ति नयी तथा पुरानी वस्तु का मिश्रण नही कर सकता था। निश्चित भाव से अधिक मूल्य लेने पर तथा उत्पादन

---

१. कौ० अर्थ० में नगर समितियो का उल्लेख नही है। अर्थशास्त्र के अनुसार 'नगर के शासन का भार' 'नगराध्यक्ष', 'स्थानिक' तथा 'गोप' नामक पदाधिकारी पर था। गोप के ऊपर 'स्थानिक' तथा 'स्थानिक' के ऊपर 'नगराध्यक्ष' का पद था।

२. "These duties of the town officials were discharged by Boards of five, numbering six Boards in all." —स्ट्रैबो।

में मिलावट करने पर कठोर दण्ड का भागी होना पडता था। कोई व्यक्ति अपनी पुरानी वस्तु को साम्राज्य की आज्ञा के विरुद्ध नहीं बेच सकता था।

(६) **कर समिति**—आयात-निर्यात पर कर की व्यवस्था करना ही इस समिति का प्रमुख कर्त्तव्य था। नगर के अन्दर आने वाली तथा नगर से बाहर जाने वाली प्रत्येक वस्तु पर चुगी देनी पड़ती थी। अत: कर तथा चुगी वसूल करना इस समिति का कार्य था। विक्रय-मूल्य का दसवाँ भाग कर के रूप मे देना होता था। कर की चोरी अथवा बेईमानी भयंकर अपराध माना जाता था। ऐसा करने पर प्राण दण्ड तक भी दिया जा सकता था।

मेगास्थनीज ने लिखा है—'ये कार्य हैं जो ये समितियो पृथक-पृथक रूप से करती हैं। परन्तु अपने सामूहिक रूप मे उनको अपने-अपने विशेप कार्यों का ध्यान तो रखना ही होता है, अपितु सार्वजनिक या सर्वसाधारण हित के कार्यों पर भी ध्यान देना होता है। यथा—सार्वजनिक इमारतो को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत करना, कीमतो पर अंकुश रखना, बाजार, बन्दरगाह और मन्दिरो पर ध्यान देना।'[1] इस प्रकार उपरोक्त वर्णित समितियाँ सामूहिक रूप से नगर की सुव्यवस्था, स्वच्छता, जन-प्रबन्ध, प्रकाश-व्यवस्था, सड़कों एवं मार्गों की सुरक्षा एवं निर्माण, सार्वजनिक भवनो की देख-रेख तथा जन-हितकारी कार्यों के लिये उत्तरदायी थी।

अनुशासन—नगर मे अनुशासन रखने तथा अपराधी मनोवृत्ति के दमन हेतु पुलिस की भी व्यवस्था थी। इसे 'रक्षिण' कहते थे। 'रक्षिण' का प्रमुख कार्य अवैध वस्तुओ तथा हथियार रखने वालो को पकडना तथा नगर मे अग्निकाण्ड को रोकने का प्रबन्ध करना भी था। ऐसा प्रतीत होता है कि नगरो मे अग्निकण्ड का भय विशेप रूप से बना रहता था। इसके लिए विभिन्न स्थानो पर जलकुण्डो की भी व्यवस्था थी। यदि किसी व्यक्ति की असावधानी से आग लगती थी तो ५४ पण का जर्माना किया जाता था। जान-बूझ कर आग लगाने वाले व्यक्ति को अग्नि मे जीवित झोंक देने का दण्ड-विधान था।

स्थानीय अथवा ग्राम शासन

भारत सदैव से कृपि-प्रधान देश रहा है तथा कृषक-जन ग्रामो में ही निवास करते हैं अतः भारतीय जन-जीवन मे ग्राम को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। महात्मा गाँधी ने ग्राम को देवस्थान तुल्य माना है। भारतीय संस्कृति के इतिहास मे ग्रामो का बड़ा महत्व रहा है। भारत का इतिहास उन ग्राम संस्थाओ का इतिहास है जिनके साथ भारतीय जनता का सर्वाधिक सम्बन्ध रहा है।[2]

---

१. यह निस्सन्देह पाटलिपुत्र की पौर सभा का वर्णन है। कौ० अर्थ० मे भी इस सभा के विषय मे अनेक निर्देश मिलते हैं।

२. ग्राम संस्था मे छोटे-छोटे जनतन्त्र राज्यो का नाम था, जो कि अपने आप में पूर्ण थी, जो कुछ भी उन्हे चाहिये था, अपने अन्दर विद्यमान था, उनका अपने से बहार के साथ बहुत कम सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अन्य कोई नही बचा, वे बची रही।"

—सर चार्ल्स मेटकाफ

"सदा से भारत मे हस्तक्षेप न करने की नीति को ही राज्य के लिये आदर्श समझा जाता रहा है।"

—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

मौर्य साम्राज्य भी इसका अपवाद नही था। ग्राम, मौर्य-साम्राज्य की सबसे छोटी प्रशासनीय इकाई थी। उसका प्रधान 'ग्रामिक' कहलाता था तथा वही प्रशासनिक व्यवस्था के लिये उत्तरदायी था। 'अर्थशास्त्र' के वैतनिक पदाधिकारियो मे 'ग्रामिक' का उल्लेख नही मिलता। स्पष्ट है कि वह राजकीय कर्मचारी नही था वरन् ग्राम की जनता द्वारा उसका निर्वाचन किया जाता था। ग्राम में जिस राजकीय कर्मचारी की नियुक्ति होती थी, उसका नाम ग्रामिक या ग्रामभोजक था। ग्रामिक अन्य वयोवृद्ध सदस्यों की सहायता से ग्राम की शासन-व्यवस्था करता था। ग्रामसभा को विशद् अधिकार प्राप्त थे। यह सभा ग्राम हित के कार्य करती थी। सड़क, पुल, पोखरा तथा अतिथिशाला आदि की व्यवस्था इसी सभा द्वारा की जाती थी। निवासियो की आवश्यकतापूर्ति के साथ-साथ उसका मुख्य कार्य साधारण विवादों एवं मुकदमो का निर्णय करना भी था।

प्रत्येक ग्राम मे राज्य की ओर से 'भ्रत्य' नामक पदाधिकारी होता था। अर्थशास्त्र के वर्णनानुसार ग्रामिक के ऊपर 'गोप' रहता था उसके अधिकार मे पाँच से लेकर दस ग्राम तक होते थे। 'गोप' के ऊपर 'स्थानिक' नामक पदाधिकारी था। वह जिले के चौथाई क्षेत्र का अधिकारी होता था। इन ग्राम पदाधिकारियो पर 'समाहत्री' अथवा समाहर्ता नामक अधिकारी का नियन्त्रण होता था।

ग्राम की परम्परायें तथा रीति-रिवाज राज्य के लिए मान्य थी। अर्थशास्त्र में लिखा हुआ है कि अक्ष-पटल को चाहिए कि वह प्रत्येक ग्राम के धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा महत्व आदि का लेखा रखे। प्रत्येक ग्राम अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विपयो मे स्वतन्त्र था। ग्राम की अपनी सभा होती थी। यह सभा ग्राम की नानाविध क्रियाओं की केन्द्र थी। इसमे धार्मिक तथा सामाजिक विषयों पर भी विचार होता था। मनोरंजन के लिये अनेक खेल तमाशो का आयोजन होता था।[1]

कौटिलीय अर्थशास्त्र से चन्द्रगुप्त कालीन ग्राम शासन के विषय मे पर्याप्त सूचना मिलती है। 'जब ग्रामिक सम्पूर्ण ग्राम के लिये किसी काम पर जाये तो सम्पूर्ण ग्रामवासियो को उसके साथ बारी-बारी से जाना होगा।" "जो कृपक गांव मे खेती करने के लिये आता है और फिर खेती नही करता उस पर जुर्माना किया जाये।" "नाटक आदि तमाशे के लिये जो काम किया जा रहा हो, उसमे हिस्सा न लेने वाले को तमाशा आदि देखना न मिले।"[2] ग्राम का अपना स्वतन्त्र संगठन था—जो नियम निर्माण तथा शासन का काम करता था। ग्राम सभा मे बनाये गये नियम धर्म स्थानीय न्यायालय में भी मान्य थे। ग्रामो को जन संख्या के आधार पर तीन भागों मे विभक्त किया गया था—ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ। सभी ग्रामो को राज्य कर के अनुरूप चार भागो में विभाजित किया गया था—(१) ग्रामाग्र-इन पर 'राज्य कर' के सामान्य नियम लागू होते थे। (२) परिहारक—ये राज्य कर से सर्वथा मुक्त थे। (३) आयुधीय—ये योद्धा प्रधान ग्राम थे। इनसे राजकर नही लिया जाता था परन्तु युद्ध के समय यहाँ के लोगो को सैनिक कार्य करना पड़ता था। (४) इस श्रेणी मे वे ग्राम थे जो धान्य, पशु, स्वर्ण, श्रम तथा वन्य सामग्री के रूप मे कर देते थे।[3]

---

१. "देश मे कोई राजा राज्य कर रहा हो, पर ग्रामवासियों को क्या? इन पर तो इनकी सभा ही, इनकी ग्राम संस्था ही राज्य करती थी। इन स्वतन्त्र ग्राम जनतन्त्रो मे भारतीय जनता स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करती थी।" —मौर्य साम्राज्य का इतिहास-सत्यकेतु विद्यालंकार।

२. कौटि० अर्थ० ३।१०।

३. कौटि० अर्थ० २।३५!

१६

पांच से दस ग्रामो का प्रबन्ध 'गोप' नामक पदाधिकारी करता था। जहाँ छोटे ग्राम होते थे—वहाँ पर 'गोप' चालीस ग्रामो तक का प्रबन्ध करता था। गोप के ऊपर स्थानिक नामक पदाधिकारी होता था।

न्याय-व्यवस्था

मौर्य-काल अपनी न्याय-व्यवस्था के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। मेगस्थनीज तथा कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य की कठोर न्याय-व्यवस्था का उल्लेख किया है। न्याय का उद्देश्य सुधारवादी न होकर आदर्शवादी था। अपराध के दण्ड-स्वरूप ऐसा आदर्श स्थापित किया जाता था जिससे भविष्य मे अपराध करने की मनोवृत्ति मूल रूप से नष्ट हो जाती थी।

ग्राम-सभा सबसे छोटा न्यायालय थी। यह ग्रामीणो के मामलो का निर्णय करती थी। इनके ऊपर क्रमशः संग्रहण, द्रोणमुख तथा जनपद के न्यायालय थे। साम्राज्य का सर्वोच्च तथा अन्तिम न्यायालय एवं न्यायाधीश सम्राट था। वह नीचे के न्यायालयो के निर्णय को अवैध घोषित कर सकता था। अर्थशास्त्र मे दो प्रकार के न्यायालयो का उल्लेख है—

(१) **धर्मस्थीय**—इस वर्ग के न्यायालय नागरिकों के पारस्परिक मामलो का निपटारा करते थे।

(२) **कण्टकशोधन**—राज्य तथा नागरिकों के मध्य होने वाले विवादो का निर्णय करने वाले न्यायालय को 'कण्टकशोधन' न्यायालय कहा जाता था।

धन, सम्पत्ति सम्बन्धी विवादो को हल करने वाले न्यायालय के न्यायाधीश को व्यावहारिक तथा फौजदारी (मार-पीट, हत्या, चोरी, डकैती आदि) के मामलो को निपटारने वाले न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहा जाता था। कुछ विशेष मामलों में कई न्यायाधीश साथ बैठकर निर्णय करते थे।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि चन्द्रगुप्त का दण्ड-विधान बहुत कठोर था। छोटे-छोटे अपराधो के लिए अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था।[1] हम इस बात से सहमत नही हैं कि न्याय-व्यवस्था स्वेच्छाचारी थी। वास्तव मे चन्द्रगुप्त मौर्य की न्याय-व्यवस्था के चार प्रमुख आधार थे—

(१) **धर्म**—प्रत्येक के लिए मान्य सिद्धान्तों का पालन, (२) **व्यवहार**—सभी प्राचीन विधि तथा नियम, (३) **चरित्र**—प्रत्येक शासकीय इकाई के रीति-रिवाज, उसकी परम्परा तथा मान्यतायें, तथा (४) **राजशासन**—राज्याज्ञायें।[2]

न्याय का आधार—ऐसा आभास होता है कि मेगस्थनीज को चन्द्रगुप्त के न्याय के उपरोक्त आधारो का ज्ञान नही था तथा उसने न्याय-व्यवस्था का कोई लिखित ग्रंथ ढूंढा होगा। जब वह नही मिला तो उसने लिख दिया कि भारतीयो के पास कोई लिखित कानून नही है। परन्तु मौर्य न्याय-व्यवस्था मे लिखित विधि की अपेक्षा मान्यता, धर्म एवं परम्परा को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। चाणक्य के अनुसार "सभी विधियों का आधार धर्म होना चाहिये, परन्तु धर्म या प्राकृतिक नियम

---

१. "A person convicted of bearing false witness suffers a mutilation of his extremities. He who maims another, not only suffers in return the loss of like limb, but his hand or eyes, before, he is put to death." —स्ट्रैबो

२. कौटि० अर्थ० ३।१।

क्या है ? इसका निर्णय धर्मशास्त्र के अनुसार नहीं करना है, अपितु न्याय या उचित अनुचित के आधारभूत सिद्धान्तों को सामने रख कर करना है !" कोई भी न्यायाधीश मनमानी नही कर सकता था। चाणक्य की मान्यता थी कि यदि राजा किसी निरपराधी को दण्ड देगा तो उसे स्वयं दण्ड भोगना पड़ेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा भी दण्ड से मुक्त न था। न्यायाधीश को भी न्याय करते हुए बड़ी सावधानी से कार्य करना होता था। यदि वे ठीक से कार्य नही करते, तो उन्हे भी दण्ड मिल सकता था।[1]

दण्ड की मात्रा तथा अपराध की मात्रा मे सामंजस्य नही था। साधारण अपराधो के लिए अर्थ दण्ड दिया जाता था। कलाकार को पंगु बनाने तथा कर मे बेईमानी करने पर मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी। स्वर्णकार के गृह अथवा दूकान में बलपूर्वक घुसने वालो को भी मृत्युदण्ड का भागी होना पड़ता था। चोरी तथा व्यभिचार करने वाले को अंगभंग की सजा दी जाती थी। राजकीय कर्मचारियों को चोरी अथवा रिश्वत के अपराध मे प्राणदण्ड का विधान था। अपराधी द्वारा अपराध की स्वीकृति न करने पर 'रक्षिण' (पुलिस) शारीरिक यातना देती थी। यह माना जा सकता है कि दंडविधान प्राय: अमानुषिक था, परन्तु कठोर दंड के भय से अपराधो की संख्या कम थी।

सैन्य-संगठन

चन्द्रगुप्त अद्भुत महत्वाकाक्षी तथा महान् साम्राज्यवादी सम्राट था। उसके राजनैतिक उत्थान का सर्वोपरि माध्यम उसकी विशाल एवं सुव्यवस्थित सेना ही थी। साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसने अत्यन्त विशाल सेना का संगठन किया था। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना मे साठ हजार पदाति, तीस हजार अश्वारोही, नौ हजार हाथी तथा आठ हजार रथ थे। इस विशाल सेना की देख-रेख एवं प्रबन्ध करने के लिए एक सैनिक विभाग था। इस विभाग मे छ: समितियाँ थी। प्रत्येक समिति के पाँच सदस्य थे। इन समितियो का संगठन इस प्रकार था—समिति संख्या १—पदाति सेना, समिति संख्या २—अश्वारोही, समिति संख्या ३—गजसेना, समिति संख्या ४—रथसेना, समिति संख्या ५—यातायात तथा रसद देने वाली सेना, तथा समिति संख्या ६—नौसेना।

समस्त सेना मे गजसेना सर्वाधिक शक्तिशाली थी। एक हाथी पर तीन धनुषधारी सैनिक बैठते थे। रथ पर दो सेनानी बैठते थे। सैनिको को नियमित रूप से वेतन मिलता था। राज्य की ओर से उन्हे तीक्ष्ण एवं उत्तमकोटि के अस्त्र-शस्त्र दिये जाते थे। मेगस्थनीज के उल्लेखानुसार उन्हे पर्याप्त वेतन मिलता था। युद्ध-काल मे उन्हे कठिन परिश्रम करना पड़ता था परन्तु शान्ति-काल मे वे इच्छानुसार मनोरंजन करते थे। युद्ध-क्षेत्र मे घायल सैनिको की चिकित्सा का प्रबन्ध रहता था। अस्त्र-शस्त्र निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था तथा इनका निर्माण कुशल कारीगरो द्वारा होता था।

विभिन्न प्रदेशो एवं शत्रु-आक्रमण से आशंकित स्थानो पर दुर्ग बनाये जाते थे। दुर्ग पाँच प्रकार के थे—(१) स्थल दुर्ग, (२) वन दुर्ग, (३) गिरि दुर्ग, (४) मरु दुर्ग तथा (५) जल दुर्ग। इन दुर्गों मे सैनिक अभ्यास तथा उनके निवास का प्रबन्ध भी रहता था।

---

१. कौटि० अर्थं० ४।९ !

पुलिस तथा गुप्तचर विभाग

अनेक उल्लेखो से पता चलता हे कि चन्द्रगुप्त को अपनी हत्या किये जाने की आशंका बनी रहती थी। कहा जाता है कि वह प्रत्येक रात अलग-अलग कक्षो मे सोता था तथा स्वयं भोजन करने से पहले उसके भोजन का परीक्षण किया जाता है। इन बातो से प्रकट होता है कि वह पुलिस तथा गुप्तचर विभाग के संगठन के प्रति विशेष जागरूक था। पुलिस तथा गुप्तचर विभाग का प्रमुख कार्य साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति के विषय मे सूचना एकत्र करना तथा अपराधियों आदि का पता लगाना था। प्रत्येक नगर मे रात्रि के समय रक्षिण (पुलिस) पहरा देते थे। ये कर्मचारी प्रत्येक घटना की सूचना राजा को प्रेषित करते थे। 'रक्षिण' को एरियन ने ओवरसियर तथा स्ट्रैबो ने इन्सपैक्टर कहा है। स्थानीय सीमाओं के अन्तर्गत 'स्थानिक' और 'प्रदेष्टा' आदि अधिकारी अपने क्षेत्रों में पुलिस का प्रवन्ध करते थे।

गुप्तचर विभाग दो उपभागो मे विभक्त था। (१) संस्थान वर्ग—इस वर्ग के गुप्तचर एक ही स्थान पर रहते थे और 'गृहपतिक', 'वैदेहिक तापस', 'उदास्थति' तथा 'कार्पटिक' के नामो से पुकारे जाते थे। (२) संचारण वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत स्त्री तथा पुरुष गुप्तचर होते थे। ये वेष बदलकर अपने वास्तविक रूप को छिपाते थे। भ्रमण द्वारा गुप्त सूचनाएँ एकत्र करना, अपराधियों, शत्रुओ तथा चोरो पर निगरानी रखना तथा सरकारी कर्मचारियो की गतिविधियों की सूचना एकत्र करना आदि इनके प्रमुख कार्य थे। ये राज्य के उच्चाधिकारियो के व्यवहार पर भी नजर रखते थे। इस विभाग के भय से समस्त पदाधिकारी चौकन्ने रहते थे तथा उन्हे राजविरोधी कार्य करने का साहस नहीं होता था। नर गुप्तचर 'सन्त्री', 'तिष्णा' और 'सरद' कहलाते थे तथा स्त्री गुप्तचर 'वृषली,' 'भिक्षुकी' तथा 'परिव्राजकी' आदि नामों से पुकारी जाती थी। गुप्तचर छोटे-से-छोटे कर्मचारियों के शौच-अशौच तक की सूचना एकत्र करने मे सिद्धहस्त थे।

राजकीय आय के साधन

भूमि कर—साम्राज्य की भूमि दो भागो में वँटी थी—राजा की भूमि तथा कृषकों की भूमि। राजा की भूमि से जो आय होती थी उसे 'सीता' कहा जाता था तथा कृषकों द्वारा उत्पादित सामग्री से जो कर प्राप्त होता था उसे 'भाग' कहा जाता था। साधारणतया भूमि की उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था—परन्तु यह प्रायः भूमि की उर्वरता पर निर्भर था। भूमि कर दो प्रकार का होता था—'सेतु' तथा 'वनकर'।

आयात तथा निर्यात कर—व्यापार, वाणिज्य तथा व्यवसाय आदि पर्याप्त उन्नत थे। इन साधनो से उत्पादित सामग्री पर आयात एवं निर्यात कर लगाया जाता था। आयात कर २० प्रतिशत था परन्तु निर्यात कर की दर का कोई प्रमाण नही है। आयात कर को 'प्रवेश्य' तथा निर्यात कर को 'निष्क्राम्य' कहते थे। विदेशी व्यापार करने वालो को कर की मात्रा में कुछ छूट दी जाती थी।

बिक्री कर—किसी भी सामग्री तथा वस्तु का क्रय-विक्रय होने से पूर्व 'शुल्काध्यक्ष' उस पर चुंगी वसूल करता था। चुंगी तथा बिक्रीकर की तीन दरें थी—

(i) गिनकर वेचे जाने वाली वस्तुओं पर ९½ प्रतिशत,

(ii) नापकर बेचे जाने वाली वस्तुओं पर ५ प्रतिशत, तथा

(iii) तौलकर बेचे जाने वाली सामग्री पर ६ $\frac{2}{3}$ प्रतिशत।

नगरों में आय कर—नगर मे आमदनी के साधनो पर निम्नलिखित कर लगाये जाते थे—

(i) शराब बनाने वालो पर कर, (ii) नमक बनाने वालो पर कर, (iii) घी, तेल के व्यवसायियो पर कर, (iv) कसाइयो पर कर, (v) शिल्पियो तथा कलाकारों पर कर, (vi) जुआरियों तथा द्यूत गृहो पर कर, (vii) आवश्यकता से अधिक आय पर—आयकर, (viii) वेश्यावृत्ति पर कर, (ix) मन्दिरो में प्राप्त धन पर कर।

दण्ड कर—राज्य की आय के साधनो मे वृद्धि करने के उद्देश्य से अनेक अपराधो के लिये अर्थ दण्ड दिया जाता था।

यद्यपि साम्राज्य की आय के विविध स्रोतो से विपुल धनराशि प्राप्त होती थी तथापि राज्य के अनेकानेक विषयो पर काफी व्यय होता था। राज्यकर्मचारियो के वेतन, सैन्य व्यय, शिक्षा, दान, सार्वजनिक हितों के अतिरिक्त विभिन्न निर्माण कार्यों तथा व्यापार वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के लिये कर रूप मे प्राप्त धन व्यय किया जाता था।

विवेचना

मौर्य शासन प्रबन्ध की उपरोक्त रूपरेखा से यह स्पष्ट होता है कि यह शासन प्रणाली पूर्वगामी भारतीय शासन प्रणाली से अनेक प्रकार से भिन्न थी। इसमे उत्तरवैदिक काल की सभा समिति के लिये कोई स्थान नहीं था। हाँ, पौर-जनपद मे किसी न किसी रूप में इसकी छवि अवश्य थी। इस शासन व्यवस्था मे राजा की बढ़ती हुई निरंकुशता का आभास मिलता है। इस समय नौकरशाही का विस्तार अवश्य हुआ। सुरक्षा, वित्तीय प्रबन्ध, जनगणना, सिंचाई, श्रम दरो का निर्धारण, विदेशियों पर नियन्त्रण, आदिम जातियो को आश्रय आदि इस व्यवस्था की मौलिक उपलब्धियाँ हैं। इस शासन व्यवस्था से यह भी स्पष्ट है कि स्थानीय स्वशासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो में जनमत और जन सम्मति को महत्व नहीं दिया जाता था। गणराज्यों का विघटन हो चुका था और निरंकुश गणतन्त्र पनप रहा था। यत्र-तत्र इखामनी प्रभाव भी स्पष्ट हैं। अनेक विधान और नीतियाँ भारतीय आचरण से भिन्न से प्रतीत होते हैं। अनेक क्षेत्रो मे मौर्य शासन व्यवस्था भारतीय राजनीति मे अभिनव प्रयोग से परिपूर्ण भी प्रतीत होती हैं।

सामाजिक दशा

मौर्यकाल की सामाजिक दशा, प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के वे स्वर्णिम प्रसंग हैं जबकि इस देश में प्रथम बार राजनैतिक सुस्थिरता की स्थापना हुई थी। यह अति स्वाभाविक है कि किसी भी देश के सामाजिक जीवन का दृढ़ीकरण निश्चित एवं सुव्यवस्थित राजनैतिक परि-स्थितियो मे ही सम्भव होता है। अतः मौर्यकाल की सामाजिक दशा के उन्नत होने का प्रमुख श्रेय तत्कालीन राजनैतिक दशा को ही दिया जाना चाहिये।

मौर्यकालीन सामाजिक दशा की जानकारी हमे मेगस्थनीज के वृत्तान्तो, कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, अशोक के अभिलेखो तथा समसामयिक बौद्ध एवं अन्य साहित्यिक ग्रंथो द्वारा प्राप्त होती है। इस विषय में एक अन्य रोचक तथा महत्वपूर्ण बात यह है कि इस काल की सामाजिक दशा के विषय में हमें विदेशियों के भारत सम्बन्धी दृष्टिकोण का भी पता चलता है।

सामाजिक श्रेणियाँ तथा वर्ग—मौर्यकाल में वर्णव्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म की परम्परा तथा प्रथा एक निर्दिष्ट स्तर तक स्थिर हो चुकी थी। वर्ण तथा आश्रम की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था। यद्यपि बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रसार स्वरूप इन वैदिक मान्यताओं का काफी खण्डन-मण्डन हो चुका था परन्तु अभी वे पर्याप्त मान्य थी। ब्राह्मणो के प्रति अभी भी अगाध श्रद्धा थी तथा क्षत्रिय एवं वैश्य भी सम्माननीय थे। शूद्र वर्ण पूरी तरह से व्यवस्थित तो था परन्तु इसे समाज में अभी भी निम्नतर स्थान प्राप्त था। मेगस्थनीज के अनुसार भारत की सम्पूर्ण बस्ती सात जातियो मे विभाजित थी।[1] परन्तु उसका जाति विभाजन व्यवसाय के अनुरूप है। प्रतीत होता है कि वह जाति और व्यवसाय के भेद से परिचित नही था। कौटिलीय अर्थ शास्त्र में परम्परागत चार वर्णों का विवरण है। चार वर्णों के अलावा कतिपय अन्य व्यवसायी वर्ग भी थे परन्तु उनकी गणना चतुर्वर्णों में ही होती थी। अशोक के शिलालेखो मे ब्राह्मण, इम्य (वैश्य), दास भृतक, गृहस्थ, परिव्राजक आदि का नामोल्लेख यह प्रमाणित करता है कि इस समय अनेक जातिवर्ग भी जन्म ले चुके थे। परवर्ती बौद्ध साहित्य से सूचित होता है कि जाति भेद अभी विकासावस्था में था।

वर्ण व्यवस्था—समाज मे ब्राह्मणो को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। क्षत्रिय वर्ण राजनीतिक गतिविधियों तथा रक्षा-सुरक्षा से सम्बन्धित कार्य करता था। वैश्य वर्ण ने आर्थिक समृद्धि द्वारा पर्याप्त सम्मान प्राप्त कर लिया था। वैदिक काल की भाँति शूद्र वर्ण अभी भी निम्नतर था। वर्ण व्यवस्था के नियम कठोर थे। वर्ण से बाहर विवाह करना अनुचित समझा जाता था। अपने स्वयं के व्यवसाय के अतिरिक्त दूसरा व्यवसाय करने की अनुमति नही थी। मेगस्थनीज ने लिखा है "कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के सिवाय भिन्न जाति में विवाह नही कर सकता, और अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरा काम नही कर सकता।"[2] उदाहरणार्थ कोई सैनिक, कृषक, शिल्पी या दार्शनिक नहीं हो सकता था। जाति परिवर्तन का निषेध था। इतना सब कुछ होते हुए भी, पूर्वकालीन वर्ण व्यवस्था के नियम बन्धन ढीले पड़ गये थे।

दास प्रथा—रोमन तथा ग्रीक देशो की भाँति दास प्रथा का प्रचलन नही था। दास प्रथा थी तो जरूर, परन्तु दासों के प्रति सद्व्यवहार किया जाता था। दास अपने स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझे जाते थे परन्तु दासो की सन्तान दास वृत्ति से मुक्त समझी जाती थी। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है दासों को लांछित करना, पीटना, अपशब्द कहना वर्जित था। ऋण चुकाकर दास वृत्ति से मुक्ति पायी जा सकती थी। अनेक दासो को वेतन भी दिया जाता।

खान-पान—खान-पान की अभिरुचि परिष्कृत थी। लोगो का भोजन पौष्टिक तथा सुरुचिपूर्ण होता था। विभिन्न प्रकार के खाद्यान्न, दूध, शाक-भाजियां आदि का प्रयोग खाद्य-सामग्री के रूप मे किया जाता था। अशोक के अभिलेखो से विदित होता है कि मांस का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता था तथा इसीलिये अशोक ने हिंसा के लिये अनेक निषेधाज्ञाएँ जारी की थी। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में रोटी, पका हुआ चावल, पका हुआ मांस तथा पकवान बेचने वालो का उल्लेख—यह प्रमाणित करता है कि उस समय खाद्य-पदार्थ बनाकर बेचने का व्यवसाय था। मौर्यकाल में मदिरापान का बहुत प्रचलन था। अर्थशास्त्र मे अनेक प्रकार की मदिराओं तथा उन पर लगने वाले करों

---

१. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण (अंग्रेजी पृ० ४२-४३)।

२. वही पृ० ४४।

से यह प्रमाणित होता है कि मदिरा के विभिन्न प्रकार थे तथा वह राजकीय आय का भी साधन थी। इस समय मदिरालयो की भी व्यवस्था थी तथा उनमे वेश्याओं की सेवा भी उपलब्ध थी। मेगस्थनीज का कथन है कि भारतीय लोग 'यज्ञो के अलावा और कभी मदिरा नही पीते।"[1] सामाजिक दृष्टिकोण से मदिरापान को बुरा समझा जाता था।

आमोद-प्रमोद अथवा मनोरजन के साधन—मेगस्थनीज के वृत्तान्तों से पता चलता है कि रथो की दौड़, घुड़दौड़ तथा साडों के युद्ध द्वारा मनोरंजन किया जाता था। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार 'नर नर्तक, गायक, वादक, चारण, वाग्जीवक (विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले), सौभिक (मदारी), प्लवक (रस्सी पर चलने वाले) आदि अपनी कला प्रदर्शन द्वारा दर्शको का मनोरंजन करते थे।"[2] विशेष अवसरों तथा उत्सवो पर नृत्य और संगीत का आयोजन किया जाता था। वसन्तोत्सव, दीपावली, गिरिपूजा, पुष्पसमारोह आदि अवसरो पर लोग खूब आनन्द मनाते थे। आर्थिक रूप से समृद्ध जन द्यूतक्रीड़ा तथा वेश्यागमन द्वारा मनोरंजन करते थे। जुए पर कर लगाया जाता था। ग्रामो मे सार्वजनिक शालाओ में सामूहिक उत्सवो का आयोजन किया जाता था। चौपड के सभी आदी थे। सामाजिक दृष्टि से मनोरंजन इतना अधिक महत्वपूर्ण हो गया था कि अनेक व्यक्तियो ने मनोरंजन करने की वृत्ति को व्यवसाय बना लिया था। तत्कालीन आमोद प्रियता से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मौर्यकाल मे लौकिक जीवन आनन्दमय था।

वस्त्राभूषण—मौर्यकाल मे वस्त्राभूषण से विशेष लगाव था। पुरुष तथा स्त्रियों में उत्तरीय तथा अधोवस्त्र का विशेष प्रचलन था। निम्नवर्ग तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के लोग प्रायः सूती तथा अलंकरणहीन वस्त्रो का प्रयोग करते थे। समृद्ध वर्ग के लोगो के वस्त्रों पर जरी का काम होता था। वे बारीक मलमल तथा जालीदार वस्त्र भी पहनते थे। पुरुष प्रायः बहुमूल्य वस्त्र की पगड़ी पहनते थे। वेश्याओ के वस्त्र बहुमूल्य तथा सुन्दर होते थे। मौर्यकालीन स्त्री-पुरुष सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते थे तथा अपने रूप को संवारने मे कोई कसर नही उठा रखते थे।

नागरिक जीवन—उस समय 'नागरिक' शब्द का अभिप्राय उस मनुष्य से था जिसकी रुचियाँ तथा प्रवृत्तियाँ सुरुचिपूर्ण, आचार-विचार विशिष्ट तथा स्वभाव भोग विलासी होता था। मौर्यकालीन नागरिक जीवन सुखी, समृद्ध तथा शान्तिप्रिय था। नागरिको मे सुख भोग की तीव्र लालसा थी। मध्यमवर्गीय लोगो का जीवन भी सुसंस्कृत, सन्तुलित तथा प्रगतिशील था। नागरिक सुख सुविधाओ की उपलब्धि के कारण सामाजिक जीवन सुख-सन्तोषपूर्ण था। कुछ वृत्तान्तो से पता चलता है कि साधारण स्तरो के लोगो तथा धन सम्पन्न व्यक्तियो के नागरिक स्तर मे अन्तर था।

नैतिक स्तर—मौर्यकालीन नागरिकों का सामान्य आचरण सरल तथा मितव्ययी था। मेगस्थनीज के उल्लेखो से पता चलता है कि चोरी की घटनाएँ बहुत कम होती थी तथा लोग अपने घरो मे ताले नही लगाते थे। कोई झूठी गवाही नही देता था तथा लोग अपने वचनो का पालन करते थे। अशोक द्वारा धम्म प्रचार किये जाने के कारण लोगो का नैतिक स्तर ऊँचा हो गया था। अहिंसा, दान, क्षमा, सहिष्णुता, सत्य, प्रेम आदि चारित्रिक गुणो पर बल दिये जाने के कारण लोग पाप से बच कर पुण्य अर्जित करने का प्रयत्न करते थे। सभी लोग समाज द्वारा निर्धारित नियमो का पालन करते थे। अतिथिसत्कार सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य समझा जाता था।

१. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण (अंग्रेजी पृ० ३३)। २. कौटि० अर्थ० २।२७।

विवाह—पारिवारिक जीवन मे विवाह संस्कार को विशेष महत्व प्राप्त था। कौटिल्य ने ब्राह्मण विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह तथा पैशाच विवाह नामक आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख किया है। विवाह का प्रमुख उद्देश्य सन्तान प्राप्ति था। विवाह के अवसरो पर विभिन्न अनुष्ठान किये जाते थे।

बहुविवाह—अशोक के शिलालेखो मे उसका कई पत्नियो का नामोल्लेख तथा मौर्य सम्राट बिन्दुसार के १०१ पुत्र होने का उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे बहुविवाह की अनुमति देते हुए लिखा है कि "पुरुष कई स्त्रियो से विवाह कर सकता है। स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति के लिये ही हैं।" स्त्रियो को केवल पुनर्विवाह की ही अनुमति थी।

तलाक—अर्थशास्त्र के उल्लेखों से पता चलता है कि कतिपय विशेष परिस्थितियो मे तलाक का भी प्रावधान था। तलाक के लिये निम्नलिखित शर्तें थी।[1]

(i) यदि पति या पत्नी दुराचारी हो तथा बिना किसी कारण किसी अन्य स्त्री या पुरुष पर आसक्त हो,

(ii) यदि पति या पत्नी एक दूसरे से लम्बे समय तक अलग रहे,

(iii) यदि पति या पत्नी मे से कोई भी राजद्रोही हो;

(iv) यदि पति या पत्नी ने हत्या की हो, तथा

(v) दोनो मे से कोई भी नपुसक हो।

नियोग प्रथा—उस समय नियोग प्रथा का भी प्रचलन था। सन्तानहीन स्त्री अपने पति की नपुसकता या वैराग्य के कारण पर पुरुष द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकती थी।[2] नियोग प्रथा का उद्देश्य वश परम्परा की निरन्तरता बनाये रखना था।

सती प्रथा—इस विषय मे कोई निश्चित बात नही कही जा सकती कि उस समय सती प्रथा का प्रचलन था अथवा नही। डा० एन० एन० घोष का विचार है कि "उस समय सती प्रथा का प्रचलन नही था तथापि कही कही स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक पति की चिता मे प्रविष्ट होकर आत्महनन कर लेती थी।" पंजाब की कतिपय युद्धप्रिय जातियो मे इस प्रथा का प्रचलन था।

स्त्रियों की दशा—मौर्यकाल मे स्त्रियो के पद के विषय में कौटिल्य ने अनेकानेक बातें कही हैं। उसके अनुसार स्त्री का 'स्त्रीधन' पर अधिकार होता था। विवाह के अवसर पर वर की ओर से जो धन कन्या को दिया जाता था, इसे 'स्त्रीधन' कहा जाता था। कौटिल्य से यह भी पता चलता है कि स्त्री को नियोग का अधिकार प्राप्त था तथा कतिपय परिस्थितियो में वह तलाक की भी अधिकारिणी थी। साथ ही उसने स्त्रियो को राजनीति मे भाग लेने के लिये निषेध किया हुआ है। कौटिल्य ने स्त्रियो को 'न निकलने वाली' कहा है।[3] मेगस्थनीज के अनुसार 'ब्राह्मण दार्शनिक स्त्रियो को ज्ञान के लिये अनुपयुक्त मानते थे। उन्हे भय था कि कही वे दुश्चरित्र न हो जायें, रहस्योद्घाटन न कर दें, अथवा ज्ञान प्राप्त करने पर उन्हें छोड़ न दें।" स्त्रीबध ब्रह्म हत्या के बराबर अपराध समझा जाता था। इन सभी नियमो तथा निषेधों के आधार पर यह कहा जा सकता

१. कौटि० अर्थ ३।२। २. वही ३।४

३. "स्त्रीणामनिष्कासिनीनाम"—कौटि० अर्थ० ३'१।

है कि इस समय की स्त्रियों की दशा पूर्वकाल के समान महत्वपूर्ण तथा उन्नत नही थी। चाणक्य उन्हें 'पुत्रार्थाहि स्त्रियः' मानता है।[1] अशोक के शिलालेखों से विदित होता है कि उस समय स्त्रियों में अन्धविश्वास व्याप्त था।

उपरोक्त उल्लेखो के आधार पर हम यह कह सकते है कि स्त्रियो की दशा सामान्य थी। उन्हें सम्पत्ति का अधिकार था तथा अपने पति के अत्याचार के विरुद्ध वे न्यायालय की शरण में जा सकती थी। वालविवाह की अनुपस्थिति तथा पुर्नविवाह की अनुमति होने के कारण उन्हें अपने जीवन-साथी को चुनने तथा उसके साथ जीवन व्यतीत करने के विषय मे पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। उस समय में अनेक स्त्रियाँ दर्शनशास्त्र का अध्ययन करती थी। उन्हे वैराग्य धारण की भी अनुमति थी। अशोक के अभिलेखो से विदित होता है कि उसकी पुत्री संघमित्रा धर्म प्रचार हेतु सिंहलद्वीप में गई थी। अनेक स्त्रियाँ सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करती थी। प्रतीत होता है कि स्त्रियो को पुरुषों की भाँति सार्वजनिक हित के कार्य करने तथा दानादि वितरण करने की स्वतन्त्रता थी।

वेश्यावृत्ति—मौर्यकालीन समाज में वैश्यावृत्ति का प्रचलन था। विनयपिटक में आम्रपाली की कथा इस वात की पुष्टि करती है कि वैश्याओ को समाज मे प्रचुर महत्व प्राप्त था। कौटिल्य के अनुसार सुयोग्य वैश्या का वार्षिक वेतन एक सहस्त्र पण होता था। वैश्यावृत्ति के अनेक नियम भी थे। प्रत्येक वैश्या अपनी आय का एक भाग राज्य को कर के रूप में देती थी।[2] वैश्याएँ विविध कलाओं मे निपुण तथा काफी प्रशिक्षित भी होती थी। वे गुप्तचरी का कार्य भी करती थी तथा राजनैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये भी उनका प्रयोग किया जाता था। वृद्ध या अशक्त होने पर वे राज महल मे 'पाचिका' का कार्य करती थी।

मौर्यकालीन सामाजिक जीवन की उपरोक्त विशेषताओ के आधार पर जव हम इस काल की सामाजिक दशा का विवेचन करते हैं तो हमे विदित होता है कि सामाजिक जीवन में पर्याप्त परिपक्वता आ गई थी। सामाजिक समस्याओ का समयानुकूलन किये जाने के फलस्वरूप समाज मे अनेक प्रकार की नवीनताएँ आ गई थी तथा अव लोग सामाजिक जीवन के प्रति विशेष सजग हो गये थे। अशोक के 'धम्म' सिद्धान्तों द्वारा तत्कालीन समाज को वहुत लाभ हुआ तथा उसका नैतिक स्तर उच्च हो गया। तत्कालीन समाज मे सिद्धान्तो की अपेक्षा व्यवहार पर विशेष वल दिये जाने के कारण देश का सामाजिक जीवन सुखी तथा समृद्ध हो रहा था।

आर्थिक दशा

किसी भी समय या युग की आर्थिक दशा का तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियो तथा सामाजिक अवस्था से अति निकट सम्बन्ध होता है। राजनैतिक सुदृढता द्वारा आर्थिक विषयों को भी सुदृढ़ता तथा स्थायित्व प्राप्त होता हे। सामाजिक प्रगति द्वारा आर्थिक आवश्यकताओ की वृद्धि होने के कारण आर्थिक विस्तार होता है। मौर्यकाल की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा पर्याप्त सुदृढ़ तथा समृद्ध थी। फलतः इस युग में खूव आर्थिक प्रगति हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर उसके

---

१. कौटि० अर्थ० ३।२।

२. 'रुपाजीवा भोगद्वयगुणं मांस दद्यु.।'—कौटि० अर्थ० २।२७

बाद आने वाली तीन पीढ़ियों तक देश का राजनैतिक वातावरण सुव्यवस्थित, शान्त तथा सुरक्षित रहा। अशोक द्वारा जिस सामाजिक चेतना का दृढ़ीकरण हुआ—उसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज का नैतिक स्तर उन्नत हुआ। फलतः इस काल मे देश ने आर्थिक सुदृढ़ता प्राप्त की।

कृषि—कृषि उद्यम प्रमुख आजीविका थी। मेगस्थनीज के अनुसार "भारत में कभी भी अकाल नही पड़ा तथा खाद्यान्न कभी भी महगें नहीं हु!।" इस उल्लेख से तत्कालीन कृषकों के उद्यम तथा परिश्रम का तो परिचय मिलता ही हे, साथ यह भी स्पष्ट होता है कि राज्य द्वारा भी कृषि की उन्नति के लिये अनेक नियम बनाये गये थे। कृषकों पर अत्याचार तथा उनकी फसलों को हानि पहुँचाने की मनाही थी। फसल की रक्षा के लिए राज्य की ओर से बहेलियों तथा चरवाहो की नियुक्ति की जाती थी। अनावृष्टि, बाढ़ तथा दैवी प्रकोप होने पर राज्य की ओर से बीज, पशु, उर्वरक तथा कृषि उपकरणो को प्राप्त करने के लिये सहायता प्रदान की जाती थी। जूनागढ़ के अभिलेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त के समय मे सिंचाई की व्यवस्था के लिये सुदर्शन झील का निर्माण कराया गया था। अकाल की स्थिति का सामना करने के लिये राजकीय खाद्यान्न भण्डारो मे अन्न संग्रह भी किया जाता था। कृषि राज्य की आय का प्रमुख साधन भी थी। कृषि कर की मात्रा भूमि की उर्वराशक्ति पर निर्भर होती थी। यह मात्रा उपज का पांचवां, चौथाई या तिहाई भाग तक होती थी।

व्यापार—कौटिल्य तथा मेगस्थनीज के उल्लेखों से विदित होता है कि मौर्य शासक व्यापारिक प्रगति के प्रति बड़े जागरूक थे। उन्होंने अनेक सड़को तथा नहरो का निर्माण करवाया। अनेक नगर जल मार्गों द्वारा जुड़े हुये थे। आन्तरिक व्यापार के साथ-साथ वैदेशिक व्यापार भी उन्नतावस्था मे था। सुदूर पूर्वीय देशो के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। 'अर्थशास्त्र' से विदित होता है कि उत्तरी मार्ग से ऊनी वस्त्रो, घोड़ो तथा चमड़े का एवं दक्षिणी मार्ग से मोती, स्वर्ण, हीरो, शंखो तथा बहुमूल्य रत्नों का आयात होता था। विदेशी व्यापार प्रमुखतः जलमार्ग से होता था तथा माल को उतारने चढ़ाने के लिये बन्दरगाहो की समुचित व्यवस्था थी। 'अर्थशास्त्र' मे अनेक उन व्यापारिक काफिलो का भी उल्लेख मिलता हे जो उत्तर-पश्चिमी भारत के स्थल मार्गों से होकर देश मे अपनी व्यापारिक सामग्री लाते थे।[1] आन्तरिक व्यापार के प्रमुख केन्द्रो मे तक्षशिला, काशी, उज्जैन, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र तथा तोशालि विशेष प्रसिद्ध थे। विदेशी व्यापार प्रमुखतः यूनान, रोम, फारस, लंका, सुमात्रा, जावा, मिश्र, सीरिया, तथा बोर्नियो द्वीप समूहों से होता था। काश्मीर, कोसल, विदर्भ तथा कलिंग हीरो के लिये, हिमालय का प्रदेश चमड़े के लिये, बंगाल मलमल के लिये, नेपाल ऊनी वस्त्रो के लिये, ताम्रपर्णी, केरल तथा पाण्ड्य मोतियों के लिये, काशी जरीदार तथा बहुमूल्य वस्त्रो के लिये एवं मगध रेशो के बने वस्त्रो के लिये विशेष प्रसिद्ध था।

व्यवसाय—मौर्य काल व्यावसायिक प्रगति का युग था। तत्कालीन भारत वस्त्र व्यवसाय के कारखानों से भरा हुआ था। कौटिल्य ने सूती कपड़े के प्रमुख केन्द्रो मे मगध, काशी, वंग, वत्स, महिष आदि का नाम दिया हे। श्वेत, श्याम; स्वर्णिम प्रकार के वस्त्रो का निर्माण 'दुकूल' (रेशो), क्षौम (लिनेन) द्वारा होता था। अर्थशास्त्र में "कौशेय-पावार' तथा 'चीन पट्ट' नामक वस्त्रों का उल्लेख है।[2] इस समय ऊनी वस्त्रो का निर्माण भेड़ तथा अन्य उपयोगी जानवरो के बालों द्वारा

---

१. कौटि० अर्थं० ७।१२।   २. कौटि० अर्थं० २।११

होता था। इनको संपुटिका, लंबरा, कटगनक, आचरक तथा सन्तलिका कहा जाता था।

मेगस्थनीज़ के उल्लेखानुसार "भूगर्भ में विभिन्न धातुओं का जाल सा फैला हुआ है। उनमें सोना, चाँदी तथा लोहा बहुतायत में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त टिन तथा अन्य धातुएँ उपयोगी वस्तुओ तथा उपकरणों को बनाने मे प्रयुक्त की जाती हैं।" अर्थशास्त्र में दो प्रकार की खानों का उल्लेख है (i) सामुद्रिक खानें, तथा (ii) पृथ्वी के गर्भ में छिपी खानें। खानो का प्रबन्ध करने के लिये खानाध्यक्ष नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। खानो के निरीक्षण तथा उनका पता लगाने के लिये विशेषज्ञ होते थे। खान कर्मचारी अनेक यन्त्रो का भी प्रयोग करते थे। खानों का संचालन राज्य द्वारा ठेकेदारो के माध्यम से किया जाता था। भारत के कारीगर धातुओं के उपकरण बनाने में बड़े चतुर थे। मालवो ने सिकन्दर को सफेद लोहे की सौ मुद्राएँ भेंट की थीं। रामपुरवा से अशोक स्तम्भ मे प्रयुक्त एक ताँबे की बोल्ट मिली है। स्टैबो ने स्वर्ण निर्मित बर्तनों का उल्लेख किया है। कर्टियस ने सम्राट द्वारा प्रयुक्त सोने की पालकी का उल्लेख किया है। इसमें चारों ओर मोतियो की झालर लगी रहती थी। सैनिक विस्तारवाद के उस युग में बहुतायत में प्रयुक्त होने वाले सैनिक उपकरण, युद्ध सामग्री तथा अस्त्रशस्त्र का निर्माण विभिन्न कठोर धातुओ द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन जन आभूषणप्रिय थे। ऐरियन के अनुसार भारतीय लोग कानो मे हाथी दांत के आभूषण पहनते थे। मेगस्थनीज़ के अनुसार वस्त्रो पर सोने का जरीदार काम होता था। विभिन्न धातुओं द्वारा अति सुन्दर तथा आकर्षक आभूषण बनाये जाते थे। धातुओं को शुद्ध करने, मुलायम करने, गलाने, विविध आकारो मे ढालने आदि का कार्य व्यापक रूप से होता था।

बढ़ई को 'तक्षणी' या 'तक्षण' कहा जाता था। जलयान, नावें, रथ, गाड़ी तथा गृह आदि बनाने में उत्तम काष्ठ का प्रयोग होना आवश्यक था। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये काष्ठशिल्प व्यवसाय जोरों में पनप रहा था। पटना के निकट हुये उत्खनन से तत्कालीन लकड़ी के प्लेटफार्म की प्राप्ति उस काल के काष्ठशिल्प की उन्नतावस्था का प्रतीक है। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि राज्य की ओर से वन की सुरक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया जाता था। लकड़ियो को काटकर सुखाया जाता था तत्पश्चात उनके द्वारा विभिन्न उपकरण बनाये जाते थे।

अर्थशास्त्र मे पशुचर्म का उल्लेख करते हुये उसके द्वारा विविध वस्तुओ के निर्माण की विधि भी बताई गयी है। पशुचर्म का आयात हिमालय की ओर से होता था। सुरा प्रचुर मात्रा में बनती थी। अर्थशास्त्र मे ५ प्रकार की सुरा का उल्लेख है—मेदक, प्रसन्न, आसाव, अरिष्ट तथा मैरेय। सुमधुर तथा स्वादिष्ट सुरा का आयात निर्यात भी होता था। सुरा व्यवसाय के संचालन के लिये अनेक राजकीय नियम भी थे। अन्य प्रकार के व्यवसाय भी पनप रहे थे। इनमे औषधि; रंग-साजी, इत्र, फुलेल, गृह निर्माण, खाद्य व्यंजनादि के व्यवसाय प्रमुख थे।

मुद्रा पद्धति तथा विनिमय के साधन—जातकों, अर्थशास्त्र तथा अन्य समसामयिक साहित्य से इस विषय के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि मौर्य काल में सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्कों का प्रचलन हो चुका था। ये मुद्राऐं शासकीय पदाधिकारियों तथा बड़े-बड़े व्यापारियो द्वारा चलाई जाती थी। कौटिल्य ने सौवर्णिक तथा लक्षणाध्यक्ष नामक मुद्रा अधिकारियों का उल्लेख किया है। मुद्रा निर्माण राजकीय टकसालो मे होता था। इस काल मे मुद्राओ के दो प्रकार थे वैधानिक मुद्राएँ तथा व्यावहारिक मुद्राएँ। अर्थशास्त्र में सुवर्ण, कार्षापण, पण, माषक तथा काकणी नामक मुद्राओ का उल्लेख मिलता है। ख़रीदने तथा बेचने के लिये वस्तु विनिमय प्रणाली का भी सामान्य रूप से

लन था। यद्यपि व्यापारियों को लाभ कमाने की सुविधा उपलब्ध थी तथापि नाप तौल एवं नेमय राज्य के नियन्त्रण में थे।

ऋण सम्बन्धी नियम—ऋण लेने तथा देने के लिये राजकीय नियमों की व्यवस्था थी। ब्याज दरें निश्चित थी। अर्थशास्त्र मे ब्याज की दर १५% प्रतिवर्ष निश्चित की गई है।[1] रोगी, त्र, नवयुवक, निर्धन तथा कंगाल ऋण न चुका पाने पर कुछ अवधि के उपरान्त, ऋणमुक्त हो ते थे।[2] सामान्यतया ऋण चुकाना नैतिक कर्त्तव्य समझा जाता था।

श्रमिक संगठन—स्ट्रैबो से पता चलता है कि श्रमिकों तथा कारीगरों के हाथों तथा आँखों हानि पहुँचाने वाले को मृत्युदण्ड दिया जाता था। अशोक ने श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक तथा उनके साथ सदव्यवहार करने के आदेश दिये थे। श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के लिये नके साथ सदव्यवहार करने के आदेश दिये गये थे। श्रमिको के हितो की रक्षा करने के लिये उनके त्र भी थे, जिन्हे राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी। कौटिल्य ने श्रम तथा आर्थिक महत्व को ष्टगत करते हुये महत्वपूर्ण उद्योग धन्धों पर राजकीय नियन्त्रण तथा कम महत्व वाले उद्योग वसायों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रस्तावना की थी।

मौर्यकालीन आर्थिक दशा के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि इस समय की राज- तिक सुदृढ़ता तथा सामाजिक उन्नतावस्था के कारण व्यापार वाणिज्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति ई। एक ओर देश खाद्यान्न से भरा पूरा था तो दूसरी ओर औद्योगीकरण के कारण देश मे उत्पादित ामग्री की भरमार थी। इस समय राज्य की ओर से आर्थिक विषयो मे बड़ी रुचि ली गई। उस मय करों की मात्रा अधिक होना यह प्रमाणित करता है कि लोगों में अधिक कर देने की क्षमता ही होगी तथा उन्हें लाभ भी पर्याप्त मात्रा में मिलता होगा। इस समय आर्थिक दृष्टि से परियोजन रने के लिये जनगणना किया जाना यह प्रमाणित करता है कि राज्य को जनता के आर्थिक हितो ा पूरा-पूरा ध्यान था।

धार्मिक दशा

छठी शताब्दी ई० पू० की धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप प्राप्त परिणाम अपनी गरिमा प्रदर्शित र रहे थे। बौद्ध धर्म अपना विस्तार करने के उपरान्त स्थिर हो चुका था। साथ ही वैदिक धर्म ने पनी विरोधी प्रतिक्रियाओ के साथ समन्वय स्थापित कर लिया था तथा अब वह पुनः प्रमुख धर्म ा स्थान प्राप्त करने की अकांक्षा को फलीभूत करने के प्रयत्न में संलग्न था। इस प्रकार मौर्य युग ं बौद्ध, जैन, वैदिक धर्म तथा अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदाय देश के वातावरण को अपनी-अपनी ान्यताओं के अनुरूप प्रभावित कर रहे थे।

वैदिक धर्म—मेगस्थनीज हमें बताता है कि ब्राह्मण तथा श्रमण प्रधान धार्मिक पन्थ थे। उसने ब्राह्मणो के विचारों की तुलना पाइथागोरस तथा प्लेटो से की है। उनके अनुसार ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत को अण्डाकार, विनाशवान तथा 'ब्रह्ममय' मानते हुये पंचतत्व की सत्ता में विश्वास रखते थे। प्रतीत होता है कि मेगस्थनीज ने वैदिक धर्म के सिद्धान्तो को ब्राह्मण धर्म माना है।

---

१. कौटिल्य अर्थ० ३।११। २. वही।

इस समय में वैदिक यज्ञों का पुनः काफी प्रचार तथा सम्पादन होने लगा था। मेगस्थनीज के उल्लेखानुसार 'यज्ञो तथा श्राद्धो मे कोई भी मुकुट धारण नही करता।......गृहस्थ लोग बलि देने के लिये तथा अपने पूर्वजो का श्राद्ध करने के लिये ब्राह्मणो की नियुक्ति करते है।" इससे स्पष्ट होता है कि साधारण जनता तथा उच्च वर्ग के लोग यज्ञ, हवन, बलिपूजा, आदि का सम्पादन ब्राह्मणों द्वारा कराते थे। अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक धार्मिक कर्मकाण्ड अब पुनः अपनी जड़े जमा रहा था। यह बात और थी कि अब यह कर्मकाण्ड पहले की अपेक्षा कम जटिल था। मेगस्थनीज ने शिव तथा कृष्ण, कौटिल्य ने अपराजित, अप्रतिहत, शिव वैश्रवण, अश्वनि, श्रीजयन्त तथा वैजन्यत एवं पाणिनी ने वासुदेव आदि देवताओ की उपासना किये जाने का उल्लेख किया है। इस काल के बहुदेववाद की विशेषता यह थी कि अब देवताओ की एक अपेक्षाकृत कम महत्व की श्रेणी भी बन गई थी। इस श्रेणी मे बलि, नारद, संवर, नाग, वैरोचन आदि देवता थे। मूर्तिपूजा भी विशेष प्रचलित थी। पातंजलि के 'महाभाष्य' से पता चलता है कि इस समय देवताओ की मूर्तियो को बेचा जाता था। इन मूर्तियो को बनाने वाले शिल्पियों को 'देवताकार' कहा जाता था। देव प्रतिमाओ का प्रतिष्ठापन मन्दिरो मे किया जाता था। हिन्दू धार्मिक मान्यतानुसार लोग तीर्थ-यात्रा तथा पवित्र नदियो मे स्नानादि करते थे। वर्णाश्रम धर्म का बडा महत्व था। कौटिल्य ने अपनी वृद्धावस्था में सन्यास धारण किया था। हिन्दू मान्यतानुसार लोग स्वर्ग-नरक एवं पाप-पुण्य मे विश्वास रखते थे। मौर्यकाल मे वैदिक अथवा हिन्दू धर्म की उपरोक्त उन्नतावस्था के आधार पर हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अब यह धर्म अपने अतीत गौरव की पुनः प्राप्ति कर रहा था।

बौद्ध धर्म—मौर्य सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किये जाने के कारण मौर्यकाल के मध्य काल से बौद्ध धर्म प्रमुख धर्म बन गया। यद्यपि अशोक का 'धम्म' सभी धर्मों के श्रेष्ठ नियमों एवं व्यवहारो का समन्वय रूप था तथापि उस पर बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव था। यदि कहा जाये कि अशोक का राज्यकाल बौद्ध धर्म का स्वर्ण युग था तो यह अतिशयोक्ति न होगा। न केवल भारत में, वरन् विदेशो में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इस प्रचार मे अशोक ने पूरा पूरा सहयोग दिया। इस समय मिस्र, यूनान, ब्रह्मा, स्याम, सुमात्रा, जावा, बाली, लंका, चीन, जापान आदि सुदूरवर्ती देशो मे बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। अशोक ने बौद्ध धर्म की तृतीय महासंगीति का आयोजन करके बौद्ध धर्म को समयानुकूलन की क्षमता भी प्रदान की। पूर्वकालीन वैदिक धर्म की भांति, इस समय बौद्ध धर्म की तूती बोलने लगी। इस समय बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ, थी—(१) स्थविरवादी, तथा (२) महासान्घिक। इस समय अनेक बौद्ध स्तूपो तथा विहारो का निर्माण तथा अनेक प्राचीन चैत्यो और विहारो का जीर्णोद्धार भी हुआ।

जैन धर्म—जैन धर्म अभी भी मन्थर गति से चल रहा था। इस समय मे ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्डता तथा बौद्ध धर्म की अति-व्यावहारिकता को अस्वीकार करने वाले लोग प्रायः जैन धर्म के अनुयायी बन रहे थे। मौर्य साम्राज्य की ओर से जैन धर्म को अन्य धर्मों के समान आदर तथा सम्मान प्राप्त था। चन्द्रगुप्त मौर्य, जो अपने जीवन की वृद्धावस्था तक वैष्णव था—जीवन के अन्तिम दिनो में जैनमतानुयायी बन गया। अशोक का पौत्र सम्प्रति, जैन धर्मानुयायी था। कुल मिला कर, हम यह कह सकते है कि जैन धर्म का विस्तार यद्यपि सीमित था तथापि अपनी सीमाओ मे भी वह पर्याप्त प्रमुख धर्म था।

अन्य धार्मिक सम्प्रदाय—मौर्यकाल में, प्रमुख धर्मों के अतिरिक्त अनेक अन्य धार्मिक सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों में आजीविक सम्प्रदाय प्रमुख था। इसके अनुयायी नग्न रह कर सन्यासियो की भाँति जीवन यापन करते थे। आजीविको को मौर्य सम्राट अशोक की कृपा प्राप्त थी तथा उसने इस सम्प्रदाय को बाराबर की गुफाएँ दान में दी थी। अशोक ने अपने सातवें शिलालेख में संघ, ब्राह्मण, आजीविक तथा निर्ग्रन्थ सम्प्रदायों के अतिरिक्त 'अन्य सम्प्रदायों' का नाम भर लिया है तथा उनके नाम नही दिये हैं। इस आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस समय अन्य छोटे बड़े अनेक धार्मिक सम्प्रदाय तथा मत प्रचलित थे।

मौर्यकालीन धार्मिक विश्वासों, मतो तथा सम्प्रदायो की विविधता के विपरीत इस समय का धार्मिक वातावरण बड़ा उदार, सहिष्णु तथा जागरूक था। मतवैभिन्य होने पर भी साधारण जन नैतिकता, व्यवहार की श्रेष्ठता तथा पारस्परिक सहयोग में विश्वास रखते थे। यह विचार प्रायः आम था कि दूसरो के धर्म का अनादर करने से स्वयं अपने ही धर्म का अनादर होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार धर्म परिवर्तन कर सकता था। धर्म के नाम पर कोई अत्याचार या अनाचार नही किया जाता था। यही कारण है कि मौर्यकालीन धार्मिक वातावरण धर्म निरपेक्ष सा प्रतीत होता है।

अशोक के अभिलेख

अशोक के पूर्व, भारतीय इतिहास की जो गौरवमयी परम्परा स्थापित हो चुकी थी, उसका ज्ञान हमें प्रमुखतः साहित्यिक स्रोतो द्वारा ही प्राप्त हो सका है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अशोक से पूर्व के अभिलेखो का सर्वथा अभाव है, वरन् हम यह कह सकते हैं कि उससे पूर्व अभिलेखो का कोई विशेष महत्व नही है। अशोक के समय से अभिलेखो के उत्कीर्ण कराने की जो परम्परा चली—वह फिर सदैव बनी रही। अशोक के अभिलेख कई दृष्टियों से उपयोगी हैं। प्रथमतः इन अभिलेखो के प्राप्ति स्थान के आधार पर मौर्य साम्राज्य की सीमाओं का निर्धारण किया जा सकता है। दूसरे, इन अभिलेखों के विषयवर्णन द्वारा तत्कालीन सांस्कृतिक प्रसंगों तथा उपलब्धियो का पता चलता है। तीसरे—एक ओर जहाँ बौद्ध साहित्य अशोक को बुद्ध धर्म का अनुयायी प्रमाणित करता है, तो उसके अभिलेख स्वयं अशोक के 'धम्म' सम्बन्धी विचारों तथा प्रयत्नो का सही-सही रूप प्रस्तुत करते हैं। चौथे, इन अभिलेखो द्वारा स्वयं सम्राट के शब्दो मे तत्कालीन इतिहास की अनेक गतिविधियो का पता चलता है।

कतिपय विद्वानो का विचार है कि अशोक ने अपने अभिलेखो के वर्णनो तथा उल्लेखों द्वारा अपने वास्तविक विचारो एवं आचरण पर पर्दा डाल दिया है। परन्तु हम इस विचार से सहमत नही हैं। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति जैसा सोचता है वैसी ही अभिव्यक्ति करता है। अशोक को ऐसी कौन सी बाध्यता थी जिसके कारण वह अपने व्यक्तित्व पर पर्दा डालता? अतः हम यही कहेंगे कि अशोक के अभिलेखों द्वारा ही उसके व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। अशोक के अभिलेखो मे अभिव्यक्त विचार तथा विषय इतने विशद् एवं विस्तृत हैं कि केवल उन्ही के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्धारण किया जा सकता है।

खोज तथा प्राप्तियाँ

अशोक के स्तम्भ की सर्वप्रथम खोज का श्रेय श्री पाद्रेटीफेन्थैलर को है। उन्होंने १७५० ई० मे दिल्ली मे अशोक स्तम्भ का पता लगाया था। तब से उसके स्तम्भ-लेखों तथा शिलालेखो का अन्वेषण एवं शोध कार्य प्रारम्भ हुआ। १७८५ ई० में श्री० जे० एच० हैरिंगटन ने नागार्जुनी एवं वाराबर के गुहा-अभिलेखो का, १८२२ ई० मे श्री टाड महोदय ने गिरनार शिलालेख, १८३६ ई० में कोर्ट महोदय ने शहवाजगढ़ी अभिलेख, १८३७ ई० में श्री किटो ने धौली अभिलेख, १८४० ई० में कैप्टेन वर्ट ने भावरु शिलालेख, १८५० ई० में सर वाल्टर इलियट ने जोगदा शिलालेख, १८६० ई० में श्री फारेस्ट ने कालसी शिलालेख, १८७२ ई० में श्री कार्यालय ने "विराट" लघु-शिलालेख तथा रामपुरवा के स्तम्भ-लेख, १८८२ ई० मे श्री भगवानलाल इन्द्रजी ने सोपारा के आठवें शिला-लेख, १८८९ ई० में कैप्टेन लोह ने मन्सेहरा के शिलालेख, १८९१ ई० में श्री राइस ने मैसूर के तीन लघु-शिलालेखों, १८९५ ई० मे श्री फहिरे ने निगाली सागर स्तम्भ-लेख तथा अगले वर्ष रुमनदेई स्तम्भ-लेख, १९०५ ई० में श्री ओलैल ने सारनाथ स्तम्भ अभिलेख तथा १९१५ ई० में श्री वीडन महोदय ने मास्की शिलालेख की खोज की। इसके पश्चात् श्री अनुघोप ने कुरनूल जिले में येरागुडी शिलालेख को ढूंढ़ निकाला। कालान्तर में निजाम राज्य से गविमठ तथा पालकी गुन्डु तक्षशिला एवं लघमान से आरेमिक लिपि के अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं।

उपर्युक्त अभिलेखों की खोज में जितनी कठिनाइयाँ हुईं, उससे कहीं अधिक कठिनाई उनके अध्ययन मे हुई। आज भी अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान अशोक कालीन अभिलेखों की खोज, विश्लेषण एवं अध्ययन मे लगे हुए हैं।

अभिलेखों का वर्गीकरण, प्राप्ति-स्थान, विषय एवं विशेषताएँ

अशोक के समस्त अभिलेखो को तीन भागो में बांटा जा सकता है—(१) शिलालेख, (२) स्तम्भ लेख, तथा (३) गुहालेख।

शिलालेख—इन अभिलेखो की संख्या चौदह है अतः इन्हें चतुर्दश शिलालेख कहा गया है। इनकी प्राप्ति विभिन्न स्थानो से हुई है—जो इस प्रकार है (१) शहवाजगढ़ी (पेशावर जिला) (२) मनसेहरा (हाजारा जिला), (३) कालसी (देहरादून जिला), (४) गिरनार (जूनागढ़ के समीप), (५) सोपारा (थाना जिला), (६) धौली (पुरी जिला), (७) जौगढ़ (गंजाम जिला), (८) इरागुडो (कुर्नूल जिला), (९) रूपनाथ (जवलपुर जिला), (१०) वैरात (राजस्थान की जयपुर स्टेट), (११) सासाराम (विहार का शाहावाद जिला), (१२) मास्की (रायचुर जिला), (१३) गविमठ एवं पालकी गुन्डु (आधुनिक हैदरावाद के कोपबाल तालुके से), तथा (१४) येरागुडी (मैसूर राज्य के चितलदुर्ग जिले से)।

इन शिलालेखो की तिथि २५७ तथा २५६ ई० पू० की है तथा इनमें वर्णित विषय-क्रम निम्नलिखिति हैं—

प्रथम तथा द्वितीय—इन शिलालेखो में पशुवलि की निन्दा की गयी है तथा अशोक ने मनुष्यों एवं पशुओ के चिकित्सा सम्बन्धी प्रवन्ध का वर्णन किया है।

तृतीय—तृतीय शिलालेख में राजकीय पदाधिकारियो को आदेश दिये गए हैं कि प्रत्येक पांच वर्षों के पश्चात् दौरे पर जायें तथा इसमें व्यवहार के सनातन नियमों का वर्णन भी है।

चतुर्थ—चतुर्थ शिलालेख में भी व्यवहार के सनातान नियमों की व्याख्या की गयी है।

पाँचवाँ—इस शिलालेख में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति एवं कार्यों का निर्देश है।

छठा—इस शिलालेख मे आत्म-नियन्त्रण पर बल दिया गया है।

सातवाँ तथा आठवाँ—इन शिलालेखो में अशोक की तीर्थयात्रा का वर्णन है।

नवाँ—इस शिलालेख मे वास्तविक उपादान तथा वास्तविक कृत्यों का वर्णन है।

दसवाँ—इस शिलालेख मे कहा गया है कि राजा तथा उसके उच्च पदाधिकारियों को सदैव जन-हित के कार्यों में लगे रहना चाहिए।

ग्यारहवाँ—इस शिलालेख में 'धम्म' विजय की विशेपताओ का वर्णन है।

बारहवाँ—इस शिलालेख मे धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया गया है। यह शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण है।

तेरहवाँ—इस शिलालेख मे कलिंग युद्ध का वर्णन है। यह शिलालेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तथा इसमें अशोक के हृदय-परिवर्तन का मार्मिक चित्रण है।

चौदहवाँ—इस शिलालेख में अशोक ने दुहराते हुए कहा है कि ऐसा करने का उद्देश्य यही है कि जनता 'धम्म' का जीवन ग्रहण करे।

लघु-शिलालेख—कतिपय लघु शिलालेख मैसूर राज्य के शीतलपुर जिले के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरि से, जबलपुर जिले के रूपनाथ स्थान से, जयपुर के निकट स्थित वैराट से तथा निजाम राज्य के मास्की नामक स्थान से प्राप्त हुए है। इनमे अशोक के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास दिया गया है। इन समस्त लघुशिलालेखो की तिथि २५८ अथवा २५७ ई० पू० है।

स्तम्भलेख—स्तम्भ लेखो के अन्तर्गत सात स्तम्भ लेख कुछ लघु स्तम्भ लेख हैं।

सप्त स्तम्भ-लेख—ये अग्रलिखित स्थानो से प्राप्त हुए है—(१) टोपरा—देहली से, (२) मेरठ, (३) कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले से, (४) रामपुरवा—चम्पारन जिले से, (५) लौरिया—नन्दगढ़-चम्पारन जिले से, (६) लोलिया—अरराज-चम्पारन जिले से, तथा (७) दिल्ली से।

इन स्तम्भ-लेखो मे सम्राट अशोक के 'धम्म' प्रचार के साधनो एवं उपायो का वर्णन है। डा० स्मिथ के अनुसार इन अभिलेखो की तिथि २४२ ई० पू० की है।

लघु स्तम्भ-लेख—ये लेख सांची, सारनाथ, रुम्मनदेई तथा निग्लिवा ग्राम से प्राप्त हुए हैं। इन लेखो मे बौद्ध-धर्म के तीर्थ-स्थानो, तीर्थ-यात्राओ तथा बौद्ध-धर्म मे उत्पन्न मतभेदो के निराकरण आदि का वर्णन है।

गुहालेख—ये लेख गया के निकट बाराबर नामक पहाड़ो की गुहा में स्थित है। इनकी संख्या तीन है तथा तिथि-क्रम ई० पू० २५७ से लेकर ई० पू० २५० तक है। इन अभिलेखो का विषय आजीविको को दिये गए दान से सम्बन्धित है तथा इनमे अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का भी वर्णन है।

अशोक का 'धम्म'

मौर्यकालीन संस्कृति की विशेपताओ में एक तो चन्द्रगुप्त द्वारा उसके विस्तृत साम्राज्य में स्थापित प्रशासन पद्धति थी, और दूसरी थी अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का

समन्वय और प्रसार। एक का क्षेत्र राजनीति तो दूसरे का क्षेत्र धर्म था। अशोक भारतीय इतिहास का सर्वश्रेष्ठ सम्राट माना जाता है।[1]

धम्म के सिद्धान्त

अशोक के 'धम्म' के सिद्धान्तो का वर्णन उसके विभिन्न अभिलेखो मे मिलता है। क्योकि अशोक ने इन अभिलेखो को स्वयं अपने निरीक्षण मे उत्कीर्ण कराया था •अतः इन लेखों के विषय में कोई सन्देह नही है। अशोक के 'धम्म' का क्रमानुसार वर्णन निम्नलिखित है—

---

१. "इतिहास के पृष्ठो मे उल्लिखित शत-सहस्रो भूपतियो मे······अशोक का नाम एकाकी तारा की भाँति दैदीप्यमान है। वोल्गा से लेकर जापान तक उसका नाम अब भी सम्मानित है। चीन, तिब्बत और भारत भी, यद्यपि यहाँ उसका धर्म त्याग दिया गया है, आज भी उसकी महानता की यादगार बनाए है।"—एच० जी० वेल्स।

भण्डारकर ने अशोक की महानता के ये कारण बताये हैं—

(क) समस्त चेतन-जगत का सामाजिक तथा आध्यात्मिक कल्याण उसके जीवन का लक्ष्य था। चेतन-जगत मे जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, वह न केवल अपनी प्रजा का वरन् समस्त मानव जीवन का हित-चिंतक था। जिस प्रकार वह अपने बच्चो के इहलोक और परलोक दोनो के हित और सुख के लिए उत्सुक था, ठीक उसी प्रकार समस्त मानव जाति के लिए उसकी आत्मा छटपटाती थी।

(ख) अशोक की महत्ता का दूसरा आधार उसकी सच्ची सहिष्णुता थी। यह बौद्ध धर्म का संरक्षक था, परन्तु उसके संरक्षण मे अन्य धर्म-प्रवर्तको की भाँति न तो प्रजातीय, न राष्ट्रीय, न कौटुम्बिक गर्व अथवा पक्षपात था।' उसमे संकीर्णता तथा हेयता छू तक नही गई थी। उसे दूसरे धर्मों से ही नही, मनुष्य मात्र क्या, जीव-मात्र से हार्दिक सहानुभूति थी। सहिष्णुता में अकबर कुछ हद तक उससे टक्कर लेता है, परन्तु अकबर का 'दीन इलाही' का क्षेत्र बहुत सीमित और संकुचित था।

(ग) यदि इस दृष्टि से विचार किया जाये कि मानवता के प्रति उसके शासन के योगदान क्या थे, उसके विकास के लिए उसने स्थायी रूप से क्या सेवा की, तो कह सकते हैं कि वह समूचे संसार के पार्थिव सुख और नैतिक उत्थान का सच्चे अर्थ मे इच्छुक था।

(घ) अशोक ने तथागत के द्वारा प्रतिष्ठापित बौद्ध-धर्म की व्याख्या, विधान, प्रसार और प्रचार किया। अशोक के समय बौद्ध धर्म सिकुड़ कर एक प्रान्तीय सम्प्रदाय के रूप मे स्थित था। अशोक ने उसे अपनी बुद्धि, भक्ति और अपार प्रभाव शक्ति के द्वारा एक विश्वव्यापी धर्म बना दिया।

(ङ) बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क की आवश्यकता हुई, जो एक भाषा के बिना असम्भव था। अस्तु पाली ने राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लिया। इसी भाषा मे राजकीय प्रपत्र और आदेश लिखे गये, शिला लेख उत्कीर्ण हुए एवं लौकिक और धार्मिक साहित्य का सृजन हुआ।

(च) बौद्ध-धर्म के प्रचार का अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भारतीय कला का विकास और प्रसार हुआ।

द्वितीय स्तम्भलेख में अशोक प्रश्न करता है—"कियंचु धम्मे ?" अर्थात् 'धम्म' क्या है ? और वह स्वयं ही उत्तर देता है "आपासिनने वहुकयाने दयादाने सचे-सोचिये" अर्थात पाप कर्म से निवृत्ति, विश्वकल्याण, दयादान, सत्य एवं कर्म शुद्धि ही धम्म है।

द्वितीय लघु शिलालेख में कहा गया है—"माता पिता की आज्ञा माननी चाहिये। इसी तरह जीव मात्र का भी सम्मान होना चाहिये, सत्य बोला जाये। ये दया धर्म के लक्षण है···इसी प्रकार गुरुजनो का सम्मान होना चाहिये तथा सम्बन्धियो के प्रति सहानुभूति का भाव भी बना रहना चाहिये। यह धर्म का सनातन रूप है।"

सातवें अभिलेख में कहा गया है—"मन, कर्म, वचन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण रखा जाये।"

नवें अभिलेख मे अशोक कहता है—"लोग अनेक शुभ कार्य करते हैं, पुत्रपुत्रियो के विवाह पुत्र जन्म, परदेश गमन आदि अवसरो पर लोग शुभ कार्य करते है। इन अवसरो पर संतान वाली पत्नियाँ अनेक छोटे-बड़े अर्थहीन शुभ कार्य करती है। शुभ कर्म आवश्यक है परन्तु इस कोटि के शुभ कर्म फलदायक नही होते। जो 'धम्म' रूपी शुभ कार्य है वे निश्चित रूप से फलदायक है। इस 'धम्म' मे निम्नलिखित बातें हैं—दास तथा पारिश्रमिक पाने वाले सेवको के प्रति उचित व्यवहार, गुरुजनो का आदर, प्राणियो के प्रति अहिंसा तथा श्रमणो एवं ब्राह्मणो को दान। ये और इसी प्रकार के अन्य कर्म—'धम्म' कर्म कहलाते हैं।"

ग्यारहवें शिलालेख में 'धम्म' के तत्व बताये गये हैं—यथा "दास, भृत्यो तथा वेतन भोगी सेवको के साथ उचित व्यवहार माता-पिता की सेवा, मित्रो, परिचितो, ब्राह्मणो तथा सन्यासियो के प्रति उदारता, प्राणियो के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार तथा पशु बलि से विरक्ति।"

बारहवें शिलालेख मे धार्मिक सहिष्णुता की बात कही गई है, यथा—"सभी सम्प्रदायो के व्यक्ति उसकी श्रद्धा के पात्र हैं। चाहे वे श्रमण हो या गृहस्थ—सभी उसके दान एवं श्रद्धा के पात्र हैं।······सभी धर्मों के सार की वृद्धि हो, यही मेरी कामना है।"

तेरहवें शिलालेख में 'धम्म' का सार निचोड़ है—यथा—"सर्वभूताना अक्षति, य संयम च।"

'धम्म' के तत्व

अशोक के समस्त अभिलेखो में 'धम्म' के जिन सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है, उनके तीन तत्व रूप है—व्यावहारिक तत्व, निषेधात्मक तत्व तथा 'आसिनव' (पाप)।

(१) व्यावहारिक तत्व

(i) माता, पिता, गुरुजनो तथा वृद्धो की सेवा करना।

(ii) विभिन्न सम्प्रदायो के प्रति उदार भाव तथा ब्राह्मणो, श्रमणो, सम्बन्धियो, मित्रो, परिचितो आदि के प्रति दया, दान तथा उचित व्यवहार करना।

(iii) सत्य, संयम, कृतज्ञता, भक्ति, दया दान युक्त आचरण का पालन करना।

(iv) मन एवं कर्म को शुद्ध रखना।

(v) सेवको, वेतनभोगियो, श्रमिको के प्रति सद्व्यवहार करना।

(vi) समस्त प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा का पालन करना।

(vii) अल्प व्यय तथा अल्प संग्रह करना।

(२) निषेधात्मक तत्व

(i) चण्डिय—उग्र व्यवहार नही करना चाहिये।

(ii) निठुलिय—निष्ठुरता से बचना चाहिये।

(iii) क्रोध नहीं करना चाहिये।

(iv) मान—घमण्ड नही करना चाहिये।

(v) इस्या—ईर्ष्या नही करनी चाहिये।

(३) आसिनव—अशोक ने समस्त निषेधात्मक तत्वों को 'आसिनव' (पाप) कहा है। तृतीय स्तम्भ लेख में उसने 'आसिनव' का वर्णन करते हुए कहा है—"मनुष्य अपने सत्कर्मों को ही देखता है और उनको देखकर सोचता हे कि 'यह सत्कर्म मैंने किया है" परन्तु वह यह नही सोचता कि 'यह आसिनव मैंने किया है, यह पता लगाना है भी कठिन।" उसके 'धम्म' की मान्यता है कि जो व्यक्ति 'आसिनव' से मुक्त रहता हे वह उपर्युक्त 'निषेधो' से मुक्ति पाकर अपने चित्त को शुद्ध कर लेता है।

दया 'धम्म'

अशोक के 'धम्म' की प्रमुख स्पष्टोक्ति उसके 'दया धम्म' (Law of Piety) में प्राप्त होती है। इस 'दया धम्म' के सिद्धान्त हैं—(१) अपचिति (२) सम्प्रतिपति (३) सचेय, (४) सोचये, (५) दधभक्तिता, (७) मर्दो।

'धम्म' की विशेषताएँ

आदर्श उद्देश्य—अशोक के 'धम्म' के स्वरूप सिद्धान्तो, व्यवहारिक तथा निषेधात्मक आचार तत्वों एवं 'दया धम्म' के अध्ययन द्वारा हमें उसके 'धम्म' की वास्तविकता, उपयोगिता, अर्थ एवं उद्देश्य का पता चलता हे। वस्तुतः यह 'धम्म' सभी धर्मों के सर्वश्रेष्ठ गुणो का सार है। कई अर्थों मे यह राजधर्म प्रतीत होता है और बौद्ध धर्म का परिष्कृत रूप भी—तथापि इसकी सर्वप्रमुख उपलब्धि इसका सार्वभौमिक स्वरूप है। समस्त काल तथा स्थानो मे यह अक्षुण तथा चिरस्थायी प्रतीत होता है। अपने सामाजिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म सम्प्रदाय तथा विश्वासो के अतिरिक्त अनेक धर्मों, सम्प्रदायो तथा विश्वासो का सामना करना पडता है। अशोक ने भी अपने व्यक्तिगत जीवन में ऐसा ही अनुभव किया और गम्भीर चिन्तन के पश्चात ऐसा 'धम्म' प्रस्तुत किया जिसमे सभी व्यक्तियो के सामाजिक जीवन मे टकराव की अपेक्षा सहिष्णुता का भाव उत्पन्न हो सके।

श्रेष्ठतम सम्बन्धों की स्थापना—अशोक के 'धम्म' की एक अद्‌भुत विशेषता यह है कि उसका 'धम्म' व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन के मध्य श्रेष्ठतम सम्बन्धों की स्थापना करता है। अशोक का विश्वास था कि धर्म का रूप सर्वव्यापी है तथा उसका आरम्भ तो व्यक्तिगत जीवन से होता है परन्तु गौण रूप से यह सम्पूर्ण मानव सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित करता है। अतः मानव जीवन के हित की रक्षा करने वाली संस्थाओं के उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकते हैं जब कि धर्म द्वारा उनके बीच समन्वय स्थापित किया जाये। अशोक ने अपने 'धम्म' द्वारा इस समन्वय को व्यावहारिक रूप दिया तथा राजनैतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन मे श्रेष्ठतम व्यावहारिक गुणो की स्थापना की।

सार्वभौमिकता—अशोक के 'धम्म' में सम्पूर्ण विश्व तथा मानवता के लिए एक युग प्रवर्तक सन्देश है। अशोक के 'धम्म' में साम्प्रदायिकता तथा रूढ़िवादिता के लिये कोई स्थान नही है। इसमें

धर्म भेद तथा पक्षपात का सर्वथा अभाव है। उसके 'धम्म' का सन्देश समस्त मानव जाति के लिये है तथा वह देश काल की सीमाओ से मुक्त सार्वभौमिक धर्म है।

धार्मिक सहिष्णुता—अशोक के बारहवें शिलालेख से उसके 'धम्म' की सहिष्णु प्रवृत्ति का पता चलता है। उसने स्वयं साफ-साफ शब्दों मे कहा है कि "सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति उसकी श्रद्धा के पात्र हैं। चाहे वे श्रमण हो अथवा गृहस्थ—सभी उसके दान और श्रद्धा के पात्र हैं।" उसकी धार्मिक सहिष्णुता इतनी तीव्र है कि उसने सभी धर्मों को समान आदर देते हुए यह कहा कि जो किसी अन्य धर्म के प्रति हीन, द्वेषपूर्ण तथा भेदभाव के विचार रखता है—वह स्वयं अपने ही धर्म की हानि करता है।

अहिंसा—अशोक के प्रथम शिलालेख से पता चलता है कि वह अहिंसा का परम पुजारी था। कलिंग युद्ध की हिंसक घटनाओ ने उसके हृदय मे घोर परिवर्तन कर दिया और केवल मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त चराचर उसकी दया, प्रेम एवं श्रद्धा भक्ति के पात्र हो गये। द्वितीय स्तम्भलेख में अभिव्यक्त विचारों से पता चलता है कि "केवल पृथ्वी ही नही अपितु जल और आकाश मे विचरण करने वाले प्राणियो के प्रति भी हिंसा न की जाये। .....मैंने द्विपद (दो पैर वाले) तथा चतुष्पद (चार पैर वाले) पशु-पक्षियों एव जलचरो के प्रति यथेष्ट और अनेक प्रकार के उदारतापूर्ण अनुग्रह किये हैं।

सदव्यवहार—गुरुजनो, माता-पिता, वृद्धो, मित्रो, सम्बन्धियो आदि के प्रति श्रद्धा, आदर, प्रेम तथा स्नेह की प्रस्तावना द्वारा अशोक का 'धम्म' समाज मे सद्व्यवहार की स्थापना करता है। यह वस्तुतः उसके 'धम्म' की व्यावहारिक तथा मूलभूत विशेषता है। उसका विश्वास था इन गुणो तथा सद्व्यवहारो द्वारा समाज मे मधुर सम्बन्धो की स्थापना होगी।

जन-कल्याण—सातवें स्तम्भ लेख द्वारा अशोण के 'धम्म' की जनकल्याण की भावना का परिचय मिलता है—"मार्गों मे मैंने वट-वृक्ष लगवा दिये हैं, जिससे वे मनुष्य एवं पशुओ को छाया दे। आम्रकुंज लगवा दिये हैं, प्रति दो मील पर कुएँ खुदवायें तथा धर्मशालाएँ बनवा दी हैं।" दूसरे शिलालेख के अनुसार उसने पशुओ तथा मनुष्यो की चिकित्सा के लिये औषधालयों की स्थापना की तथा विदेशो से नाना प्रकार के वृक्ष आदि मँगवा कर आरोपित किये।

आडम्बर का खण्डन तथा आचरण की शुद्धता—अशोक के 'धम्म' मे आडम्बरो तथा कर्म-काण्ड का खण्डन किया गया है। उसके धम्मानुसार प्रचलित जन्म, विवाह, मृत्यु, यात्रा आदि अवसरों पर होने वाले अनुष्ठान अनुचित तथा निरर्थक है तथा आचरण की शुद्धता ही सब कुछ है।

विवेचना

मैकफायल महोदय ने लिखा है कि 'अशोक के धम्म का अभिप्राय बौद्ध धर्म नही है। परन्तु उस सामान्य धर्म नीति से है, जिसका पालन अशोक अपनी सारी प्रजा से कराना चाहता है वह प्रजा चाहे किसी भी धर्म को मानने वाली हो।"[१] भण्डारकर महोदय ने अशोक के धम्म की चर्चा करते हुए लिखा है "जो कोई भी अशोक के 'धम्म' के नियमो पर विचार करता है, वह उसकी शिक्षाओ की सादगी से प्रभावित हुए विना नही रह सकता। उसके 'धम्म' को सब धर्मों की सामान्य

---

१. जे० एम० मैकफायल पृ० ४८

सम्पत्ति समझा जा सकता है। वह जिन गुणों तथा नियमों का पालन करने के लिये कहता है, वे सब ऐसे हैं। जिन्हे सभी धर्म अनुकरणीय वताते है।"[1] स्मिथ महोदय ने स्पष्ट किया है अशोक उपदेश की शक्ति मे आश्चर्यजनक विश्वास रख कर जिस 'धम्म' का निरन्तर प्रचार करता रहा, उसकी कुछ विशेपताएँ हैं। 'धम्म' मे जिन वातों का समन्वय किया गया हे, वे निश्चित रूप से भारत के सव धर्मो मे समान रूप से वर्तमान थी। यह वात और है कि कोई धर्म किसी एक बात पर दूसरी वात की अपेक्षा अधिक जोर देता है।[2] हमारा विश्वास है कि अशोक के धम्म से किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का विरोध नही हो सकता। 'धम्म' द्वारा वह सभी धर्म सम्प्रदायो के सामान्य सिद्धान्तो का प्रचार करता था। साधारण शव्दो मे दया, दान, सत्य, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि का पालन और व्यवहार अशोकीय 'धम्म' के स्तम्भ हैं।

अशोक के 'धम्म' की उपरोक्त विशेपताओ के अध्ययन द्वारा हमे इस निष्कर्ष की प्राप्ति होती हे कि अपने रूप, उद्देश्य, अर्थ तथा उपलब्धियो के कारण—उसका 'धम्म' हिंसा, पाप, पराभव, अमानुषिकता, ईर्ष्या तथा द्वेप आदि को समूल नष्ट करके अहिंसा, पुण्य, प्रेम, श्रद्धा, सत्य एवं स्वतन्त्रता की स्थापना करता है। उसके 'धम्म' के उद्देश्य तथा उद्देश्य प्राप्ति के माध्यम आदि परम श्रेष्ठ तथा अति व्यावहारिक हैं। उसके 'धम्म' की विशेषताओ तथा उद्देश्यो का संक्षिप्त निष्कर्ष, स्वयं उसके ही शव्दो में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

"सर्वलोक हित साधन से वढकर कोई और कर्तव्य नहीं है। मै जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ वह इसीलिए कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है, उससे मैं उऋण हो जाऊँ तथा यहाँ पर उन्हे सुखी करूँ और परलोक मे उन्हे स्वर्ग का अधिकारी वनाऊँ।"

अशोक के 'धम्म' के सिद्धान्तो तथा उसकी विशेषताओ के आधार पर हम यह वात निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि अशोक का 'धम्म' सभी श्रेष्ठ धर्मों के गुणो से युक्त था तथा इस 'धम्म' का उद्देश्य सार्वभौमिक सद्गुणों की स्थापना तथा उनका परिपालन करना था। यद्यपि अशोक वौद्ध धर्म से प्रभावित था तथापि उसने जिस स्वतन्त्र 'धम्म' की प्रस्तावना की, वह न तो वौद्ध धर्म था और न ही वौद्ध धर्म का परिष्कृत रूप।

अशोक और वौद्धधर्म

अशोक के 'धम्म' तथा वौद्धधर्म की निकटता तथा अशोक द्वारा वौद्धधर्म को संरक्षण दिये जाने, प्रचार कार्य करने तथा वौद्धो के प्रति अतिरिक्त श्रद्धा प्रेम रखने के कारण अशोक को प्राय: एक वौद्धधर्म मतानुयायी के रूप मे स्वीकार किया जाता है। परन्तु जव हम इतिहास के अन्तंगत इस विषय पर विचार करते है तो हमे उसके 'धम्म' तथा वौद्धधर्म के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति के अतिरिक्त अन्य कई पहलुओ को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। यदि किसी को वहुत ही सुस्वादु भोजन मे रुचि हो तो यह आवश्यक नही हे कि वह स्वयं पकाना भी जानता हो। इसी तरह यह आवश्यक नही है कि वौद्धधर्म के प्रति अनुराग रखने के कारण अशोक भी पक्का वौद्ध धर्मानुयायी रहा हो। हमारे इस कथन का अर्थ यह नही है कि अशोक वौद्ध था अथवा नही। वस्तुत: हम यह कहना चाहते हैं कि इस प्रश्न पर हमें गहराई के साथ विचार करना चाहिये। किसी

---

१. भण्डारकर कृत 'अशोक' (अंग्रेजी पृ० १०७) २. वी० ए० स्मिथ 'अशोक।'

निश्चित मत को ग्रहण करने से पहले हम उन अनेक प्रमाणों तथा विद्वानों के विचारों का वर्णन करेंगे जो इस विषय में प्रकाश डालते हैं—

अशोक को बौद्ध प्रमाणित करने वाले प्रमाण

अशोक को बौद्ध मतानुयायी प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) दिव्यावदान के अनुसार—अशोक ने 'बाल पण्डित' या 'समुद्र' के प्रभाव में आकर बौद्धधर्म स्वीकार किया था।

(२) दीपवंश तथा महावंश के अनुसार—अशोक को बौद्ध बनाने का श्रेय 'न्यग्रोध' नामक भिक्षु को प्राप्त है। दीपवंश में अशोक 'न्यग्रोध' से कहता है—"आज मैं, पत्नी, पुत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ आपकी, बुद्ध की, 'धम्म' की शरण में आता हूँ। मैं आप से अपने उपासकत्व की घोषणा करता हूँ।"

(३) बौद्ध परम्परानुसार—अशोक ने यज्ञ, अनुष्ठान, बलि, जीव हत्या, हिंसा कर्मकाण्ड का विरोध किया। यह परम्परा उसका बौद्ध होना प्रमाणित करती हैं।

(४) भब्रू शिलालेख में—अशोक ने बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'त्रिरत्न'—यथा बौद्ध धर्म तथा संघ—के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की थी।

(५) आठवें शिलालेखानुसार—उसने बौद्ध तीर्थ बोध गया की यात्रा की। एक अन्य शिलालेख में उसकी लुम्बिनी यात्रा का वर्णन है। प्रतीत होता है कि इन यात्राओं का उद्देश्य तथागत के जीवन से सम्बन्धित तीर्थों का दर्शन करना था। सभी बौद्ध ऐसा ही करते थे।

(६) चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा इत्सिंग अशोक को बौद्ध बताते हैं।

(७) साहित्यिक तथा अभिलेखिक प्रमाणों द्वारा भी अशोक का बौद्ध होना प्रमाणित होता है।

अशोक के बौद्ध होने में सन्देह उत्पन्न करने वाले प्रमाण

कतिपय प्रत्यक्ष तथा अनेक परोक्ष प्रमाणों द्वारा अशोक के बौद्ध होने मे सन्देह होता है। ये प्रमाण तथा तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) तेरहवें शिलालेख में अशोक कहता है—"यदि कोई मेरे प्रति दुर्व्यवहार करता है तो उसे उसी सीमा तक क्षमा किया जा सकता है; जहाँ तक क्षमा किया जाना सम्भव है।............ देवानामपिय केवल उदार ही नहीं अपितु शक्तिशाली भी है। इससे पहले कि उनको मौत के घाट उतार दिया जाये, वे अपने को सुधार लें।" महात्मा बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में ऐसी अभिव्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। यह तो 'हिंसा के बदले हिंसा' का सिद्धान्त है।

(२) वह जीवन भर शासक तथा सम्राट के रूप में ही अवस्थित रहा। जबकि बौद्ध अनुयायी जीवन के अन्तिम भाग में प्रायः संघ निवास करते थे।

(३) वह सभी धर्मों के श्रेष्ठ गुणों में आस्था रखता था। यह बात और थी कि उसके विचार तथा मान्यता बौद्ध धर्म के अधिक निकट हैं परन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह बौद्ध था।

विवेचना

अशोक के तेरहवें अभिलेख से विदित होता है कि राज्याभिषेक से लेकर आठवें वर्ष तक (जिस वर्ष मे कलिंग युद्ध हुआ था) अशोक बौद्ध नहीं था। इस समय तक स्वयं बौद्ध ग्रंथ उसे हिंसक, आततायी तथा भोग विलासी बताते है। अब तक वह ब्राह्मण धर्म मे विश्वास रखते हुए शिवोपासना करता था। राजप्रसाद मे अनेक पशुओं का प्रतिदिन वध होता तथा मोर का मांस पकाया जाता। फिर कलिंग युद्ध हुआ। भीषण नरसंहार होता रहा तथा अशोक उस समय तक अविचलित रहा जब तक कि उसने विजयश्री प्राप्त नही कर ली। युद्ध की समाप्ति तथा विजित प्रदेश को हस्तगत कर लेने पर ही उसने शस्त्र त्याग किया। अब विजय अथवा युद्ध की कोई आवश्यकता नही थी, वह सम्पूर्ण भारत का स्वामी था। ऐसी परिस्थिति मे आगे युद्ध करने की आकांक्षा का परित्याग करने को कोई विशेष महत्व दिया जाना निरर्थक बात है। अशोक ने इस बात को समझ कर ही 'धम्म विजय' की घोषणा की थी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कलिंग युद्ध का राजनैतिक परिणाम होने तक अशोक बौद्ध नही था। यद्यपि कतिपय विद्वान तथा कुछ बौद्ध उल्लेख उसे कलिंग युद्ध से पूर्व ही बौद्ध मानते हैं परन्तु यह बात स्वीकार नही की जा सकती।

अशोक के राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में लिखे गये प्रथम शिलालेख मे अशोक कहता है कि "ढाई वर्ष से अधिक हुए—मैं साधारण उपासक हूँ। एक वर्ष से अधिक हुआ, जब से मैं संघ के साथ रह रहा हूँ, तब से मैंने सन्यास उद्योग किया है।" इससे प्रमाणित होता है कि कलिंग युद्ध से दो या तीन वर्ष तक अशोक अपने पूर्वजो की भाँति प्रबल साम्राज्यवादी तथा चतुर शासक था। हाँ, कलिंग युद्ध के पश्चात उसने युद्ध न करने की घोषणा अवश्य ही कर दी थी।

सेनार्ट, कर्न तथा फ्लीट महोदय अशोक को बौद्ध नही मानते। सेनार्ट ने तो साफ़ लिखा है कि "अशोक के धर्म में कोई ऐसी बात नही है जिससे हम उसे केवल बौद्ध मान लें।········· शिलालेखो का ध्येय बौद्ध धर्म अथवा किसी अन्य धर्म विशेष का प्रचार करना नही था, अपितु उनका ध्येय एक पवित्र सम्राट के कर्त्तव्यानुसार, सभी धार्मिक सम्प्रदायों को ध्यान मे रखते हुए, दया, न्याय तथा शान्ति के साथ राज्य का शासन करना था।" हम भी यह विचार अभिव्यक्त कर सकते हैं कि शायद अशोक का 'धम्म' अकबर के 'दीन इलाही' की भाँति था तथा उसे किसी धर्म विशेष के साथ सम्बन्धित करना गलत है। परन्तु अन्य सुस्पष्ट तथा विविध प्रमाण सेनार्ट महोदय के विचारों के साथ मेल नही खाते। वस्तुत: सेनार्ट महोदय के अनुसार अशोक के धार्मिक विचार संकुचित तथा पक्षपाती नही थे। अतः हम यह मान सकते हैं कि अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था।[1]

हमारा विचार है कि अशोक अपने शासन के प्रारम्भिक समय मे तो एक साम्राज्यवादी था परन्तु जैसे-जैसे वह लोकोपकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर होता

---

१. "अशोक के बौद्ध होने में तनिक भी सन्देह नही है। भब्रु शिलालेख मे उसने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि बुद्ध धर्म तथा संघ मे उसका विश्वास था।·········उसने घोषणा की कि महात्मा बुद्ध के विचार ही सत्य हैं। उसने बौद्ध सिद्धान्तो की व्याख्या कराने मे बडी अभिरुचि प्रदर्शित की, जिसके कारण वे अधिक दिनो तक ठहर सके।·········उसने भिक्षुओ से कहा कि सच्चे सिद्धान्तो की व्याख्या परमावश्यक है तथा संघ के कार्यों की देख रेख करने के लिये कुछ विशेष कर्मचारियो की नियुक्ति भी की।" —डा० राय चौधरी

गया। कलिंग विजय के पश्चात उसने 'धम्म विजय' घोष तथा और आगे चलकर 'बुद्ध घोष' किया। प्रतीत होता है कि अपार व्यथा, ग्लानि और पाश्चात्ताप की अग्नि से उत्पीड़ित उसके हृदय को बौद्ध धर्म का आलिंगन करने पर शान्ति मिली।

अशोक द्वारा 'धम्म' प्रचार

"अद्भुत शासक ने, जिसे कि अब तक हिन्दुस्तान मे और एशिया के दूसरे हिस्सों मे प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के सत्कर्म तथा शिक्षा के फैलाने मे, और जनता के हित के कामों मे अपने को पूरी तरह लगा दिया।.........सभी जगह हृदय और मस्तिष्क को फेरने के यत्न हुए, कोई बल या जोर का प्रयोग नही किया गया। स्वय कट्टर बौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिये आदर का भाव दिखाया।"[1]

तथागत के 'धम्म चक्र प्रवर्तन' के मन्तव्य को मूर्त रूप देने का भागीरथ प्रयत्न करने वाला 'धम्म' प्रतिष्ठापन से ही सन्तुष्ट नही था वरन् उसके हृदय मे सदैव ही प्रचार की उत्कण्ठा बनी रहती थी। उसने रणभेरी के स्थान पर 'दया धम्म' का घोष किया।[2]

तेरहवें शिलालेखानुसार "देवानामपिय धर्म विजय को ही प्रमुख मानता है।" प्रथम लघु-शिलालेख से प्रकट होता है कि बौद्ध होने के एक वर्ष तक उसने कोई प्रचार कार्य नही किया। इसका कारण सम्भवत: यह था कि दीक्षित होने के बाद उसने 'धम्म' के विषय मे गम्भीर चिन्तन किया होगा, जिसके परिणामस्वरूप उसके हृदय मे धर्म प्रचार की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई और उसने अपने समस्त प्रयत्न तथा साधन धर्म प्रचार मे लगा दिये।

'धम्म' प्रचार के साधन

'धम्म' प्रचार के लिये अशोक ने अनेक साधनो को अपनाया। 'विहार यात्रा' को त्याग कर उसने 'धर्म यात्रा' के महत्व को स्पष्ट किया। उसने बड़े स्पष्ट शब्दो मे कहा कि उसकी नीति 'धर्म विजय' और 'धम्म घोष' की थी। अशोक ने धर्म प्रचार मे जो साधन तथा माध्यम प्रयुक्त किये, वे इस प्रकार है—

(१) **धर्म यात्रा**—सामान्य जन तक धर्म का सन्देश पहुँचाने के लिये अशोक ने स्वयं यात्रा की। अशोक का कहना था कि प्राचीन काल में राजा प्राय: विहार यात्राओ पर जाते थे। हिंसा, आखेट, मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, नृत्य गायन द्वारा राजा की तामसी प्रवृत्ति की पूर्ति करने वाली ये विहार यात्राएँ निरर्थक तथा अपव्ययी थी। प्रियदर्शी अशोक ने हिंसा तथा आसिनव (पाप) का विरोध करते हुए, विहार यात्राएँ स्थगित कर दी तथा 'धर्म यात्रा' प्रारम्भ की। उसने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि उसकी नीति 'धम्म विजय' तथा 'धम्म घोष' पर आधारित है। धर्म यात्राओं के दौरान अशोक तीन प्रकार के कार्य करता था—

---

१. पं० जवाहर लाल नेहरू—'हिन्दुस्तान की खोज।'

२. "He issued famous proclamation 'Let small and great themselves' sent missions to expound and expand his teachings, began to write the imperishable record of his purpose on the rocks and engraved it upon stone pillars...The reverberation of the war drums had become the reverberation of the Law of Piety." —डा० राय चौधरी।

(i) ब्राह्मण (विद्वानों) तथा श्रमणो के दर्शन लाभ करना तथा उन्हे दान देना,

(ii) स्थविरो, तीर्थों के दर्शन करना तथा स्वर्ण दान देना, तथा

(iii) सामान्यजन के दर्शन करना, उनके साथ 'धम्म' वार्ता करना तथा स्वयं अपनी एवं जनता की समस्याओ तथा शंकाओ का समाधान करना।

(२) **'धम्म' प्रचारक अधिकारियो द्वारा प्रचार**—धर्म प्रचार के लिये अशोक के मन में इतनी प्रबल उत्कण्ठा थी कि उसने अपने राज्य के अधिकारियो को आदेश दिया कि वे अपने राज्यकीय उत्तरदायित्वो के अतिरिक्त धर्म प्रचार के लिये भ्रमण करें। इसके अलावा उसने केवल 'धम्म' प्रचार के ही लिये कतिपय अधिकारियो की नियुक्ति की। 'धर्ममहामात्र' इस प्रचार विभाग का प्रमुख अधिकारी था। पाँचवे शिलालेख के अनुसार "अभिषेक के तेरहवें वर्ष मैंने धर्ममहामात्र नियुक्त किये। वे सभी धर्मों तथा सम्प्रदायो के लिए है। उनका कर्तव्य धर्म की स्थापना, निरीक्षण, प्रगति तथा धर्माचरण करने वाले जनो की हित साधना करना हे।" तीसरे शिलालेख के अनुसार उसने 'युक्त', 'रज्जक', 'पुरुप' तथा 'प्रादेशिक' नामक अधिकारियों को आज्ञा दी कि वे प्रति पाँचवें वर्ष राज्य में भ्रमण करें तथा जनता के साथ सम्पर्क करके धर्म प्रचार करें। अशोक ने धर्म के प्रचार तत्वों तथा विधि को लिपिवद्ध करके प्रकाशित किया तथा अधिकारियों द्वारा धर्म प्रचार के कार्य सम्वन्धी नियम वनाये। धर्ममहामात्रो तथा अन्य राज्यकीय अधिकारियो के धर्म प्रचार सम्वन्धी कार्यों पर नियन्त्रण तथा निरीक्षण करने के लिये उसने गुप्तचर विभाग को भी सतर्क कर दिया था।

(३) **अभिलेखों द्वारा 'धम्म' प्रचार**—अशोक ने अपनी पुत्रवत प्रजा तथा युगयुगीन मानवीय सम्बन्धो के नये आदर्श 'धम्म' की स्थापना हेतु अपने मान्य धर्म सिद्धान्तों को पाषाण पर अभिलेखों के रूप मे उत्कीर्ण कराया। धर्म के उपदेश, विधि नियम आदि को अभिलेखबद्ध करके, उसने सार्वजनिक स्थानो पर उन्हे स्थापित करवाया। उसका उद्देश्य था कि जनता प्रतिदिन इनको पढ़ देखकर अपने व्यवहार मे लाये तथा समय-समय पर 'धम्म' सिद्धान्तो का मनन करे। इस प्रणाली द्वारा 'धम्म' सुलभ तथा स्थायी वन गया। अशोक ने भ्राबु शिलालेख में बौद्ध ग्रन्थो के उल्लेख अंकित करवा दिये। शाहबाजगढी, मनसेहरा, कालसी, सोपारा, गिरनार, चीतलगढ़, धौलि, जोगढ़, सहसराम, रूपनाथ, बैराम तथा मास्की आदि स्थानो पर चौदह अभिलेखों मे वुद्ध के उपदेश उत्कीर्ण करवा कर उसने वौद्ध धर्म को जन सुलभ वना दिया। मेरठ, कौशाम्वी, तोपरा, लौरीय अराराज, लौरीय नन्दगढ़, रामपुरवा, सांची, रुम्मनदेई, तथा निग्लीव नामक स्थानो पर बौद्ध सिद्धान्तो से उत्कीर्ण शिलास्तम्भो ने भी वौद्ध धर्म प्रचार मे वड़ा योग दिया।

(४) **'धम्म' प्रदर्शन**—चौथे शिलालेख से पता चलता हे कि अशोक ने धम्म प्रदर्शन द्वारा भी धर्म प्रचार किया। इसके अन्तर्गत अशोक ने धर्म विभाग द्वारा बौद्ध धर्म के प्रदर्शन की व्यवस्था की। प्रदर्शन के द्वारा उसने बौद्ध धर्म के भव्य रूप को विमान दर्शन, हस्तिदर्शन, रथ इत्यादि सहित देवताओ की भाँकियाँ आदि निकालने की व्यवस्था करवाई। इन प्रदर्शनो का उद्देश्य धार्मिक दृश्यो द्वारा जनसाधारण के हृदय को प्रभावित करके धर्मानुचरण स्थापित करना था। इन दृश्यों को देखकर, निश्चय ही जनसाधारण के हृदयों मे धम्म के व्यापक रूप का प्रभाव पड़ा।

(५) **परोपकारी कार्य**—अशोक इस बात को भलीभांति समझता था कि धर्म का सम्बन्ध केवल मोक्ष प्राप्ति की भावना से ही नही हे अपितु दया, प्रेम, सहानुभूति तथा सन्देह आदि भावनाओ

से भी धर्म का गहरा सम्बन्ध है। अतः उसने अनेक परोपकारी कार्य किये। सातवें स्तम्भ लेख मे अशोक कहता है "मैने वट वृक्ष लगवाये हैं जो पशुओं तथा मनुष्यो को छाया सुख दें। आम के उद्यान लगवाये है तथा प्रति दो मील पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाईं तथा जलाशय स्थापित किये हे। क्यो ? पशुओ तथा मनुष्यो के सुख के लिये।" उसने केवल मनुष्यो के लिये ही नही वरन् पशुओ के लिये भी औषधालय तथा जलाशय बनवाये। औषधियाँ आदि विदेशों से भी आयात की जाती थी। उसने अपने शासन काल में पच्चीस बार वन्दियो को कारागृह से मुक्त किया। निश्चय ही, उसके इन परोपकारी कार्यों द्वारा प्रजावर्ग मे उसके 'धम्म' के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति उत्पन्न हुई होगी।

(६) **धर्म सन्देश**—विशिष्ट सामाजिक तथा परम्परागत समारोहो एवं उत्सवों के अवसर पर अशोक अपनी प्रजा को धर्म सन्देश दिया करता था। ये उपदेश 'धम्म श्रवण' कहलाते थे। सातवें स्तम्भ लेख मे इस प्रकार के सन्देश का उल्लेख भी मिलता है। इन सन्देशो का व्यापक प्रचार किया जाता था। ये सन्देश भी 'धम्म प्रचार' के साधन थे।

(७) **हिंसा निषेध**—कलिंग युद्ध के परिणामो से विक्षिप्त होने तथा बौद्धधर्म के प्रभावस्वरूप अशोक अहिंसा का पुजारी हो गया था। अपनी मान्यतानुसार तथा धर्म प्रचार को व्यापक बनाने के लिये उसने हिंसा निषेध सम्बन्धी राजाज्ञा दी। आखेट, पशुवध, वलि प्रधान यज्ञो, पशुओं को चिन्हित करने (दागने) तथा पशुओ को कायाक्लेश देने पर उसने कडा प्रतिवन्ध लगा दिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त तथा अहिंसा के प्रति उसने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया तथा धर्म के स्वरूप का प्रवल प्रचार किया।

(८) **धर्म मंगल के कार्य**—अशोक ने आडम्बरपूर्ण सामाजिक कृत्यो पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया तथा मंगल कार्य करने का अनुग्रह किया। धर्म मंगल कार्यों के अन्तर्गत धार्मिक परोपकार, श्रमणो तथा ब्राह्मणो को दान, धार्मिक उपदेश, अहिंसा का प्रदर्शन, सदाचारी कार्य आदि सम्पन्न किये जाने पर वल देकर उसने धर्म के मंगल रूप का प्रचार तथा प्रसार किया।

(९) **निज्झति: अथवा आत्म निरीक्षण**—यद्यपि अशोक धर्मप्रचार मे विश्वास रखता था तथापि वह यह भी समझता था कि समाज का बौद्धिक वर्ग प्रचार द्वारा अपेक्षाकृत कम प्रभावित होता है। अतः उसने आत्मोत्कर्ष के लिये इच्छुक तथा धर्मनिष्ठ बौद्धिक वर्ग के लिये यह प्रस्तावना की कि वे आत्मनिरीक्षण द्वारा स्वयं अपना अवलोकन करें तथा सत्कर्म एवं पुण्यों की ओर प्रवृत्त हो।

(१०) **दान व्यवस्था**—धर्म प्रचार के अन्तर्गत उसने विपुल दान की व्यवस्था की। वह भली भाँति समझता था कि इस व्यवस्था द्वारा लोगो के हृदय मे धर्म के जन-कल्याणकारी पक्ष का रूप प्रकट होगा। राजधानी तथा साम्राज्य के प्रमुख नगरो में विभिन्न अवसरो तथा निश्चित तिथि को रोगियो, अपगो, असहायो, समाज के दलित वर्ग के सदस्यो, धार्मिक तथा शिक्षण संस्थाओं आदि को दान दिया जाता था।

(११) **विभिन्न सम्प्रदायों का समन्वय**—बारहवें शिलालेख के अनुसार "सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति उसकी श्रद्धा के पात्र है।" एक अन्य शिलालेख के अनुसार "देवानांपिय दान या उपासना को इतना महत्व नही देता जितना कि इस बात को कि समस्त सम्प्रदायो के सार (तत्व) की वृद्धि हो।" इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि अशोक ने विभिन्न सम्प्रदायो के मतभेद को दूर करके उनके मध्य समन्वय की स्थापना का प्रयास किया। उसने अपने राज्याधिकारियो तथा 'धम्म'

प्रचारकों को आदेश दिये कि वे सभी धर्मानुयायियो को समान आदर दें तथा सभी के मतों का सम्मान करें।

(१२) जन भाषा पाली का प्रयोग—अशोककालीन जनभाषा पाली थी। अतः उसने 'धम्म' प्रचार के लिये सर्वग्राह्य भापा पाली का ही प्रयोग किया। इस भापा को प्रचार माध्यम बनाये जाने के फलस्वरूप जनता पर धम्मोपदेशो का गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

(१३) तृतीय बौद्ध महासंगीति का आयोजन—यद्यपि जनता में बौद्ध सिद्धान्तो का प्रचार किया जा रहा था तथापि बौद्ध धर्म के कर्णाधार भिक्षुओ मे कतिपय सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। इन मतभेदो का निराकरण करने के लिये अशोक ने अपने राज्याभिपेक के अठारहवें वर्प मे बौद्धाचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र मे तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया। यह उसके धर्म प्रचार के प्रयासो का ही आयोजन था। इस संगीति द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो में आवश्यक तथा समयानुकूल संशोधन किये गये, दोपो तथा मतभेदो का निराकरण तथा बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो मे समन्वय स्थापित किया गया। इस संगीति के आयोजन द्वारा प्राप्त परिणामों के कारण बौद्ध धर्म की शिथिलता दूर हो गई।

(१४) बौद्ध संघ मे एकता स्थापित करने का प्रयास—अशोक इस बात से भली भाँति परिचित था कि यदि बौद्ध संघ मे अनेकता आदि अवगुण आ गये तो उसके मान्य धम्म की नीव ही हिल जायेगी। अतः उसने बौद्ध संघ की एकता पर विशेप बल दिया तथा साँची, प्रयाग और सारनाथ के स्तम्भो पर ये लेख उत्कर्ण करवा दिये कि "देवानांपिय पियदर्स राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र मे तथा प्रान्तो में कोई फूट न डाले, जो कोई, चाहे भिक्षु हो या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहना कर, उस स्थान पर रख दिया जायेगा, जो भिक्षु या भिक्षुणियो के लिये उपयुक्त नही है।"

(१५) मठों का निर्माण तथा आर्थिक सहायता—बौद्ध चिन्तन में रत अनेक भिक्षु तथा भिक्षुणियो के लिये उसने अनेक मठो, विहारो आदि का निर्माण करवाया था। इन मठों तथा विहारों मे प्रचारक, धर्मोपदेशक तथा भिक्षु भिक्षुणियाँ चिन्तन, मनन तथा प्रचार में व्यस्त रहते थे। इन विहारो में धर्म प्रचार के समस्त साधन उपलब्ध थे।

(१६) विदेशों में धर्म प्रचार—उसकी धर्म प्रचार की प्रबल भावना केवल भारत की सीमाओ में ही संकुचित नही थी। अशोक ने तेरहवें शिलालेख मे कहा है "देवानामपिय धर्म विजय को ही प्रमुख विजय मानता है। देवानामपिय को यह विजय अपने विजित राज्यो तथा सब सीमावर्ती प्रदेशों मे और छः सौ योजन तक जहाँ यवनराज अन्तियोक राज्य करता है तथा उसके पास जो अन्य चार राजातुरमाय, अन्तेकिन, मग और अलिकसुन्दर हैं तथा नीचे जो चोल, पांड्य तथा ताम्रपणि के राज्य है, इसी प्रकार राजा के राज्य में यवनों, कम्बोजो, नाभको और नामपन्तियों के बीच मे, तथा वंशानुगत भोज नरेशो, आन्ध्रों तथा पारिन्दो मे प्राप्त हुई है।...उन राज्यो के लोग जहाँ देवानामपिय के दूत नही जा सकते, देवानामपिय का धर्मानुचरण सुनकर, धम्म पर आचरण करेंगे।" इससे स्पष्ट होता है कि अशोक ने भारत के विभिन्न प्रदेशो के अतिरिक्त मिस्र, सीरिया, यूनान, लंका, बर्मा, मकदूनिया तथा एपिरस के यवन राज्यों आदि विदेशो मे भी धर्म प्रचार किया। सिंहली अनुश्रुतियो के अनुसार महेन्द्र तथा संघमित्रा सिंहलद्वीपो मे धर्म प्रचार करते थे। महेन्द्र

अशोक का पुत्र तथा संघमित्रा उसकी पुत्री थी। विदेशो में धर्म प्रचार के लिये अशोक ने धर्म महामात्रों को भी भेजा तथा विदेशो में प्रचार के लिये अन्त महामात्र नामक अधिकारियों तथा उनके अधीनस्थ अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति की। विदेशी धर्म प्रचारक वड़े सक्षम, उत्साही, श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों से युक्त थे। भौगोलिक वाधाओ तथा मार्ग के कष्टो को सहन करते हुये इन धर्म प्रचारकों ने वड़ा ही सराहनीय कार्य किया। समस्त मानवता तथा विश्व की कल्याण की कामना के फलस्वरूप विदेशो में वौद्ध धर्म को वड़ा आदर, सम्मान तथा आस्था प्राप्त हुई। अशोक केवल स्वयं अपने साम्राज्य में ही नहीं अपितु विश्व के किसी भी भाग में हिंसा, पाप, अमानुषिकता, ईर्ष्या, द्वेष, पराभव आदि को समूल नष्ट करके, अहिंसा, प्रेम, पुण्य, मानवीयता, श्रद्धा एवं सहिष्णुता की स्थापना करना चाहता था। आज भी विश्व के अनेक भागो मे अशोक की 'धम्म विजय' के प्रमाण रूप अवशेष विद्यमान हैं। उसके धर्म प्रचार के पीछे कोई राजनैतिक या आर्थिक उद्देश्य नही था और न ही वह अपने धर्म को वल पूर्वक थोपना चाहता था।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. मौर्य प्रशासन की प्रमुख विशेषताओ को स्पष्ट कीजिये। (पी० सी० एस० १६७२)
२. मौर्य काल की सांस्कृतिक उपलव्धियो को स्पष्ट कीजिये।
३. मौर्य काल में भारत की सामाजिक दशा के विपय मे तत्कालीन स्रोतो से क्या प्रकाश पड़ता है? -
४. मौर्य कालीन सामाजिक तथा धार्मिक दशा का विवरण दीजिये।
५. अशोक के 'धम्म' को स्पष्ट कीजिये। धम्म प्रचार में उसने कौन से साधन अपनाये।
६. क्या अशोक वौद्ध था? स्पष्ट कीजिये।
७. अशोक के 'धम्म' की आधारभूत सिद्धान्तो तथा इसके प्रचार के साधनो का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १६७०)
८. अशोक के अभिलेखो का महत्व स्पष्ट कीजिये।

अध्याय दस

गुप्तकालीन संस्कृति

पृष्ठभूमि

राजनैतिक उत्थान पतन होते रहे किन्तु सांस्कृतिक विकास की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। मौर्य साम्राज्य का पतन १८४ ई० पू० मे हो गया। उसके बाद शुग, कण्ड और अन्य राजवंश शासन करते रहे। इनमें से कई ने काफी विस्तृत साम्राज्य स्थापित किये। इसी काल में दूसरी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ईस्वी तक उत्तर और पश्चिम भारत मे कई विदेशी शासको ने राज्य किया। शुंगकाल ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुद्धार का काल था। बौद्ध धर्म का निवृत्ति-मार्ग ब्राह्मणों की दृष्टि मे समाज के लिये घातक था। युवा वर्ग, गृहस्थ वर्ग एवं स्त्रियो का प्रव्रज्या ग्रहण करना समाज के लिए आपत्तिजनक था। दूसरी ओर संघ एक पवित्र संस्था थी, जो राजदण्ड क्षेत्र के बाहर थी। उसका लाभ उठाकर अनेक हत्यारे, ऋणी एवं अभियुक्त संघ में सम्मिलित हो जाते थे। अनेक आलसी लोग भिक्षु जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार मर्यादा-विहीन निवृत्ति-मार्ग ने राष्ट्र के लिये भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसलिये ब्राह्मण व्यवस्था मे बौद्धधर्म द्वारा प्रचारित श्रमण विचारधारा का विरोध किया गया और उसे ब्राह्मण विचार-धारा का विरोधी बताया गया। मनु ने वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ बताया है। अशोक ने अहिंसा का प्रचार करके यज्ञों में बलि देने की प्रथा को समाप्त कर दिया था, किन्तु पुष्यमित्र शुग ने सम्राट होते ही यज्ञो का पुनरुद्धार किया।[1] उसके एक यज्ञ के पुरोहित स्वयं महापंडित पतंजलि थे। अश्वमेघ की पुर्नस्थापना शुग काल मे ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठापना की सूचक है।

शुग काल मे ब्राह्मण धर्म की उन्नति के साथ-साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में भी खूब विकास हुआ। शुगकालीन संस्कृति गुप्तकालीन संस्कृति की शैशवावस्था थी। शुग सातवाहन राजाओं ने अशोक से पूर्ववर्ती मगध परंपरा की अभिवृद्धि की थी। उन्होने अशोक की धर्मविजय के स्थान पर सैन्य संगठन किया। उन्होंने उत्तर भारत के अधिकाश भाग पर अपना अधिकार जमाकर यवनो को परास्त

1, अयोध्या लेख।

(६) मथुरा कला शैली की कारीगरी में सादगी तथा सूक्ष्मता का अद्भुत मिश्रण है। वस्त्र के नीचे का एक-एक अंग प्रत्यक्ष झलकता है।

(७) मथुरा की कला शैली ने आगामी भारतीय कला को प्रेरणा तथा प्रौढ़ता प्रदान की है।

मथुरा कला शैली की उपरोक्त विशेताओ से यह स्पष्ट होता है कि यह कला विशुद्ध भारतीय कला की परम्परा के अनुसार है। बच्चोफर (Bachhofer) महोदय का कथन है कि "अभिव्यजंना, विचार, अवधारणा तथा कलात्मक कौशल मे मथुरा शैली शुद्धतः भारतीय है।"

मथुरा-कला की एक प्रमुख प्रवृत्ति पर हमें विचार करना उचित जान पड़ता है। यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला का भरहुत और साँची की कलाओ के साथ निकट का सम्बन्ध है। परन्तु मथुरा की कला एक बात मे अपनी पूर्ववर्तिनी कला-शैली से नितान्त भिन्न है। साँची और भरहुत की कलाकृतियो मे एक प्रकार की सूक्ष्म प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता का आभास मिलता है जिसका मथुरा की कला मे अभाव है।

ब्राह्मण मूर्तिकला का मथुरा मे चरम विकास हुआ। यहाँ अनेक ब्राह्मण देवताओ की प्रतिमाओ का निर्माण हुआ यथा ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, इंद्र, अग्नि, सूर्य, कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती पार्वती, महिषमर्दनी, दुर्गा, अर्द्धनारीश्वर और मातृका आदि।

मथुरा में कंकाली टीला के उत्खनन मे बहुसंख्यक कलावशेष प्राप्त हुए थे जो अब लखनऊ राजकीय संग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इन अवशेषो मे अनेक जैन मूर्तियाँ हैं। इन जैन मूर्तियो मे तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ, देवियो की मूर्तियाँ और आयागपट्ट[1] आदि कृतियाँ हैं।

मथुरा के निकटस्थ एक टोले पर विम कैडफिसेस की एक मुण्ड रहित मूर्ति मिली है। मूर्ति सिंहासन पर विराजमान है और लंबा चोगा तथा पायजामा पहने है। मूर्ति पर राजा का नाम उत्कीर्ण है। यह मूर्ति राजकीय संग्रहालय मथुरा मे संग्रहीत है। विम कैडफिसेस की ही वेशभूषा में राजदंड और तलवार लिये कनिष्क की मूर्ति मिली है। मूर्ति पर राजा का नाम अंकित है। मूर्ति लम्बे जूते धारण किये है। इनके अतिरिक्त अनेक शक-कुषाण राजाओ, राजकुमारो और सरदारों की मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ स्त्रियो की मूर्तियाँ भी मिली हैं जो घाघरा पहने हैं।

मथुरा मे शक-कुषाण कालीन अनेक मृण्मय मूर्तियाँ भी मिली हैं जो तात्कालिक लोक-जीवन पर प्रकाश डालती हैं। उनके केश विन्यास आभूषण एव वेशभूषा आदि सभी बड़े ही सुन्दर हैं। कुछ ऐसे पट्ट मिले हैं जिन पर लोक-कथाओ के दृश्य अंकित है। मथुरा के अतिरिक्त कुषाण कालीन मृण्मय मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर आदि स्थानो पर मिली है। ये मिट्टी की मूर्तियाँ कलापूर्ण ढंग से निर्मित की गयी हैं।

गांधार तथा मथुरा कला शैली का अन्तर

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इन दोनो कलाओ का विषय एक है। इस आधार पर इन दोनो कलाओं के भेद को स्पष्ट कर पाना अधिक सरल है।

(१) मथुरा शैली पूर्णतः भारतीय है तो गाधार शैली पूर्णत. विदेशी है। गान्धार शैली मे वुद्ध को अपोलो के समान बनाया हुआ है।

---

१. आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलाखण्ड होते थे, जिनकी पूजा होती थी।

(२) मथुरा शैली मे भावाभिव्यंजना है तो गान्धार शैली मे शरीर के अंग प्रत्यगों तथा मास पेशियो के अंकन पर बल दिया गया है।

(३) मथुरा शैली मे महात्मा बुद्ध के केशो तथा मूछो का अंकन नही है जबकि गान्धार शैली मे मूछों को प्रधानता दी गई है।

(४) मथुरा शैली मे बुद्ध धोती धारण किये हुये है तथा गान्धार शैली मे वे साधु के वेष मे हैं।

(५) मथुरा शैली में महात्मा बुद्ध के पीछे प्रभा मण्डल है तथा उनका दाया हाथ अभय मुद्रा मे है, परन्तु गान्धार शैली मे ऐसा नही है।

(६) मथुरा कला शैली आदर्शवादी तथा गान्धार कला शैली यथार्थवादी है।

(७) भारतीय कला शैली मे गान्धार शैली अस्थायी है जबकि मथुरा शैली आगे आने वाली भारतीय कला की प्रेरणा बनी रही।

डा० क्रेमरीश ने मथुरा तथा गान्धार शैली के भेद को स्पष्ट करते हुये उचित ही लिखा है कि—"गान्धार का अपना स्वतन्त्र स्थल है। हेलेनिस्टिक दृष्टिकोण मे यह भारतीय तथा औपनिवेशीय है और भारतीय दृष्टिकोण से यह हेलेनिस्टिक और विदेशी है।"

प्रभामण्डल का मूर्तियों में प्रयोग हमे गान्धार तथा मथुरा दोनो की तक्षण-कलाओ मे दिखलाई पड़ता है और दोनो के ही प्रभामण्डल अलंकृत है। किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं मे किनारो पर वृत्ताकार चिह्न दृष्टिगत होता है। यदि हम मथुरा और गान्धार की प्रतिमाओ का सूक्ष्मरूप से अध्ययन करें तो यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि कला की इन दो विभिन्न शैलियो का उद्भव और विकास पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मथुरा की कला स्वदेशी थी, अतएव गुप्त युग के कलाकारो ने इसी कला-शैली को अपनाया और इसको चरम विकास पर पहुँचा दिया।

स्थापत्य कला

कुषाण काल मे अनेक धर्मों का विकास हुआ और उन धर्मों के स्मारको का बहुसंख्या मे निर्माण हुआ। अशोक की भांति कनिष्क ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक बौद्ध स्तूप और विहार निर्मित कराये थे। उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर, अब पाकिस्तान) में १३ मंजिल की ४०० फुट ऊँची मीनार निर्मित करायी थी। मीनार के ऊपर लोहे का एक छत्र था। इसी मीनार के निकटस्थ शिक्षाकेन्द्र के रूप मे एक प्रसिद्ध संघाराम निर्मित कराया था। चीनी यात्रियो तथा इतिहासकार अलबेरुनी ने इस संघाराम के ध्वंसावशेष का वर्णन किया है।

स्तूपो के साथ-साथ मथुरा तक्षशिला आदि स्थानो मे अनेक विहार भी निर्मित किये गये थे। शक-कुषाण काल में अनेक ब्राह्मण मन्दिरो का निर्माण हुआ। इनमें सर्वाधिक प्राचीन मन्दिर शकराज शोडास कालीन है। इसकी जानकारी मथुरा से प्राप्त अभिलेख से हुई। यह मन्दिर संभवतः उसी स्थान पर निर्मित था, जो भगवान कृष्ण का जन्म स्थान माना जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण देवी-देवताओ की अनेक मूर्तियाँ भी मिली हैं। लोगो का अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उक्त मन्दिर की हैं। स्थापत्य के अधिक नमूने उपलब्ध नही है किन्तु अवशेषों के रूप मे जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे कुषाणकालीन निर्माण शैली का कुछ आभास मिलता है।

अमरावती की कला

शुङ्गकाल में दक्षिण मे सातवाहन वंश था। सातवाहनों के शासन-काल मे देश के इस भाग मे संस्कृति और कला की धाराएँ प्रवाहित होती रही। बौद्ध धर्म ने इस युग की वास्तु-कला को प्रगति प्रदान की। दक्षिण मे जितने भी शैलगृह और गुहा मन्दिर मिले है उन सबका निर्माण इस युग मे हुआ। इस प्रकार कृष्णा और गोदावरी के मध्य का प्रदेश महत्वपूर्ण कलाकेन्द्र बन गया और यहाँ सातवाहन या अमरावती-कला का विकास हुआ। महाराष्ट्र की वेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कोडाने आदि की गुफाएँ सातवाहन युग की है। नासिक के गुफा मन्दिर के अभिलेख के अनुसार उसका निर्माण सातवाहन राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने कराया। इसका समय तीसरी शती ई० पू० है। नासिक का गुहा मन्दिर ई० पू० तीसरी शती और वेडसा तथा कार्ले के गुफा मन्दिर ईसवी सन् से पूर्व बन चुके थे। सातवाहन राजाओ को गुफा मन्दिर-निर्माण मे बहुत अभिरुचि थी। नासिक, कार्ले (कार्ली), भाजा के गुफा विहार एवं चैत्य के सुन्दर भवनो का निर्माण अमरावती शैली मे हुआ। कार्ले गुफा में उसके निर्माता आन्ध्र राजाओ और रानियो की मूर्तियाँ बनी हैं।

अमरावती का स्तूप—कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित अमरावती सातवाहन कला का महान् केन्द्र था। अमरावती का स्तूप इस कला का प्रतिनिधि था, जिसके अवशेष अब प्राप्त हुए हैं। इसके चारों ओर सातवाहनो ने बाड़ बनवायी और ईंटो के बने स्तूप के अधोभाग को, जिसका व्यास १०८ फुट था, शिलाफलको को दोहरी पंक्ति से ढँकवाया था। यह सारा कार्य संगमरमर द्वारा पूर्ण किया गया, जिन पर असंख्य आश्चर्यजनक मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए है। शिलाफलको में से कुछ पर स्तूप का ही अलंकृत दृश्य है, कुछ पर बुद्ध-पूजा तथा उनके जीवन के दृश्य अंकित है। इसकी १३—१४ फुट ऊँची और ६०० फुट घेरे वाली एकहरी बाड़ काष्ठ की वेदिका की प्रतिकृति है। थोडी-थोड़ी दूर पर सीधे स्तम्भ है, जिसमे बेड़े डण्डे जुड़ाये है। इनमे भिन्न-भिन्न प्रकार के कमल और अलंकरण अंकित है। इनके बीच की जगहो मे उभारदार नक्काशियाँ है। दावो और बन्दो पर लहरदार भारी गजरे बने है, जिन्हे पुरुष तथा बौने एवं तरह-तरह के पशु झेले हुए हैं। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का अनुमान हे कि कोई १७,००० वर्गफुट पर इस प्रकार की मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए है। जिस समय यह स्तूप अक्षुण अवस्था में रहा होगा, उस समय वह भारतीय मूर्ति शिल्प का अपने ढंग का सबसे भव्य, अनोखा एवं दर्शनीय उदाहरण रहा होगा।

मथुरा शैली की मूर्तियो से अमरावती की मूर्तियो में भिन्नता हे यहाँ पर आकृतियाँ बड़ी बनाई गई हैं तथा उनके दृश्य सीधे है। अमरावती की मूर्तियो के संयोजनो में स्वाभाविकता नही है। एक ओर दक्षिण मे एक-आध ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनमें जान पड़ता है कि शिल्पियो ने पाषाण शिल्प की काफी उन्नति थी।

अमरावती से बहुत से पत्थरो पर खुदाई किये हुये अभ्युचित्र भी प्राप्त हुए है, ये मथुरा शैली एवं कार्ले शैली के समय के बताये जाते है। यहाँ पर सब आकृतियो का अनुपात सही है। इन आकृतियो में आदर्श प्रतिमाकन एवं काल्पनिक अनुपात दिखाया गया है। उदाहरण के लिए,

गोलाकार बुद्ध भगवान् की मूर्ति है यह नीलगिरी हाथी को लिए हुये बनाई गई है। यहाँ पर कथाओं से अलग-अलग घटनायें ली गई है जो एक-दूसरे पर अध्यारोपित है, जैसे अमरावती के स्तूप में बाईं ओर एक पशु एक मनुष्य आकृति को अपने पैरो के नीचे दवाये हुये है तथा दूसरी ओर मनुष्य अपनी रक्षा हेतु छिपे हुए हैं। एक स्त्री एक पुरुष द्वारा सँभालो दिखाई गई है और दाहिनी ओर भगवान बुद्ध उस पशु की ओर करुणा की भावना से देखते हुए वनाये गये हैं, और पशु भगवान बुद्ध के चरणो पर गिरा हुआ है। पूरा ही दृश्य भावना से भरा हुआ है। यहाँ पर पशु एवं वास्तुकलात्मक नमूने सब मनुष्य के नाप मे वनाये गये है।

अमरावती के इसी प्रकार के दूसरे महत्वपूर्ण उदाहरणो में बुद्ध भगवान को भिक्षा का पात्र लिए दिखाया गया है। इस चित्र मे हर्ष एव क्रोध की भावना का साथ ही भास होता है। कई कतारो मे उनके शिष्य उन्हे घेरे दिखाये गये है। पात्र की पवित्रता केवल उसके अनुयायी ही जान सकते है। सारी भावना पात्र के चारो ओर एकत्रित है। यहां पर आकृतियो की छाया वहुत कम काटी गयी है। एक चित्र मे भगवान बुद्ध की पादुका को अलंकरित वनाया गया है।

भारतीय शिल्पशास्त्र का जन्म भी कुषाणकाल के अन्त या गुप्तकाल के प्रारम्भ में माना है। सांची का बुद्ध भगवान का वड़ कुशान एवं प्रारम्भिक गुप्तकला का अच्छा उदाहरण है। यह लंदन के अलबर्ट संग्रहालय मे है। विजयवाड़ा से भगवान बुद्ध की धातु की कई मूर्तियाँ मिली है जो वर्मा से प्राप्त मूर्तियो से मिलती-जुलती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. शुग कालीन कला की प्रमुख प्रवृत्तियो का उल्लेख कीजिये।
२. शुंग-सातवाहन काल में कला के विकास पर एक निवन्ध लिखिये।
३. भरहुत तथा सांची के स्तूपो की निर्माण शैली और विशेषताओं का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९७४)
४. गान्धार तथा मथुरा कला की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए उनके अन्तर का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३, ६५, ६८, ७१)
५. सांची, भरहुत तथा अमरावती के स्तूपो की कला पर टिप्पणी लिखिये।
६. कुषाण कालीन कला की प्रमुख प्रवृत्तियो का उल्लेख कीजिये।

अध्याय पन्द्रह

गुप्तकालीन कला

पूर्वाभास

मौर्य शासन के अन्त से लेकर गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक का समय कला तथा राजनीति के क्षेत्र में अशान्ति का युग था। सम्पूर्ण भारत मे मौर्य साम्राज्य के अवशेष बिखरे पड़े थे जिनके धरातल को चीरकर छोटे-छोटे राज्यो तथा सामन्तो की सत्ता का उदय हो रहा था। ये सभी अपनी क्षणिक राजनैतिक गतिविधियो द्वारा साम्राज्य की परम्परा के स्थापित्व को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। कला के क्षेत्र में यह प्रयोगो का युग था, जिसमे राजनैतिक उथल पुथल और आध्यात्मिक खोज की भंवर मे फँसी हुई जनता की सृजनात्मक प्रेरणा को व्यक्त करने के लिये एक सन्तोपजनक माध्यम तथा शैली ढूंढ निकालने का प्रयास किया जा रहा था। गुप्त साम्राज्य की स्थापना के साथ ही यह तूफान शान्त हो गया; प्रयोगो की खीचातानी ने अभिव्यक्ति की परिष्कृत परिपक्वता का रूप धारण कर लिया और एक जागरूक तथा अपने मे विश्वास रखने वाली प्रविधि का निर्विकार परिमार्जित रूप मे विकास हुआ। गुप्तकाल की कला "एक सुस्थापित परम्परा का प्रसून है" और विचारो तथा भावनाओ को व्यक्त करने का एक परिमार्जित तथा परिष्कृत माध्यम है।[1] गुप्त साम्राज्य की स्थापना से भारतीय कला का स्वर्ण युग प्रारम्भ होता है।

गुप्तकालीन वास्तु कला

गुप्तकाल की वास्तुकृतियो मे मन्दिरो के निर्माण को ऐतिहासिक महत्व प्राप्त है। इस काल मे मूर्तियो का निर्माण बहुसंख्या में हुआ और मन्दिरो का विकास किया गया। इस वास्तु कला की दो प्रमुख विशेषताएँ थी। एक तो उसका विकास विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर मौलिक रूप से हुआ। इसके अधिकांश उदाहरणों में ईंटो के स्थान पर पत्थरो का प्रयोग किया गया। दूसरे, इस कला मे सौंदर्य प्रदर्शन और अलंकरण मे विदेशी प्रभाव को हटा कर भारतीय अभिप्रायो का प्रयोग किया। गुप्तकालीन वास्तुकला के अधिक उदाहरण उपलब्ध नही हैं। इस काल की वास्तुकला को

---

१. 'प्राचीन भारत'—डा० वी० जी० गोखले।

सात भागो में बांटा जा सकता है—(१) राजप्रासाद, (२) आवासीय गृह, (३) गुहाएँ, (४) मन्दिर, (५) स्तूप, (६) विहार, तथा (७) स्तम्भ।

(१) राजप्रासाद

यद्यपि तत्कालीन राज प्रासाद का उदाहरण द्रष्टव्य नही है, तथापि गुप्तकालीन साहित्य मे अनेक बार प्रासाद, राजप्रासाद, राजगृह, राजवेश्म तथा राजनिवेशन आदि का उल्लेख किया गया है। चीनी यात्री फाह्यान ने अपने विवरण मे गुप्त नरेशों के राजप्रासाद की बड़ी प्रशंसा की है। उसके विवरण को तत्कालीन अन्य वास्तुकला कृतियो मे भी समर्थन प्राप्त होता है। जिस युग के कलाकारो ने मन्दिरो, गुहाओ आदि का इतना विकसित, भव्य तथा उत्कृष्ट निर्माण किया था, उन कलाकारों तथा वास्तुकला मर्मज्ञो ने निश्चय ही उच्चकोटि के राजप्रासादो का भी निर्माण किया होगा।

(२) आवासीय गृह

गुप्तकालीन आवासीय गृहो के दो भाग होते थे—वहिर्भाग तथा अन्तःपुर।[1] इन गृहों को 'द्विवास गृह' कहा जाता था। वहिर्भाग प्रमुखतया पुरुषो के लिये और अन्तःपुर स्त्रियो, वच्चो आदि के लिये था। घर मे कई कमरे, दालान, आगन आदि होते थे। स्नानागार, शयनागार तथा भोजन के कमरो का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक घर के सामने की ओर एक बहिर्द्वार होता था—जिसके द्वारा घर मे प्रवेश किया जा सकता था। छत पर जाने के लिये सीढ़ियाँ होती थीं—जिन्हे 'सोपान' कहा जाता था। शुद्ध वायु तथा प्रकाश के लिये खिड़कियाँ और रोशनदान वनाये जाते थे—इन्हे 'वातायन' कहा जाता था। कालीदास ने वातायनो मे बैठी हुई पुरसुन्दरियो का उल्लेख किया है।[2] घरो के प्रांगण मे उद्यान लगाया जाता था, जिसे 'वृक्षवाटिका' कहा जाता था।[3]

(३) गुहाएँ

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के प्राचीनतम गुहामन्दिर निर्मित हुए। ये भिलसा (मध्यप्रदेश) के समीप उदयगिरि की पहाड़ियो मे स्थित है। ये गुहाएँ चट्टानें काटकर निर्मित हुई थी।[4] इनमें से दो गुहाओ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेख उत्कीर्ण है।[5] गुहा के द्वार-स्तंभ तथा वाहर की दीवालो पर मूर्तियाँ निर्मित हैं। द्वार के दोनो ओर चार द्वारपालों की प्रतिमाएं वनी हैं। चौखट के ऊपरी भाग मे गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित है। गुहा के बाँई ओर वाराहावतार की एक विशाल मूर्ति है। उदयगिरि के अतिरिक्त अजंता, एलोरा, औरंगावाद और वाघ की कुछ गुफाएँ भी गुप्तकालिक है। अजंता मे कुल २९ गुफाएँ है। गुप्तकालिक गुहाओ मे दो (१९ और २६) चैत्य और शेष विहार हैं। इन विहारो मे प्राचीनतम विहार ११, १२ और १३ कहे जाते हैं। गुफाओ के स्तंभो की सुन्दरता अनुपम है। एलोरा मे वौद्ध, ब्राह्मण और जैन धर्म की गुफाएँ हैं। वौद्ध गुफाएं अन्य

---

१. 'कामसूत्र'—वात्स्यायन। २. 'प्रासादवातायन संस्थितानाम'—रघुवंश—६,२४।
३. 'तत्भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिका'—'कामसूत्र'—पृ० ४२, सूत्र ४।
४. कनिघमकृत आर्किलोजिकल सर्वे रिपोर्ट।
५. उदयगिरि गुहा लेख, संख्या ६।

दोनों धर्मों की गुफाओं से पहले की हैं। संख्या एक से बारह तक की गुफाएँ बौद्धधर्म की हैं। इन बारह गुफाओं मे केवल ५ गुप्तकालिक हैं। पाँचवी गुफा के अतिरिक्त अन्य सभी गुफाएँ अजंता की गुफा विहारों के समान वर्गाकार है। पाँचवी गुहा आयताकार है। औरंगाबाद मे केवल १२ गुफाएँ हैं, जिनमें एक चैत्य और अन्य विहार हैं। बाघ मे ६ गुफाएँ हैं जो सभी विहार है। अनुमानतः उनका निर्माण पाँचवी और छठी शताब्दी ई० के लगभग हुआ था। मन्दागिरि (भागलपुर, विहार जिला) मे विष्णु का एक भग्न मन्दिर है और उसी के निकट एक गुफा है जिसमे सिंह, वामन, मधु और कैटभ की मूर्तियाँ हैं।[1] इसमे चौथी, पाँचवी शताब्दी की गुप्तकालिक ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख अंकित है जिसमे तिथि भी उल्लिखित है।[2]

(४) मन्दिर

गुप्तकालीन मन्दिरो की निर्माण शैली के आधार पर इनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. मन्दिरो का निर्माण ऊँचे चबूतरो पर हुआ है। इस चबूतरे पर चढ़ने के लिए चारो ओर सीढ़ियाँ मिलती हैं।

२. प्रारम्भ मे मन्दिरो की छतें चपटी होती थी। किन्तु बाद में शिखरो का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

३. मन्दिरों का भीतरी भाग सादा तथा प्रवेश द्वारा अलंकृत और सुसज्जित है।

४. मन्दिर के भीतर गर्भगृह होता था, जिसमे मूर्ति की स्थापना होती थी। साधारणतः गर्भगृह मे एक अलंकृत द्वार होता था। द्वार स्तंभ पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित होती थी।

५. गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा मार्ग होता था जिसके ऊपर छाया के लिये छत बनी रहती थी।

६. मन्दिरों की छत चार अलंकृत स्तम्भो पर टिकी होती थी। स्तम्भो के शीर्ष भाग पर एक-एक वर्गाकार पाषाण खण्ड रखा जाता था। प्रत्येक पाषाण खण्ड पर चार-चार सिंह एक दूसरे से पीठ सटाये हुए आधे बैठे दिखाये जाते थे।

७. मन्दिर के आगे बहुधा एक द्वार मंडप होता था, जो स्तम्भों पर आधारित रहता था।

८. सिंह मुख, पुष्प पत्र, व्याल, गंगा यमुना की मूर्तियो, झरोखो आदि द्वारा अलकृत होने के कारण मन्दिरो मे अद्भुत आकर्षण है।

९. गुप्तकालीन मन्दिरो की भव्यता द्वारा भक्त के मन मे धर्म का प्रभाव बढ़ता था।

१०. भीतरगाँव के मन्दिर के अतिरिक्त शेष मन्दिर प्रस्तर द्वारा बनाये गये है।

वास्तुकला की तकनीक और निर्माण शैली को ध्यान मे रखते हुए तत्कालीन मन्दिरो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) प्रारम्भिक गुप्तकालीन (३१९-५५०) मन्दिर, (इसमें भूमरा के नचना मन्दिर हैं); तथा, (२) उत्तर गुप्तकालीन (५५१-६०५ ई०) मन्दिर, इनमे देवगढ़ (जिला ललितपुर) का मन्दिर है जो शिखरयुक्त है।[3]

---

१. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ १३०-३६।

२. एपिग्राफिया इंडिया, ३६, ३०५।

३. बनर्जी, दि एज आफ इंपीरियल गुप्ताज, पृ० १३५।

गुप्तकालीन अभिलेखों द्वारा भी तत्कालीन मन्दिरों के विषय मे पर्याप्त सूचना मिलती है।[1] इस काल के प्रमुख उल्लेखनीय मन्दिर निम्नलिखित हैं :—

भूमरा का शिव मन्दिर—सतना (मध्यप्रदेश) मे भूमरा नामक स्थान पर शिव मन्दिर का निर्माण पांचवी शताब्दी के मध्य काल मे हुआ। इस मन्दिर का केवल गर्भगृह शेष है। इसमें गुप्तकालीन मन्दिरो की प्रायः सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। द्वार स्तम्भ के दांये-बाये गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं। मन्दिर मे एकमुखी शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है। इसके गर्भगृह का प्रवेश द्वार और मंडप अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत है।

नचना का पार्वती मन्दिर—यह मन्दिर भूमरा के समीप (प्राचीन अजयगढ राज्य में) स्थित है। इस स्थान पर दो मन्दिर हैं किन्तु पार्वती मन्दिर पहले का है और दूसरा सातवी शताब्दी का है। पार्वती मन्दिर की निर्माण योजना भूमरा मन्दिर के समान है।

देवगढ़ का दशावतार मन्दिर—ललितपुर जिले मे बेतवा नदी के तट पर स्थित देवगढ़ में एक ध्वस्त विष्णु मन्दिर है।[2] इसमे अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा है। कुमार स्वामी के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण गुप्तकाल के अन्तिम चरणो मे हुआ था। इसका गर्भगृह बाहर से वर्गाकार साढे अठारह फुट और भीतर से पौने दस फुट है। उसके चारो ओर की दीवारें तीन फुट सात इंच मोटी हैं। इसके द्वार भूमरा की तरह ही हैं। इस मन्दिर का विशेष महत्व इसलिए है कि इसमें शिखर हैं जो सम्भवतः मन्दिरो मे शिखर का सबसे प्राचीन उदाहरण है। अन्य मन्दिरों के एक मण्डप की अपेक्षा इसमे चार मण्डप हैं जो गर्भगृह की चारो दिशाओ मे स्थित हैं। पर्सी ब्राउन का मत है कि इस मन्दिर की निर्माण शैली गुप्त वास्तुकला का अन्यतम उदाहरण है।

भीतरगांव का मन्दिर—यह ईंटों का बना प्राचीनतम शिखरयुक्त मन्दिर है। यह मन्दिर

---

१. अ—बिलसड मे प्राप्त कुमारगुप्त प्रथम के काल के अभिलेख मे महासेन के मन्दिर का उल्लेख है (कार्पस, ३, ३६ और आगे)।

आ—भितरी (जिला गाजीपुर) स्थित स्कंदगुप्त के स्तम्भ लेख में विष्णु के मन्दिर की स्थापना का उल्लेख है (कार्पस ३, ५३)।

इ—कराव (जिला देवरिया) स्थित स्कंदगुप्त के समय के स्तम्भ लेख (कार्पस, ३, ६५) के निकट बुकानन ने दो ध्वस्त मन्दिर देखे थे।

ई—इंदौर (जिला बुलंदशहर) से प्राप्त स्कंदगुप्त के समय के ताम्र लेख में सूर्य मन्दिर का उल्लेख है (कार्पस, ३, ६८)।

उ—बुधगुप्त के काल के दामोदरपुर ताम्रलेख मे दो मन्दिर बनाने का उल्लेख है (एपि. १५, १३८)।

ऊ—बुधगुप्त के शासनकाल के एरण स्थित स्तम्भ लेख में दो भाइयो द्वारा विष्णुध्वज स्थापना का उल्लेख है, जिसका सम्बन्ध मन्दिर से रहा होगा। (कार्पस, ३, ८९)।

ए—एरण स्थित तोरमाण का अभिलेख वराह मूर्ति पर है (कार्पस, ३, १५९, ३५, १०, ८२-८३)।

२. देखिये, माधव स्वरूप वत्स कृत, गुप्त टेम्पुल ऐट देवगढ (मेम्वायर्स आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया नं० १७) और कनिंघम कृत आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १०, १०५।

एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। इसके तीन ओर की वाहरी दीवारें बीच मे आगे की ओर निकली हुई है। पूर्व की ओर ऊपर जाने की सीढ़ियाँ और द्वार है, द्वार के भीतर मण्डप है और फिर उसके आगे गर्भगृह मे जाने का द्वार है। गर्भगृह के ऊपर एक कमरा है। इसकी छत पिरामिड की भाँति है। इसकी वाहरी दीवारो मे वने आलो (ताखो) मे पौराणिक देवी देवताओ की मृण्मयी मूर्तियाँ रखी हुई हैं।

तिगवा का मन्दिर—जवलपुर जिला (मध्यप्रदेश) में तिगवा नामक स्थान पर ऊँचे टीले पर स्थित यह मन्दिर सादा है। वर्तमान मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार आठ फुट है। उसके भीतर नृसिंह की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इसके स्तम्भ कई कोनो से युक्त है।

साँची का मन्दिर—साँची के महास्तूप के दाहिनी ओर एक छोटा सा गुप्तकालीन सपाट छतोवाला मन्दिर चार स्तम्भो पर आधृत है। इसमें द्वार मंडप है। स्तम्भो के अतिरिक्त भवन मे कही भी अलंकरण नही है। यह भीतर से वर्गाकार ८ फुट २ इंच और वाहर से २० फुट लम्वा और पौने तेरह फुट चौड़ा है।

मुकुन्द दर्रा मन्दिर—कोटा (राजस्थान) मे एक पहाड़ी दर्रे के अंदर मुकुन्द दर्रा नामक एक छोटा-सा मन्दिर है। यह गुप्तकाल के प्रारम्भिक चरणो में निर्मित माना जाता है।[1] इसकी छत सपाट है। मंडप स्तम्भो पर आधृत है। मंडप से लगभग चार फुट हटकर तीन ओर दो-दो अर्ध-स्तम्भ हैं। उन पर शीर्ष, शीर्ष पर सिरदल और सिरदल पर कमल अंकित चौकोर पत्थर रखे हैं। मन्दिर के चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ है।

खोह का मन्दिर—भूतपूर्व नागोद रियासत मे स्थित इस मन्दिर में एकमुखलिंग शिव की मूर्ति स्थापित है। यह अपने समय का एक भव्य देवालय प्रतीत होता है।

शंकरमढ़ का मन्दिर—कुण्डा नामक ग्राम, तिगवा (जवलपुर) से तीन मील पूरब मे एक लाल पत्थर द्वारा निर्मित छोटा-सा शिवमन्दिर है, जो शंकरमढ के नाम से पुकारा जाता है। यह लम्बे पत्थर द्वारा निर्मित है जिसमे चूने या गारे का प्रयोग नही किया गया है।

ऐहोलि का मन्दिर—महाराष्ट्र मे वीजापुर जिले के अन्तर्गत ऐहोलि मे एक गुप्तकालिक मन्दिर है।[2] इसकी वनावट अन्य गुप्त-मन्दिरो से सादृश्य रखती है। इसमे गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित है।

(५) स्तूप

स्तूपो का निर्माण प्रायः तथागत के अवशेषो पर स्मृति के लिये किया जाता था। सारनाथ मे स्थित धमेख का स्तूप गुप्तकाल मे वना था। यह ईंटो द्वारा वनाया गया है। इसकी ऊँचाई १२८ फुट है तथा इसकी विशेषता यह है कि यह चबूतरे पर नही वरन धरातल पर बना है। इसके उत्खनन मे कनिंघम महोदय को एक लेख मिला है, जिससे इसका गुप्तकालिक होना सिद्ध होता है।[3] धमेख स्तूप के प्रस्तर पर अंकित कलाकृतियाँ भी गुप्तकला का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती

---

१. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी, (चौथी सीरीज) पृ० ७९-८१।

२. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०७-८, पृ० १८९ और पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्कि-टेक्चर, पृ० ६३।

३. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट।

हैं। इसी आकृति का एक दूसरा स्तूप राजगृह मे है, जो 'जरासंघ की बैठक' के नाम से विख्यात है। इसका निर्माण चबूतरे पर हुआ है।

(६) विहार

गुप्तकालीन विहारो के भग्नावशेष सारनाथ (वाराणसी) और नालंदा (पटना) में मिले हैं। सारनाथ के विहार नं० ३ और ४ मे प्राप्त सामग्री तथा गवाक्ष से सिद्ध होता है कि ये गुप्तकालीन विहार थे।[1] ह्वेनसांग के अनुसार नालंदा में गुप्त राजाओ ने विहार निर्मित कराये थे जो भिक्षुओ के निवास ही न थे, अपितु वहाँ उच्च शिक्षा भी दी जाती थी।[2]

(७) स्तम्भ

स्तम्भो के निर्माण की परम्परा गुप्तकाल मे भी चलती रही। गुप्तकालीन स्तम्भों को निम्न-लिखित भागो मे विभक्त किया जा सकता है-—कीर्ति-स्तम्भ, ध्वज-स्तम्भ, स्मारक-स्तम्भ और सीमा-स्तम्भ। समुद्रगुप्त की कीर्ति का वर्णन मौर्य सम्राट अशोक के इलाहाबाद स्तम्भ पर अंकित है। कहांव का स्तम्भ स्कंदगुप्त की कीर्ति का उल्लेख करता है।

अनेक गुप्त शासको के वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण उनके ध्वजो, मुद्राओ और प्रस्तर स्तम्भों पर विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति अंकित मिलती है। गुप्त सम्राट बुद्धगुप्त के काल में सामन्त मातृविष्णु और धन्यविष्णु ने भगवान जनार्दन का एक ध्वज-स्तम्भ एरण मे निर्मित कराया था जो आज भी विद्यमान है। दिल्ली मे मेहरौली के निकट लोहे का स्तम्भ है, जिसे गरुड़-ध्वज कहा गया है। कुमारगुप्त प्रथम ने स्वामी महासेन के मन्दिर के स्मारक के रूप मे बिलसद में एक स्तम्भ का निर्माण कराया था। सम्राट स्कंदगुप्त ने भितरी (जिला गाजीपुर) में भगवान विष्णु की मूर्ति की स्थापना के उपलक्ष मे एक स्तम्भ निर्मित कराया था।

तक्षण कला (मूर्तिकला)

गुप्तकाल मे कला के तीन प्रमुख केन्द्र थे। मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। मथुरा-कला कुषाणकाल मे अपनी पराकाष्ठा पर थी। गुप्तकाल मे भी मथुरा में मूर्तिनिर्माण की परम्परा बनी रही, किन्तु गुप्तकाल मे निर्माण शैली में परिवर्तन हुआ। उदाहरणार्थ, कुषाणकालीन मूर्तियो का प्रभामंडल सादगीपूर्ण था किन्तु गुप्तकाल में वह अलंकृत हो गया। दूसरे कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तियों मे दाएँ कंधे पर कमर के ऊपर का वस्त्र नही है परन्तु गुप्तकाल मे दोनों कंधे ढके रहते हैं। अनेक मूर्तियाँ ऐसी भी हैं जिनमे कुषाण और गुप्तकालीन लक्षणो का मिश्रण है।

गुप्तकालीन मूर्ति कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र सारनाथ था। बौद्धो का प्रधान तीर्थ-स्थल होने के कारण यहाँ सर्वाधिक मूर्तियाँ निर्मित हुई है। गुप्त राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे इसलिए ब्राह्मण-मूर्तियाँ भी निर्मित हुई हैं। सारनाथ मे जैन मूर्तियाँ कम संख्या में प्राप्त हुई हैं। पाटलिपुत्र में नालन्दा शैली की धातु की मूर्तियाँ अधिक संख्या मे मिली हैं। पाटलिपुत्र में प्राप्त अधिकांश मूर्तियो की बनावट सारनाथ की मूर्तियों से मिलती हैं।

---

१. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०७-८।

२. वाटर्स कृत ह्वेनसांग।

गुप्तकालीन शिल्पी की छेनी ने पाषाण को स्थायी सौंदर्य, लालित्य और अलंकरण प्रदान किया। "गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहलाने का जो सम्मान प्राप्त है वह मुख्यत: मूर्तिकला के कारण है।"[1] इस-युग की विशेष उल्लेखनीय मूर्तियाँ निम्नलिखित है—

(१) सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा—इस मूर्ति पर गान्धार कला शैली का प्रभाव नही है। इसमे महात्मा बुद्ध को धर्मचक्र प्रवर्तन का मुद्रा मे प्रदर्शित किया गया है तथा उनके मुख पर आध्यात्मिक चिन्तन के भाव हैं। अपने रूप और गुण मे यह मूर्ति अद्भुत तथा अद्वितीय है।

(२) सुलतानगंज की बुद्ध मूर्ति—ताँबे की बनी इस मूर्ति की ऊँचाई साढ़े सात फिट है। तथागत के घुँघराले केशों के पीछे आभायुक्त प्रभामण्डल है। इस मूर्ति के मुख पर करुणा तथा दिव्यता के भाव हैं।

(३) मथुरा की खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति—इस मूर्ति की ऊँचाई सात फिट ढाई इंच है। मुख पर तेज, शान्ति, करुणा, गौरव, आध्यात्मिकता तथा सौम्यता के भाव हैं।

(४) मथुरा की विष्णु मूर्ति—भगवान विष्णु की यह मूर्ति अपनी कलात्मकता में सारनाथ की बुद्ध मूर्ति के समान है। इसमे शीश पर रत्नजटित मुकुट तथा कानो मे कुण्डल धारण किये हुए भगवान विष्णु का शरीर सुडौल तथा मासपेशियो का उभार बड़ा ही स्वाभाविक है।

(५) उदयगिरि की वाराहावतार की मूर्ति—इस मूर्ति की कथावस्तु पौराणिक है। इसमें भगवान विष्णु पृथ्वी को पाताल से ऊपर उठाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।

(६) काशी की कार्तिकेय की मूर्ति—इस मूर्ति में भगवान कार्तिकेय को उनके वाहन मयूर के ऊपर आरूढ़ मुद्रा मे अंकित किया गया है। अलंकरण, आकृति तथा भावभंगिमा के दृष्टिकोण से यह मूर्ति बड़ी ही कलात्मक है।

(७) भगवान शिव की मूर्तियाँ तथा शिवलिंग—गुप्तकाल मे अनेक शिवमूर्तियो तथा शिवलिंगो का भी निर्माण हुआ। इस युग में एकमुखो तथा चतुर्मुखी शिवलिंगो का निर्माण भी हुआ। सारनाथ के संग्रहालय में संरक्षित शिवमूर्ति का शीर्ष तथा करमदण्डा का एकमुखी शिवलिंग, खोह नामक स्थान से प्राप्त शिवलिंग तथा अर्धनारीश्वर को मूर्ति विशेष उल्लेखनीय हैं।

(८) कौशाम्बी की सूर्य मूर्ति—कौशाम्बी की विशालकाय सूर्य मूर्ति मे सूर्य की प्रचण्डता तथा तेज का सुन्दर चित्रण किया गया है।

(९) देवगढ़ के मन्दिर की मूर्तियाँ—देवगढ से प्राप्त भगवान विष्णु की शेषशायी मूर्ति, नरनारायण के तपस्वी रूप की मूर्ति तथा गजग्राह की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इन मूर्तियों की कलात्मकता, भाव प्रदर्शन तथा सूक्ष्मता अद्वितीय है।

(१०) जैन मूर्तियाँ—इस काल में अनेकानेक जैन मूर्तियो का भी निर्माण हुआ। इस श्रेणी की मूर्तियों में मथुरा से प्राप्त भगवान महावीर स्वामी की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। गोरखपुर से भी अनेक गुप्तकालीन जैन मूर्तियों की प्राप्ति हुई है।

(११) अन्य विविध विषयक मूर्तियाँ—गुप्तकाल मे अनेक उन मूर्तियो का भी निर्माण हुआ जिनका विषय धार्मिक नहीं था। इस श्रेणी की मूर्तियो में अनेक स्त्री-पुरुषो, पशुपक्षियो आदि की मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियो का निर्माण पत्थरो, धातुओ तथा मिट्टी द्वारा किया जाता था।

---

१. 'गुप्तकला'—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताएँ

(१) **भद्रता तथा शालीनता**—गुप्तकालीन मूर्तिकला का उद्देश्य मनोरंजन द्वारा तामसिक भावो को उत्पन्न करना नही था अपितु उसका उद्देश्य भद्रता तथा शालीनता द्वारा द्रष्टा के मन-मस्तिष्क में आध्यात्मिक चिन्तन के भावो को उत्पन्न करना था।

(२) **सरलता**—गुप्तकालीन मूर्तियों में जटिलता तथा क्लिष्टता का अभाव है। इस कला की सर्वोपरि विशेषता सरलता तथा बोधगम्यता है।

(३) **आध्यात्मिकता के भावों की अभिव्यक्ति**—वाह्य सौन्दर्य केवल नयनाभिराम होता है जब कि आध्यात्मिकता के भावो का प्रभाव मन-मस्तिष्क पर पड़ता है। गुप्तकालीन मूर्तिकार न आध्यात्मिक चिन्तन की अभिव्यक्ति केवल नेत्रो के लिये ही नही वरन् मन और हृदय के लिये की।

(४) **अनुपातशीलता**—गुप्तकालीन मूर्तियो मे अनुपातशीलता है। इस गुण के कारण ये मूर्तियाँ बडी ही स्वाभाविक है।

(५) **विदेशी प्रभाव की रिक्तता**—गुप्तकाल से पूर्व भारत में विदेशी कला ने प्रवेश कर लिया था। इस प्रभाव द्वारा जिस कला शैली का विकास हुआ—वह गान्धार शैलो के नाम से प्रसिद्ध है। गुप्तकाल मे गान्धार शैली का कोई प्रभाव नही था। इस काल की कला ने प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया।

"गुप्त-युग की मूर्तिकला विशुद्ध भारतीय है, और जो कुछ भी विदेशी तत्व थे, उनको इसने इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि उनकी स्वतन्त्र स्थिति का पता ही नही चलता। गुप्तकालीन मूर्तियों मे आध्यात्मिक कांति और आन्तरिक शान्ति की छटा व्याप्त है। इस दिशा में गुप्तकला मथुरा शैली से बहुत आगे बढ गई है। मूर्तियो के सरस सौन्दर्य और कोमलता को देखकर दर्शक का मन प्रतिमा के साथ पसीजता सा लगता है। मूर्तियो के देखने से आँखो की तृप्ति के साथ आन्तरिक सुख और सन्तोष भी प्राप्त होता है। वे हमे अपने आन्तरिक सौन्दर्य की ओर आकर्षित करती हैं, न कि केवल बाहरी सौन्दर्य पर हमे अटकाये रहती हैं। उन मूर्तियों मे आध्यात्मिकता और बौद्धिकता के सुन्दर सामंजस्य के साथ-साथ आध्यात्मिक भावनाओ की सचेष्टता स्पष्ट अभिव्यक्त है। यद्यपि मानव-शरीर ही कलाकार का प्रधान विषय था, तथापि उसमे उसने पार्थिव सौन्दर्य से अधिक ईश्वरीय सौन्दर्य प्रकट करने मे सफलता पाई है।"[1] *श्री आर० डी० बनर्जी का कथन है*—"गुप्तकालीन कला की आत्मा तो मूलतः भारतीय परम्परा से ओतप्रोत है, इस काल की मूर्तिकला विशेष उल्लेखनीय है जो भारतीय तत्वों के पुनरुद्धार से अनुप्राणित है।"

(६) **राष्ट्रीय शैली का सृजन**—इस काल मे भारतीय कलाकारो ने अपनी एक विशिष्ट मौलिक एवं राष्ट्रीय शैली का सृजन किया था, जिसमे मूर्ति का आकार गात, केशराशि, माँसपेशियाँ, चेहरे की बनावट, प्रभामण्डल, मुद्रा, स्वाभाविकता, आदि तत्वो को ध्यान मे रखकर मूर्ति का निर्माण किया जाता था। यह भारतीय एवं राष्ट्रीय शैली थी।

इसमे "भारत की आत्मा और ऐतिहासिक परम्परा प्रतिष्ठित है। इस समय की मूर्तियाँ अधिकतर बड़े कद की है, जो कुषाण और मौर्य काल की सीध मे हैं; फिर भी इन विशाल

---

१. भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ११२-१३—डा० बी. पी. सिंह।

मूर्तियों में कुषाण-उदाहरणो की अपेक्षा अंगो की रचना अत्यन्त कोमल और कमनीय है। गोल चेहरा, गोल-गोल बाहे, गाल पर ईषत् गढ़ा और नीचे का ओठ कुछ मोटा लटका हुआ, गुप्त-मूर्तियो के विशिष्ट लक्षण हैं; बुद्ध की मूर्तियो मे आभूषणो का अभाव है और बोधिसत्वो की मूर्तियो मे भी साधारण और कम आभूषण हैं। आभूषणो के द्वारा शरीर की सुन्दरता को ढकने की कोशिश नही की गई है और पारदर्शक वस्त्र से नग्नता को छिपाकर शील भावना को प्रकट किया है।"[1]

(७) **अलंकृत प्रभामण्डल**—गुप्तकालीन बुद्ध की मूर्तियो मे शीर्ष के पीछे एक प्रस्तर लगा रहता है। इसे प्रभामण्डल कहते हैं। इस प्रभामण्डल का निर्माण यद्यपि गान्धार तथा मथुरा शैली मे भी होता था, किन्तु उनके चिकने और अलंकृत प्रभामण्डल की अपेक्षा गुप्तकाल में सुन्दर एवं भव्य मनोमोहक अलंकारो से इसे अलंकृत किया गया है।

(८) **कुञ्चित केशराशि**—गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियो मे दक्षिणावर्त कुञ्चित केश राशि और उष्णीष की अपनी विशेषता है। इसके पूर्व गान्धार-कला मे सिर को मुंड़ा हुआ दिखाया जाता था।

(९) **वस्त्रांकन**—गुप्तकालीन प्रत्येक मूर्ति महीन वस्त्र से आच्छादित है, पारदर्शक वस्त्र मे शरीर के प्रत्येक अंश को, उभार को स्पष्ट दिखाया गया है। गुप्तकाल की मथुरा केन्द्र से निर्मित मूर्तियों मे सलवटें भी हैं। अधोवस्त्र कटि से बँधा है। संघाटी दोनो स्कन्धों को ढककर घुटनो तक लटकी हुई मिलती है।

(१०) गुप्तकाल की कला मे बौद्ध मूर्तियो का अधिक निर्माण हुआ है। ये मूर्तियाँ विभिन्न भाव एवं मुद्राओं मे है। बुद्ध की प्रतिमाएँ प्रायः पाँच मुद्राओ मे मिलती हैं—(१) ध्यानमुद्रा, (२) भूमिस्पर्श-मुद्रा (३) अभय-मुद्रा (४) वरद-मुद्रा (५) धर्मचक्र-मुद्रा।

(११) **आदर्श और सौन्दर्य**—गुप्तकालीन कला विदेशी तत्वो को आत्मसात् कर एक समन्वयवादी कला है। इस काल की मूर्तियो में आदर्श और सौन्दर्य का समन्वय है। आदर्श और सौन्दर्य के समन्वय की सर्वोत्तम रचना सारनाथ की बुद्ध मूर्ति है। श्री मजूमदार ने ठीक ही लिखा है—"संक्षेप मे ताल, गति और सौन्दर्य की उच्च भावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श ही गुप्तकालीन मूर्तियो की विशेषता है। उनकी कला और निर्माण मे ओज और सुरुचि टपकती है। गुप्तकालीन कला में बौद्धिकता की प्रधानता है, जिसके कारण उच्च विकसित भावना और अत्यधिक अलंकरण को नियन्त्रित रख सकने मे वह समर्थ हो सकी है।[2]

(१२) **स्वाभाविकता**—गुप्तकाल की कला स्वाभाविक है। "इस युग की मूर्तियो की विशेषता है कि उनके मुख और नेत्रो की मुद्रा शान्त है जो उनके ध्यानस्थ शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्ति-

---

१. 'भारतीय कला को बिहार की देन', पृ० १२५—डा० बी पी. सिंह।

२. In general a sublime idealism, combined a with highly developed sense of rhythm and beauty, characterises the Gupta sculptures, and there are vigour and refinement in their design and execution. The intellectual element dominates Gupta art and keeps under control the highly developed emotional display and the exuberance of decorative elements which characterise the art of succeeding ages." 'एन्शिएन्ट इण्डिया' पृ० ४६०—आर० सी० मजूमदार

करण है। उनके उत्फुल्ल मुख-मण्डल पर अपूर्व-प्रभा, कोमलता, गम्भीरता, शान्ति और स्वाभाविकता है।"[1]

मृण्मयी मूर्तिया

गुप्तकाल की मृण्मयी मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं तथा कलाकार की निपुणता की परिचायक हैं। मानसार में अनेक शिल्पो मे मिट्टी के मूर्तिशिल्प का भी उल्लेख है।[2] इस काल मे मिट्टी की ईंटो से भी मूर्तियाँ बनायी जाती थी।

सारनाथ संग्रहालय मे बुद्ध और बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं का प्रदर्शन करने वाली इस वर्ग की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। एक मृण्मयी मूर्ति मे श्रावस्ती मे बुद्ध के विश्वरूप का प्रदर्शन किया गया है। बुद्ध शिक्षा दे रहे हैं। दायें राजा प्रसेनजित का चित्र है। इस युग की ब्राह्मण देवी देवताओं की मृण्मयी मूर्तियाँ भी मिली हैं। एक मूर्ति के पैर खण्डित हैं। गले मे माला और वक्ष पर 'श्रीवत्स' (चिह्न) अंकित है। भीटा से प्राप्त शिव और पार्वती की मूर्ति गुप्तकाल की मानी गयी है।

इसके अतिरिक्त मिट्टी, ईंट और चूने की अनेक स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ दहपर्वतिया (असम), भीटा तथा सहेत-महेत नामक स्थानो मे मिली हैं। मथुरा मे भी अनेक प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पकी हुई मिट्टी के बैल, हाथी, घोड़े और अन्य खिलौने आदि भी मिले हैं। अनेक कलात्मक मिट्टी की मुहरें वैशाली (बिहार) और भीटा (म० प्र०), राजघाट (वाराणसी) आदि भी प्राप्त हुई हैं।

गुप्तकालीन अन्य शिल्प

गुप्तकालीन अनेक अलकृत प्रस्तर भी प्राप्त हुए हैं। गुप्तकाल के भवनो की सज्जा के लिए व्याल, कीर्तिमुख, गंगा-यमुना और बेल-बूटो का प्रयोग होता था। सारनाथ संग्रहालय मे व्याल की आकृति सहित अनेक प्रस्तर मिले हैं। व्याल आकाश मे उड़ते हुए भी प्रदर्शित किये गये है। गुप्तकालीन शिल्पकला मे सिह-मुख का प्रयोग अलकार के रूप मे हुआ है, इसी सिह-मुख को कीर्तिमुख कहते थे। स्तम्भो और मन्दिरो की ऊपरी चौखट को कीर्तिमुख से अलंकृत किया जाता है। भूमरा और देवगढ़ के मन्दिरो को कीर्तिमुख सुशोभित कर रहे हैं। सारनाथ के स्तम्भों पर भी ऐसी आकृतियाँ मिलती हैं। अलकरण-प्रकार का एक उदाहरण गगा और यमुना की आकृतियाँ हैं। गुप्तकालीन मन्दिरो मे प्रायः सज्जा के लिए द्वार स्तम्भो पर दाहिने परिचारको सहित मकरवाहिनी गंगा और बायी ओर कूर्मवाहिनी यमुना की आकृतियाँ बनी हैं। गुप्तकालीन शिल्पकला मे अनेक प्रकार के बेल-बूटो और ज्योमिति की आकृतियो से मन्दिरो, स्तूपो और भवनो का अलंकरण किया जाता था। धमेख स्तूप (सारनाथ) पर इस प्रकार की सुन्दर सजावट है।[3] कार्ले, भाजा, नासिक और कन्हेरी की गुफा मे गवाक्ष के नमूने उपलब्ध हैं।[4] सारनाथ के संग्रहालय मे गुप्तकालीन एक प्रस्तर का गवाक्ष सुरक्षित है। गवाक्षो के मध्य प्रायः देवता की मूर्ति अथवा कीर्तिमुख की आकृति निर्मित रहती थी।

---

१. 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास', पृ० २१०—लूनिया
२. 'ए डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर', पृ० ६३ —प्रशान्त कुमार आचार्य
३. 'गुप्त-साम्राज्य का इतिहास' पृ० २५६, वासुदेव उपाध्याय।
४. 'एशेंट इण्डिया', प्लेट ४-५।—काड्रिंटन

गुप्तकालीन चित्रकला

गुप्तकाल चित्रकला का स्वर्ण युग था। जिस प्रकार इस युग की वास्तु तथा मूर्तिकला अपने अभ्युदय के शिखर पर थी, उसी प्रकार यह चित्रकला का भी पराकाष्ठा युग था। कालीदास की रचनाओ मे चित्रकला के विषय के अनेक प्रसंग हैं।[1] 'मेघदूत' में यक्ष-पत्नी के द्वारा यक्ष के भावगम्य चित्र का उल्लेख है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का अनुशीलन करने पर विदित होता हे कि चित्रकला का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता था। 'विष्णु पुराण' मे चित्रकला के विभिन्न अंगो का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस समय चित्रशालाएँ भी होती थी। 'कादम्बरी' मे ऐसी चित्रशालाओ के उल्लेख हैं जिनमे देव, दानव, सिद्ध तथा गन्धर्वों के चित्र बने हुए थे। चित्रकला के उपकरणो में तूलिका तथा वर्तिका प्रमुख थे। तूलिका द्वारा रंग भरा जाता था और वर्तिका द्वारा रंग भरने से पूर्व चित्र की रूपरेखा बनाई जाती थी। चित्र बनाने से पहले, दीवार या छत अथवा जिस आधार पर चित्र बनाना होता था, उस पर वज्रलेप किया जाता था। यह गोबर, मिट्टी, भूसी, चूने, सन या जूट के मिश्रण से तैयार किया जाता था। पृष्ठभूमि को चिकना करने के लिये अण्डे के छिलको का प्रयोग भी होता था। इसके उपरान्त वर्तिका द्वारा चित्र की रूपरेखा बनाई जाती थी। गुप्तकालीन चित्रकला विविध विषयक थी। प्रायः धार्मिक और लौकिक विषयो पर तूलिका अधिक चलाई जाती थी।

अजन्ता की चित्रकला

केवल गुप्तकालीन ही नही, वरन् भारतीय चित्रकला की अमर स्मारक अजन्ता की गुफाएँ बम्बई के फरदपुर से ६ किलोमीटर, औरंगाबाद से लगभग १०० किलोमीटर तथा जलगाँव से ५४ किलोमीटर दूरी पर स्थिति हैं। यहाँ की गुफाएँ बड़े-बड़े पर्वतो को काटकर डेढ़ किलोमीटर के अर्द्धवर्गाकार घेरे मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक बनी हुई है। इनका निर्माण तत्कालीन वास्तुकला की श्रेष्ठता का भी प्रमाण है।

अजन्ता का इतिहास—आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला से सभ्य संसार अनभिज्ञ था। एक लम्बे समय तक इसकी गुफाओ मे वन्यपशु तथा सन्यासी आदि निवास करते थे। इस कारण से यहाँ के चित्रो को पर्याप्त हानि भी पहुँची हे। १८१९ ई० मे अनायास ही इन गुफाओ की जानकारी एक अंग्रेज सैनिक टुकड़ी को हुई। तत्पश्चात् मद्रास सेना के मेजर राबर्टगिल को १८४४ ई० मे यहाँ के चित्रो की नकल करने का भार सौपा गया। १९१५ ई० मे लेडी हेरिंघम ने 'अजन्ता फ्रेस्कोज' नामक पुस्तक मे अजन्ता के चित्रो को प्रकाशित किया।

काल निर्णय—अजन्ता की चित्रकला का समय क्या हे? यह प्रश्न विवादास्पद है। विवाद का प्रमुख कारण यह है कि अजन्ता मे चित्रो का अंकन भिन्न समयान्तरो पर विभिन्न शासको के संरक्षत्व और प्रोत्साहन के अन्तर्गत हुआ। डा० वासुदेव उपाध्याय के अनुसार 'अजन्ता के एक चित्र से इन चित्रो के काल निर्णय मे बड़ी सहायता मिलती हे। यह चित्र फारस देश के एक राजदूत का है जो भारत मे चालुक्य पुलकेशिन के दरबार मे आया था।......इससे इस चित्र की तिथि सातवी शती ई० निश्चित होती हें। गुप्त राजा साहित्य और कला के संरक्षक थे तथा कला इस काल मे

---

१. 'अभिज्ञान शाकुन्तलम'—अंक २, ९; रघुवंश—१९, १९।

चरम सीमा को पहुँची हुई थी, अतः यह कहने मे हमे तनिक भी संकोच नही मालूम होता कि अजन्ता के कुछ चित्रो की रचना गुप्तकाल मे अवश्य हुई है।"[1] पर्सी ब्राउन के अनुसार विभिन्न गुफाओं का समय इस प्रकार है—

(१) गुफा न० ९-१०	१०० ई०
(२) गुफा न० १० के स्तम्भ	३५० ई०
(३) गुफा न० १६-१७	५०० ई०
(४) गुफा न० १-२	६२६-६२८ ई०

अजन्ता की गुफाएँ भारतीय-वास्तुकला और चित्रकला के अन्यतम उदाहरण हैं। पर्वत शृंखलाओ को काटकर बनाई गई इन विशाल गुफाओ की भित्तियो, स्तम्भो, छतो पर निर्मित चित्र सैकड़ो वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी यथापूर्व ही आकर्षक है। शुग-सातवाहन युग से लेकर सातवी शती ई० तक निर्मित होने वाले इस कला-मन्दिर के विकास मे शासको, शिल्पकारो तथा चित्रकारों का महान् योग रहा होगा।

शैली एव तकनीक—गुप्तकाल मे दावारो, छतो और वस्त्रो पर चित्रकला का अलकरण होता था। वर्तिका से रेखा खीचने के पूर्व दीवार तथा छत को समतल कर उस पर वज्रलेप (पालिश) लगाते थे। यह गोबर, मिट्टी, भूसी, चूने, जूट और सन के कणो द्वारा तैयार किया जाता था। उसे चिकना करने के लिए अंडे के छिल्के का प्रयोग होता था। समतल भूमि को चिकना कर उसपर चित्रण कार्य प्रारम्भ होता था। तत्कालीन ग्रंथो मे लेप लगाने का विवरण मिलता है।[2] सबसे पहले रूपरेखा बनायी जाती थी। इसके बाद विविध रंग भरे जाते थे। कालिदास के ग्रंथो में चित्रकला की सामग्री का उल्लेख हुआ है।[3]

विषय—गुप्तकालीन चित्रकारो ने मानव जीवन के अतिरिक्त पशु-पक्षियो के जीवन तथा प्रकृति के विभिन्न अंगो का चित्रण किया है। प्रायः चित्र दो प्रकार के हैं—धार्मिक और लौकिक। चित्र मे भगवान बुद्ध तथा बोधि-सत्वो के जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा जातक कथाओ का सुन्दर निरुपण हुआ है। इन चित्रो मे पुरुषो तथा स्त्रियो के शारीरिक गठन, उभार, केश विन्यास, मुखमुद्रा, भावभंगिमा, अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता एवं वस्त्राभूषणो का सफल अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त पशु पक्षियो की आकृतियो, लताओ, पुष्पो, सरिताओ एवं निर्झरो आदि का वास्तविक चित्रण हुआ है।

अजन्ता के चित्रों की विशेषतायें

अजन्ता की गुफाओ मे विहारो व चैत्यो की दीवारो और छतो पर चित्रकारी निर्मित है। अजन्ता मे चित्रकला की परम्परा गुप्तकाल से पहले से ही विद्यमान थी। गुप्तकाल में चित्रकार की कला उत्कृष्टता की चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। चित्रकला के इस उन्नत रूप के पर्याप्त उदाहरण १,२,१६,१७ संख्या की गुफाओ में उपलब्ध है। इनकी चित्रकारी अपने सौन्दर्य, स्फुट अभिव्यक्ति, वर्णरचना, अनुपात एवं प्रभावशाली समन्वय के कारण बड़ी मोहक है। छाया और प्रकाश के चारु-मिश्रण से मूर्तियो के अंग प्रत्यग की सुकुमारता, सुघडता एवं भावभंगी को बडी कुशलता से अभिव्यक्त किया गया है।

---

१. 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' (द्वितीय खण्ड) पृ० २६८—डा० वासुदेव उपाध्याय।

३. भारताचार्य, नाट्यशास्त्र, २, ७२-७४, कुमार सम्भव, ७, १५।

अजन्ता की कला में आध्यात्मिक भावना तथा तत्वज्ञान सम्बन्धी भावना का चित्रण है। इन चित्रों में भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता का अच्छा सामंजस्य है। गुप्त काल की मूर्तिकला यद्यपि जीवन की यथार्थता से अलग हो गई है तथापि चित्रकला मे परम्परा का अच्छी तरह से चित्रण हुआ है। चित्रो को विषय की दृष्टि से तीन भागो में बाँटा जा सकता है—(१) अलंकारिक चित्र, (२) रूपभैदिक चित्र, तथा (३) वर्णनात्मक चित्र।

(१) **अलंकारिक चित्र**—इन चित्रों मे पशु पक्षियो के साथ पुष्पो की वेलें, अलौकिक पशु, राक्षस, नाग, किन्नर, गरुड़, यक्ष, गंधर्व, अप्सरायें, वैल, वन्दर, हाथी एवं लंगूर इत्यादि का अलंकरण के हेतु चित्रण किया गया है। इनमे चित्रो के अलंकरण को महत्व दिया गया है। पहली गुफा में दो लड़ते हुए वैलों का चित्रण किया गया है, ये अपनी शैली की अनुपम कृति मानी गई है।

(२) **रूपभैदिक चित्र**—लोकपाल, बुद्ध भगवान, बोधिसत्व, राजा-रानी इत्यादि का कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। इनमें बुद्ध का चित्रण अभय वरद, तथा वितर्क की मुद्राओ मे किया गया है। भगवान बुद्ध का जन्म, महाभिनिष्क्रमण संबोधि, निर्वाण तथा भगवान बुद्ध के जीवन की अलौकिक घटनाओं को प्रधानता दी गई है। पहली गुफा के पद्मपाणि के चित्र की तुलना ऐंजेलो की कलाकृतियो से की गई है। इस शैली के प्रमुख चित्र मरणासन्न राजकुमारी, श्रृंगार करती हुई राजकुमारी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। 'मातापुत्र' चित्र में भाव को प्रधानता दी गई है, इसमे सामने खड़े हुये भगवान बुद्ध का चित्र बहुत आकर्षक है।

(३) **वर्णनात्मक चित्र**—इन चित्रो में भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित जातकों की कथाओ का चित्रण किया गया है। ये चित्र कई भागो मे बाँटे गये हैं जो घटनाओ के क्रम मे बने हुये हैं। १०वी गुफा का चित्र विशेष महत्व का है इसमें हाथियो के समूह का सुन्दर चित्रण हैं। इनमें सैनिकों एवं नारियो को चित्रित किया गया है। इस चित्र का अधिकांश नष्ट हो गया है। वर्णनात्मक चित्रो मे 'ब्राह्मण जातक', 'शिव जातक', 'मातृपेरु जातक', 'शरभ जातक', 'बुद्ध जन्म', सप्तपदी, तपस्या, निर्वाण आदि के चित्र आते हैं।

अजन्ता के चित्रो में महत्वपूर्ण मनुष्य को वीरत्व अनुपात में मनुष्य आकृति से बड़ा बनाया गया है। जिसके कारण चित्र के दृश्य में महत्वपूर्ण व्यक्ति के प्रति ध्यान आकर्षित होता है। अजन्ता के चित्र विषय को स्पष्ट करने मे बहुत सफल है। कल्पना में यहाँ की कला भावुकता से युक्त है। ये देखने वाले की भावना को बहुत ऊँचा उठा देती है। यहाँ के चित्रो में हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय के धर्म सिद्धान्तो को बहुत सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। भावो को व्यक्त करने की कुशलता अजन्ता के चित्रो की आत्मा है, इनके बिना ये चित्र निष्प्राण से लगेंगे। यहाँ के चित्रो में भावमय अभिनय भी दिखाया गया है एवं मानव के अंग तथा जड़ पदार्थ के अंग भावो का सृजन करते हुए दिखाये गये हैं। चित्रो की मुद्रायें आशा, निराशा, सर्वनाश, भय, त्याग, करुणा इत्यादि भावो को व्यक्त करती हैं। चित्रो की भाव विधान आन्तरिक प्रेरणा ही चित्रो का सजीव रूप है।

अजन्ता के चित्रो का आकलन गतिवान है। ये बिना परिश्रम के बनाये गये मालूम होते हैं। आकृतियो की मुद्रायें प्रभावशाली तथा वैभव चित्रो में शरीर विज्ञान की रचना की सफलता में कोई कमी नही दिखती है। अजन्ता के चित्रो का विशेष गुण उनकी रेखा के रूपान्तर मे है। अजन्ता के चित्रों में रेखाओ एवं तूलिका दोनो को ही महत्व दिया गया है। यहाँ पर भावपूर्ण रेखायें विलास तथा श्रृंगार से एकदम भिन्न हैं। रेखा केवल आयतन को दिखाने के लिये प्रयोग में लाई गई है।

अजन्ता का कला मडा अलिखनों मे भरा हुआ है। इन आलेखनो मे मानव, पशु, पक्षी, हाथी, फल एवं फूल आदि का लयात्मक रेखाओं के द्वारा चित्रण किया गया है। १०वी तथा ६वी गुफाओं में रेखाओ का प्रयोग नही किया गया है। जैसे मुँह एवं हाथ मे रेखाओ का प्रयोग नही किया गया है। १५वी एवं १६वी गुफा मे भी रेखा का प्रयोग नही किया गया है। परन्तु पहली गुफा के चित्रों मे रेखाओ द्वारा ही सोचा गया है। इन सबसे यह पता चलता है कि इन कलाकारों को रेखाओं को बनाने का अच्छा ज्ञान था। इसके द्वारा वे अपने भावों को बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त कर सकते थे। तत्कालीन चित्रकार इन्ही रेखाओ द्वारा प्रतिमाकन, प्रभावोत्पादकता, उभार, स्थिति, छाया एवं प्रकाश तथा दूसरी विशेष बातो को कला मे आसानी से व्यक्त कर लेते थे। इसका उदाहरण पहली गुफा के बायो ओर के बोधिसत्व अविलोकितेश्वर का चित्र है। यहाँ पर राजकुमार सिद्धार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए महल को छोड़ते हुए चित्रित किये गये हैं, इसमें सिद्धार्थ की आकृति मानवाकार से बडी बनायी गयी है। यह थोड़ी झुकी हुई है और इसके दाहिने हाथ में नीला कमल है, मुँह पर दु.ख का भाव है। यह देखने वाले को भगवान बुद्ध के अपने सामने खड़े होने का भास कराती है। कंधो तथा हाथो का रेखाकन बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट है। यहाँ पर रेखायें साफ हैं, भौंहे भी सादी लहरो के समान रेखा द्वारा बनायी गयी हैं। यह अकेली आकृति लय के भावों को दिखाती है।

काल चक्र के कारण अजन्ता के चित्रो के रंगो की कोमलता तथा हलके रंगों का प्रयोग बहुत कुछ नष्ट हो गया है। रंगो के भागो के गुणो का विवेचन कलाकार द्वारा १७वी गुफा में महाममसा जातक (भगवान बुद्ध की जन्मकथा) की कहानियो मे बहुत सुन्दर ढंग से गुलाबी एवं स्लेटी रंगों की शुद्ध प्रकृति द्वारा किया गया है। इसमे रंगो की व्यवस्था बहुत सुन्दर है। अजन्ता के भित्ति-चित्रो की शैली में अमिश्रित रंगो तथा भित्ति चित्रो का सम्मिश्रण है। इन चित्रो मे रंगों के द्वारा छाया एवं प्रकाश, प्रतिमांकन, प्रभावोत्पादकता तथा उभार सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। "अजन्ता के रंग इसी विस्तार के अन्य देशो के प्राचीन चित्रो की अपेक्षा अधिक गहरे एवं शुद्ध है।"[1] इन चित्रो मे स्थानीय मिट्टी तथा पत्थर द्वारा बनाये रंगों का प्रयोग किया गया है जिनमे गेरु, मुलतानी मिट्टी, रामरज, काजल, हरा रंग और नीले रंग का प्रयोग किया गया है। नीले रंग के लिए नीले पत्थर का प्रयोग किया है। परन्तु नीले रंग का प्रयोग बहुत ही कम स्थानो पर किया गया है विशेषकर यह रंग चौथी-पांचवी शताब्दी के चित्रो मे ही दिखता है। यहाँ पर भूरे रंग का प्रयोग अधिक हुआ है। उस समय कलाकारो को बहुत ही कम रंग मिल सके थे इस कारण इन चित्रो में बहुत ही कम रंगो का प्रयोग दिखता है। अजन्ता के चित्रो को बनाने से पहले स्थल को पानी से गीला कर लिया जाता था, फिर इन रंगो का हल्का तथा गहरा रंग उनमे आवश्यकता-नुसार भर दिया जाता था।

६वी गुफा के चित्र सबसे पहले के है परन्तु उनमे भी कला अपनी चरम सीमा पर दृष्टिगत होती है। उनमे चित्रो की प्रारम्भिकता नही दिखती हैं। अजन्ता के इन प्रारम्भिक चित्रो में चित्र की साधारण तथा गहन शैली को बढ़ावा दिया गया है। यहाँ पर भावना तथा ओजस्वी रूपरेखा के

---

१. श्री एक्सेल जार्ज।

द्वारा चित्रो की शैली सफलता पूर्वक व्यक्त की गई है। इन चित्रो में रूढ़िवादिता केवल अलंकारिक चित्रो में ही दिखती है फिर भी चित्रो मे मौलिकता है।

१०वी गुफा के खम्भे पर अकेली आकृति बनी हुई है जिसका कपडा गांधार शैली में बना है और उसकी मुद्रा सादी है। अजन्ता के चित्रो मे आकृतियो की परछाई नही दिखाई गई है, ऐसा प्रतीत होता है कि आकृतियाँ अपने हो प्रकाश से प्रकाशमान है, केवल कही-कही प्रकाश तथा छाया को प्रयोग में लाया गया है। जहाँ पर उनकी आवश्यकता है वही पर उनका प्रयोग किया गया है। अजन्ता के चित्रों मे नारी के आदर्श रूप का चित्रण किया गया है पर नारी रूप को गौरव तथा गरिमा से ओत प्रोत बनाया गया है। यहाँ के चित्रो मे स्त्री के बालों को भिन्न-भिन्न प्रकार से बनाये दिखाया गया है। परियो का चित्रण भी बहुत सुन्दर किया गया है, उनके उड़ने की मुद्रा बहुत प्रभावशाली है। कपड़े, झालरें तथा पताकायें सब पीछे की ओर उड़ते से लगते हैं। इनमे नाटकीय भावना अधिक है इस कारण से क्रियाओ से भरे हुए हैं। इसका उदाहरण १७वी गुफा के भगवान बुद्ध के जन्म, मृत्यु तथा जीवन से सम्बन्धित चित्र है। १६वी तथा १७वी गुफा के चित्र छठी सदी की बौद्ध कला को दिखाते हैं।

अजन्ता चित्रकला की समालोचना

अजंता की चित्रकला मे स्वाभाविकता, सादगी, सौम्य, औचित्य एवं सौदर्य की भावना है। "अजंता के भित्ति चित्रो में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उल्लास, उत्साह, चिंता और घृणा आदि विविध प्रकार के भाव, शात, तपस्वियो और राजाओ से लेकर खूंखार बाघ निर्दय बधिक, साधुवेशधारी धूर्त, शिकारी, नतंक-गायक, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत रमणियाँ और सभी प्रकार के मनुष्य, ध्यानावस्थित बुद्ध से लेकर प्रणय-क्रीडा में रत दम्पत्ति तथा शृङ्गार मे संलग्न स्त्रियाँ आदि समस्त मानव जीवन के कार्यकलाप अकित हैं।" अजंता की कलाकृति इतनी पूर्ण, इतनी निर्दोष, इतनी सजीव तथा इतनी मुखरित है कि इसे संसार की सर्वश्रेष्ठ कला माना गया।

अजन्ता की चित्रकला को इतिहास मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। संसार मे विभिन्न भागो से केवल यात्री ही नही, वरन कलामर्मज्ञ भी इस कला से चक्षुतृप्ति तथा प्रोत्साहन लेने भारत आते हैं। इस कला के विषय मे भारतीय तथा विदेशी विद्वानो ने अपनी सम्मतियाँ अभिव्यक्त की हैं।

"अजन्ता की चित्रकला मे स्वाभाविकता है, जीवन है, सादगी है, साम्य है, औचित्य है, तथा सबसे बढ़कर उन चित्रकारो की सौन्दर्य-भावना है। अजन्ता के चित्रकारों ने कभी कुरुचिपूर्ण चित्रों की कल्पना ही नही की। उनकी रसभावना इतनी रुचिकर है कि वीभत्स और कुरूप चित्रों की वे कभी कल्पना ही नही कर सकते थे। उनके चित्र स्वाभाविकता से पूर्ण हैं। चित्रो में इतना जीवन है मानो वे अभी बोलने को तैयार बैठे हैं। इन चित्रो मे यद्यपि अलंकरण विधान की ओर रुचि अवश्य दीख पड़ती है परन्तु वह कभी भद्देपन की सीमा को नही पहुँचती है। औचित्य का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। माता और पुत्र वाले चित्र मे दीनता, दया तथा दरिद्रता का जैसा सुन्दर प्रदर्शन किया गया है, उसे कला मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। जुलूस वाले चित्र मे स्त्रियो की सुन्दरता अनुपम एवं अलौकिक है।......यदि अजन्ता के चित्रो को हम तूलिका से अभिव्यंजित मनोरम कविता कहें तो कुछ अनुचित न होगा।"[1]

१. 'गुप्त-साम्राज्य का इतिहास' भाग २, पृ० ३१०—डा० वासुदेव उपाध्याय

"अजन्ता के चित्र रेखा, वर्ण और भाव इन तीनो दृष्टियो से दिग्गज चित्रकारो की कृतियाँ है। उन्होने समस्त एशिया महाद्वीप की कला को प्रभावित किया है। दक्षिण की सित्तन्न-वासल (सिद्धनिवास) गुफा, सिंहल की सिंहगिरि गुफा (सिगरिया), मध्य एशिया मे खोतन, मीरान, तुर्फान एवं त्वुनह्वान की सहस्र बुद्ध गुफाओ से मिले हुए चित्रो पर अजन्ता शैली का गहरा प्रभाव है। मीरान के भित्ति चित्रो पर वेस्सन्तर जातक का दृश्य चित्रित है।...... दंदान ऊलिक के एक भित्ति चित्र मे पद्मवन-विहारिणी एक नारी की बहुत ही भावात्मक मूर्ति है। उसका जघन भाग चौडी मेखला से अलंकृत है। पास में एक उत्कंठित बालक उसकी जाँघ से लिपट रहा है। चित्र लगभग सातवी शताब्दी का है और वह सब प्रकार से प्रथम श्रेणी के चित्रकार की उत्कृष्ट रचना है जिसके रेखाकन और रंगों की खुलाई में अजन्ता की छाप स्पष्ट है। इस प्रकार एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र मे अजन्ता की चित्र शैली लगभग चौथी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक भारत और वृहत्तर भारत की चित्र शैली को अनुप्राणित करती रही।[१]

पुरातत्त्ववेत्ता सर आरेल स्टाइन—"पूर्वी कला तथा बुद्ध-धर्म के विद्यार्थी के लिए भविष्य मे होनेवाले अनुसधानो के द्वारा अजन्ता के चित्रो की महत्ता संभवत: अतिक्रमण नहीं की जा सकती।"[२]

लारेंस बिनयान—"अजन्ता की कला एशिया तथा एशिया की कला के लिए वह विशेष महत्ता रखती है जो कि एसिसी, सीना और फ्लोरेंस की कला यूरोप तथा यूरोपीय कला के लिए... बुद्ध-धर्म के द्वारा निर्मित अजन्ता की चित्र-कला बची हुई एक महान् विभूति है।"[३]

ग्रिफिथ महोदय लिखते हैं—"जिस मस्तिष्क ने अजन्ता के चित्रो की कल्पना और रचना की, उसकी अवस्था मे तथा चौदहवी शताब्दी मे इटालियन चित्रो को बनाने वाले चित्रकारो के दिमाग की अवस्था मे बहुत कुछ समानता है। इन चित्रो को जिस किसी ने बनाया हो, वे लोग सांसारिक अवश्य होंगे।......दैनिक जीवन के जो चित्र इन दीवालों पर अंकित हैं वे ऐसे ही पुरुषो द्वारा बनाये गये होंगे, जिनकी निरीक्षण शक्ति बड़ी तीव्र और स्मरणशक्ति चिरस्थायी थी।[४]

---

१. 'कला और संस्कृति', पृ० २३७-३८—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल।

२. "It is most unlikely that their value for the student of Eastern art and of Buddhism will ever be surpassed by any descoveries still possible in the future."—एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कोलाजिकल डिपार्टमेंट ऑफ निजाम्स डोमिनियन, फार १९१८-१९।

३. "The frescoes of Ajanta have for Asia and the history of Asian art the same outstanding significance that the frescoes of Assisi, Siena and Florence have for Europe and history of European art......Ajanta is the one great surviving monument of the painting created by Buddhist faith and fervour." 'अजन्ता फ्रेस्कोज'—लेडी हर्मिघम।

४. "The condition of mind which originated and executed these paintings of Ajanta must have been very similar to that which produced the early Italian paintings of the 14th century, as we find much that is common to both· Whoever were the authors of these paintings they must have constantly mixed with the world...These paintings must have been done by men of keen observation and retentive memories."

'पेन्टिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव्स एट अजन्ता'—ग्रिफिथ

बाघ की चित्रकला

इंदौर से सौ मील दूर मालवा-गुजरात सीमा पर बाघ गाँव के निकट बाघ नदी के तट पर स्थित अजन्ता के समान ही गिरि गुफाएँ हैं, जिनमे विहार और चैत्य हैं। इन गुफाओं की संख्या नौ है और ये लगभग ७०० मीटर की दूरी तक विस्तृत है। गुफा संख्या दो मे चित्रकला के चिह्न पाये गये। गुफा संख्या ४, जो रंगमहल के नाम से विख्यात है, मे मनोहारी और भावप्रद चित्रकला के दर्शन होते हैं। गुफा संख्या चार और पाँच मे चित्रकारी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित मिलती है। सुरक्षित चित्रो की संख्या छ. है। पहले दृश्य में दो स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। इनमे एक स्त्री दुखी है और दूसरी उसकी करुण कहानी सुनकर उसके साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखायी गयी है। दूसरे दृश्य में चार पुरुष बैठे शास्त्रार्थ कर रहे हैं। तीसरे दृश्य के ऊपरी भाग में छ पुरुष उड़ते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। संभवतः ये ऋषि और अर्हत है। निचले भाग मे पाँच नर्तकियो के सिर दिखलायी पड रहे है। चौथे दृश्य में गायिका-स्त्रियो के दो समूह दिखाई पड़ रहे हैं। साथ मे एक नर्तक है। इस दृश्य का अंकन अत्यन्त मनमोहक है। पाँचवें दृश्य में अश्वारोहियो के जुलूस का दृश्य है। इनका शिरस्त्राण विशिष्ट प्रकार के है। छठे दृश्य मे हाथियो का जुलूस चित्रित है। कुछ सवार ध्वज धारण किये हैं। सभी चित्र हृदयग्राही और जीवन्त है।

बाघ के चित्र भाव प्रधान हैं। लगता है चित्रकार ने आह्लादित एवं भाव-विभोर होकर उनका निर्माण किया था। सर जान मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी की कलात्मकता अजन्ता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नहीं है। इन चित्रो की रचना-शैली विशेष महत्व रखती है। मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रण करती है। साथ ही वे उन अव्यक्त भावो को स्पष्ट करती है जिनको प्रकट करना उच्च कला का ध्येय है।[1] अजन्ता के विपरीत बाघ के चित्रो को चित्रित करने की कल्पना एवं निर्माण एक ही समय किया गया। उनको देखने से एक समष्टि का भाव उत्पन्न होता है। हैवेल के अनुसार बाघ के चित्रो मे अनुपात एवं औचित्य का बड़ा ध्यान रखा गया है। अजन्ता के चित्रो का विषय प्रमुखतः धार्मिक है, मनुष्य के लौकिक जीवन का चित्रण गौण है। इसके विपरीत बाघ के चित्रो के विषय मे मुख्यत. मानव के चित्रो मे अद्भुत सौन्दर्य, कलाकार की अलौकिक शक्ति, हृदय के स्वर्गीय आनन्द की दिव्य-ज्योति प्रस्फुटित होती है।

बाघ मे नौ गुफायें है परन्तु केवल चौथी तथा पाँचवी गुफाओ के चित्र ही आज स्पष्ट हैं। पहली गुफा गृह गुफा, दूसरी पाडुव गुफा, तीसरी हाथी खाना गुफा, चौथी रग महल गुफा के नामो से प्रचलित हैं। चौथी गुफा की अनेक प्रतिलिपियाँ आज भी प्राप्त है। चौथी एवं पाँचवी गुफा मिला कर २२० फीट लम्बा बरामदा है, जिसमे बीस खम्भे हैं। छठी गुफा के भी कुछ चित्र ठीक है, सातवी, आठवी तथा नवी गुफा के चित्र पूर्णतः नष्ट हो गये हैं। बाघ के चित्र भी कई कलाकारो द्वारा बनाये जान पड़ते है। इस कारण इनमे भी अजन्ता के चित्रो के समान कई शैलियाँ दिखती है एवं उनके चित्रो मे विविधता है। इनमे स्थानीय पत्थरो एवं मिट्टी से बनाये रंगो का ही प्रयोग किया गया है। इन गुफाओ मे प्रकृति, पशु-पक्षियो एवं मानव का चित्रण बहुत ही सुन्दर एवं सजीव किया गया है। इन चित्रो की रेखायें, रंग आदि बहुत सजीव हैं।

---

१. 'दि बाघ केव्ज' पृ० १७१—सर जॉन मार्शल।

चित्रों की विशेषतायें—बाघ के कुशल कलाकारो ने बौद्ध धर्म के विषयों के चित्रण में अजंता के समान ही सफलता प्राप्त की है। आकृति के भावों को कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। यहाँ पर कमल के फूल का चित्रण भारतीय चित्रकला की परम्परा का अनुसरण करता दिखता है। यहाँ पर चित्रों के अलंकरण को महत्व दिया गया है। नारी का चित्रण भी अजन्ता के चित्रो से कम नही दिखता है इस कारण यह कहा जा सकता है कि ये चित्र अजन्ता की चित्रकला से अलग नहीं हैं।

डा० वासुदेव उपाध्याय के अनुसार—"वाघ की चित्रकला भारतीय इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि अजन्ता की चित्रकला अनुपम तथा अलौकिक है तो वाघ की चित्रकारी उससे कम नही है। बाघ के चित्र भाव-प्रधान हैं, उनमें भाव-व्यंजना की एक अजीब शक्ति है। चित्रकार के हृदय के स्वर्गीय आनन्द तथा भावो की लहर बाघ के चित्रो मे लहराती मिलती है। चित्रकार के हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा, उसको उसने इन चित्रों मे अभिव्यक्त किया है। इन चित्रो में औचित्य का बड़ा ही ध्यान रखा गया है। सर जान-मार्शल का मत है कि बाघ की चित्रकला अजन्ता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नही है। इन चित्रो का रचना प्रकार अपना विशेष मूल्य रखता है। बाघ के चित्र जीवन की दैनिक घटनाओ से लिये गये हैं। परन्तु वे जीवन की मर्च्चा घटनाओ को ही केवल चित्रित नही करते वल्कि उन अव्यक्त भावो को स्पष्ट करते हैं जिनको प्रकट करना उच्चकला का ध्येय है।"

बाघ की चित्रकला की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध कलाविद् श्री हैवेल का कहना है कि बाघ के चित्रो मे औचित्य का विशेष ध्यान रखा गया है। बाघ की चित्रकला में वड़ी-छोटी वस्तुओं का उचित प्रयोग व अनुपात के मिश्रण से दर्शक के नेत्रो के समक्ष एक सर्वांगपूर्ण चित्र खड़ा हो जाता है। इसी कारण बाघ के चित्र चित्रकला के अनुपम आदर्श है।

बादामी के गुफा चित्र

ये गुफाएँ वम्वई प्रात मे ऐहोल नामक स्थान के पास स्थित हैं। ये चालुक्य राजाओ द्वारा बनाई गई थी। इसका प्रमाण बादामी की तीसरी गुफा के समय ५७८ ई० से मालूम होता है। इन चित्रों का समय भी अजन्ता के चित्रो का ही समय माना गया है। इन गुफाओ के चित्र शैव धर्म के माने गये हैं परन्तु सामाजिक एवं ऐतिहासिक घटनाओ का चित्रण यहाँ अधिक मिलता है। यहाँ के अधिकांश चित्र नष्ट हो गये हैं फिर भी ये चित्र दर्शको को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इन चित्रो से प्राचीन परम्परा का ह्रास होता जान पडता है। इनमें अनुपात का उपयोग भी बहुत कम किया गया है। यहाँ रंग भी सीमित लगे हैं। आकृतियो मे प्रखरता है। यहाँ के चित्रो में चालुक्य कला का प्रभाव है परन्तु विष्णु की आकृति गुप्त काल के दिखती है। यहाँ के गुफा मन्दिरो के भित्ति चित्र अपने समय की सब से अच्छी कृतियाँ मानी गई हैं। यहाँ पर भी नारी का चित्रण उच्च कोटि का किया गया है। एक चित्र मे नृत्य की मुद्रा में नग्न शिव का चित्रण किया गया है। यह भाव युक्त है। इस चित्र में नृत्य का पूरा आनन्द मिलता है, एवं इस चित्र का विषय शिव तथा पार्वती का प्रणय है। एक अन्य चित्र में विरह युक्त स्त्री का चित्रण है एवं एक दूसरे चित्र मे राज समाज के नृत्य का चित्रण है। इसमे राजा एवं रानी सिंहासन पर बैठ कर नृत्य का आनन्द ले रहे हैं एवं दासियाँ उनके पीछे खड़ी हैं। यह वहुत सुन्दर चित्र है। एक अन्य चित्र

में कुछ स्त्रियाँ झरोखे से देखती चित्रित की गई हैं, ये एक किशोर युवक से मजाक कर रही जान पड़ती हैं। इस चित्र में भी भाव को प्रधानता दी गई है।

एलोरा

यह अजन्ता से ५० मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ पूरे पहाड़ को काट कर एक सुन्दर मन्दिर बनाया गया है। इनका समय ८ वी शताब्दी के बीच का माना गया है। यहाँ अपने ढंग की अलग ही चित्रावली है। इन भित्ति चित्रो मे कैलाश नाथ, लंकेश्वर, इन्द्रसभा तथा गणेश भगवान के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि एलोरा के चित्रो के बनाने के बाद अजन्ता की शैली का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ होगा।

यहाँ के सभी मन्दिर बाहर एवं भीतर से चित्रित हैं। इन आकृतियो के चेहरे सवा चश्म बनाये गए हैं एवं नाक बहुत लम्बी बनाई गई हे। दूसरी आँख चेहरे के बाहर निकली हुई दिखाई गई है। यहाँ पर बादलो के चित्रण में अजन्ता का सौदर्य नही मिलता है। इन चित्रो मे गति स्पष्ट परिलक्षित होती है।

यहाँ के चित्रो मे कमल का आलेखन भी है जिसमें हाथी, मछली, फूल एवं अप्सराओ का चित्रण किया गया है। इन चित्रो के चारो ओर चौडा हाशिया है जिनमें अनेक दृश्य चित्रित हैं। यहाँ पर देवबालाओ की आकृतियाँ प्रशंसनीय हैं। यहाँ पर कुछ जैन विषय के भी चित्र बने हैं। यहाँ पर चित्र निरन्तर न हो कर अलग-अलग हाशिये मे बँधे हैं।

सिजिरिया (लंका) के बौद्ध भित्ति चित्र

पाँचवी शताब्दी के कुछ भित्ति चित्र अजन्ता के समान के ही सिजिरिया (लंका) के पहाड़ी किलों से भी प्राप्त हुए हैं। सिजिरिया के भी चित्रो में अजन्ता के चित्रों के समान ही रेखा चित्रों को बारीकियो के साथ बनाया गया है। ये भित्ति चित्र हैं। इनमे गीली सतह पर चित्र बनाये गये हैं। यहाँ पर हाथो में फूल या फल अथवा कोई वाद्य यंत्र लिये नारी का चित्रण किया गया है। ये चित्र बहुत सजीव एवं सुन्दर बने हैं। हर चित्र में हाथो की मुद्रा बहुत सोच कर बनाई गई है। साथ ही लम्बी एवं नुकीली अंगुलियो को बहुत सुन्दर बनाया गया है। कलाकार का परिवर्तन इन चित्रो मे कई स्थानो पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ पर अप्सराओ का चित्रण है जिनके नीचे का भाग बादलो मे छिपा दिखाया गया है। ये अप्सरायें राजकुमारियों की तरह बनाई गई हैं साथ मे दासियों को फूलो की थालियाँ लिये दिखाया गया है।

सिजिरिया के चित्र कौशल में अजन्ता के चित्रो की बराबरी नही करते हैं परन्तु अभिव्यक्ति मे वे अजन्ता के चित्रो के समान ही हैं। यहाँ पर भी रेखायें अजन्ता के चित्रो के समान ही भाव को दिखाती हैं तथा तूलिका का प्रयोग विश्वासपूर्वक किया गया है। उनकी विशेषता तूलिका को गतिवान ढंग से चलाने मे है, यह तूलिका उसी ढंग से चलायी जान पडती है जैसे शिल्पकला में छेनी चलाई जाती है। इनमें एकदम से प्रवर्त्तकता भी दिखती है। ये चित्र कलाकार के व्यक्तित्व को दिखाते हैं, विशेषकर काम करने की तीव्रता मे यह स्पष्ट है। यहाँ आकृतियो का प्रतिमांकन देखने लायक है। यहाँ पर एक स्थान पर बीस नारियो का भावपूर्ण चित्रण है जो सिजिरिया का महत्वपूर्ण भित्ति चित्र माना गया है।

सित्तानवासन के गुफा चित्र (भित्ति चित्र)

सित्तानवासन की गुफायें मद्रास जिले मे तंजावूर एवं पुद्दूकोट्टै के पास कृष्णा नदी के कछार पर बनी हैं। इनकी खोज १९३४ ई० मे एम० जोवेयनडूब्रविल द्वारा की गई। यहाँ पर गुफा मन्दिर मिले हैं, जिनके अवशेषो से पता चलता है कि उनके भित्ति चित्र बहुत उच्चकोटि के हैं। इन चित्रों की शैली अजन्ता के चित्रो की शैली के समान है। ये विषय मे जैनधर्म के हैं परन्तु इनकी शैली बौद्ध शैली है। इन जैन चित्रो को उनकी सुन्दरता के कारण महत्व दिया गया है। यहाँ पर आकृतियों के भाव-प्रदर्शन की मुद्रायें बहुत मोहक है।

अजन्ता एवं बाघ के गुफा चित्रो के समय का ठीक से पता नही है, केवल कुछ चित्रो के ऐतिहासिक घटनाओ के चित्रण के कारण उनके समय का अनुमान किया गया है, परन्तु सित्तानवासन के गुफा चित्रो का समय ठीक से मालूम है। इन्हे राजा महेन्द्र वर्मा के राज्य-काल मे ६००-६२८ ई० के बीच का बना बताया गया है।

पहले सित्तानवासन का यह मन्दिर पूरा चित्रो द्वारा अलंकृत था परन्तु इन चित्रों का अब कुछ ही भाग ठीक है। ये चित्र छत तथा खम्भो के ऊपरी भागो मे बने हैं। दालान की छत पर तालाब एवं उसके बीच मे कुछ कमल के फूलो का चित्रण है जिनके बीच मे मगर, घोड़े, हाथी, भैंस तथा तीन आकृतियो का हाथ मे कमल की डंडी लिये चित्रण किया गया है। यह चित्र बहुत सजीव है तथा जैन धर्म की किसी कथा से सम्बन्धित जान पडते थे। खम्भों पर विशेषकर नारी के नृत्य की मुद्राओ का चित्रण है। यहाँ चित्रो में रेखाओ की स्वतन्त्रता तथा तीव्रता विशेषकर दिखाई पड़ती है।

यहाँ पर एक युगल का चित्र बना है जिसमे पुरुष के मुख से अभिजात्य तथा सम्मानित व्यक्ति का भास होता है, उसके बायें हाथ पर उसकी प्रेमिका का चित्र बना हुआ है। कुछ लोग इसे राजा महेन्द्रवर्मा एवं उसकी रानी का चित्र बताते हैं। इस चित्र में कलाकार की सफलता उल्लेखनीय है।

यहाँ के चित्रो मे प्राचीन परम्परा का पूर्ण विकास देखने को हमें मिलता है तथा चित्रो में बहुतायत से अलंकरण किया गया है। यहाँ पर विषय को स्पष्ट करने मे चर एवं अचर दोनो को महत्व दिया गया है। इनकी रेखायें भावपूर्ण, गतिमय एवं प्रवाहयुक्त गुणों को अजन्ता के चित्रो के समान ही दिखाती हैं।

एलिफेंटा

इसका वास्तविक नाम धारानगरी है। इसे यह नाम पुर्तगालियो द्वारा यहाँ पर बने पत्थर के हाथी के कारण दिया गया था। यहाँ पर हिन्दू धर्म का विषय लिया गया है न कि बौद्ध धर्म का और इसी कारण यहाँ पर हिन्दू देवी देवताओ की मूर्तियो की भरमार है। ये मन्दिर पहाड़ियो को काट कर बनाये गये हैं। यहाँ पर नौ बडी प्रतिमायें हैं जो भगवान शंकर के विभिन्न रूपो तथा क्रियाओ को दिखाती हैं। इनमें शिव की 'त्रिमूर्ति' प्रतिमा सबसे आकर्षक है। यह २३ या २४ फीट लम्बी तथा १७ फीट ऊँची है। इस मूर्ति मे भगवान शंकर के तीन रूपों का चित्रण किया गया है। इस मूर्ति में शंकर भगवान् के मुख पर अपूर्व गम्भीरता दिखती है, इसमे नीचे का ओठ मोटा एवं निकला हुआ है। यह मूर्ति विशेष महत्वपूर्ण मूर्ति मानी गई है। दूसरी मूर्ति शिव के 'पंचमुखी परमेश्वर' रूप की है जिसमे मुख पर शांति तथा सौम्यता का

राज्य है। एक अन्य मूर्ति शंकर के अर्धनारीश्वर रूप की है जिसमें दर्शन तथा कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। इस प्रतिमा मे पुरुष तथा प्रकृति की दो महान शक्तियों को मिला दिया गया है। इसमें शंकर तन कर खड़े दिखाये गये हैं तथा उनका हाथ अभय मुद्रा में दिखाया गया है। उनकी जटा से गंगा, यमुना एव सरस्वती की त्रिधारा वहती हुई चित्रित की गई हे। एक मूर्ति सदाशिव की चोमुखो में गोलाकार हे। यहाँ पर शिव के भैरव रूप का भी सुन्दर चित्रण किया गया है तथा ताडव नृत्य की मुद्रा में भी शिव भगवान् को दिखाया गया है। यह मूर्ति भी विशेप महत्वपूर्ण है। इस दृश्य में गति एवं अभिनय हे। इसी कारण वहुत लोगो के विचार से एलिफेंटा की मूर्तियाँ सबसे अच्छी तथा विशिष्ट मानी गई हैं। यहाँ पर शिव एवं पार्वती के विवाह का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

गुप्तकालीन चित्रकला की समीक्षा

गुप्तकाल से पूर्व, भारतीय चित्रकला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। सिन्धु घाटी से अनेक सकेतात्मक चित्रो की प्राप्ति इस वात का प्रमाण है कि भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक चरणो मे चित्रों द्वारा विचारो का आदान-प्रदान किया जाता था। एक प्राचीन पारस्परिक कथानक के अनुसार ब्रह्मा ने चित्र वनाकर उसमे प्राण संचार कर दिये थे। रामायण तथा महाभारत के अनेक प्रसंगो मे चित्रकला के विविध उदाहरणो का उल्लेख किया गया हे। छठी शताब्दी ई० पू० के एक साहित्यिक उल्लेख मे चित्र-लेखा को एक अद्भुत चित्रकार वताया गया है। ये सभी कथानक इस बात के प्रमाण है कि गुप्त चित्रकला के पूर्व भारतीय चित्रकला पर्याप्त विकास कर चुकी थी। गुप्तकाल विविधताओ की सम्पूर्णता की पराकाष्ठा का युग था। राजनीति, प्रशासन, समाज, आर्थिक तथा राष्ट्रीय चेतना के इस युग मे विविध .ललित कलाओ के समान चित्रकला ने भी स्वर्ण युगीन होने का गौरव प्राप्त किया। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस काल के चित्रकला प्रधान केन्द्रो तथा विविध चित्रो द्वारा हमे तत्कालीन चित्रकला के अनेकानेक रूप, अंग तथा भेद मिलते हैं।

कला समालोचकों का कथन है कि गुप्त चित्रकला में रूपरेखा की कोमलता, रंगो की प्रतिभा तथा भावाभिव्यक्ति की वहुलता है। इन लक्षणो ने गुप्त चित्रकला को चिरस्थायी बना दिया। एक डेनिश कलाकार के अनुसार 'ये विशुद्ध भारतीय कला के उच्चतम विकास के द्योतक हैं और सम्पूर्ण चित्र से लेकर छोटे से छोटे पुष्प या मोती तक सभी कुछ अन्तर्दृष्टि की गहराई तथा तकनीकी कुशलता के प्रमाण है।"

कतिपय विद्वानो का मत है कि गुप्त चित्रकला पर विदेशी प्रभाव है। डा० स्मिथ ने लिखा है "जो कोई व्यक्ति अजन्ता की चित्रकला का आलोचनात्मक अध्ययन करेगा—वह स्पष्ट रूप से यही कहेगा कि इस कला का स्रोत पश्चिम में है।" एक समालोचक के अनुसार गुप्तकालीन चित्र-कला पर फारस का प्रभाव है। इस विषय में हमारा मौन रहना ही उचित होगा। गुप्त चित्रकला स्वयं में इस बात का प्रमाण है कि वह विशुद्ध रूप से भारतीय थी और इस कला से श्रेष्ठ या समान चित्रो की प्राप्ति विश्व भर में और कही से नही हुई। कांड्रिगटन महोदय के अनुसार "गुप्तकला की प्रशंसा उसकी बौद्धिकता के लिये की गई है। इसे प्राचीन भारतीय कला का परिणाम समझना ही उचित होगा।" ग्रिफिथ महोदय ने गुप्तकाल की चित्रकला की प्रशंसा करते हुए लिखा हे "भावों के

प्रदर्शन, करण की भावना तथा केवल भावनाओ द्वारा हृदय के उद्‌गार व्यक्त करने की कला के इतिहास में गुप्त चित्रकला अद्वितीय है।''

गुप्तकालीन कला मे मानव स्वभाव तथा उसकी वाह्य भाव मुद्रा के बीच अद्‌भुत समन्वय किया गया है। कल्पना, स्वाभाविकता तथा सौन्दर्य के सुन्दर समिश्रण द्वारा सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के प्रसंगो के सफल अंकन द्वारा करुणा, प्रेम, क्रोध, हर्ष, लज्जा, उत्साह, चिन्ता, रुग्णता, वात्सल्य, स्नेह, दीनता, ममता आदि भावों की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति गुप्त कला की ही उपलब्धि है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. गुप्तकला पर एक विवेचनात्मक निवन्ध लिखिये। (पी० सी० एस० १९६८)

२. 'गुप्त काल भारतीय कला का स्वर्णयुग था।' स्पष्ट कीजिये।

३. गुप्त वास्तुकला के प्रमुख केन्द्रो का उल्लेख करते हुए, उसकी विशेपताएँ स्पष्ट कीजिये।

४. गुप्त कालीन कला और मन्दिर वास्तु की मुख्य विशेषताओ का वर्णन कीजिये। (पी० सी० एस० १९६४)

५. गुप्त काल मे कला के विकास का विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९६९, ७४)

६. गुप्त कला की प्रमुख विशेपताओ का विवेचनात्मक विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९७१)

७. गुप्त कालीन मूर्ति कला की विशेपताओ का वर्णन कीजिए।

८. गुप्त काल की प्रमुख मूर्तियो के रूप और शैली का उल्लेख कीजिये और इस कला के विकास को स्पष्ट कीजिये।

९. अजन्ता की चित्रकला की तकनीक और विपयवस्तु पर टिप्पणी लिखिये। (पी० सी० एस० १९६९)

१०. निम्नलिखित पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये—

(१) अजन्ता (पी० सी० एस० १९६३, ६५, ७५)

(२) एलोरा (पी० सी० एस० १९६३)

(३) वाघ की चित्रकला।

(४) वादामी के गुफाचित्र।

(५) एलिफेंटा।

(६) गुप्त कला (पी० सी० एस० १९६८)

(७) गुप्तकालीन मन्दिर वास्तु (पी० सी० एस० १९७६)

अध्याय सोलह

भारतीय कला के महत्वपूर्ण प्रसंग

बौद्ध कला

बौद्ध तथा जैन कला के समस्त रूप, गुण, अर्थ और उद्देश्य सम्पूर्ण भारतीय कला के अंग हैं। यद्यपि पिछले अध्यायो मे भारतीय कला के विकास के विभिन्न युगो का वर्गीकरण करते हुए यत्र तत्र बौद्ध तथा जैन कला के विषय मे विचार किया जा चुका है, तथापि इन दोनों धर्मों के प्रभाव तथा विस्तार से प्रभावित, इन समस्त युगो के दौरान तत्सम्बन्धित कला का जो रूप प्रकट होकर सामने आता है, वह स्वयं अपने आप मे किसी एक युग की कला के विकास का द्योतक है। अतः इन समस्त युगो के दौरान इन दोनो धर्मों से सम्बन्धित कलाकृतियो के विषय मे विचार किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

बौद्ध कला प्राचीन भारतीय कला का वह रूप है जिसमे महात्मा बुद्ध तथा उनके द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म का प्रभाव तथा सन्देश कला के रूप में अंकित एवं अभिव्यक्त किया गया है। हमारा विश्वास है कि महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व ने कलाकार के मस्तिष्क को जितना प्रभावित किया था उतना शायद विश्व भर के किसी एक व्यक्तित्व ने नही किया।

बौद्ध कला का विकास

यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रतिपादन छठी शतब्दी ई० पू० मे हुआ था तथापि बौद्ध कला का ऐतिहासिक युग मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात अशोक महान के समय से शुरू हुआ। इस समय तक बौद्ध कला का ठीक विकास न होने का प्रमुख कारण यह था कि इससे पूर्व निर्माण कार्यों मे लकड़ी का प्रयोग किया जाता था जो शीघ्र ही कालावतीत हो जाती थी।

एक तो लकड़ी के स्थान पर पाषाण का प्रयोग किया जाना और दूसरे अशोक का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर होना इन दोनो कारणो ने बौद्ध कला को विकास करने और समृद्ध होने का सुअवसर प्रदान किया। अशोक के शासन काल के अधिकाश स्थापत्य बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। मौर्य साम्राज्य के पतनोपरान्त शुगवंश के शासनकाल मे बौद्ध कला को क्षति तो उठानी पड़ी परन्तु

स्थानीय रूप में इसका विकास होता रहा। कुषाण काल में, कनिष्क की प्रेरणा और उत्साह को प्राप्त करके बौद्ध कला पुनः तीव्र-गति से विकास की ओर बढ़ चली। गुप्तकाल मे बौद्ध कला की परम्परा बनी रही, परन्तु इसे महत्व की दृष्टि से दूसरा स्थान प्राप्त था। गुप्तकाल की कला में हिन्दू धर्म को सर्वप्रमुख महत्व प्राप्त था। अजन्ता की नवी तथा दसवी गुफाओं में बौद्ध विषयक अनेक चित्र हैं। इन समस्त युगो मे बौद्ध गुफा मन्दिरो तथा विहारो की परम्परा का क्रम निरन्तर बना रहा। हर्ष के समय में बौद्ध कला को पुनः प्रोत्साहन मिला। परन्तु उसके उपरान्त बौद्धकला के विकास की गति अति क्षीण हो गई। राजपूत काल, सल्तनत काल, मुगल काल और ब्रिटिश शासन काल के दीर्घयुग मे बौद्ध कला का विकास लगभग नगण्य रहा। प्राचीन काल में स्थापत्य, वास्तु, चित्रकला आदि के माध्यम से बौद्ध धर्म को साधारण जन के लिये आकर्षक और सुगम बनाया गया। कला को धर्म से प्रेरणा मिली और वह धर्म की दासी हो गई।[1]

स्तूप

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अवशिष्ट अस्थियो के आठ भाग किये गये। इन को मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियो, कपिलवस्तु के शाक्यो आदि ने ग्रहण किया तथा भगवान बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए अस्थि भाग पर स्मारक स्वरूप समाधियो का निर्माण करवाया। साधारण भाषा मे इन समाधियो को स्तूप कहा जाता है। कहा जाता है कि अशोक ने इन स्तूपो मे एकत्रित शव भस्म अस्थियो, केशो तथा दांतो को निकालवा कर ८४००० स्तूपों में रखवाया था।

निर्माण शैली—स्तूप का निर्माण एक उल्टे कटोरे के समान अर्द्ध गोलाकार के रूप में किया जाता था। इसके शिखर पर आत्मा की सर्वोपरिता के प्रतीक के रूप में एक दण्ड तथा छत्र बनाया जाता था। इन स्तूपो के चारो ओर एक जंगला बना होता था जिसकी चार दिशाओ मे एक-एक फाटक होता था। जंगले पर प्रायः अनेक मूर्तियां बनी रहती थीं जिनमे महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओ का चित्रण किया जाता था। स्तूपो का निर्माण ईंटो या पत्थर के ठोस ढांचे के रूप में किया जाता था। बौद्ध स्तूपो का निर्माण बड़ी संख्या मे करवाया गया था परन्तु सभी स्तूपो की निर्माण शैली लगभग समान थी। यह बात और है कि कुछ स्तूपो का आकार एवं अलंकरण विशद तथा सुरुचिपूर्ण है।

सांची के स्तूप—बौद्ध स्तूपो मे सांची के स्तूप समूह को विशेष महत्व प्राप्त है। इस स्तूप समूह मे दो छोटे और एक बड़ा स्तूप है। बड़े स्तूप को अशोक या उसके किसी प्रतिनिधि ने तीसरी शताब्दी ई० पू० मे ईटो का बनवाया था। इसके तल का व्यास १२० फुट तथा ऊँचाई ५४ फुट है। स्तूप के शिखर पर छोटी सी हर्मिका है तथा उसके ऊपर छत्र का दण्ड है। स्तूप के गुम्बद के चारो ओर दो प्रदक्षिणा मार्ग हैं। एक प्रदक्षिणा मार्ग भूमि के धरातल पर तथा दूसरा थोड़ी ऊँचाई पर है। स्तूप का गुम्बद तथा प्रदक्षिणा मार्ग जंगले (रेलिंग) से घिरा हुआ है। चारो दिशाओ में चार विशाल द्वार (तोरण) हैं। तोरणो पर तथागत के जीवन की घटनाओ तथा प्रतीक चिन्हो को अंकित किया गया है। दक्षिण के तोरण में चौपहले खंभे हैं जो १४-१४ फुट ऊँचे हैं।

---

१. 'प्राचीन भारतीय संस्कृति'—लूनिया।

इन पर तेहरी कमानीदार बड़ेरियाँ हैं। बड़ेरियों पर सिंह, हाथी, धर्मचक्र तथा त्रिरत्न आदि बने हुये हैं।

सांची के दो अन्य छोटे स्तूपो मे से एक तो बड़े स्तूप के निकट ही उत्तर पूर्व की ओर है तथा दूसरा बड़े स्तूप के समान ही पहाड़ी के नीचे भाग में है। पहला स्तूप तोरण युक्त तथा दूसरा तोरण विहीन है।

भरहुत का स्तूप—यह मध्य भारत के नागोद राज्य में स्थित था। स्तूप का मुख्य भाग तो नष्ट हो चुका है किन्तु उसके चारो ओर का बाड़ और तोरण वर्तमान है। ये सभी कलकत्ते के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस स्तूप का निर्माण शुंग वंश के शासन काल में किया गया था। इसके तले का व्यास ६८ फुट है। स्तूप के चारो ओर की बाड़ पर बौद्ध कथाओ के चित्र उत्कीर्ण है। भरहुत के वेदिका स्तम्भो पर बनी हुई यक्षणियो की गणना भारतीय शिल्प के सर्वोत्तम रूपों मे की जाती है।

अन्य स्तूप—बौद्ध स्तूपों में सारनाथ के स्तूपों का भी विशेष महत्व है। वाराणसी से लगभग ९ किलोमीटर दूर स्थित सारनाथ में महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया था। यहाँ अशोक तथा गुप्तकालीन स्तूप मिले हैं। यहाँ के धर्मराजिका स्तूप के कुछ भाग अभी भी शेष हैं। ईंटों के बने हुए इस स्तूप का व्यास ६० फुट है। सारनाथ के ही धमेख स्तूप का निर्माण गुप्तकाल में हुआ था। कनिष्क के शासन काल मे बने हुए स्तूपो में पेशावर का स्तूप, थाला स्तूप, जलालाबाद का स्तूप तथा अफगानिस्तान का खास्ता स्तूप विशेष महत्वपूर्ण हे।

स्तूपों की विशेषताएँ—स्तूप कला की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—(१) यह कला मूलतः लोक कला है तथा इस पर राजसी प्रभाव नही है। (२) इस कला पर पुरोहित वर्ग की छाप नही हे। (३) स्तूप धर्म के प्रतीक नही हैं वरन ये महात्मा बुद्ध के प्रति अभिव्यक्त श्रद्धा का प्रतिनिधित्व करते हैं। (४) इनकी कला मे कलाकार ने कथाकार का रूप धारण किया हुआ है। (५) स्तूपो द्वारा महात्मा बुद्ध को ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।

विहार

महात्मा बुद्ध के आदेशानुसार वर्षाकाल को छोड़ कर शेष सभी ऋतुओ मे बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ धर्म प्रचार मे सलग्न रहते थे। भिक्षु की दीक्षा से पूर्व, तत्पश्चात साधना हेतु तथा वर्षाकाल मे निवास करने के लिये उचित स्थान की आवश्यकता हुई तो विहारो का निर्माण कराया गया। इस प्रकार विहार वह स्थान था जहाँ पर बौद्ध संघ निवास करता था। ये अन्य गृहस्थ गृहों से भिन्न थे।

निर्माण शैली—सगठन तथा सहयोग बनाये रखने के लिये स्तूप, चैत्य तथा विहार परस्पर सम्बद्ध रूप से बनाये जाते थे। अजन्ता, कार्ले, भाजा, पश्चिमी घाट, पूना के निकटवर्ती स्थानो मे चैत्यो के निकट अनेक विहार मिले हैं। विहारो का निर्माण पत्थर की चट्टानों को काट कर या गुफाओं को खोद कर किया जाता था। इनमें भिक्षु तथा भिक्षुणियो के रहने तथा साधना करने के लिये अलग-अलग कमरे बने हुए हैं। अन्दर की ओर कमरो के सामने बरामदे भी बने हुए हैं। अनेक विहारो की दीवारो पर महात्मा बुद्ध के जीवन तथा पूर्व जन्म की घटनाओ का चित्रण है। गुप्तकाल मे विहारो मे कक्ष की छत को सहारा देने के लिये स्तम्भो का प्रयोग किया जाने लगा तथा कक्ष के सामने प्रायः बुद्ध की मूर्ति की भी स्थापना की जाने लगी।

विहार कला की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—(१) विहार बौद्ध धर्म की सादगी तथा साधना के प्रतीक हैं। (२) इनके निर्माण द्वारा बौद्ध भिक्षुओ को सामान्य गृहस्थों के साथ निवास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी तथा वे शान्ति पूर्वक साधना में लीन रहते थे। (३) इनके द्वारा बौद्ध धर्म को संगठनात्मक विशेषता प्राप्त हुई।

बौद्ध मूर्तिकला

बौद्ध मूर्तिकला का प्रारम्भ मौर्य सम्राट अशोक के समय से मिलता है। अशोक ने इसके प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया किन्तु भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण शुंग काल में ही प्रारम्भ हुआ। बुद्ध मूर्ति की पूजा के प्रचलन के पूर्व बौद्ध मतानुयायी उन स्तूपों की ही पूजा करते थे जिनमें बुद्ध एवं उनके प्रमुख शिष्यो के अवशेष होते थे। इन पूजित स्तूपो को चैत्य कहते हैं। अशोक के काल में कुछ चैत्य पर्वतो को काटकर बनाये गये, कुछ ईंटो के बने थे। भारतीय चैत्य कक्ष का रूप ईसाइयो के गिरिजाघर से कुछ मिलता-जुलता है।

हीनयानी बौद्ध प्रतीकों या स्मारकों की पूजा में ही विश्वास करते थे जबकि महायानी मानुषी रूप मे बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के पक्ष में थे। अशोक-काल में हीनयान का अधिक जोर था। सांची भरहुत और बोध गया की प्रारम्भिक कला कृतियो मे बौद्ध प्रतीको का ही पूजन मिलता है। शुंगकाल मे भक्तिधारा के प्रावल्य एवं हिन्दू देवताओ तथा जैन तीर्थंकरो की मूर्तियो के निर्माण का बौद्धो पर भी प्रभाव पड़ा तथा कुषाण शासक कनिष्क ने भी बुद्ध प्रतिमाओ के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। इस काल की बुद्ध या बोधिसत्व प्रतिमाएँ खड़े रूप मे या पद्मासन मे बैठी हुई मिलती हैं किन्तु गुप्तकालीन मूर्तियाँ केवल खड़े रूप में मिलती हैं।

ज्ञान या सम्बोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी। उसके बाद वे 'बुद्ध' प्रसिद्ध हुए। इन दोनो रूपो का चित्रण मथुरा कला में मिलता है। दोनो में अन्तर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है और बुद्ध को इन अलंकारों से रहित, केवल वस्त्र (चीवर) धारण किये हुए। बुद्ध के सिर पर बालो का जटा-जूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व का सूचक है।

भारत में बुद्ध मूर्ति के सर्वप्रथम निर्माण का स्थान निर्धारित करने में विद्वानो के दो वर्ग हैं। फूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जॉन मार्शल का मत है कि गांधार शैली, जो पूर्णतया ग्रीककला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है। इनके विरुद्ध डा० कुमार स्वामी, हेवेल, जायसवाल आदि का मत है कि बुद्ध-मूर्ति का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा कला में प्रारम्भ हुआ और पद्मासन में बैठी योगी रूप मे बुद्ध की मूर्ति, जिसका निर्माण गन्धार शैली मे हुआ है, भारतीय कल्पना है। कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिकला पर शुंगकालीन भरहुत और सांची की मूर्तिकला का व्यापक प्रभाव है। पद्मासन में स्थित बुद्ध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाएँ स्पष्ट ही भारतीय परम्परा में हैं।

भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ प्रायः कई मुद्राओं मे देखी जाती हैं। उनमे मुख्य हैं–(१) अभय मुद्रा, जिसमें दाहिना हाथ ऊपर रहता है, (२) ध्यान मुद्रा, जिसमें गोद में खुली हथेली के ऊपर खुली हथेली रहती है, (३) भूमि स्पर्श मुद्रा, जिसमे दायें हाथ से भगवान बुद्ध पृथ्वी को छूते दिखाई पड़ते हैं, (४) व्याख्यान मुद्रा, जिसमें दोनो हाथ छाती के पास आ जाते हैं, (५) वरद मुद्रा, जिसमे दाहिनी हथेली नीचे की ओर आगे को रहती है।

कुषाण युग में आन्ध्र देश में बौद्ध मूर्तिकला की बहुत उन्नति हुई। इनमें अमरावती स्तम्भ के संगमर्मर के शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं। यहाँ बुद्ध भगवान को ६ फीट ऊँची खड़ी मूर्तियाँ अपनी शान्ति और गम्भीरता में अद्वितीय हैं। अमरावती शैली की अपनी एक मौलिक विशेषता है। यद्यपि इस शैली की मूर्तियाँ बौद्ध धर्म से सम्बद्ध है, जिसमें शान्ति और गम्भीरता को अधिक महत्व दिया जाता है तथापि वे जीवन की तीव्र गति, गम्भीर प्राणशक्ति और ओजपूर्ण क्रिया-कलाप को व्यक्त करती हैं। कुछ मूर्तियों में भावावेश उन्माद की सीमा तक पहुँचता हुआ प्रतीत होता है। एक दृश्य मे देवताओ की मण्डली बुद्ध के कमण्डल को स्वर्ग ले जाती हुई हर्षोन्माद से मस्त है।

गुप्त युग में चौथी और पाँचवी सदी ई० मे बुद्ध, बोधिसत्व तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओ की अनेक मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में बनायी गयी। इस युग की मूर्तियो में सौन्दर्य और आध्यात्मिकता दोनो का समन्वय हुआ हे। गुप्तकाल में मूर्ति निर्माण के तीन केन्द्र थे—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ। सुलतानगंज (बिहार) मे प्राप्त बुद्ध मूर्ति पाटलिपुत्र केन्द्र की है। बोधगया मे चौथी सदी की जो बोधिसत्व की मूर्ति प्राप्त हुई है वह मथुरा में निर्मित हुई थी। धर्मचक्र प्रवर्तन वाली बुद्ध की मूर्ति सारनाथ केन्द्र की बनी हुई है। इस मूर्ति में बुद्ध ध्यानासन में बैठे हैं और उनके हाथ अभय तथा शान्ति की व्यंजना करते हुए नाभि प्रदेश से ऊपर धर्मचक्र प्रवर्तन-मुद्रा मे अवस्थित हैं।

बंगाल के पाल नरेशो के राज्याश्रय मे भी बौद्ध मूर्तिकला विकसित होती रही। इस युग की मूर्तियाँ मुँगेर जिले की खड़गपुर पहाड़ी के स्लेट पत्थर को बनी होती थी। पाल युग मे बुद्ध की मूर्तियो के अतिरिक्त तारादेवी, बोधिसत्व और मातृदेवियो की अनेक मूर्तियाँ बनायी गयी। बुद्ध की मूर्ति में उनकी करुणामय मुखाकृति और सुडौल अंगो का कलात्मक प्रदर्शन हुआ। इस युग की एक बुद्ध प्रतिमा लक्खीसराय (मुँगेर) मे मिली हे जो पौने दो मीटर ऊँची अभय मुद्रा में है। इसके दाहिनी ओर ब्रह्मा और बायी ओर इन्द्र मूर्ति पर छत्र ताने खड़े हैं।

पाँचवी सदी से बुद्ध और बोधिसत्वो की अष्टधातु की मूर्तियाँ बनायी जाने लगी। ये अत्यन्त कलापूर्ण हैं। बिहार राज्य के सुलतानगंज मे पाँचवी सदी मे निर्मित ताँबे की बुद्ध प्रतिमा प्राप्त हुई है जो आज इंग्लैण्ड मे बरमिंघम आर्ट गेलेरी मे है। फाह्यान ने गुप्तकाल मे बोधिवृक्ष के पश्चिम में काँसे की एक बुद्ध मूर्ति देखी थी जिसमे बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। गुप्तकाल में ही नालन्दा विश्व-विद्यालय के बालादित्य विहार मे ८० फीट ऊँची ताँबे की विशालकाय बुद्ध मूर्ति थी जिसे फाह्यान ने देखा था। सातवी सदी मे बुद्ध की चाँदी-सोने की प्रतिमाएँ बनायी जाती थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इनका उल्लेख किया है। वह स्वयं बुद्ध की एक स्वर्ण मूर्ति चीन ले गया था। उसने अवलोकितेश्वर और मैत्रेय की चांदी की दस फीट या साढ़े तीन मीटर ऊँची प्रतिमाएँ देखी थी। आठवी सदी से धातु-निर्मित बौद्ध प्रतिमाएँ अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगी।

बौद्ध चित्र कला

प्राचीन भारतीय चित्रकला ने बौद्ध धर्म से बहुत प्रेरणा ली। अजन्ता गुफाओ के अनेक चित्रो में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को अंकित किया गया है। अजन्ता के चित्रों में बुद्ध और बोधिसत्वो के चित्र तथा जातक ग्रंथो के वर्णनात्मक दृश्य देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में अजन्ता गुफाओ की चित्रकला के विषय मे विचार करते हुए, पिछले अध्याय मे विस्तृत रूप से उल्लेख किया जा चुका है।

जैन कला

जैन कला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। वैदिक युग की कला के अवशेष अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। जैन कला के प्राचीनतम नमूने मोहन-जोदड़ो से प्राप्त हुए है। वहाँ से अनेक सील-मुहरें प्राप्त हुई हैं। श्री रामप्रसाद चन्दा ने सिन्धु घाटी मे उत्खनन से प्राप्त अनेक मुहरों का अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि फलक १२ और ११८, आकृति ७ कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खड़े हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है। इसका उदाहरण मथुरा पुरातत्व संग्रहालय मे संरक्षित तीर्थङ्कर श्री वृषभ-देव की मूर्ति है। वृषभ का अर्थ हे बैल, जो ऋषभ देव का लक्षण (चिन्ह) है। इसी प्रकार हड़प्पा से प्राप्त नग्न धड़ को भी विद्वानो ने दिगम्बर की खण्डित मूर्ति स्वीकार किया है।

जैन कला का विकास

मौर्य युग की एक दिगम्बर प्रतिमा लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त हुई है, जिसके प्रस्तर पर मौर्यकालीन स्तम्भ का लेप ही उसकी प्राचीनता का द्योतक है। यह कलाकृति पटना संग्रहालय में सुरक्षित हे। विद्वानो का कथन है कि जैनमत मे पूजा के निर्मित प्रतिमाऐं अत्यन्त प्राचीनकाल मे निर्मित हुई, जिसकी समता अन्य धर्मों मे नही हे। जैन धर्म की मूर्तिकला के मूल मे यह भाव निहित है कि तीर्थङ्करो की प्रतिमाऐं श्रावको को सत्कार्य की प्रेरणा देती है। तीर्थङ्कर वीतराग एवं इन्द्रियो के विजेता (जिन) थे अतएव उनकी प्रतिमाओं से श्रावक लोग शान्ति का अपूर्व संदेश पाते हैं। प्राचीन काल मे जैनमत का प्रसार भारत मे सर्वत्र था, इसलिए गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, विहार, उड़ीसा, मैसूर, आंध्र आदि सभी प्रदेशो में जैन प्रतिमाएँ प्रचुर संख्या में मिली हैं।

भुवनेश्वर के समीप जैन सम्राट खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख पर उत्कीर्ण 'नन्दराज नीतं च कलिंग जिनं संनिवेस' से स्पष्ट होता है कि कलिंग से मगध नरेश जिस जैन पाषाण प्रतिमा को उठा ले गया था, उसे खारवेल ईसा पूर्व पहली शती मे वापस ले आया। इस अभिलेख से यह सिद्ध हो जाता है कि ईसवी पूर्व सदियो में जैन मूर्तियाँ पूजा के निमित्त तैयार की जाती थी। पार्श्व-नाथ की कांस्यमूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा मे है, मौर्ययुगीन मानी जाती है। यह बम्बई संग्रहालय मे है।

कुषाणकालीन जैन मूर्तिकला के उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। कंकाली टीले से प्राप्त अधिकतर नग्न प्रतिमाएँ लखनऊ संग्रहालय में हैं। इन नग्न प्रतिमाओं को देखने से पता चलता है कि उस समय तक दिगम्बर जैनियो की प्रधानता थी। कुषाण युग के पश्चात् की तीर्थङ्कर प्रतिमाओ में अधोवस्त्र का समावेश होने से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अस्तित्व का पता चलता है। कुषाणकालीन जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं मे ऋषभनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर की मूर्तियाँ बैठी तथा अन्य तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर खुदे हुए द्वितीय शती के एक लेख से पता चला है कि उस समय से बहुत पूर्व मथुरा में एक वड़े जैन स्तूप का निर्माण हो चुका था। वर्तमान कंकाली टीला की भूमि पर उस समय से लेकर ११०० ईसवी तक जैन इमारतो और

मूर्तियो का निर्माण होता रहा। मथुरा मे कंकाली टीला तथा व्रज के अन्य कई स्थानों से जैन धर्म सम्बन्धी विशाल शिल्प-सामग्री भी प्राप्त हुई है।

जैन मूर्ति कला—मथुरा मे जैन मूर्तियो का निर्माण कुषाण काल के पहले से होने लगा था। इस नगर के पश्चिम मे कंकाली टीला नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बडा केन्द्र था। जैन मूर्तियाँ निम्नलिखित तीन वर्गों मे रखी जा सकती है :—

(i) मथुरा से आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ मिली हैं, जो प्रायः पद्मासन में बैठी हैं। कुछ खड़ी हुई मूर्तियाँ खड्गासन में भी मिली हैं, जिनमे चारों दिशाओ में प्रत्येक ओर एक-एक तीर्थङ्कर मूर्ति बनी है। ऐसी प्रतिमाओ को 'सर्वतोभद्रिका' कहते हैं।

(ii) जैन देवियो की मूर्तियाँ प्रायः गुप्तकाल और मध्यकाल की है। इनमें ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी और नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कुषाणकालीन एक मूर्ति सरस्वती की हे जो कंकाली टीले से प्राप्त हुई हे। उन्हे ऊँचे आसन पर आसीन दिखाया हे उनका दायाँ हाथ अभय मुद्रा मे हे तथा बायें हाथ में वे पोथी लिए हैं। सरस्वती के अतिरिक्त कंकाली टीले की भूमि पर निर्मित देवी आर्यवती, नैगमेश, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियों की प्रतिमायें मिली है।

(iii) कंकाली टीले से कुछ कलापूर्ण आयागपट्ट मिले हैं। ये वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा मे प्रयुक्त होते थे। उनके ऊपर तीर्थङ्कर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पुजनीय चिह्न उत्कीर्ण किये जाते थे। आयागपट्टो के अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिका स्तम्भ भी मिले हैं, जिन पर जैन धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ तथा चिह्न अकित है। इन कलाकृतियो पर देवता, यक्ष-यक्षिणी, पुष्पितलता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट. कीर्तिमुख आदि बड़े कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण मिलते हैं। आयागपट्ट जैन कला की प्राचीनतम कृति हे। आयागपट्ट की तिथि ईसवी पूर्व मे स्थिर की गई हे। यह गोलाकार पूजा निर्मित शिलापट्ट है, जिसके मध्य मे ध्यानी मुद्रा मे महावीर की छोटी मूर्ति दिखलाई पडती हे। उसके चारो ओर जैन औपपातिक सूत्र मे गिनाये अष्ट मागलिक चिन्ह है—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नद्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण तथा मत्स्य युग्म।

गुप्तकालीन जैन प्रतिमाएँ सुन्दरता तथा कलात्मक दृष्टि से उत्तम समझी जाती है। अधोवस्त्र तथा श्रीवत्स दो प्रमुख विशेषताएँ है जो गुप्त युग में परिलक्षित होती है। जैन मूर्तियो की बनावट उत्तम श्रेणी की है। जैन प्रतिमाओ मे चक्र चौकी के मध्य तैयार किये गये जिसके दोनो पार्श्व में दो हिरन या वृषभ खोदे गये हैं। सिर पर तीन चक्र रेखाओ का छत्र दिखलाया गया है जिसके दोनो ओर दो हाथी स्थित हैं। गुप्त युग से जैन प्रतिमाओ यक्ष-यक्षिणी, मालावाही गन्धर्व आदि देव-तुल्य मूर्तियो को भी स्थान दिया गया था। गुप्तकाल मे जैनधर्म का भी पर्याप्त प्रचार था, इसलिए लेखो में अर्हत प्रतिमाओ की स्थापना तथा गुहा या मन्दिरो मे जैन मूर्तियो की स्थिति उसके प्रसार का समर्थन करती है।[1]

जैन मन्दिर—खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर नागर शैली का उत्कृष्ट नमूना है। इसका निर्माण काल ९५०-७० ई० के लगभग राजा धंग का शासन-काल है। इस मन्दिर में उत्कीर्ण

---

१. 'प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान'—डा० वासुदेव उपाध्याय।

अप्सराएँ अथवा सुर-सुन्दरियाँ जैन मूर्तिकला एवं शिल्पीकरण के अलौकिक लालित्य की परिचायक हैं। शिशु को दुलराती, पत्र लिखती, नन्ही मानव आकृति द्वारा पैर से काँटा निकलवाती, शृङ्गार-प्रसाधन करती आदि अप्सराएँ विशेप दर्शनीय हैं। जैनधर्म से सम्बद्ध मूर्तियो के अतिरिक्त इस मन्दिर मे वैष्णव चित्रण की भी प्रचुरता है। इस मन्दिर की प्रमुख विशेपता गर्भगृह के पीछे एक अतिरिक्त छोटे मन्दिर का संयुक्त होना है। खजुराहो में प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का मन्दिर भी है।

दक्षिण भारत की कला

उत्तरी भारत पर सर्वदा सीमात प्रातो से विदेशियो के आक्रमण होते रहते थे, इस कारण उत्तरी भारत की कला एवं सभ्यता पर थोड़ा वहुत विदेशियो का प्रभाव पड़ता रहता था, परन्तु दक्षिण भारत इस प्रभाव से वचा रहा, और इसी कारण दक्षिण भारत मे कला तथा सभ्यता में अधिक परिवर्तन नही हुए। वहाँ पर उत्तरी भारत का प्रभाव वहुत धीरे-धीरे जाता था इसी कारण दक्षिणी भारत की कला तथा वास्तुकला में केवल प्रारभिक परिवर्तन ही हुए। दक्षिण भारत की कला के प्रमुख युग तथा कला शैलियो का विवरण निम्नलिखित युगो के रूप मे किया जा सकता है:—

१. पल्लव कला—३००-८८० ई०

हूणो के आक्रमणो के वाद दक्षिण भारत मे दो मुख्य राज्यो की स्थापना हुई जो पल्लव तथा चालुक्य राज्यो के नाम से विख्यात हुए। ३००-८८० ई० मे कान्जीवरम की पल्लव जाति ने अपना राज्य समस्त दक्षिण भारत मे फैलाया। केवल पल्लव राज्य ही दक्षिण भारत की कला के जन्मदाता माने गये तथा चालुक्य राजा दक्षिण एवं उत्तरी भारत की कला के मध्यस्थ माने गये। पल्लव राज्य में कला को स्वतंत्र रूप मिला, क्योकि पल्लव राजाओ की कला तथा साहित्य मे पूर्ण रुचि थी।

पल्लव कला पर वगी स्कूल का अधिक प्रभाव पड़ा। पल्लव कला की उन्नति का कारण उनका माम्मल्लपुरम बंदरगाह था। इसके द्वारा उन्होने अपना व्यापार वाहरी देशो से स्थापित किया। पल्लव तथा चालुक्य राजाओ मे शत्रुता थी इस कारण उनमें परस्पर स्पर्धा का भाव था। पल्लव वास्तुकला संसार मे इतनी विख्यात थी कि चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय कॉंची की विजय के वाद वहाँ से कलाकारो को अपनी राजधानी पट्टाडिकल मे मंदिर वनवाने के लिए अपने साथ ले गया।

पहले कई शताब्दियो तक लकड़ी, धातु तथा ईंटो की इमारतें बनती रही, इन्हे पल्लव राजाओ ने पत्थर तथा गुफा मन्दिरो मे वदल दिया। इन गुफा मन्दिरो की वरावरी चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय (६०६-६४२ ई०) द्वारा वनाये मन्दिर नही कर सके। पल्लव शैली मे राजा महेंद्र वर्मन प्रथम ने कॉंची के पास गुफा मन्दिरो का निर्माण करवाया। ये शिवलिंग के मन्दिर हैं। यहाँ पर प्रार्थना के बड़े कमरे में सादे खभे वने हैं। इनकी वास्तुकला गुप्त कला से ली हुई जान पड़ती है।

दूसरी प्रकार की पल्लव शैली माम्मल्लपुरम के राजा नरसिंह वर्मन भमला द्वारा वनवाये रथो एवं गुफा मन्दिरो में मिलती है। यहाँ भी हमे गुप्त कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यहाँ की कला में गुप्तकला तथा हिंदू कला आपस मे मिल कर एक हो गई और एक नई शैली का जन्म हुआ। पल्लव मूर्ति कला के अच्छे उदाहरण महेन्द्र. वर्मन के राज्य से प्राप्त हुए हैं। इन मूर्तियो की

झाँकी गुफाओं के मन्दिरो में भी हमें देखने को मिलती हे, ये ऐहोल के चालुक्य मन्दिरो की मूर्ति-कला से हल्की दिखाई पड़ती है। इस समय की कोई भी अच्छी मनुष्य आकृति नही मिली हे। इनमे कही पर भी मूर्तियो का आतरिक खिचाव नही दिखाई पडता हे जो गुप्तकाल की मूर्तियो का विशेप गुण है।

माम्मल्लपुरम—यह कांची के समुद्रतट पर वसा पल्लव राज्य का मुख्य वन्दरगाह तथा राजधानी थी। इसका निर्माण सातवी तथा आठवी शताब्दी में राजा महेन्द्र वर्मन प्रथम (६००-६२५ ई०) के राज्य काल मे माना जाता है। यहाँ पर पत्थरो को काट कर मन्दिर वने हैं यहाँ का सबसे पुराना रथ माम्मलपुरम के मन्दिर का हे। इन्हें सात मेरु मन्दिर भी कहते हैं। इसका भी निर्माण राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम के ही राज्यकाल में माना गया है। इस नगर का नाम महेन्द्रवर्मन के पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम (६२५-६५० ई०) के द्वारा माम्मल्लपुरम दिया गया था परन्तु आजकल इसे महाबलीपुरम भी कहा जाता है। यहाँ के मन्दिरो को 'रथ' कहा जाता है। ये विशेप महत्व के हैं। इस बन्दरगाह को पल्लव राज्य में बहुत महत्व दिया गया है क्योकि इसी के कारण उनका व्यापारिक सम्बन्ध जावा तथा लंका द्वीपो से बना हुआ था। यहाँ के मन्दिरो मे सबके महत्वपूर्ण दृश्य भगीरथ की तपस्या का हे। यह एक विशाल चट्टान पर बना हुआ है। पल्लव राज्य परिवार की रुचि वास्तुकला मे दिखाई पड़ती है। यहाँ के मन्दिरो से बहुत से अभ्युचित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें कमल कर बैठी देवी लक्ष्मी, देवताओं द्वारा विष्णु की उपासना तथा पहाड़ो को काट कर बने अभ्युचित्रो मे 'गंगावतरण' तथा 'अर्जुन की तपस्या का भाव' विशेप उल्लेखनीय है। ये मूर्तियाँ चिपटे डौल के अभ्युचित्रो मे बनी हुई हैं। यहाँ से कुछ गोलाकार मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो कि पशुओ की हैं जैसे बैल, हाथी, शेर तथा जूं निकालते हुए बन्दरो की हैं। ये मूर्तियाँ सजीव जान पड़ती हैं। इनका शरीर कोमल तथा पतला बना हुआ हे। पतले शरीर को ही यहाँ पर बढ़ा कर बनाया गया है। ये मूर्तियाँ ऊँचे मुकुट पहने हुई हैं। यहाँ पर देवी तथा देवताओ को बहुत सुन्दर ढंग से बनाया गया हे। राजा एवं रानियो की मूर्तियाँ आकर्षक है। इनकी शैली अंत की गुप्त शैली के समान हे साथ ही इन्होने अमरावती की शैली को एकदम अपना लिया है। इस समय आकृतियो का शरीर कोमल न बना कर हृष्ट-पुष्ट बनाया गया हे। यहाँ से 'दुर्गा तथा महिपासुर' एवं 'अर्जुन की तपस्या' की मूर्तियाँ ऊपर लिखे गुण को स्पष्ट करती हैं। ये मूर्तियाँ गोलाकार हैं। 'अर्जुन की तपस्या' की मूर्ति मे संयोजन की कमी दिखती हे। यहाँ से गोलाकार सात फीट लंबी शेर की मूर्ति मिली है, इसका अनुपात बहुत सुन्दर एवं परिष्कृत हे तथा यह बहुत श्रेष्ठ मूर्ति मानी गई हे।

महेन्द्रवर्मन के समय के कुछ भित्ति चित्र यहाँ की जैन गुफाओ के मन्दिरो से भी प्राप्त हुए हैं। इनकी शैली छठी शताब्दी की अजन्ता की शैली से समानता दिखाती हैं। यहाँ पर आकृतियाँ हृष्ट-पुष्ट तथा जीवन के भिन्न आनन्द को दिखाती हैं। यहाँ पर इनका रेखाचित्र भावपूर्ण हे। कहीं-कही पर ये ढांचे के समान भी बनाई गई हैं। कमल के फूल या गोल गहने या कही पर शरीर की आकृतियाँ भी यहाँ पर दिखाई गई हैं। इनमे से दो विशेप महत्व के मंदिर हैं :—१. कृष्ण गोवर्धन पर्वत को उठाये हुए है; तथा २. दुर्गा—महिपासुर एवं विष्णु-अनन्तशयन का संयोजन। इसमें सात मेरु मन्दिरों का झुंड बना हे जो द्रविड़ शैली मे हे। ये कुछ-कुछ बौद्ध विहार के समान हैं। इनकी

छतों पर बांसों की वास्तुकला दिखती है जो अभी भी पश्चिमी भारत में कहीं-कहीं पर दिखाई पड़ती है। आठवी शताब्दी को भारतीय कला मे सर्वोच्च भी माना गया है। इस समय वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला सभी की समान रूप से उन्नति हुई थी।

२. चालुक्य कला—५५०—७५७ ई०)

चालुक्य राजाओं का दक्षिणी कला में बहुत योगदान है। छठी शताब्दी के राजनीतिक परिर्वतनो मे कर्नाटक के इस छोटे से परिवार ने पुलकेशिन प्रथम द्वारा अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया, और इसने अपनी राजधानी ऐहोल से वदामी को वना लिया, इस कारण इस राज्य को भी दक्षिण भारत के महान राज्यों में माना जाने लगा। आज के युग में चालुक्य कला को पल्लव कला से अधिक महत्व दिया गया है। गुप्तकाल के वाद केवल इन्हीं के द्वारा कला मे पुर्नजागरण हुआ। चालुक्य राजाओ ने दक्षिण भारत की कला मे वहुत परिवर्तन किये। ये कला के क्षेत्र मे सृष्टिकर्ता न हो कर केवल मध्यस्थ ही बने। उत्तरी भारत में ये दक्षिणी गुप्त शैली के संपर्क में आये परन्तु वाद में इनके ऊपर गुजरात तथा उत्तरी भारत की सभ्यता का प्रभाव पड़ा। दक्षिण भारत से इन पर आंध्र सभ्यता का भी प्रभाव पड़ा। पल्लव तथा चालुक्य राज्यों का व्यापारिक सम्बन्धससेनियन राज्यो से था। इस प्रकार चालुक्य कला कई अवस्थाओं से गुजरी और इसी कारण हमे चालुक्य कला पर समय-समय पर भिन्न प्रभाव देखने को मिलता है।

छठी शताब्दी मे सबसे प्रथम प्रभाव ऐहोल में चालुक्य राजाओं का दिखाई पड़ता है। यह नगर उनकी राजधानी थी एवं यह मन्दिरों से भरा हुआ है। यहाँ का सवसे पुराना शिव का मंदिर बौद्ध धर्म के मन्दिरों के समान बनाया गया है। यहाँ का दुर्गा का मन्दिर भी विशेष महत्वपूर्ण है। इन मन्दिरो मे बौद्ध चैत्य के वड़े कमरे को अपनाया गया है जो कि गुप्त शैली का गुण है। चालुक्य कला पर गुप्त शैली के प्रभाव के उदाहरण वादामी से प्राप्त हुए हैं। बादामी से प्राप्त विष्णु की मूर्ति, खंभें तथा कोष्ठक गुप्त काल की उत्पत्ति है, परन्तु इनकी वास्तुकला पर पल्लव शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। वादामी का महाकुतेश्वर का मन्दिर भी ऐहोल के मन्दिरो के समान है। एलोरा का शिव का गुफा-मन्दिर तथा शिव का एलिफेंटा का मन्दिर विशेष महत्वपूर्ण है। एलोरा के गुफा-मन्दिरो की वास्तुकला तथा मूर्तिकला दसवीं से वारहवी शताब्दी के बीच की बतायी जाती है। आठवी शताब्दी में इस प्रकार के वहुत कम मन्दिर वने एवं वारहवी शताब्दी के बाद इन चालुक्य कलाओ का प्रभाव समाप्त हो गया।

ऐहोल—४५० ई० में चालुक्य राजाओं ने आर्यवोल अर्थात् एहोल (आर्यो का नगर) को राजधानी के रूप में वसाया। वारहवी शताब्दी तक उपेक्षा के कारण इस नगर के महल तथा रहने के स्थान जो कि लकड़ी, मिट्टी तथा ईंटों के बने थे नष्ट हो गये, परन्तु यहाँ के पत्थरो के मन्दिर अभी भी अच्छी अवस्था में स्थित हैं। इस नगर मे इतने अधिक मन्दिर बने हुए हैं जिसके कारण इस नगर को आर्यों का नगर कहना गलत नही लगता। इन मन्दिरो के चारों ओर अभी भी झोपड़ियाँ वनी हैं जो कि पाँचवी शताब्दी के नगर का भास कराती हैं। इसे गुप्त काल का भी समय कहा जा सकता है। यहाँ के मन्दिर भारतीय कला के हिन्दू धर्म के अच्छे उदाहरण हैं। यहाँ पर हिंदू कला के उदाहरणो की भरमार है। इस नगर की कला दक्षिण शैली पर आधारित है।

एहोल के हिन्दू धर्म के मन्दिर—बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रभाव भारत की कला तथा धर्म पर अधिक गहरा था। बौद्ध धर्म की अवनति के साथ ही हिन्दू धर्म की कला का पुनर्जन्म हुआ। ऐहोल से अनन्त मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिससे ऐसा लगता है कि पुराने हिन्दू देवताओं, शिव तथा विष्णु आदि को लोग एक साथ पूजते थे। मन्दिरो के अंदर की दीवारें मूर्तियो से भरी हुई हैं, इनका विषय प्रेमियो के जोड़े, गले लगाने इत्यादि मुद्राओं के दृश्य, मनुष्य का अधिकार मांगना, मृत्यु पर जीवन की विजय निर्वाण द्वारा बताना, प्रचलित विश्वासों, भगवान के धर्म की स्थापना जिसमे त्याग को महत्व देना इत्यादि दृश्य बने हुए हैं। प्रारंभिक ऐहोल की मूर्ति कला बहुत-प्रभावशाली थी। ये मूर्तियाँ दीवारो तथा खम्भो पर ऊँचे डौल के अध्युचित्रों में मन्दिर के अंदर बनी हुई हैं। यहाँ के दुर्गा एवं लादखान के मन्दिरो की मूर्तियाँ गुप्त शैली में बनी हुई हैं। ऐहोल में दुर्गा का मन्दिर भी महत्वपूर्ण है जहाँ बौद्ध धर्म के बड़े कमरे को यहाँ की वास्तुकला में अपनाया गया है। यह भी गुप्त शैली की विशेषता है। ऐहोल मे दो मन्दिर पहाड़ों को काट कर बनाये गये हैं, इन्हे भी उसी समय की शैली का कहा गया है। इसमे भी देवालय, मण्डप तथा द्वार मण्डप देखने को मिलता है। इनकी दीवारो पर बहुत पुराने भित्ति चित्र बने हैं जो नम जलवायु के कारण नष्ट से हो गये हैं। ऐहोल के मन्दिरो की कला भारत की और कलाओ से भिन्न है। यहाँ पर बौद्ध एवं हिन्दू धर्म की कलाओ का समावेश है। जीवन का भास सबसे अधिक ऐहोल के मन्दिरो मे होता है। यहाँ की मूर्तियाँ एवं मन्दिर पेड़ो एवं मकानो के बीच मे बने हुए हैं। यहाँ पर ७८ ऐसी इमारतें बनी हुई हैं। इनका एक साथ इतना अधिक होना आश्चर्यजनक है। यहाँ के मन्दिरों में चौकोर देवालय एक चौकोर बड़े कमरे मे जिसे मण्डप कहते हैं खुलता है। देवालय मे एक छोटा ३ × ३ वर्ग गज क्षेत्रफल का कमरा बनाया जाता था जिसके अंदर की दीवारें सादी बनाई जाती थी। इन देवालयो मे अधिकतर लिंग की मूर्ति स्थापित की जाती थी। मन्दिर की बाहरी दीवारें मानवी समरूपता के प्रतिदर्शनो से भरी हुई हैं। ये मूर्तियाँ पूजा की खड़ी मुद्रा मे हैं। ये अधिकतर हर तीन दीवारो के बीच में या भित्ति स्तम्भो के नीचे बनाई गई हैं। इन मन्दिरो की ड्योढी या द्वार मण्डप चार खम्भो पर टिका बनाया गया है। जो मण्डप का रास्ता दिखाता है। इन मन्दिरो के देवालयो के ऊपर सूची स्तंभ बनाया गया है जिसे शिखर कहते हैं। इन मन्दिरो में जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं अंधेरा होता जाता है और फिर भगवान की मूर्ति सामने आती है। ऐहोल की मूर्तियों में हमें दो प्रकार की शैलियाँ देखने को मिलती हैं दक्षिणी एवं उत्तरी शैली। दक्षिणी शैली देवालय के कमरो मे मिलती है, जिसके ऊपर वक्ररेखीय अट्टालिकायें बनी हुई हैं, इनके सामने द्वार मण्डप है। तालाब के दोनो ओर बने दो बड़े मन्दिरो में उत्तरी शैली स्पष्ट दिखती है। हालांकि ऐहोल मे दोनो ही शैलियो का प्रभाव दिखता है परन्तु तीन शताब्दियो तक इनमे कोई परिवर्तन नही हुए। मन्दिरो की वास्तुकला मे कोई परिवर्तन नही दिखता है परन्तु उनके देवालय के ऊपरी आकार में भिन्नता अवश्य दिखती है जैसे एक स्थान पर गोल शिखर बना है तथा दूसरे स्थान पर शिखर धीरे-धीरे कम होता गया है। पाँचवी शताब्दी के ऐहोल का मन्दिर जो सबसे पुराना माना गया है उसमें तथा विरुपाक्ष के पट्टाडिकल के आठवी शताब्दी तक के मन्दिरो के बनाने के सादे ढंग को ही सब स्थानो पर अपनाया गया है।

पुलकेशिन तृतीय ने पल्लवो की कांजीवरम को सातवी तथा आठवी शताब्दी मे जीत कर उसे पट्टाडिकल के नाम से पुकारा एवं इसी शताब्दी में यहाँ पर विरुपाक्ष के मन्दिर की स्थापना

की। इस मन्दिर का नाम उसने अपनी पत्नी के नाम पर रखा। यहाँ पर ऊँचे एवं नीचे दोनों ही प्रकार के डौल के अध्युचित्र बने हैं। पुलकेशिन तृतीय की दो पत्नियाँ थी इसी कारण इसी विरुपाक्ष के मन्दिर के पास इसने एक दूसरे मन्दिर का निर्माण करवाया तथा इसे दूसरी रानी का नाम दिया जो मल्लिकार्जुन के नाम से विख्यात है। इसमे चालुक्य परम्परा अधिक दिखती है, इससे पता चलता है कि इसका निर्माण स्थानीय कलाकारो द्वारा किया गया होगा, परन्तु विरुपाक्ष का मन्दिर पल्लव परम्परा का बना हुआ है। मल्लिकार्जुन के मन्दिर मे भी ऊँचे तथा नीचे डौल के अध्युचित्र बने मिलते हैं जो भारतीय कला के अच्छे उदाहरण हैं। ऐहोल के समान यहाँ पर भी अब एक ग्राम बसा हुआ है। यहाँ पर भी ऐहोल के समान ही दक्षिणी तथा उत्तरी भारत की शैलियों का मिश्रण है। इसके मन्दिरो की वास्तुकला मे परिवर्तन केवल उसके देवालय की बाहरी आकार में ही दिखता है। साथ ही एक मन्दिर का शिखर गोलाकार है।

मल्लिकार्जुन के मन्दिर मे एक ओर साँप के आकार का मेहराब बना हुआ है, जिससे इसके ऊपर लंका की कला का प्रभाव दिखता है, क्योंकि इस प्रकार के आकार के मेहराब लंका, चीन तथा जापान की कला मे बहुत प्रचलित थे। तीन शताब्दियो (५००-७०० ई०) तक चालुक्य कला की उन्नति हुई जिसके अच्छे उदाहरण भुवनेश्वर, खजुराहो, बेलूर तथा कोणार्क के मन्दिर हैं। ये गुप्त शैली से पूर्ण रूप से भिन्न हैं परन्तु यहाँ पर उत्तरी तथा दक्षिणी कला का मिश्रण स्पष्ट दिखता है। पुलकेशिन तृतीय के बाद धीरे-धीरे चालुक्य राजाओ की शक्ति समाप्त होने लगी और साथ ही इसके बाद कला में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुये। तीसरी से सातवी शताब्दी तक की कला का कुछ विशेष पता नही है परन्तु हमें जान लेना चाहिए कि इसी चालुक्य कला ने एक नये स्वर्ण युग को मार्ग दिखाया। चालुक्य कला को अप्रचलित स्थानीय कला मे दूसरा स्थान दिया गया है।

(३) चोल कला ८५०-१२६७ ई०

चोल राज्य का प्रारम्भ पाल राज्यो के बाद ८५० ई० से माना जाता है। इन्होंने तामिल राज्य के मुख्य स्थानों को धर्म की मूर्तियो से भर दिया। इस वंश का महान राजा राजराज था जिसका समय ९२५-१०१९ ई० तक माना गया है। इसने स्वतन्त्र रूप से इमारतों का निर्माण कराया जिसमे से तंजावूर का मन्दिर विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। इसके ही राज्य मे दक्षिण भारत मे सबसे सुन्दर मन्दिरो का निर्माण हुआ। इसके समय की विख्यात मूर्तियाँ हैं—(१) ताडव नृत्य की मुद्रा की शिव की मूर्ति, (२) शिव एवं पार्वती की मूर्ति, तथा (३) शिव की मूर्ति जिसे जावा के शिल्पकारो का उत्तम शिल्प कहा जा सकता है। इस मूर्ति को अभी तक भारत की सबसे अच्छी मूर्ति माना गया है।

चोल राजाओ ने अपनी राजधानी तंजावूर (तानजोड़) (नंदी वर्मा तृतीय द्वारा ९४६ ई० मे) फिर से बसाई। दक्षिण भारत की कला एवं सभ्यता में चोल राज्य को मध्यकाल का स्वर्णयुग माना गया है। इस समय भारत के मन्दिर केवल धर्म के ही स्थान नही थे बल्कि ये सामाजिक केन्द्र भी होते थे। चोल कला का पुर्नजागरण गुफाओ की मूर्तिकला मे दिखाई देता है तथा चोल कला भित्ति चित्रो के रूप मे भी मिली है।

दक्षिण भारत की महत्वपूर्ण मूर्तियाँ

दक्षिण में सभी प्रकार की धातुओ तथा पत्थर से मूर्तियाँ बनाई गई थी। इन्हे दो भागो में

बाँटा जा सकता है—(१) पत्थर की मूर्तियाँ, तथा (२) काँसे की मूर्तियाँ।

पत्थर की मूर्तियाँ—मध्यकालीन भारत में नर्मदा नदी के दक्षिण तट के कई राज्यो में पत्थर पर अलंकृत कटाई तथा मूर्तिकला के अच्छे नमूने पाये गये हैं। ११वी शताब्दी की चोल कला की मूर्तियों के अलावा, जो बहुत सुन्दर बनी हुई थी, दक्षिण की मनुष्य आकृतियो की मूर्तियाँ अधिकतर उन्नत न थी। विशाल द्रविड़ राज्य के मन्दिर इस प्रकार की मूर्तियो से भरे हुए हैं एवं ये मूर्तियाँ अलंकारों से युक्त बनाई गई हैं। इनके विषय पुराण तथा तंत्र हैं। इनका विचार धर्म के सिद्धान्तो को सुन्दर ढंग से व्यक्त करना था न कि केवल सुन्दर मूर्तियो को बनाना। इसी कारण इन मूर्तियो मे उनका यह विचार स्पष्ट दिखता है, जिसके कारण केवल उस समय कुरूप मूर्तियो का ही अधिकतर निर्माण हुआ। उस समय बहुत थोड़ी-सी ही सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गईं परन्तु सब ही मूर्तियाँ विचार मे उच्च हैं। इनमे सजीवता बहुत कम दिखाई पड़ती हैं परन्तु इनमे प्रचलित प्रभाव का पुट स्पष्ट दिखता है। १२वी शताब्दी में चालुक्य तथा होयसल के मदिरो मे पूर्णतः अलंकृत नमूने ही कटे, जिनकी बराबरी कोई नही कर सकता तथा इन्ही मन्दिरो की मूर्तियाँ परम्परागत तथा अधिक महत्व की हैं।

दक्षिण भारत की मूर्तियों की शैली—शैली की दृष्टि से हम इन मूर्तियो को चार भागो में बाँट सकते हैं। पहला भाग सातवी शताब्दी के पाल राज्य के अन्तर्गत अध्युचित्रित मूर्तियो से प्रारंभ होता है जो कांजीवरम् (कांजी) मे पाई गई है। दूसरी शैली की मूर्तियाँ ११वी शताब्दी में चोल राज्य मे बनी मानी गई है। तीसरी शैली आभूषण युक्त शैली॰ की मूर्तियो मे है जिसे दक्षिण के चालुक्य तथा होयसल राजाओ ने १२वी शताब्दी मे महत्व दिया था। चौथी शैली विजय नगर की शैली है जो १५वी तथा १६वी शताब्दी की मूर्तियो मे प्रचलित थी।

प्राचीन हिन्दू मन्दिर एवं उनकी वास्तुकला

किसी भी धर्म के प्रति, उस धर्म के अनुयायियो की भक्ति तथा श्रद्धा दो रूपो में व्यक्त की जाती है—पहली तो मन ही मन अव्यक्त स्तुति तथा ध्यान द्वारा, दूसरी धर्म के मान्य देवता के लिये स्मृति रूप मे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे या गिरजे आदि का निर्माण करवाकर। जब हम प्राचीन भारत के हिन्दू धर्मावलम्बियों के विश्वास तथा श्रद्धा की अभिव्यक्ति की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमारा ध्यान अनायास ही मन्दिरो की ओर आकृष्ट होता है। हिन्दू धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है और भारतीय संस्कृति मे धर्म प्राण के रूप मे अवस्थित रहा है। अतः भारत मे मन्दिर निर्माण की प्रथा तथा कला का जन्म प्राचीन समय मे ही हो गया था।

मन्दिर निर्माण कला का विकास

वैदिक काल से लेकर मौर्य युग तक के किसी मन्दिर के अवशेष प्राप्त नही हुए हैं। इसका अर्थ यह नही है कि इस समय में मन्दिरों का निर्माण नही कराया गया था। वस्तुतः इस काल के मन्दिर लकडी के बने होते थे अतः वे कालावतीत हो चुके हैं। मन्दिर निर्माण की वास्तुकला का निश्चित विकास गुप्तकाल से प्रारम्भ हुआ था। गुप्तकालीन मन्दिरो मे एक चौकोर गर्भगृह होता था। इसमे देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित रहती थी। गर्भगृह के सामने स्तम्भो पर टिका हुआ मण्डप बनाया जाता था। अनेक आकृतियो से युक्त स्तम्भो के शीर्ष भाग घन्टे के आकार के होते थे। इन

मन्दिरो के मुख्य द्वार अलंकृत होते थे। परवर्ती गुप्तकाल में मन्दिरो की वास्तुकला का और विकास हुआ। अब गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणामार्ग भी बनाया जाने लगा। गुप्तों के उपरान्त मन्दिर निर्माण की कला का बहुत विस्तार हुआ। अब उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत मे अनेक भव्य तथा कलात्मक मन्दिरो का निर्माण कराया जाने लगा। इन मन्दिरो की कला की प्रमुख विशेषता यह थी कि इनके शीर्ष भाग बहुत ऊँचे तथा कलात्मक अलंकरण से युक्त थे। चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पल्लवों, चोल आदि के समय मे दक्षिण भारत के मन्दिरो की वास्तुकला नयनाभिराम तथा अद्वितीय थी। हर्षवर्द्धन तथा उसके उपरांत राजपूतकालीन राजनैतिक अस्तव्यस्ता के समय में भी मन्दिर निर्माण कला का विकास होता रहा। इस समय के मन्दिर केवल धर्म के ही नहीं, वरन् सामाजिक एवं सास्कृतिक जीवन के भी केन्द्र थे। बारहवीं शती ई० के समय में मुसलमान आक्रमणकारियों की मन्दिर विध्वंसक नीति ने इस कला को बड़ा आघात पहुँचाया।

मन्दिर वास्तुकला की शैलियाँ

प्राचीन भारत में मन्दिर निर्माण की वास्तुकला की अनेक शैलियाँ प्रचलित थी। इन शैलियों की विभिन्नता का कारण भारत की भौगोलिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ थी।

उत्तरी भारत की शैली—इसे आर्य शैली भी कहा जाता है। उत्तरी भारत में बिहार तक के मन्दिरो मे गुप्तकाल में बने हुए मन्दिरो की निर्माण शैली विशेष ढग की थी। इन मन्दिरो में झाँसी के निकट का देवगढ का मन्दिर, भीटारग्राम का शिवमन्दिर, मथुरा का विष्णु मन्दिर, तथा गुजरात, बुन्देलखण्ड, राजस्थान के मन्दिर प्रमुख हैं। इस शैली के अन्तर्गत गर्भगृह के ठीक ऊपर शिखर होता था जो नीचे को चौड़ा वृत्ताकार होता हुआ ऊपर को ओर नुकीला होता था। इसके ऊपर आमलक, कलश और ध्वज दण्ड बनाया जाता था। मन्दिर के गर्भगृह में देवता की मूर्ति होती थी तथा गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणापथ बनाया जाता था। गर्भगृह के सामने भक्तों के इकट्ठा होने के लिये, स्तम्भो पर टिका हुआ मण्डप होता था। स्तम्भों पर धार्मिक प्रतीकों का अंकन किया जाता था। अपनी निर्माण शैली मे ये मन्दिर बड़े ही कलात्मक हैं।

दक्षिणी भारत की शैली—दक्षिणी भारत की मन्दिर वास्तुकला शैली में पल्लव शैली प्राचीनतम है। इस शैली का विकास छठी से ८वीं शती ई० के मध्य हुआ था। माम्मलपुरम तथा कांजीवरम मे बने मन्दिरो का निर्माण पल्लव शैली के अनुसार था। इन मन्दिरों के शिखर प्रायः पिरैमिड की भाँति बनाये जाते थे। इसके उपरान्त ११वीं तथा १२वीं शती ई० में चोल शैली का विकास हुआ। यह शैली पल्लव शैली का ही विकसित रूप थी। तंजोर का शिवमन्दिर तथा गंगई कोण्ड चोलपुरम का मन्दिर इस शैली के दो उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन मन्दिरों के शिखर बहुत ऊँचे तथा अलंकरण अति सूक्ष्म है। चोल शैली के उपरान्त पाण्ड्य शैली का विकास हुआ। इस शैली के मन्दिर मदुरा, श्रीरंगम आदि में मिलते हैं। इन मन्दिरो मे गोपुर मिलते हैं। इनके ऊपर भी पिरैमिड के आकार का शीर्ष है तथा इनका अलंकरण भी नयनाभिराम है। दक्षिण भारत की अन्य शैलियों में चालुक्य, राष्ट्रकूट तथा होयसल राजवंशो के संरक्षण में विकसित शैलियो का भी प्रमुख स्थान है।

हिन्दू मन्दिरों के भेद

हिन्दू धर्म का आन्तरिक रूप तो भेदविहीन है परन्तु इस धर्म के मन्दिरों को कला की दृष्टि

से भेद पूर्ण माना जाता है। फर्यूसन महोदय ने हिन्दू मन्दिरों के तीन भेद बताए हैं—(१) आर्यावर्त, (२) चालुक्य, तथा (३) द्रविण। कुमार स्वामी महोदय के मतानुसार भी तीन भेद हैं, यथा, (१) उत्तरीय (२) माध्यमिक, तथा (३) दक्षिणी। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो हमे दो भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं—(१) उत्तर भारतीय तथा (२) दक्षिण भारतीय। उत्तर भारतीय शैली को 'नागर शैली' भी कहा जाता है। इस शैली में गर्भगृह के ऊपर ऊँची मीनार बनाकर उसके ऊपर आमलक कलश और ध्वज दण्ड की स्थापना की जाती थी। दक्षिणी भारतीय शैली को 'द्रविण शैली' भी कहा जाता है। इन मन्दिरों में गोपुर बना होता था। इन मन्दिरो से वर्गाकार गर्भगृह तथा पिरैमिड की भाँति का शिखर बनाया जाता था।

हिन्दू मन्दिरों की विशेषताएँ

प्राचीन भारत की वास्तुकला धर्म प्रधान थी। भारतीय शिल्पकारो तथा शासको ने अपनी मान्यतानुसार जिन मन्दिरो का निर्माण किया या करवाया, उनकी निर्माण शैली मौलिक तथा किसी भी विदेशी प्रभाव से मुक्त है। मन्दिरो में धर्म के भव्य रूप का प्रदर्शन किया गया है। मन्दिरो को पृथ्वी पर स्वर्ग के समान माना गया है। ये भारतीय संस्कृति के केन्द्र, स्रोत तथा पोषक रहे हैं।

प्रमुख मन्दिर तथा उनकी वास्तुकला

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं मन्दिर निर्माण की वास्तुकला का रूप गुप्तकाल से निश्चित होना प्रारम्भ हुआ था। इसके पूर्व के मन्दिरो की रूपरेखा का अनुमान, भरहुत, अमरावती, सांची, गया तथा मथुरा के प्रस्तरों पर अंकित चित्रो से किया जा सकता है। तत्कालीन मन्दिरो का निर्माण चौकोर नीव के ऊपर होता था, जिसके ऊपर बारह स्थूणो का मण्डप होता था, उनके ऊपर स्तूपिका और स्तूपिका के ऊपर शिखरनुमा कलश होता था। प्रायः सभी देवताओ के मन्दिरो की योजना यही होती थी और देवता की पहचान के लिए बाहर प्रहरण ध्वज अथवा कोई अन्य चिन्ह होता था। अनेक मन्दिर के सामने त्रिशूल और परशु है जो मन्दिरों के शैव होने का द्योतक होते थे।

गुप्तकाल के मन्दिर एक विशेष ढंग के होते थे। इनमें एक चौकोर गर्भगृह होता था, जिसमे मुख्य प्रतिमा स्थापित की जाती थी। सामने स्तम्भो पर आधारित एक मण्डप होता था। कभी-कभी गर्भगृह के चारो ओर आच्छन्न प्रदक्षिणा के चारो ओर बड़े कमरे का निर्माण होता था और छत युक्त प्रदक्षिण-पथ मार्ग भी बनाया जाता था। इन मन्दिरों के द्वार प्रायः अलंकृत होते थे। इनके द्वार स्तम्भों पर एक ओर मकरारूढ़ा गंगा, कच्छप पर खड़ी हुई यमुना, मंगल घट आदि का अलंकरण मिलता है। इस युग के प्रारम्भिक मन्दिर प्रायः सादे मिलते हैं। इनमे साची का मन्दिर, तिगवा (जबलपुर(का विष्णु मन्दिर एरण (सागर) के विष्णु तथा वराह-मन्दिर उल्लेखनीय हैं।

बाद के गुप्तकालीन मन्दिरो में अलंकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ। गर्भगृह के चारों ओर ढका हुआ प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाने लगा है। मध्य प्रदेश के नचना तथा भूमरा के शिव मन्दिर ऐसे ही हैं। नागोद राज्य के भूमरा और बुन्देलखण्ड के अजयगढ़ के मन्दिर भी इसी कोटि में आते हैं और ये महत्त्वपूर्ण मन्दिर है।

देवगढ़, भीतरगाँव के मन्दिरों मे चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है।

उपर्युक्त दोनो मन्दिरो का रचना काल छठो शती ई० है। शिखर शैली का अन्यतम उदाहरण बौद्ध गया का महाबोध मन्दिर उत्तर गुप्तकाल मे निर्मित एक अन्य प्रसिद्ध मन्दिर है।

गुप्तकाल के अनन्तर हिन्दू और जैन मन्दिरो का निर्माण पर्याप्त रूप मे हुआ। इन मन्दिरों में शिखराकृति मिलती है। शिखर का अधिकतम भाग इस काल मे अलकृत किया जाने लगा था। सातवी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी तक उत्तर भारत मे जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमें अहिच्छत्र, नालन्दा तथा उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के तेंदुनो और बहुवा के मन्दिर महत्वपूर्ण हैं। ये बहुत अधिक ऊँचे स्थान पर बने हैं।

उड़ीसा के मन्दिर

उड़ीसा के मन्दिर आकार और प्रकार मे उत्कृष्ट रूप लिये आज भी दर्शनार्थियों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे है तथा वास्तुकला के अनुपम रूप को व्यक्त कर रहे हैं। उड़ीसा स्थित समस्त मन्दिर आठवी से दसवी शताब्दी के बीच निर्मित हुए। ये मन्दिर-समूह दुर्गम पर्वत समूहो के कारण आज सुरक्षित है। इन मन्दिरो मे भुवनेश्वर स्थित परशुरामेश्वर (७५० ई०), मुक्तेश्वर (९५० ई०), लिंगराज (१००० ई०), मेघेश्वर (१२०० ई०), पुरी स्थित राजरानी और जगन्नाथ (११५० ई०) तथा कोणार्क स्थित सूर्य देवल (१३०० ई०) मन्दिर मुख्य हैं। इन मन्दिरो मे से कुछ मे जगमोहन (मण्डप) के अतिरिक्त नृत्य-मण्डप, नाट्य-मण्डप, सभा मण्डप और भोगमण्डप नामक अलग मण्डप भी हैं। लिंगराज के मन्दिर में तो ये सभी मण्डप हैं जो विभिन्न समयो के बने हैं। उसका नाट्य-मण्डप १३०० ई० में बना था। यह मन्दिर भारतवर्ष के वर्तमान मन्दिरो मे सबसे भव्य और विशाल समझा जाता है। इसके जगमोहन के ऊपर बनी हुई कारनीसें दो खण्डो मे विभक्त हैं। इसमें बने विमान पर विशाल आमलक और उसके ऊपर कलश है। उसके शिखर की समानान्तर रेखायें इसकी निजी विशेपतायें हैं।

अलंकरण की दृष्टि से उड़ीसा के मंदिर महत्वपूर्ण हैं। मुक्तेश्वर का मन्दिर सर्वाधिक सुन्दर है। इस मन्दिर पर नाग-नागिनियो की मोहक मूर्तियाँ अंकित हैं। इसी प्रकार राजरानी के मन्दिर के स्तम्भ पर नागनियो की मूर्तियाँ और भी अधिक भव्य तथा आकर्पक हैं। कोणार्क मन्दिर में जगमोहन पर मानव- आकृतियाँ बनाई गई है। इसके शिखर भाग पर काम शास्त्र के छन्द अंकित हैं जो कि मूर्ति कला की दृष्टि से सुन्दरतम है।

चन्देलो की राजधानी बुन्देलखण्ड मे खजुराहो के मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। खजुराहो के मन्दिरो का निर्माण-काल १० वी ११ वी शती है। इन मन्दिरो में लगभग ३० जैन मन्दिर तथा अनेक हिन्दू मन्दिर है। इन मन्दिरो मे कंधरिया नाथ महादेव का मन्दिर विशेप सुन्दर है। यह मन्दिर आकृति में १०९ फुट लम्बा, ६० फुट चौड़ा और ११६ फुट ऊँचा है। इस मन्दिर की ऊँचाई की भव्यता, आधार और विमान (शिखर) के लम्बे रूप की रेखाओं के द्विगुणित होने के कारण और भी अधिक हो गई है। प्रदक्षिणा पथ में सुन्दर स्तम्भो की योजना है। चारो ओर भव्य झरोखे हैं। मन्दिर का कण-कण मूर्तिकला से अलंकृत है। कहीं-कही अश्लील मिथुन भी हैं। इस स्थान के प्राय: सभी मन्दिरो की रूपरेखा समान है। वैष्णव चतुर्भुज, आदिनाथ आदि के मन्दिरो का अन्तर केवल प्रतिष्ठित प्रतिमा के आधार पर ही ज्ञात होता है। "यह सम्पूर्ण मन्दिर भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट उदारण है। इसका भव्य उच्च शिखर, पार्श्व के कंगूरे, छज्जो से

युक्त प्रदक्षिणा पथ—सभी दर्शनीय हैं। मुख्य शिखर को छोड़कर सम्पूर्ण मन्दिर का बाहरी-भीतरी भाग विविध कलात्मक मूर्तियों तथा अलंकरणों से सुसज्जित है। कुछ वृत्तियाँ कामशास्त्र सम्बन्धी हैं। खजुराहो के अन्य वैष्णव एवं शैव मन्दिरो की तथा जैन मन्दिर आदिनाथ की निर्माण शैली कंधरिया जैसी है।[1]

राजस्थान में आठवीं से बारहवी शती के बीच अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में अधिकांश वैष्णव मन्दिर हैं। ओसिया जोधपुर के हरिहर के दो देवालय तथा सूर्य मन्दिर अपने अतिशय अलंकरण के लिए ख्याति प्राप्त हैं। मध्यप्रदेश के ग्वालियर दुर्ग मे स्थित सास-बहू तथा तेली का वैष्णव मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। ग्वालियर का परमार का नीलकण्ठ मन्दिर अथवा उदयेश्वर का मन्दिर भी प्रसिद्ध है। भूतपूर्व रीवाँ राज्य में चन्देली मे गोल शिखर युक्त मन्दिर भी दर्शनीय है। नरसिंहपुर रियासत के सोहागपुर का मन्दिर खजुराहो के मन्दिरो के अनुकरण पर है। इसी प्रकार इन्दौर का सिद्धनाथ का मन्दिर प्रसिद्ध नागर शैली का मन्दिर है। आठवी और बारहवी शताब्दी मे पंजाब तथा गंगा के कांठे मे अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर प्रारम्भिक गुप्तकाल तथा भीतरगाँव, सिंहपुर आदि मध्यवर्ती मन्दिरों की परम्परा का स्मरण दिलाते हैं।

इन मन्दिरों के अलावा भारत के अन्य भागो मे अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है। जैन मन्दिरो की विशेषता इनके आँगन के चारो ओर स्तम्भ युक्त छोटे-छोटे मन्दिरो का समूह होना है। इस मन्दिर समूह के मध्य में मुख्य मन्दिर का निर्माण किया जाता था। इनमें चौमुख का विकास भी है। इन मन्दिरो का मुख चारो ओर होता है और मन्दिर भी चतुर्मुख होता है जो कि चारों दिशाओ से देखा जा सकता है। जैन मन्दिर अजमेर, दिल्ली, धार, अहमदाबाद आदि स्थानो पर निर्मित थे, इनमें से अनेक मन्दिरों को मुसलमानों ने ध्वस्त कर मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया।

अन्य विविध मन्दिर—गुजरात मे भी सोलङ्की राजाओं ने अनेक ब्राह्मण एवं जैन मन्दिरो का निर्माण कराया था, किन्तु यवनो की धर्मान्धता के कोपभाजन होकर सभी मन्दिर काल-कवलित हो गए। इन मन्दिरो में अणहिलवाड़ा, सोमनाथपट्टन आदि थे।

हिमालय की तराई मे कुछ ऐसे मन्दिरो का निर्माण हुआ है जो अपनी वास्तुकला में सबसे भिन्न हैं। ये मन्दिर प्रस्तर के न होकर काष्ठ से निर्मित हैं। नैपाल में इस प्रकार के मन्दिर का रूप और भी अनोखा है। उनमें स्थानीय रूपो के साथ-साथ नागर और बंगला शैली का विचित्र सम्मिश्रण हुआ है। वहाँ के मन्दिरो का विकसित रूप चीनी 'पैगोडा' से मिलता-जुलता ढालू छतों वाला बहुमंजिला होता है। प्रत्येक मंजिल में ढालू छतो का आधार और नक्काशीदार टोडे होते हैं जिनके चारों कोने ऊपर को नासिका सरीखे उठे होते हैं। नैपाली मन्दिरो से साम्य रखने वाले कुछ मन्दिर कोचीन, त्रावनकोर तथा बाली मे भी पाये जाते हैं।

इस नैपाली शैली में बने मन्दिरों में उदाहरण स्वरूप मन्दिर भाटगाँव (नैपाल) का भवानी मन्दिर है। काठमाण्डू का प्रसिद्ध पशुपतिनाथ का शिव मन्दिर भी इसी शैली का मन्दिर है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य', पृ० २११—कृष्णदत्त वाजपेयी।

आठवी से तेरहवी शताब्दी के मध्य निर्मित कश्मीरी मन्दिरो की वास्तु शैली अपना अलग महत्व रखती है। इन मन्दिरो की वास्तुकला में उनकी छतें दोहरी, कोणाकार, और एक के ऊपर एक आपस मे काटती हुई वर्गों की बनी होती हैं। उनका सामने का तोरण त्रिकोणाकार होता है जिसमे बीच में एक ताखा रहता है। उसके स्तम्भ ऊँचे उठे होते हैं, जिसमें लकड़ी अथवा पत्थर का दीप होता हे। मुख्य मन्दिर के चारो ओर स्तम्भ युक्त मण्डप अथवा प्रदक्षिणा-पथ रहता है।

इस शैली के निर्मित वालू पत्थर के मन्दिर लदुव, मार्त्तण्ड, पठन पायर, पाण्डेत्थान और पंजताण (जम्मू) मे हैं तथा कंडे तेलिया पत्थर के वांगथ और बुनियार मे हैं। इन सभी मन्दिरों मे शिलादित्य निर्मित मार्त्तण्ड मन्दिर अपने आकार एवं स्थान के कारण विशेष महत्वपूर्ण है। इस शैली का एक-एक मन्दिर काठियावाड़ तथा पंजाब मे भी मिला है।

दक्षिणापथ के मन्दिर

दक्षिण वास्तु-शैली का निर्माण तथा विकास दक्षिणी भारत के शासको की छत्र-छाया में हुआ है। परिणामस्वरूप उनके नामकरण भी वहाँ के शासको के नाम पर ही हुए हैं। उदाहरण के लिए पल्लव-शैली, चोल-शैली, पाण्ड्य-शैली, चालुक्य-शैली, विजयनगर-शैली, मदुरा-शैली आदि। दक्षिण भारत की कला की चर्चा करते समय हम इसी अध्याय मे दक्षिण भारत के मन्दिरो का उल्लेख कर चुके हैं।

पल्लव शैली के मन्दिर उत्तरी अर्काट तथा त्रिचनापल्ली के जिलों में पल्लवरम, दलवानुर, किलम विलगई, महेन्द्रवाड़ी मंगलराजपुरम्, भैरवकोण, श्यामंलम्, त्रिचनापल्ली, महाबल्लीपुरम् मे प्राप्त होते हैं। पल्लव साम्राज्य के उपरान्त चोल साम्राज्य की छत्रछाया मे द्रविड़ शैली का प्रचुर प्रचार हुआ। चोल-शैली के मन्दिरों में राजा राजदेव चोल निर्मित वृहदीश्वर के मन्दिर (१००० ई० के लगभग), राजेन्द्र चोल द्वारा निर्मित गंगई कोण्डा चोलपुरम् के मन्दिर (१००५ ई०) विशिष्ट है। चोल निर्माताओ के काल मे गोपुर का निर्माण हुआ और क्रमश: उसने वृहद आकार धारण कर लिया। अन्ततः उसने मुख्य मन्दिर के शिखर को भी ढक लिया। परवर्ती द्रविड़ शैली की यह एक विशिष्ट विशेषता हे। चोलो के उपरान्त पाण्ड्य शैली का विकास हुआ। इस शैली की विशेषता विशाल मण्डप है। इन मण्डपो के स्तम्भ अलंकृत है। कभी-कभी इन मण्डपो का निर्माण रथ के रूप में हुआ है। १३वी शताब्दो मे निर्मित चिदम्बरम् के मन्दिर द्रविड़ शैली के अनुपम तथा पूर्ण विकशित शैली के उदाहरण है। पाण्ड्य काल और उसके पश्चात् की वास्तुकला में विशालता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। परिणामत: इस काल की कला मे विशाल प्रस्तर स्तम्भ मिलते हैं जो कि अलंकृत भी हैं।

चोल और पाण्ड्य शैली के समानान्तर जिस अन्य शैली का विकास हुआ वह चालुक्य शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। कुछ शिल्पकार इस शैली को "वेसर" भी कहते हैं। इस शैली की विशेषताएँ हैं—अपेक्षाकृत कम ऊँचाई किन्तु अधिक विस्तार, तारा सदृश रूपक, मुख्य मण्डप की तीन दिशाओं में गर्भगृह तथा स्तम्भ का मौलिक स्वरूप। इस शैली का शिखर गोल हे किन्तु ऊपर की ओर वह क्रमशः पतला होता गया है।

१३५०-१४६० ई० के बीच विजयनगर के शासको द्वारा नवीन मन्दिरों के निर्माण की

अपेक्षा जीर्णोद्धार और उनके अधिक अलंकरण की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। आज दक्षिण के मन्दिरो में जितने भी गोपुर उपलब्ध हैं वे सब इसी काल के हैं। इस काल की एक अपनी विशेषता—मण्डपो के ऊपर स्तूपिकाओं का निर्माण है जिसके कारण मन्दिर के सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इस काल मे उल्लेखनीय विशाल स्तम्भयुत मण्डपों में कांचीपुरम् (एकाम्रनाथ), विजयनगर (विट्ठल स्वामी), ओवादियर कोविल और वैरू (कल्याण मण्डप) दर्शनीय हैं। विजयनगर के सर्वोत्कृष्ट मन्दिरो में कृष्णदेवराय का विट्ठलस्वामी मन्दिर भी है।

खजुराहो के मन्दिर

खजुराहो के मन्दिर अपनी शैली और विषयवस्तु के लिये जगत-प्रसिद्ध हैं। झाँसी से १६० किलोमीटर दूर स्थित इन मन्दिरो के बनने के समय के वारे में मतभेद है। कुछ के विचार से इनका समय १०वी से १६वी शती ई० कहा गया है परन्तु कुछ लोगों के विचार से ये १०वी से ११वी शताब्दी के वीच में ही वने माने गये हैं। कुछ विद्वानो के विचार से इनका निश्चित समय ६५८-१००२ ई० बताया गया है। बुन्देलखण्ड में वहुत-सी महत्वपूर्ण वास्तु कृतियाँ चन्देल राजाओं द्वारा दसवी शताब्दी में वनायी गयी थी। इस कारण इसे भी उसी समय का वना कहा जा सकता है। दसवीं शताब्दी में खजुराहो 'जहोति' नाम के राज्य की राजधानी मानी गयी है। यहाँ के मन्दिरो में 'भुवनेश्वर' का मन्दिर सवसे पुराना माना गया है साथ ही इस शैली में खजुराहो के मन्दिरो का प्राचीनता की दृष्टि से दूसरा स्थान है।

खजुराहो में ३० मन्दिरों का समूह है। ये अपनो वास्तुकला की उत्तमता तथा मूर्ति कला में अनुपम हैं। यहाँ के मन्दिरो के अन्दर तथा बाहर की दीवारें वहुत ही कोमल तथा भावपूर्ण दृश्यों के अभ्युचित्रो से भरी हुई हैं।

खजुराहो की मूर्तियों मे गुप्तकाल की विशेषतायें विद्यमान हैं तथापि इनमे जिन घटनाओ के बड़े-बड़े दृश्य अंकित किये गये हैं वे इस काल की निजी विशेषताओ के सूचक हैं। इन दृश्यों में गति तथा अभिनय स्पष्ट दिखता है, इस कारण इस काल को भारतीय मूर्तिकला का सर्वाधिक रचनात्मक काल माना गया है। यहाँ के मन्दिर बहुसंख्यक स्पष्ट प्रेम सम्वन्धी अभ्युचित्रों के लिए विख्यात हैं। ये चित्र पहले कन्नौज के महान् प्रतिहार शिक्षको द्वारा वनाये गये थे तथा वाद में इनमे तांत्रिक शिव की उपासना के भावो को व्यक्त किया गया, इसी कारण यहाँ की मूर्तियो में तांत्रिक भाव वहुत अत्यधिक स्पष्ट है। "६४ योगिनी" का मन्दिर इसको स्पष्ट करता है। यह मैथुन तथा मद्य सम्बन्धी कर्मकाण्डो से भरा हुआ है। यहाँ की मूर्तियाँ 'योग भोग के द्वारा ही प्राप्त होता है' के सिद्धान्तो पर आधारित हैं।

यहाँ का 'कन्दरिया महादेव का मन्दिर' बहुत प्रशंसनीय है। इस मन्दिर का वाहरी रूप अम्बर के रूप को बहुत सुन्दर ढंग से दिखाता है जो धीरे-धीरे चढ़ता चला गया है और एक ऊँचे शिखर मे समाप्त हो गया है। यह एक छोटी प्रतिकृति द्वारा मन्दिर के ढालू ओर को सम्हालता है। यहाँ पर भी आश्चर्यजनक प्रेम सम्बन्धी मूर्तियाँ वनी हुई हैं। ये कोणार्क की मूर्तियो से अधिक सुन्दर हैं।

खजुराहो की मूर्तियो में मौलिकता का अभाव है। ये मूर्तियाँ केवल सजावट की दृष्टि से

बनाई गई थीं क्योंकि इस समय कलाकारों की विचार शक्ति क्षीण होने लगी थी। यहाँ की बहुत सी मूर्तियाँ असावधानी से बनाई गई हैं जो शरीर रचना की दृष्टि से असम्भव सी प्रतीत होती हैं।

कुछ मूर्तियों से हमें स्पष्ट पता चलता है कि इस समय विदेशियों के आक्रमणो के कारण मूर्तिकला में विशेष परिवर्तन आया होगा। खजुराहो की मूर्तियो को हिन्दू तन्त्र पर आधारित होने के कारण भी बहुत महत्व दिया गया है। ये अपने समय की कलापूर्ण कृतियाँ मानी गई हैं।

कोणार्क के मन्दिर

कोणार्क के मन्दिर में मध्ययुगीन उत्तरी भारतीय हिन्दू कला का चरमोत्कर्ष है। यहाँ की कला उस समय के उत्तरी पूर्वी राज्य की नवी से तेरहवी शताब्दी की कला एवं गुप्तकाल के बीच के युग की कला का प्रतिनिधित्व करती है। यह कला खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मन्दिरो के समान है परन्तु फिर भी यह गुप्त शैली से पूर्ण रूप से भिन्न है। यह मन्दिर चन्द्रभागा नदी के किनारे पर बना हुआ है। इसके निर्माण का प्रारम्भ दसवीं शताब्दी में हुआ था परन्तु इसकी समाप्ति तेरहवी शताब्दी में मानी गई है। १२३७ ई० में राजा नरसिंह वर्मा ने इस मन्दिर को आधुनिक रूप देना प्रारम्भ किया था। श्री पर्सीब्राउन के विचार से यह मन्दिर कभी पूरा हुआ ही नही। इस मन्दिर के पूजा गृह में भी किसी मूर्ति की स्थापना नही जान पड़ती है जिससे श्री पर्सीब्राउन के मत की पुष्टि होती है। इस काल मे कलाकारो की विचार शक्ति क्षीण हो रही थी इसी से उनकी मूर्तियों में मौलिकता का अभाव हो गया था। इस समय मूर्तियाँ केवल सजावट की दृष्टि से बनाई जाने लगी थीं। इन मन्दिरों की मूर्तियो के मुखमण्डल के कपोल स्थूल तथा उभरे हुए बनाये गये हैं एवं बल खाती देह का प्रदर्शन यहाँ से ही प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है, साथ ही इनमे वास्तविकता का ध्यान नहीं रखा गया है।

कोणार्क मन्दिरो में सूर्य भगवान के मन्दिर को बहुत महत्व दिया गया है। यह रथ के आकार का है जिसे सात घोड़े खींच रहे हैं तथा यह बारह जोड़ी पहियों पर टिका हुआ है, इसी कारण इस मन्दिर को रथ भी कहा जाता हे। इसको देखकर जान पड़ता है कि सूर्य भगवान आकाश मार्ग पर भ्रमण के लिए निकले हुए हैं। इस मन्दिर की बहुत कुछ समानता उड़ीसा के सूर्य भगवान के रथ (मन्दिर) से दिखती हे। यह काला मेरु-मन्दिर है एवं यह पुरी से ३० किलोमीटर उत्तर पूर्व में बना हुआ है। इसे सूर्य भगवान की उपासना के लिए बनवाया गया था। इसकी पद्धति विष्णु की पद्धति से बहुत मिलती है। ऐसी किंवदन्ती है कि इस मन्दिर का निर्माण कृष्ण एवं जबावती के पुत्र संबा द्वारा किया गया था। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि केसरी कुल के राजा ने कोणार्क में एक मन्दिर का निर्माण कराया था। पुरी के मन्दिर के इतिहास मे भी कोणार्क का वर्णन है। इसके पास २८ मन्दिर बने हैं ये सभी मन्दिर पत्थरों के बने हुए हैं। कोणार्क का सूर्य भगवान का रथ अद्वितीय है। इस मन्दिर में प्रत्येक पत्थर पर मूर्तियाँ बनी है। मूर्तियाँ छेनी द्वारा बहुत कुशलता से काटी गई हैं परन्तु ये बहुत उन्नत नहीं हैं। इसका कारण भारत पर मुगलो के आक्रमणों का प्रारम्भ भी माना गया है साथ ही कलाकारो की विचार शक्ति की क्षीणता भी। ये हजारो की संख्या में बनी हैं साथ ही ये भिन्न-भिन्न नाप की हैं। इन मूर्तियो के नाप की मूर्तियाँ कही से भी प्राप्त नही हुई है। इन्हे ऐसे व्यवस्थित किया गया हे कि ऐसा भास होता है कि पूरी ही इमारत सजीवता से झूल रही है। रथ के पहियो पर जीवन की विभिन्न झलकियाँ चित्रित हैं जिनमें मनुष्य की विला-

सिता का स्पष्ट चित्रण दिखता है। मन्दिर की भीतरी दीवारों पर मिथुन के दृश्य अध्युचित्रों में बने हुए हैं, जो कि तान्त्रिक कला के भाव को व्यक्त करते हैं। ये सजीव एवं स्वाभाविक हैं। मन्दिर का बाहरी अलंकरण मानव जीवन की विभिन्न झलकियो को दिखाता है तथा सूर्य की शक्ति का भी प्रदर्शन करता है। कोणार्क मन्दिर मे पशुओं की मूर्तियाँ बहुत ही सजीव जान पड़ती हैं।

विदेशों में भारतीय कला

भारतीय कला के वास्तविक रूप और मन्तव्य को तभी पूर्णरूप से समझा जा सकता है जबकि उसके विदेशो में, विशेष रूप से मध्य एशिया, श्रीलंका सहित दक्षिण पूर्वी एशिया में, प्रसार का अध्ययन कर लिया जाये।

मध्य एशिया में हुई खोजों से ऐसे कई केन्द्रो का पता चला हे, जो अपनी मूर्तियो तथा चित्रों के लिए विख्यात थे। इनमें एक सिरे पर खोतान क्षेत्र और दूसरे सिरे पर तुन-हुआंग हे और उनके बीच मे अन्य कई स्थल हैं जो चीन से पश्चिमी जगत् के देशो को जाने वाले प्राचीन रेशम मार्ग पर स्थित होने के कारण इतने ही प्रसिद्ध हैं। बौद्ध कला के प्राचीनतम अवशेष दक्षिणी मार्ग पर तुन-हुआंग से ४८० किलोमीटर दूर स्थित मीरान मे पाए गए थे। यह केन्द्र दीवार पर बने चित्रो के लिए विख्यात है। मीरान के दो ध्वस्त मन्दिर अत्यंत रोचक हैं—अपने रूप की दृष्टि से भी और जातक दृष्टियो तथा माला धारिणी आकृतियो वाले अपने भित्ति-चित्रों की दृष्टि से भी। दन्दान-उलिक में मिला एक मित्तिचित्र ईसा की सातवी या आठवी शताब्दी की भारतीय चित्रकला का उदाहरण हे, जिसमें भारतीय तत्व की प्रधानता है। एक वह फलक अत्यंत रोचक है, जिसमें एक पार्श्व पर तो वृषभो की एक जोड़ी पर बैठे त्रिमुख शिव को चित्रित किया गया हे और पिछले पार्श्व पर एक चतुर्भुज मूर्ति दिखाई है। एक और प्रसिद्ध भित्तिचित्र है, जिसमें एक अप्सरा दिखाई गई है; वह एक मेखला तथा एक पारदर्शक लज्जावरण के सिवाय बिल्कुल नग्न है; वह एक कमल सरोवर में खड़ी है; उसके निकट ही एक नंगा लड़का है, जो उसकी ओर बाहे फैलाए है। यह चित्र इस दृष्टि से रोचक है कि उसका मथुरा की कुषाण-कालीन कला की पाषाण-निर्मित कमल सुन्दरी के साथ साम्य खोज पाना संभव है। कूचा क्षेत्र मे मिली विपुल चित्रावलियो मे अनेक भारतीय तत्व दृष्टिगोचर होते हैं, इनमे ब्रह्मा, इंद्र और पार्वती तथा नंदी के साथ शिव के चित्र हैं और छतो को बादलों से गिरती बूंदों को पीते चातको से अलंकृत किया गया है। तुन-हुआंग में भी प्रतिमाशास्त्रीय सूक्ष्मताओं को छोड़ कर भारतीय विशेषताएँ खोजी जा सकती हैं, हालांकि यह चीनी कला के अधिक निकट है।

बौद्ध तथा ब्राह्मणपंथी, दोनों प्रकार की भारतीय कला तथा स्थापत्य का सूत्र इंडोचाइना (आधुनिक वियतनाम) कंबोडिया, लाओस, मलयेशिया, वर्मा और इंडोनेशिया में भी पाया जा सकता है।

अङ्गकोरथोम तथा अङ्गकोरवाट—कंबोडिया मे अंगकोरथोम और अंगकोरवाट के मंदिर, जिनमे लोकेश्वर द्वार और दानवों तथा नागो के सेतु (काजवे) बने हैं, भव्य बायोन, जिसमे बड़े-बड़े बुर्ज हैं, और फिमेनको का महल (आकाश विमान), स्तम्भावलियों से युक्त प्रवेश मार्गों तथा वेदिकाओ वाला बाफुओन और दक्षिण भारतीय गोपुरों की भांति नाजुक नक्काशी से युक्त सुन्दर

बान्ती श्री, ये सब किसी भी दर्शक के मन को अनायास ही मुग्ध कर लेते हैं। ख्मेर कलाकारो ने हिन्दू और बौद्धो के महायान संप्रदाय, दोनो के ही प्रतिमाशास्त्र को अपनाया था। भीतरी तथा बाहरी दीवारो को अलंकृत करने के लिए बनाई गई अप्सराओ और देवताओ की सजावटी प्रतिमाओ के सिवाय वहाँ मूर्तिकला के क्षेत्र मे ऐसा कुछ भी नही है, जो धार्मिक न हो। अंगकोरवाट का स्वरूप वैष्णव है, परन्तु वहाँ बहुत से शैव मन्दिर भी है।

चम्पा मे पो-नगर, माइ-सोन और दुंग-दुआंग में और भी अधिक प्राचीन मन्दिर हैं, जो शैव हैं। शैव मत से सम्बन्धित मूर्तियो मे शिव के अतिरिक्त, उसके नंदी वृषभ, गणेश, स्वामी कार्तिकेय तथा गणों की मूर्तियाँ हैं। कुछ ऐसे फलक (पैनल) भी दिखाई पड़ते हैं, जिनमें पौराणिक दृश्य चित्रित हैं। दुग-दुआंग स्थित लोकेश्वर मन्दिर और बौद्ध विहार महायानी बौद्ध कला को चाम लोगो की देन थे। चाम कला में लौकिक विषय भी चित्रित किए गए हैं। नाचती हुई स्त्री की मूर्ति, जो अब तूरेन संग्रहालय में है, अभिघटन (प्लास्टिक) कला के उच्च स्तर को परिचायक है। उसकी बाईं बांह संतुलनकारी भंगिमा में आगे की ओर फैली हुई है। भारतीय देवियो की प्रतिमाओ की भाँति उसकी कमर पतली और लचकदार है तथा वक्षस्थल उभरा हुआ है।

बोरोबुदूर स्तूप—जावा में भारतीय कला केवल प्रसिद्ध बोरोबुदुर स्तूप तक ही सीमित नही है, अपितु इसका विस्तार और भी आगे तक है, जिसमें पन्तन-तोरण मन्दिर समूह और चण्डियाँ और मानवाकार मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं; इन मूर्तियो मे पूर्वी जावा के प्रसिद्ध शासक ऐरालांगा की विष्णु के अवतार के रूप मे बनी मूर्ति भी है। बोरोबुदुर स्तूप अपने स्थापत्य सम्बन्धी आकार-प्रकार और मूर्ति-वीथियों के लिए प्रसिद्ध है। इस स्तूप में दीवारों से घिरी हुई पांच वीथियाँ अर्थात् वेदियाँ हैं, जो आयतो के आकार मे बनी हैं, इनके ऊपर तीन गोलाकार मंच हैं; उन पर बहत्तर घन्टाकृति स्तूप बने हैं और इनके साथ चोटी के ऊपर एक सबसे अंतिम, सब ओर से बन्द स्तूप है, जो इस सारी इमारत का केन्द्र बिन्दु है। यह अंतिम स्तूप ठोस और अप्रवेश्य प्रतीत होता है और दर्शक को प्रवेश द्वार ढूंढने के लिए चारो ओर घूम कर देखना पड़ता है। वीथियों के निम्न-उद्भृत भी पत्थर के बने उन बड़े-बड़े जंगलो के कारण, जो पर्दे का सा काम करते हैं, बाहर से दिखाई नहीं पड़ते। वीथियों में बने आलो में ध्यानी बुद्ध की प्रतिमाएँ हैं। ऊपर की तीन वेदियो पर स्तूपो के अंदर बहत्तर बुद्ध बैठे हैं और बिल्कुल चोटी पर परम बुद्ध है, जो अंतिम स्तूप की ठोस पत्थर की घन्टी के नीचे पूरी तरह छिप गया है। बोरोबुदुर के उद्भृतों में बुद्ध की पहली उपदेश देने की कथा भी चित्रित है और पीछे की ओर जातकों तथा अवदानो से लिए गए बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित दृश्य चित्रित किए गए हैं। भावी बुद्ध मैत्रेय और अंतिम बुद्ध समन्तभद्र के लिए भी चित्र-वीथियाँ बनाई गई हैं। बोरोबुदुर का सामान्य स्थापत्य-रूप तथा स्थापत्य-अलंकरण उनके भारतीय आद्य रूपो पर आधारित हैं। इसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय से है। यहाँ के महत्वपूर्ण हिन्दू स्मारक हैं, लोरो जोंगराग में स्थित शिव मन्दिर (नवी शताब्दी), बानोन में स्थित वह मन्दिर, जिसमें अगस्त्य की (जिसे शिवगुरु भी कहा जाता है) पांच प्रतिमाएँ और विष्णु की प्रतिमा है (जो अब बटाविया में है), और सिंगासारी का चंडी किदल। इनमे से अंतिम में, जो पूर्वी जावा में है, महिष-मर्दिनी दुर्गा की और गणेश की सुन्दर मूर्तियाँ थी, जो अब लाइडन मे हैं। कला में धार्मिक सहिष्णुता वेयिंग के उद्भृतो में भली-भाँति प्रकट हुई थी, जिनमें 'चण्डी जागो' नामक एक बौद्ध मन्दिर में जावाई कृष्णयान का चित्रण किया गया था।

थाइलैंड (विशेष रूप से लोपबुरी), बर्मा और श्रीलंका के स्मारकों में हीनयानी बौद्ध धर्म का प्रमुत्व परिलक्षित होता है। यहाँ पागन में स्थित नात ह्लौंग, क्यामुग के हिन्दू मन्दिर का, और उसी स्थान मे प्रसिद्ध आनन्द मन्दिर के रूप मे महाबोधि का, जिसकी योजना सलीब की आकृति की है, और प्राचीन राज्य सुखोताइ के वाट महाधातु मे सियामी मन्दिर का उल्लेख कर देना उचित होगा। ये सब विशुद्ध भारतीय शैली, हिन्दू-जावाई शैली, मौन-ख्मेर तथा सुखोदय की प्रादेशिक शैलियाँ, अयोध्या शैली तथा कुछ अन्य शैलियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों देशों मे भारतीय कला केवल हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म तक ही सीमित है और भारतीय प्रभाव पूर्वतर अवस्था मे अधिक प्रधान रहा है। सुन्दर मूर्तियो वाले मन्दिरो तथा स्तूपो के अतिरिक्त श्रीलंका में सिगिरिया मे और बर्मा मे पागन मे चित्र भी प्राप्त हुए है।

प्राचीन काल से लेकर ईसा की तेरहवी शताब्दी तक विभिन्न युगो मे, भारत मे और उसके पड़ोसी मध्य एशिया और दक्षिणी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो मे भारतीय कला तथा स्थापत्य की एक सामान्य समीक्षा मे इस विषय के केवल बाहरी छोर को ही छुआ जा सकता है। "मूर्तिकार मौन की वाणी को प्रस्तुत करता हे, जो मूक होते हुए भी प्रभावशाली होती है, और चित्रकला चित्रकार की उन आंतरिक भावनाओ को चित्रित करती हे, जिन्हे वह अपनी लचीली कूची के स्पर्श द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता हैं। राज, स्थपति, भवन-निर्माता, मूर्तिकार और चित्रकार सर्वग्राही और उदार चित्त थे। उन्होने अपनी सेवाएँ सब धर्मों तथा धार्मिक अंतःप्रेरणाओ को अर्पित की थी और उन्होने अपना कार्य निष्ठा तथा धैर्य के साथ निष्पन्न किया था। सौंदर्यबोध का पक्ष एक प्रेरक तत्व था। देश के विभिन्न भागो मे विभिन्न शैलियाँ पनपी, जिनमे से प्रत्येक की अपनी-अपनी स्थापत्य सम्बन्धी विशेषताएँ थी—नागर, द्रविड़ तथा वेसर शैली के मन्दिर; उत्तर में कुषाण, गुप्त और प्रतिहार कालो की गाधार तथा मथुरा शैलियाँ; और दक्षिण मे पल्लवो, चालुक्यो और चोलो की शैलियाँ। वे सब अपने उस कार्य के प्रति आस्था से प्रेरित थे, जिसे वे अपने 'प्रभु' की सेवा मे अर्पित करना चाहते थे और चाहते थे कि उस कार्य का मूल्यांकन तथा सराहना न केवल समकालीन, अपितु आने वाली पीढ़ियाँ भी करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता हे कि भारतीय कला की परंपराएँ क्यो अटूट बनी रही; वे गतिहीन नही हुई, साथ ही वे ग्रहणशील, ओजस्वी तथा सशक्त भी बनी रही। हो सकता है कि प्रविधियो (तकनीको) में कुछ परिवर्तन हुए हो, परन्तु कलाकृतियो के पीछे विद्यमान भावना और ओज अक्षुण्ण बना रहा।"[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. भारत तथा विदेशो में कला तथा वास्तुकला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के योगदान का विवरण दीजिये। (पी. सी. एस. १९७६)

२. बौद्ध तथा जैन कला द्वारा भारतीय कला को दिये गये योगदान का विवेचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

---

१. 'भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक इतिहास'—पी० एन० चोपड़ा, बी० एन० पुरी तथा एम० एन० दास।

३. भारतीय कला के विकास में जैन धर्म के योगदान का वर्णन कीजिये।

(पी. सी. एस. १९६८)

४. दक्षिण भारतीय कला पर निबन्ध लिखिये।

५. प्राचीन हिन्दू मन्दिर एवं उनकी वास्तुकला के विषय मे आप क्या जानते है ?

६. विदेशो मे भारतीय कला के विकास और प्रसार का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

७. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(१) बौद्ध मूर्ति कला।

(२) जैन मूर्तिकला।

(३) दक्षिण भारत की कला।

(४) माम्मलपुरम।

(५) चालुक्य कला।

(६) एहोल के मन्दिर।

(७) हिन्दू मन्दिरो के भेद।

(८) खजुराहो के मन्दिर।

(९) कोणार्क मन्दिर।

(१०) अंगकोरवाट की कला।

(११) बोरोबुदूर स्तूप।

अध्याय सत्रह

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र

यूँ तो भारत में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा अति प्राचीन समय से चली आ रही है तथापि इस चिन्तन की प्रारम्भावस्था अथवा उद्गम के विषय में तत्सम्बन्धित प्रामाणिक सूचना देने वाले स्रोत अत्यल्प हैं। प्रारम्भ से लेकर महाकाव्य काल तक का तो राजनैतिक इतिहास भी निश्चित और क्रमवद्ध रूप में उपलब्ध नही है। तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहले राजशास्त्र पर कोई ग्रन्थ विशेष नही लिखा गया। भारत का प्राचीनतम साहित्य—वैदिक संहिताएँ—अत्यन्त विशाल और उपयोगी है, तथा इसमें लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के साधन और उपाय बताये गये हैं परन्तु उनके द्वारा राजनीतिक संगठन और राजशास्त्र के विषय मे परोक्ष रूप से ही कुछ सामग्री मिलती हैं।

प्राचीन भारत मे राजशास्त्र सम्बन्धी विषय पर सबसे अधिक प्रकाश रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्र नीतिसार, बार्हस्पत्य सूत्र, तथा मनुस्मृति से पड़ता है। महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे इस विषय पर अनेक आचार्यों ने विशालकाय ग्रन्थो और शास्त्रो की रचना की थी। महाभारत में दी गई एक कथा के अनुसार पहले युग में सब लोग धर्मपूर्वक रहते थे, कोई राजा या दण्ड-व्यवस्था नही थी, बाद में मोह, लोभ, काम, राग आदि दोष उत्पन्न होने से लोगो का पतन तथा धर्म का नाश हुआ, तब धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पर एक लाख अध्यायों का एक विशाल ग्रंथ बनाया। इसे शंकर विशालाक्ष ने १० हजार अध्यायो में संक्षिप्त किया; इन्द्र ने इसका संक्षेप ५ हजार अध्यायो में करके इसे बाहुदन्तक का नाम दिया। इसके बाद बृहस्पति ने इसका पुनः तीन हजार अध्यायो मे तथा काव्य या उशना ने एक हजार अध्यायो मे संक्षेप किया।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य सम्बन्धी अवधारणा का विवेचन करने वाले सात आचार्यों का वर्णन किया गया है—बृहस्पति, विशालाक्ष, काव्य, महेन्द्र, मनु, भारद्वाज तथा गौरशिरा। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ५३ बार दूसरे आचार्यों के मतो का उल्लेख करते हुए उनसे असहमति प्रकट की है।[2] उसने

१. शान्तिपर्व—५७; ५८। २. 'कौटि० अर्थशास्त्र'—डा० शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।

राज्यशास्त्र के पाँच सम्प्रदायों और सात आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अनेक आचार्यों और विद्वानों ने राज्यविषयक प्रश्नों पर गम्भीर विचार किया था।

एक ओर हमें प्राचीन भारत में राज्यशास्त्र पर चिन्तन करने वाले विद्वानो के विचार प्राप्त होते हैं तो दूसरी ओर प्राचीन भारत की राज्य-सम्बन्धी अवधारणा को क्रियान्वित करने वाले महान सम्राटों के क्रियाकलापों का भी विवरण उपलब्ध है। इस सिंहावलोकन मे जो विभूतियाँ हमारे सामने उभरकर आती हैं, वे हैं चन्द्रगुप्त और अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य, हर्ष और पुलकेशिन। ये सभी अपने-समय के प्रबल, प्रतापी, महत्वाकांक्षी और समर्थ शासक थे। राजनीति के अनेक सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देकर इन्होंने कतिपय मौलिक प्रयोग भी किये। इन सम्राटों का क्रियाक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था तथा इनमें से अनेक ने भारत की चारों दिशाओं मे अपनी जीवन-पद्धति और कृत्यो द्वारा भारतीय राज्यों के कुछ सामान्य आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया।

राज्यशास्त्र सम्बन्धी स्रोत

प्राचीन भारत मे राज्य की अवधारणा के सम्बन्ध में सूचना देने वाले स्रोतो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) साहित्यिक स्रोत; (२) विदेशी वृत्तान्त; तथा (३) पुरातात्विक साधन।

(१) **साहित्यिक स्रोत**—ऋग्वेद के निर्माण काल के पूर्व भारत में किस प्रकार की राज्य-व्यवस्था स्थापित थी एवं उसके राजनीतिक सिद्धान्तो की क्या रूपरेखा थी? इस विषय का बोध कराने के लिए प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। सिन्धु सभ्यता को प्रमाणित करने वाली पुरातात्विक सामग्री भी अपने युग की जनता के राजनीतिक जीवन का परिचय देने मे विशेष सहायक नहीं है। ऐसी परिस्थिति मे प्राचीनतम राजनीतिक विचारो के बोध कराने एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओ का परिचय प्राप्त करने के निमित्त एकमात्र ऋग्वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु ऋग्वेद में भी इस विषय की जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है वह सब-की-सब अस्पष्ट है। इसमें केवल कुछ संकेत मात्र हैं। यही बात अन्य तीन वेदो के विषय मे भी है। परन्तु, इतना होने पर भी वैदिक साहित्य मे विविध यज्ञों एवं उनके कृत्यों का वर्णन विधिवत् पाया जाता है, ब्राह्मण साहित्य मे उनका विशेष उल्लेख है। इन यज्ञो के कृत्यो एवं उनकी विविध पद्धतियो के वर्णनो मे कुछ ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जिनमें राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध कर्त्तव्यो, उससे सम्बन्धित कतिपय विशेष पुरुषों एवं संस्थाओं आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त वेदों मे प्रसंगवश कुछ ऐसे कथोपकथन भी मिलते हैं जिनमे वैदिक युग की राजनीतिक स्थिति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, पणियों के राजा और सरमा का संवाद विशेष रूप मे उल्लेखनीय है।[1] वेदो मे यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत भी हैं जिनका राजनीतिक महत्व है। इस श्रेणी की सामग्री अन्य दो वेदो की अपेक्षा ऋग्वेद और अथर्ववेद मे अधिक है। इस सामग्री मे सभा, समिति, विदथ आदि संस्थाओं का उल्लेख, वैदिक सेना एवं युद्ध का सांकेतिक वर्णन, राजा की उत्पत्ति, उसके विशेष गुण एवं उसकी योग्यता, उसके विशेष कर्तव्यो आदि का सांकेतिक उल्लेख आदि विशेष

---

१. ऋग्वेद १ से ११।१३८।१०।

महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि वैदिक साहित्य से प्राप्त यह राजनीतिक सामग्री सांकेतिक भाषा में है, परन्तु जो कुछ भी अल्प एवं सीमित सामग्री उपलब्ध है वह उपयोगी है। इस सामग्री से यह ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में कई ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तो का उल्लेख है जिनकी स्थापना वैदिक ऋषियो ने राज्य-संगठन हेतु की थी।

वैदिक साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कुछ चिह्न प्राप्त है। वैदिक युग के उपरान्त दैवी सिद्धान्त मे निरन्तर विकास होता रहा और तदनुसार उसका उपयोग भारतीय राजनीतिक जीवन में निरन्तर होता रहा। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के समाज-अनुबन्धवाद के जन्मदाता, सम्भवतः, वैदिक ऋषि ही थे। वैदिक संहिताओ में इस सिद्धान्त की स्थापना के अनेक प्रमाण हैं। शासनपर्व के संकलन-काल तक यह सिद्धान्त अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो गया था। राज्य की उत्पत्ति का विकास सिद्धान्त, राज्य का आवयविक स्वरूप, राज्य का पैतृक स्वरूप, राज्य की प्रभुता का सिद्धांत, राजभक्ति-सिद्धांत, मानवता का सिद्धात आदि आधुनिक सिद्धातो के प्राचीनतम स्वरूपो का सम्यक् बोध वैदिक साहित्य के अध्ययन के विना किसी प्रकार भी सम्भव नही है। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र के इतिहास मे वैदिक साहित्य, अति प्राचीन होने पर भी, आधुनिक एवं महत्वपूर्ण है।

वैदिक संहिताओं के उपरान्त ब्राह्मण साहित्य का स्थान है। इस साहित्य में वैदिक यज्ञों एवं तत्सम्बन्धी कृत्यो तथा पद्धतियो की तार्किक विवेचना का प्राधान्य है। राजनीति सम्बन्धी जो कुछ भी सामग्री इस साहित्य में उपलब्ध है वह सब-की-सब वैदिक कर्मकाण्ड से ओतप्रोत है। अतः इस सामग्री से शुद्ध राजनीतिक सामग्री का संचय और उसका विश्लेषण कठिन है। वैदिक युग का शेष साहित्य, आरण्यक और उपनिषद् आदि ब्रह्मज्ञान-प्रधान है। इस साहित्य मे राजनीति सम्बन्धी विषयों का प्रायः अभाव है।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित ५०० ई० पू० से पहले का कोई ग्रंथ प्राप्त नही हुआ है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

ई० पू० आठवी शतो में व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विषयों का विशेष अध्ययन होना प्रारम्भ हुआ। राज्यशास्त्र के विषय में इस समय मे केवल धर्मशास्त्र के सन्दर्भ में ही विचार किया जाता था। दुर्भाग्यवश इस विषय के प्राचीनतम ग्रंथ, जो लगभग छठी या पांचवी शती ई० पू० के थे, नष्ट हो गये। छठी शती ई० पू० मे भारत मे राज्यतन्त्र तथा गणतन्त्र पद्धति द्वारा संचालित अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। इनके शासक अपने मन्त्रियो, राज्य गुरुओ आदि के साथ राजनीति के अनेक सिद्धान्तो की चर्चा करते थे। इसका प्रमाण हमें शान्तिपर्व मे मिलता है। राजा के देवत्व पर चर्चा करते हुए अध्याय ६५ मे भीष्म, मांधाता तथा इन्द्र के मध्य हुए संवाद का सारांश देते हैं। अध्याय ६८ तथा १३२ मे राजा वसुहोम तथा मांधाता के संवाद द्वारा दण्डनीति का महत्व बताया गया है। अध्याय ८२ तथा १६४ मे कालवृक्ष ऋषि तथा कोलनरेश के संवाद द्वारा कोष का महत्व बताया गया है। शान्तिपर्व के ही २१वें अध्याय मे नारद-कृष्ण के संवाद द्वारा गणराज्यों की समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है। इन उल्लेखो द्वारा यह प्रमाणित होता है कि इससे पूर्व राज्य-शास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे।

राजनीति के अन्य प्राचीन ग्रन्थों का परिचय हमे कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से भी मिलता है। 'अर्थशास्त्र' के अनेक स्थलो मे विशालाक्ष, इन्द्र, वृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गोरिशिरस, पाराश

पिशुन, कौणयदन्त, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन तथा चारायण आदि राजनीतिशास्त्र के पंडितों का उल्लेख मिलता है। इन राजनीति विशेषज्ञो के नामों की प्राप्ति और उनके ग्रंथो की अनुपलब्धता द्वारा यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि भारत मे राजनीतिशास्त्र के ग्रंथ अति प्राचीन समय में ही लिखे जा चुके थे। दुर्भाग्यवश इनके कोई भी ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ पूर्वरचित ग्रंथों की सामग्री तो महाभारत के शान्तिपर्व के राज्यधर्म अध्याय में समाविष्ट कर ली गई तथा शेष ग्रंथ कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' द्वारा महत्वहीन बना दिये गये। इनमें से कुछ ग्रंथ नवी शताब्दी ई० तक उपलब्ध थे—जिसका प्रमाण नवी शताब्दी के सुरेश्वराचार्य द्वारा विशालाक्ष के श्लोक का उद्धृत किया जाना है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना हुई, तथापि उनमें से राजशास्त्र के स्रोत के रूप में महाभारत और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' विशेष महत्वपूर्ण है। महाभारत के शांतिपर्व के अध्यायो में राजा के कर्त्तव्य, शासन व्यवस्था के अंगो, राज्यशास्त्र के महत्व, राज्य और शासन की उत्पत्ति, कर व्यवस्था, सन्धिविग्रह, परराष्ट्रनीति का पर्याप्त विवरण मिलता है। महाभारत की राजधर्म सम्बन्धी मान्यता पूर्ववर्ती ग्रंथकारो से अधिक वैज्ञानिक है। महाभारत के उपरान्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र विषयक भारतीय चिन्तन का महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमे पहले के आचार्यों के विचारो का उल्लेख करते हुए अपना मत स्थिर किया गया है। 'अर्थशास्त्र' पर धर्मशास्त्र का प्रभाव नहीं है। "अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन कार्य मे राजा का मार्ग निर्देशन करना था। उसमें नृपतन्त्र या शासन व्यवस्था के मूल सिद्धान्तो का दार्शनिक विवेचन नही मिलता। शासन को वास्तविक समस्याओं को सुलझाना ही इसका उद्देश्य था। युद्ध और शान्तिकाल मे शासनतन्त्र का क्या स्वरूप और कार्य होना चाहिये, इसका क्रमानुसार वर्णन 'अर्थशास्त्र' के अतिरिक्त—शुक्रनीति को छोड़कर—और कही नही मिलता।"[1] राजनीतिशास्त्र के ग्रंथों में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का वही स्थान है जो व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का है।

२०० ई० पू० से लेकर २०० ई० के मध्य मे रचित मनु, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ भी प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इनमें राजा के कर्त्तव्य, दण्ड, विधि, व्यवहार विधान, परराष्ट्र सम्बन्धो आदि विषयों का विवेचन किया गया है। गुप्तकाल मे लिखे गये 'कामन्दकीयनीतिशास्त्र' को भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है।

प्राचीनकाल में दक्षिणी भारत में राजनीति विषयक ग्रंथो का अभाव रहा। 'तिरकुरल सिलंबदिकरम' नामक ग्रंथ में राजा तथा उसके मन्त्रियों आदि का उल्लेख मिलता है। ११०० ई० के उपरान्त राजशास्त्र के साहित्यिक स्रोतो में कोई मौलिकता नही दिखती। इस श्रेणी के ग्रंथो मे सोमेश्वर का 'अभिलार्पनार्थ चिन्तामणि', भोज का 'युक्तिकल्पतरु', लक्ष्मीधर का 'राजनीति कल्पतरु', देवणभट्ट का 'राजनीति काण्ड' आदि उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिशास्त्र के उपरोक्त ग्रंथो के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक ग्रंथों द्वारा भी प्राचीन भारतीय राजनीति के विषय में महत्वपूर्ण विवरण तथा उल्लेख मिलते हैं। काव्य, नाटक तथा इतिहास ग्रंथो में 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण', 'रघुवंश', 'मालविकाग्निमित्र', 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश',

---

१. 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति'—प्रो० अनन्त सदाशिव अलतेकर।

'कादम्बरी', 'हर्षचरित', 'दशकुमारचरित' तथा 'राजतरंगिणी' आदि रचनाओं में राजनीति विषयक सामग्री मिलती है। जैनो के 'आचारांग सूत्र', बौद्धों के 'दीघनिकाय चुल्लवग्ग जातक', 'दिव्यावदान' द्वारा गणतन्त्रो के विषय मे सूचना मिलती है।

(२) **विदेशी स्रोत**—विदेशी यात्रियो के ग्रंथों द्वारा भी भारतीय राजशास्त्र के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। मेगस्थनीज की 'इण्डिका' से प्राचीन भारत के गणतन्त्रो पर काफी प्रकाश पड़ता है। ह्युवानच्वांग के वृत्तान्त से मौखरि शासन पद्धति में मन्त्रियों के महत्व का पता चलता है।

(३) **पुरातात्विक स्रोत**—प्राचीन भारतीय राजनीति के विषय मे शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो द्वारा भी विविध सूचना मिलती है। अनेक राजा तथा राज्याधिकारी ताम्रपत्रो पर आदेश दिया करते थे। इनके द्वारा राज्यविधान का पता चलता है। सम्राट की सत्ता किस सीमा तक मन्त्रियो और सामन्तो पर अंकुश रखती थी—इसका प्रमाण अनेक शिलालेखो में मिलता है। अनेक शिलालेखो द्वारा—विशेष कर अशोक के लेखो में—शासन के ध्येयो का पता चलता है। प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिये मुद्राओं द्वारा भी विविध सामग्री प्रस्तुत की गई है। मुद्राओ के अभिलेखो द्वारा अनेक नगर राज्यो का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणिन्द, यौधेय इत्यादि गणतन्त्रो का अस्तित्व मुद्रा लेखो से स्पष्ट सिद्ध होता है।

राजनीति सम्बन्धी प्राचीन भारतीय स्रोत यद्यपि अत्यल्प हैं, तथापि उनके अध्ययन और विवेचन द्वारा हमारे सामने तत्कालीन राजनैतिक चिन्तन की स्पष्ट रूपरेखा उभर आती है। प्राप्त स्रोतो के आधार पर हम भारतीय राजनैतिक चिन्तन का विश्वसनीय वर्णन कर सकते हैं, यद्यपि उसमें सतर्कता की विशेष आवश्यकता है।

प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा

राज्य का महत्व

भारतीय जीवन में मोक्ष प्राप्ति को अन्तिम लक्ष्य मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिये धर्म, अर्थ तथा काम नामक तीन साधन माने गये हैं। मनुष्यो के द्वारा इन तीन साधनों द्वारा प्रयत्न करने का परिणाम राज्य माना गया। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय मान्यतानुसार चतुर्वर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये राज्य को एक आवश्यक और महत्वपूर्ण साधन माना गया है। राज्य के इसी महत्व को दृष्टि मे रखते हुए राज्य के विभिन्न अंगो, तत्वो, स्वरूप, अधिकारो और कर्त्तव्यो आदि का निर्धारण किया गया। राज्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए शुक्रनीति में कहा गया है—"जैसे इन्द्र की पत्नी कभी भी विधवा नही हो सकती, उसी प्रकार धर्म विमुख लोग भी, जो शासन नही चाहते (या मोक्ष के आकाक्षी नही हैं), राजा (राज्य) के बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकते।" सोमदेव ने 'नीति वाक्यामृत' के पहले ही सूत्र में राज्य को। इसलिये प्रणाम किया कि राज्य ही धर्म और अर्थ का फलदाता है।[1] इसी तरह शुक्र ने भी राज्य को इसलिये नमस्कार किया—क्योंकि राज्य त्रिवर्ग का फलदाता है।[2]

---

१. 'अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः'—'नीतिवाक्यामृत'—सोमदेव।

२. 'नमोस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥" —शुक्रनीतिसार।

अराजकता का निवारण

प्राचीन साहित्य मे राज्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए राज्य विहीन अराजक दशा के परिणामो को स्पष्ट किया गया। मनुस्मृति के अनुसार राजा के न होने पर जब मनुष्य यत्र-तत्र भागने लगे तब भगवान ने विश्व की रक्षा के लिये राजा की सृष्टि की।[1] महाभारत के अनुसार युधिष्ठर के प्रश्न करने पर भीष्म पितामह ने राज्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा—

"हमने सुना है कि राजाहीन प्रजा, जिस प्रकार जल में मोटी मछली पतली मछली को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोगो के निर्बलो को मार डालने मे नष्ट हो गई। इसलिये आपस मे सलाह करके लोग ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे कहा कि राजा के न रहने से हमारा दुख बढ़ रहा है, इस कारण आप हमको एक प्रभु या राजा दीजिये, उसके बिना हम मर जायेंगे। हम उसकी पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा। तब उन्होंने मनु को राजा बनाया और प्रजा ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने पहले तो इस भार के संभालने से इन्कार किया। उन्होंने कहा कि वे इस पाप कर्म से डरते है, क्योकि राजधर्म का चलाना विशेषकर मनुष्यो मे जो नित्य मिथ्याचार करते है, बहुत कठिन है। तब उनको हर प्रकार का आश्वासन दिया गया और उनसे कहा गया कि हम लोग आपके कोष की वृद्धि के लिये अपने पशुओ और स्वर्ण का पचासवाँ भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे, आप हमारी रक्षा करें।"

दण्ड नीति

राज्य सम्बन्धी भारतीय अवधारणा मे दण्ड को विशेष महत्व दिया गया। महाभारत के अनुसार दण्ड द्वारा ही अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण, परिरक्षित का परिवर्द्धन और परिवर्द्धन का सदुपयोग और तीर्थादि मे वितरण सम्भव है। अतः सारी समाज की व्यवस्था दण्ड पर आश्रित मानी गई।[2] दण्ड को राज्यव्यवस्था पर आश्रित मानते हुए कहा गया कि राज्य का अधिकार उसकी इकाई के प्रतीक राजा में अथवा उसके चुने हुए प्रतिनिधियो मे रहता है। राजा या प्रतिनिधियो के द्वारा नियुक्त अधिकारी ही दण्ड दे सकते हैं। राजा को भी दण्ड का प्रयोग शत्रु और पुत्र मे समान रूप से करना चाहिए—"राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समंधृतः।[3] व्यक्ति व्यक्ति को दण्ड नही दे सकता है। व्यक्ति का दण्ड नही वरन् प्रतिशोध कहलाता है। दण्ड नीति के आदि आचार्य ब्रह्मा माने जाते हैं। उनका ही आधार लेकर अन्य नीतिकारो—जिनमे वृहस्पति, शुक्र, विदुर, भीष्म, मनु, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, हारीत, चाणक्य, विष्णु शर्मा (पंचतंत्र के कर्त्ता) कौटिल्य, कामन्दक आदि प्रमुख हैं—ने इसके महत्व को और स्पष्ट किया।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी चिन्तन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति, अराजकता का अन्त तथा दण्ड प्रयोग के लिये जिस राज्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया वह शांति, सुव्यवस्था, न्याय तथा सुरक्षा का प्रतीक बन गया। जीवन के तीन आदर्शों, धर्म, अर्थ तथा काम को

---

१. मनुस्मृति ७।३।

२. चातुर्वण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे।
दण्डनीतिकृते क्षेपे प्रजानाम् कुतोभये ॥—महाभारत, शान्ति पर्व ६९।७७।

३. अर्थशास्त्र, अधि० ३, अ० १।

प्राप्ति उसका मूल उद्देश्य था। इनमें से प्रथम आदर्श का सम्बन्ध वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता से था, दूसरे का आर्थिक कल्याण से और अन्तिम आदर्श सामाजिक सुव्यवस्था तथा जीवन के सुख-भोग को सुनिश्चित बनाने का द्योतक था। राज्य के पास 'दण्ड' अर्थात् बल का सहारा था जिसका प्रयोग केवल 'धर्म' अर्थात् शान्ति, न्याय तथा कर्तव्य, 'अर्थ' अर्थात् आर्थिक कल्याण और 'काम अर्थात् सामाजिक कल्याण तथा सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की रुचि को उन्नत बनाने के आदर्शों की प्राप्ति के लिए किया जाता था।

कर्त्तव्य तथा अधिकार सम्बन्धी अवधारणा

महाभारत और अर्थशास्त्र से विदित होता है, कि प्राचीन भारत मे राज्य के विविध कर्त्तव्य थे और उसके कार्य-कलाप में जीवन के सभी क्षेत्रो का समावेश था। मौर्य या गुप्त काल के प्रशासन के कार्य-कलापों का सम्बन्ध अपराधों को रोकने से लेकर कलाओं को प्रोत्साहन देने तक, जीवन के सभी क्षेत्रों से था। परन्तु इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि उस शासन के अधीन व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता थी ही नहीं। वस्तुतः राज्य के अधिकारो का आधार परम्पराएँ और विधि थी और इस आधार को स्पष्ट रूप से निर्धारित भी कर दिया गया था। इसमें सम्राट की इच्छा को प्रायः नगण्य स्थान प्राप्त था। राजा जनता को अराजकता से बचाता था इसलिए उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था। शास्त्र, विधि-संहिता, स्थानीय-रिवाज ही विधि के स्रोत थे और विधि बनाने के सम्बन्ध मे राजा को बहुत थोड़े अधिकार थे। वह इन विधियों का पालन करने के लिए उतना ही बाध्य था जितना कि दूसरे लोग। उसके विशेषाधिकार राजधर्म की मूल भावना के विरुद्ध नहीं जा सकते थे।

राज्य का विकास

प्राचीन भारतीय राज्य की अवधारणा का विकास दीर्घकालीन चिन्तन और प्रयोगों का परिणाम है। सिन्धु सभ्यता के राजनैतिक स्वरूप के बारे मे स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय राज्य-व्यवस्था अत्यन्त सुसंगठित थी और एक धार्मिक पुट लिये थी। इसकी राजनैतिक व्यवस्था ऐसी प्रतीत होती है जिसका शासन धर्माधीश राजाओ के हाथ में था जो दो मुख्य शासन केन्द्रो से एकतात्रिक तथा निरंकुश शासन चलाते थे; इन दोनो राज-धानियों के बीच संचार का मुख्य माध्यम एक विशाल नदी थी जिसमें नावें चल सकती थी। परंतु ये अनुमान पर आधारित निष्कर्ष है।

आर्य अपने साथ जो राजनीतिक संगठन लाये वह मूलतः कबायली था। ग्राम, कृषिप्रधान तथा पशुपालन पर आधारित वातावरण में रहते हुये आर्यों में बड़ी तेजी से एक परिवर्तन हो रहा था, जिसके फलस्वरूप कबायली समाज अनेक कबीलों अर्थात् 'जन' का रूप धारण करता जा रहा था। इस संगठन का आधार 'विश' था। इसी ने दीर्घकालीन विकास के उपरान्त, साम्राज्य निर्माण के युग में राजतन्त्रात्मक रूप धारण किया।

राज्य की जाग्रत शरीर के रूप में कल्पना

राज्य सम्बन्धी भारतीय अवधारणा की एक प्रमुख विशेषता राज्य को एक जीवित जागृत शरीर के समान मानना है। इस प्रतिपादन में राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते

हुए 'सप्तांग' राज्य की कल्पना की। इसके अनुसार राज्य एक जीवित जागृत शरीर है, जिसके सात अंग होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—'जो कोई सप्तांग राज्य के विरुद्ध आचरण करे, उसका हनन कर देना चाहिये, चाहे वह गुरु या मित्र ही क्यो न हो।' राज्य को शरीर के रूप मे प्रतिपादित करते हुए शुक्रनीतिसार मे लिखा है, कि इस शरीर रूपी राज्य में राजा मूर्धा (सिर) के समान है, अमात्य आँख हैं, सुहृत् कान है, कोष मुख है, वल मन है, दुर्ग हाथ है, और राष्ट्र पैर है। शुक्रनीतिसार में ही एक स्थान पर राज्य की तुलना वृक्ष के साथ की गई है—'राज्य रूपी वृक्ष की जड़ राजा है, स्कन्ध मन्त्री है, सेनापति शाखायें हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं, प्रजा फल हैं, और भूमि वीज है' राज्य के सप्तांग रूप होने और एक शरीर के समान होने का विचार प्राय: सभी नीति-ग्रंथो और धर्मशास्त्रो मे पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि 'यदि किसी प्रकृति का एक अवयव व्यसनग्रस्त हो, तो उन अवयवो से कार्य का साधन सम्भव है जो कि व्यसनग्रस्त नही है, जिनमें अभी सार विद्यमान है, और जिनका अनुराग अभी शेप है।' यदि इन अवयवो में से कोई एक अवयव राज्य के विरुद्ध भी हो जाए, तो भी काम चल सकता है, वशर्ते कि उसके अन्य अवयव राज्य के प्रति अनुरक्त रहें। शरीर मे भी हम यही वात पाते हैं। यदि हाथ रूपी अंग की एक उंगली वेकार भी हो जाए, तो भी काम चल जाता है, वशर्ते कि अन्य उँगलियाँ ठीक हों। यदि दो प्रकृतियाँ (अंग) एक साथ व्यसनग्रस्त हो जाएं और उनके गुणो मे क्षीणता आ जाए, पर शेप पाँचों प्रकृतियाँ सद्गुणों से युक्त रहें, तो भी विशेप चिन्ता की वात नहीं। पर एक प्रकृति के व्यसन से अन्य प्रकृतियो का नाश तभी सम्भव है, जव कि उस एक प्रकृति का व्यसन अत्यन्त गम्भीर हो, चाहे वह प्रकृति प्रधान हो या अप्रधान। इस प्रकार प्राचीन राज्यशास्त्रियो ने मूल रूप से राज्य को एक सावयवी एकता माना तथा उसको गति को आत्मायुक्त मानव शरीर की भाँति स्वीकार किया।

राज्य सम्बन्धी अवधारणा की विशेषताएँ

उपरोक्त विवेचना द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय मनीपियों ने धर्म, दर्शन, आध्यात्म, विज्ञान आदि के विकास पर विशेप ध्यान दिया, तथा मनुष्य के भौतिक सम्बन्धों को नियन्त्रित तथा अनुशासित करने वाले विषयो की उपेक्षा नही की। मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति के लिये उन्होने अनेक विद्याओ का भी विकास किया। क्योकि राज्य एक आवश्यक तथा अनिवार्य संस्था है, अत: इससे सम्वन्धित प्राचीन अवधारणा का निरन्तर विकास होता रहा। भारतीय राज्य सम्वन्धी अवधारणा का अध्ययन करने पर इसकी निम्नलिखित विशेपताएँ स्पष्ट होती हैं—

(१) **विधि या 'धर्म' की सर्वोच्च सत्ता**—प्राचीन भारतीय राज्य की अवधारणा की पहली विशेपता धर्म की सर्वोपरि सत्ता है। राज्य में किसी व्यक्ति या राजा की इच्छा द्वारा शासन नहीं होना चाहिए, अपितु विधि या धर्म के नियमो से शासन किया जाना चाहिये। इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन बृहदारण्यक मे मिलता है। इसमें यह कहा गया है कि चार वर्ण उत्पन्न करने के वाद प्रजापति ने स्थिरता लाने के लिए "धर्म को उत्पन्न किया, वह वलवान क्षत्रियो से भी प्रबल है। धर्म से अधिक ऊँची कोई वस्तु नही है। धर्म के कारण निर्वल व्यक्ति वलवान को जीतने की आशा रखता है। धर्मात्मा व्यक्ति राजा की सहायता से अधर्म करने वाले पर विजय प्राप्त करता है। जो धर्म है,

वस्तुतः वही सत्य है। अतः लोग यह कहते है कि जो व्यक्ति सत्य कहता है, वह धर्म कहता है; जो धर्म की बात कहता है, वह सत्य की बात कहता है। धर्म और सत्य दोनो एक हैं।" महाभारत में कहा गया है कि समाज को धारण करने से ही इसे धर्म कहते हैं, इसने सब प्रजाओ को धारण कर रखा है। शान्तिपर्व मे तो यहाँ तक कहा गया है कि धर्म की हत्या करने वाला राजा वध करने योग्य है। प्राचीन भारत मे धर्म को विधि का ही पर्याय समझा जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राज्य की इच्छा को नही, अपितु धर्म (विधि) के पालन को सर्वोपरि महत्व और सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

२. **मानव प्रवृत्ति का विश्लेषण**—मनु ने लिखा है कि निर्दोष एवं शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति बड़ी कठिनाई से मिलता है। कामन्दक ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मनुष्य स्वभावतः अपनी वासनाओ के वशीभूत होते हैं, वे दूसरो के धन और स्त्रियो को चाह करते है। मनु और कामन्दक के ये विचार पश्चिमी जगत के सेनेका, आगस्टाइन और हॉब्स के इन विचारो से मिलते हैं कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का है। भारतीय अवधारणा के अनुसार मनुष्य मे आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। अतः उन्हें रोकने के लिए राज्य का जन्म होता है और वह अपनी दण्ड की शक्ति से सब मनुष्यों को ठीक रास्ते पर रखकर समाज मे सुशासन और व्यवस्था बनाये रखता है। मानव प्रवृत्ति का यह विश्लेषण प्राचीन भारतीय राज्य की अवधारणा में बड़ा महत्व रखता था।

३. **दण्ड की शक्ति का सिद्धान्त**—महाभारत में बड़े विस्तार से यह बताया गया है कि राज्य और समाज में दण्ड की व्यवस्था का क्या महत्व है। वस्तुतः दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों मे व्यवस्था और अराजकता के निवारण के लिए की गई है। अराजक दशा को दूर करने के लिए ब्रह्मा द्वारा दण्ड की उत्पत्ति की गई। राज्य की सारी व्यवस्था दण्ड के कारण है। यदि दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो तो सारी मर्यादा टूट जायेगी। बलवान निर्बलो को उसी प्रकार खाने लगेंगे जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियो को खाती हैं। राजा का कर्त्तव्य इस धर्मरूपी दण्ड के अनुसार प्रजा का शासन करना है।

४. **स्वधर्म का सिद्धान्त**—भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव समाज को चार वर्णों में बाँटा गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जिस प्रकार समाज चार वर्णों में विभक्त है वैसे ही मानव जीवन के भी ये चार भाग हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इस चार भागों को आश्रमों का नाम दिया गया है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने-अपने कर्त्तव्य (स्वधर्म) हैं। प्राचीन धर्मशास्त्रो मे विभिन्न वर्णों और आश्रमो द्वारा स्वधर्म पालन पर बहुत बल दिया गया है। कौटिल्य ने लिखा है कि स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष देने वाला है, यदि स्वधर्म का उल्लंघन किया जाय तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी, समाज नष्ट हो जायगा। समाज और राज्य की उन्नति इसी बात पर निर्भर है कि राजा सबको अपने स्वधर्म पर स्थिर रखे। महाभारत में स्वधर्म के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह चारों धर्मों की रक्षा करे। जो भी धर्म से विचलित हो उसका अपने बाहुबल से निग्रह करना राजा का कर्त्तव्य है।

५. राज्य पर धर्म का प्रभाव—स्वधर्मपालन के उपर्युक्त सिद्धान्त के कारण कुछ विचारकों ने यह कल्पना की है कि प्राचीन भारत में धर्म का राज्य पर बहुत प्रभाव था तथा प्रत्येक राज्य एक धर्मतन्त्र अथवा धार्मिक राज्य था। प्राचीन भारत में धार्मिक शक्ति अथवा ब्राह्मणो का क्षत्रियो की राजनीतिक शक्ति पर कितना प्रभाव था, यह एक विचारणीय प्रश्न है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नही चल सकता है। ऋग्वेद में यह स्पष्ट वर्णन है कि जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है वह अपने विरोधियो पर विजय और प्रजा की भक्ति प्राप्त करता है। परन्तु कुछ उल्लेखो से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा ब्राह्मणो के उपर्युक्त दावों को स्वीकार नही करते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जो चाहता है, ब्राह्मणो को वही करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि वैदिक युग मे राज्य पर धर्म का प्रभुत्व था और राज्य की बागडोर पुरोहितो के हाथ में थी। डा० अल्तेकर के मतानुसार चौथी शताब्दी ई० पू० के बाद राज्य पर धार्मिक प्रभाव निरन्तर कम होता चला गया।

६. राज्य के कार्यो का वैज्ञानिक वर्गीकरण—प्राचीन भारत मे, आरम्भ में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही सम्बन्ध रखता था। वैदिक युग में राज्य विदेशी शत्रुओं के प्रतिकार और आन्तरिक व्यवस्था और सुशासन बनाये रखने का काम करता था। शतपथ ब्राह्मण के मतानुसार राजा धर्म और नीति का संरक्षक था और वरुण की भाँति दुष्टों का दमन करके राज्य मे सुशासन और शान्ति बनाये रखता था, किन्तु सम्भवतः उन दिनो राजा न्याय-कार्य नही करता था। दीवानी और फौजदारी मामलो का निर्णय पंचायतें ही करती थी। चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक राज्य के कार्यक्षेत्र में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में जहाँ राज्य का प्रधान उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवो से तथा वाह्य आक्रमणो से देश की रक्षा करना था, वहाँ अब उसका आदर्श राज्य की तथा नागरिको की सर्वाङ्गीण उन्नति करना समझा जाने लगा। भौतिक दृष्टि से देश को समृद्ध बनाने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धन्धे चलाना, नई बस्तियाँ बनाने, नई जमीन कृषि योग्य बनाने, बाँध बनवाने, खानें खुदवाने, कारीगरो और शिल्पियों को संरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई। सामान्य हितो का ध्यान रखते हुए नाप तथा तोल का मान स्थिर करने, वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे। कारीगरों की सुरक्षा के लिए श्रम कानूनो की व्यवस्था की गई। वेश्यावृत्ति, घूस, मदिरापान आदि बुराइयो का राज्य की ओर से नियन्त्रण करने की व्यवस्था की गई, धर्म और सदाचार के प्रोत्साहन के लिए धर्ममहामात्य नामक राजकर्मचारी नियत किए गए, विद्वानो तथा धर्म प्रचारको को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया। दीन-दु:खियो के कष्ट निवारण के लिए धर्मशालाएँ, मनुष्यों की तथा पशुओं की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय और निर्धनों के लिए अन्न क्षेत्र खोले गए। इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा में कल्याणकारी राज्य के आदर्श को पूरी तरह अपना लिया गया था।

७. राज्य के उद्देश्यों का निश्चित निर्धारण—वैदिक साहित्य से स्पष्ट होता है कि शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय राज्य के प्रधान उद्देश्य समझे जाते थे। राजा को वरुण देवता के समान नियम और व्यवस्था का संरक्षक (धृतव्रत), साधुओ का प्रतिपालन करने वाला और दुष्टो को दण्ड देने वाला समझा जाता था। नागरिको की नैतिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति करना

भी राज्य का कार्य था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि करना बताया गया है।

प्राचीन भारतीय राज्य की अवधारणा की उपरोक्त विशेषताओं से स्पष्टतः यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि राज्य को एक शरीर की भाँति सावयवी एकता मानते हुए, तत्कालीन राज्यशास्त्रियों ने दार्शनिक वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाकर राज्य की अवधारणा को सुनिश्चित, सुस्पष्ट तथा तर्क सम्मत आधार प्रदान किये। राज्य की उत्पत्ति से लेकर, राज्य की प्रकृति, प्रवृत्ति, लक्ष्य, उद्देश्य, कार्य तथा विधि आदि विषयों मे सन्तुलन स्थापित किया जाना, भारतीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

प्राचीन भारत मे राज्य और उसके महत्व, कर्त्तव्य, अधिकार सम्बन्धी परिकल्पना के विषय मे विचार करते समय, पिछले पृष्ठो मे तत्सम्बन्धित साहित्य और स्रोतों का जो उल्लेख किया गया है, उसके सूक्ष्म अध्ययन द्वारा यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पर्याप्त चिन्तन किया गया। विभिन्न दार्शनिको, मनीषियो तथा राजशास्त्र के प्रणेताओ ने ऋग्वेद युग से लेकर प्राचीन चिन्तन के अन्तिम युग तक राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों की चर्चा करने से पूर्व राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों के विकास क्रम को समझ लेना उचित होगा।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का विकास

वैदिक युग में राज्य की उत्पत्ति तथा उसके कृत्रिम विकास आदि का स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य में नही है। फिर भी वैदिक साहित्य में प्रसंगवश कुछ वह सामग्री है जिसके विवेचनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्य की उत्पत्ति के विषय मे कतिपय हेतुओं में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति के तीन सिद्धान्त थे। इनमें से पहला सिद्धान्त युद्ध का सिद्धान्त है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के कतिपय उद्धरणो से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य तथा अनार्यों मे परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इन संघर्षों में विजेता पराजित जाति के लोगो को दास बना लिया करते थे। इसीलिये दासता से मुक्त होने के लिये तथा विजय प्राप्ति के लिये यत्रतत्र प्रार्थनाएँ मिलती हैं।[1] इस स्थिति से राजनैतिक समाज की अवस्था मे प्रविष्ट होते हुए आर्यों में राज्य तथा राजा का निर्माण हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण मे एक आख्यान आता है जो युद्ध के सिद्धान्त की पुष्टि का ज्वलन्त प्रमाण है। युद्ध के सुसंचालन हेतु सर्व प्रथम आर्य राजा का निर्माण हुआ था। देवासुर संग्राम में सुरो की पराजय का मुख्य कारण उनका राजा विहीन होना समझ कर सुरो द्वारा सोम को सर्व प्रथम राजा बनाया गया।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यों मे राजनैतिक समाज अथवा राज्य का सर्वप्रथम उदय हुआ जिसका मात्र उद्देश्य युद्ध में विजय प्राप्ति था। वैदिक

---

१. 'हे वरुण देव। हमारे शत्रुओ का नाश कीजिये—ऋग्वेद ६।८६।१; 'जो हमें दास बनाना चाहता है या बनाता है—उस नीच को नरक प्राप्त कराइये।' यजुर्वेद-४४।८।

२. ऐतरेय ब्राह्मण १४।३।१।

युग में ही विकसित दूसरा सिद्धान्त सामाजिक समझौते का सिद्धान्त था। ऋग्वेद में, अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के संकेत मिलते हैं, जबकि यजुर्वेद में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट सामग्री प्राप्त है। विकासक्रम के अनुसार कालान्तर मे युद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर दिया जाना इसलिये उपयुक्त हुआ कि आर्य राजनैतिक रूप से दृढ हो गये थे। अब राजा को 'धृतव्रत' की उपाधि दी गई जो इस तथ्य का पोषण करती है कि राजा की नियुक्ति उसके द्वारा कतिपय व्रतो के पालन करने की प्रतिज्ञा द्वारा हुई होगी।[1] यजुर्वेद के मन्त्रों मे अनुबन्ध के आधार पर उसकी नियुक्ति का विधान मिलता है।[2] परन्तु इन मन्त्रो के प्रसंग में जनता का प्रतिनिधित्व पुरोहित द्वारा किया गया प्रतीत होता है। महाभारत के अनुशासनपर्व मे वेदकालीन अनुबन्धवाद का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक युग में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त है। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में राजा को देव मान कर सम्बोधित किया गया है।[3] यजुर्वेद मे राजा को 'दिवः सूनुः' अर्थात 'द्युलोक के पुत्र' की उपाधि दी गई।[4] दैवी उत्पत्ति के विषय में यजुर्वेद मे ही एक और प्रसंग है जिसमे प्रस्तावित राजा को देव बनाने की योजना का स्पष्ट उल्लेख है।[5] परन्तु राज्य या राजा का वैदिक दैवी सिद्धान्त पाश्चात्य विचारधारा से नितान्त भिन्न था। वैदिक विचार-धारा में राजा (राज्य) देव अवश्य माना गया परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र एवं धर्मानुकूल आचरण पर आश्रित था। अपने कार्यों के लिये वह जनता के प्रति उत्तरदायी था न कि ईश्वर के प्रति।

वैदिक युग के उपरान्त, स्मृतियो आदि के युग मे राज्य का महत्व चतुर्वर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये एक आवश्यक साधन के रूप में था। मनुस्मृति में राज्य की उत्पत्ति को केवल दैवी माना गया है।[6] मनुस्मृति मे राज्य की दैवी उत्पत्ति के साथ राज्य के सावयव सिद्धान्त का भी प्रतिपादन मिलता है। नारद तथा याज्ञवल्क्य ने भी ऐसी ही कल्पना की। दैवी सिद्धान्त के अतिरिक्त इस समय अन्य सिद्धान्त भी प्रचलित थे। उदाहरण के लिये बुद्ध के अनुयायियो ने समझौते के सिद्धान्त द्वारा राज्य की उत्पत्ति मान कर जनता की प्रभुता का समर्थन किया।

महाभारत के शान्तिपर्व मे राज्योत्पत्ति का जो वर्णन आया है उससे यह मालूम होता है कि आरम्भ में लोगो मे एक समझौता या सहमति हुई थी, जिसका पालन नही हो पाया। जब लोग चिरकालीन अराजकता से ऊब गये, तब उन्होने आपस मे एक समझौता या सहमति की कि समाज-कंटकों को समाज से बाहर निकाल दिया जाय। इस समझौते की व्याप्ति पूरे समाज के लिए की गयी, इसलिए कि लोगों का इस पर विश्वास बना रहे। किन्तु लोगो के कष्ट कुछ कम नही हुए, शायद इसलिये कि इसके कार्यान्वित करने के लिये राजसत्ता नही थी। अतः वे ब्रह्मदेव की शरण गये तथा उनसे प्रार्थना की कि वे एक ऐसे सुयोग्य राजा को भेज दें, जिसके गुणो के कारण लोग स्वयं उनको मान लें और जो लोगो को डाकू व परकीय हमलो से बचाए। ब्रह्मदेव ने मनु को राजपद पर नियुक्त किया।

उपरोक्त विचारानुसार प्राचीन भारत मे राज्य की उत्पत्ति के चार प्रमुख सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया। इन सिद्धान्तो का परीक्षण निम्नलिखित है—

---

१. ऋग्वेद ३।२७।८ २. यजुर्वेद २२।९, ३२।६; ४०।९, ३३।२०; ३।२०
३. ऋग्वेद १२,१३।२४।१; ४।१।२। ४. यजुर्वेद ६।६।
५. यजुर्वेद ५।१ ६. मनुस्मृति ७।३-४।

(१) राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राजशास्त्र के इतिहास मे सामाजिक समझौते का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। जैसा पहले कहा जा चुका है, ऋग्वेद में राजा को 'धृतव्रत' की उपाधि दी गई है। यह उपाधि परोक्ष रूप से सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की पोषक है। यजुर्वेद के नवें अध्याय में राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यो के विषय मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तावित राजा को राजपद कतिपय विशेष अनुबन्धो के आधार पर दिया जा रहा है। वैदिक संहिताओं के अनेक मन्त्र सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। यह विशेष स्मरणीय तथ्य है कि पाश्चात्य विचारधारा के अनुरूप, संहिताओ मे प्राकृतिक दशा का कोई उल्लेख नहीं है तथा वैदिक अनुबन्ध एकांगी है—उसमे प्रजा तथा राजा के बीच स्पष्ट समझौता नही है। किन्तु महाभारत के अनुशासन पर्व मे यह असंगति दूर कर दी गई। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार राज्य-संस्था से पूर्व 'अराजक' दशा थी, और बाद मे राज्य की उत्पत्ति हुई। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया। कि "राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह मुझे बताइये ? राजा के हाथ, पैर, गर्दन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अन्य मनुष्य के समान ही होती हैं। सबके समान उसे भी सुख-दुख का भोग करना होता है, जन्म-मरण भी उसका दूसरो के सदृश ही होता है। फिर यह क्या बात है, जो वह विशिष्ट बुद्धि वाले और शूरवीर लोगो पर अकेला आधिपत्य रखता है ? यह क्या बात है, जो उस अकेले के प्रसन्न होने पर सब प्रसन्न हो जाते हैं, और उस अकेले के व्याकुल होने पर सब व्याकुल हो जाते है ?"

भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—"कृतयुग के प्रारम्भ मे राज्य का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में अशेष रूप से सुनो। एक समय ऐसा था जब न राजा था और न राज्य की ही सत्ता थी। न तब दण्ड था, और न कोई दण्ड देने वाला था। उस समय सारी प्रजा धर्म द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा किया करती थी। सब एक-दूसरे का धर्मपूर्वक पालन किया करते थे। पर बाद मे दरिद्रता उत्पन्न हुई। इसके कारण मोह की उत्पत्ति हुई। इसके कारण तब लोगो का ज्ञान नष्ट हो गया। वे लोभ के वशीभूत हो गये। लोभ के कारण तब मनुष्य अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने लगे। लोभ से काम और काम से राग उत्पन्न हुये। ज्ञान नष्ट हो जाने से धर्म का भी नाश हो गया। यह दशा बड़े त्रास की थी। त्रस्त हुये लोग ब्रह्मा की शरण मे गये, और उनसे इस दशा से त्राण पाने का उपाय पूछा। इस पर ब्रह्मा ने उन्हे दण्ड-नीति का उपदेश दिया, और इस दण्डनीति के अनुसार राज्य-संस्था, राजा और अन्य राजकर्मचारियो की उत्पत्ति हुई।"

महाभारत के इस उल्लेख के अनुसार राज्य के प्रादुर्भाव से पूर्व जो अराजक दशा थी, वह आदर्श थी क्योकि तब सब मनुष्य धर्म के अनुसार एक दूसरे का पालन किया करते थे। अराजक दशा का यह स्वरूप प्रायः वैसा ही है जैसा कि रूसो तथा लॉक द्वारा प्रतिपादित किया गया था। महाभारत में राज्यसंस्था की उत्पत्ति का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उससे ब्रह्मा स्वयं राज्य या राजा का प्रादुर्भाव नही करता।

उपरोक्त कथनों से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि या तो राज्य ब्रह्मा निर्मित है अथवा उसकी उत्पत्ति भय संत्रस्त लोगो ने पारस्परिक अनुबन्ध द्वारा की। जहाँ तक हमारे मत का प्रश्न है, भारतीय परम्परा के अनुसार, जो कि महाभारत, बौद्ध तथा जैन ग्रंथो द्वारा भी समर्थित है हम इसे पारस्परिक अनुबन्ध ही मानेंगे।

इस पर देवो ने कहा, क्योकि हमारा कोई राजा नही है, इसी कारण असुर हमें जीत लेते हैं। हम भी राजा बना लें। इसे सबने स्वीकार कर लिया।' इस सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया गया है, कि युद्ध की आवश्यकताओ की पूर्ति और विजय के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

(४) राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

विकासवादी सिद्धान्त का सबसे प्राचीन निर्देश अथर्ववेद में मिलता है। सभा और समिति सम्बन्धी ऋग्वेद के सूक्त के अनुसार राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्यसंस्था से पूर्व विराट (राज्यविहीन या अराजक) दशा थी, उस दशा के होने पर यह भय हुआ कि क्या यही दशा सदा रहेगी ? क्योकि यह दशा भयावह थी, अतः संगठन बने। मनुष्यो का सबसे पहला संगठन परिवार के रूप में था। पारिवारिक दशा मे उन्नति होकर 'आहवनीय' दशा आई। इस दशा में गृहो (परिवारो) के स्वामियो (गृहपतियो) का एक स्थान पर आह्वान किया जाता था। सम्भवतः यह ग्राम-संगठन का सूचक है। आहवनीय के नेता को वेदो मे 'ग्रामणी' कहा गया है। आहवनीय (ग्राम) से उत्क्रान्ति होकर 'दक्षिणाग्नि' दशा आई। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बड़ा संगठन था। निरुक्त में अग्नि का अर्थ अग्रणी दिया गया है। जिस संगठन में चतुर अग्रणी एकत्र हों, उसी को दक्षिणाग्नि कहा गया है। इस दक्षिणाग्नि दशा मे सभा ओर समिति संस्थाओ का निर्माण हुआ। इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र विशारदो के सिद्धान्त से अनेक अंशों मे समता रखता है।

यह सत्य है कि प्राचीन आर्य प्रारम्भ मे जनो मे सगठित थे और प्रत्येक जन का सबसे ज्येष्ठ अथवा शक्तिशाली पुरुष नेता होता था। वही युद्ध मे अपने जन का नेतृत्व करता था। अतः प्रारम्भिक राज्यो के निर्माण मे शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्वपूर्ण भाग रहा होगा। 'जब आर्य जन (कबीले) निश्चित भूभाग पर रहने लगे तो उन्हे उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा; उस प्रेम के साथ उनमे आदिवासियो के प्रति घृणा और अपने वर्ण (रग) तथा विजित प्रदेश के रक्षण के लिए गहरी चिन्ता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन मे उसी भूमि के प्रति जहां के वे निवासी थे एक सुदृढ़ भावना पैदा हुई होगी, क्योकि उस भूमि से वह कभी हटना नही चाह सकते थे। इस भावना ने, जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुदृढ़ बनाया होगा, प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ होगा।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से भी विकासवादी सिद्धान्त को सिद्ध करने में कोई कठिनाई नही है।

राज्य का सप्तांग सिद्धांत

पूर्वाभास

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने राज्य का स्वरूप सप्तांग, सप्तात्मक अथवा सप्तप्रकृतियुक्त निर्धारित किया है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग अथवा राज्य की सात प्रकृतियां होती हैं। इन्ही सात अगो अथवा प्रकृतियो के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। महा-

[1] 'दि डेव्लपमेन्ट ऑफ इंडियन पॉलिटी', पृ० २३—डा० एच० एन० सिन्हा।

भारत में राज्य के ये सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोष, दण्ड (सेना), जनपद और पुर बतलाये गये हैं।[1] धर्मशास्त्रो मे भी राज्य का स्वरूप यही माना गया है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र मे राज्य के स्वरूप का सप्तात्मक वर्णन किया है। उन्होने सप्तात्मक राज्य को सप्तप्रकृतियुक्त माना है। उनके द्वारा वर्णित राज्य की सात प्रकृतियाँ स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दंड और सुहृद् है।[2] आचार्य कौटिल्य भी राज्य के सप्ताग स्वरूप को स्वीकार किया और राज्य के इन सात अंगो को राज्य की सात प्रकृतियो की संज्ञा दी है, तथा इन्हे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र के नाम से सम्बोधित किया है।[3] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी राज्य का यही स्वरूप स्वीकार किया है। उनके मतानुसार भी राज्य के सात अंग स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल हैं।[4] इसी प्रकार कामन्दक, सोमदेव सूरि आदि आचार्यों ने भी राज्य से स्वरूप और प्रकृति का वर्णन सप्तांग रूप मे ही किया है।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत मे राजशास्त्र के जो प्रमुख विचारक हुए है, लगभग सभी ने, राज्य के सप्ताग स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होने इन अंगों की उत्तमता एवं विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी है। उनका मत है कि राज्य के इन अंगो मे यदि एक अंग भी विकार-ग्रस्त हो गया तो सम्पूर्ण राज्य ही विकृत हो जायगा। इसलिए राज्य को स्वस्थ्य एवं विकार-रहित रखने के लिए यह परमावश्यक है कि उसके ये सम्पूर्ण अंग स्वस्थ्य एवं विकार रहित रहे। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-साहित्य मे इन अंगो को इनके स्वाभाविक रूप मे बनाये रखने के लिए अनेक उपायो एवं साधनो की व्यवस्था की गयी है।

सप्तांग सिद्धान्त का विकास

वैदिक युग में सप्तांग सिद्धान्त—राज्य के सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप की कल्पना सर्वप्रथम कब और किसने की, यह अभी समस्या ही बनी हुई है। परन्तु इतना निश्चित एवं निर्विवाद है कि राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की जो रूपरेखा प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्तर्गत आज हमारे समक्ष प्रस्तुत है वह वैदिक युग की देन नही है। यह कल्पना वैदिक युग के उपरान्त के किसी आचार्य के मस्तिष्क की उपज है। यद्यपि वैदिक साहित्य मे राजा, मंत्री, राष्ट्र, सेना, पुर अथवा दुर्ग का उल्लेख है परन्तु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे कही भी इस विषय का उल्लेख नही है कि ये सप्तांग अथवा सप्तात्मक वेदिक राज्य के अंग है। ऋग्वेद मे सृष्टि-रचना का वर्णन है। सृष्टि-रचना के पूर्व सम्पूर्ण जगत का समष्टिरूप विराट् पुरुष माना गया है। इसी विराट् पुरुष के विभिन्न अवयवों से सृष्टि के विविध रूपो के जन्म एवं उनके विकास की कल्पना की गयी है। विराट् पुरुष मे असंख्य सिर, असंख्य नेत्र, असंख्य बाहु, असंख्य पैरो की कल्पना की गयी है। उसी विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[5]

---

१. ६५।६६ अनुशासन पर्व, महाभारत। २. मानवधर्मशास्त्र २९४।९।
३. अर्थशास्त्र १।१।६। ४ शुक्रनीति ६१।१।
५. ऋग्वेद १३।९०।१०।

यजुर्वेद में वर्णित सृष्टि-रचना-क्रम मे भी इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार ही किया गया है। उक्त प्रसंग मे यजुर्वेद मे ऋग्वेद-वर्णित भावो की ही पुनरावृत्ति की गयी। यजुर्वेद के इस प्रसंग में भी विराट् पुरुषो के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति उसी प्रकार बतलायी गयी है।[1] समाज के निर्माण मे भी यजुर्वेद मे ऋग्वेद की भांति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख, बाहु, जंघा और पाद से क्रमशः बतलायी गयी है।[2]

समाज निर्माण के इस प्रसंग के अतिरिक्त यजुर्वेद मे कतिपय ऐसे संकेत भी प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यजुर्वेदीय ऋषियो ने राज्य के तत्कालीन आवयविक सिद्धान्त को अपने राजनीतिक जीवन मे भी ग्रहण किया था। यजुर्वेद के एक प्रसंग में राज्य को कल्पना पुरुष रूप में की गयी है। वहाँ पर इस प्रसंग मे राज्य की कल्पना पुरुष रूप मे करते हुए उसके अंग-प्रत्यंगो का वर्णन राज्य के कतिपय अंगो के रूप में किया गया है यजुर्वेद के इस प्रसंग में इस प्रकार वर्णन है—

मेरी (विराट् पुरुष की) पीठ भूभाग (राष्ट्र) है; मेरा उदर, मेरी ग्रीवा, मेरी कटि और मेरी जंघा, घुटने, गट्टे यह सभी मेरी प्रजा (विश्) हैं।[3] मेरा सिर कोश (श्री) है; मेरा मुख, मेरे केश और मेरी दाढी-मूंछ मेरी दीप्ति अथवा प्रताप हैं। मेरा अमर प्राण राजा हैं।[4] यजुर्वेद में आये हुए ये प्रसंग सिद्ध करते हैं कि यजुर्वेद मे राज्य के आवयविक स्वरूप की कल्पना की गयी है।

राज्य के आवयविक स्वरूप का यह सिद्धात संहिता युग के उपरांत बहुत समय तक, लगभग इसी रूप में प्रचलित रहा। उत्तर वैदिक काल में इस सिद्धांत में कितना और किस रूप मे विकास हुआ, इस विषय का बोध कराने के लिए वैदिक साहित्य मे प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है।

स्मृतियों के अनुसार सप्तांग सिद्धांत—मनुस्मृति मे राजा की दैवी उत्पत्ति के साथ ही साथ राज्य के सावयव स्वरूप का भी सिद्धान्त प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य तथा नारद भी राज्य के सावयव स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। इन तीनो ही स्मृतियो मे राज्य की प्रकृतियो अथवा सात अंगो का वर्णन मिलता है। मनु के अनुसार राज्य के सात अंग—स्वामी, आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दंड, तथा मित्र हैं ?[5] याज्ञवल्क्य का सप्ताग वर्णन मनु के ही समान है, परन्तु उन्होने "पुर" तथा राष्ट्र के स्थान पर "जन,' तथा "दुर्ग" का उल्लेख किया है।[6] नारद स्मृति केवल यह बताती है कि राज्य के सात अंग होते हैं, उसमें विभिन्न अंगो का उल्लेख नही मिलता है।[7] मनु तथा याज्ञवल्क्य मे प्राप्त होने वाला अन्तर कोई विशेष महत्व का नही है। मनु के अनुसार बताया गया पुर नामक अंग राजधानी का द्योतक है तथा "राष्ट्र" सम्पूर्ण देश के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन दोनो को

---

१. यजुर्वेद १२।३१। २. यजुर्वेद ११।३१।
३. यजुर्वेद ५।२०। ४. यजुर्वेद ८।२०।
५. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदंडौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तागं राज्यमुच्यते॥ मनु ६—२६४.
६. स्वाम्यमात्यौ जनो दुर्गं कोशो दंडस्तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्तांगमुच्यते॥ याज्ञ० स्मृति, १—३५३.
७. नारद—अ० १७ (१८) श्लोक २ जाली द्वारा अनुदित।

अलग-अलग अंग के रूप में बतलाने के स्थान पर याज्ञवल्क्य ने "जन" नामक अंग के ही अन्तर्गत रख कर "दुर्ग" को अपनी सूची में रख कर एक अन्य अंग का उल्लेख किया है। परन्तु मनु ने दुर्ग को सप्तांग की सूची में अलग स्थान न देते हुये भी उसके ऊपर पर्याप्त विचार किया है, अतएव यह कहा जा सकता है कि दोनों का सैद्धान्तिक निष्कर्ष एक ही हो जाता है। ये सातों अंग कार्य-विशिष्टता के सिद्धान्त पर आधारित हैं। मनु के अनुसार जो अंग जिस कार्य को करता है वह उसमें विशिष्ट समझा जाता है। उस अंश की अपनी इस विशिष्टता के ही कारण कोई अन्य अंग उस कार्य को करने में अशक्त रहता है। इसी कारण अपने स्थान पर सबका समान महत्व है, परन्तु सामूहिक दृष्टि से नहीं। अपने-अपने स्थान पर रहने पर इन अंगो मे कोई अंग एक दूसरे से कम नही है, ये सभी अन्योन्याश्रित हैं अतः सामान महत्व के है। मनु इसी भाव को एक रूपक के द्वारा व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे से खड़े रह सकते हैं उसी प्रकार राज्य के सातों अंग एक दूसरे से सम्बद्ध रह कर ही खड़े रह सकते हैं; अन्यथा नहीं। तथा जिस प्रकार तीनों दंडो का ही सामान महत्व रहता है उसी प्रकार राज्य के सात अंगो का समान महत्व रहता है।[1] राज्य की ये सात प्राकृतियाँ अपने उपर्युक्त महत्व के कारण उसे (राज्य को) सावयव स्वरूप प्रदान कर देती हैं।

महाभारत के अनुसार सप्तांग सिद्धान्त—महाभारत के शांति पर्व में राज्य के सप्तांग स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है—आत्मा, अमात्य, कोष, दन्ड, मित्र, जनपद तथा पुर।[2] यहाँ पर राजा को राज्य की आत्मा मानकर ही सप्तांग की सूची में "आत्मा" शब्द की संज्ञा दी है। राज्य की स्थिति तथा उसकी समृद्धि इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। इन अंगों मे से किसी भी एक की विकृति का प्रभाव संपूर्ण राज्य पर पड़ता था अतएव स्वस्थ्य राज्य के लिए यह आवश्यक था कि इनमें विकार अथवा व्यतिक्रम न होने पावे।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के अनुसार राज्य के सप्तांग—राज्य को उपयोगी, अनिवार्य, सावयविक एवं सर्वश्रेष्ठ संस्था मानते हुए, कौटिल्य ने यह प्रतिपादित किया है कि राज्य ही मात्र एक ऐसा संगठन तथा संस्था है जिसके द्वारा मानव जीवन संभव, निश्चित तथा उद्देश्यपूर्ण बनता है। उनके अनुसार राज्य की अनुपस्थिति का अर्थ 'मात्स्य-न्याय' है। 'मात्स्य-न्याय' के अन्तर्गत जीवन सम्भव नही हो सकता। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है, उसी प्रकार राज्य की अनुपस्थिति का अर्थ बल और शक्ति का साम्राज्य है। कौटिल्य की इस मान्यता द्वारा हमे मध्यकालीन राजनीति दार्शनिक हॉब्स का स्मरण हो आता है। 'अर्थ-शास्त्र' के अनुसार 'मात्स्य-न्याय' की समाप्ति करने तथा मानव-जीवन को सरल और गति प्रदान करने के लिए ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

---

१. सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुववेशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते॥ मनु ९। २९६.

२. "आत्मामात्याश्च कोशाश्च दन्डो मित्राणि चैव हि।
तथा जनपदाश्चैव परं··· ··· ···
एतत्सप्ताराकम् राज्य ······"महाभारत, शान्ति पर्व ६५.

राज्य के स्वरूप या प्रकृति का वर्णन करते हुए राज्य को सात प्रकृति युक्त प्रतिपादित किया है। कौटिल्य ने उसके अनुसार राज्य के सप्तांग का वर्णन निम्नलिखित है :—

(१) राजा—मात्स्य-न्याय या बलवान द्वारा निर्बलो पर अत्याचार किये जाने के कारण जनता ने वैवस्वत मनु से कहा कि "हम तुम्हें अपना राजा नियुक्त करते हैं। हम तुम्हे धान्य का छठा भाग और व्यापार पदार्थों का दसवां भाग कर के रूप मे देने का वचन देते हैं। तुम हमारी रक्षा करो'" इस प्रकार जिस राजा की उत्पत्ति हुई, उसे कौटिल्य राज्य का प्रथम अंग मानता है। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार राजा उच्चकुलशील, धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, कृतज्ञ, बलवान, उत्साही, दृढ़प्रतिज्ञ, विनयशील, विवेकयुक्त, स्पष्ट विचारयुक्त, तर्क-वितर्क मे प्रवीण, तत्वज्ञाता, न्यायशील, मृदुभाषी, हँसमुख, कार्य निपुण, स्पष्टवक्ता, शास्त्र एवं शस्त्र मे प्रवीण, निश्चयी, पापाचार के प्रति असहिष्णु, सन्धि विग्रह के सम्यक् ज्ञान वाला, प्रजा के पोषण मे समर्थ, शत्रु की दुर्बलताओ को समझने वाला, राज्य कोष मे वृद्धि करने वाला आदि होना चाहिये।

(२) अमात्य—सद्मन्त्रणा तथा अमात्यो की उपयोगिता का उल्लेख करते हुये कौटिल्य ने राज्य के कार्यों की सफल सिद्धि के लिए अमात्यो की नियुक्ति पर विशेष बल दिया है। विद्या, बुद्धि, विवेक, नीति निपुण, साहसी, राष्ट्र सेवी, स्वामीभक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ, तथा स्वार्थ रहित व्यक्ति ही अमात्य के पद को सुशोभित करने योग्य हो सकते हैं।

(३) जनपद—कौटिल्य द्वारा राज्य के तृतीय अंग 'जनपद' का अर्थ राष्ट्र, देश अथवा स्वजातीय राज्य है। अर्थशास्त्र मे प्रत्येक जनपद के लिये जनसंख्या, निश्चित और प्राकृतिक सीमा-बद्ध भूक्षेत्र, राज्यसत्ता की स्थापना, सैन्यशक्ति तथा आर्थिक अवस्था को आवश्यक अंग बताया गया है। जनपद मे सभी साधनो की उपलब्धि, शासनतन्त्र का सुचारु संचालन, प्रजा में देशभक्ति तथा विधि के पालन की भावना, राजदण्ड तथा राज्य के करो को सहन करने की क्षमता का भी उल्लेख किया गया।

(४) दुर्ग—कौटिल्य ने राज्य पर विशेष बल देते हुये युद्धोचित दुर्गों के निर्माण को आवश्यक बताया है। उसने चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है। ये हैं—(१) औदिक दुर्ग, (२) पार्वत दुर्ग, (३) धान्वन् दुर्ग, तथा (४) वन दुर्ग। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार युद्ध छिड़ने, आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न होने तथा शत्रु से राज्य की रक्षा करने मे दुर्ग का विशेष महत्व है।

(५) कोष—राज्य की समस्त कार्यविधियो के सुचारु संचालन के लिये कोष अति आवश्यक है। कौटिल्य के अनुसार राजा को अपने पूर्वजो द्वारा संग्रहीत कोष में स्वयं द्वारा धर्मानुसार अर्थसंग्रह करना चाहिये।

(६) सैन्य शक्ति—राज्य की सुरक्षा तथा विस्तार के लिये सैन्यशक्ति के संगठन पर बल देते हुये, कौटिल्य ने सेना की सात श्रेणियो का उल्लेख किया है। ये श्रेणियाँ हैं—(१) मौलसेना—यह राजधानी की सुरक्षा के लिये होनी चाहिए। (२) भूतसेना—इसमे किराये पर लड़ने वाले सैनिक होते हैं। (३) श्रेणीसेना—इसमे युद्धवीर जातियो के लोग भर्ती किये जाने चाहिये। (४) मित्र-सेना—इसमे मित्र राज्यो के सैनिक होते हैं। (५) अमित्रसेना—इसमें शत्रु राज्य के सैनिकों को

गणना की जाती है। (६) अटवीसेना—इसमें अन्य जातियों के सैनिक होते हैं। (७) औत्साहिक-सेना—इसमे लूट मार करने वाले, हिंसक तथा दस्यु आदि सैनिको की भर्ती की जाती है। कौटिल्य ने सैनिको के व्यक्तिगत निर्वाह के साथ-साथ उनके परिवार के सदस्यो की यथोचित देख-भाल को राज्य का उत्तरदायित्व बताया हे।

(७) **मित्र**—'अर्थशास्त्र' मे राज्य के सप्ताग का अन्तिम अंग मित्र वर्ग है। कौटिल्य के अनुसार विपदा, अशान्ति तथा आवश्यकता को घडी मे सर्वाधिक सहायता मित्र वर्ग द्वारा प्राप्त होती है। अतः उसने मैत्री तथा सन्धि आदि पर विशेष बल दिया है।

समीक्षा—कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सप्ताग सिद्धान्तों मे जनसाधारण को कोई महत्व नहीं दिया गया है। सम्भवतः इसका प्रमुख कारण कौटिल्य का राज्यतन्त्र प्रणाली मे अटूट विश्वास होना है। सप्तांग सिद्धान्त के अनुशीलन द्वारा हमें इस निष्कर्ष को प्राप्ति होती हे कि कौटिल्य सैद्धान्तिक रूप से वंशानुगत प्रजाहितैपी राजतन्त्र का समर्थक तथा पोषक था। वह समस्त क्षेत्रो में राजा की शक्ति तथा राज्य के अस्तित्व को सर्वोपरि मानता है। यद्यपि इस दृष्ठि से कौटिल्य की बड़ी आलोचना की गई है तथापि उसने जिन परिस्थितियो तथा समय मे अपने मत का प्रतिपादन किया उनमे शक्तिशाली राजतन्त्र प्रणाली द्वारा हो भारत मे विशालतम मौर्य साम्राज्य को स्थायित्व प्राप्त हो सकता था।

सप्तांगों का महत्व

सप्तांग सिद्धान्त के विकास मे कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के विशेप योगदान के महत्व का उपरोक्त उल्लेख करने के उपरान्त, इस विषय पर अब हम समग्र रूप से विचार करेंगे। प्राचीन भारतोय राजशास्त्र के मनीपियो द्वारा प्रतिपादित राज्य के सप्ताग सिद्धान्त या राज्य की सप्त प्रकृतियो में पर्याप्त समानता है। इन सप्त प्रकृतियो या अवयवो को साधारण रूप से इस क्रम मे रखा जा सकता है—(१) राजा, (२) अमात्य, (३) जनपद, (४) पुर या दुर्ग, (५) कोष, (६) सेना या वल, तथा (७) मित्र।

(१) **राजा या स्वामी**—राज्य के सप्तांगो मे राजा को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। सभी राजशास्त्रियो ने सप्तागो मे राजा को प्रथम स्थान दिया। अनेक उल्लेखो से ऐसा प्रकट होता है मानो राजा राज्य का पर्याय है। मनु ने तो राजा को काल का भी कारण माना है।[1] राजा यदि राजधर्म का भली-भांति पालन करेगा, सब को स्वधर्म में स्थित रखेगा, तो वह स्वयं काल का भी निर्माण कर सकेगा। जब राजा पूर्णरूप से दण्डनीति का प्रयोग करता हे, तभी कृतयुग (सतयुग) होता है। उस समय अधर्म का सर्वथा अभाव होता है, और सब कोई अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं।[2]

राज्य-संस्था मे जिस राजा का इतना अधिक महत्व है, उसके लिए आदर्श और गुण सम्पन्न

---

१. 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥' महा० शान्ति० ६९।६

२. 'द्रण्डनीत्या पदा राजा सम्यक् कार्त्स्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नामकालःश्रेष्ठः प्रवंतने'॥—महा० शान्ति० ६९।७

होना भी परम आवश्यक है। राजा के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र में जिन गुणो का प्रतिपादन किया गया है उनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।[१] मनु के अनुसार 'राजा को चाहिए कि वह रात-दिन इन्द्रियो की विजय मे तत्पर रहे। केवल जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश मे रखने में समर्थ हो सकता है। दस व्यसन ऐसे है, जो कामवासना से उत्पन्न होते हैं, और आठ व्यसनो की उत्पत्ति क्रोध के कारण होती है। राजा को चाहिए, कि इन व्यवसनो से प्रयत्नपूर्वक बचे। जो राजा कामवासना द्वारा उत्पन्न व्यवसनो में फँस जाता है, धर्म और काम से उसका संयोग नहीं रहने पाता। क्रोध द्वारा उत्पन्न व्यवसनो में फंस कर राजा अपने आपको ही भूल जाता है।[२] राजा को मर्यादा में रखने के लिए उसका व्यक्तिगत रूप से उच्च चरित्र का होना भी आवश्यक था। यह आवश्यक था कि उसकी स्वेच्छाचारिता पर ऐसे अंकुश विद्यमान हो, जो उसे नियन्त्रण मे रख सकें। प्राचीन नीतिग्रंथो के अनुशीलन द्वारा इस सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। कौटिल्य ने लिखा है, कि राजा के समान विद्या वालो को जो वेतन दिया जाए, उससे तीन गुना वेतन राजा को दिया जाए।[3] राजा और उसके परिवार के व्यक्ति राजकीय आमदनी का मनमाने तरीके से व्यय नही कर सकते थे, अन्य राजपदाधिकारियो के समान उनका वेतन भी निश्चित था। राजा जहाँ अपने व्यय के लिए वेतन प्राप्त करता था, वहाँ उसके कर्त्तव्य भी सुनिश्चित थे। वह मन्त्री, पुरोहित आदि विविध राजकर्मचारियों की सहायता से शासन-कार्य का संचालन करता था, उनकी नियुक्ति उसी के अधीन थी, और उनमे अपने-अपने कार्यों के लिए उत्साह उत्पन्न करना, और जो कोई अपने कर्तव्यो मे शिथिल हो उसे शिथिल होने से रोकना राजा का ही कार्य माना जाता था। राजा महत्वपूर्ण कार्य करता था, पर तो भी राज्य मे उसकी स्थिति 'ध्वजमात्र' ही मानी जाती थी।[४] क्योकि राज्यशक्ति का प्रयोग ही उसमे निहित था जिसे वह मन्त्री आदि अमात्यो के सहयोग से प्रयुक्त करता था। वह राजधर्म या दण्डशक्ति का प्रणेता नही था, अपितु इनके अधीन रहते हुए ही अपने कर्त्तव्यो का सम्पादन करता था। इसीलिए विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस नाटक मे चन्द्रगुप्त मौर्य को 'सचिवायत्त-सिद्धि' कहा है।[५] यह भी प्रावधान था कि यदि राजा दण्डशक्ति का दुरुपयोग करे, तो गृहस्थो की तो बात ही क्या, वानप्रस्थ और परिव्राजक तक कुपित होकर उसके

---

१. 'शुश्रुषा श्रवणग्रहण धारण विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः।
शौर्यममर्षः शीघ्रता दाक्ष्यं चोत्साह गुणाः।' कौ० अर्थ० ६।१।
'कृत्स्नं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः।' कौ० अर्थ० १।३।

२. 'इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥
दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च। व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः। वियुज्यतेऽर्थकामाभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥'
मनुस्मृति ७।४४-४६

३. 'ऋत्विगाचार्य मन्त्रि पुरोहित सेनापति युवराज राजमातृ राजमहिष्योऽष्टचत्वारिंशत्साहस्रः।'

४. 'ध्वजमात्रोऽयम्। भवन्त एव स्वामिनः।' कौ० अर्थ० ५।६

५. 'चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा सचिवायत सिद्धावेव स्थितचक्षुः।'

विरुद्ध उठ खड़े हो सकते थे,[1] और ऐसे प्रतिज्ञादुर्बल राजा को राज्यच्युत कर दिया जाता था। प्राचीन भारत मे राज्य के शासन के सम्बन्ध में प्रजा की सम्मति का इतना अधिक महत्व था, कि आचार्य बृहस्पति के अनुसार यदि प्रजा की सम्मति विरुद्ध हो, तो धर्मानुकूल कार्य को भी राजा न करे।[2] महाभारत मे यह कहा गया है, कि राजा अपने गुप्तचरों द्वारा यह पता लगाता रहे कि जनता उसके वृत्त (कार्यों) की प्रशंसा करती है या नही। विश्वस्त गुप्तचर राज्य में सर्वत्र यह जानते रहें, कि बीते हुए दिन में राजा द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा हो रही है या नहीं, और जनता मे राजा के यश की क्या स्थिति है।[3] गुप्तचरों द्वारा लोकमत का परिज्ञान करते रहने की आवश्यकता राजा के लिए इसी कारण थी, क्योकि वह जनता की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। अनेक ब्राह्मण राजा की परिषद् मे उपस्थित होते थे, और निर्भय होकर उसे वास्तविकता का बोध कराते रहते थे। जनता पर उनका बहुत अधिक प्रभाव होता था। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो ऐसे अनेक ब्राह्मणो से उसकी भेंट हुई थी। ये सिकन्दर के विरुद्ध भारतीयो को उभाड़ रहे थे। ऐसे एक ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा—'तुम मेरे विरुद्ध क्यो राजा को भड़काते हो ?" ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ कि यदि वह जिए तो सम्मानपूर्वक जिए, अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए।' सर्वोच्च स्थिति पर रहते हुए भी राजा पर अनेक प्रतिबन्धों का लगाया जाना तथा संयमो द्वारा उसके व्यक्तित्व पर नियंत्रण रखना—तत्कालीन भारतीय राजशास्त्र की प्रमुख एवं महत्व पूर्ण उपलब्धि थी। वह सात अंगो का केवल 'ध्वजमात्रः अंग भवन्तः स्वस्वामिनः' था।

(२) **अमात्य**—प्राचीन काल मे राजपदाधिकारियो और राजकर्मचारियो को 'अमात्य' कहा जाता था। वे भी राज्यसस्था के महत्वपूर्ण अंग होते थे। अतः भली-भाँति परखने के बाद ही किसी व्यक्ति को अमात्य व मन्त्री के पदो पर नियुक्त करना उपयुक्त समझा जाता था।

अमात्यो का राज्यसंस्था के लिए बहुत महत्व है। राज्य के सब कार्यों के मूल अमात्य ही होते हैं, क्योकि जनपद की कर्मसिद्धि, अपना और दूसरो का योगक्षेम साधन, विपत्तियो का प्रतीकार, खाली हुई भूमि को बसाना और उसकी उन्नति करना, सेना का संगठन, करो को एकत्र करना और अनुग्रह प्रदर्शित करना आदि राजकार्य उन्ही द्वारा सम्पन्न होते हैं। यद्यपि भारद्वाज सदृश कतिपय आचार्य अमात्यो को राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण मानते थे, पर कौटिल्य उन्हें राजा से अधिक महत्व का तो नही समझते थे, यद्यपि अन्य सब प्रकृतियो की तुलना मे उनकी दृष्टि में अमात्यो का महत्व अधिक था।

कौन-से मनुष्य अमात्य पद पर नियुक्त किये जाने चाहिएँ ? अमात्य के लिये आवश्यक गुणो का जो प्रतिपादन किया गया, उसके विषय मे कौटिल्य के मत का उल्लेख किया जा चुका है। इस विषय में भारद्वाज का मत है, कि अपने सहपाठियों को ही अमात्य बनाना चाहिए, क्योकि राजा

१. कौ० अर्थ० १।४

२. 'धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्।' बृहस्पति सूत्र १।४

३. 'अतीत दिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः। गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत्॥
जानीत यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः। कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः॥
महा० शान्ति० ८९।१५-१६

उन पर विश्वास कर सकता है। विशालाक्ष का विचार है कि साथ खेलते रह चुकने के कारण वे राजा का समुचित सम्मान नहीं करते। राजा ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत करे, जिनका शील और व्यसन राजा के शील और व्यसन के समान हो और जिनके गुप्त रहस्यों को राजा जानता हो। पाराशर ने यह प्रतिपादित किया कि राजा ऐसे व्यक्तियो को अमात्य नियत करे, जिन्होंने कि आपत्ति के समय जान पर खेलकर भी राजा की रक्षा की हो और जिनका राजा के प्रति अनुराग हो। पिशुन का कहना है कि ऐसे व्यक्ति राजा के भक्त तो हो सकते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि उनमे बुद्धि का गुण भी विद्यमान हो। जिनके गुण स्पष्ट रूप से विदित हो, उन्ही को अमात्य बनाना चाहिए। कौणपदन्त ने इस विचार का खण्डन करके यह प्रतिपादित किया है कि ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत किया जाना चाहिए, जिनके कुल मे पितृ-पैतामह काल से ये पद चले आ रहे हों। वातव्याधि का मत है, कि वंशक्रमानुगत रूप से चले आ रहे अमात्य स्वयं स्वामी के समान व्यवहार करने लगते हैं, अतः ऐसे नये व्यक्तियो को अमात्य बनाना चाहिए, जोकि नीति के ज्ञाता हो। सामान्य रूप से इन सभी मतों मे यह प्रतिपादित किया गया है, कि कार्य, देश और काल को दृष्टि मे रखते हुए ऐसे व्यक्तियो को अमात्य नियत किया जाए, जो कि कार्य को सम्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हो—और उनमे कार्य-सामर्थ्य के अनुसार पदों का विभाजन किया जाए।

मनुस्मृति के अनुसार भी राज्यसंस्था के लिए अमात्यो का बहुत महत्व है, क्योंकि दण्डशक्ति का प्रयोग उन्ही द्वारा किया जाता है।[1] अमात्य ऐसे होने चाहिएँ, जो शुचि, प्राज्ञ और सुपरीक्षित हो।[2] शुक्रनीतिसार में राजा के (अमात्यो) के ये गुण लिखे हैं—वे ऊँचे कुल के हो, गुणी हों, शील से सम्पन्न हो, शूर हो, राजा के प्रति भक्ति रखते हो, प्रिय भाषण करने वाले हो, हित बात को उपदिष्ट करने वाले हो, क्लेश सहने की क्षमता रखने वाले हो, और धर्म मे रत हो। यदि राजा कुमार्ग पर चलने लगे, तो अपनी बुद्धि द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाने की क्षमता भी उनमे होनी चाहिए। उनका आचरण पवित्र होना चाहिए। साथ ही, उनके लिए ईर्ष्या-द्वेष से रहित होना, काम, क्रोध तथा लोभ से हीन होना और आलसी न होना भी आवश्यक है।[3]

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि दण्ड का प्रयोग राजा के अधीन था, जिसको वह अमात्य वर्ग की सहायता से प्रयुक्त करता था। अत. प्राचीन नीतिकारों ने, अमात्यो को शुद्ध चरित्र तथा शील-गुण-सम्पन्न होना चाहिए—यह प्रतिपादित किया है।

(३) जनपद—राज्य का तीसरा अंग जनपद है। कौटिल्य ने जनपद के जो गुण प्रतिपादित किये वे बड़े महत्व के हैं। इनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। विस्तार में जनपद की भूमि इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि जनता का पालन हो सके; विपत्ति के समय शरण लेने वाले विदेश लोग भी उससे अपना निर्वाह कर सकें; शत्रुओं से रक्षा के साधन उसमे हो; खेत, चरागाह, जंगल,

---

१. 'अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।' मनु० ७।६५

२. 'अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥' मनु० ७।६०

३. 'कुलगुण शीलवृद्धान् शूरान् भक्तान् प्रियंवदान्। हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा ॥
कुमार्गगमपि नृपं बुद्ध्योद्धर्तुं क्षमान् शुचीन्। निर्मत्सरान् कामक्रोधलोभहीतान्निरालसान् ॥'
शुक्र० २।८-९

खानें, जल और स्थल मार्ग, सिंचाई के लिए नहरें तथा कुएँ आदि सब उसमें हों; और उसको जलवायु भी उत्तम हो। प्रजा के गुणों मे किसानो की कर्मशीलता, उच्च और अधम सब वर्णों के लोगो मे बुद्धि का होना, राज्यसंस्था के प्रति भक्ति होना आवश्यक हैं। आचार्य विशालाक्ष का मत है, कि राजकीय कोष, सेना, कच्चा माल, विष्टि (बेगार), सवारी के पशु, और अन्य सब वस्तुओं की उपलब्धि जनपद से ही होती है, अतः उसका महत्व अमात्यों की तुलना मे अधिक है। महाभारत आदि में जनपद की भूमि तथा उसके निवासियो के गुणो के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नही मिलते।

(४) **पुर या दुर्ग**—राज्य के स्वरूप के सात अंगो में पुर भी एक है। उसका भी महत्व बहुत अधिक था। पाराशर का मत है कि राजकोप और सेना प्रधानतया दुर्ग में ही स्थित होते हैं, और आपत्ति के समय मे जनपद के निवासी भी वही आश्रय प्राप्त करते हैं और जनपद के निवासियो की तुलना मे पुर के निवासी अधिक शक्तिशाली भी होते हैं। कौटिल्य के अनुसार यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अपना अधिकार कर लेगा, और युद्ध के अवसर पर शत्रु की पराजय के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना होता है। वहां से सैन्यशक्ति का प्रयोग भलीभाँति किया जा सकता है।

पुर को किस प्रकार से बनाया जाए और विविध दुर्गों का निर्माण किस ढंग से किया जाए, इस विषय मे भी विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। जनपद की सीमाओं पर युद्ध के लिए उपयोगी दुर्ग बनाये जाएँ, और आवश्यकता की दृष्टि से नदी या द्वीप के बीच ऊँचे टीले पर रेगिस्तान या ऊसर भूमि मे दुर्गों का निर्माण किया जाए। महाभारत मे महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, जलदुर्ग, वनदुर्ग आदि अनेक प्रकार के दुर्गों का विधान करके उनका राष्ट्र की रक्षा के लिए महत्व बताया गया है।[1] शुक्रनीतिसार मे विविध प्रकार के दुर्गों के अतिरिक्त पुर के सम्बन्ध मे बहुत अधिक विस्तार से लिखा गया है।[2]

(५) **कोष**—प्रायः सभी राजशास्त्रियो ने कोप के महत्व का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया कि कोप धर्मपूर्वक प्राप्त किया हुआ होना चाहिए। कोप को स्वर्ण, रजत, सोने की मुद्राओ, विविध रंगो के व भारी वजन के रत्नों से पूर्ण होना चाहिए, और उसे इतना पर्याप्त होना चाहिए कि उससे निर्वाह चल सके। यह सुनिश्चित कर लेना उचित और आवश्यक ठहराया गया था कि बाह्य आक्रमण, दुर्भिक्ष और अन्य दैवी आपत्तियो के समय पर—चाहे ये आपत्तियाँ सुदीर्घ काल तक ही क्यो न रहे—कोष मे कमी न आए।

(६) **सेना या बल**—प्राचीन नीतिग्रंथो मे अनेक प्रकार की सेनाओ का वर्णन है, जिनमें नागरिको की सेना (मौले), भाड़े की सेना (भृत), युद्धक संगठन या दल (श्रेणी) तथा जंगली जातियो की सेना (आटविक) आदि प्रमुख हैं। सैनिको तथा सेना के गुणो के विषय में यह प्रतिपादित किया गया है कि (१) सैनिक ऐसा होने चाहिए जिनका वंश-परम्परा से सैनिक सेवा का ही पेशा हो, (२) सेना स्थायी (नित्य) होनी चाहिए, (३) अनुशासित होनी चाहिए, सैनिको की पत्नियाँ और सन्तान उस वेतन से सन्तोष अनुभव करें, जो कि उन्हें दिया जाए। सैनिक चिरकाल तक घर से

---

१. महा० शान्ति० ८६।४-५ २. शुक्रनीतिसार १।२०८-२२१

बाहर को तैयार रहे। उनमे कष्ट सहन करने की क्षमता हो, उन्हे विविध प्रकार के युद्ध लड़ने की शिक्षा दी गई हो, सब प्रकार के अस्त्रशस्त्र के प्रयोग में वे विशारद हो, और उनमे यह भावना हो कि वे साथ जियेगें, साथ मरेगें। महाभारत के एक सन्दर्भ में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है—'क्या तुम अपने सैनिकों को उनका भत्ता, वेतन व भोजन का अंश समय पर देते हो? यह आवश्यक है, कि सैनिकों को ठीक समय पर वेतन दे दिया जाए। मेरा विचार है, कि तुम ऐसा ही करते हो और इस सम्बन्ध मे कभी अकार्य कर्म नही करते।'[१] शुक्रनीतिसार मे भी सेना के महत्व और संगठन का विशद रूप से वर्णन किया गया है।[२]

(७) मित्र—राज्यसंस्था के लिए यह भी आवश्यक है, कि कतिपय अन्य राज्यो से मित्रता का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाये। मित्र-राज्य ऐसा होना चाहिए, जिसके साथ पितृ-पैतामह आदि के समय से मैत्री-सम्बन्ध चला आ रहा हो, जो स्थायी हो, जिसमे नियंत्रण की सत्ता हो, जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके, और जो शीघ्रता के साथ बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सकने मे समर्थ हो।

समीक्षा

राज्यसंस्था को एक शरीर मानते हुए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता इन सात प्रकृतियों को राज्य-रूपी शरीर का अङ्ग मानते थे। इसी कारण उनका मत था, कि इन सातों गुणो के भली-भाँति उदय होने से ही राज्यसम्पदा फलती-फूलती है। भारत के प्राचीन राजशास्त्र-विशारदो का यह सामान्य मत था कि राज्य मे केवल राजा का ही महत्व नही होता, अपितु उसके सभी अङ्ग महत्वपूर्ण होते हैं। राजा की अपनी सत्ता भी अन्य अङ्गो के बलशाली होने पर ही निर्भर करती है। इसी कारण यह विचार प्राचीन ग्रन्थो मे कही नही पाया जाता, कि राजा ही राज्य है।

यह कहा जाता है कि यदि राज्य-शरीर के किसी भी अङ्ग मे दोष उत्पन्न हो जाय तो उससे सारे शरीर अर्थात् राज्य का संचालन बिगड़ जाता है। कामन्दक के अनुसार तो पूर्णरूप से कुशल संचालन के लिए ऐसे दोषी अंग के दोष को तुरन्त ही ठीक करने के प्रयत्न करने चाहियें। शुक्र तथा मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है। मनु का कथन है कि ये अंग एक दूसरे मे इस प्रकार जुड़े हैं कि उनसे मिलकर ही राज्य-शरीर पूर्ण होता है। परन्तु यह स्वाभाविक है कि किसी भी अंग में दोष आ जाए। साधारण दोष के आने पर शरीर का संचालन किया जा सकता है, किन्तु यदि व्यसन अथवा रोग गम्भीर होता है, तो अंग चाहे कितना ही कम महत्वपूर्ण हो, सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है। राज्य-शरीर के सुचारु तथा सन्तोषजनक संचालन के लिए सभी अंग स्वस्थ्य तथा दोषहीन होने चाहियें।

पाश्चात्य सिद्धान्तों से तुलना—भारतीय राज्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सप्तांग सिद्धान्त मे तीन बातें प्रमुख हैं—(१) राज्य सात तत्वो से मिलकर बना है; (२) राज्य-शरीर के सात अंग

---

१. 'क्वचिद्बलस्य भक्तश्च वेतनञ्च यथोचितम्।
साम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्मसि॥'' महा० सभा० ५।४८

२. शुक्रनीतिसार ४।२-३०।

अथवा अवयव हैं; और, (३) राज्य के विभिन्न अवयवो के बीच आंगिक एकता है। पाश्चात्य विचारक राज्य के चार प्रमुख अंग बताते हैं, जनसंख्या, भू-भाग, सरकार और प्रभुता। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार राज्य के सात तत्व हैं, जिनमें जनसंख्या और प्रभुता को स्पष्ट रूप से सम्मिलित नही किया गया है। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर भारतीय सिद्धान्त में पाश्चात्य मान्यता के चारो तत्व मिल जाते हैं। जनपद मे जनसंख्या का विचार सम्मिलित है। इन दोनो से मिलकर भू-भाग का विचार पूर्ण हो जाता है। अमात्य, कोष, सेना (दण्ड) शासन के प्रमुख अंग है और ये तीनों मिलकर शासन का स्थान लेते हैं। स्वामी प्रभुता का प्रतीक है, जिसके पीछे सेना की शक्ति है।

पाश्चात्य राज शास्त्रियो में से जोन ऑफ सेलिसबरी, ब्लंश्ली, लीकॉक तथा हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य की शरीर से तुलना की है। ब्लंश्ली तथा हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो राज्य को सावयव प्राणी कहा है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य तथा प्राणियो मे समानता बताते हुए कहा है कि जैसे शरीर के लिये खाना है, राज्य-शरीर मे उत्पादन व्यवस्था है, जैसे मानव शरीर मे रक्त-वितरण की व्यवस्था है, राज्य-शरीर में संचार के साधन हैं, और जैसे मानव शरीर मे नाडी-व्यवस्था है राज्य-शरीर मे शासन और सेना है। उसने व्यक्तियो को राज्य-शरीर के कोषाणु बताया है। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों मे विस्तार की बातो का अन्तर है। भारतीय विचारकों ने राज्य-शरीर की मनुष्य शरीर तथा वृक्ष से तुलना की है, किन्तु उसे जीवित प्राणी नही माना है।

प्राचीन भारत में राज्यों के प्रकार

भारत की भौगोलिक विविधता ने इस देश की राजनैतिक विचारधारा तथा राजनैतिक प्रणालियों को अतिशय प्रभावित किया है। यद्यपि आधुनिक भारत मे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण में एक ही शासन व्यवस्था है, परन्तु प्राचीन काल में भारत की राजनीति में विभिन्न प्रयोग होते रहे। विशाल साम्राज्यो की साम्राज्य विस्तार नीति भी राज्यो के प्रकारो को समाप्त नही कर सकी थी।

प्राचीन भारत में राज्य का सर्वाधिक प्रचलित प्रकार राजतंत्र था। राजतंत्र के अतिरिक्त प्राचीन गणतंत्रो का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य के प्रकारो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसमें कहा गया है समस्त जनता का कल्याण हो, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, अधिपत्यमन्य, सामन्त-पर्यायी राज्य शासन के विभिन्न प्रकार हैं। सार्वभौम सम्राट पूर्ण आयु तक जीवित रहे, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एक राजा हो।[1] इससे विभिन्न प्रकार के राज्यो के अस्तित्व का भास होता है।

प्राचीन भारतीय राज्यों के प्रकारों का विकास—प्राचीन भारत में बहुत काल तक जन राज्यो का ही प्रचलन रहा। उत्तर वैदिककाल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगता है। अथर्ववेद मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता मे ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे राजा अपने 'विश' पर प्रभुता पा सकता है पर 'राष्ट्र' या देश पर नही। वैदिककाल मे नृपतंत्र ही प्रचलित था। राजा, महाराजा और सम्राट आदि उपाधियाँ राजाओ के पद, गौरव और शक्ति के

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण—८।१५।

अनुसार दी जाती थी। कुछ राजा 'स्वराज' और 'भोज' कहलाते थे। इन उपाधियों का निश्चित अर्थ वतलाना कठिन है।

वेदोत्तर युग मे एक सम्राट के सामन्त के रूप मे छोटे वड़े अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है। वैदिककाल के अधिकाश राज्य छोटे ही होते थे। स्पार्टा की भांति प्राचीन भारत मे द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य भी थे। सिकन्दर के समय में पाटल राज्य में पृथक वंशों के दो राजाओ का संयुक्त शासन था। अर्थशास्त्र मे भी ऐसे राज्य का उल्लेख है। ऐसे राज्यों का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ होगा जब दो भाइयो अथवा उत्तराधिकारियो ने राज्य के विभाजन के वजाय सम्पूर्ण राज्य पर संयुक्त शासन करना ही पसन्द किया हो। जैन साधुओ को ऐसे राज्य में रहने या जाने का निषेध किया गया था।

प्राचीन काल मे भारत मे नगर-राज्य भी थे, जिनका आधिपत्य राजधानी तथा समीपवर्ती प्रदेश पर ही रहता था। एरियन के कथनानुसार न्यासा में ऐसा एक नगर-राज्य था। शिवि के नागरिको के द्वारा जव आत्मसमर्पण किया गया, तव सिकन्दर ने उनके नगर को स्वराज्य फिर प्रदान किया, इससे यह मालूम पड़ता है कि उनका भी नगर राज्य था।

प्राचीन भारत में राज्य-संघ और सम्मिलित राज्य भी थे। उत्तर वैदिक-काल मे कुरु पंचालों ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित राज्य स्थापित किया था। बुद्ध और महावीर के जीवन-काल मे लिच्छिवियो ने एक वार मल्लो के साथ और थोड़े ही समय वाद दूसरी वार विदेहो के साथ संघ वनाया था।

राज्यों के प्रकार

भारतीय राजनैतिक क्षितिज मे व्यवस्थित तथा संचालित उपरोक्त राज्य प्रकारो के विकास के आधार पर राज्य के प्रकारों को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) **गणराज्य**—इस वर्ग के राज्यो में राज्यसत्ता का प्रयोग किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं किया जाता था। गणराज्यो मे सत्ता उपभोग जन प्रतिनिधि करते थे। डा० के० पी० जायसवाल के अनुसार 'गण' का अर्थ है—'समूह'। यथा गणराज्य का अर्थ हुआ—'समूह के द्वारा संचालित राज्य अथवा वहुत से लोगो द्वारा संचालित शासन।' गणराज्य को वाद में प्रजातान्त्रिक राज्य के लिये भी प्रयुक्त किया जाने लगा। जातकों के अनुसार 'गण का संगठन कृत्रिम होता था।' धर्मशास्त्र तथा अमरकोष के टीकाकारों ने भी गण को एक कृत्रिम संगठन वतलाया है। अवदानशतक के अनुसार, 'गणराज्य, किसी एक राजा के राज्य का विलोम था।' गणराज्यो के लिये प्रायः संघ शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कई गणराज्यो को मिलाकर संघ का निर्माण भी किया जाता था। मूलरूप में संघ शासन भी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो पर ही आधारित था।

(२) **कुल राज्य**—गण के अन्तर्गत जो राजतन्त्री तत्व होता था, उसे कुल कहा जाता था। कुल का अभिप्राय वंश से है। प्राचीन ग्रन्थों में कुलो को गण के वर्ग में सम्मिलित किया गया था। कुल का अभिप्राय वंशानुक्रमिक राज्य से था। इस प्रकार के राज्यो का संचालन राज्यकुलो द्वारा किया जाता था।

(३) **भोज राज्य**—इस प्रकार के राज्यो का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, अशोक के शिलालेखो तथा त्रिपिटिक इत्यादि में मिलता है। महाभारत मे विभिन्न प्रकार के शासको का उल्लेख किया गया है, भोज्य भी इनमे से एक है। डॉ० के० पी० जायसवाल का मत है कि, 'यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान मे रखने की है कि जाति का यह नाम—भोज्य उनके इस प्रकार के नेताओं तथा शासको के कारण पड़ा था और आगे चलकर परवर्ती साहित्य मे ये लोग उन यादवो की एक शाखा या उपजाति के रूप मे उल्लिखित है जिनका अपने प्रारम्भिक इतिहास मे अंधक वृष्णी नामक दो प्रजातन्त्रो से द्वन्द्व था और ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सत्वत् लोगो मे भोज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी।' इस प्रकार के राज्य पूर्वी भारत मे अवस्थित थे।

(४) **स्वराज्य राज्य**—इस वर्ग के राज्यो की शासन-प्रणाली पश्चिमी भारत मे प्रचलित थी। इसके शासक अथवा सभापति को 'स्वराष्ट्र' कहा जाता था। इस शासन-प्रणाली मे लोग अपने मध्य से किसी व्यक्ति को 'स्वराष्ट्र' चुनते थे, जो शासन कार्य का संचालन करता था। 'स्वराष्ट्र' निर्वाचित होने के लिये व्यक्ति को अपनी योग्यता को प्रदर्शित करना होता था। इनमे योग्य व्यक्ति ही राजा हो सकता था। डॉ० जायसवाल के मतानुसार यजुर्वेद के समय मे स्वराज्य उत्तरी भारत मे स्थित थे।

(५) **वैराज्य राज्य**—इस वर्ग के राज्यो का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण मे मिलता है। वैराज्य शासन-प्रणालो का दक्षिण भारत मे भी प्रचलित होने का उल्लेख मिलता है। उत्तर मद्रो तथा कुरुओ में इस प्रकार को शासन-प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित थी। कौटिल्य के अनुसार "वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके भोगने योग्य राज्य होता है। ऐसे राज्यो को लोक-सत्तात्मक अथवा लोकतन्त्रात्मक राज्य कहना ही उचित होगा।" इस प्रकार के राज्यो मे राज्यसत्ता का उपभोग व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह नही करता था परन्तु राज्य के समस्त निवासी उसको भोगने का अधिकार रखते थे।

(६) **राष्ट्रीय राज्य**—इस वर्ग के राज्यो मे वंशानुक्रमिक राजा नही होता था। शासन कार्य नेताओ के एक मण्डल द्वारा संचालित किया जाता था। राष्ट्रिक शासन-प्रणाली पूर्वी भारत मे भी प्रचलित थी। भोज्य की भाँति इस शासन-प्रणाली के आधार पर ही पश्चिम के राष्ट्रिको का नामकरण हुआ था।

(७) **द्वैराज्य राज्य**—कौटिल्य के अनुसार इस प्रकार के राज्यो का शासन दो उत्तराधिकारियों द्वारा संयुक्त रूप से किया जाता था। द्वैराज्यों की दशा सदैव अस्थिर रहती थी। एक म्यान मे दो तलवारें नहीं रह सकती थी। जैन ग्रन्थो में भिक्षुओ को निर्देश दिया गया कि वे द्वैराज्य में निवास न करें। डॉ० भण्डारकर के अनुसार द्वैराज्य शासन-प्रणाली ठीक उसी प्रकार की होती थी जिस प्रकार प्राचीन स्पार्टा मे दो राजाओ द्वारा एक साथ शासन किया जाता था।

(८) **अराजक राज्य**—अराजक राज्य का अभिप्राय विना राजा के राज्य से है। डॉ० जायसवाल के अनुसार, "इस शासन-प्रणाली का आदर्श यह था कि केवल विधि और धर्मशास्त्र को ही शासक मानना चाहिये और कोई व्यक्ति शासक नही होना चाहिये।" शासन का आधार, लोगो का पारस्परिक सामाजिक बन्धन था। महाभारत के अनुसार, जब इस प्रकार की शासन-प्रणाली से कार्य नही चला, तो राज्यतन्त्र का उदय हुआ। अराजक राज्य के सिद्धान्त पर शासित होने वाले राज्य बहुत ही छोटे-छोटे रहे होंगे।

(९) उग्र और राजन्य राज्य—इस प्रकार के राज्य प्रजातान्त्रिक थे और उनमें राज्यारोहण से पूर्व शासक के राज्यभिषेक को अनिवार्य माना जाता था। जब तक अभिषेक नही होता था, तब तक शासन के अस्तित्व को नही माना जाता था। राज्याभिषेक के समय शासको को धर्मपूर्वक राज्य करने की शपथ लेनी पडती थी। लिच्छिवी तथा मल्ल शासक इसके उदाहरण हैं। राजमुकुट धारण करने के पूर्व शासको का राज्याभिषेक अनिवार्य समझा जाता था। इस वर्ग के राज्यो में पुरोहितो का बड़ा महत्व होता था।

(१०) साम्राज्य—एक शक्तिशाली राजा अथवा राज्य के अधीन कई राज्यो से मिलकर साम्राज्य बनता और साम्राज्य के शासक को सम्राट कहा जाता था। साम्राज्य स्थापित करने के लिए राजा अश्वमेध यज्ञ करता था। एक घोड़ा छोडा जाता था और उसके साथ सेना चलती थी। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि अश्वमेध करके सब राजाओ का पराभव करने से साम्राज्य होता है (राष्ट्र वा अश्वमेधः)। डॉ० जायसवाल ने साम्राज्य पद्धति को सार्वभौम और आधिपत्य से पुराना बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इसे राजतन्त्री पद्धतियो से भिन्न बताया गया है। इसका कारण यह है कि साम्राज्य ऐसे राज्यो का एक समूह होता था, जो किसी एक राज्य को सर्वोपरि मानते थे।

(११) नगर राज्य—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। प्राचीन भारत मे नगर-राज्य थे, जिनका शासन राजधानी तथा पडोस के क्षेत्र पर था। डॉ० बेनी प्रसाद ने भारत पर ग्रीक प्रभाव को बताते हुए लिखा है कि अश्वघोष ने अपने ग्रन्थ 'सौन्दरानन्दकाव्यम्' में कहा है कि कुछ राजपुत्रो ने नगर स्थापित किया, परन्तु देखा कि यदि उसके मामलो को सुचारु रूप से चलाना है तो राजा का होना आवश्यक है। अतः उन्होंने अपने मे से एक को, जो आयु, अनुशासन तथा गुणो मे ज्येष्ठ था, शासक बना दिया। यहाँ नगर का तात्पर्य राज्य से है, इसका शासक निर्वाचित और इसकी उत्पत्ति लौकिक है। परन्तु यहाँ भी हिन्दू विचारो के लिए कोई नई बात नही है, कोई ऐसी बात नही है जो कि बौद्ध दर्शन के प्रभाव से उत्पन्न न हुई होती।[1]

(१२) संघ राज्य—प्राचीन भारत मे राज्य-संघ तथा सम्मिलित राज्य भी थे। उत्तर-वैदिक काल मे कुरु-पाचालो ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित-राज्य स्थापित किया था। महाभारत मे क्षुद्रक और मालव राज्य का एक साथ उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने के लिए इन्होने राज्यो का एक संघ बनाया था, जो एक शताब्दी तक कायम रहा। यौधेय गणराज्य तीन उपराज्यो का संघ था। प्रायः सघ अल्पकालीन ही हुआ करते थे।[2]

प्राचीन भारत में राज्य के उद्देश्य तथा कार्य

पिछले पृष्ठो मे प्राचीन भारत मे राज्य की अवधारणा, उत्पत्ति, प्रकार, प्रवृत्ति आदि की जो चर्चा की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय विचारको ने धर्म, दर्शन, आध्यात्म, विज्ञान आदि के चिन्तन और व्यवस्था मे विशेष तत्परता का परिचय दिया, साथ ही उन्होने मनुष्य के भौतिक जीवन को नियन्त्रित, सुखी, फलीभूत, तथा अनुशासित करने वाले राजशास्त्र के विषय मे भी गभीर चिन्तन किया।

प्राचीन भारत मे राज्य को चतुवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक और महत्व-

---

१. 'दि स्टेट इन एन्शियेन्ट इण्डिया'—पृ० ४९१ डॉ० बेनीप्रसाद। २. वहीं।

पूर्ण साधन माना गया। राज्य, राजा तथा उसके धर्म को 'राजधर्म' की संज्ञा प्रदान करने का प्रमुख अभिप्राय यही था कि राज्य प्रजा का हित करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय के सिद्धान्त पर चलें।

वैदिक काल से ही धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म का प्रत्येक वर्ण तथा निवासियो से पालन करवाना राज्य का प्रमुख लक्ष्य था। राजा इस बात का भरसक प्रयत्न करते थे कि वे स्वयं धर्म का पालन करें तथा अपनी प्रजा से भी धर्म का पालन करावें। राज्य मनुष्य के सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति का साधन था। व्यक्ति स्वय में ध्येय था और उसका आत्मिक-विकास सामाजिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। 'सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।' राज्य का प्रथम कर्त्तव्य धर्म, विशेष रूप से साधारण और वर्णाश्रम धर्म, को स्थिर रखना था। 'हिन्दू विचारो के अनुसार राज्य का ध्येय धर्म को स्थिर रखना है। धर्म ही राज्य को स्थिर रखता है।'[1] 'राज्य के सिद्धान्तो मे केन्द्रीय स्थान धर्म के लिए आरक्षित था। कोई भी राज्य उस मात्रा मे अच्छा या बुरा समझा जाता था जिसमे कि वह धर्म का पालन करता था।'[2] धर्म-पालन, शान्ति-व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय को राज्य का आधार-भूत उद्देश्य समझा जाता था। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि धर्म का संवर्द्धन, सदाचार को प्रोत्साहन देना, प्रजा का संरक्षण व कल्याण राज्य के प्रधान उद्देश्य थे। धर्म-संवर्द्धन व कार्य संवर्द्धन भी राज्य के कर्त्तव्य थे। राष्ट्रीय साधनों का विकास, खानो की खुदाई, वनो का सरक्षण, कृषि के लिए सिचाई आदि का प्रबन्ध राज्य के आवश्यक कार्य समझे जाते थे।

राज्य के कार्य

राज्य के उद्देश्यो से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन के आधार तत्कालीन राज्यो के कार्यों को निर्धारण सरलता से किया जा सकता है, यथा—जनता की रक्षा (सुरक्षा), शान्ति और व्यवस्था, प्रचलित नियमो या कानूनो का पालन, न्याय, वर्णाश्रम धर्म का पालन, सुख और समृद्धि की वृद्धि और व्यक्ति के पूर्ण विकास मे सहायता, अनेक प्रकार के आर्थिक कार्य तथा युद्ध व शान्ति आदि।

व्यावहारिक तथा भौतिक दृष्टिकोण अपनाए जाने के कारण राज्य के कार्यों का क्षेत्र पूर्णतया विस्तृत हो गया था और इसमे उद्योगो तथा व्यक्ति के यत्नो को सक्रिय सहायता तथा प्रोत्साहन देना सम्मिलित था। कलाओ, कृषि, व्यापार और वाणिज्य आदि का विनियमन राज्य के कार्य-क्षेत्र मे आता था। राज्य आध्यात्मिक और नैतिक जीवन में भी मार्गदर्शन करता था। राज्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों को निम्नलिखित रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) **रक्षा**—प्रजा की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य था। इसमे प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के साथ देश (राष्ट्र) की सुरक्षा भी सम्मिलित थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य सेना रखता था।

---

१. According to Hindu ideas the end of the state is to maintain Dharma. It is Dharma that sustains the kingdom' 'दि प्राबलम आफ दि इण्डियन पॉलिटी'—पृ०-१४७—डा० पी० राममूर्ति।

२. The central place in the theory of state is reserved to Dharma A state is good or bad according to the degree in which it succeeds in making Dharma flourish.' 'ए प्लान्ड डिमोक्रेसी'—पी० शमशेर तथा एम० मोहसिन।

(२) **धर्म और व्यवस्था की स्थापना**—सामाजिक व्यवस्था का आधार धर्म था। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना आवश्यक था। राजा (राज्य) सभी व्यक्तियो से वर्णाश्रम धर्म का पालन कराता था। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नही करता अथवा सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है, वह दण्ड का प्रयोग व्यर्थ में ही करता है।' उसके अनुसार धर्म और सामाजिक व्यवस्था बनाये रखना राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। अन्य विचारको ने भी इस कर्त्तव्य पर बल दिया है।

(३) **आयकर का प्रबन्ध करना**—राज्य को उपज का छठा अंश तक कर रूप मे लेने का अधिकार था। राज्य की आय के अन्य साधन भी थे, यथा खनिज पदार्थ, वन, जुर्माने आदि। कर वसूल करने वाले तथा कोषाध्यक्ष आदि अनेक अधिकारियो के नाम प्राचीन साहित्य में मिलते हैं।

(४) **प्रजा का हित साधन करना**—कौटिल्य के अनुसार 'प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है; उसके कल्याण मे राजा का कल्याण है; जो कुछ राजा को स्वयं आनन्ददायक लगे उसे अच्छा नही सोचना चाहिए, परन्तु जो कुछ उसकी प्रजा को आनन्द दे राजा को उसे ही अच्छा सोचना चाहिए।'[1] प्रजा के सुख के लिए राजा को अपने कर्त्तव्यो का उचित रूप से पालन करना चाहिए। राजा के कर्त्तव्यो मे प्रजारंजन और प्रजापालन को सभी प्राचीन विचारको ने आवश्यक बताया है। जन-कल्याण के कार्यों में इन्हे मुख्य समझा जा सकता है—कृषि की उन्नति, उद्योगो को प्रोत्साहन, शिक्षा, कलाओ को प्रोत्साहन, व्यापार तथा वाणिज्य आदि का विनियमन।

(५) **आर्थिक व्यवस्था बनाये रखना**—सार्वजनिक हित में राज्य को अनेक प्रकार के आर्थिक कार्य करने का प्रावधान था। मनु के अनुसार 'जबकि चोर और डाकू छिपे हुये धोखेबाज हैं, व्यापारी खुले रूप से धोखा देते हैं, जिन्हे राज्य को कठोरतापूर्वक नियन्त्रण में रखना चाहिए।' इसलिए उसने अनेक प्रकार के व्यापारियो को राज्य के नियन्त्रण-अधीन रखा है। कौटिल्य ने श्रमिको के लिए विस्तृत नियम निर्धारित किये। उसके अनुसार राज्य को सदैव सार्वजनिक निर्माण-कार्य करने चाहिये। कौटिल्य ने तो वेश्यालयों, मदिरापान के स्थानो, जुआघरो, मनोरंजन गृहों और सभी प्रकार के व्यापारियो तथा व्यवसायियो को राज्य के नियन्त्रण तथा विनियमन के अधीन रखा है। राज्य की ओर से नाप-तोल आदि भी विनियमित होने चाहिये और राज्य को आवश्यक वस्तुओ के मूल्य भी निर्धारित करने चाहिये।

(६) **अन्य राज्यों के प्रति नीति**—प्राचीन भारत में अनेक छोटे राज्य थे, जिनके बीच अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध थे। दूत पद्धति काफी विकसित थी। युद्ध और सन्धि के विभिन्न प्रकार थे और उनके लिए अनेक नियम निर्धारित किये गये थे। साम, दाम, भेद और दण्ड की नीति, षाड्गुण्य सिद्धान्त, मण्डल सिद्धान्त आदि का विकास इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत मे राज्यो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध विकसित अवस्था में थे।

कल्याणकारी राज्य का स्वरूप

राज्य से सम्बन्धित विचारों एवं सिद्धान्तो पर गम्भीर चिन्तन करते हुए, भारतीय विचारकों ने राज्य के कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन भी किया।

---

१. प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

प्राचीन साहित्य तथा अन्य विविध स्रोतो के अध्ययन द्वारा भारतीय विचारकों द्वारा प्रतिपादित राज्य की कल्याणकारी प्रवृत्ति का बोध होता है। सामान्य रूप से प्राचीन भारतीय कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत की जा सकती हैं—

(१) **विधि की सर्वोच्च सत्ता**—कल्याणकारी राज्य की प्रकृति का पहला लक्षण विधि या धर्म की सर्वोपरि सत्ता है। राज्य मे किसी व्यक्ति या राजा की इच्छा द्वारा शासन नही होना चाहिए, अपितु धर्म या कानून के नियमो से शासन किया जाना चाहिये। इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन हमे सबसे पहले वृहदारण्यक उपनिषद मे मिलता है। इसमे यह कहा गया है कि चार वर्ण उत्पन्न करने के बाद प्रजापति ने स्थिरता लाने के लिये "धर्म को उत्पन्न किया, वह बलवान क्षत्रियो से भी प्रबल है। धर्म से अधिक ऊँची कोई वस्तु नही है। धर्म के कारण निर्बल व्यक्ति बलवान को जीतने की आशा रखता है। धर्मात्मा व्यक्ति राजा की सहायता से अधर्म करने वाले पर विजय प्राप्त करता है। जो धर्म है, वस्तुत. वही सत्य है। अतः लोग यह कहते है कि जो व्यक्ति सत्य कहता है, वह धर्म कहता है; जो धर्म की बात कहता है, वह सत्य की बात कहता है। धर्म और सत्य दोनो एक हैं।" यहाँ धर्म का प्रयोग समाज को बनाये रखने तथा संचालित करने वाले सभी नियमो के लिए व्यापक रूप मे हुआ है। महाभारत मे कहा गया है कि समाज को धारण करने से ही इसे धर्म कहते हैं, इसने सब प्रजाओं को धारण कर रखा है। शान्तिपर्व में यहाँ तक कहा गया है कि धर्म की हत्या करने वाला राजा वध करने योग्य है। प्राचीन भारत मे धर्म को विधि का ही पर्याय समझा जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राज्य की इच्छा को नही, अपितु धर्म (विधि) के पालन को सर्वोपरि महत्व और सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

(२) **मानव प्रवृत्ति पर विशेष बल**—प्राचीन भारतीय विचारक मनुष्यो को स्वाभाविक रूप से स्वार्थी, दुष्ट, दूसरो के अधिकारो का अपहरण करने वाला समझते थे। मनु ने यह कहा है कि निर्दोष एवं शुद्ध आचरण वाला (शुचि) व्यक्ति बड़ी कठिनाई से मिलता है। कामन्दक ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मनुष्य स्वभावत. अपनी वासनाओ के वशीभूत होते हैं, वे दूसरो के धन और स्त्रियों की चाह करते हैं। मनु और कामन्दक के ये विचार पश्चिमी जगत के सेनेका, आगस्टाइन और हॉब्स के इन विचारो से मिलते हैं कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का है। सालमण्ड ने लिखा है मनुष्य स्वभावतः लडने वाला पशु है। भारतीय विचारक यह मानते थे कि मनुष्य मे आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। अत उन्हे रोकने के लिये राज्य का जन्म होता है और वह अपनी दण्ड की शक्ति से सब मनुष्यो को ठीक रास्ते पर रखकर समाज मे सुशासन और व्यवस्था बनाये रखता है। अतः मानव प्रवृत्ति का विश्लेषण प्राचीन भारतीय कल्याणकारी राज्य के स्वरूप मे बड़ा महत्व रखता है।

(३) **दण्ड शक्ति का सन्तुलित प्रयोग**—प्राचीन भारतीय विचारानुसार राजा का कार्य दण्डनीति के अनुसार शासन करना है। शान्तिपर्व के अनुसार, धर्म और अर्थ की रक्षा दण्ड द्वारा होती है। सब प्राणियो की रक्षा के लिये ईश्वर ने ब्रह्मतेजमय दण्ड का सृजन किया था। यदि राजा इस दण्ड का प्रयोग भली प्रकार सोच समझकर करता है तब वह सम्पूर्ण प्रजा का रंजन करने में समर्थ होता है, अन्यथा उसका सर्वनाश हो जाता है। राज्य की सारी व्यवस्था दण्ड के कारण है। यदि दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो तो सारी मर्यादा टूट जायेगी। निर्बलो को बलवान उसी प्रकार खाने

सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। जहाँ कतिपय विचारक राजाओं को इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश लेकर निर्मित मानते हैं और यह प्रतिपादित करते है कि यदि राजा बालक हो तो भी उसे 'महती देवता' समझना चाहिये, वहाँ ऐसे विचारक भी प्राचीन भारत मे विद्यमान थे, जो राजा को 'ध्वजमात्र' मानते थे, और यह कहने मे भी संकोच नही करते थे कि यदि कुत्ते को अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनाकर राजकीय सवारी पर बिठा दिया जाय, तो क्या उसकी भी शोभा नही होगी। ये विविध प्रकार के राजनीतिक विचार उन परिस्थितियो के ही परिणाम थे, जिनमें कि ये विविध विचारक अपने मन्तव्यो का निरूपण कर रहे थे। कुल मिलाकर राजत्व तथा राज्यतन्त्र ने प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारो को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी सन्दर्भ में हम राज्यतन्त्र के विषय मे विचार करेंगे।

भारत मे राजतन्त्र ही व्यवस्थित शासन का प्राचीनतम रूप तथा सर्वाधिक प्रचलित शासन था। ऋग्वेद में राजतन्त्र को ही प्रचलित तथा साधारण शासन-व्यवस्था माना गया है। भारतीय शासन के प्रारम्भ काल से राजतन्त्र प्रमुख शासनतन्त्र था और राजतन्त्र मे राजा ही मूल और सर्वोच्च था। अतः राजा का पद सर्वाधिक सम्मानित और प्रमुख था। राजा को इन्द्रसखा माना जाता था। महाभारत मे भीष्म कहते है कि जिसकी राजा, भोज, विराट्, सम्राट, क्षत्रिय, भूपति, नृपति आदि शब्दों से स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन न करेगा। एक स्थान पर यह भी कथन है कि सब प्राणी धर्म मे स्थित रहते हैं और धर्म राजा मे निवास करता है; अतः जो राजा सब धर्म की उत्तम रीति से रक्षा करते हैं, वे ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं।[1] शुक्रनीति मे कहा गया है कि राजा इस जगत की वृद्धि का हेतु है और वृद्धो का मान्य है, वह नेत्रो को इस प्रकार आनन्द प्रदान करता है जैसे चन्द्रमा समुद्र को। उत्तम नीतिमान् राजा के अभाव मे प्रजा, कर्णधार के बिना समुद्र पर तैरती नौका के समान, नष्ट हो जाती है।[2] इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार राज्य में राजा का महत्व सबसे अधिक माना गया है। राजा ही प्रजा का संरक्षण करता है और शत्रु के घातक आक्रमण से सतत उसकी रक्षा करता है।[3] राजा को ही धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक समझा जाता था। महाभारत में भीष्म कहते हैं कि अव्यवस्था से त्रस्त देवता प्रजापति विष्णु से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभु! आप ऐसे पुरुष को आज्ञा दीजिये जो सम्पूर्ण मृत्युलोकवासी प्राणियो पर प्रभुता कर सके। पुनः महात्मा पृथु ने भूलोक मे धर्म स्थापित कर प्रजा के मन का रंजन किया, उसी समय से पृथ्वी पर राजा शब्द प्रचलित हुआ।[4]

उत्पत्ति

'राजा' शब्द संस्कृत की धातु राज् से अन् प्रत्यय मिलकर बना है। इसका अर्थ है प्रकाशमान होना, दीप्त होना या तेजस्वी होना। इस अर्थ के अनुसार राजा वह है जो दिव्य गुणो से युक्त होता था तथा जिसका यश अपने प्रभाव के कारण दूसरो को अपनी ओर आकर्षित करता हो। राजा शब्द का दूसरा अर्थ प्रजा का रंजन करने वाले से है। अथर्ववेद मे कहा गया है जो रंजन करने लगा वह

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ६८।५४; ६०।५। २. शुक्रनीति, १।६४-५।
३. अथर्ववेद, ६।१२८। ४. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९।७७-१२५।

राजा कहलाया।[1] इसी में आगे कहा गया है 'हे! मनुष्यो मे वीर्यवान और सामर्थ्यवान पुरुष। तू दूसरो का अधिष्ठाता बनकर विराज-आसन पर बैठ'।[2] राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वे ही सिद्धान्त राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी प्रचलित थे।

दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त—ऋग्वेद मे राजा को अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि के नामो से सम्बोधित किया गया है और राजा के हेतु 'वैशनवाण्' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'विष्णु की विभूतियो से युक्त' अर्थात् 'विष्णु भगवान का स्वरूप'। राजा को इन्द्र, वरुण, विष्णु का अवतार माना गया है। तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि इन्द्र ने प्रजापति से राज्यसत्ता प्राप्त की। शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि राज्याभिषेक के बाद मनुष्य देवत्व की प्राप्ति करता है और वह भी एक देवता हो जाता है और इस तरह उसमे भी राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है। यजुर्वेद मे राजा को वरुण, यम, कुवेर आदि देवताओ के रूप मे प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

मनु का मत है कि राज्य के अभाव में, समाज का जीवन अव्यवस्थित रहता था। उसमे भय विद्यमान रहता था अतएव इस अराजक दशा से मुक्ति के लिये ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति की। मनु के अनुसार ईश्वर ने समस्त देवताओ के गुणो को राजा मे निहित कर दिया। इन गुणो के प्रभावस्वरूप राजा समस्त प्राणियो पर शासन करता था। इस प्रकार मनु के मतानुसार राजा की रचना मे इन्द्र, वायु, सूर्य, यम, अग्नि, चन्द्र, वरुण तथा कुवेर के अंशो का समावेश है। इसी कारण राजा सूर्य के समान कान्ति वाला है। पृथ्वी का कोई व्यक्ति राजा की ओर नही देख सकता, दैवी गुणो के कारण, राजा स्वयं भी सूर्य, वायु, अग्नि सोम, कुवेर, वरुण तथा महेन्द्र है। इसीलिए, मनु के अनुसार, "राजा यदि बालक भी है तो उसका निरादर नही करना चाहिए। वह नर के रूप मे देवता है।" मनु के अनुसार अग्नि केवल उस व्यक्ति को दाह करती है, जो उसे कुचलता है। लेकिन राजा उन व्यक्तियो को दाह करता है जो उसकी नीति के विरुद्ध कार्य करते हैं। ऐसे व्यक्तियो को राजा पशु, कुल एवं धन सहित समाप्त कर देता है।

कौटिल्य ने राजा को 'परमदेव' माना। उसके अर्थशास्त्र मे राजा के दैवीय स्वरूप का सबसे सुन्दर निरूपण हुआ है। अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि राजा इन्द्र तथा यम का स्थानीय रूप हैं। इसमे प्रत्यक्ष रूप कुवेर का कोप विद्यमान रहता है। उसका अपमान करने वाले को दैवीय दण्ड मिलता है। इस कारण राजा का अपमान नही करना चाहिये। 'अर्थशास्त्र' मे कही-कही तो राजा को देवो से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। इन्द्र, वायु, यम आदि प्रधान देवो के प्रधान गुणो को संग्रहीत कर राजा को देवो से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है।

महाकाव्यो मे भी राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। रामायण के अनुसार राजा मनुष्य के रूप मे पृथ्वी पर विचरण करता है इसलिए उसकी हत्या नही की जानी चाहिये, निन्दा नही करनी चाहिये, तिरस्कार नहो करना चाहिये और उसके प्रतिकूल नही बोलना चाहिए, क्योकि राजा देवता है। रामायण मे राजा को इन्द्र का चौथा भाग कहा गया है। महाभारत मे देवताओ के अंश से राजा की उत्पत्ति मानी गयी है। उसमे राजा को मनुष्य समझकर उसका

---

१. अथर्ववेद २।५।४-६; १५-८। २. वही ४।८।१; १२।३।१।

(१) **राज्य प्रजा की राजा के पास धरोहर था**—राज्याभिषेक के समय राजा को सम्बोधित करते हुये कहा जाता था कि "यह राष्ट्र तुम्हे दिया जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक तथा इस उत्तरदायित्व के दृढ वहनकर्त्ता हो। यह राज्य तुम्हे कृषि कल्याण, सम्पन्नता (प्रजा के) पोषण (अर्थात् सफलता) के लिए दिया जाता है।" अतः राज्यरूपी धरोहर राजा को प्रजा पोषण के लिए दी जाती थी। राजा को बता दिया जाता था कि राजकोष प्रजा के कल्याण के लिए है।

(२) **धर्म पर आधारित शासन**—डॉ० जायसवाल के शब्दों मे, 'हमारे यहाँ सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि राजतन्त्र मे धर्म या कानून का स्थान सबसे बढ कर और उच्च था। महाभारत मे राज्याभिषेक की प्रतिज्ञा है, उसमे भी धर्म का बहुत अधिक महत्व हम देख ही चुके हैं। हमारे यहाँ धर्म पर जो इतना जोर दिया गया है, उसी से यह सूचित होता है कि हिन्दू राज्यतन्त्र का विशिष्ट स्वरूप नागरिक ही था, सैनिक नही था।'

(३) **नैतिकता का महत्व**—प्राचीन भारत मे धर्म तथा नैतिकता के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता था। किसी राज्य को जीत लेने के पश्चात् पुनः वहाँ का शासन विजित राजा को सौप दिया जाता था। इसी का उल्लेख मुसलमान यात्री सुलेमान ने किया है, 'वे लोग (हिन्दू राजा) जिन पड़ोसी राजाओ के साथ जो युद्ध करते है, वह प्राय. उनके राज्यो पर कब्जा कर लेने की नियत से नही किये जाते थे।...जब कोई राजा किसी दूसरे राज्य पर कब्जा कर लेता है, तब वह वही के राजवंश के किसी व्यक्ति को वहाँ का राजा तथा शासन सौप देता था।' इण्डिका मे भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि, 'वे (हिन्दू) कहते हैं कि न्यायशीलता किसी हिन्दू राजा को भारत की सीमाओ के बाहर जाकर विजय प्राप्त करने से रोकती है।' इस प्रकार, हिन्दू राजत्व मे नैतिकता को अधिक महत्व दिया जाता था।

राजा

विश्व के इतिहास मे राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिए विख्यात है। उसका निजी अस्तित्व है तथा उसकी अपनी विलक्षणता है। अन्य जातियो ने जिस रूप मे राजपद का स्वरूप निश्चित किया है और तदनुसार जो उसकी स्थापना की है उसमे और प्राचीन भारतीय राजपद के स्वरूप मे विशेष अन्तर है।

राजा की नियुक्ति—प्राचीन काल मे राजा की नियुक्ति दो प्रकार से होती थी—(१) वंश परम्परा के अनुसार (२) निर्वाचन द्वारा। रामायण, महाभारत तथा पुराणो में दी हुई वंशावलियो द्वारा यह विदित होता है कि बहुधा राजा वंश के क्रम से ही नियुक्त किए जाते थे। उनका यह ईश्वर से प्राप्त हुआ पैतृक अधिकार था। उदाहरणार्थ जो बालक राजकुल मे उत्पन्न होता था वह अवश्य ही अपने पिता के सिंहासन का अधिकारी होता था। यह सत्ता किसी व्यक्तिगत श्रेष्ठता पर निर्भर न थी। इतना अवश्य था कि ज्येष्ठ भ्राता को कुछ अधिक अधिकार प्राप्त थे। अपने पिता के सिंहासन का सर्वप्रथम अधिकारी कानून के हिसाब से वही था। व्यक्तिगत श्रेष्ठता के आधार पर अथवा अपनी शक्ति के द्वारा भी व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त कर सकता था। इस विभाजन के अन्तर्गत चार प्रकार से राजा की नियुक्ति हो सकती थी—(१) मस्तिष्क के बल पर; (२) बाहुबल द्वारा; (३) चुनाव द्वारा; तथा (४) निर्वाचन द्वारा।

इसके अनुसार प्रजा जिस व्यक्ति को उपर्युक्त गुणो मे योग्य समझती थी उसी व्यक्ति को राजा चुन लेती थी। इसमे राजा का अधिकार पैतृक न था वरन् इसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं अपनी व्यक्तिगत शक्ति के आधार पर राजा बन सकता था। चाहे वह अपने दांवपेंचो से या अपने बल द्वारा विजय प्राप्त करे अथवा वह अपनी योग्यतानुसार प्रजा द्वारा शासक के रूप मे चुन लिया गया हो। इस प्रकार की प्राप्त हुई राजसत्ता को लौकिक (Temporal) शक्ति कहते थे। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में राजा के निर्वाचन सम्बन्धी मन्त्र प्राप्त होते हैं।[1] इससे विदित होता है कि वैदिक काल मे राजा का पद पूर्णतः लौकिक था किन्तु ईसा की पहली शताब्दी के प्रारम्भ मे राजा के देवत्व की भावना वर्तमान थी। ऋग्वेद मे अनुस, द्रुह्य, क्रिवि, कुरु, पुरु आदि ऐसे जन राज्यो का वर्णन हुआ है जिसमे प्रजा स्वयं राजा को चुन लेती थी। शतपथ ब्राह्मण में ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि राजा परीक्षित तथा जनमेजय परिषद मे सम्मिलित होते थे।[2] राजा का निर्वाचन एक समिति द्वारा होता था।[3]

अथर्ववेद मे जनता द्वारा राजा को चुनने का प्रसंग आया है और उसमें चुनाव के विषय का भी वर्णन है।[4] अथर्ववेद मे एक स्थल पर "अन्य क्षेत्रे अपरुद्धम् चरन्तम्"[5] आया है जिससे विदित होता है कि राजा को पुनः बुलाकर स्वागत किया जाता था। जो राजा एक बार अपने राज्य को खो देता था वह जब पुनः अपने पद को प्राप्त करता था तब राउयज्ञ नामक एक विशेष उत्सव किया जाता था ऐसा पञ्चविंश ब्राह्मण मे प्रसंग प्राप्त होता है। प्राचीन काल मे अधिकतर राजा वंश परम्परा के अनुसार होते थे किन्तु फिर भी समिति तथा जनपद की आवश्यकता होती थी। इतिहास द्वारा यह विदित होता है कि हर्षवर्धन राजा भी प्रजा द्वारा ही चुना गया था।

राजा का अभिषेक—राजा को चुन लिये जाने पर उसका राजतिलक होता था। प्राचीन-काल में राजतिलक होने के पूर्व राजा को कुछ धार्मिक कृत्य करने पड़ते थे। सर्वप्रथम वह अग्नि में हवन करता था। इसका तात्पर्य यही होता था कि उसने विभिन्न व्यक्तियो द्वारा उनकी स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर यह पद प्राप्त किया है और तत्पश्चात् अग्नि मे हवन कर वह पृथ्वी तथा अन्य देवो की अनुमति भी प्राप्त कर लेना चाहता था। ऐसे समय मे वह अनेक बहुमूल्य वस्तुओ का सेवन करता था। रत्न हविष् हवन को राजा उच्च वर्णों के व्यक्तियो तथा राज्य के मन्त्रियो (रत्निन्) के घर करवाता था। इस समय चुना हुआ राजा उन मन्त्रियो को रत्नो (बहुमूल्य पदार्थ) को भेंट (रूप मे) देता था। जो रत्निन् की अनुमति प्राप्त करने की तथा उनकी राजा के प्रति भक्ति की द्योतक थी। इस अवसर पर राजा राज्य के विभिन्न प्रदेशो में अनुमति प्राप्त करने के लिए जाता था। तत्पश्चात् वह रुद्र तथा सोम देवता के लिए हवन करता था जिससे वे देवता सदा उसकी सहायता किया करें। इसके अतिरिक्त अन्य धार्मिक कृत्यो मे जो कुछ भी त्रुटि उससे हुई हो उसका भी प्रायश्चित हो जाता था।

अभिषेचनीयम—इस लौकिक जीवन मे ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण पद प्राप्त कर लेने पर राजा अपने पारलौकिक जीवन को भी सुखी बनाना चाहता था। इसी कारण वह इस अवसर पर जल छिड़क

---

१. ऋग्वेद १०।१७३।१०; २. शतपथ ब्राह्मण १३।५, ४, २।
३. ऐतरेय ब्राह्मण १३।२३।३। ४. अथर्ववेद ६।८७।८८;
५. अथर्ववेद ३।३,५;

कर अन्य देवो की स्तुति करता था। याज्ञिक शक्ति प्राप्त करने के ध्येय मे राजा सविता सत्यप्रसव को, घर मे स्वामित्व प्राप्त करने के लिए अग्निगृहपति को, कृषि तथा वन की रक्षा के लिए सोम वनस्पति को, उत्कृष्ट वाणी प्राप्त करने के लिए वृहस्पति वाक् को, शासनसत्ता सफलता से ग्रहण करने के लिए इन्द्र ज्येष्ठ को, पशुओ की रक्षा के लिए रुद्रपशुपति को, सत्याचरण के लिए मित्र सत्य को, कानून (नियम) की रक्षा के लिए वरुण धर्मपति को आहुति देता था।

इसी प्रकार सत्रह विभिन्न स्थानो तथा तीर्थों से जल ग्रहण कर विभिन्न प्रकार की शक्तियो को प्राप्त करने के लिए राजा छिड़काव करता था। उदाहरणार्थ सरस्वती का जल वाणी नदी की धारा से विपरीत स्थान का जल शक्ति, समुद्र का जल स्वामित्व, तालाव का जल जनमत पर विजय प्राप्त करने, ओस की बूंदो का जल भोजन, दुग्ध तथा घृत पशुओ, सूर्य को दिया जाने वाला जल स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए होता था। इन विभिन्न प्रकार के जलों को मिलाकर छिड़कने से राजा में ये सभी गुण विद्यमान हो जाते थे।

अभिषेक सम्बन्धी प्रतिज्ञा—राजा सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व प्रजा की रक्षा के लिये तथा सबके अधिकारो की सुरक्षा के लिये प्रतिज्ञा करता था। ब्राह्मण साहित्य मे राजा को 'धृतव्रत' होना आवश्यक बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा यह प्रतिज्ञा करता था कि यदि वह कुछ पाप करेगा तो वह अपने सभी धार्मिक कृत्यो के पुण्य को, अपने स्थान को तथा अपने जीवन को त्याग देगा। यह प्रतिज्ञा वह पुरोहित के सामने करता था जो सम्पूर्ण प्रजा के लिये होती थी।

घोषणा—तत्पश्चात् पुरोहित अग्नि, गृहपति, इन्द्र, मित्र, वरुण, पूपा, स्वर्ग तथा पृथ्वी आदि को सम्बोधित करते हुए वह प्रजा के समक्ष राजा को घोषित करता था। इसका तात्पर्य यही था कि सर्वप्रथम देवताओ के समक्ष, तत्पश्चात् प्रजा के समक्ष राजा को घोषित किया जाता था। पुरोहित राजा को सम्बोधित करते हुए प्रजा से यह कहता था "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना राजा" अर्थात् तुम सब लोगो (जनता) का यह राजा है किन्तु हम ब्राह्मणो का देवता सोम है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणो के द्वारा स्थापित किया हुआ धर्म जो आध्यात्मिक विपयो पर शासन करता है वह (धर्म) राजा से भी उच्च है अर्थात् राजा भी धर्म के आधीन है।

सिंहासनारोहण—राजा हो जाने की घोषणा हो जाने पर पुरोहित राजा को सिंहासन पर चढ़ने की आज्ञा देता था और चारो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) को यह आदेश दिया जाता था कि वे सदैव बहुमूल्य कोष की भाँति राजा की रक्षा करते रहे। इसका तात्पर्य यही था कि राजा सदैव अपनी रक्षा के लिये प्रजा पर निर्भर रहता था। प्रजा के परामर्श के विरुद्ध वह कुछ भी नहीं कर सकता था। तत्पश्चात् पुरोहित राजा से कहता था कि यह राज्य तुम्हे कृषि की उन्नति के लिये (कृष्यै), सदाचार स्थापित करने के लिये (क्षेमाय), सुरक्षा तथा उन्नति के लिये (पोषाय) तथा राज्य को धनधान्यपूर्ण बनाने के लिये (रय्यै) दिया जाता है। यह सब कार्य पुरोहित ही करता था।

अभिषेक के पश्चात् के कृत्य—राजा का राज्याभिषेक हो जाने के बाद भी कुछ उत्सव किये जाते थे, जो अध्वर्यु तथा होता आदि पुरोहित ही करते थे। सर्वप्रथम वे सब (होता, अध्वर्यु उद्गाता, ब्रह्मा) मिलकर राजा की पीठ पर न्याय का दण्ड मारते थे। जिसका तात्पर्य था कि

यद्यपि राजा अदण्ड्य है किन्तु फिर भी वह उस न्याय दण्ड के आधीन है जो धर्म (न्याय दण्ड) को धारण करता है अतः राजा भी विधि के नीचे है।

राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियो से मिलने के पूर्व पृथ्वी की स्तुति कर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता था और माता कहकर उसे सम्बोधित करता था। इसका भाव यह था कि जिस प्रकार माता तथा पुत्र का परस्पर बड़ा ही पवित्र तथा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार राष्ट्र तथा राजा के बीच भी वैसा ही निश्चल तथा पवित्र सम्बन्ध स्थापित हो जाय। ऐसा प्रसंग शतपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।

इस अवसर पर पुरोहित राजा को यह चेतावनी दे देता था कि राजा जनता की शक्ति प्राप्त कर ही शक्तिशाली बना है। वह अकेला नही है उसे प्रजा का भी ध्यान रखना है। तत्पश्चात् पुरोहित उसे धर्म की तलवार देता था और राजा से कहता था कि तुम इसकी सहायता से मेरे लिये राज्य करो अर्थात् मैं (ब्राह्मण) जो धर्म का पालन करने वाला हूँ उस धर्म की तुम इससे रक्षा करो। राजा उस तलवार को अपने मन्त्रियो को उनके सहयोग को प्राप्त करने के लिये देता था। मन्त्री अपनी सम्मति देकर वह तलवार उसे पुनः लौटा देते थे। तब वह राजा माना जाता था।

राजा के लक्षण

राजा शब्द का अर्थ है चमकने वाला अर्थात् प्रतापवान्। माहाभारत में प्रसंग है[1] कि युधिष्ठिर ने भीष्म से यह प्रश्न किया था कि राजा शब्द का क्या तात्पर्य है तथा इसकी व्युत्पत्ति कैसे हुई। इस पर भीष्म ने राजा शब्द की उत्पत्ति वडे विस्तारपूर्वक वतलाई और अन्त में यह कहा कि सारी प्रजा को प्रसन्न रखने के कारण राजा कहा जाता है।[2] श्रीमद्भागवत के अनुसार अपनी चेष्टाओ द्वारा प्रजा को राजा आनन्दित किया करता है, उसे सुख पहुँचाता है इसी कारण उसे राजा नाम से विभूषित किया गया है।[3]

महर्षि मनु ने राजा का लक्षण इस प्रकार वतलाया है कि विचारपूर्ण दण्ड देने के कारण प्रजा राजा से अत्यन्त प्रसन्न रहती है इसी कारण उसे राजा कहा जाता है।[4] महाकवि कालिदास अपने रघुवंश महाकाव्य मे राजा रघु के विपय में कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा ने अपनी अमृत पूर्ण चन्द्रिका द्वारा सवको प्रसन्न कर अपना नाम सार्थक किया और सूर्य ने अपनी प्रखर किरणो से सवको सन्तप्त कर अपना नाम सार्थक कर दिया उसी प्रकार प्रजा का मनोरंजन कर उसे आह्लाद पूर्ण कर राजा (रघु) ने अपना नाम सार्थक कर दिया।[5]

---

१ महाभारत शान्तिपर्व ५९;

२. "रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते" महा० शा० ५९।१२५;

३. "रंजयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः। अथाममाहू राजानं मनोरंजनकैः प्रजाः॥" श्रीमद्भागवत पु० ४।१६।१५;

४. "समीक्ष्य स घृत; सम्यक् सर्वा रंजयन्ति प्रजाः" मनु० ७।१९।३;

५. यथा प्रह्लादनाच्चंद्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात्॥ रघु० ४।१८।

इसके अतिरिक्त राजा राज्य मे धर्म की स्थापना के लिए ही होता है अतः जिसमें धर्म विराजमान रहे अथवा जिसके मरने पर लोग उसके कार्यों की प्रशंसा करें वही व्यक्ति राजा है।[१] क्योकि राजा के लिये 'यस्मिन् धर्मो विराजते टं राजानं प्रच्क्षते' कहा गया हे[२] जो व्यक्ति प्रजा का ध्यान रखे, उसे सुख पहुँचाकर धर्म का पालन करे तथा अत्यन्त तेज एवं प्रतिभायुक्त हो वही व्यक्ति योग्य राजा कहा जायगा।

राजा के गुण

अग्नि पुराण में राजा के गुणों के विषय में कहा गया है कि जो राजकुल में उत्पन्न, शील, अवस्था, सत्व, दाक्षिण्य, क्षिप्रकारिता, कृतज्ञता, दैवसम्पन्नता (भाग्यवान्) दीर्घदर्शिता, पवित्रता, धार्मिकता, वृद्ध-सेवा, सत्य तथा उत्साह आदि गुणो से युक्त हो वही व्यक्ति राजा बनने योग्य है।[३] याज्ञवल्क्य के मतानुसार महान् उत्साही, अत्यन्त दानी, विनययुक्त, सत्यवादी, पवित्र, स्मृतिवाला, अक्षुद्र परिवारवाला, अव्यसनी, पण्डित, शूरवीर, राजनीति के दांवपेचो मे निपुण व्यक्ति को ही राजा होना चाहिये। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र मे राजा के गुणो का वर्णन इस प्रकार किया है कि राजा के १६ आभिगामिक[४], ८ प्रजा[५], ४ उत्साह[६] तथा ३० आतमसम्पत्[७] के गुण होने चाहिये।

---

१. "यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः॥ शा० प० २५।३६;

२. शा० प० ९०।३१८;

३. "कुलंशीलं वयः सत्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञनता॥" अग्नि० पु० रामोक्तनी २३९।२-५

४. (१) महाकुलीन (२) भाग्यशाली (३) मेधावी (४) धैर्यशाली (५) दूरदर्शी (६) धार्मिक (७) सत्यवादी (८) सत्यप्रतिज्ञ (९) कृतज्ञ (१०) महादानी (११) महान् उत्साही (१२) क्षिप्रकारी (१३) दृढ़निश्चय वाला (१४) समीपवर्ती राजाओ को जीतने मे समर्थ (१५) उदार परिवार वाला (१६) शास्त्र की मर्यादा को चाहने वाला। ये १६ आभिगामिक गुण हैं।

५. (१) शुश्रूषा (२) श्रवण (३) ग्रहण (४) विज्ञान (५) ऊहापोह (६) तत्व (७) धारण (८) अभिनिवेश। ये ८ प्रजा के गुण हैं।

६. शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता तथा दक्षता आदि चार उत्साह के गुण हैं।

७. (१) प्रगल्भ (२) स्मृति (३) मति तथा वल से युक्त (४) उन्नत चित्त (५) संयमी (६) घोड़ा हाथी चलाने मे निपुण (७) शत्रु की विपत्ति मे चढ़ाई करने वाला (८) अपनी विपत्ति में सेना की रक्षा करने वाला (९) किसी के द्वारा उपकार या अपकार किये जाने पर उसका प्रतिकार करने वाला (१०) लज्जाशील (११) दुर्भिक्ष तथा सुभिक्ष आदि मे अन्नादि का ठीक ठीक प्रबन्ध करने वाला (१२) लम्बी और दूर की सोचने वाला (१३) अपनी सेना के युद्धोचित देश, काल, उत्साह शक्ति तथा कार्य देखने वाला (१४) सन्धि के प्रयोग को समझने वाला (१५) प्रकाश युद्ध आदि करने में प्रवीण (१६) सुपात्र को दान देने वाला (१७) प्रजा को कष्ट न देकर गुप्त रीति से कोष को बढाने वाला (१८) शत्रु से मृगया द्यूतादि व्यसन देखकर उस पर तीक्ष्ण रस का प्रयोग करने वाला (१९) अपने मंत्र को गुप्त रखने वाला (२०) दीन पुरुषो की हँसी न उड़ाने वाला

महाभारत में कुछ ऐसे दोष बताये गए हैं जिनसे राजा को दूर रहना चाहिये। ये अवगुण चौदह प्रकार के हैं जिनसे राजा को सदैव बचना चाहिये क्योंकि ये सभी अवगुण उसके जीवन के लिये घातक सिद्ध होते हैं।[१]

राजा के कर्त्तव्य

उपर्युक्त, राजा के, गुणों तथा अवगुणो के विवेचन से ही राजा के बहुत से कर्त्तव्यो के विषय में ज्ञान हो जाता है, किन्तु फिर भी सिंहासनारूढ़ होने पर राष्ट्र की सत्ता हाथ मे लेने पर राजा का यह सर्वप्रमुख कर्त्तव्य था कि वह धर्म तथा दण्ड की रक्षा करे। राजा को ऐश्वर्यशाली पद प्राप्त कर लेने पर भी इसे अपने शारीरिक सुख तथा ऐश्वर्य की चिंता न करनी चाहिये। उसे अपने तन, मन, धन से प्रजा की रक्षा कर न्यायपूर्ण शासन करना चाहिये। शुक्रनीति में राजा के आठ प्रकार के कर्त्तव्यो का उल्लेख हुआ है।[२] जो दुष्ट को दण्ड देना, प्रजा का परिपालन करना, राजसूय आदि यज्ञो का करना, न्यायानुसार कोष का वर्धन करना, अन्य राजाओ को वश मे करना, शत्रु का परिमर्दन करना तथा भूमि का संग्रह करना है। इसमे प्रजा का परिपालन करना मुख्य ध्येय है।[3] महाभारत मे राजा की तुलना एक गर्भिणी स्त्री से की गई है।[४] जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री शिशु के लालन-पालन एवं वृद्धि का सदैव ध्यान रखती हे और उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देती उसी प्रकार राजा को भी अपनी सम्पूर्ण प्रजा का सुचारु रूप से पालन करना चाहिए।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र से सम्बन्धित ग्रंथो में राजा के कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वो को लेकर बहुत अधिक विचार-विमर्श किया गया है। अनेक ग्रंथो में तो पुनरुक्ति दोष भी आ जाता है,

---

(२१) टेढ़ी भौह करके न देखने वाला (२२) काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, „उपताप, पैशुन्य आदि से सदा आगे रहने वाला (२३) हँसमुख (२४) उदार भाषण देने वाला (२५) वृद्धो के उपदेश को मानने वाला (२६) आचार विचार को मानने वाला (२७) अव्यसनी (२८) विवेक एवं पाण्डित्य-पूर्ण (२९) आत्म-विद्या को जानने वाला (३०) तीनो वेदो में प्रवीण। ये आत्मसम्पत् के गुण हैं। —कौटिल्य अर्थ० ६।१।४-६;

१. (१) नास्तिकता (२) मिथ्याभाषण (३) क्रोध (४) प्रमोद (५) दीर्घसूत्रता (६) ज्ञानवान् पुरुषो से न मिलना (७) आलस्य (८) इन्द्रियपरायण (९) अकेले ही समस्याओ पर विचार करना (१०) अनभिज्ञ व्यक्तियो के साथ मंत्रणा करना (११) मंत्रणा मे निश्चित कार्यों को आरम्भ न करना (१२) मंत्रणा को गुप्त न रखना (१३) मांगलिक कार्यों का प्रयोग न करना (१४) एक ही साथ अनेक शत्रुओ से शत्रुता करना। राजा के लिये यह १४ अवगुण कहे गए हैं।

२. "दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम्।
यजनं राजसूयादेः कोशानां न्यायातोर्जनम्॥
करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम्।
भूमेरुपार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा॥" शुक्र० १।१२४;

३. "नृपस्य परमोधर्मः प्रजायाः परिपालनम्। शुक्र० १।१४

४. यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्यहितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥" शान्ति पर्व ५६।४५

विद्वानो से अध्ययन करता रहे। कौटिल्य के अनुसार राजा विद्वानों व योगियो का संरक्षण करता था। वह राजधानी में औषधालय स्थापित करता था। इस समूह मे राजा के कर्त्तव्य थे—रानियों से अपनी रक्षा; अपने खाने और पीने की वस्तुओं की ओर विशेष ध्यान; राजकुमारो के प्रति कर्त्तव्य; मन्दिरो, श्रोत्रियों, स्त्रियो, पशुओ, तीर्थ-स्थानों, निःसहाय व्यक्तियो आदि से सम्बन्धित मामलो पर वैयक्तिक रूप से ध्यान देना आदि।

राजा और प्रजा का सम्बन्ध

प्राचीन भारत मे राजा और प्रजा के बीच कैसे सम्बन्ध थे ? इस प्रश्न का उत्तर राजा की स्थिति, उसकी शक्तियो पर विविध प्रतिबन्धो तथा उसके अधिकार और कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। यजुर्वेद में कहा गया है—'हे शत्रु-विजेता राजन् ! हम लोग तेरे विरुद्ध आचरण न करें ? हम लोगो मे जो अधर्मी हैं, उन्हे हम नष्ट कर रहे हैं।"[1] राजा और प्रजा दोनो परस्पर रक्षा करें तथा दोनों के सम्बन्ध अच्छे रहें—इस सम्बन्ध मे कहा गया है—"हे मातृभूमि ! तू मेरी हिंसा मत कर और मैं भी तेरी हिंसा न करूँ।"[2] "हे राजन् ! तू इस पृथ्वी माता को सन्तप्त एवं उग्रतेज से शोक युक्त मत कर।"[3] यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि राजा और प्रजा वैर त्याग कर परस्पर रक्षा करने में प्रवृत्त रहे।[4] राजा के विभिन्न कर्त्तव्यों के नियमन द्वारा यह स्पष्ट होता है राजा वास्तव में तभी तक राजा था जब तक वह प्रजा का रंजन करता था। यह विचारधारा राजा को सदैव जागरूक तथा प्रजाहित मे तत्पर रखती थी। संस्कृत भाषा मे प्रजा का रंजन करने वाले को ही राजा कहा गया है। राजा ही प्रजा की सुख, समृद्धि, शान्ति, विपत्ति तथा अशान्ति का कारण होता था। प्रजा का प्रजाकत्व राजा के व्यवहार के अनुरूप ही स्थिर रहता था। वही प्रजा के विभिन्न वर्गों को शासन के एक सूत्र में ग्रन्थित करता था। राजा और प्रजा के सम्बन्धो को महाकवि कालीदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में बड़े ही मार्मिक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। इस नाटक के छठे अंक में राजा दुष्यन्त यह आज्ञा प्रचारित करने को कहते हैं कि प्रजा में जो व्यक्ति अपने प्रिय बन्धु से बिछुड गया है, वह राजा (दुष्यन्त) को ही अपना प्रिय बन्धु समझें।[5] महाकवि की इस कल्पना से स्पष्ट होता है कि प्रजा को किसी भी भाँति का दुख न होने देने मे ही राजा का रंजन था।

विष्णु संहिता मे उल्लेख मिलता है—'प्रजा के सुख से राजा सुखी होता है और प्रजा के दुख से वह दुखी होता है, ऐसा राजा इस लोक मे यश पाता है और परलोक में स्वर्ग।' कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में कहा गया है 'प्रजा के सुख में राजा का सुख है और प्रजा के दुख मे राजा का दुख है, राजा को अपने हित की बात नही सोचनी चाहिये, प्रजा के हित मे ही उसका हित है।'[6] महाभारत

---

१. यजुर्वेद २२।१०। २. यजुर्वेद २३।१०। ३. यजुर्वेद १५।१२। ४. यजुर्वेद १।२०

५. 'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम ॥ १५७ ॥
—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' षष्ठ अंक-कालीदास'।

६. "प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां चहिते हितम्।
नात्मप्रियं हिते राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥ 'अर्थशास्त्र'—१।१६।३६

मे राजा को उस गर्भिणी स्त्री की भाँति कहा गया है जो पेट मे बालक को पालती है। महाभारत के शांति पर्व में उस राजा को श्रेष्ठ कहा गया है जिसके राज्य में प्रजा पुत्र की भाँति पिता के घर मे निर्भय होकर विचरण करती है। विष्णु संहिता के अनुसार—'प्रजा' शब्द से प्रजाजन और सन्तान दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं।[1] दूसरी कलिंग घोषणा मे अशोक कहता है कि उसका अपनी प्रजा में वैसा ही हित है जैसा कि पिता का अपनी सन्तान मे। कुछ प्राचीन विचारको ने राजा को पिता, माता व गुरु तुल्य बताया है। इस प्रकार राजा और प्रजा अथवा समुदाय के बीच सम्बन्ध के विषय में प्राचीन भारतीयो की बड़ी उच्च धारणा था। महाभारत में कई स्थानों पर यह कहा गया है कि राजा अपनी प्रजा के पुण्यों तथा पापों का एक-चौथाई भाग भोगता है।

प्राचीन भारत में राजा को प्रजा का सेवक तथा उसके हितों का रखवाला कहा गया है। राजा एक सार्वजनिक पद था और राजा की महानता उसके सर्वोच्च पद के कारण थी। शुक्र ने राजा की स्थिति को 'दासत्व' बताया है। बौधायन के अनुसार वह केवल सेवा के लिए पारिश्रमिक पाने वाला है और मनु के अनुसार उस पर जुर्माना भी किया जा सकता है। बौधायन का तो कथन है कि राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग जो कर में दिया जाता है वही उसका वेतन है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा को रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं। राजा दिलीप अपनी प्रजा पर कर केवल उसकी समृद्धि के प्रयोजन से लगाता था।[2] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजपद को थाती समझा जाता था। राजकोष राजा की निजी सम्पत्ति न थी बल्कि जनता की धरोहर थी।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे राजा और प्रजा के लिए परस्पर वैर एवं हिंसा त्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया, और राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह दोनो की निन्दा की गयी। राजा और उसकी प्रजा दोनो परस्पर सहयोगी एवं पूरक माने गये। यह मान्यता प्रबल थी कि एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। इसलिए ये दोनों परस्पर सहयोग एवं एक दूसरे का हित चिन्तन करते हुए स्वकर्तव्यो का सम्यक् पालन करते रहे; इसी मे प्राणिमात्र का कल्याण निहित है। बस यही कल्याण मार्ग है। राजा और प्रजा दोनो इसी कल्याण मार्ग के पथिक रहे। राजा तथा उसकी प्रजा के लिए प्राचीन भारत का यही उपदेश है।

प्राचीन भारत में गणतन्त्र

भारत में जनतन्त्रीय संस्थाओ की परम्परा अति प्राचीनकाल में विद्यमान थी। शिलालेखों, मुद्राओ तथा प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में तीन युग ऐसे थे जिनमे हिन्दुओ ने यूनानी तथा रोमन साम्राज्य से पूर्वकालीन ढंग के गणो अथवा संघो का विकास

१. The word praja is translated as both subject and childern, 'sugges-ting a type of paternalism that often distinguished post-Vadic theory.'
—चार्ल्स ड्रेक मोर।

२. 'प्रजानामेवं भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हिरसं रवि ॥
यशसे विजिगीषूणा'''त्यागाय संभृतार्थानाम्। '(रघुवंश)' —कालीदास

४२

कर लिया था।[1] डा० जायसवाल का विश्वास है कि "हिन्दू गणतन्त्र उत्तर वैदिक काल मे स्वशासन की आदतों का एक दूसरा उदाहरण है।......राजा विहीन शासन के विभिन्न रूपों वाले हिन्दू राज्यो का वर्णन जाति के संवैधानिक इतिहास में एक महान अध्याय है।"[2] कतिपय विद्वानो ने शोध कार्यों द्वारा तो यह भी प्रतिपादित किया है कि प्राचीन भारत में शासन का रूप जनतन्त्र से राजतन्त्र की ओर अग्रसर हुआ था।[3] परन्तु इसके विपरीत डा० वर्मा तथा डा० जायसवाल के अनुसार यह निर्णय करना कठिन है कि वैदिक आर्यो ने प्राचीन भारत मे गणतन्त्रीय शासन पद्धति की उत्पत्ति की थी।

प्राचीन भारत में गणराज्य के लिये प्राविधिक शब्द 'गण' का प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है। यह शब्द ऋग्वेद मे ४६ बार, अथर्ववेद में ९ बार तथा ब्राह्मण ग्रंथो के अनेक उल्लेखो में मिलता है। 'गण' का अर्थ संख्या है अतः गणराज्य का अर्थ 'संख्या का शासन' हुआ। पाणिनि के समय में 'गण' से संघ' का बोध होता था। महाभारत में 'गण' का प्रयोग गणतन्त्र के लिये ही किया गया। मज्झिम निकाय में 'गण' और 'संघ' समान रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे बौद्धकाल में गण शब्द का प्रयोग स्पष्टतः जनतन्त्रीय राज्यों के लिये किया जाने लगा था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र' मे दो प्रकार के गणराज्यो का उल्लेख किया—पहले वे गणराज्य जिनके अध्यक्ष को राजा कहा जाता था और दूसरे शस्त्रोपजीविन संघ। प्रायः यह कहा जाता है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना होने तक गणराज्यो का अस्तित्व समाप्त हो चुका था।[4] भारत सम्बन्धी यूनानी लेखको से भी प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में ऐसे गणराज्यों का अस्तित्व था जिनका संचालन गणतन्त्रीय प्रणालो द्वारा होता था। मेगस्थनीज ने लिखा है 'बहुत सी पीढ़ियाँ बीत जाने के पश्चात अन्त में 'प्रभुता' भंग हुई और नगरो में प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित हुआ। डायोडोरस के अनुसार त्वाला (पत्तल) का संविधान स्पार्टा के संविधान के समान था। कटियस के उल्लेख से उल्लेख से स्पष्ट होता है कि 'सावरके' शक्तिशाली भारतीय जन थे और उनका शासन प्रजातन्त्रीय था। एरियन का कथन है कि न्यासावासी स्वतन्त्र थे, उनका एक प्रधान था और उन्होने अपना शासन कुलीन वर्ग को सौपा हुआ था।

गणराज्य सम्बन्धित उपरोक्त उल्लेखो तथा विवरणो मे गणतन्त्रीय शासन का विवरण नही मिलता, यद्यपि गणतन्त्रीय या जनतन्त्रीय शासन के अनेक नाम अवश्य मिलते हैं। वैदिक ग्रंथो मे इन्हे 'जनराज्य' और 'स्वराज्य', ब्राह्मण ग्रंथो में 'जनराज्य', 'स्वराज्य', 'पारमेष्ठय', 'वैराज्य',

---

१. 'पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑफ दि हिन्दूज—बी० के० सरकार।

२. 'हिन्दू पॉलिटी'—पृ० २१, डा० के० पी० जायसवाल।

३. 'भारत मे राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप में हुई थी और वैदिककाल मे ही जनतन्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। कालान्तर मे जनतन्त्र में कुछ दोष उत्पन्न हुए। इस कारण जनतन्त्र के रूप मे भी कुछ परिवर्तन करने पड़े और शासन का रूप जनतन्त्र से राजतन्त्र की ओर झुका।'—'प्राचीन भारत मे जनतन्त्र'—पृ० १४ डा० देवीदत्त शुक्ल।

४. 'Kautilya freely concedes the possibility of republican polity. But it appears that when he composed his maganum opus, republics were a thing of the past.'—डा० बेनी प्रसाद।

'समन्तपर्यायी'; महाभारत में 'वैराज्य', 'पारमेष्ठ्य'; जैन साहित्य में 'अराज्य', 'वैराज्य', 'गणराज्य' और 'विरुद्ध राज्य'; बौद्ध साहित्य में 'गणराज्य' तथा अर्थशास्त्र' मे 'संघ' कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय मनीषियो को गणतन्त्रीय शासन के विभिन्न रूपो एवं प्रणालियो का बोध था। "राजनीति के प्रमाणभूत ग्रंथो के अनुसार प्रजातन्त्र वह है जिसमे सर्वोच्च शासनाधिकार राजतन्त्र की भांति एक व्यक्ति के हाथों मे न होकर एक समूह, गण या परिषद के हाथ में हो, जिसके सदस्यो की संख्या चाहे कम हो या अधिक।[1] इसमे सन्देह नही कि आजकल प्रजातन्त्र और लोकतन्त्र का जो अर्थ है। उस अर्थ में तो प्राचीन भारत के गणराज्य लोकतन्त्र नही कहे जा सकते, फिर भी हम इन्हें प्रजातन्त्र या गणतन्त्र कह सकते हैं। विद्वानो के उस वर्ग को, जो यह मानता है कि एशिया मे केवल निरंकुश, स्वेच्छाचारी धर्मतन्त्रात्मक शासन ही प्रचलित था, यह जानकर आश्चर्य और दुविधा होगी कि प्राचीन भारत मे गणतन्त्रात्मक सस्थाएँ थी।[2] प्राचीन भारत के गणराज्यो की शासन प्रणाली तथा उसके संचालन का विषय रोचक तो है ही, साथ ही इसके अध्ययन में हमे अपने विस्मृत गौरव की स्वर्णमयी झलक भी मिलती है। भारत के उस प्राचीन युग मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान और दैवी सत्ता के समानान्तर लोकतन्त्रीय अनुशासन का क्रमिक विकास हुआ था।[3]

'गण' का अर्थ

'गण' का अर्थ एक विशिष्ट राज्य-व्यवस्था है जो राज्यतन्त्र से नितांत भिन्न है। अवदान शतक से विदित होता है कि जब उत्तर के कुछ व्यापारियो से दक्षिण के एक राजा ने पूछा कि 'आपके देश में कौन राजा राज्य करते हैं', तो उन्होने उत्तर दिया कि 'महाराज हममे से कुछ ऐसे देश के हैं जहां राजा का राज्य है पर औरो के देश में गणतन्त्र की व्यवस्था है'। एक जैन ग्रन्थ मे कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देश मे न जायँ जहाँ राजा न हो, या जहाँ युवराज का राज्य हो या जहाँ आपस में लड़ने वाले दो राजाओ (द्वैराज्य हो या गणराज्य) का शासन हो। इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि गण का एक निश्चित वैधानिक अर्थ है और इससे ऐसे राज्य का बोध होता हे जहाँ अधिकार एक आदमी के हाथ मे न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियों के हाथ मे होता था।

"गण" शब्द को स्पष्ट करते हुये डा० जायसवाल ने लिखा हे कि "गण शब्द का मुख्य अर्थ है—समूह, और इसलिये गणराज्य का अर्थ होगा समूह के द्वारा संचालित राज्य अथवा बहुत से

---

१. 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति'—पृ० ६४–अ० स० अल्टेकर।

२. 'The historical existence of republican states and institutions in ancient India corroborated by archeological, numismatics and literary sources will cause a surprise to those scholars who conceive of adsolute theocratic despotism as the only form of government in Asia.''

—'स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स'—वी० पी० वर्मा।

३ 'The history of these republics is an interesting study and shows the gradual evolution of pluralistic political discipline as opposed to the deification of authoritv vested in a single individual.''—एन० सी० वन्द्योपाध्याय।

लोगों द्वारा होने वाला शासन।"[१] बौद्ध ग्रन्थों में गण की प्रथानुसार भिक्षुओं की गणना का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध साहित्य में "गणपूरक" शब्द का भी अनेक स्थानो पर प्रयोग हुआ है। गणपूरक उस अधिकारी को कहते थे जो कार्यवाही आरम्भ होने के पूर्व यह देखता था कि गण की नियमानुकूल संख्या की पूर्ति हो गयी है अथवा नही। इससे स्पष्ट होता है कि गण का अभिप्राय लोगों के समूह अथवा समाज से होता था। इसमे उपस्थित होने वाले लोगो की गणना की जाती थी। इसी कारण इसका नाम "गण" प्रचलित हुआ। इसे स्पष्ट करते हुये डॉ० जायसवाल ने लिखा है कि "गणराज्य उस शासन को कहते थे जो बहुत से लोगों के समूह या पार्लियामेण्ट के द्वारा होता था। इस प्रकार गण का दूसरा अर्थ पार्लियामेण्ट या सिनेट हो गया और क्योकि प्रजातन्त्र राज्यों का शासन उन्ही के द्वारा होता था, इसलिये गण का अर्थ स्वयं प्रजातन्त्र राज्य भी हो गया।"[२]

गणतन्त्रों का विकास

गणतन्त्रो के विकास क्रम के निर्धारण के विषय मे मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार भारतीय गणतन्त्रों के विकास को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मौर्य काल से पूर्व तथा मौर्य काल के पश्चात।[3] पहले वर्ग का समय ३२५ ई० पू० तक तथा दूसरे वर्ग का समय १७५ ई० पू० से ३२५ ई० तक था। पहले वर्ग के गणराज्यो में लिच्छवियो, शाक्यो तथा यूनानी लेखको द्वारा वर्णित पंजाब और उत्तर पश्चिमी भारत के गणतन्त्रात्मक नगरो की गणना की गई है तथा मौर्योत्तर युग के गणराज्यो मे यौधेयो, मालवो आदि प्रसिद्ध गणराज्य स्वीकार किये गये है। विद्वानो के अन्य वर्ग ने गणराज्यो के विकास को काल क्रमानुसार तीन भागो मे विभाजित किया है[४]—(१) ६०० ई० पू० से ४५० ई० पू० तक, इसमे सुसुमागिरि के भग्ग, अल्लकप्प के बुली, कुशीनगर के मल्ल, केशपुत्त के कालाम, पिप्पलीवन के मोरिय, रामनगर के कोलिय, पावा के मल्ल, काशी के मल्ल, कपिलवस्तु के शाक्य, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवियो की गणना की गई है। (२) ३५० ई० पू० से ३०० ई० पू० तक, इसमे पाटल, अराट, मालव-क्षुद्रक, सम्ब्रष्टई, आगलस्सोई तथा निर्साई गणराज्य बताये गये है। (३) १५० ई० पू० से ३५० ई० तक, इसमें वर्ग में यौधेयो, मालवों, कुलिन्दो तथा वृष्णि संघ आदि गणराज्यो के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

गणतन्त्रों के विकास क्रम का उपरोक्त निर्धारण अक्षरशः स्वीकार नही किया जा सकता। इतिहासकारों के एक वर्ग का तो यह विश्वास है कि भारत में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप मे हुई थी और वैदिक काल मे ही गणतन्त्रो का पूर्ण विकास हो चुका था। यह भी कहा गया है कि भारत में 'शासन का रूप जनतन्त्र से राजतन्त्र की ओर झुका।[५]

---

१. 'हिन्दू पॉलिटी'-के० पी० जायसवाल। २. वही।

३. 'स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स' डा० वी० पी० वर्मा।

४. पालिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑफ दि हिन्दूज'—बी० के सरकार।

५. 'प्राचीन भारत में जनतन्त्र'—डा० देवीदत्त शुक्ल।

किन्तु यह मत अतिवादी प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में कुरू तथा पांचाल नृपतन्त्र थे। लगभग पांचवी शती ई० पू० मे उन्होने गणतन्त्रात्मक शासन अपनाया। मेगस्थनीज ने तो स्पष्टत: लिखा है कि राजतन्त्र के उपरान्त गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति अपनाई गई थी। इस पृष्ठभूमि मे गणराज्यों के विकासक्रम की कोई स्पष्ट रूप रेखा निर्धारित नही की जा सकती। यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्धयुग या उससे कुछ समय पूर्व गणराज्य अस्तित्व मे आ चुके थे और मौर्येतर काल तक उनकी परम्परा बनी रही। पाँचवी शताब्दी ई० मे लिच्छवियों तथा पुष्यमित्रो के गणराज्य थे। लिच्छवियो ने गुप्त साम्राज्य के उत्थान मे सहायता दी थी परन्तु कुछ समय बाद लिच्छवियो का लोप हो गया। पाँचवी शताब्दी ई० के उपरान्त पुष्यमित्रो का कोई प्रमाण नही मिलता। गुप्त साम्राज्यवाद ने पाँचवी शताब्दी ई० के लगभग से लेकर १९४७ ई० तक के लिये गणतन्त्र राज्यो का लोप कर दिया था।

प्रमुख गणराज्यों का परिचय

प्राचीन भारतीय गणराज्यो के विषय में पाणिनि, बौद्ध ग्रन्थो तथा यूनानी लेखकों से सूचना मिलती है। इन तीनो स्रोतो की सूची में असमानता है जिसका कारण इनका समयान्तर होना है।

(१) **पाणिनि द्वारा वर्णित गणराज्य**—पाणिनि के दामन्यादि, पर्श्वादि, यौधेयादि गणो के अन्तर्गत तैंतीस गणराज्य बताये हैं, जो कि निम्नांकित हैं—

(१) दामिनि (२) औलपि (३) काकदन्ति (४) अच्युतन्ति (५) शत्रुन्तदि (६) सार्वसेनि (७) बैन्दवि (८) मौञ्जायन (९) तुलभ (१०) सावित्रीपुत्र (११) बैजवापि (१२) औदकि (१३) पर्शु (१४) असुर (१५) रक्षस् (१६) वाह्लीक (१७) वयस् (१८) मरुत् (१९) दशार्ह (२०) पिशाच (२१) अशनि (२२) कार्षपण (२३) सत्वत् (२४) वसु (२५) यौधेय (२६) शौभ्रेय (२७) शौक्रेय (२८) ज्याबाणेय (२९) वार्त्तेय (३०) धार्तेय (३१) त्रिगर्त (३२) भरत (३३) उशीनर। उपर्युक्त सभी संघ यमुना के पश्चिमी भाग, पंजाब, सिन्ध, कश्मीर तथा अफगानिस्तान तक यत्र-तत्र स्थित थे। इनके अतिरिक्त (१) वसाति (२) आग्नीत (३) भर्ग (४) मधुमन्त (५) हास्तिनायन (६) आश्वलायन और (७) आश्वकायन नाम अन्य सूत्रो मे मिलते हैं। ये भी उपर्युक्त भूभाग मे ही स्थित थे।

पाणिनि ने (१) मद्रवृजि, (२) अन्धकवृष्णि, (३) क्षुद्रक-मालव के संघराज्यो का भी उल्लेख किया है। ये प्रसिद्ध संघ-राज्य थे। अन्धकवृष्णि संघ का विस्तृत वर्णन महाभारत मे मिलता है। क्षुद्रकमालव संघ का उल्लेख यूनानी लेखको ने किया है। मद्रवृजि का उल्लेख बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है।

बौद्ध साहित्य मे उल्लिखित गणराज्यो का वर्णन निम्नलिखित है—

(१) **शाक्य**—शाक्य गणराज्य वर्तमान गोरखपुर जिले में था। इसके पश्चिम मे कोसल का राज्य था और मल्ल राज्य इसके दक्षिण-पूर्व मे था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में थी। पौराणिक आधार पर शाक्य राज्य की स्थापना महाराज इक्ष्वाकु के वंशजो ने की थी। शाक्यो ने बुद्ध के जीवन काल मे ही अपनी स्वतन्त्रता खो दी थी और ये कोसल राज्य के अधीन हो गये थे। परन्तु महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध की अस्थियो के संग्रह के लिए शाक्य और कोसल दोनो स्वतन्त्र राष्ट्र की भाँति अधिकार जमाते दिखाई देते हैं।

(२) **कोलिय**—कोलिया राज्य की राजधानी रामग्राम थी। यह एक छोटा राज्य था जिसके

सम्बन्ध मे अधिक विवरण उपलब्ध नही ।

(३) लिच्छवि—इसकी राजधानी वैशाली थी। बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार लिच्छवियों ने एक बार विदेहों से मिलकर एक संघ बना लिया था और वे संवज्जी नाम से सम्बोधित होते थे। अट्ठकथा मे उल्लेख है कि—वैशाली वाले एक युद्ध मे मगध के सम्राट अजातशत्रु से हार गये थे। लिच्छवियो का राज्य शिशुनाग और मौर्य-साम्राज्य के उपरान्त भी बचा रहा था और उन्होंने गुप्त-साम्राज्य की स्थापना मे सहायता दी थी ।

(४) विदेह—विदेहो की राजधानी मिथिला वर्तमान दरभंगा जिले में थी । बौद्ध साहित्य में इनको वज्जि कहा गया है । रामायण मे विदेहों का उल्लेख राज्य के रूप में मिलता है । परन्तु बौद्ध साहित्य मे इनको गणराज्य के रूप मे दिखाया गया है । वज्जियो ने लिच्छवियो से मिलकर एक संघ बना लिया था ।

(५) मल्ल—लिच्छवियो का राज्य वर्तमान गोरखपुर जिले मे पटना तक फैला हुआ था। यह दो भागो मे विभक्त था, एक की राजधानी कुशीनगर और दूसरे की पावा में थी। बुद्ध के देहावसान का समाचार मल्लो को तब मिला जब वे अपनी सभा मे उपस्थित थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक वे स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में थे। मौर्य काल मे उनकी समाप्ति हो गयी थी।

(६) मोरिय—बौद्ध ग्रन्थो मे मोरिय-राज्य गणराज्य के रूप मे दिखाया गया है। इसकी राजधानी पिप्पलीवन थी। महावंश की व्याख्या के अनुसार मोरिय शब्द मोदिय अथवा मोर शब्द से बना है। मोदिय शब्द का अर्थ प्रसन्न मुद्रा मे रहने वाला होता है।

(७) भग्ग—बौद्ध काल मे भग्ग भी एक छोटा सा गणराज्य था जिसकी राजधानी सुंसुमार पर्वत पर थी। महाभारत मे इसको भर्ग कहा गया है। पाणिनि ने भी भर्ग का उल्लेख गणराज्यों की सूची मे किया है।

यूनानी लेखको द्वारा उल्लिखित गणराज्य :—

(१) कथ—यूनानी लेखको ने कथ लोगो को भारत की वीरतम जातियों मे से एक माना है। कथ राज्य उस समय रावी नदी (हाइड्राओट्स) के पूर्व में था। इसकी राजधानी संकल थी। इन्होने कुछ अन्य जनतन्त्र राज्यों की सहायता से पुरु और अभिसार के राजा को सिकन्दर के आक्रमण से कुछ काल पहले हराया था। सिकन्दर के विरुद्ध इन्होने शकट-व्यूह की रचना की थी।

(२) अद्रेस्तई—ये लोग रावी नदी के पास ही बसे हुए थे। यूनानियो ने इनकी राजधानी को पिम्प्रम लिखा है। पाश्चात्य विद्वान् इनको अरट्ट मानते हैं, परन्तु डा० के० पी० जायसवाल ने अरिष्ट माना है, जिसका उल्लेख पाणिनि मे मिलता है।[1]

(३) सौभूति—वह राज्य कथ-राज्य के पास था, जिसको यूनानियों ने सोफाइटस लिखा है। डायोडोरस के मतानुसार इसकी शासन-व्यवस्था प्रशंसनीय थी। इसके नागरिक अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।

(४) क्षुद्रक-मालव—क्षुद्रक और मालव दो गणतन्त्र राज्य थे और उन्होंने मिलकर एक संघ बना लिया था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार यह संघ कात्यायन के समय में था।[2] सिकन्दर ने पहले मल्लोई जाति का सामना किया। यही पर किसी एक नगर के घेरे में सिकन्दर

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५५, ५६ २. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५८

बुरी तरह घायल हो गया था। कर्टियस के अनुसार क्षुद्रक-मालव सेना की संख्या एक लाख थी।

(५) **अग्रश्रेणी**—यूनानी इतिहास लेखको ने इनको अगसिनेई अथवा अगलरस्वेन लिखा है। ये लोग क्षुद्रको के पड़ोस मे ही थे और डायोडोरस के कथनानुसार इन्होने चालिस हजार पैदल व तीन हजार घुड़सवारों से सिकन्दर का सामना किया था। कर्टियस के अनुसार इन्होने बड़ी वीरता से आक्रमणकारियो का सामना किया था और जब वे उनको न रोक सके तब अपने घरो मे आग लगाकर अपने स्त्री-बच्चो को उन्ही मकानो में जला दिया।

(६) **अम्बष्ठ**—यूनानियो ने इनको सम्बस्तई और अबस्नोई लिखा है।[1] इनकी सेना में ६०,००० पैदल, ६,००० घुड़सवार और ५०० रथ थे। इन्होंने अपने तीन सेनापति चुने थे जो प्रसिद्ध वीर थे। डायोडोरस का कथन है कि इनके वयोवृद्ध पुरुषो के परामर्श से उन्होने सन्धि का विचार किया और सिकन्दर के पास अपने दूत भेजे। इनमे प्रजातन्त्र-प्रणाली का शासन था जिसको यूनानियो ने डिमाक्रेसी लिखा है।[2]

(७) **ओस्सदिओई**—एरियन ने इनको एक स्वतन्त्र जाति बतलाया है।[3] कनिंघम के मतानुसार ये लोग यौधेय थे।[4] परन्तु वी० डी० सेंट मार्टिन ने इनको वसाति माना है[5] जिनका उल्लेख महाभारत मे भी मिलता है। कात्यायन और पतंजलि ने भी वसाति लोगो का उल्लेख शिवि लोगो के साथ किया है।

(८) **मुसिकनि**—यूनानियो ने इनकी शासन-प्रणाली और विधियो की बहुत प्रशंसा की है। स्ट्रैबो के कथनानुसार वे लोग अतिक्रमण करना निन्दनीय समझते थे, उसने उदाहरण स्वरूप युद्ध का उल्लेख किया है।[6] हमारे विचार मे स्ट्रैबो के इस उल्लेख का आशय यह रहा होगा कि उन्होने सिकन्दर का कुछ समय तक सामना करने के बाद सन्धि कर ली होगी। यूनानियो ने इस राज्य को भारतवर्ष भर मे सबसे अधिक धनवान और सम्पन्न कहा है।[7] स्ट्रैबो के मतानुसार इसके सब नागरिक एक साथ मिलकर भोजन करते थे और उनमे दास प्रथा नही थी।

(९) **पटल और अन्य जनतन्त्र राज्य**—पटल राज्य सिन्ध नदी के मुहाने पर बताया गया है। डायोडोरस ने लिखा है कि यह एक बहुत प्रसिद्ध नगर है और यहाँ की शासन-प्रणाली स्पार्टा की शासन-प्रणाली के समान ही है। शासन वयोवृद्ध लोगो की एक सभा को प्राप्त होता है।[8]

गणतन्त्रीय राज्यों की शासन प्रणाली

प्राचीन भारत के गणतन्त्रीय राज्यो की शासन प्रणाली का क्रमबद्ध तथा विस्तृत विवरण उपलब्ध नही है। इस विषय में प्राप्त प्रमाणो को आधार मान कर अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। प्रतीत होता है कि तत्कालीन भारत मे गणतन्त्रीय शासन प्रणाली राजतन्त्रीय शासन प्रणाली से अधिक भिन्न नही थी। फिर भी इन दोनो मे दो प्रमुख अन्तर थे (१) गणतन्त्रीय प्रणाली के राज्यो

---

१. मेक क्रिन्डल, अलेग्जेण्डर, पृष्ठ २९२   २. उपर्युक्त, पृष्ठ २५२
३. मेक क्रिन्डल, अलेग्जेण्डर, पृष्ठ १५६   ४. कनिंघम, ए० एस० आर, १४–१४०
५. मेक क्रिन्डल, अलेग्जेण्डर, पृष्ठ १५६ नोट   ६. स्ट्रैबो, १५–३४
७. एन्शियण्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृष्ठ, ४१—मेक क्रिण्डल
८. मेक क्रिण्डल, एलेग्जेण्डर, पृष्ठ २९६

मे राज्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण था और स्थानीय, सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। (२) गणतंत्रीय राज्य अपेक्षाकृत छोटे थे। गणतंत्रीय राज्यों के अधिकार केन्द्र और संस्थाओ मे विभाजित थे, परन्तु सर्वोच्च सत्ता का उपभोग केन्द्र द्वारा किया जाता था। इस सम्बन्ध मे एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि तत्कालीन सामाजिक संगठन का ढांचा ऐसा था जिस पर राज्य की शासन प्रणाली (गणतन्त्र या राजतन्त्र) का विशेष प्रभाव नही पड़ता था। कुल या जाति की परम्पराएँ और नियम जिन्हे कुल धर्म या जाति धर्म कहा जाता था—गणतन्त्रीय और राजतन्त्रीय व्यवस्था को समान रुप मे मान्य थे। इसी प्रकार आर्थिक श्रेणियां, निगम, संघ आदि के नियमों को सभी राज्य मान्यता देते थे। प्रत्येक ग्राम की ग्राम संस्था भी अपनी व्यवस्था और न्याय के क्षेत्र में पर्याप्त स्वतन्त्र थी। इन कारणो से राज्य को सामान्य दशा मे हस्तक्षेप करने का कोई अवसर प्राप्त नही हो पाता था। 'समाज का उपर्युक्त ढंग से संगठन होने के कारण ही राज्य रूपान्तर का साधारण जनता पर बहुत कम प्रभाव पडता था और इसीलिये जनसाधारण को राज्य के रूपान्तर की चिन्ता नही थी।''[1]

गणराज्यों के संविधान

प्राचीन भारतीय गणराज्य आकार प्रकार और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण एक से नही थी अतः उनके संविधान भी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रुप मे एक दूसरे से भिन्न थे। कुछ संविधान प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक पद्धति के अनुसार थे तो कुछ कुलीन तन्त्रीय शासन पद्धत्ति के अनुरूप थे। कुछ संविधान एकात्मक शासन पद्धति पर आधारित थे तो कुछ में प्रजा के संघों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त थी। कुछ गणराज्यों मे एक अध्यक्ष (राजा) की व्यवस्था थी तथा कुछ मे अध्यक्षों के समूह द्वारा शासन संचालित होता था जो संभवतः एक अध्यक्ष को प्रमुख के रूप मे निर्वाचित करते थे। इन भिन्नताओ के होते हुये भी, सभी संविधानों मे कुछ मूलभूत समानताएँ थी।

नागरिकता

गणराज्य मे प्रत्येक व्यक्ति जन्म से समान होता था। समस्त कुलों में भी समानता होती थी। राजाओं के वंशों का अर्थ उन समस्त क्षत्रियों से है जिनका शासन के लिए अभिषेक होता था और जो स्वयं को राजा कहते थे। कुल राज्यो मे सम्भवतः इन कुलो के प्रतिनिधि ही संघ सभा या राज्य की सर्वोच्च व्यवस्थापिका के सदस्य होते थे। कात्यायन ने भी गण कुलों की सभा का उल्लेख किया हे। संभव है, कुल राज्यों मे महत्वपूर्ण पदों पर भी कुल पुत्रो को नियुक्ति की जाती थी। प्रशासकीय अधिकार कुल-पुत्रो को प्राप्त थे। वे राजा, उपराजा, सेनापति, भाण्डागरिक के महत्व-पूर्ण पद प्राप्त कर सकते थे। वे इन पदों को प्राप्त करके भी अपने को समस्त गणराज्य का प्रतिनिधि मानते थे।

शासन

गणराज्यो मे शासनसत्ता गण अथवा विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में थी। प्रशासन के सूत्र वंश-परम्परागत किसी व्यक्ति के हाथों में नही थे, वरन् वे एक गण या समूह या परिषद के हाथों मे

1. 'प्राचीन भारत में जनतन्त्र'—पृ० २२७ डा० देवीदत्त शुक्ल।

होते थे। कई गणराज्यो मे परिषद के सदस्य उच्चवर्ग के कुलीन लोग ही होते थे।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी—प्रत्येक गणराज्य मे एक सर्वोच्च पदाधिकारी होता था। सम्भव है कि वह राज्य का नायक, प्रधान राजा अध्यक्ष या राष्ट्रपति माना जाता था। उसका कार्य शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना था। वह गण या संघ की सभा द्वारा निश्चित अवधि या जीवन-काल के लिये निर्वाचित होता था। कभी-कभी गण के प्रधान या अध्यक्ष का पद वंशानुगत होता था। अध्यक्ष में साहस, बुद्धि, विवेक, पौरुष, अनुभव, धर्मशास्त्रो का ज्ञान आदि गुणों का होना अनिवार्य था। वह गणराज्य की सभा के अधिवेशन की अध्यक्षता तथा मन्त्रियो के कार्यों की देख-भाल करता था। वह निरंकुश नही था। उसे परम्पराओ, विधियों, संवैधानिक मान्यताओ के अनुसार ही कार्य करना पड़ता था।

मन्त्रि-परिषद—गणराज्य मे शासन-व्यवस्था के संचालन के निमित्त एक मन्त्रि-परिषद थी परिषद के सदस्यो की संख्या गणराज्य के आकार पर निर्भर होती थी। ये सदस्य कतिपय कुलीन और श्रेष्ठ कुलो में से लिये जाते थे। सामान्य कार्यकारिणी शक्तियाँ मन्त्रियो में निहित रहती थी। राज्य के आकार तथा परम्परानुसार मन्त्रियो की संख्या मे अन्तर रहता था। मल्ल गणराज्य मे चार, लिच्छवी गणराज्य मे नौ तथा लिच्छवी-विदेह राज्य संघ मे अट्ठारह मन्त्री थे। प्रतीत होता है कि मन्त्रियो की नियुक्ति केन्द्रीय समिति द्वारा की जाती थी। कुछ गणराज्यों—जैसे लिच्छवी और यौधेय—मे मन्त्रियो को राजा भी कहा जाता था।

व्यवस्थापिका सभा—प्रत्येक गणराज्य की एक व्यवस्थापिका सभा होती थी जिसे संस्थागार कहते थे। कुलीन परिवारो और संभवतः अन्य वर्गों के प्रतिनिधिगण व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होते थे। इन सदस्यो को राजा की और उनके पुत्रों को उपराजा की उपाधि दी जाती थी। सम्भवतः गणराज्यो मे उनकी ग्राम तथा नगर सभाओं के समस्त नागरिकों द्वारा निर्वाचित अध्यक्ष भी केन्द्रीय सभा के सदस्य रहते होगे। जातको में लिच्छवियो की व्यवस्थापिका मे ७,७०७ सदस्य बताए गये हैं। 'ललित विस्तर' में कहा गया है कि सभी लिच्छवी अपने को 'मैं राजा हूँ' समझते थे। व्यवस्थापिका सभा का आयोजन एक सार्वजनिक भवन संस्थागार में किया जाता था। बड़े-बड़े राज्यो मे केन्द्रीय संस्थागार होते थे और प्रान्तीय शासन के हेतु प्रान्तीय संस्थागार होते थे।

व्यवस्थापिका के अधिकार तथा कार्य—गणराज्य की प्रतिनिधि सभा की सत्ता और अधिकार व्यापक थे। प्रशासन सम्बन्धी सभी अधिकार इसी के पास थे। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी जैसे प्रधान, सेनापति, मन्त्रियो, अधिकारियो आदि की नियुक्ति यह संस्था करती थी। यह राज्य की नीति निर्धारित करती थी तथा राजनीति निश्चित करती थी। गणराज्य की पर-राष्ट्र नीति पर इसका पूर्ण नियन्त्रण था। सन्धि-विग्रह का निर्णय भी यही संस्था करती थी। दूतो की नियुक्ति भी वही करती थी। व्यवस्थापिका का अधिवेशन राजा या गणमुख्य अथवा विनयधार की अध्यक्षता में होता था। इसमे राज्य-प्रशासन के विभिन्न विषयो पर वाद-विवाद होते थे और बहुमत से निर्णय होता था। अधिवेशन नियमानुसार होता था और प्रत्येक अधिवेशन तभी वैध होता था जब उसमे सदस्यो की निश्चित संख्या गणपूरक के रूप मे उपस्थित हो। विनयधार को गणपूरक मे सम्मिलित नही किया जाता था।

जिस विषय पर वाद-विवाद होता था, उसकी घोषणा विधिवत् की जाती थी और प्रत्येक

उपस्थित सदस्य को उस पर बोलना पड़ता था। प्रस्ताव पाठ को अनुशासन कहते थे। कभी-कभी प्रस्ताव को चार बार तक पढ़ा जाता था। जो सदस्यगण प्रस्तुत प्रस्ताव के पक्ष मे होते थे वे मौन रहते थे और जो विपक्ष मे होते थे, वे भाषण देकर प्रस्ताव पर अपने विचार स्पष्ट करते थे। जब वाद-विवाद बढ़ जाने पर निर्णय नही हो पाता था तो सभी सदस्य पार्श्ववर्ती किसी बड़े संस्थागार में जाते थे और वहाँ निर्णय करते थे। यदि तब भी निर्णय नही हो पाता था, तो एक समिति को नियुक्त करके, विषय उसे सौंप दिया जाता था। इसे 'उदवाहिका' सभा कहा जाता था।

मतदान की विधि—बहुमत प्राप्त करने के लिये मतदान अधिकारी या शलाका ग्राहक की नियुक्ति की जाती थी। मतदान करने की चार विधियाँ प्रचलित थी—(१) गुह्यक छिपे (ढंग से), (२) विवृतक (खुले रूप से), (३) स्वकर्ण जल्पंक (मतदाता के कान में बताकर कि कौन सी शलाका चुननी है), तथा (४) विश्वस्त—सबके सामने प्रत्यक्ष रूप से। अधर्म, असमान व्यवहार, वर्ग द्वेष तथा मतदान पर प्रभाव डालने आदि द्वारा किया जाने वाला मत अवैध माना जाता था। कम महत्व की बातों तथा विषयो में बहुमत की विधि लागू नही की जाती थी। कभी-कभी मतदान अधिकारी द्वारा मतदान का फल स्थगित या निग्रहीत कर दिया जाता था। अनुपस्थित सदस्यो के मत प्राप्त करने की विधियाँ भी थीं। इस प्रकार के मत निर्दिष्ट व्यक्ति के माध्यम से डलवाये जाते थे। अधिवेशन में व्यक्तिगत आरोपों तथा अनर्गल वाद विवाद करने पर कड़ा प्रतिबन्ध था। सभा की मर्यादा का पालन करना प्रत्येक सदस्य का पुनीत कर्त्तव्य था। सुसंयत तथा विषयगत भाषा का प्रयोग ही मान्य था।[1]

अन्य पदाधिकारी—सभापति, पुरोहित तथा उपराजा प्रमुख पदाधिकारी थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न विषयो तथा विभागो के अनुरूप पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। प्रत्येक गणराज्य में कार्य विभाजन के आधार पर तीन प्रमुख विभाग थे—

(i) **सैन्य सम्बन्धी**—इस विभाग का प्रमुख सेनापति था। क्योंकि गणराज्यो को सदैव ही आक्रमण का भय बना रहता था अतः सेना व्यवस्था अनिवार्य थी।

(ii) **आय व्यय सम्बन्धी**—आय व्यय विभाग का प्रमुख अधिकारी भाण्डागारिक कहलाता था। वह आय व्यय का ब्योरा एक निश्चित अवधि पर केन्द्रीय समिति तथा राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता था।

(iii) **न्याय सम्बन्धी**—न्याय विभाग बड़ा महत्वपूर्ण था। न्यायालय अधिकारियो को वोहारिक, विनिच्छय, महामात्त तथा सूत्रधार आदि नामों से सम्बोधित किया जाया था।

दलीय पद्धति—पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'द्वन्द्व' के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उस समय दलीय पद्धति प्रचलित थी। मत विभाजन, वाद विवाद तथा मानव प्रकृति के स्वभावानुसार दलो का अस्तित्व अवश्य ही रहा होगा। 'वर्ग्य', 'गृह्य' तथा 'पक्ष' शब्दो से भी ऐसा बोध

---

1. "The assembly was not merely a formal part of the constitution. It had active and vigerous life and wielded real authority in the state."

—डा० रमेश चन्द्र मजूमदार।

होता है कि दल वर्तमान थे। दल का नाम नेता के नाम पर पड़ने का प्रमाण 'वसुदेव वर्ग्य' नामक दल है।

न्याय व्यवस्था—गणराज्यो का आधार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थी तथा इसको सुरक्षित रखने के लिये प्रभावशाली न्याय व्यवस्था की स्थापना की गई थी। न्याय व्यवस्था सरल तथा सुलभ थी। वह पक्षपात रहित तथा सुचारु रूप से कार्य करती थी। न्यायालयो के कई विभाग या स्तर थे। अधिकतर गणराज्यो मे 'कुल न्यायालय' थे। इसके अलावा औद्योगिक संगठनो की श्रेणियो को भी न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। प्रारम्भिक मामलो की सुनवाई स्थानीय स्तर के न्यायालयो में होती थी। असन्तुष्ट व्यक्ति उच्च न्यायालय मे अपील कर सकता था। अपराधी के दोषी प्रमाणित होने पर ही दण्ड दिया जाता था। अभियुक्त को अपने बचाव में गवाह तथा प्रमाण प्रस्तुत करने का पूरा-पूरा अवसर दिया जाता था। न्यायालय के प्रमुख अधिकारियो को महामात्त, वोहारिक, अट्ठकुलक, सूत्रधार तथा विनिच्छय आदि नामो से सम्बोधित किया जाता था।

गणतन्त्रीय शासन की समालोचना

गुण—यूनानी लेखको ने भारतीय गणराज्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गणराज्यो के शासकीय कार्यों में यद्यपि राज्य की पूरी जनता को समान रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त नही था तथापि अपने प्रतिनिधियो द्वारा वह परोक्ष रूप से शासन तन्त्र में भाग लेती थी। राजा की निरंकुशता से त्राण पाकर नागरिको को अपना मत प्रकट करने तथा मताधिकार के प्रयोग द्वारा शासकीय अधिकारियो पर अंकुश रखने के कारण सार्वजनिक हितो की रक्षा होती थी। गणराज्यो के नेता कर्त्तव्यनिष्ठ, अनुभवी तथा ईमानदार ही होते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कारण किसी एक वंश को प्रभुत्व प्राप्त नही था तथा राज्य का कोई भी सामान्य नागरिक उच्चतम पद की आकांक्षा को साकार बना सकता था। वादविवाद तथा मत विभाजन की प्रणाली के कारण प्रत्येक विषय के गुणदोषो का पता चल जाता था तथा श्रेयस्कर निर्णय ही सफल हो पाते थे। शासकीय सुव्यवस्था के कारण आर्थिक समृद्धता थी। युद्ध के समय अपने गणराज्यो के आदर्शों की रक्षा के लिये सारा राज्य एक जुट होकर संघर्ष करता था। अनेक प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन गणराज्य संस्कृति, कला तथा सभ्यता के प्रमुख केन्द्र थे।

दोष—गणराज्यो के निर्णय वादविवाद द्वारा होने की वजह से गोपनीयता नही रह पाती थी। इसका प्रभाव राज्य की सुरक्षा पर पड़ता था। आवश्यक विषयो का निबटारा या उन पर निर्णय लिये जाने मे विलम्ब हो जाना प्रायः असन्तोष का कारण बनता होगा। गणतन्त्रीय राज्यों का आकार तथा प्रभुत्व क्षेत्र राज्यतन्त्रीय राज्यो की अपेक्षा छोटा तथा सीमित होता था—इस कारण से उनके साधन सीमित तथा आवश्यकताएँ अधिक हो जाती थी। बड़े-बड़े नेता दलगत गुटबन्दियो में पड़ कर प्रायः राष्ट्रीय हित भूल जाया करते थे तथा आपस में ही तनावपूर्ण स्थिति पैदा कर लेते थे। व्यक्तिगत वैमनस्य तथा पद लोलुपता के कारण विभिन्न प्रकार के षड़यन्त्र भी रचे जाते थे। कभी-कभी तो समिति के सदस्य ही एक दूसरे के प्रबल शत्रु हो जाते थे। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के कारण शत्रु राज्यो को उनके सारे भेदो का पता चलता था, जिसका लाभ उठाकर वे उचित समय पर आक्रमण कर बैठते थे। भारतीय गणतन्त्रो की पराजय तथा समूल नाश का यही कारण था। चाणक्य नीति के अनुसार गणतन्त्रो मे फूट डालना सरल है अतः उसमे इसी की शिक्षा

दी गई है। राज्यसत्ता का विकेन्द्रीकरण होने के कारण गणतन्त्र के पदाधिकारी उत्तरदायित्वविहीन हो जाते थे। इन अन्तर्निहित दोषो के कारण ही कालान्तर में एक के वाद एक करके वे नष्ट होते गये।

विवेचना—प्राचीन भारतीय गणराज्यो के उपरोक्त गुण-दोषो का वर्णन यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन गणराज्य शासकीय पद्धति जन जीवन के लिये एक ओर तो वड़ी ही उपयोगी तथा दूसरी ओर सर्वथा अनुपयोगी थी। किसी भी सिद्धान्त अथवा व्यवहार में गुण दोषो का समान रूप से पाया जाना कोई आश्चर्यजनक वात नही है। गणतन्त्र मे जो दोष तव थे वे आज भी हैं। परन्तु महत्व इस वात का है कि दोषो के होते हुए भी गणराज्यीय सिद्धान्त तथा व्यवहार आज विश्वव्यापी हो रहे हैं। इसका क्या कारण है? उत्तर स्वरूप हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता तथा विचारो की अभिव्यक्ति करना है। गणराज्य में चाहे कुछ भी न हो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामाजीकरण तो होता ही था। यही कारण है कि गणतन्त्रात्मक अथवा लोकतन्त्रीय प्रणाली को आज सर्वमान्यता प्राप्त है।

क्या यह काम गौरव की वात है कि आज से लगभग पौने तीन हजार वर्ष पूर्व भारत के राजनैतिक प्रांगण में शासन व्यवस्था की पद्धति के रूप में दो विपरीत धाराएँ साथ-साथ बह रही थीं। निश्चय ही इतने वर्ष पूर्व गणतन्त्र जैसी जटिल व्यवस्था का सुचारु संचालन भारतीय राजनीति के लिये गौरव का विषय है।

गणराज्यों का लोप होने के कारण

वैसे तो आलोचको की दृष्टि मे आधुनिक जनतंत्र में भी अनेक दोष दिखाई देते हैं, परन्तु लार्ड ब्राइस के मतानुसार जनतंत्र में मुख्य छः दोष दिखाई देते हैं, जो निम्नांकित है—

(१) विधि-निर्माण और शासन-प्रवन्ध मे धन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय या व्यापार वनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

(३) समानता के सिद्धान्त की विकृति और प्रशासनिक बुद्धि एवं चातुर्य की अवहेलना की जाती है।

(४) धन का अपव्यय अधिक होता है।

(५) राजनीतिक दल शासन में अनुचित हस्तक्षेप करते हैं।

(६) शासन के कर्मचारियो तथा व्यवस्थापिका के सदस्यो में, भविष्य में मत प्राप्त करने की दृष्टि से विधि बनाने तथा व्यवस्था के भंग होने की स्थिति को सहन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

इनके अतिरिक्त दो मुख्य दोष और दिखाई देते हैं—(१) मंत्रणा को गुप्त रखने में कठिनाई; और (२) शासन में आर्थिक तथा स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का लोप, जो कि वैदिक कालीन गण-राज्य की तुलना से स्पष्टतः विदित होता है।

गणराज्यों के उपर्युक्त दोष तत्कालीन विद्वानों की दृष्टि में भी आ चुके थे। महाभारत मे दलवन्दी के दोषों के कारण श्री कृष्ण स्वयं चिन्तित दिखाई देते हैं। दलवन्दी के कारण ही गणराज्य में अयोग्य शासकों का पदारूढ़ होना सम्भव हो गया था। इन दोषो से राज्य को मुक्त करने के लिए भारतीय मनीषियो ने राजा के वांछित गुणों की व्याख्या की। उक्त वांछित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति

को पाना सुलभ नही था। उचित शिक्षा तथा पैतृक गुणो के कारण उन गुणो का अस्तित्व राजा की सन्तान में होने की अधिक सम्भावना थी। अतः राजपद के योग्य व्यक्ति को राजा के पुत्रो मे ही खोजने को प्रथा पड़ गयी। इस प्रकार गणराज्यो मे दलबन्दी के दोषो को दूर करने के प्रयास मे शासन का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया और वह आधुनिक भाषा मे गणतंत्र से धर्ममर्यादित राजतत्र बन गया।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल मे जनता की रुचि गणतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र की ओर अधिक थी। गणतन्त्र स्थापित करने मे केवल सामन्तो का स्वार्थ निहित था, क्योकि राजतन्त्र के सामन्तो की अपेक्षा गणतन्त्र के सामन्त अधिक स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता का अनुभव करते थे। इसलिए भारतीय इतिहास मे बहुत समय तक यह स्थिति रही कि जब कोई साम्राज्य प्रबल हो जाता था तो ये सामन्त उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे, और उस साम्राज्य की शक्ति क्षीण होते ही अपने स्वतन्त्र गणराज्य बना लेते थे।[2] इसके कारण जनता गणराज्यो की अराजक स्थिति से क्षुब्ध हो रही थी।

तत्कालीन परिस्थितियो, जन आकांक्षा और परिवर्तनो को ध्यान में रखते हुए, गणराज्यो के लोप होने के निम्नलिखित कारण निर्धारित किये जा सकते हैं:—

(१) गणराज्यो में पारस्परिक राजनीतिक ईर्ष्या, द्वेष अधिक था जिससे उनकी शक्ति जर्जर हो गयी।

(२) उनकी व्यवस्थापिकाओ मे दलबन्दी अधिक प्रचलित थी। सदस्यो मे एकता व संगठन का अभाव था।

(३) राजतन्त्र मे राजाओ की स्वेच्छाचारिता के कारण भारतीय जीवन मे राष्ट्रीय चेतना का अभाव हो गया था। इससे देश मे पहले सा नैतिक स्तर नही था और न सामाजिक व राजनीतिक जीवन के उच्च श्रेष्ठ आदर्श ही थे। इससे गणराज्य के विकास को विशेष क्षति पहुँची।

(४) भारतीय राजनीति मे चौथी सदी के बाद राजाओ की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता के कारण, प्रजा के प्रतिनिधियो का स्थान और गौरव क्षीण हो गया था और राज्यतन्त्र के समर्थक सामन्तो के सम्मान और शक्ति मे वृद्धि हुई थी।

(५) काशी, मगध, अवन्ति, कोशल आदि ऐसे विशाल राज्यो का उदय हो रहा था जिनमें राजतन्त्र अधिक लोकप्रिय हो रहा था। उस समय के राजागण अपने पौरुष और विजय के कारण अधिक जनप्रिय हो रहे थे।

(६) राजतन्त्र के दृढ़ और सफल शासक, प्रबल विदेशी नीति तथा राज्यविस्तार के कारण गणराज्यो की अपेक्षा राजतन्त्र अधिक लोकप्रिय होता गया।

मन्त्रिपरिषद्

मन्त्रिपरिषद की उपयोगिता तथा महत्व

ऋग्वेद १०-११-८ मे प्राप्त होने वाले उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि मन्त्रि-

---

१. 'प्राचीन भारत मे जनतन्त्र'—डा० देवीदत्त शुक्ल।

२. 'प्राचीन भारत मे राजतन्त्र'—डा० देवीदत्त शुक्ल।

परिषद् की स्थिति देवताओं के मध्य में भी रही होगी। वैदिक साहित्य में "सभा" शब्द का प्रयोग मिलता है। इस सभा को एक प्रकार से मन्त्रिपरिषद् का प्रारंभिक स्वरूप कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य मे समिति, संगति, विदथ, परिषद्, आदि का भी उल्लेख मिलता है।[1] अथर्ववेद में राष्ट्र की उन्नति तथा स्थिरता के लिये ज्ञानीजन के परामर्श पर चलने का आदेश दिया गया है। महाभारत के अनुसार राजाओ की विजय मन्त्रियो के परामर्श पर ही आश्रित होती थीं। मनु ने राजा के पश्चात सप्तांग के क्रमिक महत्व मे मन्त्रिपरिषद् को दूसरा स्थान दिया है। शुक्र, राजा के लिए मन्त्रिपरिषद् से विचार-विनिमय करना आवश्यक बताते हैं।[2] वाल्मीकि रामायण मे भी मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता तथा उपयोगिता स्वीकार की गई है। कौटिल्य तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य एक रथ है जिसमें राजा केवल एक पहिया है; राज्य रूपी रथ राजा रूपी एक पहिये से नही चल सकता है; इसलिये मेरा मत है कि राज्य के संचालन के लिए सचिव रूपी दूसरे पहिये की आवश्यकता होती है। अतएव राजा को मन्त्री अवश्य रखने चाहिए और उनकी मन्त्रणा लेनो चाहिये।[3] इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के लगभग समस्त प्रमुख राजशास्त्रीय ग्रंथों ने मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता एवं महत्व को स्वीकार किया है।

मन्त्रिपरिषद की उत्पत्ति

प्राचीन भारत में मन्त्रि परिषद की उत्पत्ति कब हुई? इसका समाधान करते हुए डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि इसका विकास वैदिक काल की राष्ट्रीय समिति से हुआ था। अथर्ववेद मे राजा को पदारूढ़ करने वाले जिन 'राजकृतो' का उल्लेख है वे बाद में उच्च अधिकारी हो गये, जिनकी 'रत्निन' के रूप में भावी राजा राज्याभिषेक से पहले पूजा किया करता था। मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्यस्मृति "मंत्रिपरिषद" शब्द का उल्लेख नहीं करती हैं। मनुस्मृति "सचिव" शब्द का तथा याज्ञवल्क्य स्मृति "मंत्री" शब्द का उल्लेख करती हैं। "सचिवान" शब्द का प्रयोग बहुवचन मे किये जाने के कारण इसे मन्त्रिपरिषद कहा जा सकता है। अर्थशास्त्र में मन्त्रिपरिषद को 'परिषद' तथा जातको में 'परिषा' कहा गया है। पाली धर्म ग्रंथो मे 'राजकृतो' (राजा को बनाने वाले) को मन्त्रियो के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया गया है। इन समस्त प्रमाणो से प्रमाणित होता है कि मन्त्रिपरिषद की उत्पत्ति प्राचीन काल मे हो चुकी थी तथा समय के साथ यह महत्व प्राप्त करती हुई, निरन्तर विकसित होती रही। यह ज्ञातव्य है कि उचित परामर्श से राज्य की उन्नति अवश्यंभावी होती है तथा अनुचित परामर्श से क्षति की संभावना अत्यधिक हो जाती है। राजा को जैसा परामर्श मिलेगा वह उसी के अनुसार उचित अथवा अनुचित शासन

---

1. The Council as a part of the administrative machinery had its origin in very early times. The terms indicative of the existence of the institution are abundant in early Sanskrit literature." 'आस्पैक्ट्स आफ एन्शिएन्ट पालिटी'—एन० एन० ला।

२. शुक्रनीति, २, १—४.

३. सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मातेषां च शृणुयान्मतम्॥ कौटि० अर्थशास्त्र, १५।७।१

करेगा। मन्त्रिपरिषद परामर्श द्वारा राज्य के महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करवाती थी। इसके इतना महत्वपूर्ण होने के कारण ही प्राचीन भारत के राजनीतिशास्त्र प्रणेताओ ने मन्त्रिपरिषद की नियुक्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

मन्त्रियों की योग्यता तथा नियुक्ति

मन्त्रियो के लिये अनेक शब्दो का प्रयोग मिलता है। मानवधर्म शास्त्रो मे इनके लिये साधारणतया 'सचिव', रामायण मे 'अमात्य', अर्थशास्त्र में 'मन्त्रि' (मुख्य मन्त्री को) का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर सुविधा के लिये हम इनका मन्त्री के रूप में उल्लेख करेंगे। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत संस्कार का एक विशेष स्थान है। मनुष्य की विचारधारा पर परिवार के संस्कार की एक विशेष तथा स्पष्ट छाप पडना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रतिकूल नही है। इसीलिए प्राचीन भारत में मन्त्रियो की नियुक्ति में इस सिद्धान्त को विशेष स्थान प्राप्त था। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार मन्त्रिपरिषद के सदस्य अच्छे कुल में उत्पन्न हुये व्यक्ति ही होने चाहिए। परन्तु केवल कुल को ही सब कुछ मान कर मन्त्रियो की नियुक्ति नहीं होती थी। उनके लिये शूरवीर तथा शास्त्रविद होना भी आवश्यक था। इनके साथ ही साथ व्यक्ति में अन्य गुणो का भी समावेश होना आवश्यक था। शुक्रनीति मे मन्त्रियो की नियुक्ति मे, कुल, गुण, शील आदि का होना निर्देशित है।[1] वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा अर्थशास्त्र मे इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है।[2]

प्रायः सभी राजशास्त्र प्रणेताओ ने मन्त्रियो के लिये निश्चित आयु का विधान भी निर्धारित किया था। रामायण तथा महाभारत में मन्त्रियो का वयोवृद्ध होना उल्लिखित है। प्राचीन भारत में चरित्र की उच्चता का विशेष स्थान था। याज्ञवल्क्य चारित्रिक योग्यता को ही दृष्टि मे रखकर "पवित्र" (शुद्ध) मन्त्रियो की नियुक्ति करने का आदेश राजा को देते है। कौटिल्य का मत है कि मन्त्री स्वदेशी, कुलीन, बुद्धिमान, वाकपटु, उत्साही, प्रभावशाली, दृढ़ राजभक्त, शीलबलयुक्त, आरोग्य युक्त, धैर्यवान, निराभिमानी, सौम्य, पवित्र हृदय, कष्ट सहिष्णु, धार्मिक, लोभरहित, संयमी तथा निर्भीक होने चाहियें। उसने मन्त्रि पद पर नियुक्ति से पूर्व उनके लिये चार परीक्षाओ का प्रावधान भी किया है। मन्त्रियो की नियुक्ति के पूर्व उनकी भली-भाति परीक्षा करने का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि संभव है कि निर्धारित योग्यता वाले व्यक्ति भी कुछ ऐसी अयोग्यतायें रखते हो जो राज्य के लिए घातक हो। जिस स्थान के कार्य करने की योग्यता जिसमें रहती थी उसी कार्य में उस व्यक्ति को रखने का प्रयत्न किया जाता था। इसके लिये मनु का स्पष्ट आदेश है कि अर्थ मन्त्री के पद पर उसी व्यक्ति को होना चाहिए जो अर्थोत्पादन करना जानता हो।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि "प्राचीन भारत मे मन्त्रियो की नियुक्ति केवल राजा की स्वेच्छा पर ही निर्भर नही

---

१. कुल गुण-शील-वृद्धान शूरान्भक्तान्प्रियंवदान् ॥ ८ ॥ अ० २ शुक्रनीति

२. कुलीनाश्चेंगितज्ञाश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः। अयोध्याकाण्ड, वाल्मीकि १००-१५।
कुलीनकुल उत्पन्नाः—महाभारत शान्तिपर्व ८३—१६।
अभिजातः अचारयसंपत्॥ कौटि० अर्थशास्त्र ६।१।

३. मनु० ७।६०

थी वरन् राजा अनेक धार्मिक अनुबन्धो से इस प्रकार विवश था कि उसकी मन्त्रिपरिषद में अयोग्य व्यक्ति का स्थान एक प्रकार से असंभव था। गुणी तथा प्रतिभावान व्यक्तियो का राज सम्मान प्राचीन भारत की एक राज प्रथा थी। उस युग में गुणी और गुणज्ञ का साक्षात्कार प्रकृतितः होता था। किसी को किसी के लिए भ्रमित नही होना पड़ता था। यही उस काल की सामाजिक शांति का बीज मन्त्र था।''[१]

मन्त्रिपरिषद में मन्त्रियों की संख्या—मन्त्रिपरिषद का प्रधान कर्त्तव्य राजा को शासन सम्बन्धी विषयो मे परामर्श देना था। राजकीय महत्व के विषयो मे उचित परामर्श के लिए एक या दो व्यक्तियो की अपेक्षा कुछ अधिक व्यक्तियों के परामर्श को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। अतः मन्त्रियो की संख्या कितनी हो ? इस विषय मे अनेक उल्लेख मिलते हैं।

मनु के अनुसार मन्त्रियो की संख्या सात-आठ होनी चाहिए। महाभारत मे भी ऐसा ही कहा गया है—'अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्।' कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विभिन्न मतो का उल्लेख किया है—बृहस्पति के अनुसार सोलह, मानव अर्थशास्त्र के अनुसार बारह, और उशनस के अनुसार बीस। शुक्रनीति में मन्त्रियों की उचित संख्या दस बतायी गयी है। परन्तु नीति-वाक्यामृत के अनुसार यह संख्या तीन, पाँच या सात से अधिक नहीं होनी चाहिए। महाभारत के शांतिपर्व मे सैंतीस मन्त्रियों का वर्णन मिलता है, जिनमे ब्राह्मण चार, क्षत्रिय आठ, वैश्य इक्कीस, शूद्र छः और सूत एक (जो मिश्रित जाति का होता था), परन्तु वास्तविक मन्त्रिमण्डल मे केवल आठ ही मन्त्री थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न आचार्यों ने राज्यो के आकार को ध्यान में रखकर इस विषय में अपने मतो का प्रतिपादन किया है। छोटे आकार वाले राज्य मे तीन से लेकर पाँच मन्त्री तक पर्याप्त रहे होगे। किन्तु विशाल साम्राज्य मे उनकी संख्या दस-बीस तक रही होगी।

मन्त्रिपरिषद तथा राजा के सम्बन्ध

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता एकमत से मन्त्रिपरिषद् को राजा के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। सामान्यतः यह प्रावधान था कि राजा को मन्त्रियो से राज्य की विभिन्न विकट परिस्थितियो मे तथा सामान्य संधि विग्रहादि, राष्ट्र की रक्षा तथा सत्पात्रो आदि को धन देने के कार्य मे नित्य परामर्श करना चाहिये। इस प्रकार से परामर्श करने मे ही राज्य की उन्नति सम्भव है। याज्ञवल्क्य, मनु, भीष्म तथा कौटिल्य आदि राजा को सभी विषयो मे मन्त्रिपरिषद् से परामर्श लेने का विधान करते हैं। परन्तु यह राजा के अपने विवेक पर निर्भर करता था कि वह मन्त्रिपरिषद की सलाह को माने अथवा न माने। राजा मन्त्रिपरिषद के निर्णयो से बाध्य नही था। याज्ञवल्क्य तथा मनु इसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि राजा को सभी विषयो का मन्त्रिपरिषद के साथ चिंतन करना चाहिये तथा उसके बाद वह स्वयं अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा के लिए मन्त्रिपरिषद के साथ विचार-विमर्श करना तो आवश्यक था परन्तु इस विमर्श के अनुसार कार्य करने अथवा न करने मे वह स्वतन्त्र था। इस विधान का यह अर्थ नही लिया जा सकता कि मन्त्रिपरिषद राजा के समक्ष कोई अस्तित्व ही नही रखती थी। यह सप्तांग वर्णन के प्रसंग मे कहा जा चुका है कि राज्य के सातो अंग पूर्वापर की

१. 'प्रमुख स्मृतियो का अध्ययन'—डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर।

दृष्टि से तो क्रमिक महत्व रखते ही हैं साथ ही साथ अपने-अपने स्थान में अपने वैभागिक कार्य की विशेष प्रकृति के कारण सभी श्रेष्ठ हैं, कोई भी एक दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण नही है। इस कारण से मन्त्रिपरिषद की स्थिति महत्वपूर्ण और दृढ़ थी। "राजा सैद्धान्तिक रूप से तो यह अधिकार रखता था कि मन्त्रिपरिषद के परामर्श के उपरान्त अपने विवेक से कार्य करे परन्तु इन मन्त्रियो के वैभागीय विशेषज्ञ होने के कारण राजा के स्वविवेक के व्यवहृत होने का क्षेत्र सीमित हो जाता है।"[1] इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य तौर पर राजा मन्त्रिपरिषद के परामर्श को सम्मान देता था। असाधारण परिस्थिति में, राजा मन्त्रिपरिषद के परामर्श अथवा निर्णयो के विपरीत उस समय जाता रहा होगा जब या तो इन निर्णयो में स्वतः विरोध रहता हो अथवा जब वह अपने विवेक से मन्त्रिपरिषद की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार से राज्य का हित समझता था। मन्त्रिपरिषद की यह स्थिति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती है। "प्रायः जहाँ भी कही राजतन्त्र के साथ मन्त्रि-परिषद को देखा जाता है वहाँ पर प्रारम्भ में इसकी स्थिति अप्रधान ही रहती है। इंगलैंड की वर्तमान समय की मन्त्रिपरिषद को उसकी प्रारम्भावस्था मे देखने पर यह ज्ञात होता है कि स्मृतियों द्वारा निर्देशित मन्त्रिपरिषद उसकी अपेक्षा कही अधिक महत्वपूर्ण स्थान तथा अधिकार रखती थी। इस मन्त्रिपरिषद का एक वैधानिक महत्व था। ऐसा संभव प्रतीत होता है कि स्मृतियो के काल मे भी कुछ राजनैतिक परम्पराये प्रचलित हो गई होगी और इन्ही परम्पराओं के अनुसार व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र मे मन्त्रिपरिषद और राजा के सम्बन्ध विनिर्णीत होते रहे होगे।"[2] इसी कारण राजा के लिए मन्त्रिपरिषद के उपरान्त अपने आप कार्य करने के विधान के साथ ही साथ ब्राह्मण मन्त्री से भी सलाह लेने का विधान कर दिया गया है। यदि राजा मन्त्रिपरिषद के परामर्श को त्याग कर अपने विवेक तथा ब्राह्मण मन्त्री की सलाह से ऐसा निर्णय करता था जिसके अनुसार प्रजा का कल्याण और भी अधिक संभव हो जाता था तो इसका यह अर्थ कदापि नही लिया जा सकता है कि राजा को मन्त्रिपरिषद के परामर्श को त्याग देने का सार्वकालिक अधिकार था। मन्त्रिपरिषद के परामर्श का यह मापदण्ड था कि राज्य के लिए जिस भी तरह संभव हो अधिक से अधिक कल्याण-प्रद कार्य किया जाए। राजा अपनी स्वेच्छाचारिता के लिए मन्त्रिपरिषद के परामर्श को त्यागने का अधिकार नही रखता था। यद्यपि राजा मन्त्रिपरिषद के प्रस्तावो से बाध्य नही था, परन्तु उसकी स्वेच्छाचारिता यदि सीमोल्लंघन करती थी तो उसे राज्य से हटाया भी जा सकता था। वेन और पृथु का प्रसंग इसी बात का द्योतक है। जब वेन के अत्याचार और निरंकुशता अत्यधिक बढ़ गए तब वह राज्य से च्युत कर दिया गया और उसका पुत्र पृथु, जो बहुत ही विनयी था, राजा बनाया गया।

मन्त्रिपरिषद की कार्य प्रणाली

मन्त्रिपरिषद के उपरोक्त वर्णित कार्यों तथा अधिकारो से यह भली-भाँति स्पष्ट होता है कि मन्त्रिपरिषद का कार्य राजा को सलाह देना, राज्य की विभिन्न परिस्थितियो को भली-भाँति

---

१. 'प्रमुख स्मृतियो का अध्ययन'—डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर।

२. 'प्रमुख स्मृतियो का अध्ययन'—डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर।

संभालना तथा अन्य अनेक इसी प्रकार के कार्य थे। प्रश्न यह उठता है कि यह अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को किस प्रकार प्रयोग करती थी? किस प्रकार अवसर पड़ने पर मन्त्रिपरिषद परामर्श देती थी तथा किस स्थान पर मन्त्रिपरिषद और राजा का परामर्श होता था? मनु ने इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है कि राजा को अपने दैनिक कृत्य करने के बाद सभा भवन में प्रवेश करना चाहिए।[1] सभा मे पहुँचने के पश्चात उसके (राजा के) दर्शनार्थ आई हुई प्रजा का दर्शन, भाषण आदि से अभिनन्दन करने के पश्चात उनको विदा करना चाहिए; जब वे चले जायें तब अपने मन्त्रियो के साथ सन्धि-विग्रह आदि विभिन्न राजनीतिक विषयो का अनुशीलन करे।[2] जहाँ तक सम्भव हो सके मन्त्रणा को गुप्त रखा जावे। इसके लिए मनु कहते है कि राजा को मन्त्रिपरिषद से मन्त्रणा करने के लिए पर्वतीय शिखर पर आरोहण करके अथवा प्रासाद (महल) के एकान्त मे, अथवा जनरहित वन मे स्थित भवन मे अथवा ऐसे ही किसी एकान्त स्थल मे जाना चाहिए।[3] मनु कहते हैं कि जिस राजा की मन्त्रणा (नीति) को उसके (राजा) तथा मन्त्रियो के अतिरिक्त अन्य जन न जान सकें वह राजा क्षीण कोष होने पर भी उन्नति हो करेगा, सारी पृथ्वी का उपभोग करेगा।[4] यदि मन्त्र गुप्त नहीं है तो वह मन्त्र नही है।[5]

मनु ने यह भी संकेत किया है कि बुद्धि, नेत्र, वाक्, चक्षु तथा कर्ण आदि से विकल व्यक्ति की, पक्षियो की योनि मे उत्पन्न (शुक सारिका आदि), अतिवृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी तथा अंगहीन आदि को मन्त्रणा के समय हटा देना चाहिए।[6] किस-किस समय में मन्त्रणा करनी चाहिए, इस विषय में मनु ने कहा है कि राजा को दिन के मध्य मे अथवा रात्रि के मध्य में विगतश्रम (शारीरिक श्रांति को दूर करके) होकर एकान्त में धर्म, अर्थ, काम तथा अन्य विषयो मे मन्त्रणा करनी चाहिए।

मन्त्रियों के कार्य तथा विभाग

मन्त्रियो के कार्यक्षेत्र में शासन का पूरा क्षेत्र आ जाता था। उनके प्रमुख कार्य थे—(१) नीति का निर्धारण करना; (२) नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना, (३) कठिनाइयो को दूर करना, (४) राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में नीति निर्धारण और उनका निरीक्षण करना, (५) राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करना, (६) राज्याभिषेक मे भाग लेना, तथा (७) परराष्ट्र-नीति पर विचार करना। इन कार्यो का क्षेत्र अतिविस्तृत था अतः यह स्वाभाविक ही था कि प्रत्येक विषय को अलग मन्त्रियो को सौंप दिया जाये। परन्तु प्राचीन राजनीतिक विचारको ने कार्य विभाजन के विषय में मौन धारण किया हुआ है। राज्यशास्त्री आचार्य शुक्राचार्य से हमे विभागों का कुछ परिचय मिलता है। उनके मतानुसार मन्त्रिपरिषद में १० मन्त्री होने चाहिये; १—पुरोहित; २—प्रतिनिधि, ३—प्रधान, ४—सचिव, ५—मन्त्री, ६—प्राड्विवाक, ७—पंडित, ८—सुमंत्र, ९—अमात्य और १०—दूत। वे यह भी कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से पुरोहित और दूत की गणना

---

१. मनु० ७।१४५—मनु०, टीका कुल्लूक भट्ट   २. मनु० ७।१४६।

३. मनु० ७।१४७।   ४. मनु० ७।१४८।

५. मन्त्र मूलं यतो राज्यं तस्मान्मंत्रं सुरक्षितम्।
कुर्याद्ययास्य न विदुः कर्मणामाफलोदयात्॥ या० स्मृति, १।३४५।

६. मनु० ७।१४९।

मन्त्रियो में नही की जाती। यद्यपि शुक्र से पूर्व के आचार्यों ने विभागों का उल्लेख नही किया है फिर भी यह माना जा सकता है कि विभागों का विभाजन शुक्राचार्य द्वारा वर्णित ढंग पर ही होता था, क्योकि उत्कीर्ण लेखो मे इन मन्त्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाचक नामो मे किये गये हैं।

मन्त्रियों के पद

(१) पुरोहित—महाभारत में ब्राह्मण मन्त्री का पुरोहित के रूप मे विशद वर्णन मिलता है। शांतिपर्व में कहा गया है कि जो राजा पुरोहित विहीन होता है वह जूठन (अपवित्र) के समान होता है, इसीलिये राजा को चाहिये कि धर्म को अच्छी तरह समझने वाले विद्वान को नियुक्त करें।[1] "राजशक्ति के निरपेक्ष भाव से प्रयुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि कोई निरपेक्ष शक्ति राजशक्ति का मार्ग प्रदर्शन करे, इसीलिये निरपेक्ष ब्राह्मण पुरोहित राजा के प्रमुख सलाहकारो मे आता है। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी राजा के बिना उपत्न्न हो जायगा क्योकि धर्म मे व्यवस्थित रखने के लिये राजशक्ति के द्वारा ही धर्म की मर्यादा सुरक्षित रहती है।[2] याज्ञवल्क्य मनु की अपेक्षा, पुरोहित के परंपरागत गौरव का अधिक स्पष्ट चित्रण करते है। वे पुरोहित की योग्यताओ के साथ-साथ उसके दण्डनीति मे कुशल होने का भी उल्लेख करते है। इससे यह आभास मिलता है कि वह (पुरोहित) राजा को उसके राजकीय कार्यों मे भी सहायता पहुँचाता रहा होगा।[3] वाल्मीकि भी रामायण में पुरोहित के इस महत्व का उल्लेख करते हैं।[4]

उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि राज्यतन्त्र मे ईश्वरीय तत्व के प्रति विश्वास होने तथा धर्म शासन की स्थापना के लिये पुरोहित का बड़ा महत्व था। उसका कार्य राष्ट्र का अभ्युदय करना था। वह सेना को मन्त्रपूत करता तथा राजा के साथ युद्धक्षेत्र मे जाकर अपने मन्त्रो और स्तुतियो द्वारा देवताओ को प्रसन्न करके विजयश्री प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। वह शास्त्र तथा नीतिशास्त्र में प्रवीण होता था। विशेष परिस्थितियो में वह राज्य का सम्पूर्ण शासन भार भी धारण करता था।

वैदिक युग में तो पुरोहितों का प्रभाव बहुत रहा परन्तु बौद्ध और जैन दर्शन के विकास के फलस्वरूप यज्ञो का प्रचार कम होने पर पुरोहित के प्रभाव को भी धक्का लगा। फिर भी जातको के समय मे भी वह काफी प्रभावी था। गुप्तकाल के बाद के लेखो में पुरोहित का उल्लेख मन्त्रियो से अलग किया गया है। इससे प्रकट होता है कि अब पुरोहित मन्त्रिमण्डल का सदस्य न रह गया था। यद्यपि अब पुरोहित की गणना मन्त्रियो में नही होती थी, फिर भी राजा पर उसका नैतिक प्रभाव था।

(२) प्रतिनिधि—प्रतिनिधि नाम से स्पष्ट होता है कि वह राज्यसत्ता का प्रतिनिधित्व करता रहा होगा। ऐसी दशा सम्भवतः राजा की अनुपस्थिति मे ही उत्पन्न होती होगी, जबकि प्रतिनिधि,

---

१. महाभारत शान्ति पर्व, ७२, १-१३, १४, १७, ७३, १-१६,

२. 'प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन'—डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर।

३. याज्ञवल्क्य स्मृति १।३१३।

४. 'जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्।'
नातिक्रमामहे सर्वे वेला प्राप्येव सागरः॥ —वाल्मीकि रामायण अयो० ३७-६७
'कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं राजानमिहाभिषेचय॥'—वाल्मीकि रामायण अयो० ३८-११

को शासन भार धारण करने का अवसर मिलता। वयस्क होने पर संभवतः युवराज को ही यह पद मिलता था। जातकों में उल्लिखित 'उपराजा' शुक्र द्वारा वर्णित प्रतिनिधि के ही समान था। उत्कीर्ण लेखों में प्रतिनिधि का उल्लेख नहीं मिलता, और मनु भी प्रतिनिधि को नहीं वरन प्रधान मन्त्री को ही राजा का स्थान ग्रहण करने को कहते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रतिनिधि की गणना मन्त्रिपरिषद में नहीं होती थी।

(३) **प्रधान**—प्रधान या प्रधानमन्त्री, मन्त्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य था। शुक्र के मत में वह सर्वदर्शी तथा पूरी शासन-व्यवस्था पर आँख रखने वाला होता था। लेखों मे अनेक प्रधान मन्त्रियों के नाम मिलते हैं। ६०० ई० के एक कदंबवंश के लेख मे 'सर्वस्य अनुष्ठाता' उपाधि से संबोधित जियंत, गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के राजा दंतिवर्मन (८८० ई०) का महामात्य कृष्ण-भट्ट, चालुक्य लेखो मे वर्णित 'महामात्य' आदि व्यक्ति प्रधानमन्त्री थे। आधुनिक काल की भाँति प्राचीन भारत में भी प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद का प्रमुख होता था और साथ ही साथ एक या अनेक महत्वपूर्ण विभाग संभालता था।

(४) **सचिव या युद्धमन्त्री**—प्रधानमन्त्री के बाद युद्धमन्त्री का स्थान था। शुक्र ने उसे सचिव का नाम दिया है। मौर्य-राज्य मे उसे सेनापति कहा जाता था, गुप्त-राज्य में 'महाबलाधिकृत', कश्मीर मे 'कंपन' और यादव-राज्य मे 'महाप्रचंडदंडनायक'। युद्धमन्त्री का युद्ध कौशल, शस्त्रसंचालन और सैन्यसंगठन मे निष्णान्त होना आवश्यक था। उसका कार्य राज्य के सब दुर्गों में सेना रखना और सेना के सब विभागो की व्यवस्था करना था, जिससे उनकी युद्धशक्ति बराबर बनी रहे।

(५) **मन्त्री**—यह मन्त्री राजा को नीति कुशल मन्त्रणा देता था। उसकी सलाह के अनुसार साम, दाम, दण्ड तथा भेद की नीनि निर्धारित की जाती थी। अनेक लेखो में इसको 'महासन्धि-विग्रहक' कहा गया है।

(६) **प्राड्विवाक**—'प्राड्विवाक' प्रधान न्यायाधीश होता था। स्मृति और लोकाचार के पूरे ज्ञान के अतिरिक्त इसमें दोनो पक्षो द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाणों और साक्ष्यों को ठीक-ठीक परख सकने की योग्यता भी होनी आवश्यक थी। राजा की अनुपस्थिति मे अन्तिम निर्णय देने का अधिकार इसको होता था।

(७) **पण्डित**—इनका काम राज्य की धार्मिक-नीति निर्धारण करना था। धर्म-शास्त्रों में पारंगत होने के साथ ही यह लोकाचार पर भी सूक्ष्म दृष्टि रखता था। वह धार्मिक नीति का समयानुकूलन तो करता ही था साथ ही साथ वह राज्य को यह सलाह देता था कि धर्म और संस्कृति के अनुकूल पुरानी व्यवस्था में क्या परिवर्तन किया जाये। 'अशोक' के 'धम्ममहामात्र', गुप्तराज्य के 'विनयस्थितिस्थापक', तथा राष्ट्रकूटो के 'धर्मांकुश' आदि इस मन्त्री पद के समानार्थक थे। इसी विभाग के अन्तर्गत मठ, मन्दिर, पाठशाला और विद्यालयो को दान देने का कार्य भी रहता था।

(८) **कोषाध्यक्ष या सुमन्त्र**—इस मन्त्रिपद के अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित थे। यह नाम शुक्र की सूची में 'सुमंत्र', वैदिककाल का 'संग्रहीत' या कौटिल्य का 'समाहर्ता' है। उत्कीर्ण लेखो में इसे अधिकतर 'भांडागारिक' (कोष और भंडार का अधिकारी) कहा गया है। इस शब्द से इस पद के कर्त्तव्य का ठीक-ठीक ज्ञान होता है।

(९) **अमात्य**—अमात्य का कार्य राज्य के नगरों, ग्रामो और जंगलो तथा उनसे होने वाली

आय का ठीक-ठीक ब्यौरा रखना था। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य और परती भूमि तथा खानो की अनुमानित आय का भी ब्यौरा इसके पास रहता था।

(१०) दूत—राज्यो के मध्य पारस्परिक सम्बन्धो को बनाये रखने तथा विशेष अवसरो पर एक राज्य का अन्य राज्य मे सन्देश देने के लिए 'दूत' नामक मन्त्री का अस्तित्व था। उसे सन्धि विग्रहक भी कहा जाता था।

मन्त्रिपरिषद का महत्व

मन्त्रिपरिषद राजा के कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार रखती थी। दिव्यावदान की कथा से पता चलता है कि अमात्य राधागुप्त ने युवराज की सहायता से अशोक को इस बात से रोक दिया था कि वह राजकोश से बौद्ध विहार के लिए दान दे सके। मनुस्मृति के अनुसार यदि कोई राजा सहायकों के बिना राज्यकार्य का संचालन करने का यत्न करेगा, तो वह मूर्ख ही होगा, क्योंकि ऐसा राजा कदापि न्यायपूर्वक अपना कार्य नही कर सकता। अतः ऐसे सात या आठ सचिव (मन्त्री) नियत किये जाएँ जो कि 'मौल' (देश के अपने) हो, शास्त्र के ज्ञाता हों, शूर और निश्चित लक्ष्य वाले हो, कुलीन हों, और जिनकी भलीभाँति परीक्षा कर ली गई हो। इन मन्त्रियो के साथ सन्धि, विग्रह, राज्य की उन्नति तथा समृद्धि, देश की रक्षा आदि राजकीय विषयों का चिन्तन किया जाए। उनसे पृथक्-पृथक् रूप से भी परामर्श किया जाए और समस्त (सम्मिलित) रूप से भी। प्रायः यह विश्वास प्रचलित था कि जिन मन्त्रियो से राजा डरता नही, उनसे राज्य की वृद्धि क्या हो सकती है? वे तो केवल राजा की शोभा बढ़ाने वाले ही हो सकते हैं, जैसे कि आभूषण, वस्त्र आदि द्वारा स्त्रियो की शोभा बढ़ती है। जिन मन्त्रियो से राज्य, प्रजा, सेना, कोष और सुनृपत्व मे वृद्धि नही होती, और जिनके परामर्श से शत्रु का विनाश नही होता, ऐसे मन्त्रियो से लाभ ही क्या है?

महाभारत के शान्तिपर्व मे भी राज्य के लिए मन्त्रियो की उपयोगिता तथा महत्व का निरूपण किया गया है। इसके अनुसार "राजा के राष्ट्र की उन्नति मन्त्रियो के मन्त्र पर ही निर्भर करती है।" यह सिद्धान्त प्रतिपादित करके शान्तिपर्व मे बताया गया है, कि किस प्रकार के व्यक्तियो को मन्त्री नियुक्त किया जाए, और उनकी संख्या कितनी हो? अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थो मे भी मंत्रियो और मन्त्रिपरिषद के महत्व के सम्बन्ध में अनेक बातें पायी जाती हैं। नीतिवाक्यामृत मे लिखा है—"उसे राजा नही कह सकते, जो मन्त्रियों का अतिक्रमण करता रहे।" मन्त्रिपरिषद की स्थिति तथा महत्व को प्रमाणित करने के लिए महाभारत के शान्तिपर्व का यह उल्लेख ही पर्याप्त है कि "राजा तो सदा ही परतन्त्र है। सन्धि और विग्रह के कार्य मे राजा कहाँ स्वतन्त्र है? वह तो मन्त्रियो और क्रीड़ाविहार तक मे स्वतन्त्र नही होता। वह तो सब राजकीय परामर्श अमात्यों के साथ ही करता है, राजा को स्वतन्त्रता कहाँ है?"

प्राचीन भारत की राजनैतिक संस्थाएँ

प्राप्त प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में प्रशासन तथा राजनैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित कतिपय लोकप्रिय तथा जन प्रतिनिधित्वयुक्त संस्थाएँ विद्यमान थी। इस विषय मे रोचक तथा आश्चर्यजनक तथ्य यह भी है कि ऐसी संस्थाओ को प्रारम्भिक वैदिक काल में तो विशेष

महत्व प्राप्त था परन्तु कालान्तर मे उनका रूप या तो परिवर्तित हो गया अथवा वे लुप्त सी हो गईं। वैदिक काल से पूर्व, प्रागैतिहासिक युग मे उदित और विनष्ट सिन्धु सभ्यता का जो रूप तत्कालीन प्रमाणों द्वारा उभर कर सामने आता है, उसके सन्दर्भ मे इस संभावना से इन्कार नही किया जा सकता कि उस समय मे भी नगर आदि की व्यवस्था के लिये अनेक महत्वपूर्ण संस्थाएँ रही होंगी परन्तु इस विषय मे प्रमाण स्पष्ट नही हैं। संस्कृत साहित्य में संस्थाओ के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले अनेक नाम मिलते हैं, जिनमें सभा, समिति, विदथ, परिषद, संग्राम आदि प्रमुख हैं, अतः प्राचीन भारत के राजनीतिक सिद्धान्तो एवं उनके व्यावहारिक रूप के अध्ययन हेतु तत्कालीन जीवन से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओ का क्रमबद्ध एवं विधिवत् अध्ययन अनिवार्य है।

वैदिक संहिताओ मे कतिपय वैदिक संस्थाओं की ओर संकेत हैं। ये वे संस्थाएँ जान पड़ती हैं जिनका निर्माण राजनैतिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तो को कार्यान्वित करने के लिए हुआ था। इन संस्थाओ में, अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार, राजनीति सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता था और निर्णय लिये जाते थे। इन संस्थाओ मे सभा, समिति और विदथ विशेष महत्वपूर्ण थीं। इन संस्थाओ के विषय मे जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर आर्यों की इन संस्थाओं का विवरण निम्नलिखित रूप से दिया जा सकता है।

सभा

सभा की प्राचीनता—वैदिक आर्यों की संस्थाओ मे सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से उनके राजनैतिक जीवन के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता था। अथर्ववेद मे सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] सभा की उत्पत्ति विराट् पुरुष से कही गयी है।[2] इसी प्रकार इसी वेद के एक प्रसंग में व्रात्य अथवा आदिपुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[3] इससे यह विदित होता है कि 'सभा' उतनी ही पुरातन है जितने पुरातन प्रजापति, विराट् पुरुष अथवा व्रात्य हैं।

सभा के विषय में विवाद—सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय मे विद्वानों मे एकमत नही है। कुछ विद्वानो, जिनमे हेलाब्रैण्ड प्रमुख हैं, का मत है कि वैदिक आर्य किसी विशेष समस्या के समाधान हेतु विचार करने के लिए जब एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे तो उनके इस प्रकार एकत्र होने को समिति और जिस स्थान अथवा भवन में वह एकत्र होते थे उसे सभा कहते थे। इसका तात्पर्य यह है कि समिति वैदिक आर्यों की संस्था थी, और इस संस्था के सदस्यो की बैठक जिस स्थान अथवा भवन मे होती थी उस स्थान अथवा भवन को सभा की संज्ञा दी गयी थी। दूसरी श्रेणी के विद्वानो, जिनमें जिमर प्रमुख हैं, का कहना है कि सभा ग्राम की संस्था थी और समिति केन्द्रीय संस्था थी। कतिपय अन्य विद्वान, जिनमें डा० लुडविक प्रमुख हैं, का विचार है कि वैदिक आर्यों की एक राजनैतिक संस्था थी जिसमें सभा और समिति नामक दो सदन थे। विद्वानो के एक अन्य वर्ग का विश्वास है कि समिति वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी, परन्तु सभा समिति की एक स्थायी उपसमिति थी। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सभा और समिति में परस्पर क्या सम्बन्ध था, इस विषय पर निश्चयात्मक किसी प्रकार का मत व्यक्त

---

१. अथर्ववेद ११३१७। २. अथर्ववेद ८।१०।८ ३. अथर्ववेद २।९।१५

नहीं किया जा सकता।[1] डा० अल्तेकर के मतानुसार सभा का सम्बन्ध ग्राम मात्र से था। सभा ग्राम की संस्था थी। इस दृष्टि से वैदिक राज्य में लगभग उतनी ही सभाएँ होती थी जितने कि उस राज्य में ग्राम होते थे। उन्होने भी समिति को केन्द्रीय संस्था माना है।[2] ऋग्वेद के एक मंत्र में जुआरी द्यूत खेलने के लिए सभा को जाता है।[3] इस से ज्ञात होता है कि वैदिक युग मे द्यूतगृह को सभा कहा जाता था। अथर्ववेद से विदित होता है कि सभा के सदस्य सभ्य एवं सभासद कहलाते थे। वे सभा में भाषण किया करते थे।[4] वेदो में सभा और समिति दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बतलाया गया है। इस विषय मे चाहे जो भी विवाद हो, इतना स्पष्ट है कि सभा और समिति के अपने-अपने पृथक कार्य थे और वे दोनो संस्थाएँ केन्द्रीय स्तर पर संचालित थी। यह भी सत्य है कि सभा की बैठक जिस स्थान अथवा भवन मे होती थी उसे भी सभा ही कहते थे।

वैदिक साहित्य में सभा का उल्लेख तो मिलता है परन्तु उसके संगठन एवं कार्यों के विवरण का अभाव है। इस विषय में तत्कालीन साहित्य के संकेतो के आधार पर अनुमान लगाया जाता है, जो प्रामाणिक न होने पर भी युक्ति संगत प्रतीत होता है।

सभा के सदस्य उनकी योग्यता तथा अधिकार—सभा का शाब्दिक अर्थ 'भासित' अथवा 'प्रकाशित' होना है।[5] इसलिए वैदिक सभा का तात्पर्य महत्वपूर्ण व्यक्तियो के एकत्र होने का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि सभा वैदिक आर्यों की ऐसी संस्था थी जिसमे महत्वपूर्ण पुरुष एकत्र होते थे। दूसरे शब्दो मे यह कहना उचित होगा कि सभा की सदस्यता का अधिकार सामान्य पुरुषों को तब तक प्राप्त न था, जब तक कि उनमें इसकी सदस्यता के अनुरूप वाछनीय गुण एवं योग्यताएँ विद्यमान न होती हो। सभा का प्रत्येक व्यक्ति सभेय, सभासद, अथवा सभासीन कहा जाता था।[6] सभा के सदस्यो के लिये 'सुजात,' 'रायिह् सभावान' शब्दो तथा 'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा' से प्रकट होता है कि उच्चवंश के सज्जन तथा वृद्ध पुरुप सभा के सदस्य होते थे।

सभा की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र मे सोम की उपासना का फल बतलाते हुए इस प्रकार की गयी है—जो पुरुष श्रद्धा-भक्ति के साथ सोम की उपासना करता है, सोम उस भक्त के लिए दूध देने वाली गाय, द्रुतगामी अश्व, कर्त्तव्यपरायण, गृह सत्कार कार्य मे कुशल, पितृभक्त, विदथ की सदस्यता योग्य और सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है।[7]

ऋग्वेद के एक मन्त्र मे सकेत किया गया है—'सभा के यशस्वी सभासद की प्रशंसा उसके अन्य सह सभासद सभा में किया करते हैं। सभासद यश द्वारा प्रशंसित होता है'[8] इससे ज्ञात होता है कि सभा का सदस्य बनने के लिए लोकोपकारी कार्य सम्पन्न कर यश की प्राप्ति कर लेना आवश्यक था।

ऋग्वेद के अनुसार, सभा के सदस्य की अन्य योग्यता भद्रभाषी होना बताई गयी है।[9]

---

१. 'हिन्दू पॉलिटी' पृ० १२ और १७—डा० काशी प्रसाद जायसवाल।
२. 'स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्शियेन्ट इण्डिया'—डा० ए० एस० अल्टेकर।
३. ऋग्वेद ६।३४।१० ४. अथर्ववेद ५।५५।१६ ५. ऋग्वेद ३।१६७।१
६. अथर्ववेद ३।२९।१ ७. ऋग्वेद २०।९।११
८. ऋग्वेद १०।७१।१० ९. ऋग्वेद ६।२८।६

ऋग्वेद मे प्रार्थना की गयी है कि सभा मे वृहद् वाणी का उच्चारण होना चाहिए।[१] एक अन्य संकेत द्वारा सभा के सदस्य को यथार्थवादी होना आवश्यक वताया गया है।[२] अथर्ववेद के एक प्रसंग मे सभा के सदस्य के लिए वर्चस्वी और ज्ञानवान् होने के लिए प्रार्थना की गयी है।[३] यह प्रार्थना की गयी है कि सभा का सदस्य इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला पुरुष होना चाहिए तथा उन्हें सत्य भाषी, न्यायपरायण होने के साथ साथ यथावचन बोलने चाहिये।[४]

वैदिक संहिताओ के उपरोक्त संकेतो से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि सभा के सदस्यों को यशस्वी, वर्चस्वी, ज्ञानवान्, भद्रभाषी, सुवक्ता, सत्यवादी, न्यायपरायण, गम्भीर, स्पष्टवादी, सार-युक्त वचन बोलने मे कुशल, प्राणिमात्र का पितृवत् हितेच्छुक तथा पालक, और इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला व्यक्ति होना आवश्यक था।

वैदिक सभा के सदस्यो के अधिकारो के विषय मे वैदिक साहित्य मे स्पष्ट उल्लेख नही है। अथर्ववेद के एक प्रसंग से विदित होता है कि सभा का सदस्य चाहे जिस वर्ण, रंग, आकृति आदि का पुरुष क्यों न हो परन्तु सभा का सदस्य होने के नाते सभा मे बैठने के लिए उसे समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था।[५] इससे यह स्पष्ट है कि सभा जनतान्त्रिक संस्था थी। सभा के प्रत्येक सदस्य को सभा मे अपना मत एवं अपने विचार प्रकाशन की स्वतंत्रता थी।[६]

सभा का सभापति—वैदिक संहिताओं मे सभा के अध्यक्ष अथवा सभापति की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। यजुर्वेद मे जहाँ राज्य के अन्य पदाधिकारियो के प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है वहीं सभा के सभापति के प्रति भी उसी रूप मे विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया गया है।[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे सभा के कार्य का संचालन करने वाले को 'सभा पाल' कहा गया है।[८] यजुर्वेद मे प्राप्त इन संकेतों से ज्ञात होता है कि सभापति का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थी, सभापति की नियुक्ति, अधिकार, तथा उसकी योग्यता आदि के विषय का उल्लेख तो दूर संकेतो का भी अभाव है। अतः इस विषय मे मौन रहना ही उचित है।

सभा के कार्य—विविध उल्लेखो से ज्ञात होता है कि सभा का प्रधान कार्य विवादग्रस्त विषयो पर विचार करना एवं तदनुसार निर्णय करना था।

यजुर्वेद में सभा का परिचय देते हुए वतलाया गया है कि धर्म निर्णय अर्थात् न्याय की प्राप्ति हेतु सभा मे गमन किया जाता था।[९] एक अन्य मंत्र में कहा गया है 'यज्ञ! तू आक्रमण के लिए अर्थात् आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए (आस्कन्दाय) सभा में स्थित (सभा स्थाणुम्) को प्रकट कर।[१०] इससे स्पष्ट होता है कि आक्रमण से वचने के लिये सभा सुरक्षित स्थान समझी जाती थी। सम्भवतः सभा मे उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिसके जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता अथवा सम्मान तथा प्रतिष्ठा आदि पर आक्रमण होता था। ऐसी परिस्थिति में सभा पीड़ित व्यक्ति के अधिकार की

---

१. ऋग्वेद ६।२८।६ २. ऋग्वेद ३।१६७।१ ३. अथर्ववेद ३।१३।७
४. अथर्ववेद ३।१३।७ तथा ५६।१।१३ ५. अथर्ववेद ३।१३।७
६. अथर्ववेद २।१३।७ ७. यजुर्वेद २४।१६ ८. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।४
९. यजुर्वेद ६।३० १०. यजुर्वेद १८।३०

रक्षा करती थी और उसके अपहृत अधिकार को पुनः दिलाने का निर्णय देती थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि सभा एक प्रकार का न्यायालय थी।

इस प्रकार सभा का प्रधान कार्य धर्म-निर्णय अथवा न्याय-वितरण करना था। इसके अतिरिक्त राजनैतिक विषय सम्बन्धी महत्वपूर्ण समस्याओ की गुत्थियो का सुलझाना भी सभा का कार्य रहा होगा।

सभा की कार्य पद्धति—ऐसा प्रतीत होता है कि वादी अपने वाद को सभा के समक्ष प्रस्तुत कर प्रार्थना करता था कि सभा के सदस्य पिता के समान पुत्रवत् उसकी रक्षा करें।[1] अथर्ववेद मे सभा के सदस्यो से प्रार्थना की गई है कि सभा के सदस्य अपना मत सभा मे प्रस्तुत प्रस्ताव अथवा वाद पर विचार करने में लगायें। यदि उनका मन इधर-उधर भटक जाता है तो अपने इस प्रकार भटके हुए मन को खीचकर अपने समक्ष प्रस्तुत विषय अथवा प्रस्ताव मे लगा दें।[2] इससे ज्ञात होता है कि सभा के समक्ष प्रस्तुत विषय की पूर्ण विवेचना की जाती थी। अथर्ववेद मे सभा के सदस्यो के लिये सर्वसम्मति की प्राप्ति हेतु की गयी प्रार्थना से स्पष्ट है कि सभा मे इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि उसके द्वारा दिये गये निर्णय सर्वसम्मति से हो।[3] अथर्ववेद के एक प्रसंग में बहुमत के आधार पर निर्णय प्राप्त करने के निमित्त प्रार्थना की गई है,[4] जिससे स्पष्ट है कि सर्वसम्मति न होने पर बहुमत का आश्रय लिया जाता था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सभा मे प्रस्तुत विषय पर उसके प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था। जिस समय सभा का कोई सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपने विचार व्यक्त करने के लिये सभा मे बोलता था, उस अवधि मे सभा के दूसरे सदस्यो को बोलने का अधिकार नही था। इस तथ्य की पुष्टि अथर्ववेद में इन शब्दो मे की गयी है, सभा का सदस्य कहता है—जब मैं सभा में भाषण करूँ, तब तू भाषण मत कर, मेरे भाषण की समाप्ति के उपरान्त तू भाषण कर।[5]

विवेचना—कालान्तर में सभा का न्यायिक स्वरूप अधिक महत्वपूर्ण हो गया। डॉ० जायसवाल के अनुसार सभा का एक कार्य निश्चित रूप से स्पष्ट है: सभा राष्ट्रीय न्यायालय के रूप मे कार्य करती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में सभा को कष्ट और प्रचण्डता कहा गया है; चूँकि अभियुक्त को सभा मे कष्ट और प्रचण्डता ही मिलते थे। सभा को 'नरिष्ठा' भी कहा गया है, जिसका अर्थ है, बहुत से व्यक्तियों का ऐसा संकलन जिसे तोड़ा न जा सके या जिसका अतिक्रमण न किया जा सके।

सभा के मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। यह शब्द उस धातु से निकला है जिसका अर्थ है कुल अथवा जन के सदस्यो का संघ। सम्भवतः प्राचीन सभा इसी प्रकार की थी, परन्तु बाद मे सभा केवल ऐसे ही व्यक्तियो का संघ नही रही। यह किसी भी प्रकार का समूह हो गया, जो धार्मिक, खेल, वाद-विवाद या स्थानीय हित के हेतु किसी भी प्रयोजन से एकत्रित होता था। सभा के सदस्य प्रतिष्ठित धनिक व्यक्ति होते थे। राजा और सभा के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। विभिन्न प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थानीय सभाओ के अतिरिक्त एक

---

१. अथर्ववेद ११२१७ २. अथर्ववेद ४१२१७ ३. अथर्ववेद ११२१७
४. अथर्ववेद ३११२१७ ५. अथर्ववेद ४१३६१७

श्रेष्ठ सभा—राजनीतिक सभा भी थी, जिसका सम्बन्ध राजा से था। राजा सभा के सदस्यों के परामर्श बिना कार्य नही कर सकता था। जब कि सभा राजा के लिए परामर्शदात्री निकाय था, इसके अन्य कार्य भी थे। यह न्यायिक सभा के रूप में कार्य करती थी।[1]

समिति

समिति की प्राचीनता—अथर्ववेद में समिति को सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की दुहिता कहा गया है।[2] एक ऐसा समय भी था जब सम्पूर्ण जगत अव्यक्त अवस्था में था। कुछ समय के उपरान्त अव्यक्त जगत व्यक्त अवस्था में प्रकट हुआ। अव्यक्त जगत के व्यक्त होने के समय सर्वप्रथम आदि पुरुष अथवा विराट् पुरुष प्रकट हुआ। उस पुरुष के अंगो-प्रत्यंगो से चल और अचल सभी प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[3] सृष्टि के इसी रचना-काल में कतिपय वैदिक संस्थाओं में समिति का जन्म हुआ। इन आदि कालीन वैदिक संस्थाओ मे समिति भी थी। अथर्ववेद में भी उल्लेख है कि विराट् पुरुष से समिति का जन्म हुआ था।[4] यह भी उल्लेख है कि व्रात्य ने गमन किया, उसके पीछे पीछे सभा, समिति और सेना व्यक्त होकर गमन करने लगी।[5]

उपरोक्त प्रामाणिक उल्लेख समिति का पुरातन संस्था होना सिद्ध करते हैं। इन उल्लेखो के अनुसार समिति उतनी ही प्राचीन हे जितने कि प्रजापति, विराट् पुरुष और व्रात्य पुरातन हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदीय ऋषियो ने भी समिति का महत्वपूर्ण एवं सक्रिय उपयोगी संस्था के रूप में वर्णन किया है।[6] उनके समय में समिति का पूर्ण विकास हो चुका था।

समिति की उपयोगिता—अथर्ववेद में एक उल्लेख है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है वहाँ मित्र और वरुण जलवृष्टि नही करते, समिति वहाँ कार्य नही करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश मे नही रहते।[7] इससे यह स्पष्ट होता हे कि वैदिक राज्य मे समिति का अभाव अथवा उसका निष्क्रिय हो जाना अनर्थ समझा जाता था। "समिति-हीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। वैदिक आर्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओ को परस्पर मिल-जुलकर एवं विचारो के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और सम्पूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिन्तन कर तदनुसार साधनों के जुटाने में समिति का महान सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यो की उपयोगी संस्था थी। उसके बिना उनके राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असंभव था।"[8]

समिति का संगठन—समिति शब्द 'सम्' और 'इति' के संयोग से बना हे, जिसका अर्थ हे एकत्र होना। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की सार्वजनिक सस्था थी जिसमे समस्त प्रजा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओ का समाधान मिल-जुलकर कर करती थी। इस प्रकार सभा और समिति के संगठन मे सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था जो राज्य मे विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे, परन्तु समिति की

---

१. डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पालिटिकल थ्योरीज़—डा० एन० सी० वन्द्योपाध्याय।
२. अथर्ववेद ३।१४।७।
३. ऋग्वेद का पुरुषसूक्त।
४. अथर्ववेद १०।१०।८।
५. ऋग्वेद २।६।१५।
६. ऋग्वेद ६।१७।१० और ६।६२।६।
७. अथर्ववेद १८।१६।५।
८. 'वेदकालीन राजव्यवस्था'—पृ० १४६ डा० श्यामलाल पाण्डेय।

सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। इसलिए संगठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति अधिक प्रजातन्त्रात्मक थी।

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवतः समितिपति कहते थे। इसकी अध्यक्षता मे समिति की बैठकें होती थीं। अथर्ववेद के एक मंत्र में समिति के सदस्य को 'सामित्य' कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] समिति द्वारा निर्धारित की गयी नीति को वैदिक भाषा में मंत्र की संज्ञा दी गयी है।[2]

समिति की कार्यप्रणाली—ऋग्वेद मे प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति एकमत हो; समिति के सदस्यो के चित्त, उनके मन और उनके द्वारा निर्णीत मंत्र एवं मंत्र-निर्णय की उनकी प्रक्रिया में एकमत रहे।[3] इससे संकेत मिलता है कि समिति में सार्वजनिक समस्याओ का प्रस्तुतीकरण होता था और समिति इन पर गंभीर विचार करती थी। वाद-विवाद विवेचना आदि के उपरान्त प्राप्त निर्णय को यथासंभव कार्यान्वित किया जाता था। साहित्यिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि वाद-विवाद उग्र रूप भी धारण कर लेते थे और ऐसी परिस्थितियो मे मंत्र-निर्णय में कठिनाई उपस्थित होती थी। ऋग्वेद मे समिति का सम्बन्ध चित्त और व्रत से जोड़ा गया है।[4] यह प्रार्थना सम्भवतः इसी आशय से की गयी जान पड़ती है कि समिति में उपस्थित सामित्य गण एक संकल्प करें और एक चित्त होकर प्रस्तुत संकल्प अथवा विचार पर अपने-अपने मत व्यक्त करते हुए अन्त में एक ही निर्णय दें और उस पर दृढ रहें।

अथर्ववेद के एक प्रसंग मे ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र की पुनरावृत्ति करते हुए प्रार्थना की गयी है कि समिति के सदस्य के चित्त, उनके व्रत और उनके द्वारा निर्णीत मंत्र में सर्वसम्मति रहे अर्थात् समिति के सदस्यो में निरन्तर सुमति रहे।[5] इन उल्लेखो से जो संकेत प्राप्त होते हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि समिति में सार्वजनिक समस्याओ पर गम्भीर विचार करके उनकी सूक्ष्म विवेचना की जाती थी। समिति के सदस्य प्रस्तुत प्रस्ताव (संकल्प) पर अपना मत व्यक्त करते थे। वाद-विवाद बहुधा उग्र रूप भी धारण कर लिया करते थे। विवेचना हो जाने के उपरान्त प्रस्ताव बहुमत अथवा सर्वसम्मति से पारित किया जाता था। समिति द्वारा पारित प्रस्ताव यथा सामर्थ्य कार्यान्वित किया जाता था। प्रस्ताव, संकल्प और नीति के लिये प्रायः 'मन्त्र' शब्द का प्रयोग किया जाता था।[6] राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य नीति का निर्धारण किया जाना इसी संस्था के कार्यक्षेत्र के अधीन था।

समिति की बैठको की कब और कितनी पूर्व सूचना दी जानी चाहिए, उसकी बैठको मे गणपूर्ति हेतु सदस्यो की कितनी संख्या निर्धारित रही होगी, मत गणना की क्या विधि थी? इन विषयों के सम्बन्ध मे कोई भी उल्लेख, संकेत अथवा प्रमाण अनुपलब्ध हैं अतः इस विषय मे अनुमान लगाना भी उचित नही होगा।

समिति के कार्य—वैदिक संहिताओ मे इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि जनता एकत्र होकर अपने राजा का वरण करती थी। इससे यह स्पष्ट है कि प्रजा समिति के रूप में

---

१. अथर्ववेद ११।१०।८। २. अथर्ववेद ११।१०।८
३. ऋग्वेद ३।१९१।१०। ४. ऋग्वेद ४।१६६।१०।
५. अथर्ववेद २।६४।६। ६. ऋग्वेद ३।१९१।१०।

यह कार्य सम्पन्न करती थी। हे भावी राजन्! आर्य जनता (विशः) तेरी कामना करती है। वह अचल है। तू भी सब प्रकार से दृढ़ होकर राजपद पर प्रतिष्ठित हो जा! तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[1] अथर्ववेद मे स्पष्ट संकेत किया गया है कि आर्य जनता (विशः) राजा का वरण करती है।[2] इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि राजा का वरण करना समिति का मुख्य और महत्वपूर्ण कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य को निभाने के कारण समिति गरिमापूर्ण संस्था प्रतीत होती है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र मे निष्कासित राजा के पुनः पदारूढ़ होने की व्यवस्था का उल्लेख है।[3] अथर्ववेद मे भी इस प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रार्थना मिलती है।[4] इन संकेतो से प्रकट होता है कि समिति एक प्रभुता-सम्पन्न संस्था थी और यह निष्कासित राजा को पुनः पदारूढ़ करने का भी अधिकार रखती थी।

इस महत्वपूर्ण कार्य के अतिरिक्त समिति के कतिपय अन्य कार्य भी थे। राज्य की नीति का निर्धारण करना, प्रजा के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओ पर गम्भीर एवं विवेचनात्मक प्रणाली द्वारा विचार करना, उन्हे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, आदि समिति के अन्य प्रमुख कार्य थे।

इस प्रकार, उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर, यह स्पष्ट है कि वैदिक युग मे समिति एक महत्वपूर्व संस्था थी। आर्यों के राजनैतिक सामाजिक जीवन में इसका विशेप महत्व था तथा इस संस्था ने उनके सार्वजनिक जीवन के विकास मे उल्लेखनीय सहयोग दिया था। आश्चर्य की बात है कि परवर्ती संहिताओ और ब्राह्मणो मे समिति का कोई उल्लेख कही मिलता। परन्तु उपनिषद्-काल मे आते ही हम समिति की महत्ता को पुनः प्रतिष्ठित देखते है। इस समय समिति राज-संस्था थी जिसमे राजनीतिक विपयो के अतिरिक्त दार्शनिक एवं धार्मिक वाद-विवाद भी होते थे। उपनिपदो में अनेक स्थलो पर समिति मे राजा की अध्यक्षता मे होने वाले वाद-विवादो का उल्लेख है। परन्तु उपनिपद-काल के पश्चात समिति पूर्णरूप से तिरोहित हो जाती है। कही पर भी उसका नाम सुनाई नही देता।

विदथ

विदथ की प्राचीनता—विदथ एक विशेष प्रकार की संस्था थी जो सभा और समिति से भिन्न थी। उसका स्वरूप विद्या एवं ज्ञान सम्बन्धी था। विदथ की प्राचीनता के विषय मे संदेह नही किया जा सकता क्योकि ऋग्वेद मे विदथ का उल्लेख अनेक प्रसंगो मे मिलता है। ऋग्वेद के उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि विदथ भी सभा और समिति के समान ही वैदिक आर्यों की एक पुरातन विशेप सार्वजनिक संस्था थी जो विद्या, ज्ञान और यज्ञो से विशेष सम्बन्ध रखती थी।

विदथ के विषय में मतवैभिन्य—विदथ के विषय में विद्वानो के विविध मत है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के साठवें सूक्त के प्रथम मंत्र के आधार पर विदथ के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए जिमर महोदय का विचार है कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी तथा उसका

---

१. ऋग्वेद १।१७।१।१०। २. अथर्ववेद १।८७।६। २।४।३।
३. अथर्ववेद ५।७।१।७। ४. अथर्ववेद ३,४,५।३।३।

अपना स्वतंत्र अस्तित्व नही था ।[1] राथ महोदय के मतानुसार विदथ मूल संस्था थी । उसी से समिति, सभा और सेना की उत्पत्ति हुई थी । ह्विटनी ने अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के तेरहवें सूक्त के चौथे मंत्र के आधार पर विदथ को एक प्रकार की परिषद बतलाया है ।[2] कुछ विद्वानो का मत है कि विदथ का विशेष सम्बन्ध सेना से था और तदनुसार विदथ सैनिक कार्यों का सम्पादन करने वाली वैदिक संस्था थी ।

उपरोक्त मतवैभिन्य के कारण विदथ के स्वरूप का प्रश्न पेचीदा हो गया है । वैदिक संहिताओ के उल्लेखो से जो संकेत प्राप्त होते हैं उनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि विदथ एक स्वतन्त्र संस्था थी । वह समिति, सभा आदि की पुत्री अथवा जननी नही थी । विदथ शब्द की उपलब्धि विद् धातु से होती है, जिसका अर्थ सत्य की खोज करना है । विदथ ऐसी संस्था थी जिसमे सत्य की खोज की जाती थी । इस दृष्टि से विदथ को विद्वत्परिषद मानना न्याययुक्त होगा । डा० अल्तेकर ने विदथ को विद्वत्परिषद माना है । ऋग्वेद के एक उल्लेख मे विदथ को क्रान्तदर्शियो की संस्था बतलाया गया है ।[3] ऋग्वेद के एक अन्य उल्लेख मे बतलाया गया है कि विदथ मे विद्वान् ब्राह्मण एकत्र होते थे[4] तथा अग्नि की ज्वाला विदथ की पताका बतलायी गयी है ।[5] इन संकेतो से स्पष्ट है कि विदथ विद्वत्परिषद थी जिसमें महत्वपूर्ण विषयो पर विद्वत्तापूर्ण चिन्तन किया जाता था और तदनुसार निर्णय दिया जाता था । इसका विशेष सम्बन्ध वैदिक यज्ञो से भी था ।

विदथ की सदस्यता—विदथ एक विशिष्ट वैदिक संस्था थी जिसमे विद्वान् ब्राह्मण सदस्य होते थे और वह ब्रह्मज्ञान की खोज एवं उसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन समझी जाती थी । इसलिए विदथ की सदस्यता का अधिकार विद्वान् ब्राह्मणो को ही विशेष रूप मे प्राप्त था । सामान्य जन को इसकी सदस्यता प्राप्त न थी । विदथ के सार्वजनिक उत्सवो मे सार्वजनिक जनता भी उपस्थित हो सकती थी । परन्तु उसकी गणना सदस्यो के साथ नही की जाती थी । विदथ की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी उसकी सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे । ऋग्वेद के एक मंत्र मे कहा गया है कि विदथ की सदस्यता सोम की उपासना का प्रसाद है । यह पद उसे सोम की कृपा से प्राप्त हो सकता है ।[6] इससे यह ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता की प्राप्ति हेतु सोम की विभूतियो का धारण करना आवश्यक था ।

ऋग्वेद के एक मंत्र मे विदथ का सम्बन्ध धीमान् विप्रों से बतलाया गया है ।[7] विदथ का सदस्य बनने के लिए सर्व प्रथम योग्यता बुद्धि एवं विद्या का धारण करना बतलाया गया है ।[8] ऋग्वेद के एक मंत्र में अश्विनीकुमारो को यज्ञ मे बुलाने के लिए प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में उसी प्रकार पधारने की कृपा करें जिस प्रकार देवस्तुति में कुशल दो ब्राह्मण विदथ मे पधारते हैं ।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि विदथ की सदस्यता हेतु विद्वत्ता एवं ब्रह्मबल धारण करना आवश्यक समझा जाता था । यजुर्वेद के एक मंत्र मे स्पष्ट बतलाया गया है कि वैदिक कर्मकाण्ड मे निपुण, धैर्यवान

---

१. 'वैदिक इण्डैक्स' पृ० १९९—मैकडानल तथा कीथ ।
२. अथर्ववेद, ह्विटनी संस्करण ।
३. २।१।३ ऋग्वेद ।
४. ३।९३।७ ऋग्वेद ।
५. १।६०।१ ऋग्वेद ।
६. ऋग्वेद २०।९१।१
७. ऋग्वेद ३।९३।७
८. ऋग्वेद १३।३९।२
९. ऋग्वेद १।३९।२

मनीपीगण विदथ मे आसन ग्रहण करते थे।[1] इससे स्पष्ट होता है कि विदथ की सदस्यता के लिए वैदिक कर्मकाण्ड मे प्रवीण मननशील, चिन्तक एवं धैर्यवान् ब्राह्मण होना आवश्यक था। ऋग्वेद के एक प्रसंग मे विदथ को कवियो की संस्था कहा गया है।[2] ऋग्वेद के एक उल्लेख में, विदथ मे आसन ग्रहण करने का अधिकारी वह पुरुप बतलाया गया है जो विदथ के सम्मेलनो मे स्पष्ट, ओजपूर्ण, निर्भीक तथा सारयुक्त वचन बोलने मे अभ्यस्त हो।[3] ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र मे विदथ की सदस्यता हेतु यथार्थ वक्ता होना आवश्यक योग्यता निर्धारित की गई है।[4]

विदथ का संगठन और कार्य—वैदिक साहित्य मे कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विदथ का कार्य संचालन एक अध्यक्ष के अधीन होता था। विदथ का यह अध्यक्ष उसकी बैठको एवं विशेष सम्मेलनो मे विदथ के सदस्यो को अनुशासन मे रखता था। उसके नियंत्रण में रहते हुए विदथ के सदस्य विवाद-ग्रस्त विपयो पर विचार करते थे और तदनुसार अपने मत व्यक्त करते थे। विदथ का अध्यक्ष प्रधान पुरोहित होता होगा जिसे वैदिक साहित्य मे ब्राह्मणस्पति की उपाधि दी गई है। अथर्ववेद के एक मंत्र मे पुरोहित को ब्राह्मणस्पति की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[5] ब्राह्मणस्पति को, ऋग्वेद मे, विदथ का संचालक एवं नियन्ता बतलाया गया है।[6]

वैदिक संहिताओ के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि विदथ का सर्वोपरि कार्य वैदिक यज्ञो का आयोजन करना एवं उनका विधिवत् अनुष्ठान करना था। यज्ञो के अनुष्ठान सम्बन्धी सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक कृत्यो के विषय मे विद्वानो मे जो-जो भिन्न मत होते थे उनका हेतुयुक्त समाधान कर, उन्हे एकरूपता देना इस संस्था का दूसरा कर्तव्य था। इस प्रकार विदथ का सर्वोपरि कर्तव्य वैदिक यज्ञो के अनुष्ठान मे जो गुत्थियाँ अथवा अडचने समय-समय पर आती रहती थी उनका हेतुपूर्ण समाधान तथा शमन करना रहता था। विदथ का मुख्य कर्तव्य सत्य की खोज करना और उसके साधनो को जुटाना भी था। वैदिक युग मे सत्य को ही धर्म माना गया है। इसलिए लोक धर्म का पथ प्रदर्शन करना इस संस्था का विशेष कर्तव्य था। इस प्रकार वैदिक जीवन के अनुसार लोक के परम एवं चरम ध्येय की उपलब्धि के लिए सुपथ प्रशस्त करने की योजना को प्रस्तुत करना तथा सत्य की खोज करना विदथ का उद्देश्य था। इसलिए विदथ लोक मे जीवन के उन तत्वो की खोज में निरन्तर संलग्न रहती थी जो सत्य एवं चिरन्तन है और जिनकी उपलब्धि मनुष्य को अमरत्व पद की प्राप्ति कराती है। "इस प्रकार विदथ वैदिक आर्यों की वह संस्था थी जिसमे ब्रह्म, जीव, आत्मा प्राण, मन, प्रकृति आदि से सम्बन्धित जटिल एवं रहस्यपूर्ण समस्याओ का समाधान किया जाता था। विदथ मे इन विषयो पर प्रवचन, वाद-विवाद परस्पर विचार विनिमय आदि का आयोजन किया जाता था। वाद-विवाद कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर लेते थे। इसीलिए उग्र वाद-विवाद के नियंत्रण हेतु वेदो मे यत्र-तत्र प्रार्थनाएँ की गयी हैं। साथ ही इस विषय की भी प्रार्थना की गयी है कि विदथ मे प्रशस्त वाणी का ही प्रयोग होना चाहिए। यह सम्पूर्ण प्रामाणिक सामग्री विदथ को विद्वत्सभा अथवा विद्वत्परिषद से, जिसका विशेष सम्बन्ध यज्ञ और सत्य की खोज से था, निर्धारित

---

१. यजुर्वेद ३।३४
२. ऋग्वेद २।१।३
३. ऋग्वेद १३।२।२
४. ऋग्वेद १।१६७।१
५. अथर्ववेद १।६३।१९
६. ऋग्वेद १६।२३।२

करने की पोषक है और इस आधार पर विदथ के लगभग वही कार्य थे जो कि वैदिक युग मे विद्वत्परिषद के कार्य हो सकते थे। वैदिक युग के उपरान्त विदथ नाम की यह संस्था लुप्त हो गयी और इसका स्थान विद्वत्समिति अथवा विद्वत्परिषद ने ग्रहण कर लिया।"[1]

विवेचना—डॉ० आर० एस० शर्मा ने यह स्पष्ट और निश्चित मत प्रकट किया है कि विदथ सभा और समिति की तुलना मे अधिक प्राचीन थी। इस मत के समर्थन मे विद्वान् लेखक ने ये तर्क दिये हैं—प्रथम, सभा और समिति के कार्यों मे अन्तर है, जो कि विदथ के कार्यों के विषय मे स्वीकार नही किया जाता; दूसरा, इसके मननात्मक स्थानो में स्त्रियो द्वारा भाग लिया जाना इसे अन्य वैदिक संस्थाओ से प्राचीन सिद्ध करता है। तीसरा, विदथ मे किसी भी प्रकार के निश्चित और स्पष्ट वर्ग-भेद का अभाव भी इसकी प्राचीनता का प्रमाण है। चौथा, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी विदथ के समानान्तर शब्द गौथिक भाषा मे मिलते हैं। इसकी रचना की विशेषता, जिसने इसे सभा व समिति से भिन्न रखा, यह थी कि इसके कार्यों मे स्त्रियाँ बहुधा भाग लेती थी। यह एक प्रकार की जनतन्त्रात्मक सभा थी जिसमे जन के सभी वयस्क स्त्री और पुरुष समान आवाज के साथ भाग लेते थे।[2]

ओल्डेनबर्ग के अनुसार विदथ का एक अर्थ है 'किसी भी प्रकार का कार्य करना।' ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर उसके सैनिक स्वरूप का उल्लेख मिलता है, उनमे से कुछ यह दिखाते है कि विदथ मे वाद-विवाद के विषयो मे से एक महत्त्वपूर्ण विषय वीर पुरुषो के वीरतापूर्ण कार्य थे। अनेक उद्धरणो से यह भी पता लगता है कि विदथ सैनिक कार्यों का संचालन किसी युद्ध-सरदार के अधीन करती थी। संख्या की दृष्टि मे सैनिक स्वरूप के बाद इसके धार्मिक स्वरूप का उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य को इसका धार्मिक पक्ष इतना अधिक महत्त्वपूर्ण लगा कि उन्होने इसका अर्थ ही यज्ञ बताया है। परन्तु विदथ और यज्ञ एक-दूसरे के रूपान्तर नही हैं। निस्सन्देह यह संस्था सम्पूर्ण जन के लिये देवताओ की पूजा का स्थान भी प्रतीत होती है। अनेक संकेतो से यह भी स्पष्ट होता है कि विदथ मे गायन, मदिरा पान, द्यूत, क्रीड़ा तथा मनोरंजन का आयोजन होता था।

परिषद्

परिषद् का उल्लेख वैदिक साहित्य मे मिलता है। इसके प्रजातान्त्रिक स्वरूप के बारे मे न कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता, किन्तु शतपथ ब्राह्मण से बहुधा उद्धृत वर्णन और बाद के साहित्य मे पांचालो की परिषद् से सम्बन्धित वर्णन यह दिखाते हैं कि परिषद् जन की कुल-सभा होती थी,

---

१. 'वेदकालीन राज व्यवस्था' पृ० १५८-डा० श्याम लाल पाण्डेय।

२. As regards its composition the one characteristic feature, which distinguished the Vidatha from the Sabha and Samiti, is the frequent association of women with it. In the Rig Veda there is only one reference indicating the connection of woman with the Sabha. She is described as being worthy of going to the Sabha There is nothing to show that she was connected with the Samiti. आस्पैक्ट्स आफ पॉलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया', आर० एस० शर्मा।

जिसका अध्यक्ष राजा होता था। पुराणो और महाकाव्यों में किये गये उल्लेखों से इसके प्रजातान्त्रिक स्वरूप के अतिरिक्त सैनिक स्वरूप का भी पता लगता है।

'परितः सीदन्ति इति परिषद्' से परिषद् का अर्थ बैठना अथवा चारों ओर बैठना तथा वे जो सभा में बोलते है निकलता है। 'परिषद्' शब्द ऋग्वेद मे मिलता है। उत्तर-वैदिक काल मे परिषद् शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे हुआ। राजकीय सभा के रूप मे इसके राजनीतिक कार्यों का सम्बन्ध केवल न्यायिक मामलो मे रहा। परम्परागत चलन के अनुसार परिषद् का अर्थ ऐसे विद्वानो की सभा से था जो कानूनी बातो और देश की प्रथाओ पर निर्णय देते थे। पाणिनि ने परिषद् शब्द का तीन अर्थों मे प्रयोग किया है—पहला, विशुद्धतः विद्वानो (अथवा विशेषज्ञो) की सभा जैसे चरण-परिषद् दूसरा, सामाजिक-सांस्कृतिक ढंग की साधारण सभा; और तीसरा राजा की परिषद् अर्थात मन्त्रि-परिषद् जिसकी सहायता से राजा शासन करता है। कौटिल्य ने भी परिषद् शब्द का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् के सम्बन्ध में किया है। लॉ ने लिखा है कि स्मृतियों तथा बाद के संस्कृत साहित्य मे परिषद् शब्द का बहुधा न्यायिक-सभा के अर्थ मे प्रयोग हुआ है। महाकाव्यो मे इसे कभी-कभी सभा के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया है।

प्राचीनतम परिषद् का आकार काफी बड़ा होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और रामायण मे बड़ी (१००० सदस्यो वाली) परिषद् की परम्परा थी। ऐसा लगता है कि प्राचीन परिषद् प्रजा की सैनिक सभा थी। परन्तु बाद में वैदिक काल के अन्त से पूर्व परिषद् राजा की सभा के रूप मे कार्य करने लगी और इसके सदस्यो का राजा पर भारी प्रभाव था। पाणिनि ने राजा को परिषद्-बल कहा है।

स्मृतियो में वर्णित परिषद् एक ऐसी संस्था थी जिसके सदस्य शिक्षण और बौद्धिक वाद-विवाद मे लगे रहते थे,। कालान्तर मे इसका आकार छोटा होता चला गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे वर्णित मन्त्रि-परिषद् प्राचीन काल की परिषद् से भिन्न थी, जिसका कोई संवैधानिक अथवा राजनीतिक महत्त्व प्रतीत नही होता।

पौर-जानपद

साधारणतया 'पौर' से पुर के निवासियों और 'जानपद' से जनपद के निवासियो की ओर संकेत किया जाता था। परन्तु इन शब्दो पर बड़े विस्तार के साथ विचार करने यह परिणाम निकलता है, कि पौर और जानपद दो सभाओं की संज्ञा थी, जो राजा को पदच्युत कर सकती थी; उसके स्थान पर नया राजा नियुक्त करती थी।[1] इससे, यह अर्थ निकलता है कि प्राचीन भारत में पौर-जानपद राज्यशासन के सम्बन्ध में प्रायः वही स्थिति रखती थी जो कि संसद प्रणाली वाले राज्यों में आजकल पार्लियामेंट को प्राप्त है। अतः पौर-जानपद का अभिप्राय केवल पुर और जनपद के निवासियो से ही नही है, अपितु सुनिश्चित शासन-संस्थाएँ व सभाएँ थी।

रामायण के अनुसार जब कोशल जनपद के राजा दशरथ ने भारत के पुराने राजाओ की परम्परा का अनुसरण कर राम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहा, तो उन्होने एक परिषद् बुलाई, जिसमें 'पौर-जानपद जन' भी सम्मिलित हुए। राजा को वरण करने वाली इस परिषद् में

---

१. 'हिन्दू पालिटी'—डा० के० पी० जायसवाल।

ब्राह्मण, बलमुख्य और 'पौर-जानपद' उपस्थित थे। परिषद् में दशरथ के प्रस्ताव का उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया, और पौर-जानपदो सहित परिषद् के सदस्यो ने दशरथ के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रसंग मे रामायण के एक श्लोक में कहा गया है—'पौर-जानपद और नैगम करबद्ध हो राम के राज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"[1] इस विवरण से यह सूचित होता है कि दशरथ की जिस परिषद् मे राम को राजा के पद पर वरण करने का निश्चय हुआ था, उसमें पौर और जानपद सभाओ के सदस्य भी उपस्थित थे।

महाभारत के शान्तिपर्व के एक उल्लेख के अनुसार आपत्ति की आशंका से जब राजा कोष में धन संचित करना चाहे, तो उसे चाहिए कि वह संश्रित (अधिवेशन मे एकत्र) और उपाश्रित (जो विश्राम कर रहे हो) सब प्रकार के पौर-जानपदो, चाहे वे धनी न भी हो, के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करे।[2] महाभारत के इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि राजा पौर-जानपद के सम्मुख धन की मांग प्रस्तुत करता है 'अर्थशास्त्र' में अनेक स्थानो पर पौर-जानपद का उल्लेख आया है। राजा अपने कोष को किस प्रकार से पूर्ण करे, इसका विवेचन करते हुए कौटिल्य ने पहले विशेष परिस्थितियों मे विशेष करो का उल्लेख किया है। फिर यह लिखकर कि ऐसी मांगें केवल एक बार ही करनी चाहियें, बार-बार नही, यह लिखा है—"समाहर्ता कार्य (प्रयोजन) का निर्देश करके पौर-जानपद से भिक्षा ले (भिक्षा के रूप में मांग पेश करे)।"[3] इससे यह पता चलता है, कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भारत मे जो बहुत-से जनपद थे, उनमें पौर-जानपद नाम की शासन-संस्था अवस्थित थी। स्मृतियो और सूत्र-ग्रन्थों मे भी ऐसे निर्देश विद्यमान है, जिनसे पौर-जानपद सस्थाओ की सत्ता सूचित होती है। याज्ञवल्क्य स्मृति में जानपदगण का उल्लेख है, और उन द्वारा की गई संविदा का उल्लंघन न करने का आदेश राजा को दिया गया है।[4] बृहस्पति के अनुसार पौरो के कतिपय शान्ति सम्बन्धी और पौष्टिक कार्य भी होते हैं। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र (जो पौर सभा का सदस्य हो) के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए, चाहे उसकी आयु ८० वर्ष से कम की भी क्यो न हो।[5] वाशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार राजा को मन्त्रियो और नागरों (पौरो) के साथ अपने कार्यों का सम्पादन करना चाहिए।[6]

यद्यपि स्मृति और सूत्र-ग्रंथो मे स्पष्ट शब्दों में पौर-जानपद का उल्लेख नही है, पर उनमें

---

१. "उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौर-जानपदश्चापि नैगमश्च कृतांजलिः॥"—बाल्मीकि रामायण २।१४।५४।

२. "आपदर्थं च निचयान् राजानो हि विचिन्वते।
पौरजानपदान्सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथा शक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनान्यपि॥ महा० शान्ति० ७८।२३-२४।

३. "तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्च पौरजानपदान् भिक्षेत॥ कौ० अर्थ० ५।२।

४. 'ग्राम पौरगण श्रेण्यश्चातुर्विद्यश्च वर्गिणः।'—याज्ञवल्क्य स्मृति।

५. 'तथान्यः पूर्वं पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन।'—गौतम स्मृति।

६. 'ततोऽन्यथा राजा मन्त्रिभिः सह नागरैश्च कार्याणि कुर्यात्'। वशिष्ठ १६।२०।

जिस सुसंगठित संस्था का निर्देश है, वह पौर-जानपद को ही सूचित करती है।

अशोक के शिलालेखो में भी जानपद व नागरक (पौर) संस्थाओ की सत्ता का प्रमाण मिलता है। उसने अपने राजुक नामक कर्मचारियो को यह आदेश दिया था, कि वे जानपद के प्रति अनुकूल और सन्तोषजनक हो और उनके प्रति अनुग्रह करें।[1] प्राचीन भारत के साहित्यिक उल्लेखों तथा पुरातात्विक सामग्री से प्राप्त संकेतो में पौर-जानपद का जो उल्लेख स्थान-स्थान पर आया है उनके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ये शब्द सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित सभाओ को सूचित करते हैं, जिनमें कि क्रमशः राजधानी (पुर) और जनपद के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित हुआ करते थे।

प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था

उद्देश्य

प्राचीन भारत मे न्याय व्यवस्था और प्रशासन के दो प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होते हैं—पहला सत्य का ज्ञान प्राप्त करना, तथा दूसरा, न्याय से सम्बद्ध वादो में नियमो का पालन करना और कराना। मनु तथा नारद ने राजा की तुलना शल्य चिकित्सक से करते हुए कहा है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अंगच्छेद भी करता है। न्यायालय नियुक्त और अनियुक्त, विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियो, चरो आदि से सत्य प्राप्ति करके ही विधि का कार्यान्विन करता था। इस प्रकार सत्य का ज्ञान प्राप्त करना न्याय का प्रमुख उद्देश्य था। राजा विधि निर्माण के स्थान पर न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था। न्यायाधीशो पर भी विधि के अतिरिक्त और कोई दबाव नही था। कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र अलग थे—यद्यपि दोनो का प्रधान एक था। न्यायिक प्रशासन में समाज स्वीकृत नियमो का विशेष प्रभाव था और न्यायिक प्रशासन सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करता था।

न्याय व्यवस्था

प्राचीन काल से ही भारत मे न्याय की प्रधानता रही है। समाज में काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि जो मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं उनके वशीभूत होकर अपने धर्म का उल्लंघन कर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाते हैं। जिससे समाज मे कलह तथा द्वेष-भावना की वृद्धि होती है। उसी कलह को रोकने के लिए प्राचीन काल में न्याय व्यवस्था का विधान किया गया था। महाभारत में ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि अपने राज्य में न्याय की उचित व्यवस्था न करने पर राजा नरक का अधिकारी होता है (व्यवहार लोके कुतः स्वर्गः कुतो यशः)[2]। राजा के समस्त कर्तव्यो मे से दुष्ट निग्रह भी एक प्रधान कर्तव्य है[3]। इसी के फलस्वरूप न्याय व्यवस्था की स्थापना हुई। जिसके अन्तर्गत न्यायालय स्थापित किये गये।

न्यायालयों का संगठन—वैदिक युग मे न्याय का कार्य 'सभा' के अधीन था। इसीलिए वेदो में सभा को 'किल्विषस्पृत्' (पापो या अपराधो के लिए दण्ड देने वाली) कहा गया है,[4] और सभा-

---

१. अशोक स्तम्भ लेख ५।

२. महाभारत—शान्ति पर्व ७६।३२; ३. शुक्रनीति १।१२३;

४. 'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्विषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामकं हितो भवति वाजिनाय॥' ऋग्वेद १०।७१।१०

चर को धर्म के लिए बलि देने की व्यवस्था की गई है।[1] प्राचीन नीतिग्रंथो और स्मृतियों के अनुशीलन से न्याय-विभाग के संगठन के सम्बन्ध मे अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

सूत्र-ग्रंथो मे एक दशावरा परिषद् का उल्लेख है, जिसके दस सदस्यो मे चार वेदों के ज्ञाता, एक मीमांसक, एक वेदाङ्गों का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्रो का पण्डित और तीन अन्य व्यक्ति होते थे।[2] यह परिषद् सम्भवतः धर्म या विधि के अभिप्राय को स्पष्ट करने का ही कार्य करती थी।

स्मृतियो के युग मे भी न्यायकार्य के लिए सभा की सत्ता थी। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा को ऐसे सभासद् नियत करने चाहिए, जो धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुश्रुत, अध्ययनशील और मित्र व शत्रु मे समदृष्टि रखने वाले हों। क्योकि कार्यवश राजा स्वयं व्यवहारो (कानूनों) का अवलोकन नही कर सकता, अतः वह एक ऐसे ब्राह्मण को अन्य सभ्यो के साथ इस कार्य के लिए नियुक्त करे, जो कि सब धर्मों (कानूनो) का वेत्ता हो[3]। मनुस्मृति मे भी प्रायः इन्ही शब्दो द्वारा न्याय-कार्य के लिए तीन अन्य सभ्यो के साथ एक ब्राह्मण की नियुक्ति प्रतिपादित की गई है।[4]

शुक्रनीतिसार में न्याय-विभाग के संगठन का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार लोक-व्यवहार और धर्म के ज्ञाता तथा वेद के विद्वान, तीन पाँच या सात विप्र जहाँ उपस्थित हो, वह सभा यज्ञ के सदृश होती है।[5] सभा के ये सभासद् व्यवहार के ज्ञाता, प्राज्ञ, शीलसम्पन्न, शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखने वाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, आलस्य से रहित, क्रोध, काम और लोभ पर विजय प्राप्त किये हुए और प्रियंवद होने चाहियें। इनकी नियुक्ति सब जातियों के व्यक्तियों में से की जानी चाहिये।[6]

न्यायालयो के संगठन के सम्बन्ध मे सबसे अधिक स्पष्ट व प्रामाणिक परिचय हमें कौटिलीय अर्थशास्त्र मे मिलता है। अर्थशास्त्र के अनुसार न्यायालय दो प्रकार के होते थे, धर्मस्थीय और कण्टकशोधन।

धर्मस्थीय न्यायालय—धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश को 'धर्मस्थ' कहते थे।[7] इसमे अग्रलिखित प्रकार के वाद विचारार्थ प्रस्तुत किये जाते थे—(१) व्यवहारस्थापना-व्यक्तियो या व्यक्तियो के समूहों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी मामले। (२) समयस्यानपाकर्म—आपस मे जो समझौते किये गए हों, उनके उल्लंघन के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामले। (३) स्वाम्यधिकार—स्वामी के अधिकार तथा कर्तव्य सम्बन्धी विवाद। (४) भृतकाधिकारः—भृतकों के अधिकार तथा कर्तव्य सम्बन्धी मामले। (५) दासकल्पः—दासो के मामले। (६) ऋणादानम्—ऋणसम्बन्धी विवाद।

---

१. यजुर्वेद ३०।६ २. बोधायन १।१।१।८

३. "श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥
अपश्यता कार्यवशाद् व्यवहारान् नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित्॥' याज्ञवल्क्य स्मृति २।२-३

४. मनुस्मृति ८।६-११

५. लोक वेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥" शुक्र० ४।५।२६

६. शुक्रनीतिसार ४।५।१६-१७ ७. कौटिलीय अर्थशास्त्र—३।१-२०; ४।१-१३

(७) औपनिधिकम्—धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न हुए विवाद। (८) विक्रीतक्रीतानुशयः—क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले। (९) दत्तस्यानपाकर्म—दिये हुए धन को लौटाने या प्रतिज्ञात धन को न देने के मामले। (१०) साहसम्—डाके या चोरी के मुकदमे। (११) दण्ड-पारुष्यम्—हमला करने के मामले। (१२) वाक्यपारुष्यम्—गाली, कुवचन या मानहानि के मुकदमे। (१३) द्यूतसमाह्वयम्—जुए सम्बन्धी झगड़े। (१४) अस्वामिविक्रयः—मल्कियत के विना ही किसी सम्पत्ति को बेच देने के कारण उत्पन्न विवाद। (१५) स्वस्वामिसम्बन्धः—मल्कियत सम्बन्धी झगड़े। (१६) सीमा विवाद—स्थावर सम्पत्ति के सीमासम्बन्धी विवाद। (१७) वास्तुकम्—इमारतो के साथ सम्बन्ध रखने वाले झगड़े। (१८) विवाहसंयुक्तं—विवाह सम्बन्धी विवाद। (१९) स्त्रीधनकल्पः—स्त्रीधन सम्बन्धी मुकदमे। (२०) विवाह धर्मः—पतिपत्नी सम्बन्धी विवाद। (२१) दायविभागः—सम्पत्ति के बँटवारे और उत्तराधिकार विषयक विवाद। (२२) विवीतक्षेत्रपथहिंसा—चरागाहों, खेतो और मार्गों को नुकसान पहुँचाने के साथ सम्बन्ध रखने वाले मुकदमे। (२३) सम्भूयसमुत्थानम्—सहयोग और सम्मिलित पूँजी से कारोवार से सम्बन्ध रखने वाले विवाद। (२४) वाधावाधिकम्—विविध रुकावटें पैदा करने के मामले। (२५) विवादपदनिवन्धः—न्यायालय में स्वीकृत कार्यविधि और निर्णय-विधि सम्बन्धी विवाद। (२६) प्रकीर्णानि—विविध।

कण्टकशोधन न्यायालय—इस न्यायालय के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। इसमें जिन मामलों पर विचार किया जाता था वे इस प्रकार थे—(१) कारुकरक्षणम्—शिल्पियो और कारीगरों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा। (२) वैदेहकरक्षणम्—व्यापारियों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा। (३) उपनिपातप्रतीकारः—राष्ट्रीय और सार्वजनिक विपत्तियो के निराकरण के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामले। (४) गूढ़ाजीविनां रक्षा—गूढ़ उपायो से आजीविका चलाने वालों का दमन। (५) सिद्धव्यञ्जनैमणिवप्रकाशनम्—अपने गुप्तचरो द्वारा अपराधियो की गिरफ्तारी। (६) शाङ्कारूपकर्माभिग्रहः—सन्देह होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफतारी। (७) आशुमृतकपरीक्षा—मृत देह की परीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण का पता करना। (८) वाक्यकर्मानुयोगः—अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नो तथा कर्मों (शारीरिक कष्ट आदि) का प्रयोग। (९) सर्वाधिकरणरक्षरम्—सरकार के सव विभागो की रक्षा और उनमें नियन्त्रण की स्थापना। (१०) एकांगवधनिष्क्रयः—किसी अंग को काट देने की सजा देना या उसके बदले मे अर्थदण्ड वसूल करने की व्यवस्था करना। (११) शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः—शारीरिक कष्ट के साथ या उसके विना मृत्युदण्ड देने का निर्णय। (१२) कन्यापकर्म—कन्याओ पर बलात्कार के मुकदमे। (१३) अतिचारदण्डः—विविध प्रकार की मर्यादाओं के अतिक्रमण करने पर मुकदमे तथा दण्ड की व्यवस्था।

न्यायालय में उपस्थिति—न्यायालय में न्याय वड़ी ही सावधानी से दिया जाता था। जिस व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमा न्यायालय में आया हो उस व्यक्ति को राजा या न्यायाधीश पत्र पर अपने हस्ताक्षर कर, दूत (पुरुष) के द्वारा उसे भिजवा कर उस व्यक्ति को वुला सकता था।[1]

---

१. "यस्याभियोगं कुरुते तत्वेनामंकयाथवा।
तमेवाह्वानयेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा॥"—शुक्रनीति ४।६।१६।

वादी तथा प्रतिवादी दोनों ओर के व्यक्तियो को न्यायालय में उपस्थित होने का अधिकार था। कुछ मुकदमे ऐसे भी होते थे जिनमें उनका उपस्थित रहना आवश्यक न था। राजा की धर्म-सभा में कुलीन स्त्रियाँ, प्रसूतिका, ब्राह्मण-कन्या, असमर्थ तथा छोटे बालको को प्रवेश करने का अधिकार न था। रोग से पीड़ित, वृद्ध, धर्म के काम मे लगे हुए व्यक्तियों को भी राजा धर्मसभा मे न बुलाता था, यद्यपि वह सम्मन द्वारा उन्हे बुलवा सकता था। इसके अतिरिक्त शस्त्रधारी युद्ध मे जाते हुए सैनिक, विवाह के लिये चले हुए युवक, कृषि कार्य मे लगे हुए किसान के लिये भी न्यायालय मे उपस्थित रहना आवश्यक न था। जिस व्यक्ति के शरीर, मन अथवा मस्तिष्क में कोई विकार होता था वह भी न्यायालय में नही आता था। कुलीन (ब्राह्मण) व्यक्तियो को यदि न्या-यालय मे आना पड़ता था तो उनकी कुलीनता का ध्यान रखा जाता था और उन्हे कुछ सुविधायें भी दी जाती थी।[1] स्त्रियो के प्रवेश मे हीनता समझी जाती थी। कुलीन व्यक्तियो के सम्मान का सदैव ध्यान रखा जाता था। किसी आवश्यक कार्य मे लगे व्यक्ति की हानि न होने पाये ऐसा भी ध्यान रखा जाता था। प्रमत्त, पागल, उन्मत्त, व्यक्तियो के आने से निर्णय मे बाधा पड़ती, इसी कारण उन्हे राजा कभी भी धर्मसभा मे न आने देता था। अतः राजा या न्यायाधीश देश, काल, बलाबल, कार्य तथा अकार्य पर पूर्णरूप से विचार कर निर्णय देता था।

अभियोग के विषय—प्राचीन काल में विवाद के विषयो की कोई निश्चित संख्या नही थी। अनेक प्रकार के दोष होते थे जिनमें दण्ड का विधान करना पड़ता था। शुक्रनीति में तीन स्थलो पर दोषो की सूची का उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर पचास[2] दूसरे स्थल पर दस[3] तथा तीसरे स्थल पर बाईस प्रकार के दोपो का वर्णन है।[4] किन्तु निश्चित रूप से दोषो के विषय मे कुछ भी नही कहा गया है। इन्ही सब प्रकार के दोषो के करने पर दण्ड दिया जाता था। इसके विपरीत मनु ने विवादो के विषय "अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्"[5] बताये हैं। ये अठारह प्रकार के दोष निम्नलिखित हैं—

१—ऋणदान, २—निक्षेप (धरोहर), ३—बिना स्वामी के वस्तु का बेच लेना, ४—साझे का व्यापार, ५—दिए हुए दान को पुनः वापस ले लेना, ६—वेतन का न देना, ७—प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण, ८—क्रय विक्रय का विवाद, ९—पशु, स्वामी और पशुपालक का विवाद १०—सीमा विवाद, ११—कठोर वाणी का प्रयोग, १२—मारपीट, १३—चोरी, १४—डाका, १५—स्त्री हरण, १६—स्त्री पुरुष धर्म की व्यवस्था, १७, दाय भाग, तथा १८ द्यूत।

न्यायालय के नियम—न्यायालय के नियम बड़े शिष्ट थे। न्यायाधीश या सभ्य वादी प्रतिवादी से उनके वैयक्तिक जीवन या व्यवहार के सम्बन्ध मे कुछ नही पूछ सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो उन्हें जुर्माना देना पड़ता। उनसे वे एकान्त मे भी कुछ बात नही कर सकते थे।[6] कौटिल्य ने धर्मस्थों

---

१. शुक्रनीति ४।६२१-६२७ २. शुक्रनीति ४।६०१ ३. शुक्र० ४।६०३
४. शुक्र० ४।६०७ ५. मनुस्मृति ३।८
६. अनिर्णीते तु यद्यर्थे सम्भाषते रहोऽर्थिना।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यः स्यात्सभ्याश्चैव विशेषतः॥
—कात्या० उद्धृत अपरार्क पृ० ६०४।

एवं प्रदेष्टाओं को उक्त अपराध में अर्थदण्ड के साथ शारीरिक दण्ड का भी विधान किया है। सभ्य निर्णय में विधान के प्रतिकूल, मित्रता, लोभादि किसी कारण से यदि निर्णय देते हैं तो उन्हें दुगुना दण्ड दिया जाता।[1] घूस लेकर निर्णय देने वाले सभ्यों को बृहस्पति ने उनकी सम्पत्ति छीन कर उन्हें देश-निकाले का विधान किया है। सभ्यों के अनुचित निर्णय से जो क्षति हो सकती हो उसकी पूर्ति का उत्तरदायित्व सभ्यों पर ही होता था।[2] सभ्य या लेखक की अन्यथा बुद्धि से निर्णय पर प्रभाव पड़ने पर उन्हें चोर का दण्ड दिया जाता था।[3] लोभ आदि कारणों से सभ्य यदि अनुचित निर्णय देते हैं तो उनपर जुर्माना करके उन्हें पदमुक्त कर देना आवश्यक था। यदि न्यायाधीश इस प्रकार का व्यवहार करते तो उन पर एक हजार पण का आर्थिक दण्ड किया जाता।[4] न्यायाधीश घूस लेकर निर्णय न करें इस पर कठोर नियन्त्रण था।[5] कौटिल्य ने प्रदेष्टा और धर्मस्थों पर दृष्टि रखने के लिए गुप्तचरों की विशेष व्यवस्था की और अपराध ज्ञात होने पर देश-निष्कासन का विधान किया।[6]

निर्णय में यदि सभी न्यायाधीश एकमत हैं, तो उसे प्रामाणिक (निःशल्य) निर्णय माना जाता और मतभेद होने पर सशल्य।[7] जैमिनी का उद्धरण देते हुये व्यवहारप्रकाश ने न्यायाधीशों में बहुमत से हुये निर्णय को भी प्रामाणिक माना है।[8] अपरार्क ने गौतम के वचन से निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि यदि न्यायाधीशों में मतभेद है तो राजा 'त्रैविद्य वृद्धों' अर्थात् तीन वेद के ज्ञाता वृद्धों से उचित निर्णय प्राप्त करने के लिए परामर्श करें और उनके मत के अनुसार निर्णय दें।[9] सभा में दर्शकों के लिये भी योग्यता निर्धारित थी।

विवेचना—इस प्रकार प्राचीन भारत में न्यायालय भली-भाँति व्यवस्थित थे, और न्याय करते हुये उनमें निश्चित कार्यविधि का अनुसरण किया जाता था। सुनिश्चित कानूनों और उनका उल्लंघन करने पर सुनिर्धारित दण्ड-व्यवस्था की सत्ता भी अर्थशास्त्र में सूचित होती है। मनुस्मृति के अनुसार न्यायालयों में प्रस्तुत होने वाले अभियोगों के अठारह वर्ग थे—ऋणदान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, सम्भूयसमुत्थानम्, दत्तस्यानपाकर्म, वेतन का न देना, संविदा का व्यतिक्रम, क्रय-विक्रयानुशय, स्वामी और भृत्य के विवाद, सीमा-विवाद, दण्डपारुष्यम्, स्तेय, साहसम्, स्त्री-संग्रहण, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, दायभाग, पारुष्यम् और द्यूत।[10] व्यवहार या वाद के ये अठारह पद या स्थान

---

१. याज्ञ० २।४; नारद० १।६७; कात्या० ७९-८०। २. कात्यायन० ८१।
३. शुक्र० ४।५।६३-६४। ४. शुक्र० ४।५।२८२।
५. बौधा० ध० सू० १।१०।३०-३१; मनु० ८।१८-१९; नारद० ३।१२-१३; दशकुमारचरित ८, पृ० १३१। ६. कौ० अर्थशास्त्र ४।४।
७. यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते।
स निःशल्यो विवादः स्यात् सशल्यः स्यादतोऽन्यथा ॥ नारद० ३।१७।
८. संख्यावैषम्ये तु भूयोऽविरोधे भूयसां स्यात्सधर्मत्वमिति न्यायेन विप्रतिपत्तावधिकसंख्या-वचनमादरणीयं गुणसाम्ये॥ व्य० प्र०, पृ० २७।
विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ॥ जै० सू० १२।२।२२।
९. विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यावहृत्य निष्ठा गमयेत् ॥ गौ० ११।२५ ॥
१०. मनुस्मृति ८।३-७

प्राय: अर्थशास्त्र मे भी दिये गये हैं, यद्यपि कौटिल्य की सूची अधिक विशद है। धर्मग्रंथो और स्मृतियो मे भी वे कानून व दण्ड प्रतिपादित हैं, जिनके अनुसार न्यायालयो को न्यायकार्य करना था।

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था के महत्व और मर्यादा का विवेचन महाभारत के शब्दों मे इस प्रकार है :—'जब राजा निग्रह और अनुग्रह के कार्य सम्यक् रीति से करता है, तभी राज्य मे मर्यादा की सुचारु रूप से स्थापना होती है।[1] राज्य को अशिष्टो का निग्रह करना है; और शिष्ट पुरुषों के प्रति अनुग्रह।[2]

प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड व्यवस्था

अपराध और उनका विकास

प्राचीन काल में दूसरों के हित को हानि पहुँचाना अथवा सामाजिक हित के विरोध में कार्य करना अनुचित समझा जाता था। क्योंकि प्राचीन समाज मे दैवी भावना प्रबल थी अतः उचित एवं अनुचित के परिणम को दैवी मानकर सदाचार से सम्बद्ध किया गया था। सदाचार की अवहेलना और उल्लंघन सामान्य तौर पर अपराध स्वीकार किया गया। ऋग्वेद मे 'ऋत्' या दैवी विधि की उपेक्षा करने को पाप कह कर उसे ईश्वर के प्रति भी 'अभिद्रोह' कहा गया है।[3] वशिष्ठ सूक्ता मे में 'ऋत' के विलोम को 'निऋति' कह कर उसे सभी पापो का मूल बताया गया है। इस अर्थ मे जो भी व्यक्ति प्रकृति के नियमो से परे हटेगा, वह कष्ट को प्राप्त होगा। वैदिक युग मे हमे अपराओ की कोई क्रमबद्ध सूची नही मिलती। उस समय के ऐसे वर्गो का संकेत मिलता है जिन्हे 'अनृत,' 'मृध्रवाच,' 'अश्रद्ध', 'अयज्ञ,' तथा 'अपव्रत' आदि कहा गया है। वे दस्यु और किरात भी कहे गये हैं।[4] वैदिक आर्यों ने इन वर्गों के आचार और व्यवहार को पाप तथा अपराध कहा।[5] बाद मे इन आचार व्यवहारो की गणना अपराधो में की जाने लगी। इस समय मे अपराधी तथा अपराध की स्पष्ट व्याख्या नही की गई। जल नष्ट करना, उसे गन्दा करना, अन्न नष्ट करना चोरी, द्यूत, द्यूत के लिये ऋण लेना, द्यूत एव ऋण मे प्राप्त स्त्री का शील हरण, पिता की आज्ञा का उल्लंघन आदि को पाप और अपराध माना जाता था।[6] चोरी के अपराधी को राजा के सामने प्रस्तुत किया जाता था और उस पर चोर के चिन्ह लगाने का भी उल्लेख मिलता है।

उत्तरवर्ती काल मे अपराध का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रो के युग मे व्यवहार विधि तथा दण्ड अपराध का भेद स्पष्ट होने लगा। स्मृति काल मे अपराध के स्वभाव और क्षेत्र पर वर्ण व्यवस्था का प्रभाव पड़ता प्रतिलक्षित होता है। अब अन्त्यज तथा शूद्र जातियो मे जन्म लेने

---

१. 'निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता॥' महा० वनपर्व १५२।५०

२. बुद्धया स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात्साधुष्वनुग्रहम्।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत॥' महा० वनपर्व १५२।४९

३. 'दैव्ये जनेभिद्रोहम्'। ऋग्वेद ७।

४. ऋग्वेद ७।६।३।

५. ऋग्वेद ७।६५।
,, १०।१०७।

६. ऋग्वेद ४।३८।५; ५।१५।५· १०।४।६; ६।१२।५; ७।८

का कारण पूर्व जन्म का पाप और अपराध माना गया। विष्णु ने अतिपातक, महापातक अनुपातक, उपपातक आदि के रूप में अपराधो की मात्रा का उल्लेख किया है। इस समय मे अपराधों के परिगणन पर सामाजिक प्रभाव स्पष्टतः व्यक्त होते हैं। इस समय के साहित्य मे जिस समाज का चित्र उभर कर सामने आता है, वह अपने को वाह्य सम्पर्कों से सुरक्षित रखने के प्रयत्न में संलग्न दिखायी देता है।

अपराध और दण्ड विधि

प्राचीन भारत के अपराध और दण्ड की विधि के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। आत्मरक्षा में वध का अपराध दण्ड के योग्य माना जाता था किन्तु वह हत्या के समान दण्डनीय नही था। सुविचारित तथा आवेश मे किये गये अपराधो में भी भेद था। वर्गों तथा कवीलों के अपने पारम्परिक नियम भी अपराधो के प्रकार को प्रभावित करते थे। कही कही एक कार्य जो अपने कवीले में अपराध था, वही दूसरे के प्रति गुण समझा जाता था। अपराधो में आयु और स्त्री-पुरुष के आधार पर भी भेद किया जाता था। उच्चवर्ण या कवीलो के प्रधानो द्वारा किये गये अपराध सामान्य समझे जाते थे जवकि निम्नवर्ण या कवीले के अन्य सदस्यो द्वारा किये गये वही अपराध गम्भीर रूप में ग्रहण किये जाते थे। व्यक्ति का स्तर अपराध के भेद और दण्ड विधि को प्रभावित करता था। हाँ, अपराध की पुनरावृत्ति गम्भीर मानी जाती थी। दण्ड विधि में ये सिद्धान्त सामान्य रूप से क्रियाशील होते थे।

वौद्ध क्रान्ति ने दण्ड और अपराध के विषय को वहुत प्रभावित किया। वौद्ध परम्परा मे अश्वघोष ने जातीयतत्वो पर आधारित अपराव और दण्ड व्यवस्था का घोर विरोध किया। इस सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य तथा कौटिल्य के विचार वौद्ध क्रान्ति के उपरान्त होने वाले पारिवर्तनो और परिणामो को अधिक स्पष्ट करते हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण किसी न किसी रूप में जातीय तत्व का पक्ष लेता हुआ प्रतीत होता है।[1]

इस प्रकार भारत की अपराध संहिता का वीजारोपण वैदिक काल मे ही हो चुका था। धर्म सूत्रों तथा उनके वाद के युग में यह क्रमशः स्पष्ट और विकसित होती गयी।

दण्ड की उत्पत्ति तथा स्वरूप

ऋग्वेद के अनुसार तप से 'ऋत' की उत्पत्ति हुई। मूल में 'ऋत' था और उसी का विकास सृष्टि है।[2] काश्यप ने इस युग को सतयुग माना है। मान्यता है कि इस काल मे 'अपराध' नही था अतः दण्ड की भी व्यवस्था नही थी। वाद मे रज और तम के विकास से मोह-लोभ, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, खेद आदि की उत्पत्ति हुई। इससे 'मात्स्य न्याय' आया और धर्म, सम्पत्ति तथा जीवन संकटग्रस्त हो गया। इसी कारण 'ब्रह्म तेजोमय' दण्ड की उत्पत्ति हुई।[3] शान्ति भंग होने पर उसकी

---

१. मनुस्मृति ८।३१२-१३, 'अर्थशास्त्र'—अध्याय ७५ 'मनु एण्ड याज्ञवल्क्य' —डा० काशीप्रसाद जायसवाल।

२. ऋग्वेद १०।१९०।१

३. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ मनुस्मृति १५।३०।

पुर्नस्थापना के लिये दण्ड उत्पन्न हुआ। सूत्र काल मे दण्ड के विभिन्न अंगों का विकास हुआ। गौतम के अनुसार दण्ड शब्द दम (दमयति) से बना है। वह निरोधक है। उस समय में यह मान्यता व्याप्त थी कि दण्ड दैवी है अतः वह स्वयं दैवी गुणो से सम्पन्न है और व्यक्ति को पवित्र करता है। इस रूप में दण्ड अपना निजी नैतिक मूल्य भी रखता है। महाभारत के अनुसार, दण्ड प्रजा पर उसकी रक्षा के लिये शासन करता है। विश्व सोता है, तो वह जागता है, अतः विद्वान उसे धर्म मानते हैं। दण्ड ही धर्म, अर्थ और काम की रक्षा करता है, अतः वह त्रिवर्ग है।[1] इस समय मे दण्डशक्ति में 'दम' पक्ष का विकास परिलक्षित होता है। दण्ड के 'दम' रूप को भगवान कृष्ण ने अपना रूप बताया। कौटिल्य ने भी मात्स्य-न्याय से परित्राण पाने तथा अराजकता का निवारण करने के लिये दण्ड को आवश्यक बाताया।[2] कामन्दक के अनुसार, लोक के साथ परलोक के लिये भी दण्ड आवश्यक है। दण्ड के प्रयोग से त्रिवर्ग की स्थापना और वृद्धि हो सकती है—"दण्ड प्रजापति के समान स्वयं प्रजा को भी धारण करता है।"

दण्ड के उद्देश्य

प्राचीन भारतीय दण्ड मान्यता के अनुसार दण्ड द्वारा किसी अधिकार का निर्माण नही होता, अपितु दण्ड के माध्यम से अधिकारो की वास्तविकता प्राप्त होती है कि उनकी रक्षा होती है तथा उन्हें व्यावहारिक रूप प्राप्त होता है। शक्ति से किसी के अधिकार की स्थापना नहीं हो सकती। शक्ति अपराधी को दण्ड ही नही देती, वरन वह ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमे दण्ड अपराध की स्थिति ही समाप्त हो जाये।

कौटिल्य ने दण्ड के उद्देश्य की चर्चा करते हुये यह मत व्यक्त किया, कि "दण्ड जीवमात्र की सुरक्षा के लिये है। उसका आधार है अनुशासन।"[3] दण्ड से सम्बन्धित दो संकेत हैं—बल और शक्ति। कौटिल्य ने इन्हें सेना तथा शक्ति बताया है। दण्ड का आधार शक्ति है, वह विधि की सर्वोपरिता का साधन है अतः राजा दण्ड का प्रयोग स्वेच्छा से नही, उद्देश्य से प्रेरित होकर करता है। वस्तुतः राज्य शक्ति के रूप मे दण्ड का प्रयोग राजधर्म के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है।

दण्ड के उद्देश्य सम्बन्धी उपरोक्त मान्यताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दण्ड का उद्देश्य दोषयुक्त प्रवृत्तियो को नियन्त्रण मे रखना है। दण्ड शिष्टों के संरक्षण तथा दुष्टो के उन्मूलन के लिये है। इसका मूल उद्देश्य सामाजिक कल्याण है।

दण्ड का उपयोग

गौतम ने न्यायाधीशो को सलाह दी है कि वे क्षमता, अपराध और अनुबन्ध के साथ इस बात पर भी ध्यान दें कि क्या अपराध की पुनरावृत्ति हो रही है है ?[4] वशिष्ठ के अनुसार देश, काल, कर्त्तव्य, अवस्था, स्वाध्याय तथा पद विवेचना के बाद ही दण्ड देना चाहिये।[5] मनु के अनुसार देश, काल, विद्या तथा क्षमता के आधार पर दण्ड का उपयोग किया जाना चाहिए।[6] कौटिल्य के अनुसार

१. महाभारत शान्तिपर्व-१५।२-५, ।२
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र १।४।१७-१९
३. कौटिलीय अर्थशास्त्र १।६।२-३।
४. गौतम १२।५१।
५. वशिष्ठ १९।९।
६. मनु ७।१६

अनुबन्ध, काल, देश, वातावरण, वैयक्तिक और सामाजिक क्षमता तथा अपराध की समीक्षा अवश्य करनी चाहिए। विष्णु तथा कौटिल्य ने एक स्वर से अपराध के अनुपात से दण्ड का उपयोग करने का परामर्श दिया है। इनके अनुसार अपराध के प्रति मनोवृत्ति, स्थान, समय और शक्ति ही दण्ड के आधार हैं। दण्ड के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उसका उपयोग उचित रूप से देश, काल तथा पात्र को देखकर करना चाहिये, क्योंकि यदि दण्ड का मनमाना स्वच्छन्द रूप से प्रयोग किया जायेगा तो प्रजा असन्तुष्ट हो जायगी। अपने शासन के प्रति उसकी श्रद्धा कम हो जायेगी। इसी कारण प्रजा में शान्ति स्थापित करने के लिये, दण्ड का उचित रूप से प्रयोग करने के लिए दण्ड-नीति का निर्माण हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक अपराधी को सामर्थ्य को देखकर, दोष पर ध्यान देकर दण्ड देना चाहिये।

दण्ड के प्रकार

वैदिक युग में वाग्दण्ड तथा धिग्दण्ड का प्रयोग अधिक होता था। अधिकतर अपराधों के लिये प्रायश्चित के रूप में दण्ड दिया जाता था। बाद में शारीरिक दण्ड देने का प्रचलन हुआ। वैदिक संहिताओं मे अर्थ दण्ड का भी उल्लेख मिलता है। स्मृतियों तथा नीतिग्रन्थों में दण्ड का सम्बन्ध मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कारणो से जोड़ दिया गया। मनु ने कारावास, बन्धन तथा शारीरिक दण्ड को कई विभागों में विभाजित किया है। अपराध की मात्रा तथा अपराधी के अन्तर के आधार पर दण्ड में उदारता और कठोरता किये जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। सामान्यत: अर्थ दण्ड, मृत्यु दण्ड, अंगविच्छेद, कारावास, देश से निष्कासन, बन्धक आदि दण्डों का प्रचलन था। अल्पवयस्कता, स्त्रीत्व, वृद्धायु आदि के कारण कठोर दण्ड को पीटने या कोड़े लगाने में परिवर्तित कर दिया जाता था। मुन ने दण्ड की क्रमिकता का उल्लेख करते हुए यह प्रस्तावना की कि पहले वाग्दण्ड देना चाहिए। यदि सुधार न हो तो धिग्दण्ड दिया जाये। इससे भी सुधार न हो तो अर्थ दण्ड और फिर बाध्य होकर मृत्युदण्ड दिया जाये।

अर्थ दण्ड के अनेक भेद थे—साहस, मध्यम साहस तथा उत्तम साहस। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम दण्ड दिया जाता था। मुद्रा के रूप में प्राप्त दण्डराशि राजकीय कोष में जमा होती थी। महापातकों से प्राप्त अर्थदण्ड की राशि ब्राह्मणो में दानस्वरूप बाँट दी जाती थी।

मृत्युदण्ड देने से पूर्व अपराध की अच्छी तरह जाँच कर ली जाती थी और यह प्रयास किया जाता कि बड़े से बड़े अपराध में ही मृत्युदण्ड दिया जाये। राजद्रोह में प्राय: मृत्युदण्ड ही दिया जाता था। मनु के अनुसार यदि अपराधी किसी प्रकार का प्रायश्चित न करे तो उसे मृत्युदण्ड ही देना चाहिये।[1] कौटिल्य ने शास्त्र द्वारा हत्या करने वाले किसी भी अपराधी के लिये मृत्युदण्ड की प्रस्तावना की है। अनेक विद्वानों का मत है कि अशोक के समय में मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। मृत्युदण्ड देने के कई प्रकार थे। अपराधी को विष देकर हाथी के पाँवों के नीचे कुचलवा दिया जाता था। चोर के हाथ काट कर मृत्युदण्ड दिया जाता था। कृषि के साधन नष्ट करने वाले के गले में भारी पत्थर बाँध कर जल में डुबा दिया जाता था। दूसरे को मारने के लिये विष देने वाले तथा गाँव को जला डालने के लिये अग्नि देने वाले को क्रुद्ध बैल के सामने डालकर उसके सींगो से मरवा डाला जाता

१. मनुस्मृति ९।२३८

था । इस प्रकार के क्रूर दण्ड देने में अपराध की पुनरावृत्ति न होने देने का उद्देश्य निहित होता था। महाभारत मे मृत्युदण्ड का निषेध किया गया है।[1] फाह्यान के अनुसार भारत में मृत्युदण्ड नही दिया जाता था।

मृत्युदण्डों के उपरोक्त प्रकारो के अतिरिक्त अन्य प्रचलित प्रमुख दण्ड थे—(१) कान में खौलता हुआ तेल डालना, (२) मुख में दस अंगुल की गर्म लौह शलाका डालना, (३) चोरों के हाथ पैर कटवा देना, (४) राजा को गाली देने के अपराध मे जीभ कटवा देना, (५) नकली सोना, मिलावट करने या निषिद्ध वस्तु बेचने पर नाक-कान कटवा देना, (६) विशेष पातकों के शरीर पर विभिन्न चिन्ह् बनवा देना, (७) व्यभिचार करने पर स्त्री का शिरोमुण्डन करवा देना आदि।

विवेचना

अनेक दण्डशास्त्रियों ने भारतीय दण्ड व्यवस्था की तीखी आलोचना की है। आलोचको का मत है कि प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने मानव स्वभाव का चित्रण करते हुए उसे स्वभावतः लोभी, ईर्ष्यालु, द्वेषग्रस्त, तथा स्वार्थी माना है। उनका यह भी मत है कि दण्ड की उग्रता के कारण लोग स्वधर्म का पालन भयग्रस्त हो कर करते थे। इन मतो में तथ्य का एक अंश है। भारतीय समाज-शास्त्रियो ने मनुष्य को स्वभावतः क्रूर तथा अपराधी प्रवृत्ति का नही बताया है। व्यक्ति गुण-दोष युक्त प्रवृत्ति के समन्वय से युक्त प्राणी माना गया है। गुण-दोष युक्त व्यक्ति ही समाज का निर्माण करते हैं। समाज में दोष का दमन और शिष्ट तथा गुण का संरक्षण किया जाना आवश्यक है। दण्ड का मूल उद्देश्य सामाजिक कल्याण ही माना जा सकता है। यह कहना गलत है कि व्यक्ति स्वधर्म का पालन दण्ड से भय ग्रस्त हो कर करता था। भयग्रस्त होना कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति नही होती। यदि स्वधर्म का पालन नहीं होता तब राज्यदण्ड का भय होता है। अतः दण्ड का भय स्वधर्म पालन में मूल आधार नही था। वस्तुतः दण्ड का उद्देश्य सुधार, शिक्षण और गुणो का विकास करना था।

प्राचीन भारत में कर व्यस्वथा

समस्त व्यवस्था, राजनैतिक संचालन, शासन का अनुशासन, प्रजाहित तथा राज्य के उद्देश्यो की प्राप्ति का मूल आधार वित्तीय व्यवस्था तथा आय के स्रोत होते हैं। राज्य का केवल स्थायित्व ही नहीं अपितु उसका अस्तित्व धन पर निर्भर करता है। वास्तव में राज्य की अर्थ-व्यवस्था का महत्व सर्वोपरि होता है और शेष सभी विषय और उद्देश्य इसके उपरान्त आते हैं। राज्य की अर्थव्यवस्था तथा उसकी उपयोगिता का महत्व समझते हुये प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारको ने इस विषय पर गहन और सूक्ष्म विचार अभिव्यक्त किये थे। आर्थिक विषयो की व्याव-हारिक महत्ता को समझते हुए भारतीय मनीषियो ने कोष को राज्य का आवश्यक अंग मानते हुये, उसके संवर्धन और संचालन के लिए विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारत में आर्थिक व्यवस्था या राज्यकर सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित थे, तथापि उन सबका उद्देश्य राज्य की कर व्यवस्था तथा आर्थिक दशा को सुदृढ़ बनाना था।

१, महाभारत १२।२५६।

राज्य-कर सम्बन्धी सिद्धान्त

राजा को कर क्यों दिया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये प्राचीन भारत में राज्य-व्यवस्थाकारों ने निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे—

(१) **राज्य-कर का धर्मानुसार सिद्धान्त**—महाभारत में उल्लेख है कि राजा केवल धर्म के अनुरूप ही कर प्राप्त कर सकता है। मनु के अनुसार राजा 'निर्दिष्ट फल भोक्ता' है। इसका अर्थ यह हुआ कि करों का निर्धारण धर्मानुसार होना चाहिये। अन्य अनेक उल्लेखों में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा को कर के रूप में धन की प्राप्ति के लिए धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। राजा कर का निर्धारण स्वेच्छापूर्वक नही कर सकता। जिस प्रकार राजा धर्म के अधीन है, उसी प्रकार धार्मिक नियमो के अनुसार ही राज-कर का निर्धारण भी होना चाहिये।

(२) **भूमि सिद्धान्त**—महाभारत में कहा गया है कि "षष्टांश बलि कर, अपराधियों से प्राप्त होने वाला अर्थदण्ड तथा अपहृत धन आदि जो कुछ शास्त्रों के विधानो के अनुसार प्राप्त हो, वे तुम्हारे वेतन के रूप में होंगे और वही तुम्हारी आय के स्रोत या राजकर होंगे।" शुक्र तथा नारद ने भी राज-कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा करने का पुरस्कार माना है। अर्थशास्त्र में कर को राजा का 'भागधेय' बताया गया है, जिसे प्राप्त करके वह प्रजा का योगक्षेम करता है। अतः राज-कर के सम्बन्ध मे भृति सिद्धान्त के अनुसार प्रजा राजा को जो कर देती है वह उसकी सेवाओ के बदले में उसका वेतन है। राजा प्रजा का पालन करता है, देश की रक्षा करता है तथा अन्य प्रकार की प्रशासकीय सेवाएँ करता है। अतः इन सेवाओं के बदले में उसे प्रजा कर देती है। यह उसका वेतन होता है।

(३) **राज कर का दैवी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की दैवी उत्पत्ति के अनुरूप वह जो कोई भी कर प्राप्त करना चाहता है वह दैवी इच्छा के अनुरूप है। क्योकि दैवी शक्ति ने राजा को बनाया है अतः राजा के निर्वाह के लिए जो कुछ भी धन दिया जाता है वह दैवी शक्ति द्वारा ही निर्धारित है। डा० जायसवाल ने इस सिद्धान्त की विवेचना करते हुये लिखा है, "हम यही बात इस रूप में कह सकते हैं कि प्रजा के स्वामी सेवक के निर्वाह के लिये स्वयं ब्रह्मा ने उसका वेतन निश्चित किया था। वह उस वेतन से अधिक नही ले सकता था, क्योकि उसे अधिक लेने का अधिकार ही नही था।"

(४) **परिपुष्टि का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है। इसके अनुसार राजा को अपनी प्रजा की परिपुष्टि कर उस पर सोच-विचार कर कर लगाना चाहिये, क्योकि परिपुष्टि सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करने से प्रजा कुपित होकर राजा के विरुद्ध हो जाती है।

(५) **शास्त्रदृष्ट सिद्धान्त**—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि राजा केवल धर्म के अनुसार ही कर प्राप्त कर सकता है। इसे शास्त्रदृष्ट (शास्त्रसम्मत) भी कहा गया है। मनु ने राजा को 'निर्दिष्ट फलभोक्ता' (निर्धारित करों को प्राप्त करने वाला) कहा है। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि राजा को कर लगाने में शास्त्र सम्मत उपायो का अनुसरण करना चाहिये।

(६) **न्यायोचित कर सिद्धान्त**—न्यायोचित का तात्पर्य है कि कृषक एवं व्यापारी इस बात को समझें कि उन्हें अपने परिश्रम का उचित लाभ मिल रहा है। वाणिज्य और उद्योगो में लागत काटकर लाभ पर कर लगाना चाहिये। किसी भी वस्तु पर एक ही बार कर लगाया जाना चाहिये।

इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त कर व्यवस्था में प्रजा की देय शक्ति का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये।

(७) **करमुक्ति का सिद्धान्त**—प्राचीन भारतीय राज्य एक प्रकार की कल्याणकारी संस्थाओ की भांति कार्य करते थे। मात्स्यन्याय के दोषों से परिचित होते हुए तत्कालीन राज्यशास्त्र के विद्वानो ने अनेक परिस्थितियो में करमुक्ति के सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया था। अलाभकर वस्तुओ को करमुक्त करने का उल्लेख अर्थशास्त्र मे मिलता है। क्षत्रिय, ब्राह्मण, तपस्वी, गूंगे, वहरे, अपाहिज, स्त्रियां आदि कर से मुक्त कर दिये जाते थे। इसी प्रकार ऐसे गांवों को भी करो से मुक्ति दे दी जाती थी जो राजकीय सेना में पर्याप्त सैनिक भेज देते थे। यज्ञ, विवाह तथा अन्य धार्मिक विधियों में काम आने वाली वस्तुएँ, वधू की भेंट, साड़ियाँ, जेवर आदि, मन्दिरो में मूर्तियो के लिए खरीदे जाने वाले अलंकार आदि प्रायः कर-मुक्त कर दिये जाते थे।

(८) **आपातस्थिति में विशेष कर लगाने का सिद्धान्त**—प्राचीन भारत मे संकट के समय अधिक कर लगाना न्यायोचित माना जाता था। अर्थशास्त्र मे विपत्ति के समय धन संचय करने के उपायो का उल्लेख किया गया ह। महाभारत के अनुसार ऐसे अवसरो पर राज्य की ओर से विशेष प्रचारक भेजे जाते थे जो आपात स्थिति मे राज्य की आवश्यकता का औचित्य प्रजा को समझाते थे। *अर्थशास्त्र मे इस विशेष कर या अतिरिक्त कर को 'प्रणय'* कहा गया है।

निष्कर्ष—प्राचीन भारत मे प्रचलित विभिन्न राज्यकर सम्वन्धी उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि (१) राज्य करों का निर्धारण लोभ, तृष्णा के वशीभूत होकर नही करना चाहिये; (२) जनता पर लगाये गये करो की मात्रा उचित तथा शास्त्र सम्मत होनी चाहिये; (३) प्रजा पर करो का अनावश्वक बोझ नही डालना चाहिये; (४) शासक को मितव्ययी होना चाहिये; (५) प्रजा को लाभ पहुँचाने पर ही करो की मात्रा वढ़ाई जानी चाहिये, अन्यथा नही; (६) कर समयानुकूल, मात्रानुकूल आवश्यकता के अनुरूप होने चाहिये।

प्राचीन भारतीय राज्य-कर नीति

कर नीति का निर्धारण करते हुए महाभारत मे कहा गया हे—"यदि बछड़े को दूध पीने दिया जाए, और उसका ठीक प्रकार से पालन किया जाए, तो वड़ा होकर वह वलवान् वन जाता है, और वहुत-सा वोझ उठाने में समर्थ हो जाता है। यदि गाय का वहुत-सा दूध दुह लिया जाए और बछड़े को पर्याप्त दूध पीने को न मिले, तो बछडा काम के योग्य नही रह जायगा। इसी प्रकार यदि राष्ट्र के निवासियो से अधिक कर लिया जाए, तो वे निर्वल हो जाने के कारण महान् कर्म के योग्य नहीं रह जाएँगे। अतः जो राजा राष्ट्र का क्षय न चाहे, उसे कर के सम्वन्ध में वही नीति वरतनी चाहिए, जो वछडे के सम्वन्ध मे वरती जाती है। जो राजा अत्यन्त अधिक खाना चाहता है (अत्यधिक कर लगाता है), प्रजा उसके विरुद्ध हो जाती है। प्रजा जिससे विद्वेष करे, उसका कल्याण कैसे सम्भव है?" एक अन्य प्रसंग मे भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है, कि "जिस प्रकार मधुमक्खी फूल से मधु का पान करती है, वैसे ही राजा प्रजा से कर लिया करे। गाय का दूध तो दुहा जाता है, पर उसके थनो को नही काटा जाता। पहले थोड़ा-थोड़ा कर लिया जाए, ताकि आर्थिक दृष्टि से जनता की समृद्धि हो सके। आर्थिक समृद्धि का परिणाम यह होगा कि जनता अधिक कर दे सकने मे समर्थ हो जायगी, और तब क्रमशः उसके कर में वृद्धि की ज

सकेगी।" अर्थशास्त्र के अनुसार—"जिस प्रकार वृक्षों से फल तभी तोड़े जाते हैं जब कि वे पक जाते हैं, उसी प्रकार जनता से कर भी तभी लिये जाने चाहिए जबकि वे पक जाएँ (जब जनता उन्हें दे सकने की स्थिति में हो)। यदि कच्चे फल तोड़ लिए जायँगे, तो उससे वृक्ष के मूल को ही क्षति पहुँचेगी। राज्य में भी इससे कोप उत्पन्न हो जायगा।" शुक्रनीति के अनुसार "माली केवल फल और फूल ग्रहण करता है, वृक्ष को नहीं काटता। पर कोयले बनाने वाला वृक्ष को काट देता है। राजा को माली का अनुकरण करना चाहिये, कोयला बनाने वाले का नही।" मनु ने लिखा है, कि "राजा कर के सम्बन्ध में ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिससे कि कार्य करने वाले लोग अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त रह सकें। अधिक कर लेने से लोगों में धन कमाने और कार्य करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।"

राज्य की आय के साधन

प्राचीन भारत में राजस्व संग्रह करने और उसके उपयोग की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था, क्योकि वही सुव्यवस्थित प्रशासन का मेरुदण्ड होता था। कृषिकर राजस्व का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत था। साधारणतया भूमिकर उपज के छठें भाग के बराबर लिया जाता था, जो नकद या अनाज की शक्ल में दिया जा सकता था। परन्तु कर की इससे ऊँची दर, १० से ३० प्रतिशत तक के उदाहरण भी मिलते हैं। प्राचीन विधि शास्त्रो तथा अन्य साहित्य मे हमें कर व्यवस्था के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि कर-व्यवस्था न्यायसंगत तथा समता पर आधारित होनी चाहिए और राज्य तथा कर देने वाले दोनों ही को यह संतोष होना चाहिए कि कर न तो बहुत कम है और न बहुत असह्य। व्यापार तथा उद्योगो मे कुल लाभ पर कर वसूल किया जाता था, और यदि उसकी दर मे कोई वृद्धि करनी होती थी तो वह बहुत धीरे-धीरे की जाती थी, अचानक नही। किसी से भी बहुत जल्दी-जल्दी कई बार कर नही वसूल किया जा सकता था और यदि अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती थी तो अतिरिक्त कर जनता की अनुमति से ही लगाया जा सकता था। कुछ श्रेणियो के लोग, जैसे विद्वान और सैनिक कर्मचारी, कर से उन्मुक्त थे। अक्षम तथा जीर्णशीर्ण लोगों से भी कर नही लिया जाता था।

प्राचीन भारत में राज्य की आय के साधनों अथवा राज्य करों को निम्नलिखित रूप मे वर्गीकृत किया जाता है—

(१) भूमि कर—प्राचीन भारत मे राज्य की आय का मुख्य साधन कृषि-कर ही था। नीति ग्रन्थों मे उसे 'षड्भाग' के नाम से सम्बोधित किया गया है। इससे विदित होता है कि भूमि कर की मात्रा सभी प्रकार की भूमियों के लिये एक-सी नही थी। शुक्रनीतिसार में विभिन्न प्रकार की भूमियो के लिये विभिन्न प्रकार के करो की व्यवस्था की गयी थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'सीताध्यक्ष' अध्याय में राजा की स्वभूमि का वर्णन किया गया है। यह भूमि सीताध्यक्ष हेतु थी और इस पर दास, कर्मकार, श्रमिक व कैदियो द्वारा खेती कराई जाती थी। इस प्रकार की भूमि से जो आय होती थी उसे सीता कहा जाता था।

(२) खानों पर कर—महाभारत मे खान, लवण, शुल्क, तथा हाथियो के वनो में अमात्यो की नियुक्ति की जो व्यवस्था की गयी थी उससे स्पष्ट होता है कि इनसे राज्य को एक अच्छी आय प्राप्त होती होगी। अर्थशास्त्र मे भी कोष की वृद्धि के लिये खानो को अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा गया

है। खानें राजकीय सम्पत्ति थीं। ठेकेदार को खान से निकलने वाले द्रव्यों पर भारी कर देना पड़ता था।

(३) **वाणिज्य एवं उद्योगों से प्राप्त कर**—व्यापारियों को ग्राम एवं नगर में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी देनी होती थी। स्थान-स्थान पर यह कर प्रथानुसार द्रव्य अथवा पदार्थ के रूप मे वसूला जाता था। वस्तु के अनुसार चुंगी की दर भी भिन्न थी। यज्ञ, विवाह आदि धार्मिक विधियो और संस्कारो मे प्रयोग में आने वाले पदार्थ कर से मुक्त थे। उपहार में दी जाने वाली वस्तुओ पर भी कर लगाया जाता था। चुंगी के साथ ही नौका कर की भी व्यवस्था थी। मनु-स्मृति में बिक्री-कर का भी उल्लेख किया गया है।

(४) **क्रय-विक्रय कर**—महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनु-स्मृति और शुक्रनीतिसार मे क्रय-विक्रय कर का उल्लेख किया गया है। विक्रय कर लगाये जाने वाले कर के सम्बन्ध में शुक्र-नीतिसार में लिखा है, "क्रेता-विक्रेता से राजा जो भाग प्राप्त करता है, उसे शुल्क कहते हैं, उस शुल्क को प्राप्त करने का स्थान है—सीमाबद्ध मार्ग। जो माल तैयार किया जाता है उसे एक ही स्थल पर लगाना चाहिये। विक्रेता एवं क्रेताओ से इकत्तीसवाँ, बीसवाँ या सोलहवाँ अंश मूल्य के आधार पर कर के रूप में लिया जाना चाहिये।" कोई विक्रेता अपनी लागत का सामान यदि इससे भी कम मूल्य में बेच देता है तो उससे कोई भी कर नही लिया जाता था।

(५) **उत्पादन कर**—कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे लिखा गया है कि उत्पादन स्थल पर कोई भी माल नही बेचा जा सकता। उत्पादन कर की मात्रा का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थो में स्पष्ट रूप से नही किया गया है।

(६) **आयात एवं निर्यात कर**—कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार आयात-निर्यात कर भी लिया जाता था। आयातित मूल्य पर कर की दर २० प्रतिशत थी, यद्यपि कुछ वस्तुओ पर कम कर लिया जाता था। कतिपय देशो की वस्तुओ पर अधिक कर लिया जाता था। निर्यात किये जाने वाले माल की लागत, विदेशों में उससे प्राप्त होने वाले मूल्य एवं लाभ का अनुमान लगाकर निर्यात कर निर्धारित किया जाता था।

(७) **प्रत्यक्ष कर**—यह कर मुख्य रूप से तौल या माप के उपकरणों, वसूलियो और कारीगरो आदि पर लगाया जाता था।

(८) **राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसाय**—नमक, मद्य, खनिज-पदार्थ और जंगलो आदि को राज्य के अधीन रखा जाता था।

(९) **अर्थ दण्ड के रूप में आय**—न्यायालय द्वारा दोषी व्यक्तियों पर समय-समय पर जो अर्थ दण्ड दिये जाते थे, वे भी राज्य की आय के मुख्य साधन थे।

(१०) **आपात-काल में अतिरिक्त कर**—आपात काल मे प्राचीन भारत में अतिरिक्त कर की भी व्यवस्था की गयी थी।

विवेचना

प्राचीन भारत की कर व्यवस्था की तीन सबसे प्रमुख लाक्षणिकताएँ थी। पहली यह कि राज्य का कृषक के साथ सीधा सम्बन्ध था, उनके बीच मे कोई मध्यस्थ नही होता था। दूसरे, भूमि-कर की दर बहुत कम होती थी; साधारणतया वह पैदावार के छठें भाग से अधिक नहीं होती थी।

तीसरे, चूँकि भूमि को निजी सम्पत्ति समझा जाता था और वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार में मिलती रहती थी इसलिए नियमित रूप से कर चुकाते रहने पर भूमि का स्वामित्व छिनने का कोई भय नही रहता था।

मौर्य तथा गुप्त सम्राटो के विस्तृत साम्राज्यो के लिए कृपि कर से प्राप्त होने वाली धनराशि से प्रशासन का पूरा खर्च नही चल सकता था। कौटिल्य ने ऐसी आर्थिक कार्यवाहियो के विभिन्न रूपो की एक विस्तृत सूची दी है जिससे राजकोष को पर्याप्त धन प्राप्त हो सकता था। जो माल नगर में आता था उस पर व्यापारी चुंगी देते थे। इसके अतिरिक्त माल की कीमत के अनुसार ५ से १६ प्रतिशत तक सीमा शुल्क लिया जाता था। जलमार्गों द्वारा परिवहन के लिए घाट-कर देना पड़ता था। माप-तोल के मानदंडो पर उचित मुहर लगी होना आवश्यक था और यह कर वसूल करने का एक और स्रोत बन गया। उद्योग की विविध शाखाएँ जैसे बुनाई, मदिरा का व्यापार, खानें, नमक, पशुपालन, बाग-बगीचे, चरागाह—ये सब राज्य के लिए आय का उपयोगी स्रोत समझे जाते थे। जो लोग कर देने में असमर्थ हों उनके लिये इसके बदले बेगार करने की व्यवस्था रखी गयी थी, परन्तु कर किसी न किसी रूप में सबको चुकाना पड़ता था। समाजोपयोगी कामो के लिए राज्य को अपनी प्रजा से काम लेने का अधिकार था पर इस बात का काफी ध्यान रखा जाता था कि यह प्रथा पतित होकर दास-प्रथा का घृणित रूप न धारण कर ले। दासता का अस्तित्व अवश्य था पर इतने छोटे पैमाने पर कि मेगस्थनीज जैसी तीक्ष्ण दृष्टिवाला आदमी भी उसे देखने मे असमर्थ रहा। ऋण चुकाने में असमर्थता दासता का सबसे महत्वपूर्ण कारण था और ज्यो ही ऋण चुका दिया जाता था त्यो ही दास को स्वतंत्र घोषित कर दिया जाता था।

कर और जुर्मानो के अतिरिक्त भेंट से भी सम्राट् के कोष मे धन आता था। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर विजेता पराजित पक्ष से नजराना वसूल करता था, जो बहुत बड़े परिमाण मे होता था। चूँकि कई छोटे-छोटे अपराध ऐसे थे जिनके दंड मे जुर्माना लिया जाता था इसलिए यह आय का बहुत बड़ा स्रोत था। जिस सम्पत्ति का कोई मालिक या उत्तराधिकारी नही होता था वह राज्य के अधिकार मे चली जाती थी और जब कोई व्यक्ति बिना संतान छोड़े मर जाता था तो उसकी विधवा पत्नी को उसकी संपत्ति का उत्तराधिकारी नही माना जाता था। विधिनिर्माताओ को इस बात का श्रेय देना होगा कि वे इस प्रथा में निहित अन्याय की आलोचना करते थे। यदि कोई अन्यायपूर्ण कर लगाया जाता था तो लोग उनके विरुद्ध विद्रोह करते थे और हर राजा जनता के क्रोध से बहुत डरता था। यह तो सच है कि करो की संख्या बहुत थी परन्तु व्यय की मदो की संख्या भी कम नही थी।

प्राचीन भारत में नगर प्रशासन

वैदिक काल मे बहुत ही कम नगर बसे थे। उनकी प्रशासन-व्यवस्था के विषय में कोई सामग्री उपलब्ध नही है। परवर्ती संहिता और ब्राह्मण-ग्रंथो के काल में भी ऐसी ही स्थिति रही। परन्तु महाकाव्य काल मे अनेक नगर और राजधानियाँ विकसित हो गयी थीं। जब से ऐतिहासिक काल आरम्भ हुआ, तब से भारत में नगरो के विकास और उनकी प्रशासन-व्यवस्था का परिचय मिलना प्रारम्भ होता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब मे अनेक नगर और पुर थे। सिकन्दर से पूर्व तक्षशिला उस काल में एशिया के सबसे बड़े नगरो में से एक था। प्लिनी के अनुसार

ईसा की प्रथम शताब्दी में मदुरा—एक विशाल नगरी थी। गङ्गा-तट पर बौद्ध सभ्यता का बड़ा केन्द्र कन्नौज नगर था। मालवा प्रदेश में उज्जयिनी भी एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर रहा है। मौर्य साम्राज्य के उदय के साथ पाटलिपुत्र, जो अभी तक सामान्य नगर था, एक विशाल और वैभव सम्पन्न नगर बन गया।

महाभारत में युधिष्ठिर ने भीष्म-पितामह से पूछा कि राजाओ को कैसे पुर में वास करना उचित है? भीष्म ने उत्तर दिया—"पुर दुर्ग सम्पन्न हो, धान्य और वस्त्रों से पूरित, दृढ़ दीवार और परिखा से घिरा हुआ तथा हाथी, घोड़े व रथ समूह से युक्त हो........" इत्यादि। शुक्रनीति के अनुसार नाना वृक्ष और लताओ से युक्त, पशु-पक्षियो से व्याप्त, अन्न एवं जल से सम्पन्न, वृक्ष और काष्ठ से परिपूर्ण, नदियो के समीप, पर्वत के निकट, सुन्दर समतल भूमि से मनोहर प्रदेश में राजधानी निर्मित होनी चाहिए। राजमार्ग के दोनों ओर धनिको के भवन पंक्तिवद्ध होने चाहियें।

नगर प्रशासन

शुक्र ने नगर-प्रशासन के सम्वन्ध में छः प्रमुख अधिकारियो का उल्लेख किया है—(१) मुखिया अथवा प्रधान; (२) न्यायाधीश अथवा दण्डाधीश; (३) भूमिकर अथवा अन्य पैदावार का वसूल करने वाला; (४) चुगी शुल्क का अधिकारी; (५) सन्तरी; और (६) क्लर्क।

कौटिल्य का कथन है कि वास्तु-विद्या के विद्वान् जिस प्रदेश को श्रेष्ठ वतावें अथवा जो प्रदेश नदी के किनारे, तालाव या बड़े जलाशय के तट पर हो, वहाँ भूमि के अनुसार गोलाकार, दीर्घाकार या चौकोर राजधानी बनानी चाहिए। शुक्र और कौटिल्य दोनों ने ही दुर्ग बनाने के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। प्राचीन भारतीय नगर प्रशासन मे नगर-नियोजन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे नगर की सुव्यवस्था के विषय मे विस्तार से प्रस्तावना की है। नगर का मुख्य अधिकारी 'नागरिक' हो, जिसे व्यापक अधिकार प्राप्त हो। वह नगर के भीतर शान्ति, सुव्यवस्था और स्वच्छता रखे, निवासियो से कर ले और नियम-विरुद्ध आचरण करने वालो को दण्ड भी दे। नगर की सुव्यवस्था के लिए नागरिक नगर को सवसे पहले विभागो—मुहल्लो या वार्डों में विभाजित करे। मुहल्ले या वार्ड का अधिकारी गोप हो, जो अपने अधीन स्त्रियो, पुरुषों के वर्ण, गोत्र, नाम, कार्य (या पेशे), उनकी संख्या और आय-व्यय भी जाने। गोपो के ऊपर स्थानिक रहे, जिसके क्षेत्र में दुर्ग (नगर) का एक-चौथाई भाग रहे। नगर की धर्मशालाओ मे उनके अधिकारी पथिको को गोप की अनुमति के बिना न ठहरावें। मद्य, मांस तथा अन्न वेचने वाले अपने परिचितो को अपने यहाँ ठहरा लें, परन्तु जो वहुत अधिक धन व्यय करता हो या मद्यपान करता हो उसको सूचना गोप या अधिकारी को दें। कौटिल्य ने यह भी वताया है कि कौन व्यक्ति दण्डनीय हैं, अपराधियो की खोज किस प्रकार हो, नगरवासियो के क्या कर्त्तव्य हैं, नगर की स्वच्छता के नियम, नैतिक तथा अन्य प्रकार के अपराधो के लिए दण्ड क्या हैं? इत्यादि। नागरिक के कर्त्तव्यो में संदिग्ध-व्यक्तियो को पकड़ना, नगर की अग्नि से सुरक्षा, गन्दगी फैलाने वाले को दण्ड, रात में चौकीदारी की व्यवस्था, जल व स्थल मार्गों को सुरक्षा व देखभाल आदि भी सम्मिलित किये गये।[1]

---

१. अर्थशास्त्र, २। ३६।

प्रशासनिक संस्थाएँ

सभी महत्त्वपूर्ण नगरो मे न्याय-प्रशासन के लिए न्यायाधीश, अधिकरण और अधिष्ठान होते थे। एक शिलालेख से गोपाद्रि के शासन के विषय मे पता लगता है कि वहाँ भोजप्रतिहार के अंतर्गत पाँच व्यक्तियो की एक परिषद् थी; उसके सदस्य सेना का अधिकारी, एक व्यापारी और अन्य व्यक्ति थे। राजधानी तथा बड़े नगरो का प्रशासन जनप्रिय संस्थाओं के हाथों में था। उनमें जनप्रिय नगरपालिकाएँ होती थी। प्राचीन काल से पौर तथा जनपदो की नागरिक संस्थाएँ चली आ रही थीं। निगमों अथवा व्यापारिक नगरो में ऐसे संघ और गिल्ड थे। स्मृतियों से पता चलता है कि निगम दो प्रकार के थे : (१) राज द्वारा स्थापित—'राजकृत समवित'; और (२) 'समूहकृत समवित' अर्थात् जनता द्वारा स्थापित। उनके कर्त्तव्य विभिन्न प्रकार के और व्यापक होते थे।

नगरपालिकाओं के सामाजिक कार्यों मे सार्वजनिक सम्पत्ति से मन्दिरों के लिए दान की गई सम्पत्ति का प्रबन्ध सम्मिलित था। तमिल साहित्य में नगर-निर्माण की व्यवस्था का वर्णन मिलता है। पश्चिमी तट पर स्थित चेर राज्य की राजधानी वन्जी (करूर) मे पानी की व्यवस्था का बड़ा मनोहर वर्णन है। अलतेकर के अनुसार 'गुप्तकाल से साधारण नगर और पुरों की शासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध होने लगता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पुरपाल पुर-शासन का प्रधान होता था। यदि पुर जिले का केन्द्र हुआ तो वही जिले के शासक का भी काम करता था। प्रायः पुरपाल स्वयं ही सेनानायक होते थे। पुरपाल को शासन-कार्य में मदद देने के लिए गोष्ठी पंचकुल या चौकड़ि आदि विभिन्न नामो से निर्दिष्ट एक समिति भी रहती थी। कभी-कभी पुर को विभिन्न वार्डों में बाँट दिया जाता था।

नगरपालिकाएँ सामुदायिक जीवन के केवल साधारण भौतिक हितो के लिए ही नहीं, वरन् जनता के सार्वजनिक एवं आध्यात्मिक जीवन के लिए भी कार्य करती थी। वे सामुदायिक दान की व्यवस्था करती थीं और निर्धन दुखियो को सहायता भी देती थी। इनके अतिरिक्त वे आवश्यकता-नुसार आपातो के विरुद्ध भी कार्य करती थी। नगरपालिकाओ के वित्तीय स्रोत विभिन्न प्रकार के थे। उनमे सदस्यो द्वारा दिये गये दान, सार्वजनिक निर्माण कार्यों से प्राप्त लाभ तथा दण्ड रूप मे प्राप्त सम्पत्ति व धन इत्यादि सम्मिलित थे। उनकी आय का एक मुख्य साधन नगरपालिकाओ की सीमा में बेची जाने वाली वस्तुओं पर चुङ्गी महसूल था। जब कभी ये आय-साधन अपर्याप्त होते थे, वे ऋण ले सकती थी और राज्य से आर्थिक सहायता भी पाती थी।[1]

नगर प्रशासन से सम्बन्धित संस्थाओं के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूचना स्ट्रैबो से मिलती है। उसने पाटलिपुत्र के प्रशासन का वर्णन करते हुए लिखा है—"जिन पर नगर का कार्य-भार है, ये पाँच-पाँच सदस्यो के छः निकायो (समितियो) मे विभाजित हैं। पहली समिति के सदस्य औद्योगिक कलाओं से सम्बन्धित सभी मामलो अर्थात् वस्तुओ के उत्पादन की देखभाल करने वाले हैं। दूसरी समिति विदेशियों के मनोरंजन का ध्यान रखती है। वह विदेशियो के ठहरने की व्यवस्था करती है और उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखती है। तीसरी समिति जन्म-मरण आदि का विवरण रखती है। चौथी समिति व्यापार और वाणिज्य की अधीक्षक है। वही नाप और तोल आदि की

---

१. 'लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन् एन्शियेन्ट इण्डिया'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

देखभाल करती है। पाँचवीं समिति उत्पादन की हुई वस्तुओं की देखभाल और सार्वजनिक अधि-सूचना द्वारा उनके बेचने की व्यवस्था भी करती है। छठी समिति बेची हुई वस्तुओं का दसवाँ भाग एकत्रित करती है। वे अपने सामूहिक रूप में विशेष विभागों का कार्यभार रखते हैं और उन मामलों का भी, जिनका प्रभाव साधारण हित पर पड़ता है, जैसे सार्वजनिक भवनों को अच्छी दशा में रखना, कीमतों का विनियमन, बाजारों, बन्दरगाहों और मन्दिरों की देखभाल।

प्राचीन भारत में ग्राम प्रशासन

अति प्राचीन काल से आधुनिक युग तक ग्राम भारतीय सम्यता का आधार और शासन-व्यवस्था की धुरी रहे हैं। वैदिक मन्त्रों मे ग्रामो की समृद्धि के लिए बहुत प्रार्थना की गयी है। वैदिक काल के राज्य छोटे-छोटे होते थे, इस कारण ग्रामों का महत्व और भी बढ़ गया था। रामायण और महाभारत में ग्राम-अधिकारियो का उल्लेख है। वेदो में ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामणी' कहा गया है और जातक कथाओं में भी उसका उल्लेख है। शुक्रनीति में उसे ग्रामवासियो के माता-पिता के समान बताया है।

भारतीय ग्रामों ने वैदिक काल से स्वायत्तता का उपभोग किया। बाद के काल-खण्डो में जिन बड़े शासको ने साम्राज्यवादी सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न किये, उनसे भी ग्रामो की स्थिति अव्यवस्थित नही हुई। महान् मौर्य सम्राटों ने भी, जिन्होने शासन की छोटी से छोटी बातो में हस्तक्षेप किया, ग्राम समुदायो को उसी रूप में रहने दिया।[1]

---

१. प्राचीन भारत विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधार पर बना था। उसका विश्वास सत्ता के केन्द्रीकरण मे न था; उसका विश्वास समूह के स्वशासन में था, स्वशासन को प्रमुख प्रभु से लेकर गाँवो में निम्नतम समाज के विभिन्न स्तरो के द्वारा विस्तृत बनाना था। गाँवों के समूहो के लिए स्वशासक संघ भी थे। इस प्रकार प्राचीन भारत एक वृहत् ग्रामीण प्रजातन्त्र के रूप में बना था। समाज स्वशासन के पारिभाषित क्षेत्रों मे राज्य से पृथक् अपने कार्यों का संचालन करता था। ग्रामीण राजनीति राज्य की राजनीति तथा राज्य और उसके प्रभु की बदलती हुई राजनीतिक उतार-चढ़ाव से स्वतन्त्र थी। भारत की संस्कृति की रक्षा उसके ग्रामो अथवा ग्राम-गणतन्त्रों के द्वारा ही हो सकी है, जिसने अनेक राजनीतिक क्रान्तियों और प्रभुसत्ताओं के परिवर्तन देखे थे। इस स्थिति का साराश सर चार्ल्स मेटकॉफ और मेगस्थनीज के अनुसार निम्नलिखित है—

'भारत के ग्राम-समुदाय छोटे-छोटे गणतन्त्र हैं, जो प्रायः आत्म-निर्भर हैं और वैदेशिक सम्बन्धो से प्रायः स्वतन्त्र हैं। ऐसा लगता है कि उनके इसी गुण के कारण उनका अस्तित्व चिरस्थायी है। ग्राम-समुदायो के इस संघ (जिसमें से प्रत्येक एक छोटे से पृथक राज्य के समान है) ने भारत की जनता के रक्षण मे कदाचित् अन्य सभी तत्वों से अधिक योग दिया है···। जबकि अन्य राष्ट्रों में सामान्यतः यह देखा गया कि उनके बीच युद्ध होते हैं तो वे भूमि का नाश कर देते हैं और उसे कृषि के अयोग्य ऊसर बना देते हैं; इसके विपरीत भारत में, जहाँ कि खेत जोतने वालों को पवित्र और एक ऐसा वर्ग मानते हैं कि जिसके कार्यों में हस्तक्षेप न किया जाये चाहे पड़ौस में हो युद्ध हो रहा हो, किसान अपना कार्य बिना खतरे के करते रहते हैं। शत्रु एक-दूसरे की भूमि को आग लगाकर अथवा वृक्षो को काट कर शत्रु-प्रदेश को हानि नही पहुँचाते।'

—'चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी

उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत मे प्रशासन का विकास भिन्न और स्वतन्त्र रेखाओं पर हुआ। अन्तर की सबसे उल्लेखनीय वात स्थानीय शासन के क्षेत्र मे रही। दक्षिण में स्थानीय स्वशासन के नियमित अंग विकसित हुए, जबकि उत्तरी भारत इसी से सन्तुष्ट रहा कि ज्येष्ठ (वृद्ध) व्यक्तियों को अधिकारियो से सम्बन्धित रखा जाय। श्रेणियाँ भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक विकसित हुईं। उत्तर में ग्रामवासी अपने मामलो का ग्रामणी के अन्तर्गत स्वयं प्रबन्ध करते थे; वाद मे ग्रामणी का स्थान ग्रामिक ने ले लिया। मध्ययुग में गाँव के मुख्य का नाम (१) मालवा प्रदेश में पट्टकील, (२) उत्तरी भारत में ग्रामपति या ग्रामिक, और (३) दक्षिण मे ग्रामकूट रहा। कुछ शिलालेखों में महत्तर शब्द भी आया है। मुखिया के नीचे पंच या गाँव के पाँच अधिकारी होते थे। सभापर्व (महाभारत) मे इनके नाम समाहर्त्ता, संनिधाता, गणक, लेखक और साक्षी थे। अर्थशास्त्र मे वर्णित शाही अधिकारी—गोप—कर वसूल करते थे, हिसाव की देखभाल करते थे और समूहो का अधीक्षण करते थे।

गाँवों में सभा या महासभा होती थी। मध्ययुग में ग्राम सभा का नाम पंचायत पड़ा, परन्तु पंचायत शब्द वैदिक तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य मे नही मिलता। भारतीय संविधान मे जन-तत्व, जिसके कारण स्पष्ट हैं, उतना ही पुराना है जितने कि वेद हैं। सदियों तक वैदिक भारत अनगिनत स्वराजो अथवा स्वशासित गाँवो और गणतन्त्रो का देश था। अस्तु, भारत मे सभाओ, समितियो, संसदों और पंचायतों की भरमार थी।

दक्षिण के तमिल राज्यों के प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव था और प्रत्येक गाँव का प्रबन्ध कई समितियाँ करती थी। उनमे सबसे अधिक उल्लेखनीय तालाव समिति, वागो की देख-रेख करने वाली समिति, न्याय की देखरेख करने वाली समिति, मन्दिर समिति और सामान्य प्रबन्ध समिति थीं। अन्य समितियाँ, जिनका उल्लेख हुआ है, स्वर्ण समिति, मुद्रा समिति थी। प्रत्येक गाँव की अपनी सभा होती थी; उसे कही-कही महासभा भी कहा जाता था। सभाओं की बैठकें साधारणतया मन्दिरों के वड़े कमरों में होती थी। प्रत्येक सभा के सदस्य गाँव के ज्येष्ठ व्यक्ति या भट्ट (विद्वान् ब्राह्मण) और विशिष्ट व्यक्ति होते थे। प्रतिनिधियो का चुनाव प्रजातान्त्रिक ढंग से होता था।

दक्षिण की साक्ष्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की ग्रामसभाओं ने विभिन्न प्रकार के कार्यों और उनको करने के लिए विभिन्न अंगो को विकसित किया था। उत्तर के साहित्य व शिलालेखों के प्रमाणो से यह स्पष्ट नहीं है कि वहाँ सभा विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक, न्यायिक और स्थानीय मामलो से सम्बन्धित कार्यों को किस प्रकार करती थी अथवा यह कि वहाँ विभिन्न कार्यों को करने के लिए भिन्न-भिन्न निकायों को विकसित किया गया था। जहाँ तक विशुद्धतः न्यायिक कार्यों का सम्बन्ध था, स्मृतियो से पता चलता है कि सम्भवतः उनके प्रशासन के लिए स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास हुआ; परन्तु यह वात अन्य कार्यों के विषय में नहीं कही जा सकती।[१]

ग्राम समितियाँ

ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्रामसभा के हाथों में होता था, शासनकार्य की सुविधा

१. 'लोकल गवर्नमेन्ट'—डा० राधाकुमुद मुखर्जी।

के लिये अनेक समितियो का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हें विविध प्रकार के कार्य करने होते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थी—(१) वर्ष भर के लिये नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण व निरीक्षण करने वाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करने वाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करने वाली समिति, (४) उद्यानो का प्रबन्ध करनेवाली समिति, (५) न्याय की व्यवस्था करने वाली समिति, (६) स्वर्ण तथा कोश की व्यवस्थापिका समिति, (७) ग्राम के विविध विभागों का निरीक्षण करने वाली समिति, (८) खेतो और मैदानों की व्यवस्था तथा निरीक्षण करने वाली समिति, (९) मन्दिरों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (१०) साधु और विरक्त लोगो की व्यवस्था करने वाली समिति। इन दस समितियो के क्या कार्य होते थे, यह बात इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इन विविध समितियों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में दक्षिणी भारत के एक अभिलेख से बहुत उपयोगी सूचना प्राप्त हुई है। इस मे एक ग्राम के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है कि ग्राम तीस भागों मे विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियो के सदस्य बनने के लिये उपयुक्त हों। समिति की सदस्यता के लिये यह आवश्यक था, कि सदस्यो की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष और अधिकतम आयु ७० वर्ष हो। जो पुरुष शिक्षित हो, ईमानदार हो, और कुछ सम्पत्ति भी रखते हो, वे ही समितियो की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का हिसाब न दिया हो, या जिस पर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिए समितियो की सदस्यता का अधिकारी नही समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची मे शामिल नही किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागो द्वारा तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डालकर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागो से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियो के सदस्य रूप में इन्ही की नियुक्ति कर दी जाती थी। तीस पुरुषो में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उसकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियाँ किस ढंग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गये थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषो को समितियो की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिए यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्ही पुरुषों को सदस्यता के लिए उपयुक्त व्यक्तियो की सूची मे शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों मे कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हो।

ग्राम संस्थाओं के कार्य—ग्राम सभाओ अथवा पंचायतों के कार्य काफी व्यापक और विभिन्न प्रकार के थे। उनके कार्यों मे मुख्य ये थे—भूमि-कर वसूल करना, ऊसर भूमि का स्वामित्व और प्रबन्ध, देवालयों (मन्दिरों) का प्रबन्ध, न्याय-कार्य करना (जो पूग का विशेष कार्य थे), आवश्यकता पड़ने पर ऋण देना, दान निधियो का प्रबन्ध, अकाल पड़ने पर सार्वजनिक हित की योजनाओ का संचालन आदि। इस प्रकार ये संस्थाएँ जीवन की लगभग सभी सुविधायें जुटाती थीं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्रोतो की विवेचना कीजिये। इनसे प्राप्त सामग्री प्राचीन राज्य की अवधारणा निर्धारित करने में कितनी उपयोगी है?

२. प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिये ।

३. प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये ।

४. प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय मे प्रचलित सिद्धान्तों का विवेचनात्मक मूल्याङ्कन कीजिये ।

५. राज्य के सप्तांग सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये तथा इसके विकास के प्रमुख चरणो का उल्लेख कीजिये ।

६. राज्य के सप्तांग सिद्धान्त मे विभिन्न सप्तांगो के महत्व का निरूपण कीजिये ।

७. प्राचीन भारत में राज्य के कितने प्रकार प्रचलित थे ? इनकी विशेषताओ का उल्लेख कीजिये ।

८. प्राचीन भारत में राज्य के क्या उद्देश्य थे ? इनके कार्यों का विवेचनात्मक विवरण दीजिये ।

९. प्राचीन भारत में राज्य के कल्याणकारी स्वरूप का क्या अर्थ था ? क्या प्राचीन भारतीय राज्य कल्याणकारी संस्थाओ की भाँति कार्य करते थे ?

१०. प्राचीन राज्यतन्त्र के स्वरूप और संगठन के आधारभूत सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिये ।

११. राज्यतन्त्र मे राजा की स्थिति की विवेचना कीजिये ।

१२. प्राचीन भारत मे राजा और प्रजा के सम्बन्धों का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिये ।

१३. प्राचीन गणतन्त्रो के संगठन, स्वरूप और प्रकारो का वर्णन कीजिये ।

१४. प्राचीन गणतन्त्रीय व्यवस्था पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।

१५. प्राचीन भारत मे गणतन्त्रो का लोप होने के क्या कारण थे ? इनके गुण-दोषों को स्पष्ट कीजिये ।

१६. प्राचीन भारत में मन्त्रिपरिषद की उपयोगिता, संगठन और महत्व को स्पष्ट कीजिये ।

१७. प्राचीन भारत मे मन्त्रिपरिषद तथा राजा के सम्बन्धों की विवेचना कीजिये ।

१८. प्राचीन भारत में प्रचलित सभा-समिति के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

१९. 'सभा' तथा 'समिति' के भेद को स्पष्ट कीजिये ।

२०. प्राचीन भारत मे प्रचलित विदथ नामक संस्था के संगठन, महत्व और कार्यों का उल्लेख कीजिये ।

२१. 'परिषद' तथा 'पौर जानपद' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

२२. प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था के संगठन, स्वरूप और उद्देश्यो का उल्लेख कीजिये ।

२३. प्राचीन भारत में प्रचलित अपराध और दण्ड व्यवस्था के सिद्धान्तो और विकास को स्पष्ट कीजिये ।

२४. प्राचीन दण्ड व्यवस्था के उपयोग, उद्देश्य और प्रकारो का वर्णन कीजिये ।

२५. प्राचीन भारत में कर व्यवस्था पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।

२६. प्राचीन भारतीय कर व्यवस्था के औचित्य को स्पष्ट कीजिये ।

२७. प्राचीन भारत में नगर प्रशासन के स्वरूप और कार्यपद्धति का उल्लेख कीजिये ।

२८. प्राचीन भारत मे 'ग्राम प्रशासन' या स्थानीय स्वशासन के महत्व को स्पष्ट कीजिये ।

२१. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:—

(i) कौटिलीय अर्थशास्त्र, (ii) सप्तांग सिद्धान्त, (iii) वैराज्य, अराजक राज्य, द्वैराज्य, भोजराज्य तथा गणराज्य; (iv) राजा का अभिषेक, (v) राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध, (vi) प्राचीन प्रमुख गणतन्त्र, (vii) पुरोहित तथा प्रधान मन्त्री, (viii) सभा तथा समिति, (ix) विदथ, (x) परिषद, (xi) पौर जानपद, (xii) नगर-समितियाँ।

पी० सी० एस० परीक्षा

१. प्राचीन भारतीय इतिहास में अराजतन्त्रीय परम्पराओं का विवरण दीजिये। (१९६२)

२. प्राचीन भारत के लोकतन्त्रात्मक तत्वों के स्वभाव और प्रकारों पर विचार कीजिये। (१९६४)

३. राजनैतिक चिन्तन में 'दण्ड' की अवधारणा स्पष्ट कीजिये। 'अहिंसा परमधर्म है' के सिद्धान्त से इसका किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है? (१९६५)

४. क्या प्राचीन भारतीय राज्य निरंकुश था? विवेचना कीजिये। (१९६५)

५. प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के लोप के क्या कारण थे? (१९६६ तथा १९७५)

६. प्राचीन भारतीय राज्य संस्था कहाँ तक धर्मराज्य के आदर्श को चरितार्थ कर सकी? (१९६७)

७. प्राचीन भारत में राज्य और समाज के सम्बन्धों की चर्चा कीजिये। (११६८)

८. प्राचीन भारत में राजत्व के क्या आदर्श थे? (१९६८)

९. क्या प्राचीन भारतीय राज्य को कल्याणकारी राज्य कहना उचित है? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिये। (१९६९)

१०. प्राचीन भारतीय गणराज्यों पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये तथा उनके प्रशासन को स्पष्ट कीजिये। (१९७०)

११. भारत में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिये। (१९७१, १९७४, १९७६)

१२. प्राचीन भारतीय राजनीति के स्रोतों का विवेचन कीजिये। (१९७२)

१३. सभा और समिति के स्वरूप का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये। (११७७)

१४. प्राचीन भारत में मन्त्रिपरिषद के स्वरूप और महत्व का विवरण प्रस्तुत कीजिये। (१९७७)

१५. राज्य के सप्तांग सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये। (१९७८)

१६. प्राचीन भारत में ग्राम प्रशासन के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (१९७८)

१७. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(i) प्राचीन भारतीय प्रशासन मे प्रजातान्त्रिक तत्व। (१९६३, १९७१)

(ii) प्राचीन भारत में ग्राम शासन। (१९६४)

(iii) प्राचीन भारतीय गणराज्य। (१९६८)

(iv) कौटिलीय अर्थशास्त्र के विचार। (१९६९, १९७५)

(v) मन्त्रिपरिषद। (१९७२)

(vi) प्राचीन भारत में नगर प्रशासन। (१९७४)

(vii) प्राचीम भारत में कर के सिद्धान्त। (१९७८)

अध्याय अट्ठारह

भारतीय सामाजिक व्यवस्थाएँ

वर्ण व्यवस्था

सामान्य तौर पर वर्ण व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है और प्रायः यह समझा जाता है कि इस व्यवस्था से प्राचीन भारत में समाज को चार वर्गों में विभाजित किया हुआ था। किसी सीमा तक ऐसा समझा जाना उचित ही है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज की आधार शिला थी। प्राचीन काल मे हिन्दू समाज मे सहयोग और सहकारिता की भावना प्रबल रूप से कार्यरत थी। इस भावना के अनुरूप जन्म से ही व्यक्ति के क्रियाकलापो तथा उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्णय हो जाता था। जिन सिद्धान्तो पर व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति निर्भर होती थी, वे थे—द्विज और एकज की धारणा, आर्य-अनार्य की धारणा तथा वर्ण की धारणा। जबकि पाश्चात्य जगत की संस्कृति में धर्म और राज्य के बीच सदैव संघर्ष होता रहा, प्राचीन भारत मे ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया, जिनके आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ समान रूप मे सुलभ हो सकें। वर्ण व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों मे से एक थी।

'वर्ण' का अर्थ और प्रयोग

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ् वरणे' या 'वरी' धातु से हुई है। इसका अर्थ है 'वरण करना' या चुनना'। इससे यह आभास मिलता है कि 'वर्ण' से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय को चुनने या अपनाने से है। 'वर्ण' उस वर्ग का सूचक शब्द प्रतीत होता है जिसका समाज मे विशिष्ट कार्य या व्यवसाय है और इस विशेषता के कारण वह समाज में एक वर्ग के रूप मे प्रतिष्ठित है। सामान्य अर्थ मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र वर्ण कर्म या अवस्था के कारण अलग-अलग वर्गों का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं।

'वर्ण' शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग ऋग्वेद मे 'रंग' अथवा आलोक के अर्थ में मिलता है।[1]

१. ऋग्वेद १।७३।७; ६।१०५।४; १०।१२४।७

ऋग्वैदिक समाज मे ही नही वरन प्राकृतिक संरचना के अनुसार लोगों के दो वर्ग थे श्वेत (आर्य) तथा श्याम (अनार्य या दस्यु अथवा दास)। इन दोनो वर्गों में जन्मगत, रक्तगत, शरीरगत तथा संस्कार जनित प्रजातीय भेद था। इन्ही दो वर्गों से कालान्तर मे वर्ण व्यवस्था विस्तृत रूप मे विकसित हुई।

वर्ण व्यवस्था उत्पत्ति के सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय मे प्रमुख रूप से पाँच सिद्धान्त प्रचलित हैं —

(१) दैवी सिद्धान्त, (२) गुण का सिद्धान्त, (३) वर्ण अथवा रंग का सिद्धान्त, (४) कर्म का सिद्धान्त, और (५) जन्म का सिद्धान्त। इन सिद्धान्तो का विवरण निम्नलिखित है—

(१) **दैवी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त में वर्ण की उत्पत्ति ईश्वरकृत मानी गई है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष से बताते हुए कहा गया है कि उसके (विराट पुरुष) मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पद से शूद्र उत्पन्न हुए।[1] ऋग्वेद मे इस विराट पुरुष को सृष्टिकर्ता मान कर यह भी कहा गया है कि उसके सहस्र सिर, सहस्र आँखें तथा सहस्र पैर थे और वह भूत और भविष्य था।[2] महाभारत में दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, ऋग्वेद की भाँति ही वर्गों की उत्पत्ति बताई गई है अन्तर केवल इतना है कि इसमे विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है।[3] गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि उन्होने चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की है तथा वे ही उनके कर्ता और विनाशक हैं।[4] मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः मुख, बाहु, जंघा तथा पैरो से उत्पन्न किया।[5] विष्णु, मत्स्य, ब्राह्मण तथा वायु पुराण में भी ऐसा ही विवरण मिलता है।

(२) **गुण का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह है कि मनुष्य अपने गुणो के अनुसार वर्ण प्राप्त करता है। इसीलिये वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त गुण का सिद्धान्त कहा गया है। सांख्य दर्शन का मत है कि समस्त प्रकृति तीन प्रकार के मूल अणुओ तथा परमाणुओं के मेल का परिणाम है। ये तीन है सत्व, रज तथा तम। सत्वगण का लक्षण है शान्ति, ज्ञान, तप तथा शुद्ध आचरण। रज का लक्षण है क्रियाशीलता, राजसी प्रवृत्ति, धन तथा यश अर्जित करने का उत्साह। तम का लक्षण हैं जड़ता, अहंकार, आलस्य आदि। इन गुणो को क्रमशः श्वेत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण कहा जाता है। इन तीनों गुणो से युक्त परमाणु समस्त प्रकृति में पाये जाते हैं किन्तु इनमें से किसी में एक गुण की प्रधानता होती है तो दूसरे में दूसरे गुण की। किस व्यक्ति मे कौन से गुण

---

१. "ब्राह्मणोस्य मुखासीद् बाहू राजन्य कृतः।
उरुदतस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत॥" ऋग्वेद १०।९०।१२

२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात।
पुरुष एवेंद सर्वं यदभूतं यच्च भव्यम्॥' ऋग्वेद १०।९०।१२

३. महाभारत शान्तिपर्व १२२।४-५।

४. 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्॥' गीता ४।१३

५. मनुस्मृति १।३१

की प्रधानता होगी यह उसके स्वभाव पर निर्भर करता है। इस आधार पर शास्त्रकारों की यह मान्यता है कि प्रवृत्ति के अनुसार तीन वर्णों के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक तो वे जिनमें सत्वगुण प्रधान होता है तथा रज, तम अपेक्षाकृत न्यून। ये ब्राह्मण वर्ण मे आते हैं। रजोगुण प्रधान व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं एक तो मान, सम्मान और यश के प्रति आसक्त होते हैं और दूसरे धन और संचय के प्रति लगाव रखते हैं। इनको क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य की संज्ञा दी गई है। तमोगुण प्रधान व्यक्ति शूद्र की श्रेणी में रखे गये। उनको शास्त्रकारों ने काला कहा।

महाभारत के शान्तिपर्व में भृगु और भारद्वाज के संवाद में गुण सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है।[1] गीता में भगवान कृष्ण के इस वाक्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं कि "मैंने चारों वर्णों की रचना गुण और कर्मों के अनुसार की है।"

(३) **वर्ण अथवा रंग का सिद्धान्त**—ऋग्वैदिक युग में वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' के अर्थों में किया गया था। क्योंकि आर्य श्वेत वर्ण और अनार्य श्याम वर्ण के थे अतः इन दोनों में भिन्नता दर्शाने के लिये ही वर्ण शब्द प्रयुक्त किया गया। कालान्तर में जब सामाजिक समूहों का निर्धारण किया गया तो आर्य-अनार्य भेद दर्शाने की 'वर्ण' (रंग) परम्परा का अनुसरण करते हुये, चारो वर्णों के रंग निश्चित कर दिये गये।[2] यह प्रतिपादित किया गया कि, ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की, जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लोहित (लाल), पीत (पीला) और काला था।[3] वस्तुतः श्वेत रंग सत्व गुण का, लाल रंग रजोगुण का, पीला रंग सत्व और तमोगुण के मिश्रण का और काला रंग तमोगुण का प्रतिनिधि माना गया था। इस सिद्धान्त से यह आभास मिलता है कि इसमें त्वचा के रंग के साथ-साथ गुण और कर्म को भी प्रमुखता दी गई थी और रंगो को गुणो से संयुक्त कर दिया गया था।

(४) **कर्म का सिद्धान्त**—'वरण' (चुनने) के अर्थ मे वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति को स्वीकार करते हुए, जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया, वह कर्म (कार्य) से सम्बन्धित था। परम्परा से वर्ण का यही अर्थ भारतीय समाजिक व्यवस्था मे प्रचलित है। इसके अनुसार वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक सदस्य की सामाजिक स्थिति का चयन उसके कर्म के आधार पर किया गया। कर्म के सिद्धान्त पर गठित वर्ण व्यवस्था मे प्रत्येक वर्ण का कार्य सामाजिक जीवन के लिये उतना ही महत्वपूर्ण था जितना व्यक्ति के जीवन के लिये प्रत्येक अंग का कार्य होता है। विराट पुरुष के शरीर से उत्पन्न वर्णों में भी यही आधारभूत धारणा परिलक्षित है। इस दृष्टि से देखने पर वर्ण व्यवस्था वर्ण कर्म की अभियोजना मात्र प्रतीत होती हे। कर्म का सिद्धान्त धार्मिक पृष्ठभूमि मे भी सशक्त प्रतीत होता है। उपनिषदों मे तो यह व्यवस्था की गई है कि मनुष्य जो वर्तमान जीवन जीता हे वह पूर्व जन्म के किये कर्म का ही प्रतिफल है। अतः सत्कर्म करने वालों का जन्म उच्च वर्ण में होता है और बुरे कर्म करने वाले का निम्न वर्ण में।[4]

(५) **जन्म का सिद्धान्त**—वर्णों की उत्पत्ति जन्म से भी मानी गई है। जन्म से ही व्यक्ति स्वाभाविक रूप में जन्मजात प्रवृत्तियों से युक्त होता है। इसमे वंशानुगत गुण प्रमुख होते हैं।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व

२. 'कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन' पृष्ठ-४०, जी० एस० घुर्ये।

३. महाभारत शान्तिपर्व १८८।५.

४. छान्दोग्य उपनिषद ५।१०।७।

वंशानुगत रूप में प्राप्त जन्मजात प्रवृत्तियों की सीमाओं का कोई भी व्यक्ति उल्लंघन नहीं कर सकता क्योंकि वे उसके स्वभाव और आचरण में अन्तर्निहित होती हैं। वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति का जन्मजात गुण उसके जीवन को व्यवहारिक बनाता है।

विवेचना—उपर्युक्त मतों से वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध मे प्रचलित सत्य का केवल दर्शन मात्र होता है परन्तु वास्तविकता का पता नहीं चलता। यदि निष्पक्ष रूप से निरूपण किया जाये तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का दार्शनिक कारण यह था कि जिस प्रकार राष्ट्र के चार प्रमुख अंग होते है यथा शासन, धर्म, अर्थ एवं सेवक उसी प्रकार समाज के लिये भी चार अंगो का होना अनिवार्य है। परिणामस्वरूप राज्य एवं समाज के रूप मे समन्वय लाने के लिये, कार्यगत प्रवीणता एवं कुशलता हेतु वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ। इसके विपरीत कुछ अन्य विदेशी एवं भारतीय विद्वानों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार पारस्परिक द्वेष, घृणा तथा वैमनस्य है। परन्तु वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुये यह विचार मूर्खतापूर्ण हो प्रतीत होता है। समाज, राज्य एवं व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये पृष्ठभूमि तैयार करना ही वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य था। कर्मानुसार ही वर्ण की सदस्यता प्राप्त होती थी। इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—परशुराम जन्म से ब्राह्मण परन्तु कर्म से क्षत्रिय थे। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय परन्तु कर्म से ब्राह्मण (ऋषि) थे। वशिष्ठ नामक प्रसिद्ध ऋषि वैश्या पुत्र थे। महाभारत महाकाव्य के रचयिता वेद व्यास मछुआरिन के पुत्र थे। विधि निर्माता पाराशर तो शूद्रो में निम्नतर चाण्डाल के पुत्र थे। ऐसे अन्यान्य उदाहरण हमे प्राप्त हैं जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि कर्म के अनुसार ही वर्ण की श्रेणी प्राप्त होती थी। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति वैज्ञानिक, धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर हुई थी। अपने आरम्भिक काल मे वर्ण व्यवस्था कर्म प्रधान थी तथा कर्म की श्रेष्ठता प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य था। शनैः शनैः कालान्तर में वर्ण व्यवस्था कठोर होती गयी और इन चारों वर्णों का कर्म संकुचित सीमा द्वारा बद्ध कर दिया गया। अब बालक की जाति वही होने लगी जो उसके पिता की थी। अतः अब कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन करना सम्भव न रहा। इस विवेचना से इस बात की पुष्टि होती है कि समय के साथ-साथ विकास होते रहने पर वर्ण व्यवस्था मे कर्म के स्थान पर जन्म प्रधान हो गया।

विभिन्न वर्णों का विकास

प्राचीन भारत में, आर्यों के आगमनोपरान्त दो वर्ग प्रमुख थे—आर्य एवं अनार्य। आर्यों में परस्पर कोई भेद-भाव न था, वे एक सुगठित जाति के थे। प्रारम्भ में उनका निवास सप्तसिन्धु तक ही सीमित था, किन्तु आवश्यकताओ मे वृद्धि के कारण उनका विस्तार होने लगा। अब वे दूर-दूर स्थानों पर जाकर अपने ग्राम बसाने लगे। परिवार के मुखिया के नाम पर गोत्र का निर्धारण होता था। धीरे-धीरे समयोपरान्त एक ही स्थान पर एक ही गोत्र के कई परिवार उसी गोत्र में सम्मिलित हो गये। अनेक गोत्रो के समूहों ने गोष्ठियो, ग्रामो एवं जनपदो का निर्माण किया। आर्यों की ही तरह अनार्यों ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया। अनार्यों के सम्पर्क के कारण आर्यों में भी अन्तर उत्पन्न होने लगा। अतः रक्त की शुद्धता कायम रखने के लिये आर्यों ने अपने मध्य तीन वर्ग बनाकर उनके कर्म निर्धारित कर दिये। ऐसा करने में उनका प्रमुख उद्देश्य आर्य-पन की रक्षा करना ही था। प्रथम वर्ग धार्मिक कृत्यो का अधिकारी बना—ये वर्ग ब्राह्मण कहलाया। दूसरा वर्ग

रक्षा एवं शासन का अधिकारी बना—जो क्षत्रिय कहलाया। तीसरा वर्ग कृषि, पशुपालन एवं अन्य व्यवसायों का अधिकारी था, ये वैश्य कहलाये तथा आर्यों एवं अनार्यों के रक्त-सम्बन्ध एवं सम्पर्क द्वारा जो सन्तानें हुईं, वे शूद्र कहलायी। इस प्रकार चार वर्णों का विकास होता रहा।

विभिन्न वर्ण तथा उनके कर्म

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्तो तथा इस व्यवस्था के विकास क्रम पर समग्र रूप से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न वर्णों की धारणा गुणो पर आधारित रही है। प्रत्येक वर्ण के साथ उसका विशिष्ट स्वभाव जुडा हुआ था, जो जन्मजात माना जाता था। उदाहरण के लिये ब्राह्मण को स्वभाव से शान्त और आध्यात्म प्रेमी होना आवश्यक था। वर्ण व्यवस्था के विकास का आधार धर्म था। व्यक्ति की वर्णानुसार गणना उसके गुण धर्म के आधार पर की जाती थी। कर्म भी धर्ममूलक था। चारो वर्ण धर्ममूलक प्रवृत्तियों और विशिष्ट संस्कारो के कारण पृथक माने जाते थे। प्रत्येक वर्ण का कर्म निश्चित था। व्यक्ति के कर्मानुसार वर्ण धर्म की नियोजना की गई थी।

विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों को प्रमुख रूप से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है।

(१) **सामान्य धर्म**—सामान्य धर्म चारो वर्णों के व्यक्तियो के लिये था। सामान्य धर्म का पालन चारो वर्णों के व्यक्तियो को करना था। भारतीय समाजशास्त्रियों के अनुसार सामान्य धर्म के अन्तर्गत निम्न कर्त्तव्यो को सम्मिलित किया जाता था—

(अ) प्राणियो को हानि न पहुँचाना, (आ) सत्य की निरन्तर खोज करना, (इ) अधिकार पूर्वक दूसरे की वस्तु लेने से बचना, (ई) चरित्र एवं जीवन की पवित्रता को बनाए रखना, (उ) इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना, तथा (ऊ) आत्म-संयम, क्षमा, ईमानदारी, दान आदि सद्गुणो का पालन करना आदि।

(२) **विशेष धर्म**—सामान्य धर्म के अतिरिक्त अलग-अलग वर्ण के व्यक्तियों के लिए कुछ विशिष्ट धर्मों का निर्धारण किया गया। इन्हें ही वर्ण-धर्म कहा जाता है। विभिन्न वर्ण के लिए जिन कर्तव्यो का निर्धारण किया गया, उनका वर्णन निम्नलिखित है :—

ब्राह्मण—ब्राह्मण चारो वर्णों मे सर्वश्रेष्ठ माना गया। उसकी श्रेष्ठता का आधार उसकी सात्विक प्रवृत्ति और निश्छल स्वभाव था। मनुस्मृतिकार ने ब्राह्मणों के अग्रलिखित कर्त्तव्य निर्धारित किए हैं—(i) अध्ययन, (ii) अध्यापन, (iii) यज्ञ करना, (v) दान देना, तथा (vi) दान लेना। इसी प्रकार भीष्म ने ब्राह्मणो के तीन धर्म या कर्त्तव्य बतलाएँ हैं—(i) पढ़ाना, (ii) आत्मनियन्त्रण, तथा (iii) तप का अभ्यास करना। ब्राह्मणो के गुणों मे, (i) ज्ञान, (ii) आस्तिकता, (iii) क्षमा, (iv) संयम, (v) असंग्रही, (vi) सदाचारी तथा (vii) न्यायप्रिय आदि की गणना की गयी है।

क्षत्रिय—वर्ण व्यवस्था मे क्षत्रियो को दूसरा स्थान प्राप्त था। सामान्य धर्मों के अतिरिक्त क्षत्रियो को अग्रलिखित विशेष कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक था—(i) धर्म और जीवन की रक्षा, (ii) पढ़ना, (iii) दान देना, (iv) यज्ञ करना। गीता में क्षत्रियो के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे ये हैं—(i) शौर्य, (ii) तेज, (iii) धैर्य, (iv) चातुर्य, (v) युद्ध मे डटे रहना, (vi) दान देना तथा (vii) स्वामीभाव आदि।

वैश्य—मनुस्मृति में वैश्यों के निम्न कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं—

(i) अध्ययन करना या पढ़ना, (ii) यज्ञ करना, (iii) दान देना, (iv) कृषि तथा पशु पालन, (v) लेनदेन तथा व्यापार। गीता मे वैश्यो के तीन धर्म या कर्त्तव्य बतलाए हैं—(i) कृषि, (ii) गोरक्षा, तथा (iii) वाणिज्य।

शूद्र—शूद्र वर्ण व्यवस्था के अन्तिम स्तर मे आते हैं। शास्त्रकारो ने लिखा है कि शूद्र का धर्म उपरोक्त तीनो वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की बिना ईर्ष्या भाव से सेवा करना है।

विभिन्न वर्णों की स्थिति

ब्राह्मण—वर्ण-व्यवस्था के क्रम मे ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च स्थान पर था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे ब्राह्मण को विशेषाधिकार प्राप्त थे। उसके स्वधर्म के अन्तर्गत ये कर्म थे—वेद पढना, वेद पढाना, यज्ञ करना और करवाना, दान देना तथा दान लेना।[1] ब्राह्मण से त्याग, कर्त्तव्य परायणता, साधना और बौद्धिक श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती थी। वह राज्य और समाज के हित के लिये धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करता था तथा साधना और तपश्चर्या द्वारा समाज का मार्ग निर्देशन करता था। ब्राह्मणो को अनेक विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी। पुरोहित के रूप मे वह राजा को महत्वपूर्ण परामर्श देता था। राज्याभिषेक के समय वह राजा को प्रजा और राज्य के प्रति कर्त्तव्यपरायणता का आदेश देता था। 'हे मनुष्यों, यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है। ब्राह्मणो का राजा तो सोम है।'[2] इस कथन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण राजा पर आश्रित नही था। ब्राह्मण अवध्य, अवन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य था।[3] मनु ने ब्राह्मण की हत्या को महापातक माना है।[4] एक ही प्रकार का अपराध करने पर अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण के लिये उदारदण्ड की व्यवस्था थी।

सभी वर्णों को शिक्षा देने का दायित्व ब्राह्मण पर था। निरुक्त मे कहा गया है कि विद्या अपने त्राण के लिये ब्राह्मण के निकट आई तथा उसने विद्या का आदर-सत्कार किया।[5] अध्ययन और अध्यापन उसका स्वधर्म था।[6] मनु के अनुसार ब्राह्मण मूर्ख होने पर भी देवता के समान था।[7] मनु के ही अनुसार जाति की विशिष्टता, उत्पत्ति स्थान की श्रेष्ठता (ब्रह्मा के मुख), श्रुति-स्मृति-विहित आचरण तथा यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों का स्वामी था।[8]

आर्थिक क्षेत्र मे भी ब्राह्मण को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। दान लेने का अधिकारी वही था। उसे दान देने में गौरव अनुभव किया जाता था। यज्ञ की बची सामग्री ब्राह्मण की ही होती थी। उसके धन को राजा भी ग्रहण नही कर सकता था।[9] वह राज कर से भी मुक्त था।[10] धर्म सूत्रो के अनुसार प्रतिग्रह का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को प्राप्त था।[11]

---

१. अर्थशास्त्र १।३; मनुस्मृति १।८८; याज्ञवल्क्य ५।१८८; बौधायन धर्मसूत्र ११२।१८।२।
२. शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१।
३. शतपथ ब्राह्मण १३।३।५।४; गौतम धर्मसूत्र ८।५; ११।५-६।
४. मनुस्मृति ११।५४।
५. निरुक्त २।४।
६. अर्थशास्त्र ३।५।
७. मनुस्मृति ६।३१७।
८. मनुस्मृति १०।४।
९. गौतम धर्मसूत्र १०।१।२।
१०. मनुस्मृति ७।१३३; अर्थशास्त्र २।१।
११. बौधायन धर्मसूत्र २।२।२-८३।

ब्राह्मण को प्रत्येक वर्ण से एक-एक पत्नी रखने का अधिकार था। चार पत्नियाँ रखना समाज में उसकी विशेष स्थिति, गरिमा और प्रतिष्ठा को व्यक्त करती है।[1]

आपातकाल में ब्राह्मण वर्णोतर कर्म कर सकता था। यदि अपने परिवार का पालन पोषण करने में अध्यापन, यज्ञ तथा दान प्राप्ति द्वारा पर्याप्त धन-सामग्री नहीं मिलती थी तो वह क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के कर्म अपना सकता था। कौटिल्य ने ब्राह्मण सेना का उल्लेख किया है।[2] महाभारत से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा जैसे वीर पराक्रमी ब्राह्मण थे। मनु ने संकट मे ब्राह्मणो को कृषि करने का प्रावधान किया है।[3] संकट के समय वह व्यापार भी कर सकता था परन्तु मांस, लाख और नमक बेचने वाला ब्राह्मण पतित और दूध बेचने वाला ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र हो जाता था।[4] धन देकर ब्याज लेने का कर्म उनके लिये वर्जित था। स्वधर्म और आपतकालीन 'कर्म अपनाने के कारण ब्राह्मणों के कई वर्ग हो गये थे। जैसे—ब्रह्मसम, देवसम, शूद्रसम, चाण्डालसम, क्षत्रसम तथा वैश्यसम आदि।

क्षत्रिय—राज्य और समाज की रक्षा का भार क्षत्रिय वर्ण पर था। उनका वर्णगत गुण शासन और सैन्यकर्म था। चतुंवर्णों का संरक्षण करना उनका उत्तरदायित्व था। उन्हें अध्ययन और अध्यापन का भी अधिकार था। क्षत्रिय वर्ण की स्थिति द्वितीय श्रेणी पर थी। गौतम ने इस वर्ण को तीन वेदो पर अधीत बताया है।[5] कौटिल्य ने क्षत्रिय के प्रमुख कर्मों में अध्ययन, यज्ञ करना, शस्त्र धारण करना और भूतरक्षण की गणना की है।[6] मनु ने यह व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, दान दे, वेद पढ़े और विषयों में आसक्त न हो।[7] न्याय की स्थापना करना तथा अधर्मियों को दण्ड देना भी क्षत्रिय के कर्त्तव्य क्षेत्र मे सम्मिलित था। वे समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और संरक्षण के लिये राज करते थे।

युद्ध में विजित सामग्री पर क्षत्रियो का अधिकार होता था। समय-समय पर अधीनस्थ राजाओ से मिलने वाले उपहारों पर भी क्षत्रिय शासक का स्वत्व होता था। क्षत्रिय सैनिक या राजपुरुष राजा के वेतन भोगी होते थे। क्षत्रिय शिक्षक भी बन सकते थे परन्तु वे इसके बदले मे कोई शुल्क ग्रहण नहीं कर सकते थे। पंचाग्निविद्या की उत्पत्ति और विकास का श्रेय क्षत्रियो को ही प्राप्त था। दण्ड के क्षेत्र मे क्षत्रियो को केवल ब्राह्मण के प्रति किये गये कुछ अपराधों में अन्य वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था। गौतम के अनुसार यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को अपशब्द कहे तो १०० कार्षापण और यदि वैश्य ऐसा करे तो १५० कार्षापण का दण्ड देना चाहिये।[8]

आपतकाल मे क्षत्रिय अपने से नीचे के वर्ण के कर्म अपना सकते थे। मनु गौतम और बोधायन के अनुसार वे वैश्य कर्म अपना सकते थे। व्यापार में उनके लिये रस, तिल, नमक, पत्थर पशु और मनुष्यों का क्रय-विक्रय वर्जित था।[9]

वैश्य—ब्रह्मा के उदर से उत्पन्न वैश्य वर्ण अपने उदर की पूर्ति के साथ-साथ समाज को अर्थ

---

१. अथर्ववेद ५।१७।८।
२. अर्थशास्त्र ९।२।
३. शुक्र० ४।३।१९।
४. मनुस्मृति १०।९२।
५. गौतम धर्मसूत्र ११।३,११।९।
६. कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।६।
७. मनुस्मृति १।८९।
८. गौतम धर्मसूत्र २३।६-७।
९. मनुस्मृति १०।८६।

व्यवस्था एवं भरण-पोषण का भार वहन करते थे। वे अपने सतत प्रयत्नो द्वारा समाज एवं राज्य को आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान करते थे। उनके प्रमुख कर्त्तव्यो में कृषि कर्म, पशुपालन, व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा दान आदि थे। इसके अतिरिक्त उन्हे वेदो के अध्ययन का अधिकार भी प्राप्त था। वे जो कुछ भी उत्पन्न करते थे, समाज एवं राज्य का उस पर पूर्ण नियन्त्रण होता था। अपनो आय का कुछ अंश उन्हे राज्य को आय कर के रूप मे देना पड़ता था। आर्थिक समृद्धि एवं विकास के लिए वे यज्ञो का आयोजन भी करते थे। समाज में उन्हें क्रमशः तीसरा स्थान प्राप्त था।

गौतम तथा कौटिल्य के अनुसार अध्ययन, भजन और दान वैश्यो का परम कर्तव्य था।[१] कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य उनके स्वाभाविक कर्म थे।[२] पशुओ की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना तथा कृषि कर्म वैश्यो के कर्त्तव्य थे।[३] दूसरो की फसलो तथा बीजों की देख भाल करने पर वैश्यो को निश्चित पारिश्रमिक मिलता था।[४]

राज्य को कर के रूप मे प्राप्त होने वाले धन का अधिकांश वैश्य वर्ण द्वारा ही दिया जाता था। इस प्रकार वैश्य वर्ण द्वारा राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती थी। फिर भी समाज में उन्हे विशेष आदर सम्मान प्राप्त नही था। बौधायन ने वैश्यों की अवस्था शूद्रो के समकक्ष बताई है।[५] इसका मुख्य कारण इस वर्ण का अध्ययन और यज्ञ से विरत होना था।

आपतकाल में वैश्य अपनी जीविका का निर्वाह करने के लिये दूसरे कर्म कर सकता था। गाय, ब्राह्मण तथा अपने वर्ण की रक्षा के लिये वह शस्त्र धारण कर सकता था।[६] मनु के अनुसार अपने वर्ण के लिये निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए, वह शूद्र वृत्ति को अपना सकता था।[७] प्रायः ब्राह्मणो और क्षत्रियो की सेवा द्वारा भी वह जीविका चला सकता था।

विभिन्न व्यवसायो, उद्योगो एवं व्यापार करने के कारण वैश्यो में पांच श्रेणिया बन गई थी—(१) स्थानीय वणिक, (२) कारवां, (३) सामुद्रिक व्यापारी, (४) विभिन्न उद्योग करने वाले वणिक, तथा (५) साधारण व्यापारी।

शूद्र—समाज मे शूद्र वर्ण की स्थिति निम्नतम थी। शूद्र पतित तथा हेय माने जाते थे। अधिकार और प्रतिष्ठा से वंचित शूद्रो की तुलना पशुओ से की गई थो।[८] दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्तानुसार शूद्र समाज के चरण थे। जिस प्रकार शरीर का सारा भार पैरो पर होता है, उसी प्रकार शूद्र वर्ण पर समाज की सेवा का पूरा पूरा भार था। मनु के अनुसार तीनो वर्णों की सेवा करना, यही एक कर्म ईश्वर ने शूद्रो के निमित्त बनाया है। यह वर्ण समाज के हीन कर्म करता था। शूद्र का अपना कोई धन नही होता था। उसके सारे धन पर स्वामी का ही अधिकार होता था। शूद्र पूर्ण रूप से द्विजो की दया पर निर्भर थे। वे अन्य तीन वर्णों द्वारा परित्यक्त वस्तुओ का उपयोग करते थे।[९] सेवा के बदले में उन्हें जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, धान के पुआल तथा

---

१. गौतम धर्म सूत्र १०।१-३, कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।७।
२. महाभारत भीष्म पर्व—४२।४४।
३. मनुस्मृति १।९०।
४. महाभारत—शान्ति पर्व ६०।२५-२६।
५. बौधायन धर्म सूत्र १।११।४
६. बौधायन धर्म सुत्र २।२।२०।
७. मनुस्मृति १०।९८।
८. बौधायन धर्म सूत्र २।१०; १९।१-६।
९. गौतम धर्म सूत्र १०।५८।

पुराने वर्तन, खाट आदि दिये जाते थे।[1] ब्राह्मण की सेवा करना शूद्रों का सौभाग्य सूचक था। यदि ब्राह्मण सेवा से उनका भरण पोषण नही होता था, तभी वे धनिक वैश्य की सेवा करते थे।[2] आपत्तिकाल मे वे विभिन्न उद्योग धन्धे अपना सकते थे। यह रोचक बात है कि आपदकाल मे वे जो कर्म कर सकते थे, वे उनके स्वधर्म से अच्छे थे। भूख से पीड़ित होने पर शूद्र कारु कर्म कर सकते थे। इसमें भोजन वनाने, कपड़ा बनने तथा वढ़ई के कार्य सम्मिलित थे।

महाकाव्य काल मे उनकी दशा में कुछ प्रगति हुई। अब वे व्यापार और वाणिज्य कर सकते थे। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया था।[3] मनु के विचारो में शूद्रो की स्थिति मे सुधार होने के प्रमाण मिलते हैं। मनु ने शूद्रो की श्रेणी मे विदेशी तत्वों को भी सम्मिलित करके कुछ सुविधाओ की प्रस्तावना की। अब शूद्रों को काष्ठशिल्प, धातुशिल्प, तथा चित्र-कला आदि कर्मों को अपनाने की आज्ञा दी गई। मनु ने यहाँ तक कहा कि नीच (शूद्र) से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिये।[4] मेधातिथि के 'मनुस्मृति भाष्य से विदित होता है चाण्डाल के वचन भी एक प्रकार का धर्म अथवा व्यवस्था माने जाते थे। उसने कहा है कि यदि चाण्डाल भी 'इस स्थान पर वहुत देर तक मत रूको' तथा 'इस जल मे स्नान न करो' वचन कहे तो उसे मानना चाहिये।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि शूद्रो के सामाजिक उद्धार की वात सोची जाने लगी थी। फिर भी सामाजिक व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी थी कि पुरातन सामाजिक मान्यताओ और व्यवहार को उपेक्षा शूद्रो के लिये असंभव और दुष्कर थी। किसी सीमा तक यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि शूद्रो के प्रति उदार भावना मे बीजारोपण से शूद्रो मे दो वर्गों का विकास होने लगा था। शूद्रो का सन्मार्गी वर्ग वैश्यो के समकक्ष तथा सामान्य वर्ग यथास्थिति पर बना रहा।

शूद्रों की स्थिति की विवेचना—

भारतीय संस्कृति मे शूद्र को कर्म-काड का अधिकार तो दिया गया है, परन्तु उसे वेद के अध्ययन की आज्ञा नहो दी गई। लोगो का विचार है कि शूद्र को वेद के अध्ययन की आज्ञा न देकर उस पर अत्याचार किया गया था। जब बाकी तीन वर्ण (द्विज) वेद तथा अध्यात्मिक विद्या को प्राप्त कर सकते थे, तो शूद्र को इससे क्यो वंचित रखा गया? भारतीय इतिहास में एक ऐसा भी युग आया, जब कि शूद्र को यदि वेद का मन्त्र सुनाई पड़ जाये, तो उसके कानो मे पिघला हुआ गर्म-गर्म सीसा डाल दिया जाता था। कह नही सकते कि यह बात कहाँ तक ठीक है, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता था कि शूद्र का अध्यात्म-विद्या को प्राप्त करना भारत मे पसन्द नही किया जाता था। शूद्र सदैव अशिक्षित और अनपढ़ रहा। इस अन्याय के विरुद्ध सुधार के आन्दोलन भी चलते रहे। महापुरुषो ने इसकी आलोचना भी की, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे यह अन्याय मौजूद रहा। भारत मे स्वतन्त्र होने पर जहाँ छुआछूत को अवैध बताया गया, वहाँ इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया कि भविष्य में कोई संस्था किसी भी व्यक्ति को जाति-भेद के कारण शिक्षा देने से इन्कार नही कर सकती। वास्तव मे यह बहुत बड़ा सुधार है।

प्रश्न यह है कि भारतीय संस्कृति इतनी उन्नत तथा उदार होती हुई किस प्रकार इस

१. मनुस्मृति १०।१२५
२. मनुस्मृति १०।१२१,१२२,१२३।
३. महाभारत २।३३।१६१
४. मनुस्मृति १०।१००, २।२३८।
५. मेधातिथि, 'मनस्मृति'—२।२३८।

अन्याय की व्यवस्था कर पाई ? क्यो न सभी को एक समान वेद-विद्या के अधिकार दिये गये ? यह आक्षेप बहुत कुछ ठीक प्रतीत होने पर न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता ।

यह आक्षेप केवल वर्तमान गिरी हुई स्थिति में ही जाति-भेद को देखकर ठीक दिखाई देता है । जब वर्तमान वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म न होकर केवल जन्म ही हो, जब ब्राह्मण का मूर्ख पुत्र ब्राह्मण ही कहलाये और शूद्र की प्रतिभाशाली सन्तान को शूद्र ही कहा जाये तो सभी को एक समान वेद-विद्या का अधिकार न देना अन्याय अत्याचार ही होगा । यदि मूर्ख ब्राह्मण वेद पढ़ सकता है, तो बुद्धिमान शूद्र क्यो नही ? इस अन्याय के विरुद्ध ही कबीर, नानक, दयानन्द तथा गाँधी जैसे महापुरुषो ने अवाज उठाई थी । वास्तव मे शूद्र को वेद-विद्या का अधिकार न देना ही अत्याचार है, यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म के कारण ही शूद्र मान लिया जाये ।

परन्तु वर्ण व्यवस्था का वास्तविक और वैज्ञानिक आधार गुण और कर्म था, जन्म नही । (ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य) वह व्यक्ति कहलाता था जिसमें बौद्धिक और नैतिक क्षमता हों, और शूद्र वह था जिसमे बौद्धिक और नैतिक गुणो का अभाव हो । इस रूप में ब्राह्मण की बौद्धिक गुणो से रहित सन्तान शूद्र होगी और शूद्र का बुद्धिमान पुत्र ब्राह्मण होगा । दूसरे शब्दो मे ब्राह्मण की सन्तान को वेद-विद्या का अधिकार नही होगा और शूद्र का पुत्र वेद का अध्ययन कर सकेगा । यदि हम वर्ण-व्यवस्था को इसी वैज्ञानिक स्थिति में स्वीकार करें, तो शूद्र (जो गुण और कर्म से रहित है) के साथ अन्याय करने का प्रश्न ही नही रहता क्योकि प्रत्येक गुण रहित व्यक्ति (चाहे वह ब्राह्मण की सन्तान हो अथवा शूद्र की) को समान रूप से वेद पढ़ने के अधिकार से वंचित रखा गया है ।

शास्त्र भी इसी बात के साक्षी हैं । मनु का कथन है, "किसी व्यक्ति के वर्ण का निश्चय उसके गुणो से होता है, जन्म से नही । व्यक्ति की जाति का आधार उसका चरित्र है फिर चाहे जन्म उसने किसी भी जाति मे लिया हो । जिसमें ब्राह्मण के गुण नही हैं, वह नाम मात्र का ही ब्राह्मण है । यह उसी प्रकार है जैसे कि हम लकड़ी के हाथी को हाथी और हिरण की खाल को हिरण कहें । वह ब्राह्मण इसी जन्म मे शूद्र कहा जाना चाहिये । जो वेद के ज्ञान से रहित है, और वह शूद्र ब्राह्मण हो जाता है जिसमे ब्राह्मण की योग्यता है । और यही बात क्षत्रीय और वैश्य पर लागू होती है ।" गीता में यह बात स्पष्ट तौर पर कही गई है कि चार वर्णों का आधार गुण, कर्म और स्वभाव है । डा० राधाकृष्णन का मत है, "बहुत से ऋषि जिनकी ब्राह्मण भी पूजा करते हैं निम्न जातियो में से थे । महर्षि वशिष्ठ का जन्म वेश्या के गर्भ से ज्ञात हुआ है, व्यास माहीगीर स्त्री के पुत्र थे, और पाराशर की माता चांडाल जाति से थी ।" यह ठीक है कि पीछे से जन्म ही वर्ण का आधार हो गया, परन्तु सिद्धांत में यह बात नही थी। इसलिए आर्य संस्कृति पर शूद्र के ऊपर किये गये अत्याचार का आक्षेप नही आता ।

वर्ण व्यवस्था के गुण-दोषों की विवेचना

वर्ण-व्यवस्था की लगभग तीन हजार वर्षों से चली आ रही निरन्तरता इस बात का प्रमाण है कि इस में अनेक गुण रहे होगे । आर्यों द्वारा प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था एक मौलिक कृति है । इसके गुणों अथवा लाभों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

(१) **संस्कृति समाज एवं धर्म की रक्षा**—भारतीय समाज, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा

का श्रेय वर्ण व्यवस्था को ही है। अपनी नियमित व्यवस्था के कारण वर्णों ने दूसरी जातियों के साथ सम्मिश्रण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के कारण ही हमारी संस्कृति एवं धर्म को यूनानी, हूण तथा मुसलमान आक्रमणकारी प्रभावित न कर सके। वास्तव में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अभ्युदय के लिये सभी वर्ण एक दूसरे के लिये त्याग करते हुए, पारस्परिक सहयोग प्राप्त करते थे। समय के अनेक थपेड़ो को सहन करके यह व्यवस्था आज भी वर्तमान है।

(२) **आध्यात्मिक उन्नति**—वर्ण व्यवस्था द्वारा समाज में ब्राह्मणों के रूप में एक ऐसे वर्ग का निर्माण किया गया, जिसका कार्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति करना था। ब्राह्मणों को धन के लोभ से च्युत कर दिया गया। व्यवस्थाकारो के अनुसार सम्मान को ब्राह्मणों के लिये अहितकर माना गया। उन्हे धनोपार्जन तथा सुरक्षा की चिन्ता नही थी। अतः वे सारी शक्ति आध्यात्मिक उन्नति में लगा देते थे। इस कारण आध्यात्मिक जगत मे विशेष उन्नति हुई। ब्राह्मण मोक्ष पाने का साधन बताते थे तथा उसकी प्राप्ति सभी के लिये उपलब्ध थी।

(३) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा**—अपने-अपने कर्म क्षेत्र मे सभी वर्णों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अतः उन्हें विकास करने का समान अवसर प्राप्त था। क्षत्रियों के कार्य-क्षेत्र में ब्राह्मण बाधक नही थे और न ही क्षत्रिय वैश्य के कार्य-क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता था। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मूल सिद्धान्तो की रक्षा होती थी।

(४) **एकता की भावना**—वर्ण-व्यवस्था के कारण एकता की स्थापना हुई। एक ही कर्म करने वाले अपने हितो की रक्षा करने के लिये संघ बना लेते थे। उनमे परस्पर प्रेम एव सहयोग की भावना रहती थी। धीरे-धीरे इस भावना का प्रसार सारे समाज में हो गया। विदेशी आक्रमणो के समय केवल क्षत्रिय ही नही वरन् सारा समाज अस्त्र-शस्त्र धारण कर लेता था और पूर्ण सहयोग देता था।

(५) **कार्यगत कुशलता**—प्रत्येक वर्ण का कर्म-क्षेत्र भिन्न था तथा सभी कर्म आवश्यक एवं एक दूसरे से सम्बन्धित थे। अतः समाज के चारो वर्ण अपने कार्य-क्षेत्र में पूर्ण कुशलता प्राप्त करने में लगे रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था के दोष

(१) भेद का आधार गीता में वर्णित 'गुण' तथा 'कर्म' होना चाहिये था। जन्म से ही शूद्र होने के कारण समाज का बहुसंख्क शूद्र वर्ण सदैव के लिये हीन एवं पददलित बन गया।

(२) वर्णों के मध्य संकीर्णता तथा संकुचित भावनाओं के कारण अनेकता उत्पन्न हो गई।

(३) युद्ध में यदि क्षत्रिय पराजित होते थे तो समाज की पराजय हो जाती थी।

(४) श्री विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार वर्ण व्यवस्था के दूषित होने का कारण था—"**It shuts of Indians from free association with foreigners.**" परिणामस्वरूप भारतीयों तथा विदेशियों मे सहकारिता एवं आपसी सम्बन्धो का अभाव बना रहा।

(५) वर्ण-व्यवस्था का एक अन्य दोष यह भी था कि इससे प्रत्येक वर्ण का दृष्टिकोण संकुचित हो गया तथा राष्ट्रीय भावना के उदय होने में अवरोध उत्पन्न हुआ।

(६) प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य समान है, फिर यह आकृतिक बन्धन क्यो? सभी को समान अवसर प्राप्त क्यो नही होता? इस प्रकार के अनेक प्रश्नो के उत्तर देने में वर्ण व्यवस्था असमर्थ प्रतीत होती है।

(७) भारतीय समाज की अनेक दुःखद घटनाओ का कारण हमें वर्ण-व्यवस्था में ही प्राप्त होता है। तेलगू के कवि श्री यमन के शब्दों में—"जाति-प्रथा के दुःख एवं कष्ट असीमित हैं।"

वर्ण-व्यवस्था के उपरोक्त गुण दोषों के वर्णन द्वारा हमें इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि वर्ण-व्यवस्था से हमारे देश को लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक हुई। परन्तु हमें यह नही भूलना चाहिये कि जिस काल में इस व्यवस्था की स्थापना हुई थी उस काल में यह व्यवस्था अपने महान् गौरवपूर्ण रूप में विद्यमान थी। इस व्यवस्था द्वारा समाज में संगति रही, एकमुखता रही और पारस्परिक संघर्ष का अभाव रहा। ब्राह्मण यज्ञ करते समय सम्पूर्ण समाज के कल्याण की कामना करते थे—'हे देव सभी वर्णों में दीप्ति प्रदान करो।'[1] यजुर्वेद में यह कहा गया कि शूद्रों से भी कल्याणी वाक्य का प्रयोग करने से मनुष्य देवताओं का प्रिय बन सकता है।[2] शतपथ ब्राह्मण मे वर्णों के सहयोग की अपेक्षा करते हुए, कहा गया है कि ब्राह्मण लोगो के व्यक्तित्व का विकास करता है, और लोग कृतज्ञतावश उनकी पूजा करते हैं, दान देते हैं, उनसे शत्रुता नही करते और उसको अबध्य मानते हैं।[3] आज वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध हो रहा है—यह ठीक भी है क्योकि आधुनिक युग मे इसकी कोई आवश्यकता नहीं। दोष उन आदिकालीन वर्ण-व्यवस्थापको का नही अपितु स्वयं हमारा ही है कि मृत एवं महत्वहीन व्यवस्था को आज भी हम अपने हृदय से लगाये हुये हैं और उसे अपनाये हुये हैं। भारतीय संस्कृति की आत्मा ने सदैव ही मानव को उसके सत्य रूप में देखा है। मूल एवं प्राकृतिक अधिकारो में हमारा दृढ़ विश्वास है। अतः समय-समय पर इस वर्ण-व्यवस्था को मिटाने की बात भी हमने स्वयं ही कही है।

वर्ण-व्यवस्था का महत्व

वर्ण-व्यवस्था के विषय मे विचार कर लेने के उपरान्त इसका महत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। सामान्य रूप मे इसके महत्व को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) वर्ण-व्यवस्था समाज का लचीला वर्गीकरण था।

(२) भारतीय समाजशास्त्रियो के अनुसार 'सामाजिक उच्चता' का आधार आर्थिक और भौतिक वस्तुएँ हैं। इसलिए उन्होने बौद्धिकता को सर्वोच्च स्थान दिया है। बौद्धिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन और बुद्धि की प्रतिष्ठा स्थापित करना ही वर्ण व्यवस्था का आधार था।

(३) भारतीय संस्कृति का उद्देश्य बुद्धि की सर्वोच्च प्रतिष्ठा और वर्ण के लचीलेपन के द्वारा समाज के अधिक से अधिक व्यक्तियो को बौद्धिक बनाना था।

(४) वर्ण-व्यवस्था के द्वारा जो व्यक्ति अपने कार्यों का सम्पादन नही करते थे, उनका वर्ण-परिवर्तित हो जाता था। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा अपने कर्त्तव्यो के प्रति जागरुकता पैदा करना इनका उद्देश्य था।

(५) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार कर्त्तव्य है; इज्जत, हुकूमत, दौलत, सेवा ये चार अधिकार हैं। कर्त्तव्यो और अधिकारो को प्रवृत्ति के अनुसार चार हिस्सो मे बाँटकर उन्हें निश्चित करना ही वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य था।

---

१ 'रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥" शुक्ल यजुर्वेद १८।४८।

२. यजुर्वेद २६।२।

३. शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१।

(६) वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य कर्म की प्रधानता को स्वीकार करना और समाज की प्रगति में वृद्धि करना था। जन्मजात आधार व्यक्तियों को अकर्मण्य बना देता है। व्यक्ति को कार्यशील बनाना ही वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य था।

(७) भारतीय व्यवस्थाकार जानते थे कि समाज का विकास 'स्वार्थ' और 'परार्थ' दोनो के समन्वय से हो सकता है। उनके अनुसार इसी के द्वारा समाज का विकास सम्भव है। इसीलिए उन्होंने आर्थिक दृष्टि की अवहेलना तो नही की, परन्तु परार्थ को मुख्य बनाकर स्वार्थ को परार्थ के साधक के रूप मे गौड़ स्थान दिया।

(८) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी आवश्यकतायें अकेले पूर्ण नही हो सकती हैं, उसे दूसरो की सहायता और सहयोग की आवश्यकता होती है। यही सहायता और सहयोग वर्ण-व्यवस्था के मूल मे था।

(९) इस योजना का उद्देश्य वंशानुक्रमण और शिक्षा की शक्तियो का प्रयोग करके विभिन्न वर्णों के सदस्यो में यथायोग्य भावना और परम्परा का विकास किया था। इसीलिए यह विभाजन इतना कठोर नहीं था।

(१०) वर्ण-व्यवस्था कर्मवादी, बुद्धिवादी, त्यागवादी, आशावादी और प्रजातन्त्रवादी जैसे महान् सिद्धान्तो पर आधारित थी।

(११) अध्यापको, योद्धाओ, व्यापारियो और सेवको—मनुष्यो का यह चार वर्गों में विभाजन मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र और अर्थशास्त्र पर आधारित है। स्वभावत: कुछ व्यक्ति कुशाग्र होते हैं, कुछ व्यक्ति लालची और दूसरे इन दोनों से भिन्न। स्वाभाविक प्रवृत्ति—स्वधर्म के अनुसार—प्रत्येक व्यक्तियो के कार्य बँटे हुए थे। ये सभी मिलकर एक सावयवी समग्रता का निर्माण करते थे। सामाजिक सहयोजन और जागरुकता सहयोग को मानव की मौलिक विशेषताएँ मानी जाती थी। 'यही वर्ण-व्यवस्था बदलती हुई परिस्थितियों मे भारतीय सभ्यता की रक्षा कर सकी।

प्राचीन भारत में जाति प्रथा

जाति की भावना तथा विषमता का विकास

पृथ्वी अस्तित्व में आई, जीवन ने अठखेलियाँ शुरू की और फिर मानव की उत्पत्ति हुई। फिर मानव ने विकास करना प्रारम्भ किया। उनकी संख्या में वृद्धि हुई तथा प्रकृति और वातावरण के साथ समन्वय करके उसने जीवन की कला में निपुणता प्राप्त कर ली। विश्व मे सभ्यता के कई केन्द्र बने और लोगो ने पृथ्वी पर दूर-दूर की यात्रा शुरू कर दी। जहाँ अधिक सुविधायें प्राप्त हुई—वहीं पर लोग बसने लगे और शीघ्र ही वह समय आ गया जब कि विभिन्न प्रदेशीय लोग अलग-अलग नामो से पुकारे जाने लगे। मानव के बीच भेद उत्पन्न होने का यह प्रथम अवसर था और शायद यही-कही जाति की भावना ने जन्म लिया।

विकास की लम्बी शृङ्खला को पार करते हुये जब मनुष्य पूरी तरह से सभ्य हो गया तो उसका मस्तिष्क अपने साथियो के प्रति, दूसरे मनुष्यो के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण से सोचने लगा। वह जिस परिवार, समूह तथा कबीले में रहता था—उसके प्रति उसके मन में अपनत्व की भावना

उपजी और उसने दूसरे समूह को अपने समूह से अलग समझना शुरू कर दिया। यह जातिगत विषमता का जन्म होने की अवस्था थी।

भारतीय जाति प्रथा की उत्पत्ति के सिद्धान्त

प्राचीन भारत में जाति प्रथा की उत्पत्ति के विषय में प्रतिपादित सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) **दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओ से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा चरणों से शूद्र उत्पन्न हुये। परन्तु यह सिद्धान्त जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त नही माना जा सकता। ये चारों वर्ण तो आर्य जाति के अंग थे। एक ही आर्य जाति को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने वाले इस सिद्धान्त में जाति की उत्पत्ति का लेशमात्र भी संकेत नहीं है।

(२) **राजनैतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादको का कथन है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति ब्राह्मणो ने अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिये की। डा० घुरिये ने कहा है कि "जाति प्रथा इण्डोआर्यन संस्कृति के ब्राह्मणो का शिशु है, जो गंगा यमुना के मैदान मे पला और वहाँ से देश के अन्य भागों में ले जाया गया।" प्रतीत होता है कि ब्राह्मणो ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये जाति प्रथा की उत्पत्ति नही की वरन् वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की। वे आर्य जाति के सिर-मौर बने, अनार्य जाति के नही। ब्राह्मणो ने अनार्यों को 'दस्यु' कहा, न कि अपना दास। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था के प्रतिपादको ने 'दस्यु' अनार्यों को वर्ण व्यवस्था से बाहर रखकर उनको पृथक जाति के रूप मे मूक मान्यता दे दी।

(३) **आर्थिक सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक संघो तथा श्रेणियों द्वारा जाति की उत्पत्ति हुई है। परन्तु प्रश्न उठता है कि आर्थिक संघ तो विश्व के अन्य भागो मे भी थे। फिर भारत मे ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति क्यो हुई ?

(४) **व्यावसायिक सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण व्यावसायिक कार्य हैं। क्योकि ऊँच नीच का भेदभाव व्यवसाय के रूप पर निर्भर करता है अतः उच्च व्यवसाय करने वालों ने अपने को उच्च माना तथा नीचे व्यवसाय करने वालो को नीचा माना। इस भेदभाव ने जाति व्यवस्था को जन्म दिया। यदि इस सिद्धान्त को सही मान लिया जाय तो हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि तब विभिन्न व्यवसायो को करने वाले वर्ण—आर्य जाति के अंग कैसे हो गये ?

(५) **प्रजातीय सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार आर्य तथा अनार्यों के समिश्रण से जातियों की उत्पत्ति हुई। परन्तु इस सिद्धान्त की बड़ी आलोचना की गई है।

(६) **धार्मिक सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति एक-ही देवता की उपासना, समान धर्म मे आस्था तथा समान धार्मिक कृत्य करने वालो के पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्धों द्वारा हुई है। परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर जाति और गोत्र के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होता है।

(७) **'माना' सिद्धान्त**—'माना' एक प्रकार की आकर्षण शक्ति है जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर गहरा प्रभाव डालती है। हट्टन महोदय का विचार है कि आर्यों ने अपने को 'माना' के प्रभाव से बचाने के लिये अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये तथा अपने सदस्यो को भारत के आदिम निवा-

सियों से अलग कर दिया। यहीं से जाति प्रथा का प्रारम्भ हुआ। इस सिद्धान्त के विषय मे यह कहा जा सकता है 'माना' आकर्षण की शक्ति विश्व की अन्य जातियों में भी है परन्तु वहाँ पर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति नहीं हुई। ऐसा क्यों ?

जाति प्रथा की उत्पत्ति के उपरोक्त सिद्धान्तों के वर्णन तथा उनकी समालोचना द्वारा हमें इस निष्कर्ष की प्राप्ति होती हे कि जाति प्रथा की उत्पत्ति के विषय मे किसी सर्वसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया जा सकता।

जाति प्रथा का विकास

भारत मे जाति प्रथा के विकास के विषय में अनेक बातें कही गई हैं। इनकी उत्पत्ति का स्रोत प्राय: प्राचीन भारतीय इतिहास में खोजा गया है तथा उसके आधार पर इसके विकास की विभिन्न दशाएँ बताई गई हैं।

वैदिक युग मे जाति प्रथा की स्थिति बड़ी स्पष्ट थी। एक आर्य जाति थी और दूसरी अनार्य जाति। आर्यों के मध्य कार्य विभाजन करने के लिये वर्ण व्यवस्था का नियमन किया गया। वर्ण व्यवस्था का निर्धारण विशुद्धत: रंग के आधार पर नही किया गया—क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो लगभग एक ही रंग के थे। वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार कार्य क्षमता तथा कुशलता ही था। अनार्य वर्ण व्यवस्था से बाहर थे। हमे लगता है कि आर्य पहली ही दृष्टि मे अनार्यों से घृणा करने लगे थे, अत: उन्होंने अनार्यों को अपने से अलगाव देने के लिए उन्हे अलग जाति का कहा।

इस प्रकार जाति प्रथा का विकास आर्य तथा अनार्य जाति से प्रारम्भ हुआ। आर्यों के चारो वर्ण एक आर्य जाति थे। भले ही शूद्र अपवित्र माने गये परन्तु आर्यों ने उन्हें अपनी वर्ण व्यवस्था में स्थान तो दिया। अनेक शूद्रो ने तो कर्म द्वारा ब्राह्मणत्व भी प्राप्त किया था। बाद में जब जनसंख्या बढ़ी और वर्णों को पहचानना मुश्किल होने लगा तो अपनी श्रेष्ठता या अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रत्येक वर्ण अपने को जाति मान बैठा। जाति प्रथा का विकास इसी तरह होता रहा और आज का भारत विभिन्न जातियो का अजायबघर बन गया।

उपजातियों का विकास

वर्ण व्यवस्था से समाज चार वर्णों मे विभाजित हुआ, तो असंख्य कर्मों के अनुकूल विभिन्न जातियो का गठन हुआ। यज्ञ के अवसर पर अनेक पुरोहित अनेक कर्म करते थे। इनके सोलह नाम मिलते हैं। इनमे प्रत्येक के पद और प्रतिष्ठा मे अन्तर था। इसी प्रकार वैश्यो के तीन प्रमुख कर्म बताये गये, परन्तु एक वैश्य तीनो ही कर्म तो नही करता था। विभिन्न कर्म करने वाले वैश्यो के पद और स्तर में अन्तर था। स्वर्ण का व्यापारी दूध बेचने वाले वैश्य के समान कैसे हो सकता था ? इससे उपजातियो का विकास हुआ। शूद्रो में उपजातियो की संख्या सर्वाधिक थी।

ऋग्वेद मे वप्ता (नाई), तष्टा (बढ़ई), त्वष्टा (बढ़ई), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लोहार), चर्मम्न (चमार) आदि, अथर्ववेद में इनके अतिरिक्त रथकार (रथ बनाने वाले) तथा सूत आदि, तैत्तरीय संहिता मे कुलाल (कुम्हार), पुंजिष्ट (व्याध), निषाद (नाव चलाने वाला), इषुकृद् (बाण बनाने वाला), धन्वकृत् (धनुष बनाने वाला), मृगयु (मृगया करने वाला), आदि विभिन्न व्यावसायिकों के नाम मिलते हैं। इनमे से प्राय: सभी शूद्र वर्ण की विभिन्न उपजातियाँ बनी।

व्यवसायों के अनुसार बनी हुई शूद्र वर्ण की उपजातियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

कांस्यकार (कसेरा), कैवर्त (केवट), कुम्भकार (कुम्हार), चर्मकार, तैलिक (तेली), नट, नापित (नाई) रजक (धोबी) सुवर्णकार आदि।

बौद्ध साहित्य में इनके अतिरिक्त नलकार (टोकरी बनाने वाले), पेसकार (जुलाहे), मणिकार, दुस्सिक (कपड़े के व्यापारी), गन्धिक (गन्ध बनाने और बेचने वाले), तुन्नवाय (दर्जी), रजकार (रंगरेज), कट्ठहार (लकड़िहारा), उदाहार (पानी ढोने वाले), पेस्सिक (घरेलू काम करने वाले), सूपिक (भोजन पकाने वाले), रूपदक्खा (लेखक), दोवारिक (द्वारपाल), अनीकट्ठ (रक्षक), सन्धिक (मोरी साफ करने वाला), पुप्फच्छड्डुक (झाड़ू लगाने वाला), हत्थारोह (महावत), हत्थिपाल (हाथी को सिखाने वाला) आदि व्यावसायिको के नाम मिलते हैं।

बहुत सी उपजातियाँ देश-भेद के अनुसार मिलती हैं। ऐसी उपजातियाँ अम्ब देश की अम्बष्ठ, मगध की मागध और विदेह की वैदेहक हैं। देशी अथवा विदेशी जन समुदायो की भी उपजातियाँ बन गईं। इनमें से प्रमुख निषाद, शक, यवन, खश, कम्वोज, द्रविड, पारद, पह्लव, दरद, शबर, किरात आदि हैं।

वर्ण संकर

चार मूल वर्णों के मध्य तथा प्रत्येक वर्ण में ही किये गये अनुलोम (उचित) तथा प्रतिलोम (अनुचित) विवाहो के परिणामस्वरूप अनेक संकर।(मिश्रित) जातियाँ बन गईं थी। मनु के अनुसार अनुलोम विवाह से (जिसमें पिता माता की अपेक्षा उच्चतर जाति का हो) उत्पन्न सन्तान पिता के वर्ण की अपेक्षा निम्न वर्ण के होती है, फिर भी उन्हें प्रथम तीन वर्णों के अधिकार दिये जा सकते हैं। इस प्रकार, किसी ब्राह्मण की क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न पुत्र अपने पिता के समान ही होगी, जबकि जो पुत्र उसकी वैश्य या शूद्र पत्नी से उत्पन्न होगा, उसकी स्थिति माता के वर्ण के अनुसार अपेक्षाकृत नीची होगी। सूत्र तथा स्मृतिकाल में विभिन्न जातियो तथा उपजातियों के सदस्यों की असवर्ण स्त्रियो से उत्पन्न हुई सन्तान न तो पिता की जाति वाली होती थी और न माता की जाति को। सवर्ण विवाह का प्रतिबन्ध न होने के कारण असंख्य वर्ण संस्कार उत्पन्न हो चुके थे और इनसे अनेक उपजातियाँ बनती जाती जा रही थीं। महाभारत में चारों वर्णों के अतिरिक्त अन्य उपजातियो के विषय में कहा गया है कि वे 'वर्ण संकर' की रीति से उत्पन्न हुई थी।[1] इसमें वर्ण संकरो का परिचय देते हुए कहा गया है कि शूद्र यदि द्विजाति स्त्रियो से सन्तान उत्पन्न करता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय (चाण्डाल) होतो है। क्षत्रिय की ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'सूत' होती है। वैश्य की ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान वैदेहक कही जाती थी। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र 'मागध कहा जाता था। शूद्र का क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र निषाद होता था। शूद्र की वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान आयोगव होती थी और बढ़ई का काम करके जीविका चलाती थी। वर्णसंकर-चाण्डाल की चारो वर्णों की स्त्रियो से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल से भी हीन कोटि की होती थी। चाण्डाल की निषादी से उत्पन्न सन्तति पाण्डुसौपाक जाति की होती थी और बँसफोर का काम करती थी।

धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे भी वर्णसंकरो के नाम और व्यवसाय का उल्लेख प्रायः उपरोक्त

---

१. महाभारत-शान्ति पर्व २९७।७-९।

पद्धति पर ही मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध ही होता है कि वर्णसंकरता की उस युग में प्रचुरता थी। वर्णसंकर जातियों के नाम, पद और व्यवसाय विभिन्न ग्रन्थों में समान नहीं हैं। वैदेहक नामक वर्णसंकर उपजाति को बोधायन, कौटिल्य, मनु, विष्णु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान मानते हैं, पर गौतम उसे शूद्र-पुरुष और क्षत्रिय-स्त्री की संतान बतलाते है और वैखानस तथा उशना आदि उसे शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान कहते हैं। मनु के अनुसार वैदेहक अन्तःपुर में स्त्रियों की देखभाल करता था, उशना और वैखानस ने वैदेहक को बकरी चराने, गाय-भैंस पालने और मक्खन मलाई बेंचने का काम दिया है। सूत-संहिता के अनुसार पुल्कस (चाण्डाल) और वैदेहक मे कोई अन्तर नही है।

जाति और वर्ण में अन्तर

जाति और वर्ण दो धारणाएँ हैं। वर्ण समाज के चार वर्ग थे जिनमे गतिशीलता थी अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकते थे। कर्म का विशेष महत्व था। कर्मों के बदलने पर वर्ण बदल जाया करता था, परन्तु जाति मे परिवर्तन संभव नहीं यह जन्मजात है।

वर्ण निश्चित रूप से आधुनिक संदर्भ मे जाति नहीं है, अपितु जातियों का समूह है। इससे स्पष्ट है वर्ण ही जाति का आधार है। यही कारण है कि वर्ण जाति न होकर भारतीय संस्कृति की आदर्श संरचना थी। जाति तो समाज की गत्यात्मकता का परिणाम थी।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत केवल चार ही जातियाँ हैं जब कि आज के भारत में, प्रो० घुर्ये के अनुसार, प्रत्येक भाषायी क्षेत्र में दो सौ जातियाँ हैं, जो लगभग तीन हजार उपजातियों में विभाजित हैं। इस प्रकार वर्ण सामाजिक संरचना का वास्तविक चित्रण नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत अछूतों को स्थान प्राप्त नहीं है, जब कि हिन्दू समाज की जाति संरचना के वे अंग हैं। वर्ण के अन्तर्गत शूद्र शब्द का प्रयोग लचीला है क्योंकि शूद्रों के एक सिरे पर धनी, शक्तिशाली एवं सम्पन्न वर्ग है और दूसरे सिरे पर आदिम जातियाँ हैं।

वर्ण एक जाति नहीं हो सकता क्योंकि समस्त भारत के ब्राह्मण भी अर्तविवाही नहीं हैं। वर्ण के अनुसार जाति को जिस प्रतिष्ठाक्रम मे रखा जाता है, वस्तुतः व्यावहारिक रूप में वह भिन्न पाया जाता है। जाति प्रतिष्ठाक्रम में परिवर्तन संभव होता आया है परन्तु वर्ण की संरचना मे प्रतिष्ठाक्रम सार्वकालिक रूप से स्थिर कर दिया गया है। वस्तुतः वर्णव्यवस्था में प्रतिष्ठाक्रम धार्मिक दृष्टिकोण से रखा गया है।

वर्णव्यवस्था के अनुरूप जाति व्यवस्था की व्याख्या गलत और भ्रामक रही है। तथापि वर्ण व्यवस्था ने सम्पूर्ण भारत को एक सामान्य सामाजिक भाषा दी है, जिससे एकता की भावना की वृद्धि में सहायता मिली है।

वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था को एक नहीं कहा जा सकता। निस्संदेह वर्णव्यवस्था हिन्दू समाज की संरचना का आदर्श रही है, जबकि जातिव्यवस्था कालान्तर में विकसित उसका व्यावहारिक पक्ष।

डा० गोखले ने जाति तथा वर्ण का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जाति' का निर्धारण जन्म के आधार पर किया जाता था तथा 'वर्ण' का निर्धारण शरीर के रंग के अनुसार किया जाता था। प्रणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि आर्य एक जाति थी और उसी प्रकार अनार्य भी एक

जाति थी। परन्तु 'वर्ण' शब्द का प्रयोग जाति के लिये नही वरन् रंग के लिये किया जाता था। जब गौर वर्ण आर्यों ने अनार्यों का समाजीकरण किया तो उन्हें अनार्य जाति के रूप में नही वरन् उनके काले वर्ण के रूप में लिया। जाति और वर्ण में यही अन्तर है। इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :—

जाति	वर्ण
१. जाति जन्म मूलक है।	१. वर्ण कर्म मूलक है।
२. जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है।	२. वर्ण का निर्धारण गुण तथा कर्त्तव्य के आधार पर होता है।
३. जाति व्यवस्था कठोर होती है।	३. वर्ण व्यवस्था मे लचीलापन होता है।
४. जातियो की संख्या लगभग चार हजार है।	४. वर्ण केवल चार हैं।
५. जातियो में उपजातियाँ भी होती हैं।	५. वर्ण व्यवस्था मे उप वर्णों जैसी कोई चीज नहीं है।
६. जाति प्रथा अन्तर्राष्ट्रीय है।	६. वर्ण व्यवस्था केवल भारत में सीमित है।

आश्रम-व्यवस्था

प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस व्यवस्था की नियोजना मनुष्य के जीवन को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करने के लिये की गई थी। इस योजना द्वारा जीवन को इस प्रकार गति देने का प्रयत्न किया कि जिससे व्यक्ति को अपने आप इस विश्व में अपने लिये मार्ग न ढूंढ़ना पड़े। वर्णाश्रम की अभियोजना व्यक्ति में दैवीय गुणों का आरोप कर उसे सामाजिक जीवन में सहयोग एवं व्यक्तिगत जीवन में आत्मिक उन्नति का मार्ग दर्शाती थी। हिन्दू चिन्तन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार की क्रिया ही करता है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी विना कर्म किये नही रहता हैं, निःसंदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।'[1] कर्म दो प्रकार के ही होते है शुभ अथवा अशुभ। शुभ कर्म वे हैं जो कि परिणाम में सुख देनेवाले होते हैं, जबकि अशुभ कर्म परिणाम में दुख देनेवाले होते हैं। इस प्रकार मनुष्य की क्रिया के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम नही हे। प्रत्येक व्यक्ति मे क्रिया दो बातो से निश्चित होती है—पूर्व जन्म के कर्म एवं इस जन्म के संस्कार। आश्रम व्यवस्था इस जन्म के संस्कारों के निर्माण एवं व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओ के नियोजन का प्रयत्न है। वर्ण का महत्व पूर्व जन्म के संस्कारो या कर्मों को इस जन्म के कर्मों से संयुक्त करने का है। यही कारण है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण के व्यक्तियों के लिए अलग-अलग ढंग से आश्रमों में प्रवेश एवं कर्तव्याकर्तव्य का विधान किया गया। आश्रम व्यवस्था, प्राचीन भारतीय चिन्तन के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा की भी प्रतीक है। वस्तुतः

१. श्रीमदभागवद्गीता—२।५।

जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्त्तव्य और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों में विभाजित किया गया। इसका सर्वोपरि और अन्तिम उद्देश्य मोक्ष माना गया। अन्य शब्दो में आश्रम व्यवस्था द्वारा आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति की अभियोजना प्रस्तावित की गई।

'आश्रम' का अर्थ

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से होती है। जिसमें रह कर अथवा जहाँ रहकर मनुष्य श्रम करता है उसे आश्रम कहते हैं (आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः)। इसीलिए आश्रम शब्द घर-कुटी आदि का पर्याय भी है। आश्रम का अर्थ उद्योग एवं प्रयत्न से भी है। प्रत्येक आश्रम की अपनी अलग स्थिति है तथा प्रत्येक आश्रम मे व्यक्ति तत्सम्बन्धित कार्य करता है। यह कार्य ही उसका श्रम है। अतः आश्रम मे प्रयत्न की क्रिया भी समाविष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन जितनी श्रेष्ठता से करेगा उतना ही वह श्रेष्ठतर होता चला जायगा। व्यक्तिगत जीवन को श्रेष्ठतर एवं उचित क्रम से विकसित करने के लिए आश्रम धर्म को महत्वपूर्ण बताया गया है। प्रत्येक आश्रम मे व्यक्ति अपने जीवन के आवश्यक कर्तव्यो को पूरा करता हुआ जीवन के उच्चतर लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

आश्रम व्यवस्था के आधार

(१) आश्रम व्यवस्था का आधार पुरुषार्थ की धारणा में निहित था। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। इसी आधार पर जीवन के प्रथम भाग मे धर्म का ज्ञान एवं अभ्यास सिखाया जाता था। अर्थ एवं काम सामाजिक व्यवस्था के दो आवश्यक अंग मानकर प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में अपने जीवन के द्वितीय काल (यौवन) में प्रविष्ट होने तथा अर्थार्जन करके अपनी इच्छाओ को धर्म के अनुसार पूरा करने की प्रस्तावना की गई। व्यक्ति की जब शक्ति कम होने लगती है तब वह अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में विचार करने लगता है और उसमें अपने आप ही वैराग्य की प्रवृत्ति जागने लगती है। इसी मनोविज्ञान के आधार पर जीवन के तृतीय एवं चतुर्थ भाग में व्यक्ति को क्रमशः अपनी सांसारिक इच्छाओ का दमन करके उच्चतम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसित करने के लिए वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का विधान किया गया। इन दोनों आश्रमों में व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता था।

(२) आश्रम व्यवस्था का दूसरा आधार ऋणों की धारणा थी। व्यक्ति का यदि अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही है तो फिर उसके लिए गृहस्थाश्रम की क्या आवश्यकता है? यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना शरीर माता-पिता की कृपा से मिलता है अतः उसे माता-पिता की सेवा करके तथा पुत्रोत्पत्ति करके पितृऋण से उऋण होना चाहिए। माता-पिता ने उसे मानव शरीर देकर जो ऋण उस पर चढ़ाया है वह बिना पुत्रोत्पत्ति के नही हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक माना गया। दूसरा महत्वपूर्ण ऋण है ऋषिऋण। ऋषियों ने आध्यात्मिक संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण एवं संचालन किया—उनके प्रति जो व्यक्ति का दायित्व है, वह उनकी संस्कृति के अनुरूप जीवन व्यतीत करके, संस्कृति को हस्तांतरित करके तथा उनको सम्मान और दान देकर चुकता किया जा सकता है। तीसरा महत्वपूर्ण ऋण देव ऋण है। देवताओं की कृपा से हमको

यह शरीर प्राप्त हुआ है और उन्ही के द्वारा पोषित होता है। अतः देवताओं को हविष् देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। जो व्यक्ति इन तीनो ऋणो से उऋण हो जाता है वह अपने सामजिक, पारिवारिक एवं दैविक उद्देश्यो को पूरा कर लेता था। ऋणों की धारणा व्यक्ति को सामाजिक बनाने एवं परम्परा की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई।

(३) आश्रम व्यवस्था का तीसरा आधार यज्ञ की भावना है। यज्ञ शब्द का भाव कर्तव्य है अर्थात् कर्मों को दूसरों के लिए करना। श्रीमद्भगवत्गीता के अनुसार ईश्वर को अर्पण करके कर्म करने का नाम यज्ञ है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म यज्ञ की श्रेणी मे आ जाता है। उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति यज्ञ के माध्यम से प्राप्त होती है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं 'हे अर्जुन, बन्धन के भय से कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है, क्योकि यज्ञ (अर्थात्' यज्ञो वै विष्णुः) विष्णु के निमित्त किये कर्म के सिवाय, अन्य कर्म बंधन कारक होते हैं, अतः उस विष्णु की प्रसन्नता के लिए आसक्ति छोड़ कर निष्काम भाव से कर्म कर।'[१] यज्ञ से मनुष्य की उन्नति मानी गई। यज्ञों के अन्तर्गत पाँच महायज्ञ कहे गये। ये हैं—पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ। यह स्वीकार किया गया कि इन यज्ञो के करने से व्यक्ति समस्त पापो से धुलकर निर्मल हो जाता है।

(४) आश्रम व्यवस्था भारतीय जीवन दर्शन की मूल प्रेरणा का भी आधार थी। इस प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ, अन्तिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्म-निष्ठता और सात्विकता से चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता था।

(५) आश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच समन्वय स्थापित करते हुए, इन दोनो को एक दूसरे का विरोधी नही माना, वरन् प्रवृत्ति के उपरान्त निवृत्ति प्राप्त करने की बात कही गयी।

आश्रम व्यवस्था का विकास

कई विद्वानो का विचार है कि आश्रम व्यवस्था का प्रचलन महात्मा बुद्ध के समय के उपरान्त हुआ। इस मत की पुष्टि में रीज़ डेविड्स महोदय ने यह तर्क दिया है कि उपनिषदों में चार आश्रमों का नामोल्लेख नही है।[२] परन्तु इस मत से सहमत होने में प्रमुख बाधा यह है कि यद्यपि वैदिक सहिताओ तथा ब्राह्मण ग्रन्थों मे आश्रम व्यवस्था का उल्लेख नही है, तथापि इनमें प्रथम दो आश्रमो, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ, की व्याख्या किसी न किसी रूप मे की गई है। उत्तर-वैदिक काल में ब्रह्मचारी का प्रयोग कई ग्रंथों में मिलता है। इसके अतिरिक्त, गृहस्थ, मुनि तथा 'यति' का उल्लेख भी मिलता है।[३] जाबालोपनिषद में सर्वप्रथम चारों आश्रमो का नामोल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में जीवन का चारों आश्रमों में विभाजन मिलता है।[४] बृहदारण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य

---

१. श्रीमद्भगवदगीता ३।९।

२. 'दि डायलाग्स आफ दि बुद्ध'—रीज़ डेविड्स।

३. 'ब्रह्मचारी चरति वे विषद् विषः सः देवोनः भवत्येकमंगम्।'—ऋग्वेद १०।१०९।५; ......'ब्रह्म ' चासि गृहपतिश्च नो दमे।'—ऋग्वेद २।१।२; तथा 'येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते ग। प्रस्कण्वमाविथ।', ऋग्वेद ८।३९।

४. 'ब्रह्मचर्या .. समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्व। ।। भवेत वनीभूत्वा प्रव्रजेत ॥—शतपथ ब्राह्मण।

अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि वे गृहस्थी से प्रवज्या ग्रहण करने जा रहे हैं।[1] इन सभी उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि उपनिषद काल में आश्रम व्यवस्था का प्रचलन था। सूत्र काल में इस व्यवस्था का दृढ़ीकरण हो गया। महाभारत मे आश्रम व्यवस्था की दैवी अभिव्यक्ति मिलती है।[2] बौधायन के अनुसार प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवताओं की स्पर्धा में आश्रम व्यवस्था का प्रजनन किया था।[3] पुराणों के अनुसार आश्रमों का चिन्तन इसलिये किया गया कि समाज के विभिन्न सदस्य अपने कर्म निष्ठापूर्वक सम्पादित कर सकें।[4]

आश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण

प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे, चार आश्रमो का विकास बाद के हुआ। मनु ने प्रारम्भ मे तीन आश्रमो का उल्लेख किया है किन्तु आगे चलकर उसने यह कहा कि सौ वर्ष के चार आश्रमो को पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है।[5] गौतम, आपस्तम्व, विष्णु तथा वसिष्ठ आदि ने भी चार आश्रम निर्धारित किये—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक (संन्यास)। आश्रमों के वर्गीकरण में जो मूलभूत उद्देश्य था, वह था जीवन को व्यवस्थित रूप प्रदान करना। एक आश्रम दूसरे आश्रम के लिये व्यक्ति को योग्य बनाता हुआ, अन्तिम आश्रम मे उसे उद्देश्य के निकट पहुँचा देता था। मूल रूप से, आश्रमो का वर्गीकरण अत्यन्त स्पष्ट, सुदृढ़ और सुनियोजित था।

ब्रह्मचर्याश्रम

'ब्रह्मचर्य' दो शब्दो से बना है। 'ब्रह्म' का अर्थ है 'महान' और 'चर्य' का अर्थ है 'विचरण करना।' अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ है 'महान मार्ग पर विचरण करना।' 'ब्रह्मचर्य' का एक दूसरा अर्थ है 'वेद मार्ग पर चलना।' 'ब्रह्म' और 'वेद' का घनिष्ठ सम्बन्ध है—'ब्रह्मवेद इति श्रुतेः।' इस आश्रम का प्रमुख उद्देश्य विद्या की प्राप्ति था। विद्या दो प्रकार की बताई गई है—परा और अपरा। परम सत्य का नाम परा विद्या है तथा इससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है। अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष का ज्ञान है।[6] इससे बुद्धि का ईश्वर विषयक परिष्कार होना माना गया गया। यह वाचक ज्ञान भी है। सामान्य रूप मे, ब्रह्मचर्याश्रम में तप और संयम द्वारा विद्यार्जन की प्रस्तावना की गई।

ब्रह्मचर्य में दीक्षित हो जाने के उपरान्त बालको को ब्रह्मचारी कहा जाता था। अब वह व्रत का पालन करता था, जो ब्रह्म था। धर्म शास्त्रो के अनुसार ब्रह्मचारी को 'नित्य' संध्योपासना एवं भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन करना चाहिए। दिन में शयन नही करना चाहिए। क्रोध और मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए। आठ प्रकार के मैथुनों से बचना चाहिए। भूमि पर शयन करना चाहिए। अल्पाहारी होना चाहिए। अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा, अति जागरण नहीं करना चाहिए। ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर आवश्यक नित्य कर्म, शौचादि, दंतधावन, स्नान, संध्योपासन, ईशस्तुति, योगाभ्यास करना चाहिए। गायत्री जप नित्य प्रातः-सायं करना चाहिए। उसका जीवन

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद ४।५।२
२. महाभारत-शान्तिपर्व १९१।८
३. बौधायन धर्म सूत्र २६।२९-३१।
४. ब्रह्माण्ड पुराण २७।१७०।७१।
५. मनुस्मृति ६।८७।
६. मुण्डकोपनिषद १।५।

अत्यन्त सयंमी और नियमबद्ध होता था। ब्रह्मचारी के सभी उपभोगों में सादे जीवन का आदर्श रखा गया है। यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, इन्द्रियनिग्रह और विनय ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा के मुख्य आचार निर्धारित किये गये।

गुरु तथा शिष्य—श्रुति के अनुसार 'आचार्य देवोभव' अर्थात् गुरु का देवभाव से आदर करो। गुरु की आज्ञा अनुलंघनीय थी। 'आज्ञापालनं सिद्धि सोपानं' यथा आज्ञा पालन विद्या प्राप्ति के सिद्धान्त की सीढी है। गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। मनुस्मृति के अनुसार 'गुरु के समीप इस विधि से रहना चाहिए कि गुरु जैसे भोजन करे उससे हीन दशा का आप भोजन करे, जैसा वस्त्र गुरु पहने उससे हीन वस्त्र आप पहिने, जैसे वेष मे गुरु रहे उससे हीन वेष में आप रहे और गुरु के जागने से प्रथम जागे और गुरु के सोने के पश्चात् सोवे।' 'गुरु और शिष्य के परम्परा के संबंध कितने महत्वपूर्ण हैं, इस संदर्भ मे ऋषि कहता है 'साथ-साथ हम दोनो का यश हो और साथ-साथ हम दोनो का तेज हो।'[1] शिष्य गुरु के पशुओ की देख भाल करता, समिधा एकत्र करता, भिक्षा मागता, यज्ञ करता और निष्ठापूर्वक आज्ञा का पालन करता था। ब्रह्मचारी के रूप मे शिष्यत्व को ऐसी अनुपम साधना माना गया जो योग के समान थी।

मनु ने दो प्रकार के गुरु बताए हैं (१) उपाध्याय जो जीविका के लिए अध्यापन वृत्ति को स्वीकार करके वेद या वेदांग का कोई-सा भाग पढ़ा सकते थे। (२) आचार्य—जो शिष्य को कल्प-सूत्रो और उपनिषदों सहित निःशुल्क वेद का अध्ययन कराते थे। शिक्षा के बाद गुरु-दक्षिणा भी ग्रहण करते थे। पिता और माता को भी पुत्र का गुरु माना जाता था।

गुरुकुल और विद्यालय—प्रायः गुरु का निवास शहर के बाहर वन मे होता था और विद्यार्थियो को उनके पास अंतेवासी के रूप मे रहना पड़ता था। किसी शिष्य को गुरु ग्रहण करे या न करे इस संबंध मे उसको पूर्ण अधिकार था। शिष्य की योग्यता के अनुरूप ही ज्ञान का दिया जाना गुरु के अधिकार में था। शिष्यो के दो प्रकारों का उल्लेख मिलता हे (१) उपकुर्वाण—जो विद्या प्राप्ति के बाद स्नातक होने के बाद अपने घर को वापस चले जाते थे, (२) नैष्ठिक—जो जीवनपर्यन्त गुरु के पास रहते थे। गुरु कुल प्रवेश प्रायः दो सत्रो में—श्रावणी तथा दूसरा वसंत-पंचमी मे होता था।

विद्यालय संभवतः (१) गुरुकुल आश्रम (२) परिषद (३) घुमन्तू विद्वान, संन्यासी अथवा परिव्राजक अथवा (४) राजसभा के रूप मे थे। गुरुकुल ही शिक्षा के आधार थे।

ब्रह्मचर्य में उपनयन संस्कार के बाद प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता था शूद्र के लिए इस संस्कार का निषेध था तथापि गुरु को यह अधिकार था कि वह किसी का भी उपनयन कर ले। वैदिक युग मे स्त्रियां भी ब्रह्मचारिणी होती थी परंतु स्मृतिकारो ने उनको ब्रह्मचर्याश्रम प्रवेश के अधिकार से वंचित कर दिया। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की आयु ८ वर्ष से २४ वर्ष तक रखी गयी थी।

ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर मनुष्य शारीरिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करता था। इसमें बुद्धि का प्रशिक्षण, क्रियाओं का नियंत्रण और इच्छाओं का परिष्कार, आध्यात्मिक आकांक्षाओ की संतुष्टि तथा आत्मा का उद्धार होता था। 'ब्रह्मं चरतीति ब्रह्मचारो' जो ब्रह्म मे विचरण करता है वह ब्रह्मचारी है। इस प्रकार शब्दार्थ से ही यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य ब्रह्मज्ञान का साधन

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद, शिक्षावल्लो तृतीय अनुवाक।

माना जाता था। 'ब्रह्मचारी ब्रह्मनिष्ठ होकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता था।'[1] ब्रह्मचर्य के बिना तपस्या व्यर्थ थी। ब्रह्मचर्य के पालन से आयु, तेज, बल-वीर्य, बुद्धि, श्री, यश, पुण्य एवं ईश्वरप्रियता प्राप्त होती थी। अतः यह भी आश्रमों की सिद्धि में मूल माना गया। ब्रह्मचर्य प्रायः इंद्रिय निग्रह एवं कठोर व्रत का पर्याय हो गया। इसी भाव से कहा गया कि ब्रह्मचर्य से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। यहाँ तक कि 'ब्रह्मचर्य से देवताओ ने मृत्यु को जीत लिया।'[2]

इस आश्रम के पालन से ब्रह्मचारी शरीर और मस्तिष्क के श्रम के महत्व को पूर्णतया समझ लेता था। जीवन में श्रम के महत्व को समझ कर वह नीर-क्षीर-विवेक युक्त हो जाता था और भौतिक जीवन के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन के मूल्यो से भी परिचित हो जाता था।

गृहस्थाश्रम

'गृहस्थाश्रम ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करने और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करने और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाने तथा धर्मानुसार संतानो की उत्पत्ति करने को कहते हैं।'[3] आश्रम व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था। इसी पर अन्य सभी आश्रम अश्रित थे। धर्मसूत्रों के अनुसार तो, पहले केवल एकही आश्रम था—वह था गृहस्थाश्रम।[4]

गृहस्थाश्रम मे व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर गुरु गृह से स्नातक बन कर विवाहोपरांत प्रवेश करता था। इसमें प्रायः पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचर्य के बाद प्रवेश का विधान था। परन्तु कुछ पौराणिक व्याख्याकारो के अनुसार इस आश्रम में बाल्यकाल में ही प्रवेश पाया जा सकता था। ऋग्वेद के अनुसार चार गुण हो तो गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। पहला गुण है शरीर का स्वस्थ और शक्तिशाली होना, दूसरा गुण विशाल हृदय का होना, तीसरा गुण अच्छी मेधा का होना तथा चौथा गुण हमेशा प्रसन्न रहना है।[5] इससे स्पष्ट है कि गृहस्थ आश्रम मे अल्पायु में प्रवेश करने पर निषेध भी था। गृस्थाश्रम सभी वर्णों के लिए अनिवार्य था।

गृहस्थ आश्रम का महत्व यह था कि व्यक्ति समाज के अपने उत्तरदायित्वो को पूरा करे, ऋणों से उऋण हो, संतति का विकास करे। मनुष्य जीवन के महत्वपूर्ण पुरुषार्थ अर्थ एवं काम की उपासना करे। इससे व्यक्तिगत प्रकृतिजन्य इच्छाओं की तृप्ति होगी तथा मनुष्य में दिग्भ्रमता उत्पन्न नही होगी। सांसारिक वस्तुओं के उपभोग के बाद उत्पन्न हुई मोक्ष की इच्छा में व्यवधान नहीं रहेगा। धर्म का लौकिक व्यवहार्य रूप गृहस्थ आश्रम में ही संपन्न किया जा सकता था। गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का आधार माना गया, क्योकि अर्थ एवं काम इसी आश्रम में प्राप्त किये जा सकते थे।

विवाह के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। विवाह करने से 'व्यक्ति काम की पूर्ति कर सकता था। काम मनुष्य की सांसारिक वासनाओ का नाम है। सांसारिक वासनाओं में व्यक्ति

---

१. प्रथमो पुण्यां ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यनिष्ठो भूयो महिमानं ब्रह्मलोकमवाप्नोति।' हारीत।

२. ब्रह्मचर्येण देवानां मृत्युम उपाघ्नता।' श्रुति

३. 'संस्कारविधि'—स्वामी दयानन्द सरस्वती।

४. गौतम धर्मसूत्र ३।३।

५. ऋग्वेद १०।८५।४४।

उलझ न जाय, इसी उद्देश्य से धर्मपूर्वक इस पुरुषार्थ की प्राप्ति का विधान किया गया। व्यक्ति अपने उच्चतर लक्ष्य को न भूले, इसके लिए ही विवाह का उद्देश्य धर्म की सिद्धि, प्रजा अथवा संतति की उत्पत्ति एवं रति निश्चित किया गया।

गृहस्थ के लिए निश्चित कर्तव्याकर्तव्यों का विधान निर्धारित था। इनमे सर्वप्रथम तो पति-पत्नी के सम्बन्ध, परिवार के अन्य सदस्यो के साथ परस्पर सम्बन्ध, समाज के अन्य सदस्यो के साथ सम्बन्ध तथा नित्य एवं नैमित्तिक धर्म के कर्मों का समावेश था। इस सम्बन्ध में श्रुति का मत है, 'हे स्त्री पुरुषो ! तुम बालकों के जनक ऋतुसमय मे सन्तानो को अच्छी प्रकार उत्पन्न करो। माता और पिता दोनों गृहस्थाश्रम में प्रजा को उत्पन्न करो।' 'हे गृहस्थों ! जैसे तुम्हारा पुत्र माता के साथ प्रीतियुक्त मन वाला अनुकूल आचरणयुक्त और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला होवे, वैसे तुम भी पुत्रो के साथ सदा बर्ताव करो। जैसे स्त्री पति की प्रसन्नता के लिए माधुर्य गुणयुक्त वाणी को कहे वैसे पति भी शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे। हे गृहस्थो ! तुम मे भाई-भाई के साथ द्वेष कभी न करे, और बहिन-बहिन से द्वेष कभी न करे तथा भाई बहिन भी परस्पर द्वेष न करे, किन्तु सम्यक् प्रेमादि गुणो से युक्त समान गुण कर्म स्वभाव वाले होकर—मंगलकारक रीति से एक दूसरे के साथ सुखदायक वाणी को बोला करो।' इसी प्रकार आगे श्रुति कहती है 'हे गृहस्थादि मनुष्यो, मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा जलपान, स्नानादि व्यवहार एक-सा हो, तुम्हारा-स्नान पान एक सा हो, तुम्हारे एक से अश्वादि यान के जोते एक से हों, और तुमको मैं धर्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके नियुक्त करता हूँ।' मनुस्मृति के अनुसार 'पिता, भ्राता, पति और देवर के लिए यह उचित है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भोजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करे, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रखें।''[1] स्त्री के लिए यह उचित माना गया कि वह सदा आनंदित होकर चतुरता से गृह कार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि से उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और भोजनादि मे जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य खर्च करने में सदा प्रसन्न रहे।[2] महाभारत शातिपर्व में भीष्म गृहस्थाश्रम धर्म को बताते हुए कहते हैं, 'गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री में अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ समागम करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करे। शठता और कुटिलता से दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओ की आराधना में तत्पर रहे। उपकार करने वालो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रखे। किसी के प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमाभाव रखे। गृहस्थाश्रमी पुरुष इंद्रियो का संयम करे। गुरुजनो एवं शास्त्रो की आज्ञा माने, देवताओ और पितरो की तृप्ति के लिए हव्य और कव्य समर्पित करने मे कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणो को निरन्तर अन्न-दान करे, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहे, अन्य सब आश्रयो को भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ-यज्ञादि में लगा रहे।'[3] गृहस्थों के लिए विशेष रूप से पालनीय पंचमहायज्ञो के विधान का प्रतिपादन भी किया गया।

पंच महायज्ञ—वैदिक काल से ही पंच महायज्ञो के संपादन की व्यवस्था पायी जाती है।

---

१. मनुस्मृति ३।५। २. मनुस्मृति ५।१५०।

३. महाभारत—शान्तिपर्व—६१।११-१२।

शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक में इन यज्ञों का उल्लेख है। अनेकों धर्मसूत्रों ने इनका विशद उल्लेख किया है। गौतम धर्मसूत्र ने तो इन्हे संस्कारों की श्रेणी मे गिना है। इन यज्ञो में पुरोहित की आवश्यकता नहीं थी। इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर, प्राचीन ऋषियो, पितरो, जीवो एवं सम्पूर्ण ब्रह्माड के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना था। मत्स्यपुराण के अनुसार चूल्हा, चलनी, बढ़नी (झाड़), पिसनी आदि के घरेलू कार्यों में व्यक्ति से जाने-अनजाने छोटे-छोटे जीवों की हत्याएँ हो जाती हैं। पंच महायज्ञो से इनका पाप दूर हो जाता था तथा व्यक्ति पुण्य का भागी बनता था।

पंच महायज्ञो का वर्णन निम्नलिखित है—

(१) ब्रह्म यज्ञ—यह यज्ञ ब्रह्मचर्य जीवन के उपरान्त वेदाध्ययन से विमुख न हो जाने की आशंका के कारण किया जाता था। इस यज्ञ के अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थ गृहस्थाश्रम मे रहते हुये भी वेदो के अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान मे वृद्धि करता था। जो व्यक्ति इस यज्ञ को नियमित रूप से करता था उसे समाज मे श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था।

(२) पितृ यज्ञ—अपने मृत पिता तथा पूर्वजों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करने तथा उनको तृप्त करने के लिये पितृ यज्ञ का सम्पादन आवश्यक था।

(३) दैव यज्ञ—इस यज्ञ द्वारा प्रज्वलित अग्नि मे घृत, मधु तथा सुगन्धित सामग्री डाल कर देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। यह आहुति विवाहित पति-पत्नी द्वारा जीवन पर्यन्त दी जाती थी। एक प्रकार से यह यज्ञ विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को निरन्तर प्रदीप्त करने का प्रतीक था। पति-पत्नी मे से किसी की मृत्यु होने पर उसको दाह क्रिया इसी अग्नि से की जाती थी।

(४) भूत यज्ञ—भूत यज्ञ का उद्देश्य सृष्टि के समस्त जीवधारियों की निरन्तरता तथा उन्हें भोजन देना था। इस यज्ञ का सम्पादन करने वाला संसार के समस्त प्राणियों की रक्षा में तत्पर रहने वाला माना जाता था।

(५) मनुष्य यज्ञ—इस यज्ञ का सम्पादन किया जाना इस भावना पर आधारित था कि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने लिये ही जीवित नही रहता, वरन वह समस्त मानव जाति के कल्याण का आकांक्षी है। इस यज्ञ के अन्तर्गत द्वार पर आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत, सहायता तथा सत्कार किया जाता था।

वैखानस गृह्यसूत्र मे गृहस्थ चार भागो में बाँटे गये हैं—(१) वार्तावृत्तिवाला—जो कृषि, पशुपालन, व्यवसाय आदि करता है (२) शालीन—जो नियमो का पालन करता है, पाकयज्ञ करता है, श्रौताग्नि जलाता है, प्रति छः मास पर दर्श या पूर्वमास यज्ञ करता है, चातुर्मास्य करता है। (३) यायावर—जो छः कार्यों में लगा रहता है, यथा हवि एवं सोम यज्ञ करना, यज्ञ में पौरोहित्य करना, वेद के अध्ययन एवं अध्यापन में लगे रहना, दान देना एवं लेना, श्रौत एवं स्मार्त यज्ञ की निरन्तर सेवा करना तथा आगत अतिथियो को भोजन देना। (४) घोराचारिक—जो नियम व्रती है, यज्ञ करता है किन्तु दूसरे के यज्ञो मे पुरोहिती नही करता, वेदाध्ययन करता है किन्तु वेदाध्यायन नही कराता, दान देता है परन्तु लेता नही है, खेतो में गिरे हुए अन्नों से अपना निर्वाह कराता है, नारायण में लीन रहता है, प्रातः-सायं अग्निहोत्र करता है, मार्गशीर्ष एवं ज्येष्ठ में ऐसे व्रतादि करता है जो तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण हैं तथा वन की औषधि वनस्पतियों से अग्नि की सेवा करता है।

गृहस्थाश्रम का महत्व—'जैसे वायु के आश्रय से जीवों का जीवन होता है वैसे ही गृहस्थ के आश्रम से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी आदि सब आश्रमवासियों का निर्वाह होता है।'[1] गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए स्मृति कहती है, 'क्योंकि यह ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीनो आश्रमियों का अन्न वस्त्रादि के दान से नित्यप्रति धारणा-पोषण करता है इसलिए व्यवहार मे गृहस्थाश्रम सबसे महत्वपूर्ण है।'[2] महाभारत शांतिपर्व में एक प्रसंग आया है—'एक बार मनीषी पुरुषों ने सभी आश्रमो को तराजू के पलड़े पर रखा, एक ओर तो तीनो आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थाश्रम। इस प्रकार तौले जाने पर गृहस्थ आश्रम ही अधिक गुरु (भारी) सिद्ध हुआ।'[3] इसी प्रकार एक अन्य प्रकरण मे देवराज इन्द्र ने गृहस्थ-आश्रम को 'सिद्धि क्षेत्र' कहकर श्रेष्ठतर बताया है। गृहस्थ आश्रम की तुलना माता से की गयी है। इसी पर्व में कपिल ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो यह कहते हैं कि गृहस्थ में रहकर मोक्ष नहीं मिलता। तथापि गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठतम नहीं कहा जा सकता क्योंकि युधिष्ठिर ने इसी प्रकरण में संन्यासाश्रम को सर्वोपरि ठहराया है।

गृहस्थाश्रम का मूल उद्देश्य तो सन्तान और काम की उपलब्धि था, किन्तु इसके अतिरिक्त गृहस्थ के सामाजिक कर्त्तव्य भी थे, जो पारिवारिक और सामाजिक जीवन को उन्नत करते थे। पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणो से मुक्ति, पंचमहायज्ञो का सम्पादन, व्यक्तिगत एवं सामाजिक उत्थान, व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण विकास आदि गृहस्थाश्रम में ही सम्भव थे।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था। वन की ओर प्रस्थान करना—वानप्रस्थ आश्रम था।

वानप्रस्थाश्रम का विधान केवल द्विजो के लिए ही था। मनुस्मृति के अनुसार "गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाये तब वन का आश्रम लें।"[4] सामान्यतया वानप्रस्थ मे प्रवेश की आयु पचास वर्ष या उसके पश्चात थी। वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश का उद्देश्य तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने को तैयार करना था।

वानप्रस्थी के कर्त्तव्याकर्त्तव्यो के सम्बन्ध में मनुस्मृति में कहा गया है कि "गाँव के बाहर और घर की सामग्री को त्यागकर तथा स्त्री को पुत्र को सौंपकर वन मे जावे अथवा सपत्नीक वन मे जावे।" "नित्य वेद पाठ कर जप को स्थिर रखे, सबका मित्र होकर रहे। शीत, ग्रीष्म, क्रोध आदि को सहन करे, किसी से कुछ न लेवे, सब प्राणियो पर दया रखे। शास्त्रोक्त विधि से अग्निहोत्र करे। एकादशी, पूर्णमासी आदि व्रतो को करता रहे। पंच महायज्ञ भी यथाशक्ति करे, पाँव के अगले भाग के बल से सारे दिन खड़ा रहे तथा स्नान व आसन मे विहार करे, तीनों काल प्रातः, दोपहर एवं सायंकाल स्नान करे। शनैः शनैः तप को बढ़ाता हुआ ग्रीष्म में पंचाग्नि तापे, वर्षा में बिना छतवाले घर मे रहे अर्थात् खुले मैदान मे रहे, हेमन्त में गीला कपड़ा पहने रहे।[5]

---

१. मनुस्मृति ३।७८।
२. मनुस्मृति ६।८९।
३. महाभारत-शान्तिपर्व ६१।९-१०।
४. मनुस्मृति ६।२।
५. मनुस्मृति ६।३।

इस प्रकार वानप्रस्थी का जीवन साधनायुक्त और तपोमय था। वह ब्रह्मचर्य तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ सत्य और अहिंसा का भी पालन करता था। इन्हीं के आचरण से वह मोक्ष की ओर उन्मुख हो सकता था।

संन्यासाश्रम

जीवन का अन्तिम भाग सन्यासाश्रम के अन्तर्गत रखा गया। संन्यासी को 'भिक्षु' तथा 'यति' भी कहा जाता था। भारतीय ऋषियो की दृष्टि में यह सिद्धावस्था का जीवन था। व्यक्ति जब वानप्रस्थ अवस्था मे कठोर तपस्या कर सांसारिक दुःखो पर विजय प्राप्त कर लेता था उस समय उसे कुछ भी करना शेष नही रह जाता था। वह निरन्तर, दुःखातीत जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लेता था। इसीलिए संन्यास आश्रम मे प्रवेश के लिए पूर्ण वैराग्य एवं ज्ञान का होना अनिवार्य था। संन्यास आश्रम मे प्रवेश के लिए व्यक्ति को गुरु की आवश्यकता होती थी। गुरु की आज्ञा एवं परीक्षा बिना संन्यासी नही हुआ जा सकता था।

महाभारत में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को संयम में रखता हुआ मुनिवृत्ति से रहे, किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवावे। निरंतर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाय। प्रारब्धवश जो भी मिल जाय, उसीसे जीवन निर्वाह करे। आशा, तृष्णा का सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समानभाव रखे। भोगों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन्ही सब धर्मों के कारण इस आश्रम को "क्षेमाश्रम" (कल्याण प्राप्ति का स्थान) कहते हैं।"[१]

मनुस्मृति के अनुसार "संन्यासी इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस-मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से सुखार्थी होकर विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे। शिर के सब बाल, दाढ़ी, मूँछ और नखो का समय-समय पर छेदना कराता रहे। पात्री, दंडी और गेरुये रंगे हुये वस्त्रों को धारण करे एवं प्राणीमात्र को कष्ट न देता हुआ विचरे। जो संन्यासी बुरे कर्मों से इंद्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषो के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियो का कल्याण करता है वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"[२] संन्यासी के लिये अनेक व्रत थे। एक समय ही भोजन, उस समय ग्राम में भिक्षा माँगने जाना चाहिये जब कि सब लोग भोजन कर चुके हों, एक रात्रि से अधिक कही न ठहरे, किसी को कोई अनुचित कार्य करता देखे तो तुरन्त बिना किसी भय के उसे रोक दे, किसी जाति या वर्ण विशेष मे भेद न करे। विचरण करते समय वह अपनी दृष्टि इधर-उधर नही डालता था, वरन अपने पैरो की ओर दृष्टि गड़ा कर भूमि की ओर देखता हुआ चलता था। संन्यासी के घर वाले उसका पुतला जलाकर अंत्येष्टि क्रिया कर देते थे। श्राद्ध आदि कर्म भी कर दिये जाते थे। वस्तुतः संन्यासी को इहलौकिक जगत् की दृष्टि से मरा हुआ माना जाता है।

संन्यासी, समस्त भौतिक वस्तुओ के प्रति अनासक्त भाव रखते हुये साधनारत रहता था। वह निवृत्ति नियमो का अक्षरशः पालन करता और आत्म ज्ञान की प्राप्ति मे संयम पूर्वक संलग्न रहता था। समाज को उसके जीवन से अनुशासन और उद्देश्य पूर्ति की प्रेरणा प्राप्त होती थी।

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व ६-१०।   २. मनुस्मृति ६।४६-५२-६०।

आश्रम व्यवस्था और नारी

आश्रम व्यवस्था नारियो के लिये अनिवार्य नहीं थी। स्त्रियो को आश्रमों की विभिन्न स्थितियों मे यथोचित कार्य करने मे अनेक बाधाएँ थी। केवल गृहस्थाश्रम को छोड़कर, शेष आश्रमो के नियम, कर्त्तव्य आदि के पालन में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थी। फिर भी आश्रमों के कर्त्तव्यों का निर्वाह करने में पुरुष के साथ स्त्री का समुचित सहयोग था। अनेक प्रतिबन्धों तथा स्वयं की शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति के कारण वह न तो ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यो का पालन कर सकती थी और न ही वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में पूर्ण रूप से प्रवेश कर सकती थी। स्थल-स्थल पर उसके लिये भय और आशंकाएँ बनी रहती थीं। युवावस्था के प्रारम्भ होने से ही शीलरक्षण उसके लिये किसी न किसी रूप में समस्या बन जाता था। इन्ही समस्याओ के कारण हिन्दू धर्मशास्त्रकारो ने नारियो के लिये आश्रम व्यवस्था को अनिवार्य घोषत नहीं किया।

ब्रह्मचर्याश्रम तथा नारी—वैदिक युग में नारियो के लिये ब्रह्मचर्य पालन का निर्देश दिया गया।[1] फिर भी नारियाँ पुरुषो जैसा ब्रह्मचर्य पालन नही कर सकती थी। आठ से सोलह वर्ष की आयु के मध्य नारियो का विवाह कर दिया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि इस आयु मे वे गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हो जाती थी। नारियों का भी उपनयन संस्कार होता था तथा यथासंभव ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, वे शिक्षा प्राप्त करती थी। सोलह वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने वाली नारियाँ आजीवन शिक्षा ग्रहण करने में लगी रहती थी, उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। वैदिकयुगीन ब्रह्मवादिनी नारियाँ अत्यन्त विदुषी और पारंगत होती थी। सामान्यरूप में बहुत कम नारियाँ ब्रह्मचर्याश्रम के नियमो का पालन करती थीं।

गृहस्थाश्रम तथा नारी—अथर्ववेद में नारी को गृह साम्राज्ञी कहा गया है।[2] मनु के अनुसार प्रजननार्थ ही नारी को सृष्टि हुई है।[3] विष्णुपुराण के अनुसार नारी ही गृहस्थ के सभी कर्मों को पूर्ण योग्यता से सम्पादित कर सकती है।[4] इन उल्लेखो से यह स्पष्ट होता है कि नारियों के लिये गृहस्थाश्रम अनिवार्य था। नारी के सहयोग से ही गृहस्थाश्रम पूर्ण होता था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए नारियाँ अपने सभी कर्त्तव्यो का सम्पादन करने के साथ-साथ यज्ञादि तथा अतिथि सत्कार भी करती थी। गृहस्थ जीवन की समस्त सुख और शान्ति उसी के श्रम पर निर्भर थी। वह परिवार के सभी सदस्यो से स्नेह और सहयोग रखती थी।

वानप्रस्थाश्रम तथा नारी—वानप्रस्थाश्रम नारी के लिये अनिवार्य नही था। गृहस्थाश्रम की समाप्ति पर स्वेच्छा से वह पति के साथ वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर सकती थी। मान्धाता ने अपनी स्त्रियो के साथ वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश किया था। किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। साधारणतया नारियाँ आजीवन गृहस्थाश्रम का ही पालन करती थीं।

संन्यासाश्रम तथा नारी—नारियो के लिये संन्यास ग्रहण करने का आरम्भ बौद्ध युग मे

---

१. 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' अथर्ववेद ११।५।१।१८।

२. अथर्ववेद १४।१।४३।

३. 'प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः।' मनुस्मृति ९।९६।

४. विष्णु पुराण ५।६।१५।

हुआ। इससे पूर्व, हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने नारियों के संन्यासाश्रम प्रवेश का उल्लेख नहीं किया, तथा नारी को क्रमशः पिता, पति और पुत्र से रक्षित माना।

आश्रम व्यवस्था का महत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आश्रम-व्यवस्था का प्राचीन भारतीय जीवन मे बहुत महत्व था। यह हिन्दू सामाजिक संगठन की वह व्यवस्था थी जिसमे व्यक्ति की जीवन यात्रा को योजनाबद्ध ढंग से कई भागों मे बाँटा गया तथा प्रत्येक भाग के लिये आयु की एक सीमा और कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया। जीवन की सात्विकता और सार्थकता को प्रस्तुत करने के लिये इन आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। यह व्यवस्था मनुष्य मे कर्त्तव्य-परायणता, ज्ञान, शक्ति और शांति का समावेश करती थी।

मानव जीवन के जो चार पुरुषार्थ बताये गये, आश्रम-व्यवस्था में उनकी भी पूर्ति होती थी। अपने जीवन काल मे व्यक्ति को इन चारो पुरुषार्थों को करना पड़ता था। ब्रह्मचर्याश्रम में 'धर्म' प्रमुख पुरुषार्थ था। व्यक्ति को धर्म के सभी पक्षो को सीखना और अभ्यास करना पडता था। उसे लौकिक धर्म और नैतिकता की जानकारी होती थी। गृहस्थाश्रम में 'अर्थ' और 'काम' प्रमुख पुरुषार्थ थे। इसमे व्यक्ति अपनी कामवासना की पूर्ति का अवसर प्राप्त करता था और अर्थ (धन) अर्जित करके अपना तथा आश्रितो का पोषण करता था तथा कर्तव्यो का निर्वाह करते हुए ऋणो से उऋण होने का प्रयास करता था। वानप्रस्थाश्रम मे 'धर्म' व 'मोक्ष' के पुरुषार्थ करने होते थे और अन्त में संन्यासाश्रम मे 'मोक्ष' सबसे बड़ा पुरुषार्थ था। संसार से पूर्णरूपेण विरक्त होकर व्यक्ति चिंतन-मनन करता हुआ ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करता था।

इसके अतिरिक्त आश्रम-व्यवस्था का महत्व व्यक्ति तथा समाज, दोनों ही दृष्टियो से था। इस व्यवस्था ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल दिया इससे जीवन अर्थपूर्ण और आशावादी बना। यह व्यवस्था आधारभूत मानवीय विशेषताओ से ओत-प्रोत थी। इस व्यवस्था में निहित दृष्टिकोण एकाधिकारवादी प्रवृत्ति का दमन करता था।

पुरुषार्थ

प्राचीन भारतीय चिन्तन में मनुष्य को न तो पूर्णतया दैवी प्राणी माना गया और न ही भौतिक। उसमें देवत्व और प्रकृतित्व का समिश्रण विद्यमान स्वीकार किया गया। इसी आधार पर हिन्दू चिन्तन में मनुष्य के निर्माण में दैवीय तत्व को प्रकृतित्व के समान महत्व देते हुये, उसे पशु जगत से उठाकर आत्मिक श्रेष्ठता की ऊँचाई मे प्रतिष्ठित करने की योजना बनाई गई। मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना मान कर प्राकृतिक संरचना की दृष्टि से उसके उद्देश्य की गुरुता को भी ध्यान में रखकर जीवन यापन की जिस प्रणाली का निर्धारण किया गया उसे पुरुषार्थ कहा गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जीवन के लक्ष्यबोध के रूप में हिन्दू चिन्तन में पुरुषार्थ की अवधारणा का विकास हुआ। यह अवधारणा व्यक्तित्व और समाज के निर्माण का आधार थी।

पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ दो शब्दों से बना है—'पुरुष' तथा 'अर्थ'। 'पुरुष' का अर्थ है 'विवेकशील प्राणी' तथा 'अर्थ' का तात्पर्य है 'लक्ष्य'। अतः पुरुषार्थ का अर्थ का हुआ 'विवेकशील प्राणी का लक्ष्य।' इस

अर्थ में पुरुषार्थ एक ओर तो सांसारिक और पारलौकिक लक्ष्य और कर्तव्य है, तथा दूसरी ओर इसमें नैतिक, आर्थिक, मनोशारीरिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों को सन्तुलित किया गया। भोगपरक वृत्तियों को अस्थायी तथा क्षणिक मानते हुये, जीवन को अर्थपूर्ण तथा वास्तविक उद्देश्य प्रदान करने के लिये पुरुषार्थ द्वारा सात्विक और निस्वार्थ जीवनयापन की व्यवस्था की गयी। पुरुषार्थ के अन्तंगत मनुष्य भौतिक सुखो का उपभोग करते धर्म का भी समान रूप से अनुसरण करके मोक्ष का अधिकारी होता था। भारतीय दर्शन के अनुसार आवागमन से मुक्ति को मोक्ष माना गया तथा इसी को जीवन की सार्थकता और चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया।

पुरुषार्थ का स्वरूप

पुरुषार्थ के नियोजन मे आधारभूत सिद्धान्त और उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। पुरुषार्थ वह आधार है जिसके अनुसरण द्वारा व्यक्ति स्वयं के लिये जीवित रहते हुये सामाजिक मूल्यो को भी बल देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आश्रम व्यवस्था की सफलता पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती थी। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये, जिन्हे 'चतुर्वर्ग' भी कहा गया। क्योकि मोक्ष की प्राप्ति सभी के लिये संभव नही थी। अतः 'त्रिवर्ग' की संयोजना की गई। त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ तथा काम की गणना की गई।

धर्म मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर करता है। इसके माध्यम से मनुष्य नैतिक सिद्धान्तो, विवेकशील प्रवृत्तियों तथा न्यायप्रधान क्रियाओं को समझ कर, उनका अनुसरण करता है। धर्म का व्यावहारिक अर्थ यह माना गया कि उससे दूसरे को कष्ट न पहुँचे तथा लाभ हो। जो धर्म का मात्र अपने लिये ही अनुसरण करता है, वह सूर्य की प्रभा से अछूता रहता है।[1] त्रिवर्ग के अन्तंगत 'अर्थ' को द्वितीय उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया। जीवन में भौतिक सुखो की पूर्ति 'अर्थ' द्वारा ही संभव मानी गई। 'अर्थ' मनुष्य मे विभिन्न भौतिक वस्तुओं के संचय की उत्कंठा और उससे प्राप्त सन्तुष्टि का प्रतीक है। सांसारिक और भौतिक सुख अर्थ पर ही निर्भर माना गया। अर्थोपार्जन के साथ-साथ उसके सम्यक दान की भी अपेक्षा की गई। महाभारत के अनुसार ऐसा न करने वाला धन के समुचित उपयोग से वंचित सेवक की भाँति होता है।[2] 'काम' को त्रिवर्ग में अन्तिम स्थान दिया गया। 'काम' का उपभोग एक निश्चित सीमा तक ही स्वीकार किया गया। काम को साधन, न कि साध्य मानते हुए, उसे मन और हृदय का वह सुख स्वीकार किया गया, जो इन्द्रियो से निसृत है।[3] महाभारत में द्रव्य-अर्थ की संवृद्धि से होने वाला आनन्द भी 'काम' माना गया। धर्म, अर्थ तथा काम का आधारभूत लक्ष्य ऐहिक और दैहिक सुख का भेद पहचानते हुए धर्मसम्मत मार्ग पर अग्रसर होना स्वीकार किया गया।

धर्म, अर्थ और काम को त्रिवर्ग में रखकर, मोक्ष का प्रतिपादन किये जाने से पुरुषार्थ क्रम पूर्ण माना गया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मोक्ष को त्रिवर्ग से अलग रखने का कारण मोक्ष की प्राप्ति को सभी के लिये असम्भव माना जाना था। मोक्ष का सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से है तथा इसकी प्राप्ति सरल नही है। इसके लिये प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होना आवश्यक हे। धर्म, अर्थ और काम द्वारा मनुष्य सासारिक जीवन में प्रवृत्त रहता है। निवृत्ति मार्ग

---

१. महाभारत, वनपर्व ३३।२१-३। २. वही, ३३।२४। ३. वहीं, ३७।८।

के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य में सद्व्यवहार, त्याग, सत्कर्म आदि गुण हों। इनके द्वारा मनुष्य निवृत्त होता है। यह निवृत्ति उसे आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय से ही मोक्ष संभव होता है। इस प्रकार पुरुषार्थ अपने स्वरूप में व्यक्ति के निवृत्तिमूलक व्यक्तित्व के निर्माण का माध्यम है।

पुरुषार्थ के आधार

(१) धर्म—धर्म शब्द का अर्थ 'धारण करना' है। धर्म प्रजा को धारण करता है।[1] धर्म भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। धर्म व्यक्ति को कर्त्तव्यों, सत्कर्मों एवं गुणों की ओर ले जाता है। यह व्यक्ति की विविध रुचियों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं आदि के बीच एक संतुलन बनाये रखता है और परिणामस्वरूप मानवीय व्यवहार का उचित नियमन एवं नियंत्रण करता है। आचार से धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है तथा आचार एवं सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया है।[2] मनु के अनुसार वेद और स्मृतियों में विवृत है कि आचार ही श्रेष्ठ धर्म है। महाभारत के अनुसार धर्म वही है जो किसी को कष्ट नहीं देता अपितु लोककल्याण करता है। मनु के अनुसार धर्म के चार आधार हैं—श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार तथा आत्मतुष्टि।[3] वसिष्ठ वेद और स्मृति को सदाचार से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

धर्म की कुछ क्रियायें दृष्ट होती है, किन्तु उसकी प्रतिक्रियायें अदृष्ट होती हैं—इसी कारण धर्म दृष्टादृष्ट पुरुषार्थ माना गया है। केवल धर्म का ही आश्रय ग्रहण करके व्यक्ति इस संसार में तथा परलोक में शान्ति प्राप्त कर सकता है।[4] गीता के अनुसार सम्पूर्ण भूतों के कल्याण के लिये ही धर्म की स्थापना हुई है।[5] मनु के अनुसार जो व्यक्ति धर्म का सम्मान करता है, उस व्यक्ति की धर्म सदैव रक्षा करता है।[6] शास्त्रकारों का यह भी विचार है कि संसार में सभी कुछ तो नश्वर है। मनुष्य का शरीर नष्ट होते ही सभी कुछ छूट जाता है किन्तु धर्म तब भी उसके साथ रहता है। धर्म को साक्षात ईश्वर का स्वरूप माना गया है। ईश्वर के द्वारा ही इसकी स्थापना, संचालन तथा रक्षा होती है। धर्म के चार अंग हैं—तप, शौच, दया और सत्य। गीता के अनुसार 'मैं तप, शौच, दया तथा सत्य इन चार पैरों वाले वृष का रूप धारण करने वाला धर्म हूँ।[7] धर्म का पालन देश काल के अनुसार होता है। स्वधर्म, परधर्म, सामान्यधर्म तथा विशेषधर्म आदि धर्म के ही अनेक स्वरूप है।

धर्म का सम्बन्ध विशेषरूप से मनुष्य के अन्तःकरण से होता है। धर्म का पालन व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर शुद्ध कर देता है। अतः धर्म का विशेष आधार भाव है। भाव के अनुसार क्रिया

---

१. 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥' महाभारत, कर्णपर्व—१०६।५८।

२. 'आचारः फलते धर्मः।' महाभारत—उद्योग पर्व ६१।५१।

३. मनुस्मृति २।६, १२।

४. "यतोऽभ्युदयतिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः"—कणाद।

५. 'प्रभवार्थं च भूतानां धर्मं प्रवचनम् कृतम'—भागवतगीता।

६. 'धर्म एवहतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।' मनुस्मृति ८।१५।

७. 'धर्मोऽहं वृष रूपधृक्:' भागवतगीता ११।१७।११।

भी समानान्तर रूप से होती रहती है। इसी के अनुसार व्यक्ति गुण दोष का विचार करके धर्म का पालन करता है।

(२) अर्थ—अर्थ का क्षेत्र धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक माना गया है। जिस प्रकार आत्म के लिए मोक्ष, बुद्धि के लिए धर्म और मन के लिए काम की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की आवश्यकता है। चाणक्य के अनुसार धर्म का मूल 'अर्थ' है। अर्थ सांसारिक जीवन का मूल है। अर्थ के अभाव में जीवन व्यर्थ हो जाता है। अर्थ मनुष्य की शक्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है। हिन्दू विचारको ने धन को भी पुरुषार्थ जीवन में स्थान देकर इसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है। जिसके जीवन मे अर्थ नही वह अपने कर्त्तव्यो का उचित ढंग से पालन करने में सफल नही हो सकता। कौटिल्य के अनुसार दान व अभिलाषाओ की तुष्टि अर्थ पर ही निर्भर करती है। पंचमहायज्ञों को सम्पन्न करने के लिए भी अर्थ का होना आवश्यक है। समाज के उत्थान तथा स्वाभिमानपूर्वक जीवन-यापन के लिए भी अर्थ के महत्व को स्वीकार किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए भी 'अर्थ' जरूरी है। महाभारत तथा स्मृतियो के अनुसार अर्थ का पुरुषार्थ पूरा किये बिना वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्ति को मोक्ष नही प्राप्त हो सकता।

अर्थ की महत्ता पर बल देते हुए महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है; प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है, अर्थसम्पन्न लोग सुख से रहते हैं, अर्थ रहित लोग मृत के समान हैं, किसी एक के धन का क्षय करते हुए, उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है।[1] बृहस्पति के अनुसार 'अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण, क्या नही होता? दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक या चाण्डाल के समान है। इस प्रकार अर्थ ही जगत का मूल है।'[2] नीतिशतक के अनुसार धनी व्यक्ति अच्छे कुल और उच्च स्थिति का माना जाता है। वह पण्डित, वेदज्ञ, वक्ता, गुणज्ञ तथा दर्शनीय माना जाता है। अतः धन मे सभी गुण समाहित हो जाते हैं।[3] परन्तु मनु के अनुसार अगर अर्थ और धर्मविरुद्ध हैं तो उन्हे त्याग देना चाहिये।[4] इस आधार पर धनसंचय धार्मिक आधार पर होना चाहिये। आधार्मिकता से अर्जित धन को दुखद और निन्दनीय कहा गया है।

(३) काम—भारतीय धर्म-दर्शन के अनुसार काम का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति तथा वंश-वृद्धि करना है। काम का सर्वोत्तम और आध्यात्मिक उद्देश्य पति-पत्नी में आध्यात्मिकता, मानव-प्रेम, परोपकार तथा सहयोग की भावनाओं का विकास करना है। इस उद्देश्य का ज्ञान पशु-पक्षियों, कीट-पतंगो को नही हो सकता। काम शब्द से कला-सम्बन्धी भाव, विलास, ऐश्वर्य तथा कामनाओं का भी बोध होता है।

काम जीवन का प्रमुख अंग है किन्तु इसका अतिरेक भयंकर दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नही छोड़ना चाहिये।[5] महाभारत मे कहा गया है कि धर्म अर्थ की प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल है। इन तीनो का मूल कारण संकल्प है और संकल्प विषय रूप है।[6] मनु

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व—७२।२३-४। २. बृहस्पति सूत्र—६।७-१२।

३. 'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीन। स पण्डित. स श्रुतवान्गुणज्ञ.॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः। सर्वेगुणाः काचनमाश्रयन्ति॥'' नीतिशतक, ४२।

४. मनुस्मृति ४।१७६। ५. महाभारत—स्वर्गारोहण—५।६३।

६. महाभारत—शान्तिपर्व—१२३।४।

ने काम को तमोगुण के लक्षण से युक्त माना है।[1] कौटिल्य ने काम को अन्तिम श्रेणी में रखते हुए, धर्म और अर्थ को बिना बाधा पहुँचाए, इसके पालन का निर्देश दिया है।[2]

काम के अनुसरण में गुण और दोष को सदैव ध्यान में रखना आवश्यक माना गया तथा उसी काम को उचित बताया गया, जो धर्म पर अवलम्बित हो। अधार्मिक काम को पाप मानकर निन्दा की गयी तथा धार्मिक काम को कर्त्तव्य मान कर, उसकी प्रशंसा की गई। महाभारत के अनुसार जो व्यक्ति धर्मरहित काम का अनुसरण करता है, वह अपनी बुद्धि को समाप्त कर देता है।[3] मत्स्य-पुराण में कहा गया है कि धर्महीन काम वन्ध्या के समान है।[4] गीता के अनुसार कामी व्यक्ति में बुद्धि नहीं होती। पुरुषार्थ के लिये बुद्धि और विवेक वांछनीय है। इन्द्रियाँ जिसके वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।[5] काम की आलोचना करते हुए कहा गया है कि विषयों के बारे में सदैव सोचने से विषयों के प्रति रुचि बढ़ती है। इससे कामवासना का जन्म होता है। कामतृप्ति न होने से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह अविवेक का प्रतिरूप है। इससे स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति का नाश होता है।[6] इसीलिये काम पर अंकुश रखने के लिये उसे धर्म के आवरण में लिप्त किया गया तथा काम की अतिवादिता को अवरुद्ध करने के लिये उस पर धर्म का अंकुश लगाया गया।

(४) **मोक्ष**—साधारणतः मोक्ष का अर्थ आवागमन से मुक्ति माना गया है। यह जीवन का सर्वोच्च और अन्तिम उद्देश्य भी माना गया और संभवतः इसी कारण से इसकी उपलब्धि सभी के लिये संभव न थी। त्रिवर्ग से मोक्ष को अलग कर दिये जाने का तथा पुरुषार्थं में अन्तिम स्थान दिये जाने का कारण भी मोक्ष की दुर्लभता ही थी।

मनु के अनुसार तीनों ऋणों—देव ऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण—को पूरा करके ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नरकगामी होता है।[7] अतः मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करे, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करे, यज्ञों का अनुष्ठान करे और तब मोक्ष का निवेदन करे।[8] पुराणों में इसी अवस्था का प्रतिपादन किया गया है। वायुपुराण के अनुसार अन्तिम आश्रम का अनुगामी व्यक्ति, शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करके, जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है, तब वह जन्म और मृत्यु तथा पुनर्जन्म से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।[9] मनु के अनुसार इन्द्रिय निरोधी, रागद्वेष का त्यागी और अहिंसा में लगा हुआ व्यक्ति ही मोक्ष के योग्य होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये विशुद्ध चरित्र आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रियाँ मन को भ्रमित और उद्वेलित करती हैं अतः इन्द्रिय निरोध और असक्तिहीनता भी मोक्षार्थी व्यक्ति के आवश्यक गुण माने गये। विष्णुपुराण के अनुसार मोक्षार्थी व्यक्ति को शत्रु-मित्र से समभाव रखते हुए किसी भी जीव के प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये और लोभ, मोह, काम, क्रोध और दम्भ को पूर्णतया त्याग देना चाहिये।[10]

---

१. 'तमसो लक्षणं कामो'—मनुस्मृति १२।३८।
२. 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्।' कौटिलीय अर्थशास्त्र १।७।
३. महाभारत—उद्योगपर्व १२८।३०।
४. मत्स्यपुराण २४१।४८।
५. भागवतगीता—२।४४,२।६१, २।६८।
६. गीता २।६२-६३।
७. मनुस्मृति ६।३५।
८. मनुस्मृति ६।३६।
९. वायुपुराण १।७।७।
१०. विष्णुपुराण ३।६।२६-३०।

बृहदारण्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—"जो जल के समान अत्यन्त स्वच्छ, शुद्ध, माया मल रहित है, एक अद्वैत, अविपरिलुप्त, स्वात्म-ज्योति रूप दृष्टि का द्रष्टा है, वही ब्रह्म विद्वान् होता है, वही ब्रह्मरूप स्वप्रकाश लोक है, वही परमगति है, वही इसकी परक सम्पत्ति है, वही इसका परम आनन्द है।[1] गीता में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" ॥[2]

इससे अनुसार ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर ही व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है। ब्राह्मी स्थिति से तात्पर्य ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति से है। ऐसे महात्मा की सदैव पूर्ण स्थिति रहती है। इस स्थिति को प्राप्त कर मोह पुन: उसके शरीर पर अपना प्रभाव नही दिखला सकता। इसी प्रकार गीता मे अन्य स्थलो पर भी मोक्ष के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।[3] यही मोक्ष की स्थिति है जिसकी प्राप्ति अन्य पुरुषार्थों के उपभोग के पश्चात् व्यक्ति करता है।

पुरुषार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध—यदि सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो विदित हो जाता है कि इन चारों पुरुषार्थों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु धर्म को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मोक्ष से धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। हमारी संस्कृति के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने का सब व्यक्तियों को अधिकार है किन्तु सभी प्राणी एकाकी धर्म का आश्रय ग्रहण कर तथा उसी के अनुसार आचरण कर मोक्ष नही प्राप्त कर सकते। इसी कारण अर्थ, काम का भी व्यक्ति सेवन करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे। यह सत्य है कि धर्म सीधा व्यक्ति को मोक्ष की ओर ले जाता है किन्तु अर्थ और काम का सेवन उस मार्ग में बाधा डाल सकता है। इसी कारण धर्म-पूर्ण अर्थ-काम का सेवन करने की आज्ञा दी गई है—"धर्मानुकूलो अर्थकामो सेवेत।"[4] उसी प्रकार का अर्थ तथा काम का सेवन मोक्ष की ओर ले जायगा जो धर्मानुकूल होगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यही प्रत्यक्ष रूप से विदित होता है कि व्यक्ति इस संसार में रहकर सारे ऐश्वर्य प्राप्त करे, उपभोग करे, धन संचय करे किन्तु सब धर्मानुकूल हो। उनके मूल मे धर्म का अनुष्ठान ही हो—अर्थमूलोहि धर्मकामाविति।[5] अर्थ का संग्रह स्वत: अपना कोई महत्व नही रखता। उदाहरणार्थ भगवान का भोग व्यक्ति बहुत अच्छे-अच्छे पकवानो द्वारा लगाता है और वह अन्त में स्वयं ही प्रसाद रूप मे ग्रहण करता है। उस अन्न से उसका स्वास्थ्यवर्धन भी होता है और जिह्वा का स्वाद भी पूर्ण हो जाता है किन्तु वह अन्न का भोग उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। इसके विपरीत जो स्वयं ही खा जाता है ईश्वर पर आस्था नहीं रखता उस व्यक्ति की भी उस अन्न से उदर-पूर्ति हो जाती है, शरीर के लिए भी वह लाभ-दायक सिद्ध होता है किन्तु वह अन्न उसे पापी बना देता है[6] इसी प्रकार काम के लिए भी वात्स्यायन

---

१. "सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक: सम्राडिति ह्येनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द: ॥"
—बृहदारण्यक उपनिषद ४।३।३२।

२. गीता २। ७२।　　३. गीता ५। २४—२६।

४. वात्स्यायन—कामशास्त्र।　　५. कौ० अर्थ० १। ७। ११।

६. भुंजते तेत्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्—गीता—३-१३।

ने कहा है कि 'आत्मसंयुक्तेन मनसा धर्मानुकूलेन प्रवृत्तिः कामः'[1]। वही प्रवृत्ति काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आ सकती है जो धर्मानुकूल हो। जीवन में काम पुरुषार्थ का सेवन करना उतना ही आवश्यक है जितना जीवन आवश्यक है "शरीरस्थिति हेतुत्वात् आहार सधर्मः कामः"[2] किन्तु काम धर्म प्रधान हो। कौटिल्य ने भी धर्म, अर्थ के अनुसार काम का सेवन बताया है।[3] गीता मे भी भगवान ने अर्जुन से कहा है। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।[4] इसका तात्पर्य यही है कि जो धर्मपूर्ण काम का सेवन है उसमे ईश्वर विद्यमान रहता है। इस वर्तमान युग मे व्यक्तियो की अर्थ तथा काम की तृष्णा इतनी प्रबल हो गई है कि वे इस बात को भूल गये हैं कि अर्थ तथा कामोपभोग के मूल मे धर्म स्थापित है। रामायण में भी धर्मविहीन अर्थ तथा काम का उपभोग आसुरी प्रवृत्ति को फैलाने वाला घृणा एवं द्वेष का कारण माना गया है।

धर्मार्थकामा किल तात लोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा॥
यस्मिस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत्त।
द्वेषो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥[5]

जिस प्रकार का अर्थ तथा काम से सम्बन्ध अलग नही किया जा सकता उसी प्रकार अर्थ तथा काम भी परस्पर सम्बन्धित हैं। अर्थ के बिना किसी भी काम (इच्छा) की पूर्ति कभी नही हो सकती। व्यक्ति का जीवन सभी वस्तुओ की इच्छा करता है किन्तु उसकी इच्छा धन द्वारा ही पूर्ण होती है। मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण ऐश्वर्य अर्थ तथा काम के ऊपर ही निर्भर है। परन्तु मनुष्य के अर्थ संग्रह की सार्थकता इसमें नही कि उसने सांसारिक सम्पत्ति का उपार्जन कर लिया वरन् धर्मानुष्ठान मे है, भोग की सामग्रियो द्वारा अपनी इन्द्रियो को तृप्त कर लेने मे ही काम पुरुषार्थ की सार्थकता है। इस प्रकार धर्मानुकूल अर्थ काम का सेवन करने के पश्चात् व्यक्ति परम पुरुषार्थ के समीप पहुँचता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमे से एक की भी न्यूनता मे पुरुषार्थों का सेवन ठीक से नही हो सकता। इन चारो मे यद्यपि मोक्ष ही सर्वोच्च है किन्तु फिर भी धर्म को ही मुख्य स्थान दिया जा सकता है। धर्म, अर्थ काम में सर्वप्रथम काम, काम से श्रेष्ठ अर्थ तथा अर्थ से श्रेष्ठ धर्म है।

पुरुषार्थ का महत्व

भारतीय जीवन और दर्शन मे पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अपनी एक विशेष महत्ता है। पुरुषार्थ संस्था निर्दिष्ट जीवन को प्राप्त करने की एक साधन व्यवस्था है। यह व्यक्ति को वांछित कार्य करने की प्रेरणा देती है, तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत के बीच संतुलन स्थापित करती है। पुरुषार्थ की अवधारणा जीवन के उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति की परियोजना है। पुरुषार्थ के माध्यम से ही मानव जीवन का सर्वाङ्गीण विकास हो सकता है। पुरुषार्थ भारतीय सामाजिक जीवन का मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार भी है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में पुरुषार्थ

---

१. वात्स्यायन कामशास्त्र।
२. वात्स्यायन कामशास्त्र।
३. धर्मार्थाविरोधेन काम सेवेत १।७।६।
४. गीता ७।११।
५. वा० रा० अयो० २१।५६-५७।

की अवधारणा द्वारा मनुष्य के निर्माण मे दैवी योजना को समझ कर उसको पशुजगत से उठाकर आत्मा की उन गहराइयों में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया, जहाँ दुख का लेश भी नहीं है और ब्रह्म से एकाकार है। पुरुषार्थ की अभियोजना पूर्ण है और इसी से पूर्णत्व की प्राप्ति सम्भव है। यह व्यक्तित्व और समाज के निर्माण का भी आधार है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

पुरुषार्थ अभियोजना की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) पुरुषार्थ की योजना, व्यक्ति के जीवन को महत्ता प्रदान करते हुए उसके सर्वाङ्ग-पूर्ण विकास के लिये थी। इस विकास को दृष्टि में रखते हुए, ऊँचे आदर्शों को लक्ष्य बनाया गया।

(२) प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने मनोविश्लेषणात्मक तथा समाजशास्त्रीय आधार पर पुरुषार्थ के दर्शन का प्रतिपादन किया। इसके द्वारा व्यक्ति की सहज और सरल अनुभूतियों तथा अभिव्यक्तियो का निरूपण हुआ तथा जीवन की व्यावहारिकता को ध्यान मे रखते हुए अर्थ और काम का तर्कसंगत विश्लेषण किया गया।

(३) पुरुषार्थ व्यक्तित्व निर्माण का प्रमुख आधार होने के साथ ही, जीवन का मुख्य प्रेरकतत्व भी था।

(४) भारतीय जीवन दर्शन और परम्परानुसार चारो पुरुषार्थों मे धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया। त्रिवर्ग के समस्त कर्त्तव्यों का आधार धर्म था और समस्त कर्त्तव्यो का पालन धर्म के आधार पर ही सम्पन्न किया जाना उचित ठहराया गया। पुरुषार्थ की आधारभूत धारणा यह थी कि धर्म व्यक्ति को आध्यात्म की ओर प्रेरित करता है और जब वह पूर्ण आध्यात्मिक हो जाता है तभी चरम लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

(५) पुरुषार्थ द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक उद्देश्यो एवं आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित किया गया। कर्त्तव्यो का सरलता से सम्पादन तथा परमतत्व के प्रति निरन्तर जागरुकता पुरुषार्थ के माध्यम से ही सम्भव मानी गई। इसीलिये पुरुषार्थों में काम और अर्थ साधन स्वरूप हैं तथा धर्म और मोक्ष साध्य स्वरूप।

(६) पुरुषार्थ का सर्वोच्च और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना था। मोक्ष को परम लक्ष्य मान कर पुरुषार्थ किये जाने से जीवन में नियम तथा संयम की स्थापना हुई।

(७) पुरुषार्थ के माध्यम से व्यक्ति विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक निभाने में समर्थ हुआ। संयम, नियम तथा अनुशासन के कारण जीवन को सार्थकता और सन्तुलन मिला।

संस्कार

अर्थ तथा प्रयोजन

संस्कृत भाषा का 'संस्कार' शब्द 'कृञ' धातु मे 'घ' प्रत्यय के योग से बना है— जिसका अर्थ है शुद्धता या परिष्कार। अंग्रेजी भाषा में संस्कार के लिये 'सैक्रामेन्ट' शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिसका अर्थ है 'धार्मिक विधान'। मीमांसा दर्शन धारा के अनुसार संस्कार का अर्थ 'विधिवत शुद्धि' से है तथा अद्वैतवाद भाव में इसे आत्मव्यंजक शुद्धि माना गया है। प्राचीन भारत मे संस्कार का आधार धर्म था तथा यह विचार व्यापक था कि संस्कार द्वारा मनुष्य जीवन

को उन्नत, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत बनाया जाता है। इसी धार्मिक आधार के कारण संस्कार में यज्ञ, हवन तथा कर्मकाण्ड का प्रावल्य रहा। देवताओं को प्रसन्न करके उनके आशीर्वाद तथा अनुकम्पा द्वारा जीवन को सुखमय बनाने के लिये विभिन्न संस्कारों की प्रतिष्ठा की गई। अतः संस्कार प्राचीन भारतीय हिन्दू समाज के लिये अति आवश्यक विधान थे। तत्कालीन समाज में यह विश्वास व्याप्त था कि संस्कारों द्वारा व्यक्ति स्वयं अपना परिष्कार करता है तथा संस्कारों की सम्पन्नता द्वारा उसका जीवन तेजोमय हो जाता है। संक्षेप में, संस्कार का प्रयोजन व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक तथा धार्मिक जीवन को उन्नत करना था।

स्वरूप तथा उद्देश्य

प्राचीन हिन्दू समाज के व्यक्ति का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तथा उसके उपरान्त भी, संस्कारों द्वारा आवृत था। यह विश्वास व्याप्त था कि संस्कारहीन व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित होता है और ऐसी दशा में अनेक विघ्न तथा बाधाएँ उपस्थित होती हैं। संस्कारों का मूल उद्देश्य शरीर और आत्मा का शुद्धिकरण, विघ्न और बाधाओं का निवारण तथा देवताओं की अनुकम्पा और आशीर्वाद प्राप्त करना है। संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न आयोजनों द्वारा देवताओं की स्तुति, प्रार्थना तथा ध्यान के लिये यज्ञों का आयोजन किया जाता था। प्रत्येक संस्कार के अवसर तथा विधि-विधान नियत थे। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर इनका सम्पादन किया जाता था। इस प्रकार किये गये संस्कारों द्वारा जीवन को योग्य, गुणाढ्य, परिष्कृत तथा व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त होता था।[1]

विविध संस्कार

यद्यपि संस्कारों का प्रचलन वैदिक युग में था तथापि इनके विषय में स्पष्ट तथा विस्तृत सामग्री सूत्र तथा स्मृति साहित्य में मिलती है। गौतम तथा वैखानस ने संस्कारों की संख्या, क्रमशः ४० तथा १८ बताई है।[2] संस्कारों के महत्व तथा प्रमुखता को ध्यान में रखते हुए, प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने १६ महत्वपूर्ण संस्कार निर्धारित किये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म (मुण्डन), कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कार। इन संस्कारों का विधि-विधान, उद्देश्य तथा महत्व निम्नलिखित है।

(१) **गर्भाधान (निषेक) संस्कार**—वैदिक काल[3] से प्रचलित इस संस्कार का सम्बन्ध संतान की कामना द्वारा स्त्री के गर्भ में पुरुष द्वारा सन्तान के बीजारोपण से है।[4] ऋतु स्नान के उपरान्त चौथी रात्री से १६वी रात्री के मध्य अन्तिम पहर का समय इसके लिये उपयुक्त माना गया है। याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार ८वी तथा १५वी रात्रियाँ गर्भाधान के लिये वर्जित बताई गई हैं।[5]

---

१. "योग्यताञ्चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यते।" पृ० १०७८ तन्त्रवार्तिक।
'संस्कारों हि नामगुणाधानेन वास्याहोषायनयनेन वा।' वेदान्त सूत्र, ११४, शंकर भाष्य।

२. गौतम ध० सू० १।८२२, वैखानस ध० सू०।   ३. अथर्ववेद ५।२५।३।

४. बौधायन गृ० सू० १४।६।१; काठक गृ० सू० ३०।८; याज्ञवल्क्य स्मृति १।११।

५. याज्ञवल्क्य १।७९ तथा मनु ३।४५।

दिन का समय भी निषिद्ध कहा गया है। अलबरुनी ने इस संस्कार का उल्लेख करते हुए, लिखा है कि सन्तान प्राप्ति के लिये किये गये सम्भोग से पूर्व यज्ञ करना आवश्यक था। इस संस्कार को 'निषेक' (ऋतुसंगम), चतुर्थी कर्म तथा चतुर्थीहोम भी कहा जाता था। क्योंकि इस संस्कार के सम्पादन में समय तथा उद्देश्य की अनिश्चितता के साथ-साथ लज्जा का भी समावेश रहता था अतः कभी-कभी इसका सम्पादन नही किया जाता था।

(२) **पुंसवन संस्कार**—गर्भाधान के तीसरे मास में पुंसवन संस्कार किया जाता था।[1] यह संस्कार सन्तान के रूप में पुत्र प्राप्ति हेतु सम्पादित होता था।[2] पुराणों के अनुसार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति हेतु यह संस्कार होता था।[3] कभी-कभी यह संस्कार गर्भधारण के दो माह उपरान्त से लेकर आठवें मास के बीच सम्पन्न होता था। जब चन्द्रमा पुष्प नक्षत्र में स्थित होता था तब यह संस्कार पुत्र के मंगलकारी होने के लिये आयोजित किया जाता था।[4] इस संस्कार में रात्रि के समय गर्भवती स्त्री की नाक के दाहिने छेद में बरगद की छाल का रस डाला जाता था। इससे गर्भपात की सम्भावना का निराकरण होता था। यह विश्वास व्याप्त था कि इस संस्कार के सम्पादन से पुत्र उत्पन्न होने में बाधाओ का निवारण होता है।

(३) **सीमन्तोन्नयन संस्कार**—गृह्य सूत्रों में यह संभावना व्यक्त की गई है कि स्त्री द्वारा गर्भ धारण करने पर अनेक व्याधियाँ (राक्षसियाँ) गर्भ को समाप्त करने अथवा भावी सन्तान को पीड़ा और हानि पहुँचाने के लिये उद्यत रहती हैं। इसके लिये पति को 'श्री' का आवाहन करके इन व्याधियों को भगा देना चाहिये।[5] इस संस्कार मे गर्भिणी स्त्री के केशो (सीमन्त) को ऊपर उठाया जाता था, इसलिये इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन संस्कार कहा गया।[6] इस संस्कार का आयोजन गर्भ धारण के चतुर्थ मास में किया जाता था। इस संस्कार को सम्पादन करने का उद्देश्य गर्भिणी के लिये अत्यधिक श्रम वर्जित करके उसे मानसिक तथा शारीरिक आराम देना था। पुराणों में प्रस्तावित किया गया है कि इस संस्कार में नान्दीमुख नामक पितरों की पूजा करनी चाहिये।[7]

(४) **जातकर्म संस्कार**—यह संस्कार पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त नाभि छेदन (नार काटने) से पहले किया जाता था।[8] अलबरूनी ने लिखा है कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद तथा माता द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बीच 'जात कर्म' नामक तीसरा यज्ञ किया जाता था।[9] इस संस्कार में पिता विधिपूर्वक स्नान करके नान्दीमुख नामक पितरों का श्राद्ध और पूजन करता था। इसके उपरान्त आर्शीवाद मन्त्रो को उच्चारण करते हुये पुत्र को स्पर्श करते हुये सूँघता था। आश्वालायन के अनुसार इस संस्कार मे सबसे पहले पिता पुत्र को स्वर्ण की शलाका से घी तथा

---

१. आश्वालायन गृ० सूत्र १।१३। २. वही १।९।
३. वायुपुराण ९६।१२; ब्रह्माण्ड पुराण ३।७१।१२।
४. पारस्कर गृह्य सूत्र १।१४—२, बौधायन गृ० सूत्र १।९।१।
५. आश्वालायन गृ० सू० १।१३।१४; गौतम धर्म सूत्र ८।१४।
६. बौधायन गृ० सू० १।९।१। ७. विष्णुपुराण ३।१३।६।
८. मनुस्मृति २।२९। ९. 'ग्यारहवीं सदी का भारत' पृ० २२१।

शहद चटाता था ।[१] जातकर्म संस्कार का उद्देश्य सन्तान पर पड़ने वाली अनिष्टकारी बाधाओं का निवारण करना था ।

(५) नामकरण संस्कार—मनु[२] के अनुसार जन्म से दसवें या बारहवें दिन, भाष्यकार विश्व रूप तथा कुल्लक[३] के अनुसार ग्यारहवें दिन, मेधातिथि[४] के अनुसार दसवें दिन तथा बृहस्पति[५] के अनुसार दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन नामकरण संस्कार किया जाना चाहिये । क्योंकि इस संस्कार का आयोजन प्रसूति (जिसका सूतक कम से कम दस दिन और अधिक से अधिक तीस दिन माना जाता था) की समाप्ति के बाद किया जाता था, अतः नामकरण संस्कार जन्म से दसवें दिन या उसके बाद ही सम्पन्न किया जाता था । इस संस्कार के आयोजन में शुभ तिथि, नक्षत्र तथा मुहूर्त का विशेष महत्व था । देवपूजन, यज्ञाहुति तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करते हुये कर्ण प्रिय, शोभनीय तथा अर्थपूर्ण नाम प्रदान किये जाने का प्रावधान था । देवतानाम, मास-नाम, नक्षत्र-नाम तथा सन्तान को पुकारने वाले कई नाम रखे जाते थे । पुत्री के नामान्त में आ, दा अक्षर लगाया जाता था जैसे भावना, रंजना, वसुन्धरा, यशोदा आदि । मनु के अनुसार ब्राह्मण का नाम मगल सूचक, क्षत्रिय का बल सूचक, वैश्य का धन-सम्पदा सूचक तथा शूद्र का निन्दा-सूचक शब्दों से युक्त होना चाहिये ।[६] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सन्तानों के नामान्त मे शर्म, वर्म, गुप्त और दास शब्द लगाने की व्यवस्था थी ।[७]

(६) निष्क्रमण संस्कार—जन्म के उपरान्त, प्रथम बार सन्तान को घर से बाहर निकालने से पूर्व निष्क्रमण संस्कार सम्पादित किया जाता था । मनु के अनुसार सन्तान को जन्म से चौथे माह में घर से बाहर लाना चाहिये ।[८] अतः इस संस्कार का आयोजन प्रायः जन्म के चौथे माह या उसके बाद ही होता था। सन्तान को मां की गोद मे देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था । इसके उपरान्त पिता शिशु को सूर्य दर्शन कराता था । इस संस्कार द्वारा शुभ मुहूर्त मे देवताओं का स्मरण करते हुये, बालक को घर के बाहर प्राकृतिक जगत मे लाया जाता था ।

(७) अन्नप्राशन संस्कार—इस संस्कार द्वारा शिशु को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता था । पाँचवें या छठे मास मे अथवा जब शिशु के दांत निकलने आरम्भ हो जाते थे तो उसकी अवस्था अन्न देने लायक समझी जाती थी । कभी कभी यह संस्कार वर्ष के अन्त में भी सम्पादित किया जाता था ।[९] इस संस्कार में शहद, घी, दही, दूध, पके हुए चावल का मिश्रण शिशु को चटाया जाता था । यह मान्यता भी व्याप्त थी कि यदि बालक को मधुरभाषी तथा वाचाल बनाना हो तो उसे

---

१. आश्वा गृ० सू० १।१५।१-४ ।

२. मनुस्मृति २।३०।

३. विश्वरूप तथा कुल्लूक 'मनुस्मृति'—२।३०

४. मेधातिथि—'मनुस्मृति'—२।३०

५. वीरमित्रोदय, १ पृ० ३३४ पर उद्धृत ।

६. "मंगल्य ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तम् शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ।।" मनुस्मृति २।३१

७. शर्मान्त ब्राह्मणस्य, वर्मान्त क्षत्रियस्य, गुप्तान्तं वैश्यस्य...शूद्रस्य दासान्तमेव वा ।"
बौधायन गृ० सू० १।१।१०।

८. मनुस्मृति २।३४।

९. 'संवत्सरेऽन्नप्राशनमर्धसंवत्सर इत्येके' शंख, अपरार्क' द्वारा उद्धृत—पृ० १८ ।

भारद्वाज पक्षी का मांस चटावे। यदि बालक को धन तथा अन्न आदि से सम्पन्न बनाने की इच्छा हो तो मोर तथा कपिञ्जल (तीतर) पक्षी के मांस को चटावे। यदि बालक को शीघ्रगामी बनाना हो तो मछली का मांस चटावे। यदि दीर्घ जीवन की इच्छा हो तो कृकषा (केंकड़े) का मांस तथा ब्रह्मवर्चस की इच्छा से आट्या पक्षी का मांस चटावे। यदि पिता बालक मे इन सब गुणो की आकांक्षा करे तो उसे सबका मांस अलग-अलग या एक साथ थोड़-थोड़ा लेकर चटाना चाहिये। इसके उपरान्त तत्पश्चात् ब्राह्मणभोजन कराया जाता था और तब अन्नप्राशन संस्कार पूर्ण हो जाता था।

(८) **चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार**—जब बालक एक वर्ष का या तीन वर्ष का हो जाता था तो उसका चूड़ाकर्म संस्कार होता था। इसके अतिरिक्त यह अपने पारिवारिक रीति-रिवाजो के अनुसार कभी भी किया जा सकता था।[1] माता ब्राह्मणो को भोजन कराकर, बालक को स्नान कराकर, उसे नवीन वस्त्र पहनाकर, गोद मे लेकर अग्नि के पश्चिम की ओर बैठती थी। अग्नि में देवताओ को आहुति दे देने के पश्चात् बालक को हवन की बची हुई (स्थाली पाक) सामग्री का प्राशन कराया जाता था। तत्पश्चात् शीत जल में उष्ण जल मिलाया जाता था। उस समय पिता यह मन्त्र पढ़ता था—"वायुउदकेनेह्यदिते केशान्वपेति"[2]। फिर पिता नवनीतपिण्ड घृतपिण्ड तथा दधिपिण्ड को पानी मे डालकर लाता था और उसी जल से बालक के गोदान (गोदानं नाम कर्णस्य उपरि प्रदेशः) प्रदेश को भिगोकर सविता देवता का मंत्र पढ़ता था। स्याही के तीन काटों से बालो को अलग करके बीच की लाइन मे तीन कुश रखे जाते थे तत्पश्चात् "शिवोनामेति" कहकर लोहे का छुरा हाथ मे लेकर 'निवर्तयामीति' इस मंत्र को पढ़कर शिखा को छोड़ कर शेष केश काटे जाते थे। उसके साथ वे कुश भी कटते थे। सब बाल गोबर के पिण्ड में डाल दिये जाते थे और वह केश समेत गोपिण्ड गोशाला, तडाग अथवा नदी में डाल दिया जाता था।[3] बाल कट जाने पर छुरा सिर के चारो ओर घुमाया जाता था और बालक को स्नान कराकर चूड़ाकर्म संस्कार समाप्त हो जाता था। इस समय बालक के सिर पर शिखा रखाकर उसका दैवी जगत से सम्बन्ध जोड़ दिया जाता था। उसी समय से उसका सिर अत्यन्त पवित्र माना जाने लगता था। पुराणो मे उल्लिखित है कि यह संस्कार सम्पन्न करते समय नान्दीमुख तथा पितरो की अर्चना करनी चाहिये।[4] कूल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका मे लिखा है कि यह चौलकर्म धर्म (की स्थापना) के लिये ही होता है।[5] यह संस्कार मन्दिरों तथा प्रमुख तीर्थों मे भी सम्पन्न किया जाने लगा, जहाँ विधि पूर्वक हवन-पूजन के साथ मातृकाओ और देवताओ की स्तुति एवं अर्चना की जाती थी। आज भी यह संस्कार बड़े उत्साह से उत्सव रूप मे सम्पन्न किया जाता है।

(९) **कर्णवेध (कर्णछेदन) संस्कार**—कर्णवेध संस्कार की व्यवस्था वैदिक कालीन है।[6] इस संस्कार के सम्पादन का समय पूर्ण निश्चित नही है। गर्ग[7] ने छठा, सातवां, आठवां या बारहवां माह;

---

१. मनुस्मृति २।३५ आश्वलायन गृ० सूत्र १।१७।१ "यथाखुलधर्म वा"
२. पारस्कर गृह्यसूत्र २।१। ३. वही।
४. विष्णुपुराण ३।१३।६। 'धर्मार्थं कार्यम्" कुल्लूक भट्ट 'मनु०'
५. अथर्ववेद ६। ६ 'हिन्दू संस्कार'—गर्ग (उद्धृत) पृ० १३०।

सुश्रुत[1] ने छठा या सातवाँ वर्ष; बोधायन[2] ने सातवाँ या आठवाँ मास; बृहस्पति[3] ने (संस्कार प्रकाश मे उल्लिखित) दसवाँ बारहवाँ या सोलहवाँ दिन अथवा सातवाँ या आठवाँ मास, इस संस्कार के लिये उचित बताया है। इस संस्कार द्वारा सूई की नोक से कानों का छेदन होता था और उस छिद्र मे सोने की बाली पहना दी जाती थी। आज कल इस संस्कार का प्रचलन बहुत ही कम है।

(१०) विद्यारम्भ संस्कार—सन्तान जन्म के पाँचवे वर्ष मे उपनयन संस्कार से पूर्व विद्यारम्भ संस्कार किया जाता था। मार्कण्डेयपुराण का उद्धरण देते हुये अपरार्क ने लिखा है कि सन्तान द्वारा विद्यारम्भ करने की आयु पाँच वर्ष होनी चाहिये। विद्यारम्भ वर्णमाला, स्वर और व्यंजन द्वारा कराया जाता था। इस संस्कार मे शुभ मुहूर्त में शिक्षक द्वारा काष्ठ की तख्ती पर 'ॐ' और स्वस्तिक के साथ वर्णमाला लिख कर सन्तान को अक्षर ज्ञान कराया जाता था।

(११) उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार—हिन्दू समाज में उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्व है। यज्ञोपवीत संस्कार करने का समय विभिन्न वर्णों मे अलग-अलग था। ब्राह्मण के पुत्र का जन्म से आठवें वर्ष, क्षत्रिय के पुत्र का जन्म से ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य के पुत्र का जन्म से बारहवें वर्ष उपनयन संस्कार करना चाहिये।[4] मनु ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष, क्षत्रिय का छठे तथा वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करने का आदेश देते हैं। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के विषय मे यह सब निश्चित समय नहीं है। इसके लिये "यथा माङ्गल्यं वा सर्वेषाम्"[5] भी कहा गया है। इसके अनुसार अपने घर की रीति के अनुसार कोई भी वर्ण किसी भी समय पर यज्ञोपवीत करा सकता था। यज्ञोपवीत के समय से बालक ब्रह्मचारी हो जाता था क्योंकि गुरु अथवा आचार्य के समीप जब वह जाता था तो गुरु उससे "ब्रह्मचर्य्यमागामिति"[6] कहलवाते थे।

सर्वप्रथम ब्राह्मणों को भोजन करा बालक के सिर को चारों ओर से मुड़ा दिया जाता था। तत्पश्चात् बालक को स्नान करा कर वस्त्र पहनाये जाते थे। वस्त्रों को पहनते समय वह "तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसऽइति" मंत्र पढ़ता था। तत्पश्चात् बालक अग्नि के पश्चिम मे बैठता था। इस समय बालक मुञ्ज मेखला धारण करता था जो कि तीन लड़ की होती थी। यह तीन लड़ की मेखला आत्मा के तीनों गुणों की प्रतीक होती थी। इसी कारण मेखला बाँध कर ब्रह्मचारी के शरीर मे उन तीनों गुणों की एकता स्थापित की जाती थी। इसके लिये "मेखलाबन्धने विनियोगः" कहा गया है। इस मेखला द्वारा ब्रह्मचारी के अवगुण दूर होते थे तथा प्राणों एवं अपानों को बल प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी दण्ड धारण करता था। ब्राह्मण का दण्ड पलाश का बनता था और केशों तक होता था। क्षत्रिय का बेल का दण्ड मस्तक तक होता था। वैश्य उदुम्बर (गूलर) वृक्ष का दण्ड धारण करता था जो नासिका तक जाता था।

तत्पश्चात् गुरु बालक को गुरुमंत्र देता था जो गायत्री मंत्र के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इसे सावित्री मंत्र कहते थे, क्योंकि इस मंत्र के देवता सविता थे। ब्राह्मणों का अग्नि से सम्बन्ध है और अग्नि का गायत्री छंद से सम्बन्ध है इसी कारण ब्राह्मणों को गायत्री छंद से मन्त्र दिया जाता था।

---

१. सुश्रुत ६।१
२. बोधायन गृ० सू० १।१२
३. 'संस्कार प्रकाश' पृ० २५८।
४. पारस्कर गृह्यसूत्र २।३।
५. वही।
६. वही।

क्षत्रिय का सम्बन्ध रजस् से होता है। क्षत्रिय बलिशाली होते हैं। उनका सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द से है। त्रिष्टुप् छन्द बल देने वाला होता है। इसी कारण क्षत्रियो को त्रिष्टुप् छन्द में ही मन्त्र दिया जाता था।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में "जागतः वै पशवः" आया है अर्थात् जगती छन्द पशु तथा धनादि की वृद्धि करने वाला है। वैश्य का विशेष रूप से इन सभी वस्तुओ से सम्बन्ध है। इसी कारण वैश्य को जगती छन्द में गुरुमन्त्र दिया जाता था। इसके साथ ही साथ गायत्री से सब वर्णों का सम्बन्ध है।[2] यज्ञोपवीत के समय धारण करने के लिये मृगचर्म ब्राह्मण का, चितकबरा मृगचर्म क्षत्रिय का तथा बकरी का चर्म वैश्य का होता था।

प्राचीन काल में ब्रह्मचारी को इस संस्कार के बाद गुरु-गृह भेजा जाता था और उस दिन से भिक्षा द्वारा प्राप्त हुए अन्न से ही वह उदर पूर्ति करता था। इसी कारण उपनयन के समय बालक अपनी माता तथा भगिनी आदि से भिक्षा माँगता था। ब्राह्मण अपनी माता से भिक्षा माँगते समय "भवती माता भिक्षां देहि" क्षत्रिय का बालक "माता भवती भिक्षां देहि" तथा वैश्यपुत्र "माता भिक्षां देहि भवती" का उच्चारण करता था। इस भिक्षा-याचना द्वारा आचार्य इसी समय से बालक का अच्छे-अच्छे भोजनो से सम्बन्ध छुड़ा देता था। अन्त में बालक को स्नान करा कर उसे वस्त्र पहना कर ब्राह्मण भोजन कराया जाता था। इस प्रकार यह संस्कार सम्पादित किया जाता था।

महत्व—प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि वह परम पुरुपार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करे। इसके लिये वेदाध्ययन तथा यज्ञादि करना अत्यन्तावश्यक है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को वेद के पढ़ने का तथा यज्ञादि करने का अधिकार नही होता था। इसी कारण यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता था। यज्ञोपवीत का अर्थ है "यज्ञाय उपवीतं अथवा वेदोक्तकर्मकाण्डाय उपवीत" अर्थात वेदोक्त कर्मकाण्ड (यज्ञ) को करने के लिये जो (सूत्र) धारण किया जाय। वैदिक काल में यज्ञ समस्त वेदो तथा ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड का प्रतीक था और यज्ञ प्रजापति का वाचक था। अतः इस यज्ञ को करने का अधिकार प्राप्त कर लेने के लिये जो पुण्य वस्तु प्रजापति द्वारा बनाई गई वही यज्ञोपवीत है। बिना यज्ञोपवीत धारण किये हुये व्यक्ति शूद्र के समान होता है। यज्ञोपवीत (सूत्र) मे ही इतनी शक्ति है कि वह व्यक्ति का पुनः जन्म कराकर उसे द्विज एवं ब्रह्मचारी बना देता है।[3] यज्ञोपवीत के लिये "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं" कहा गया है। वास्तव मे इसके द्वारा उस आत्मा (यज्ञोपवीतेन परा विद्या आत्मा वा ज्ञायते) का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, जो ब्रह्म का स्वरूप है (आत्मा वै ब्रह्म)। तत्पश्चात् उसे सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान हो जाता है।[4]

द्विज के स्कन्ध पर पड़ा हुआ यज्ञोपवीत केवल अपना बाह्य महत्व ही नहीं प्रकट करता वरन् यह व्यक्ति को कुछ उत्तरदायित्वों की भी याद दिलाया करता है जिनके भूलने पर व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही रह जाता। ब्राह्मण के बालक का उपनयन संस्कार तभी उपयुक्त माना जाता है

---

१. "आग्नेन्यो वै ब्राह्मणऽइति श्रुतेस्त्रिष्टुभराजन्यस्य"—पा० गृ० २।४।
२. "जगती वैश्यस्य सर्वेपां वा गायत्रीम्"—पा० गृ० सू० २।४।
३. "उपनयनिको विधिः उत्पत्तिर्व्यंजकः" मनु० २।६८।
४. "यास्माद्विज्ञातेन् इदं सर्वं विज्ञातं भवति" श्वेताश्वेतर उपनि०

जब उसका उपनयन चार वर्ष व्यतीत कर लेने पर पाँचवे वर्ष में हो। इस समय का यज्ञोपवीत संस्कार बालक को ब्रह्मवर्चस् से युक्त तथा मेधावी बनाता है। इसी कारण यज्ञोपवीत ९६ चौआ का बनता है, क्योंकि १०० वर्ष की (अपेक्षित) पूर्णायु में से बालक चार वर्ष व्यतीत कर चुकता है और आजन्म उसे इस (सूत्र) को धारण करना पड़ता है। अथर्ववेद में मनुष्य के शरीर के विषय में कहा गया है कि वह नौ द्वारों (अष्टचक्रा नवद्वारा) वाला (अर्थात नौ छिद्रों वाला) है। इसी कारण नव गुण से निर्मित यज्ञोपवीत उन्हीं नव द्वारों को द्योतित करता है कि इन पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। तीनों ऋणों (पितृ, ऋषि, देव) से मुक्त होना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है जिसके लिए मनु ने ब्रह्म, देव, पितृ, नृ तथा भूत इस पंच महायज्ञों का विधान किया है। इन्हीं तीन ऋणों तथा पंच महायज्ञों के स्मरणार्थ तीन भागों वाला यज्ञोपवीत ब्रह्मचारी को पहनाया जाता है जो पाँच ग्रन्थियों से पूर्ण होता है। इन तीन ऋणों एवं पंच महायज्ञों का सम्पादन वह तभी सुचारु रूप से कर सकता है जब वह इन सब को हृदय से (हार्दिक इच्छा से) ग्रहण करे। यज्ञोपवीत सूत्र धारण करने के पश्चात ब्रह्मचारी यह समझने लगता है कि उस पर भी कुछ उत्तरदायित्व हैं जिनको पूर्ण करना उसका परम कर्त्तव्य है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि उपनयन संस्कार इस बात का प्रमाण था कि अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित, गम्भीर और अनुशासित जीवन प्रारम्भ हुआ।[1] व्यक्ति की सामाजिक तथा शैक्षणिक उपलब्धियाँ इस संस्कार के उपरान्त ही सम्भव थी। आधुनिक हिन्दू समाज मे भी इस संस्कार को पर्याप्त महत्व प्राप्त है।

(१२) **वेदारम्भ संस्कार**—वेदों का अध्ययन करने के लिये शास्त्रोक्त विधान था अतः वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व वेदारम्भ संस्कार किया जाता था। इस संस्कार का आयोजन उपनयन संस्कार के उपरान्त होता था। मनु के अनुसार वेदों का अध्ययन करने से पूर्व आचमन करके, ब्रह्मांजलि बाँध कर, हलके वस्त्र धारण करके जितेन्द्रिय होना चाहिये। शिष्य को वेदारम्भ करने से पूर्व तथा अन्त में 'ॐ' का उच्चारण करना चाहिये। प्रारम्भ में 'ॐ' का उच्चारण न करने से अध्ययन नष्ट हो जाता है तथा अन्त में 'ॐ' का उच्चरण न करने से अध्ययन स्थायी नहीं होता।[2] वेदों का अध्ययन करना, शिक्षा का प्रमुख अंग भी था।

(१३) **केशान्त संस्कार**—मुख पर दाढ़ी-मूछों का उगना तरुण होने का कारण मान कर इनकी क्षौर क्रिया द्वारा व्यक्ति को ब्रह्मचर्य तथा सदाचरण का स्मरण दिलाने के लिये, सोलहवें वर्ष की आयु में केशान्त संस्कार किया जाता था। इस संस्कार द्वारा दाढ़ी-मूछ का पहली बार क्षौर कर्म किया जाता था। मनु ने यह आदेश दिया है कि गर्भ से सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष में क्षत्रिय का तथा चौबीसवें वर्ष में वैश्य का केशान्त संस्कार किया जाना चाहिये।[3] इस संस्कार के अवसर पर आचार्य (ब्राह्मण) को दान में गाय दी जाती थी।

(१४) **समावर्तन संस्कार**—गुरु गृह में रहता हुआ ब्रह्मचारी, गुरू की सेवा में रहकर जब जीवन सम्बन्धी यथेष्ट विद्या प्राप्त कर लेता था तब गुरू उसको अपने घर वापस जाने की आज्ञा देता था। अतः यह संस्कार शिक्षा समाप्ति के उपरान्त सम्पादित किया जाता था। इस संस्कार के

---

१. हिन्दू संस्कार—पृ० ९९-११० डा० राजबली पाण्डेय।

२. मनुस्मृति २।७०।

३. मनुस्मृति २।६५।

दिन प्रातःकाल ही उठकर ब्रह्मचारी किसी यज्ञीय वृक्ष से हवन के लिए समिधा लाता था। तत्पश्चात चौलकर्म की ही भाँति उसका केशान्त संस्कार होता था और उसको शीतोष्ण जल से विधिपूर्वक स्नान कराया जाता था। उसी समय से वह स्नातक हो जाता था। स्नातक का अर्थ है जो विधिवत् स्नान कर चुका हो। तत्पश्चात गुरू की आज्ञानुसार ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्याश्रम के वस्त्रों को त्याग कर सुन्दर वस्त्र पहनता था। गुरू इस अवसर पर उसे आभूषण भी पहनाता था। तत्पश्चात स्नातक हवन करता था और अपने जीवन द्वारा संसार के सब प्राणियों को सुखी रखने का व्रत धारण करता था। तत्पश्चात आचार्य उसे जीवन सम्बन्धी कुछ अन्य उपदेश देकर विदा करता था। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त कर अपने घर को जाता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ भी, गुरुकुल से 'शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त घर की ओर लौटना' है।

(१५) विवाह संस्कार—समस्त संस्कारों में विवाह संस्कार को विशेष महत्व प्राप्त है। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम मे प्रवेश होता है। यहाँ से व्यक्ति का सामाजीकरण होकर उसके उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता था। विवाह संस्कार के अन्तर्गत वाग्दान, वर-वरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणीग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुवदर्शन, त्रिरागव्रत तथा चतुर्थी कर्म आदि सम्पादित किये जाते थे।[1] वर जब कन्या के घर जाता है तो कन्या का पिता अथवा रक्षक उसे वर को दान देता था और वर उस दान को स्वीकार करता था। तब वर अपने तथा कन्या के परस्पर प्रेम उत्पन्न करने के लिए कामसूत्रों का उच्चारण करता था। तत्पश्चात पिता वर से धर्म, अर्थ तथा काम के उपभोग में सदैव उसे साथ रखने की प्रतिज्ञा करवाता था और वर तीन बार…नाचित्तरमणी, नाचित्तरमणी, नाचित्तरमणी कहकर उसे वचन देता था। तत्पश्चात होम आदि होता था जिसमें वर वधू अग्नि में देवताओं के प्रति आहुतियाँ छोड़ते थे। इसी समय वर वधू का हाथ पकड़कर अर्यमा, सविता आदि देवताओं को सम्बोधित करके मन्त्र पढ़ता था जिसमें वह प्रसन्नतापूर्वक वृद्धावस्था तक साथ रहने की प्रतिज्ञा करता था।

इसी समय कन्या के गृह में वैवाहिकाग्नि की स्थापना होती थी। इसी अग्नि के चारो ओर वर वधू के पीछे तीन बार इस प्रकार घूमता था कि जल से पूर्ण घट उनके दाहिने हाथ की ओर रहे। इसी को अग्नि-परिणयन कहते थे। वह अपने तथा वधू दोनो की एकता के लिये सविता तथा अर्यमा देवता को सम्बोधित कर मन्त्र पढ़ता था कि "मैं तुम्हारा रूप हूँ तुम मेरा रूप हो, मैं साम हूँ तुम ऋक् हो, मैं द्यो हूँ तुम पृथिवी हो। मेरा मन तुम्हारा अनुसरण करे तुम्हारा हृदय मेरा अनुसरण करे। इस प्रकार हम दोनो एक साथ रहते हुए एक दूसरे से मिल जायँ।"[2] तत्पश्चात वर एक पत्थर पर वधू के हाथ की सहायता से चढ़ता था और मन्त्र पढ़ता था कि "इस पत्थर पर चढ़ो, पत्थर की ही भाँति सदैव तुम स्थिर रहो (अश्मेवत्वं स्थिरा भव), सब शत्रुओं पर तथा सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करो।" इसको अश्मारोहण कहते हैं। इसी समय वधू का भाई वर तथा वधू दोनो की समृद्धि के हेतु अग्नि (वैवाहिकाग्नि) में लाजाहोम करता है और अर्यमा, वरुण, पूषन तथा

---

१. पारस्कर गृ० सू० १।८।१।

२. 'अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽअहम्।
सामाहमस्मिऽऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्॥' पारस्कर गृह्यसूत्र १।८।१।

अग्नि देवता के लिये मन्त्र पढ़कर आहुति देता है जिसमें ये चारों देवता अपने पाश के बन्धन से उसे (वधू) छोड़ दें।

इन सब संस्कारों के बाद सबसे महत्वपूर्ण सप्तपदी नामक संस्कार होता था। इसमें वर वधू उसी अग्नि के चारों ओर सात बार घूमते थे और प्रत्येक पग पर मन्त्र उच्चारण करते थे। इसमें प्रथम पद रक्त के लिये, द्वितीय ऊर्ज (बल), तृतीय धन, चतुर्थ आनन्द, पंचम पुत्रादि, षष्ठ दीर्घायु (वैवाहिक जीवन दीर्घ हो) एवं ऋत तथा सप्तम सम्पूर्ण जीवन मे सखा रूप में पत्नी को रखने के लिये होता था। इसमे पत्नी सोम, गन्धर्व तथा अग्नि इन तीन देवताओं द्वारा वर को प्रदान की जाती थी। प्राचीन काल में वधू को घर लाते समय वर वैवाहिकाग्नि को भी साथ लाता था और उसी में वह सदा अपना हवन करता था।

इस संस्कार के उद्देश्यो मे वंश वृद्धि प्रधान उद्देश्य था। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इसी संस्कार पर निर्भर करते थे।

(१६) **अन्त्येष्टि संस्कार**—संस्कारो का उद्देश्य आत्मा का अभ्युदय करना भी था। आत्मा को पंचतत्व का शरीर आच्छादित किये हुए हैं। पंचतत्व के दुर्ग मे वन्दी बनी आत्मा राग-द्वेष आदि षडरिपुओं के नियन्त्रण में पड़कर उनके अधीन हो जाती है। इन रिपुओं को परास्त करने के बाद ही आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अन्त्येष्टि संस्कार का सम्पादन किया जाता था। यह अन्तिम संस्कार था और इसकी सम्पन्नता मे यह भाव निहित था कि मृतक परलोक मे शान्ति प्राप्त करेगा। बौधायन के अनुसार इस संस्कार द्वारा परलोक विजित होता है।[1] अन्त्येष्टि संस्कार मे शव ले जाने के लिये बाँस की अर्थी या बैलगाड़ी, प्रयोग मे लायी जाती थी।[2] शव यात्रा मे सगे सम्बन्धियों के साथ मित्रादि होते थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सबके आगे रहता था।[3] पुराणो के अनुसार मृत शरीर को स्नान कराकर, पुष्प माला से सजाकर, जलाशय में अर्थी सहित स्नान कराकर दाह किया जाना चाहिये। तत्पश्चात सभी सम्मिलित लोगों को जलाशय मे सवस्त्र स्नान करके जलांजलि देनी चाहिये।[4] शव जल जाने के उपरान्त अवशेष की भी दाह क्रिया होती थी। कुछ समय तक मृतक के सम्बन्धी अशौच मे रहते थे। अशौच की अवधि प्रायः तेरह दिन की होती थी। अशौच की शुद्धि के उपरान्त शान्ति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी। पिण्ड दान, श्राद्ध कर्म और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। हिन्दुओं में अन्त्येष्टि संस्कार प्राचीन शास्त्रोक्त विधि से आज भी सम्पन्न किया जाता है।

प्राचीन भारत में विवाह

महत्व

ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त स्नातक विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था। यद्यपि विवाह स्त्री और पुरुष के लिये समान महत्व रखता है तथापि स्त्री के लिये यही एक समंत्रक

---

१. बौधायन गृ० सू० १।४३।
२. आश्वलायन गृ० सू० ४।१।
३. पारस्कर गृ० सू० ३।१६।
४. विष्णुपुराण ३।१३।७-१२। पारस्कर गृ० सू० ३।१६, ३।१०।

संस्कार था। स्त्रियो के लिये अन्य संस्कारों में मन्त्रोच्चारण का विधान नही था।[1] इसके अलावा विवाह स्त्री के लिये उपनयन का स्थानीय माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विवाह संस्कार द्वारा पुरुष अपनी अर्धता की पूर्ति के लिये पत्नी को ग्रहण करता है और तब पूर्ण होकर यज्ञ का अधिकारी होता है।[2] विवाह संस्कार द्वारा पति और पत्नी मिलकर एकात्मक को प्राप्त करते हैं। विवाह द्वारा स्त्री पुरुष की आत्मा एक हो जाती है। यह बात विवाह के समय उच्चारण किये जाने वाले मन्त्रो से भी स्पष्ट होती है। प्राचीन काल में विवाह द्वारा शारीरिक सुख की प्राप्ति को गौण माना जाता था। वस्तुतः इसका महत्व आत्मा के एकीकरण की दृष्टि से आंका गया था।

हिन्दू व्यवस्थाकारो ने विवाह को धार्मिक संस्कार मान कर इसमे धर्म को प्रमुख तथा सामाजिकता और वैधानिकता को क्रमशः द्वितीय तथा तृतीय महत्व का स्वीकार किया। विवाह मे सन्तानोत्पत्ति का भी धर्मगत आधार था। पुरुष अपूर्ण है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान के योग द्वारा पुरुष पूर्ण होता है।[3] गृह की शोभा तथा सम्पन्नता स्त्री से है।[4] स्त्री से परिवार बनता है, वृद्धि होती है, अतः गृहस्थ्य जीवन का मूल विवाह में है और सभी आश्रम गृहस्थ जीवन पर आश्रित हैं।[5]

विवाह का अर्थ

'विवाह' शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ले जाना' (उद्वहनम नयनम) होता है। साधारणतः 'विवाह' का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप मे ले जाना अथवा पत्नी बनाने के लिये ले जाना। विवाह के लिये सस्कृत साहित्य मे अन्य अनेक शब्द भी मिलते है, जैसे, उदवाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि। 'उदवाह' का अर्थ है, वधु को उसके पिता के घर से ले जाना; 'परिणय' का अर्थ है चारो ओर घूमना यानि अग्नि की परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा करना। 'उपयम' का अर्थ है किसी को निकट लाकर अपनाना तथा 'पाणिग्रहण' का अर्थ है, वधु का हाथ ग्रहण करना। संस्कार की विधि के अनुसार 'पाणिगृहीता' शुद्ध परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है।

विवाह का उद्देश्य

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करके देवताओ की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना है।[6] विवाह द्वारा स्त्री धारा पुरुष धारामयी होकर कैवल्य की अधिकारिणी बनती है।[7] इसके द्वारा स्त्री पुरुष की अनियन्त्रित काम प्रवृत्ति नियन्त्रित

---

१. अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत.। मनुस्मृति।

२. आर्धो ह्व याव जायां न विन्दते—शतपथ ब्राह्मण।

३. मनु० ९।४५ (कुल्लूक भट्ट का भाष्य)

४. अथो अर्धो वा एप आत्मनः यत पत्नि।' तैत्तिरीय ब्राह्मण—२।९।४-७।

५. मनु ३।७७ (कुल्लूक भट्ट का भाष्य)।

६. ऋग्वेद ८।३६।

७. 'स्त्री धारा पुं धारामया कैवल्याधिकारिणी।' कर्ममीमासा दर्शन, धर्मपाद, सूत्र ५६।

होकर दोनो को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, इहलौकिक, पारलौकिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रगति प्रदान करती है। धर्म, सन्तान एवं काम की सन्तुष्टि विवाह से ही उपलब्ध होती है। विवाह के उद्देश्यों को प्रमुखतः चार भागो में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) धार्मिक उद्देश्य—ऋग्वेद के अनुसार देवताओ के पूजन में पति-पत्नि एक दूसरे के सहायक हैं।[१] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पत्निहीन व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी नही हो सकता।[२] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि पत्नि पति के आधे भाग की पूरक है।[३] पत्नि द्वारा ही पति पूर्ण होता है।[४] जैमिनि के अनुसार समस्त याज्ञिक कार्यों में पति-पत्नि को एक दूसरे का सहयोगी होना चाहिये।[५] याज्ञवल्क्य स्मृति में पति के धार्मिक कर्मों मे पत्नि की अनिवार्यता निर्धारित करते हुए, पत्नि की मृत्यु के उपरान्त धार्मिक कृत्यो को करने के लिये पुनर्विवाह की आज्ञा दी गई है।[६] पुराणो के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा पुत्र की प्राप्ति पति-पत्नि के संयोग से होती है तथा पति को त्याग कर किये जाने वाले धार्मिक कृत्यो का कोई फल प्राप्त नहीं होता।[७] इन उल्लेखो से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि विवाह का सर्वोपरि उद्देश्य धर्म का पालन करने के उपयुक्त बनना था।

(२) सन्तानोत्पत्ति—विवाह का दूसरा उद्देश्य है उत्तम तथा धार्मिक संतान को उत्पन्न करना। मनुस्मृति के अनुसार माता बनने के लिये स्त्रियो की तथा पिता बनने के लिये पुरुषो की सृष्टि हुई है। अतः धर्म का आचरण स्त्री तथा पुरुष दोनों को मिलकर करना चाहिये।[८] इसी कारण विवाह करना प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिये अत्यन्तावश्यक है। पुत्रोत्पत्ति द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती होती है। यह उद्देश्य विशेष रूप से मनुष्य मात्र के लिये आवश्यक है। जन्म से ही पुरुष के ऊपर तीन प्रकार के ऋण हो जाते हैं जिनको उसे अपने जीवन काल मे चुकाना पड़ता है। परमात्मा से वह जगत मे उत्पन्न होता है इस कारण देवऋण; यज्ञोपवीत के पश्चात् ऋषि द्वारा वेदाध्ययन करने के कारण ऋषिऋण तथा माता-पिता बालक के लिये अनेक कष्ट सहते हैं अतः उसके ऊपर पितृऋण हो जाता है। मनु का कथन है कि मनुष्य को चाहिये कि वह इन तीनो ऋणो से मुक्त होकर मन को मोक्ष की ओर लगावे।[९] इन तीनो ऋणो से मुक्त होने का साधन मनु ने इस प्रकार बताया है कि वेद-वेदाङ्ग के स्वाध्याय से ऋषिऋण, यज्ञो के सम्पादन द्वारा देवऋण, तथा पुत्र-उत्पादन द्वारा पितृऋण से मुक्त होकर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति का साधन करे[१०]। भगवती श्रुति "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" कहकर इन्ही सिद्धान्तो का प्रतिपादन करती है।

---

१. ऋग्वेद ५।३।२, ५।२८।३।
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।२।६।
३. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।
४. ऐतरेय ब्राह्मण १।३।५।
५. जैमिनि ६।१।१७।
६. याज्ञवल्क्य स्मृति १।८९।
७. मार्कण्डेय पुराण २१।६८-७३; पद्म पुराण २।५।१।८-३२।
८. मनु० ९।९६
९. "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" मनु० ६।३५
१०. "अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा तु शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥" मनु० ६।३६

(३) रति सुख—प्राचीन व्यवस्थाकारो ने रति सुख को मनुष्य के लिये आवश्यक निर्धारित करते हुए, इसे विवाह के उद्देश्यो में गौण महत्व का बताया है। कामसुख की प्राप्ति के लिये विवाह सुसभ्य माध्यम है। वैदिक युग में सम्भोग को शोक का अन्त करने वाला तथा आनन्द का चरम सुख माना जाता था।[1] मनु ने रति को विवाह के उद्देश्यो मे प्रधान बताया है।[2] कौटिल्य की मान्यता है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना उचित है।[3] इन सभी उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि रति सुख को विवाह के उद्देश्यों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

(४) सामाजीकरण—समाज में अविवाहित स्त्री-पुरुष को वह आदर नही दिया जाता था जो विवाहितों को प्राप्त था। विवाहित होना आचरण और चरित्र का प्रमाण माना जाता था। 'हर्ष चरित' के एक प्रसंग मे कहा गया है कि जब हर्ष ने बाण पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाया तो उसने अपने चरित्रवान होने के प्रमाण स्वरूप स्वयं को विवाहित बताया।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विवाह का उद्देश्य स्त्री-पुरुष का सामाजीकरण करके उन्हे आदर और सम्मान का अधिकारी बनाना था।

विवाह के प्रकार

लगभग सभी धर्मशास्त्रकारों ने आठ प्रकार के विवाह बताये हैं।[5] ये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

(१) ब्राह्म विवाह—मनु के कथनानुसार जब कन्या को अलंकारादि से सुसज्जित कर, दहेज समेत पिता किसी योग्य, शीलवान् वर को बुलाकर कन्या प्रदान करता है तब ब्राह्म विवाह कहलाता है। इस विवाह का मुख्य उद्देश्य है शारीरिक तथा मानसिक कर्तव्यों के पालन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना। इसी कारण इसका नाम ब्राह्म रखा गया।

(२) दैव विवाह—जब यज्ञ करने वाले ऋत्विज को वस्त्रालंकार से विभूषित कन्या दी जाती है उसे दैव विवाह कहते हैं। यह ऋत्विज प्राचीन भारतीय समाज में बहुत महत्व रखता था क्योकि यज्ञादि करवाने के कारण उसे अत्यन्त पवित्र समझा जाता था। वैदिक युग में ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे इसीलिये कन्या पक्ष के ब्राह्मण, ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे तथा दक्षिणा के रूप में कन्या प्रदान किया करते थे। इस प्रकार के विवाह मे वर-वधु पक्ष याज्ञिक क्रियाओ के उत्साही समर्थक होते थे।[6]

(३) आर्ष विवाह—किसी ऋषि से एक गाय, एक बैल अथवा एक जोड़ा बैल लेकर उसके बदले में कन्या देना आर्ष विवाह कहलाता था। यह मेधावान सन्तान उत्पन्न करने के ध्येय से किया

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद ४।३।२१। २. मनुस्मृति ९।२८।
३. 'धर्मार्थ विरोधेन कामं न सेवेत्।' कौटि० अर्थ० १।७।
४. 'दारपरिग्रहादम्या गरि कोऽस्मि'—'हर्ष चरित'—बाण भट्ट।
५. गौतम ४।३।१३; आश्वा० गृ० सू० १।६; बौधा० धर्म सू १।११, कौटिल्य ३।२; मनुस्मृति ३।२१।४०; महाभारत १।७३।८-९, १३।४४।४५; याज्ञवल्क्य १।५९, नारद ३८।३९।
६. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ० २७०,—डा० जयशंकर मिश्र।

जाता था क्योंकि लोगों का विचार था कि ऋषि से उत्पन्न संतान भी प्रज्ञावान होगी।

(४) प्राजापत्य विवाह—यह पूर्वोल्लिखित तीनो विवाहों से भिन्न है। यह साधारण स्त्री-पुरुषो का सामञ्जस्य है। जब कन्या का पिता "तुम दोनो उचित रीति से गृहस्थ धर्म का आचरण करो" इस प्रकार कहकर वर की पूजा कर कन्यादान देता था, उसे प्राजापत्य विवाह कहते थे। इसका दूसरा नाम पर्जन्य भी है। इसका मुख्य उद्देश्य है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विशेष रूप से पति-पत्नी का मिलन हो।

(५) आसुर विवाह—जब कन्या पक्ष कन्या प्रदान करने के बदले वर से धन लेते थे, तो वह आसुर विवाह कहलाता था। आर्ष तथा आसुर विवाह मे प्रमुख अन्तर यह था कि आर्ष विवाह में परम्परा का अनुसरण करते हुये गाय बैल का जोडा दिया जाता था जबकि आसुर विवाह में कन्या का मूल्य धन के रूप मे दिया जाता था। महाभारत मे इस प्रकार के विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते है। कैकेयी को राजा दशरथ ने क्रय करके ही पत्नी बनाया था। वर जब अपनी इच्छानुसार कन्या के कुटुम्बियो को तथा कन्या को अत्यधिक मात्रा में धन देकर कुटुम्बियो तथा कन्या को संतुष्ट कर कन्या से विवाह करता है तब वह आसुर विवाह कहलाता है। वर इस धन को कन्या तथा उसके कुटुम्बियो के क्रोध को शान्त करने के हेतु देता था।

(६) गान्धर्व विवाह—जब कन्या तथा पुरुष प्रेमवश होकर माता-पिता की आज्ञा के बिना विवाह कर लेते थे—तो उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता था। मनु ने कामुक्तावश संयुक्त होने को गान्धर्व विवाह कहा है।[१] इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन वैदिक युग में भी था।[२] दुष्यन्त तथा शकुन्तला का गान्धर्व रीति से ही विवाह सम्पन्न हुआ था। प्रेम विवाह इसी का वर्तमान रूप है। इसकी स्वीकृति समाज में पवित्रता एवं शान्ति स्थापित करने के लिये हुई थी। मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह सभी वर्णों के लिये धर्मसम्मत था।[३] वात्स्यायन ने इस प्रकार के विवाह को सर्वश्रेष्ठ कहा है।[४]

(७) राक्षस विवाह—जब चिल्लाती, रोती हुई तथा अपने रक्षक के नाम को पुकारती हुई कन्या का बलपूर्वक हरण कर उसे पत्नी रूप में स्वीकार किया जाता उसे राक्षस विवाह कहते थे। मनु ने कन्या-पक्षवालो को मारकर या घायल करके उनके घर आदि का विध्वन्स कर रोती चिल्लाती कन्या के बलात हरण को राक्षस विवाह बताया है।[५]

(८) पैशाच विवाह—सोती हुई, सुधबुधहीन अथवा उन्मत्त (मदिरापान आदि द्वारा) कन्या को कामवासना की तृप्ति के लिये अपनाए जाने को पैशाच विवाह कहा जाता था।[६] याज्ञवल्क्य ने छलकपट द्वारा किये जाने वाली विवाह को इसी श्रेणी में रखा है।[७] महाभारत मे पैशाच विवाह को जघन्य, अप्रस्त, अधर्म, निन्दित और अधम बताया गया है।[८] आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ने इसे विवाह स्वीकार ही नही किया है।

---

१. मनुस्मृति ३।३२।
२. ऋग्वेद १०।३८।५; ९।३२।५।
३. मनुस्मृति ३।२३।
४. कामसूत्र १।५।३०-वात्स्यायन।
५. मनुस्मृति ३।३३।
६. मनुस्मृति ३।३४।
७. याज्ञवल्क्य १।६१।
८. महाभारत १३।४४।

उपरोक्त विवाहो को वर्णो के अनुसार भी नियत किया गया है। ब्राह्मण वर्ण के लिये प्रथम छः प्रकार के विवाह, क्षत्रियो के लिये अन्त वाले चार प्रकार के विवाह, वैश्य तथा शूद्रो के लिये "राक्षस" को छोड़कर अन्तिम तीन प्रकार के विवाहो (असुर, गन्धर्व तथा पैशाच) का विधान प्राप्त होता है।[1] यहाँ यह विधान साधारण नियम मात्र बतलाता है क्योकि इसी के उपरान्त मनु ब्राह्मण आदि के लिये प्रशस्त विवाहो का उल्लेख करते है। ब्राह्मण के लिए प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रशस्त माने गये हैं, इनमें भी महत्व क्रमशः ही रखा गया है (अर्थात् ब्राह्म अधिक प्रशस्त, दैव उससे कम प्रशस्त, इसके बाद आर्ष का महत्व है तथा प्राजापत्य विवाह ब्राह्मण के लिये प्रशस्त होते हुये भी उसको अन्तिम महत्व प्रदान किया गया है)। इसी तरह से क्षत्रिय के लिए केवल राक्षस विवाह ही प्रशस्त माना गया है। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि वर्णानुरूप विवाह को बतलाते समय राक्षस विवाह केवल क्षत्रिय के ही लिए बतलाया गया था; अन्य वर्णों को इस प्रकार से (राक्षस) विवाह करने का अधिकार नही था। वैश्य और शूद्र के लिये केवल आसुर विवाह को ही प्रशस्त माना गया।[2]

उपरोक्त विवाहो के प्रकारो के नामकरण मे पैशाच तथा राक्षस अपने अर्थ के सर्वथा अनुरूप ही है। मनु के अनुसार प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस धर्म्य है और असुर और पैशाच धर्म के अनुकूल नही है अतएव इनको कभी भी नही करना चाहिये। नारद के अनुसार राक्षस, आसुर तथा पैशाच विवाह धर्मानुकूल नही हैं।

स्वयंवर

इस प्रकार के विवाह मे वधु स्वयं अपना पति चुनती थी। वैसे, धर्मशास्त्रों में इस प्रकार के विवाह का कोई उल्लेख नही है। ऋग्वेद के एक उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि पूर्ववैदिक युग मे स्वयवर प्रथा का जन्म हो चुका था।[3] उत्तर वैदिक तथा उसके पश्चात् के काल मे यह प्रथा और अधिक विकसित हो गई। महाकाव्य काल मे सीता के स्वयंम्वर तथा द्रौपदी के स्वयंम्वर का उल्लेख मिलता है। स्वयंम्वर मे अनेक नियम, प्रतिज्ञाएँ तथा शर्तें होती थीं। धनुष भंग तथा मत्स्य का लक्ष्यवेध० इसके उदाहरण है। बौद्ध ग्रन्थो मे भी स्वयंम्वर विवाह का उल्लेख मिलता है। कुणाल जातक मे द्रौपदी द्वारा पंचपाण्डवो को अपना पति चुनने की कथा दी गई है। परवर्ती साहित्य मे तो स्वयंम्वर प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते है। 'पृथ्वीराजरासो' मे संयोगिता के स्वयंम्वर का विशद वर्णन किया गया है। विशेषकर शासक वर्ग मे यह प्रथा अधिक प्रचलित थी। स्वयंम्वर-गान्धर्व विवाह से पर्याप्त समानता रखता है, अन्तर केवल इतना है कि स्वयंम्वर में वधु अपनी इच्छा से विशिष्ट शर्ते को पूरा करने वाले वर का चुनाव करती थी, जब कि गान्धर्व विवाह मे वर-वधु अपनी स्वेच्छा से विवाह करते थे।

---

१. मनु ३।२३।

२. चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुर वैश्यशूद्रयोः॥ मनु ३।२४।

३. 'भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा. स्वयं सा मित्रं कृणुते जनेइतं। ऋग्वेद १०।२७।२२

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह अन्तर्जातीय तथा अन्तर्वर्ण विवाहो से सम्बन्धित थे। वैदिक युग मे वर्ण और जाति का कठोर बंधन नही था, इसलिये इस तरह के विवाह बहुधा हुआ करते थे। अनुलोम विवाह मे पुरुष ऊँचे वर्ण का होता था और स्त्री निम्न वर्ण की होती थी। भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था। ब्रह्मर्षि श्यावश्य ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति को अपनी पत्नी बनाया था। वृष्णिवंशीय शौरि की पत्नियो मे एक वैश्य की पुत्री थी। चाक्षुष और कक्षीवान् जैसे तपस्वियो का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्रा की संयुक्तता से हुआ था। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ था। ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा क्षत्रिय थी। अनुलोम विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते है। पुष्यमित्र शुग के पुत्र अग्निमित्र का विवाह क्षत्रिय नरेश यज्ञसेन की पुत्री मालविका से हुआ था। ब्राह्मण वाकाटक-नरेश रुद्रसेन द्वितीय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता से विवाह किया था। वैदिक युग के बाद ऐसे विवाहो का मान कम हो गया। ब्राह्मणो को सभी वर्णों की कन्याओ से परिणय करने का अधिकार था। अनुलोम से ब्राह्मण तीन (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओ से), क्षत्रिय दो (वैश्य और शूद्र कन्याओ से), वैश्य मात्र एक (शूद्र कन्या से) अतिरिक्त विवाह कर सकता था। अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान की तुलना मे अत्यल्प अधिकार प्राप्त था। अनुलोम से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति मे बहुत कम धन मिलता था।

प्रतिलोम विवाह को समाज मे अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। इस विवाह मे कन्या ऊँचे वर्ण की और वर निम्न वर्ण का होता था। इससे उत्पन्न सन्तान को वर्णसकर, निकृष्ट और अस्पृश्य कहा जाता था। वैदिकयुगीन समाज मे प्रतिलोम विवाह के कुछ उदाहरण मिलते है। ब्राह्मण कन्या अगिरसी क्षत्रिय भावयव्य की पत्नी थी। राजा नीप ने कृष्ण-द्वैपायन के पुत्र शुक की कन्या कृत्वी से विवाह किया था। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी ययाति की पत्नी थी। पुराणो मे प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को धर्मच्युत कहा गया है। समाज मे साधारणत. निम्न वर्ण को अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार नही था, यद्यपि यदा-कदा ऐसे विवाह समाज मे हो जाया करते थे। भाष्यकारो और टीकाकारो ने भी ऐसे विवाहों की आलोचना की है।

बहुविवाह

भारत मे प्राचीन काल मे, धर्मशास्त्रो के अनुसार पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था, किन्तु एक से अधिक भार्या रखने की अनुमति किन्ही विशेष परिस्थितियो मे ही प्रदान की जाती थी। तैत्तिरीय संहिता मे कहा गया है, "एक यूप मे दो रशनाएँ बाँधी जा सकती हैं, अतः एक पुरुष दो पत्नियाँ रख सकता है। एक रशना दो यूपो से नही बाँधी जा सकती, इसलिए एक पत्नी दो पति नही रख सकती।"[1] विशेषकर पुत्र के अभाव में पुरुष दूसरी पत्नी रख सकता था। वैसे, बहुपत्नीत्व की प्रथा राजाओ और धनिक वर्गो मे अधिक थी। ऋग्वेद से

---

१. तैत्तिरीय संहिता, ६।५।४।१।

विदित होता है कि उस युग में भी लोग कई पत्नियाँ रखते थे।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक पुरुष की कई भार्याएँ हो सकती हैं, किन्तु एक पत्नी के कई पति नही हो सकते। अतः इक्ष्वाकु वंश के शासक हरिश्चन्द्र को कोई भी पुत्र नही था, जबकि उसकी सौ स्त्रियाँ थी।[2] बौद्ध साहित्य में भी बहुविवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अंगुत्तर निकाय मे एक व्यक्ति की चार पत्नियो का विवरण दिया गया है। जातको मे भी कई पत्नियो वाले पुरुष की कथाएँ विवृत हैं।[3] भगवान् बुद्ध के पिता की दो पत्नियाँ थी, माया और महामाया। महावंश के अनुसार ये दोनो सगी बहने थी। सम्राट् बिम्बिसार की पाँच सौ भार्याएँ कही गयी हैं।

बहुविवाह की प्रथा प्राय राजकुलो और धनिक वर्गों मे ही अधिक प्रचलित थी। बहुविवाह के साधारणतः तीन कारण थे—(१) काम-लिप्सा, (२) सन्तति-लिप्सा और (३) शौर्य-लिप्सा।

बाल-विवाह

वैदिक काल में बाल-विवाह का प्रचलन नही के बराबर था। छान्दोग्य उपनिषद् के एक स्थल पर दिये गए विवरण से विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि सम्भवत परवर्तीयुग मे अल्प-वय-विवाह प्रारम्भ हो गया था। उक्त ग्रंथ मे प्रयुक्त 'अटिकी' शब्द का अर्थ शंकर ने यौवन के चिह्न न प्रकट करने वाली 'बालिका' से लिया है। सुश्रुत ने अल्पवय वाली कन्या से विवाह न करने का निर्देश दिया है तथा यह संकेत किया है कि ऐसी सोलह वर्ष से कम की बाला से विवाह करने पर गर्भ ठीक से नही ठहरता। धर्मसूत्रों और स्मृतियों ने अल्प-वय-विवाह का समर्थन किया है। सभी ने कन्या की आयु ८, १० या १२ वर्ष के बीच की मानी है तथा रजस्वला होने के पूर्व विवाह कर देने का निर्देश दिया है। कौटिल्य ने विवाह-योग्य कन्या की अवस्था बारह वर्ष मानी है। विष्णु-पुराण मे उल्लिखित है कि वर और वधू की आयु के बीच तीन और एक अन्तर होना चाहिए।[4] पूर्वमध्य युग तक बाल-विवाह का प्रचलन हो गया था। रायपिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) का पहला विवाह मंडोवर के परिहार (प्रतिहार) नाहरराय की कन्या से और दूसरा आबू-नरेश सलख परमार की पुत्री जेत परमार की बहन इंछिनी से अल्पवय मे ही हुआ था। विक्रमाक चालुक्य की कन्या का विवाह गोवा के कदम्ब-युवराज से बाल अवस्था मे हुआ था।

नियोग प्रथा

नियोग की प्रथा वैदिक कालीन है।[5] जब पतिविहीन स्त्री किसी विशेष पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करती थी तब वह नियोग के नाम से अभिहित होता था। ऋग्वेद के अतिरिक्त उत्तर-वैदिककालीन अनेक ग्रन्थो मे ऐसी पुत्रहीन विधवा का उल्लेख है जो पुत्र-प्राप्ति के लिए अपने देवर

---

१. ऋग्वेद, १०।१४५, १५९।
२. ऐतरेय ब्राह्मण, १२।११।
३. जातक, २, पृ० १३८।
४. 'वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणस्स्वयम्।' विष्णु पुराण ३।१०।१६
५. 'को वां शयुत्रा विधवेव देवरमर्यम् न योषा कृणुते सधस्थ आ'। ऋग्वेद, १०।४।२।

को पति बनाती है।[1] इस सम्बन्ध में गौतम का कथन है कि पतिविहीना स्त्री यदि पुत्र की कामना करती है तो उसे देवर से प्राप्त करे। देवर के न होने पर सगोत्र, सपिंड, सप्रवर आदि से पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है। मनु ने लिखा है कि सन्तान की इच्छा रखने वाली विधवा मृत पति के भाई अथवा सपिंड से गमन कर सकती है। उसके अनुसार नियोग से सन्तान उत्पन्न करने वाली नारी 'क्षेत्र' थी, उसमे नियोग से पेदा होने वाला पुत्र 'क्षेत्रज', विधवा के मृत पति को 'क्षेत्रीय' या 'क्षेत्रिक' (विधवा नारी-रूपी खेत का स्वामी) तथा पुत्र उत्पन्न करने के लिए नियुक्त देवर आदि सपिंड पुरुष 'बीजी' (बीज बोने वाला) अथवा 'नियोगी' है। इसी तरह का मत याज्ञवल्क्य, नारद, बौधायन आदि धर्मशास्त्रकारो ने व्यक्त किया है। कभी-कभी रुग्ण अथवा नपुंसक पति के कारण पुत्र की लालसा के लिए स्त्री द्वारा नियोग किया जाता था। सम्भोग की दृष्टि से किया गया नियोग निन्दनीय था। कौटिल्य के अनुसार पुत्रहीन विधवा ब्राह्मणी अन्य सगोत्र या मातृ-बंधु पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न कर सकती थी, जो उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था।

वस्तुत: नियोग की प्रथा प्राचीन काल के वैदिक युग मे वर्तमान थी, जो बौद्ध-युग मे भी किसी न किसी रूप में प्रचलित रही। बाद के धर्मशास्त्रकारों और स्मृतिकारो ने इस प्रथा को सामाजिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न माना तथा समाज में इसको वर्जित कर दिया।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था की धार्मिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९७२)

२. वर्णाश्रमधर्म की परिभाषा कीजिये तथा हिन्दू समाज पर उसके प्रभाव की विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९६८)

३. प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था के गुण-दोषो की विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९७१)

४. वर्ण की प्राचीनता निर्दिष्ट करते हुए 'वर्ण' तथा 'जाति' के भेद को स्पष्ट कीजिये। (पी० सी० एस० १९७२, १९७५, १९७७)

५. प्राचीन भारत मे वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति ओर विकास का निरूपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३)

६. वैदिक काल मे वर्णों की स्थिति की विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९७८)

७. वर्ण और जाति के अन्तर को स्पष्ट किजिये। वर्णसंकर के सिद्धान्त की संक्षेप मे विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९७७)

८. आश्रम व्यवस्था के विकास की चर्चा कीजिये। प्राचीन भारत मे आश्रम व्यवस्था को व्यवहृत सिद्ध करने वाले प्रमाण क्या है? (पी० सी० एस० १९६२)

९. हिन्दू जीवन में 'आश्रम व्यवस्था' के महत्व का प्रतिपादन कीजिये। (पी० सी० एस० १९७४)

---

१. अथर्ववेद, ९।५।२७-२८।

१०. आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति की विवेचना कीजिये और इसके विकास की प्रमुख अवस्थाओ का निरूपण कीजिये। (पी० सी० एस० १९७८)

११. प्राचीन भारत मे प्रचलित गृहस्थाश्रम पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (पी० सी० एस० १९७२, १९७६)

१२. ब्रह्मचर्याश्रम के महत्व पर प्रकाश डालिये। (पी० सी० एस० १९७३)

१३ हिन्दू जीवन दर्शन का संक्षिप्त विवरण देते हुए, उसमे पुरुपार्थ का स्थान निर्दिष्ट कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३)

१४. भारतीय सामाजिक जीवन के लिये पुरुपार्थ-चतुष्टय सिद्धान्त के महत्व का निर्देश कीजिये। (पी० सी० एस० १९७७)

१५. प्रमुख सस्कारो का सक्षिप्त विवरण देते हुए उनके महत्व का वर्णन कीजिये। (पी० सी० एस० १९६८, १९७४)

१६ स्मृतियो मे वर्णित प्रमुख संस्कारो का विवेचनात्मक वर्णन कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३)

१७. प्राचीन भारत मे स्वीकृत विवाहो के प्रकारो का विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९६७)

१८. स्मृतियो मे वर्णित विवाह के प्रकारो का उल्लेख करते हुए उनके महत्व को स्पष्ट कीजिये। (पी० सी० एस० १९६९, १९७४)

१९ निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये :—

(i) पुरुपार्थ-चतुष्टय (पी० सी० एस० १९७०, १९७२, १९७३)
(ii) उपनयन संस्कार (पी० सी० एस० १९७१)
(iii) विवाह संस्कार (पी० सी० एस० १९७२, १९७८)
(iv) अनुलोम-प्रतिलोम (पी० सी० एस० १९७६)
(v) प्रमुख शैक्षिक सस्कार (पी० सी० एस० १९७७)
(vi) बहुविवाह, (vii) वाल विवाह, (viii) नियोग प्रथा
(ix) स्वयम्वर प्रथा।

अध्याय उन्नीस

भारतीय पारिवारिक जीवन

प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत पारिवारिक जीवन का अध्ययन किये विना, तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। अतः अब हम भारतीय संस्कृति की निरन्तरता को अक्षुण वनाये रखने वाले इस आधार स्तम्भ के विषय में विचार करेंगे।

परिवार

सभ्यता तथा संस्कृति के उत्थान और विकास में जिस सामाजिक संस्था ने सर्वाधिक योगदान किया, वह परिवार संस्था थी। परिवार मानव जीवन की पूर्णता की आधारभूत इकाई रही है। प्रारम्भिक अवस्था मे काम तृप्ति के लिये पुरुष तथा स्त्री के बीच जो सम्बन्ध स्थापित हुए, इनसे सम्बद्ध भावना की सुसभ्य अभिव्यक्ति परिवार के गठन के रूप मे हुई। सन्तानोत्पत्ति से परिवार की वृद्धि हुई और तव सहयोग, त्याग, वलिदान, उत्सर्ग एवं उत्तरोत्तर, उन्नति की कामना वलवती होती गई।

प्राचीन भारत में परिवार का विकास

प्राचीन भारत मे परिवार का विकास पूर्वोक्त आधार पर ही हुआ था, तथापि इसकी प्रमुख लाक्षणिकता परिवार का संयुक्त होना था। संयुक्त परिवार मे एक ही रक्त सम्बन्ध के सदस्य एक ही घर मे रहते, उनका भोजन एक ही रसोई में एक साथ वनता तथा एक ही सम्पत्ति में सवको भरण-पोषण का समान अधिकार प्राप्त रहता था। सामान्यतया एक ही संयुक्त परिवार मे तीन पीढ़ी के सदस्य रहते थे, जिनमे माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-वहन और पुत्र-पुत्री की गणना होती थी। इसके अतिरिक्त परिवार में वाद की वृद्धि के सदस्य और उनका परिवार भी संयुक्त परिवार मे सम्मिलित होता रहता था। ऋग्वेद में पुरोहित नवविवाहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है—'तुम यही इसी घर मे रहो, विमुक्त मत हो, अपने घर मे पुत्र तथा पौत्रों के साथ आनन्द मनाते हुए, पूर्णायु का उपभोग करो' तथा 'तू (वधु) सास-श्वसुर और ननद तथा देवर पर शासन करने वाली रानी बन।'[1]

---

1. ऋग्वेद १०।८५।४२ तथा १०।८५।४६।

उत्तरवैदिक काल मे भी हिन्दू परिवार संयुक्त प्रणाली पर ही आधृत था। आदर्श परिवार में कुटुम्ब के नायक पिता सहित उसके पुत्र-पौत्र रहते थे, किन्तु उसकी वृद्धावस्था मे सम्पत्ति के बँटवारे की माँग भी बढ़ती जा रही थी। पुत्र अपने पिता के जीवन-काल मे ही सम्पत्ति के बँटवारे के लिए प्रयास करने लगे थे, जिससे कभी-कभी पिता अत्यन्त दु खी और क्षुब्ध हो जाता था। मनु के पुत्रो ने अपने पिता की जीवितावस्था मे ही सम्पत्ति को बँटवा लिया था। कभी-कभी भाई अपने मे स्वय सम्पत्ति का विभाजन कर लेते थे। किन्तु उत्तरवैदिक काल मे सम्पत्ति के बँटवारे के लिए कुटुम्ब का विघटन बहुत कम होता था। कभी-कभी एक परिवार की कुछ स्त्रियो के मत-वैभिन्य के कारण भी परिवार टूट जाता था। परिवार को अखण्ड बनाये रखने के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते है। रात्रि मे परिवार के सभी सदस्यो के सोने का विवरण अथर्ववेद मे दिया गया है।[1]

गृह्यसूत्रो मे बड़े-बडे परिवारो का उल्लेख है। परिवार का गृहपति या श्रेष्ठ व्यक्ति अतिथियो और पारिवारिक सदस्यो के भोजन कर लेने के पश्चात् भोजन करता था। एक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी के लोग आसानी से रहते थे और सभी सदस्य गृहस्वामी की आज्ञा का पालन करते थे। वयोवृद्ध व्यक्ति •गृहपति होता था। उसकी मृत्यु के बाद उसका लडका गृहस्वामी बनता था। परिवार मे छोटे और बड़े की मर्यादा का ध्यान रखा जाता था। कन्या की अपेक्षा पुत्र का होना आनन्ददायक माना जाता था।

बौद्ध-ग्रन्थो मे ऐसे परिवारों का उल्लेख है कि जिनके सदस्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार पिता आदि को दु:खी छोडकर बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गए थे तथा सम्पत्ति में से अपना अधिकार स्वयं अवरुद्ध कर लिया था। कभी-कभी स्त्रियाँ भी बौद्ध धर्म मे दीक्षा ग्रहण कर लेती थी और परिवारो से दूर सघारामो मे निवास करती थी।

स्मृतिकारो ने सयुक्त परिवार का विशद चित्रण किया है। परिवार के अन्यान्य सदस्यो की असतुष्टता के कारण विघटन और विभाजन का उल्लेख उनके द्वारा किया गया है। नारद ने क्रोधी, विषयी और शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने वाले पिता से सम्पत्ति बँटवाने का निर्देश दिया है।[3] पूर्वमध्य युग मे सम्पत्ति को लेकर दो विचारधाराओ का विकास हुआ—(१) विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित मिताक्षरा, और (२) जीमूतवाहन द्वारा प्रतिपादित दायभाग। प्रथम मत के अन्तर्गत जन्मना स्वत्व था, अर्थात् पुत्र के उत्पन्न होते ही सम्पत्ति मे उसका अधिकार और द्वितीय मत के अन्तर्गत पिता का पूर्ण स्वत्व, यानी पिता की मृत्यु के बाद ही पुत्र को स्वत्व का अधिकार मिलना।

परिवार मे सदस्यों की स्थिति

पिता—पिता कुटुम्ब का सचालक, कार्यों का सयोजक और धन-सम्पत्ति का व्यवस्थापक

---

१. ······स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्वपतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्वतयभितो जन'। अथर्ववेद, ४।५।३।६।

२ गौतमधर्मसूत्र, २८।१; अर्थशास्त्र, ३।५; याज्ञ० २।११७; नारद० १६।२; वृहस्पति, २६, देवल०, १३, मनु० ९।१०४।

३. नारद० १६।१६

तथा सबसे वरिष्ठ सदस्य होता था। वह कर्त्ता कहा जाता था। परिवार के सभी सदस्य उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह गृहपति या गृहस्वामी भी कहा जाता था। कुटुम्ब का भरण-पोषण, देख-रेख, शिक्षण-प्रशिक्षण और रक्षण-संरक्षण वही करता था। ऋग्वेद मे पिता त्राता, खाद्य-सामग्री-दाता और पोषक के रूप मे उल्लिखित है।[१] अनेक भाष्यकारो ने तो पिता को शिक्षक के रूप मे स्वीकार किया है।[२] महाभारत मे उल्लिखित है कि 'अध्ययन और पोषण प्रदान करने वाला पहला गुरु (पिता) ही परमधर्म है। पिता जिस प्रकार का आदेश दे वही धर्म है, यह वेद मे भली भाँति सुनिश्चित है। पिता के लिए पुत्र प्रीति-सदृश है, किन्तु पुत्र के लिए पिता सर्वस्व है। शरीर आदि जो कुछ भी देय पदार्थ हैं, उन्हे केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता है। अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिए। जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उनके पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, स्वर्ग है, परम तप है, जिसके प्रसन्न होने पर देवता हर्षित होते हैं।[३]

माता—हिन्दू समाज में माता का स्थान अत्यन्त ऊँचा, गरिमायुक्त और महत्वशाली था। कौटुम्बिक जीवन की वह अटूट कडी थी, जिससे कुटुम्ब के सभी सदस्य जुडे रहते थे। कुछ मानो में वह पिता से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। सन्तान का पिता की तुलना में माता से अधिक अपनत्व होता है। नौ महीने पेट में रखने के कारण माता को भी अपनी सन्तान से अधिक मोह होता है। अतः कुटुम्ब की संरचना मे माता का अभूतपूर्व योग है, जो उसकी घनिष्ठता, अपनत्व, उत्सर्ग और स्नेह का प्रतीक है।

परिवार के निर्माण और संवृद्धि से माता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। संतान का जन्म, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण उसी से होता रहा है। वेदों मे सर्वत्र माता का अभिनन्दन किया गया है। भगवान् के पूजन मे उसे पिता के साथ-साथ माता भी कहा जाता था।[४] व्यवहार मे माता सर्वदा 'पिता' शब्द के पहले व्यवहृत होती रही। जब ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर लेता था तो आचार्य उसे यह शिक्षा देता था कि वह देवता की तरह माता की पूजा करे। धर्मसूत्रों मे माता की मर्यादा और प्रतिष्ठा का विशद चित्रण है। महाकाव्यो ने माता के मान और सम्मान का व्यापक निर्धारण किया है। माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया।[५] बच्चा अपनी प्रारम्भिक शिक्षा माँ से ही प्राप्त करता है। महाभारत में कहा गया है कि आचार्य सदा दस श्रोत्रियो से बढकर है, पिता दस उपाध्यायो से अधिक महत्व रखता है और माता की महत्ता दस पिताओं से भी अधिक है। वह अकेली ही अपने गौरव द्वारा सारी पृथ्वी को तिरस्कृत कर देती है।

---

१. ऋग्वेद, ४।१७।१७, १०।४८।१। २ विश्वरूप, याज्ञ०, १।१५।

३. गुरुरग्र्यः परोधर्मः पोषणाध्यापनन्वितः। पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः॥
तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणान्ति देवता
महाभारत, १२।२६६।१४-२१।

४. त्वं हि नः पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।—ऋग्वेद, ८।१।९८।११

५. आचार्यः श्रेष्ठः गुरुणा मातेत्येके।—गौ० ध० सू०, २।५०

अतः माता के सिवा कोई दूसरा गुरु नहीं है।[1] आपस्तम्ब, बौधायन और वसिष्ठ जैसे धर्मं शास्त्र-कारों ने यह व्यवस्था दी कि पतित पिता छोडा जा सकता था, किन्तु माँ नही छोड़ी जा सकती थी।[2] स्मृतिकारों ने भी माता को 'परम गुरु' मानकर उसकी सर्वोच्चता दर्शित की है।[3]

पति—*वैदिक युग में पति पत्नी का सखा था। पति प्रत्येक कार्य मे पत्नी का सहयोग* प्राप्त करता था। पति-पत्नी दोनों मिलकर 'एक मन' से सोमरस निकालते थे; उसे शुद्ध करते थे; यज्ञ, दान, के साथ देवताओं को हवि प्रदान करते थे, उनकी स्तुति करते थे और काम-सुख का उपभोग करते थे।[4] परिवार में दोनो की समान स्थिति थी। भार्या पति का आधा अग मानी जाती थी। इहलोक और परलोक दोनो मे दोनो का साथ रहना आवश्यक था। परवर्ती काल के परिवार मे भी पति ने समान धरातल पर स्त्री की संयुक्तता को स्वीकार किया। जो पति था, वही पत्नी थी। मातृत्व के दायित्व को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने मे पत्नी को पति के संरक्षण की अपेक्षा होती थी तथा वह पति को अपना पूर्ण समर्पण कर देती थी। इससे पति का स्वामित्व और शक्तिशाली होता गया। पति अन्य वस्तुओ की तरह अपनी पत्नी का दान भी कर सकता था। महर्षि वसिष्ठ को राजा मित्रसह ने अपनी पत्नी मदयन्ती दान मे दी थी। इसी प्रकार राजा कल्माषपाद और युवनाश्व ने अपनी पत्नियों का दान किया था।

पति का व्यवहार अपनी पत्नी के प्रति सदा उदार और प्रशंसनीय होता था। सभी धर्मं-शास्त्रकारो ने स्त्री को उच्च स्थान प्रदान करते हुये उसके साथ पति को सर्वोत्तम व्यवहार करने का निर्देश दिया है।

पत्नी—परिवार में पत्नी की अभूतपूर्व महत्ता थी। वह 'जाया' और 'जानि' भी कही जाती थी। कुटुम्ब का विकास और महत्व उसी से था। वह ऋग्वेद मे 'घर' मानी गई। वस्तुतः पत्नी ही घर की आत्मा और प्राण थी। यही नही, वह गृह की साम्राज्ञी भी थी। परिवार के सभी कार्यों में उसका सक्रिय सहयोग होता था। वह पुरुष का आधा भाग मानी गई थी। वह पुरुष की सर्वोत्तम सखा थी। उसे धर्म, अर्थ और काम का मूल स्वीकार किया गया था। पत्नी वाले गृहस्थ के लिए ही धार्मिक क्रियाएँ और यज्ञादि करने का निर्देश था। पत्नीयुक्त पुरुष का विश्वास किया जाता था। पुरुप की गति भार्या से ही वनती थी। शास्त्रकारो ने कहा है कि अपत्य (सन्तान उत्पन्न करना), धर्म, सेवा, उत्तम सुख (रति), पितरो का और अपना स्वर्ग भार्या के ही अधीन था। ऐसी भार्या स्वभावत पूज्य थी। भार्या वही कही गई जो घर की रक्षा करती थी, जो पति को प्राण के समान समझती थी और सन्तान प्रजनित करती थी।[5]

---

१. महाभारत, शातिपर्व, १०८।१७

२. माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते।
तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि॥—आप० ध० सू०, १।१०।२८।९

३. मनु, २।१४५; याज्ञ०, १।३५।

४. ऋग्वेद, ८।३१।५-९।

५. सा भार्या या वहेदग्नि सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥—शख स्मृति, १।१५, ५६

पत्नी के लिये पति सेवा और पातिव्रत्य का अपार महत्व था। वह अपने कर्तव्यो से घर मे सुख-समृद्धि का वातावरण निर्मित करती थी। वह अपने गुणो और सद्व्यवहारो से सास-ससुर, पति, देवर, ननद आदि सबकी प्रिय-पात्र थी। गुणी पत्नी के लिए मनु ने व्यवस्था दी कि वह सर्वदा हँसमुख रहे, गृह की समस्त वस्तुएँ सुन्दर ढग से रखे, गृहकार्य मे दक्ष हो तथा अपव्यय करनेवाली न हो। पति के प्रिय कार्यो को करना, सास-ससुर की सेवा करना, सच्चरित्रता और सयमपूर्वक रहना पत्नी के प्रधान गुणो मे था। व्यवस्थाकारो के अनुसार वह पत्नी पतिव्रता मानी गई जो अपने पति का नाम नही लेती थी, क्योंकि इससे पति की आयु घटती थी। उसके लिए दूसरे पुरुष का भी नाम लेना वर्जित था। पति द्वारा लांछित होने पर भी चिल्लाकर नही बोलती थी। वह पति द्वारा मार खाने पर भी मुस्कराती रहती थी। पतिव्रता स्त्री वही थी जो आलक्तक, कुकुम, सिंदूर, अंजन, कंचुकी, ताबूल, सुन्दर आभूषण और बालो मे वेणी धारण करती थी। वह पति के लिए कार्य करने मे दासी, रति-सुख देने मे वेश्या, भोजन देने मे माता और विपत्ति मे मंत्री थी। पतिव्रता स्त्री के लिए यह भी आवश्यक था कि वह निष्ठापूर्वक पति के साथ रहे। वस्तुत. पतिव्रता स्त्री वही थी जो पति के आर्त्त होने पर आर्त्त, मुदित होने पर प्रसन्न, प्रोषित होने पर मलिन और कृश तथा मरने पर मृत होती थी।

पुत्र—परिवार मे पुत्र का अत्यधिक महत्व था। वेदो मे भी पुत्र प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त करते हुये पिता को दस पुत्र उत्पन्न करने की सलाह भी दी गई है। पुत्र-प्राप्ति के निमित्त 'गर्भाधान' और 'पुसवन' सस्कार सम्पन्न किये जाते थे। पुत्र की अभिलाषा करने के कारणो मे सबसे प्रधान कारण यह था कि उससे परिवार का पोषण और रक्षा होती थी। पुत्र से ही परिवार की धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न होती थी। वही उत्तराधिकारी होता है। पुत्र ही अपने पिता की जीर्णावस्था मे देखभाल करता और उसकी मृत्यु के बाद परिवार का संचालन करता था। इसीलिए पुत्र को 'शोकापनुद्' (शोक दूर करने वाला) कहा जाता था। पुत्र उत्पन्न होने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त माना जाता था। पुत्र को वश का 'बीज' और 'आधार' कहा गया है।[1]

पुत्री—संयुक्त परिवार मे पुत्री का स्थान उच्च होते हुए भी निम्न प्रतीत होता है। उसे दु ख और सताप का कारण माना जाने लगा था। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है, "वह जन्म के समय स्वजनो को दु ख देती है। विवाह के समय समुचित धन (दहेज) ले जाती है, तरुणाई मे अनेक दोषो से युक्त होकर वश को कलंकित कर सकती है, अत. कन्या माता-पिता के हृदय को आघात पहुँचाने वाली है।" किन्तु इस कथन के विपरीत महाभारत मे कहा गया है कि कन्या मे सर्वदा लक्ष्मी निवास करती है। मनु ने उसे पुत्र के समकक्ष माना है तथा पुत्र के अभाव मे उसे उत्तराधिकारी स्वीकार किया है। उसे दु.ख नही माना गया है। हेमचन्द्र लिखित 'शब्दानुशासन' मे भी उसे 'शोककरी कन्या' कहा गया है। बाण ने लिखा है कि पुत्री उत्पन्न होकर पिता को चिन्ता के भँवर मे डाल देती है। पुत्री के लिए ये समस्त चिन्ताएँ उसके विवाह को लेकर की जाती थी।।

पुत्री को परिवार मे अनेक सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। वह पिता द्वारा लालित-

१ शाकुन्तलम्, ७।१५,१६, विक्रमोर्वशी, ५।१५।

पालित होती थी तथा पिता के ही संरक्षण में बड़ी होती थी। धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था की थी कि अगर बिना विवाह किये ही उसके पिता की मृत्यु हो गई हो तो उसके विवाह के लिए निश्चित सम्पत्ति सुरक्षित कर दी जाय। उसके आजीवन अविवाहित रहने पर भी भरण-पोषण के लिए व्यवस्था की गई थी। माता की मृत्यु पर स्त्री-धन पर उसका अधिकार था। विज्ञानेश्वर का मत है कि सम्पत्ति के विभाजन के समय उसे चतुर्थांश मिलता था; यह भाग पुत्र की उपस्थिति में उसका चतुर्थांश होता था। मध्यकाल मे शास्त्रकारो ने सम्पत्ति मे उसका अधिकार स्वीकार किया। अपुत्र पिता की सम्पत्ति मे उसके अधिकार को मान्यता दी गई। पितृ-धन और स्त्री-धन दोनो मे उसके अधिकार को स्वीकृति थी।

परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध

पति-पत्नी—पति-पत्नी के सम्बन्ध में हिन्दू परिवार मे पतियो की पत्नियो पर प्रभुता सर्वतोमुखी मानी जाती थी। विद्वानो का मत है कि वैदिक काल मे पति पत्नी मित्रवत व्यवहार करते थे। तदन्तर स्मृतिकाल मे पति पत्नी का गुरु बन गया और पौराणिक काल मे देवता। प्रायः पति की प्रभुता के कारण थे—पुरुष को शक्तिशाली और स्त्री को अबला मानना, तथा स्त्री मे समर्पण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का विशेष महत्वपूर्ण होना, पत्नी की आर्थिक पराधीनता तथा अनेक धार्मिक एवं सामाजिक निर्योग्यताओ का पाया जाना। सैद्धान्तिक रूप से परिवारो मे पति की स्थिति उच्च थी परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह कही भी शासक की स्थिति मे नही था। पत्नी को परिवार का सारा काम देखना होता था और बच्चों का भी ध्यान रखना पडता था। समय पर खाना खिलाना, छोटे-मोटे आर्थिक कार्यों मे सहयोग करना होता था। प्राय. उच्च, मध्यम एव निम्न जातियो मे पति पत्नी के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। निम्न जातियो मे पति और पत्नी के तनाव बडा उग्र रूप धारण कर लेते थे परन्तु वे शान्त भी हो जाते थे। उच्च जातियो मे तनाव की स्थिति मे पत्नी को घर से निकाल तक दिया जाता था और दूसरी शादी भी कर ली जाती थी, किन्तु अधिकांशतः तनाव का रूप सामने नही आने दिया जाता था। पति विशेष रूप से दो कारणो से असन्तुष्ट होते थे—प्रथम, पत्नियाँ अपने मायके वालो को चोरी छिपे पति के घर से सामान आदि देती थी, द्वितीय, वे किसी अन्य से प्रेम करती थी। इसी प्रकार पत्नियाँ अपने पतियो मे उनकी लापरवाही अथवा दूसरी स्त्री से प्रेम करने के कारण रुष्टता प्रकट करती थी।

माता-पिता तथा बच्चो के पारस्परिक सम्बन्ध—परिवार मे पिता के तीन महत्वपूर्ण कार्य माने जाते थे—भरण, रक्षण, तथा शिक्षण। माँ बच्चे को गर्भ मे रखती थी तथा अपने दूध से उसका पालन पोषण करती थी। वह ही बच्चे के खाने पीने आदि की व्यवस्था के लिए उत्तर-दायी होती थी। धर्मशास्त्रो की आज्ञा है कि जब तक माता पिता जीवित रहे बच्चों को उनके अधीन रहना चाहिए और उन्हे सर्वोच्च सम्मान देना चाहिए। माता, पिता तथा आचार्य ये तीनों देवता के तुल्य पूजनीय माने जाते थे। अधिकार की दृष्टि से पितृसत्तात्मक परिवार होने के कारण पिता की प्रभुता परिवार में सर्वोच्च होती थी। पिता बच्चे को शिक्षण के सन्दर्भ मे पीट भी सकता था और प्राय: हिन्दू परिवारो मे पिता बच्चों को प्यार करने के साथ-साथ अनुकूल व्यवहार के लिए पीटते भी थे। माता का पुत्र के ऊपर पूर्ण अधिकार था। अनेक स्थलो पर आया है कि

माता सदैव वन्दनीय है। पुत्र के लिए माता पतिता हो तो भी श्रद्धा की पात्रा है।

पितृवंशी परिवार होने के कारण हिन्दू परिवारों में पुत्र को विशेष आदर मिलता था। पितृ ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र होना आवश्यक माना जाता था। पुत्र के अधिक चाहे जाने का एक कारण यह भी था कि वह वृद्धावस्था मे माता पिता की सेवा तथा भरण पोषण करता था, वही कुटुम्ब का रक्षक होता था। जब कि कन्या पराया धन होती थी, वह तो विवाह के बाद दूसरे के घर चली जाती थी। इसीलिए कन्याओ को परिवार मे सम्माननीय तो माना जाता था परन्तु परिवार में सहयोगी नही। जिस घर में पुत्रियाँ ही पुत्रियां होती वे निश्चित रूप से दुखी होते थे। परन्तु दो चार पुत्रों के मध्य एक दो पुत्री हो तो उसे सौभाग्य सूचक माना जाता था।

हिन्दू परिवार में बचपन से ही बच्चे आयु और पद के हिसाब से बड़ो का सत्कार करना सीखते थे। वे अपने माता पिता का सम्मान पैर छूकर करते थे। माता पिता का व्यवहार भी पुत्र पुत्रियो की आयु के अनुसार बदल जाता था। पिता कठोर और अनुशासन करने वाले तानाशाह के रूप मे दिखाई देता है। उसकी आज्ञा न मानने पर कष्ट उठाना पड जाता था। भय और आदर का भाव पिता के प्रति सदैव बना रहता था। यही कारण है कि मा जब बच्चो के व्यवहार से खीज जाती तो बच्चों के पिता से शिकायत करने की धमकी देती थी। कुछ पुत्र बड़े होने पर पिता की भी अवहेलना करने लगते, तो ऐसे पुत्रो को रास्ते पर लाने के लिए प्रभावशाली व्यक्तियो की भी सहायता ली जाती थी।

भाई बहिन के पारस्परिक सम्बन्ध—हिन्दू समाज मे भाई शब्द विशेष महत्व का है। भाई शब्द कहते ही एक प्रेम की धारा उमड़ पड़ती थी। परिवार मे बड़े भाई का अधिक महत्व था। धार्मिक-सामाजिक कार्यों मे भी बडे भाई को प्राथमिकता मिलती थी। शास्त्रो के अनुसार बडे भाई को अन्य सभी अनुजो से पिता के तुल्य आदर करना चाहिए। परन्तु सामान्यतया यह देखा जाता था कि बहुत कम ही स्थानो मे पिता की मृत्यु के बाद संयुक्त परिवार चल पाते थे क्योकि बडे होकर भाई आपस मे बराबर का व्यवहार करते थे। भाइयो के झगड़े भी देखने को खूब मिलते हैं जिसका कारण प्राय उनकी पत्नियाँ होती थी। बहिन भाई का सम्बन्ध भी अत्यन्त प्रेम पूर्ण माना जाता था। माता पिता के न रहने पर भी भाई अपनी बहिन को घर पर बुलाता था और सभी कर्तव्यो को पूरा करता था।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१ प्राचीन भारतीय पारिवारिक प्रथा की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिये।

(पी० सी० एस० १९७२)

२ प्राचीन भारतीय परिवार के गठन और उसके विभिन्न सदस्यो के महत्व की सप्रमाण विवेचना कीजिये।

३. प्राचीन भारतीय परिवार मे माता-पिता, पति-पत्नी तथा पुत्र-पुत्री के स्थान का विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत कीजिये।

अध्याय बीस

प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा

प्राचीन भारत मे स्त्रियो की दशा और स्थिति एकरूप नही थी। प्रारम्भ से ही उनका जीवन स्वतन्त्र नही रहा और वह पिता, पति और पुत्र के नियन्त्रण तथा निरीक्षण मे रही। सामान्यतया समाज मे स्त्रियों की स्थिति उनके स्वभाव और गुणो द्वारा निर्धारित की जा सकती है। प्राचीन साहित्य और कला मे स्त्रियाँ लौकिक तथा धार्मिक कृत्यों मे पतियो के साथ दर्शित की गई है, जिससे विदित होता है कि वे सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यो मे सक्रिय रूप से भाग लेती थी। कुछ स्त्रियो ने प्रशासन मे भी सक्रिय भाग लिया था। प्रभावती गुप्ता, नागनिका आदि अपने अवयस्क, पुत्रो की अभिभावक के रूप मे शासन का भार सम्भालती थी। मेधाविनी तथा उच्चशिक्षित नारियो के भी उल्लेख मिलते है। अनेक महिलाएँ प्रतिष्ठित शिक्षिकाओ (उपाध्यायी) के रूप मे भी कार्य करती थी। इस उज्ज्वलतार पक्ष के विपरीत कन्याओ का उपनयन संस्कार नही किया जाता था। शनै शनै नामकरण तथा चूडाकर्म जैसे संस्कारो से भी उन्हे वंचित करके उनके 'आत्मिक अधिकार हरण' का प्रयत्न किया गया था। स्त्री के सतीत्व और पतिभक्ति पर बहुत अधिक बल देकर उसकी स्वतन्त्रता को काफी सीमा तक सकुचित कर दिया गया। किन्तु साथ ही साथ इस विश्वास के भी अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि प्राचीन काल मे नारी को आदर्शात्मक तथा मर्यादायुक्त सम्मान भी प्राप्त था। नारी को सर्व-शक्तिसम्पन्न मानते हुए, उसे विद्या, यश और सम्पत्ति का प्रतीक स्वीकार किया गया।

स्त्रियों की दशा

वैदिक साहित्य मे बहुत-से कथन स्त्रियो की प्रशंसा मे पाये जाते है।[1] दो-एक अपवादो को छोड़कर स्त्रियो को किसी भी दशा मे मारना वर्जित था। गौतम एवं मनु ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री अपने से नीच जाति के पुरुष से अवैध रूप से संभोग करे तो उसे कुत्तों द्वारा नुचवाकर

---

1. बौधायनधर्मसूत्र २।२।६३-६४, मनु ३।५५-६२, याज्ञवल्क्य १।७१, ७४, ७८, ८२, वसिष्ठधर्मसूत्र २८।१-६, अत्रि १४०-१४१ एवं १६३।१६८, आदिपर्व ७४।१४०।१५२, शान्तिपर्व १४४।६ एवं १२।१७, अनुशासनपर्व ४६, मार्कण्डेयपुराण २१।६६।७६)।

मार डालना चाहिए।[1] अत्रि एवं देवल ने वडी उदारता प्रदर्शित की है, जिनके मत से यदि कोई स्त्री पर-जाति के पुरुष से संभोग कर ले और उसे गर्भ रह जाय तो वह जातिच्युत नही होती, केवल वच्चा जनने या मासिक धर्म के प्रकट होने तक अपवित्र रहती है। यदि किसी नारी के साथ कोई वलात्कार कर दे तो वह त्याज्य नही समझी जाती थी और केवल आगामी मासिक धर्म के प्रकट होने तक अपवित्र रहती थी। महाभारत के अनुसार यदि स्त्री कुमार्ग मे जाय तो दोप उसके पति का है न कि पत्नी का।[2]

इस काल की अनेक उक्तियाँ स्त्रियो के विरोध मे भी पउती है। मैत्रायणी संहिता मे स्त्री को 'अनृत' अर्थात् झूठ का अवतार कहा गया है।[3] ऋग्वेद मे "नारी का मन दुर्दमनीय" कहा गया है।[4] ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "स्त्रियो के साथ कोई मित्रता नही है, उनके हृदय भेड़िये के हृदय है।[5] तैत्तिरीय सहिता का कथन है—"अत: स्त्रियाँ विना शक्ति की हैं, उन्हे दाय नही मिलता, वे दुष्ट से भी वढकर दुर्वल ढंग से वोलती हैं।[6] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता एवं कौआ मे असत्य, पाप एवं अन्धकार विराजमान रहता है, "पत्नियाँ घृत या वज्र से हत होने पर तथा विना पुरुप के होने पर न तो अपने पर राज्य करती है और न दाय (सम्पत्ति भाग) पर।"[7]

उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है कि वैदिक काल मे भी स्त्रियाँ वहुधा नीची दृष्टि से देखी जाती थी। उन्हे सम्पत्ति में कोई भाग नही मिलता था तथा वे आश्रित थी। धर्मशास्त्र-साहित्य मे स्त्रियो की दशा वुरी ही होती चली गयी, केवल सम्पत्ति के अधिकारो के वारे में अपवाद पाया गया। धर्मशास्त्रकारो ने व्यवस्था की कि स्त्रियाँ स्वतन्त्र नही हैं, सभी मामलों मे आश्रित एवं परतन्त्र है, वचपन मे, विवाहोपरान्त एवं वुढ़ापे मे वे क्रम से पिता, पति एवं पुत्र द्वारा रक्षित होती हैं।[8] उनके अनुसार विधाता ने स्त्री को आश्रित वनाया है, अच्छे कुल की नारियाँ भी स्वतन्त्र होने पर गर्त मे गिर जाती हैं।

महाभारत, मनुस्मृति, अन्य स्मृतियो एवं पुराणो मे स्त्रियो पर घोर नैतिक लाछन लगाये गये है। अनुशासनपर्व के अनुसार, "सूत्रकार का निष्कर्ष है कि स्त्रियाँ अनृत (झूठी) है", "स्त्रियो से वढकर कोई अन्य दुष्ट नही है, ये एक साथ ही उस्तुरा की धार (क्षुरधार) है, विप है, सर्प और अग्नि हैं," "सैकडो-हजारो मे कही एक स्त्री पतिव्रता मिलेगी," "स्त्रियाँ वास्तव मे दुर्दमनीय हैं, वे अपने पति के वन्धनो मे इसीलिए रहती है कि उन्हे कोई अन्य पूछता नही और क्योकि वे नौकरो-चाकरो से डरती हैं" "स्त्रियो मे राक्षसो, शम्वर, नमुचि तथा अन्य लोगो की धूर्तता पायी

---

१. गौतम ध० सू० २३।१४, मनुस्मृति ८।३७१ !

२. शान्तिपर्व २६७।३८

३. मैत्रायिणी संहिता १।१०।११।

४. ऋग्वेद ८।३३।१७।

५ ऋग्वेद १०।९५।१५ तथा शतपथ, ब्राह्मण ११।५।१।९।

६. तैत्तिरीय सहिता ६।५।८।२।

७. शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३१।

८ गौतम १८।१, वसिष्ठधर्मसूत्र, ५।१ एवं ३, मनु ५।१४६-१४८ एवं ९।२-३, बौधायन-धर्मसूत्र २।२।५०-५२ नारद, दाय भाग, ३१।

जाती है।''[1] रामायण मे भी महाभारत की भाँति उनकी भरपूर निन्दा की गई है—''वे धर्म-भ्रष्ट है, चंचल हैं, क्रूर है, और है विरक्ति उत्पन्न करने वाली'' ।[2] मनु के अनुसार ''वे कामी हैं, चंचल हैं, प्रेमहीन है, पति-द्रोही हैं, पर-पुरुष प्रेमी है, चाहे वह पर-पुरुष सुन्दर हो या असुन्दर उन्हे तो बस पुरुष चाहिए।'' ''पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट करना स्त्रियों का स्वभाव-सा है, अत. विज्ञ लोग नवयुवतियो से सावधानी से बातचीत करते है, क्योकि नवयुवतियाँ सभी को, चाहे वे विज्ञ हो या अविज्ञ, पथभ्रष्ट कर सकती है।''[3] बृहत्पाराशर के अनुसार स्त्रियो की काम-शक्ति पुरुषों की काम-शक्ति की आठगुनी होती है। अनृत (झूठ बोलना), साहस (विवेकशून्य कार्य), माया (धूर्तता), मूर्खत्व, अति लोभ, अशौच (अपवित्रता), निर्दयता—आदि स्त्रियो के स्वाभाविक दोष बताए गये हैं।

प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से इस तथ्य की भी प्राप्ति होती है कि स्त्रियो के विरोध में कही गयी अनर्गल, निरर्थक तथा आधारहीन उक्तियो का विरोध एवं कटु आलोचनाएँ भी की गईं। वाराहमिहिर (छठी शताब्दी) ने स्त्रियों के पक्ष का ओजस्वी समर्थन किया है। उसके मत मे स्त्रियो पर धर्म एवं अर्थ आश्रित है, उन्ही से पुरुष लोग इन्द्रिय-सुख एवं सन्तान-सुख प्राप्त करते है, वे घर की लक्ष्मी है, इनको सदैव सम्मान एव धन देना चाहिए। इसके उपरान्त वाराह-मिहिर ने उन लोगो की भर्त्सना की है जो वैराग्यमार्ग का अनुसरण कर स्त्रियो के दोषो की चर्चा करते है और उनके गुणो के विषय मे मौन हो जाते है। वाराहमिहिर निन्दको से पूछते है—''सच बताओ, स्त्रियो मे कौन से दोष है जो तुम लोगो मे नही पाये जाते ? पुरुष लोग धृष्टता से स्त्रियों की भर्त्सना करते है, वास्तव मे वे (पुरुषो की अपेक्षा) अधिक गुणो से सम्पन्न होती है,'' ''अपनी माँ या अपनी पत्नी भी स्त्री ही है, पुरुषो की उत्पत्ति इन्ही से होती है; अरे कृतघ्नी एवं दुष्ट, तुम जब इस प्रकार उनकी भर्त्सना करते हो तो तुम्हे सुख क्योकर मिलेगा ? शास्त्रो के अनुसार दोनो पति एवं पत्नी पापी है यदि वे विवाह के प्रति सच्चे नही होते, पुरुष लोग शास्त्रो की बहुत कम परवाह करते है (किन्तु स्त्रियाँ बहुत परवाह करती है), अत. स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अति उच्च है,'' ''दुष्ट लोगों की धृष्टता कितनी बड़ी है, ओह ! वे पवित्र एवं निरपराध स्त्रियो पर गालियो की बौछार करते है, यह तो वैसा ही है जैसा कि चोरो के साथ देखा जाता है, अर्थात् चोर स्वयं चोरी करते हैं और पुनः शोर-गुल करते है, 'ठहरो, ओ चोर !' अकेले मे पुरुष स्त्री की चाटुकारी करते है, किन्तु उसके मर जाने पर उनके पास इसी प्रकार के मीठे शब्द नही होते, किन्तु स्त्रियाँ कृतज्ञता के वश मे आकर अपने पति के शवो का आलिंगन करके अग्नि मे प्रवेश कर जाती है।''[4]

प्राचीन काल मे स्त्रियो को सामान्यत. भर्त्सना के शब्द सुनने पडे किन्तु स्मृति-ग्रन्थो मे माता की प्रशंसा एवं सम्मान मे बहुत-कुछ कहा गया है। गौतम का कहना है—''आचार्य (वेदगुरु) गुरुओ मे श्रेष्ठ हैं, किन्तु कुछ लोगो के मत से माता ही सर्वश्रेष्ठ है।'' आपस्तम्बधर्मसूत्र का कहना है कि पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योकि

---

१. अनुशासन पर्व—१६।६; २८।१२ तथा २६, १६।६३, ३८।१६, ३८।२४-२५ तथा ३६।६-७

२. अरण्यकाण्ड ४५।२६-३०।

३. मनुस्मृति ६।१४-१५ तथा २।२१३-२१४।

४. 'बृहत्संहिता'—वाराहमिहिर—७४।

वह उसके लिए महान् कष्टो को सहन करती है। यही बात बौधायनधर्मसूत्र मे भी है, किन्तु यहाँ पुत्र को अपनी जातिच्युत माता से बोलना मना किया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र के मत से "पतित पिता का त्याग हो सकता है; किन्तु पतित माता का नही, क्योकि पुत्र के लिए वह कभी भी पतित नही है।"[१] मनु के अनुसार आचार्य दस उपाध्यायो से महत्ता मे आगे है, पिता सौ आचार्यों से आगे है, माता एक सहस्र पिताओ से बढ़कर है। याज्ञवल्क्य के अनुसार अपने गुरु, आचार्य एवं उपाध्याय से माता बढकर है।[२] अनुशासनपर्व का कहना है कि माता महत्ता मे दस पिताओ से, यहाँ तक कि सारी पृथ्वी से बढ़कर है, माता से बढ़कर कोई गुरु नही है।[३] अत्रि के मत से माता से बढ़कर कोई अन्य गुरु नही है।[४] पाण्डवो ने अपनी माता कुन्ती को सर्वोच्च सम्मान दिया था। आदिपर्व मे कहा गया है—"सभी प्रकार के शापों से छुटकारा हो सकता है किन्तु माता के शाप से छुटकारा नही प्राप्त हो सकता।"[५]

उपरोक्त पक्ष एवं विपक्षी वक्तयो की पृष्ठभूमि मे प्राचीन भारत के विभिन्न युगो मे स्त्रियो की स्थिति के उतार-चढ़ाव का मूल्याकन निम्नलिखित क्रम मे किया जा सकता है :—

वैदिक युग मे—वैदिक युग मे नारी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे समान रूप से आदृत थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास मे उसका महान् योग था। नववधू गृह की सम्राज्ञी होती थी।[६] वह पति के साथ प्रत्येक कार्य मे सहयोग प्रदान करती थी। वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी।[७] वस्तुत स्त्री और पुरुष दोनो यज्ञ-रूपी रथ के जुडे हुए दो बैल थे।[८] यज्ञ मे उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती तथा उसके दाम्पत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त्त करती है।[९] उत्तरवैदिक युग मे नारी सम्बन्धी धारणा पूर्ववत् उन्नत बनी रही। शिक्षा के क्षेत्र मे उसका स्थान पुरुषो के समान था। वह ब्रह्मचर्य के जीवन मे शिक्षा ग्रहण करती थी।[१०] उस युग मे शिक्षित स्त्री-पुरुष ही विवाह-योग्य समझे जाते थे।[११] किन्तु इस युग मे स्त्रियो को याज्ञिक कार्यों से अलग रखने का उपक्रम किया जाने लगा तथा उन्हे वैदिक मन्त्रो के उच्चारण के उपयुक्त नही माना गया। सम्भवतः वैदिक साहित्य को सही और शुद्ध बनाये रखने के लिए ही स्त्रियों को अलग रखने का नियम बना।

सूत्र तथा स्मृतिकाल में—सूत्रो और स्मृतियो के काल मे स्त्रियो की स्थिति दयनीय हो गई। उन पर नाना प्रकार के बन्धन और अवरोध लगाए गए। उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक सभी स्थितियो पर प्रतिबन्ध लगे। अब जन्म से मृत्यु तक वह पुरुष के नियन्त्रण मे रखने के लिए निर्देशित की गई। वह क्रमश. पिता, पति और पुत्र द्वारा

---

१ गौतम २।५६, आप० ध० १।१०।२८।६; बौ० ध० २।२।४८; वसिष्ठ १३।४७।

२. याज्ञवल्क्य—१।३५।

३. अनुशासनपर्व १०५।१४-१६।

४. अत्रि १५१।

५. आदिपर्व ३७।४।

६. 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।' ऋग्वेद, १०।८५।४६।

७ ऋग्वेद—१।७२।५, ५।३२।

८. तैत्तिरीय ब्राह्मण—३।७५।

९. शतपथ ब्राह्मण १।१६।२।१४।

१०. अथर्ववेद, ११।५।१८।

११. शुक्ल यजुर्वेद, ८।१।

नियन्त्रित मानी गई ।[1] कन्या और पुत्र के जन्म पर पुत्र का सर्वदा स्वागत किया गया तथा दोनों के समारोहो के आयोजन भिन्न-भिन्न प्रकार के थे ।

पूर्व मध्य युग में—पूर्वमध्य युग तक कन्या 'शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी । शाक्त धर्म के प्रभाव के कारण उसे 'गौरी' और 'भवानी' का नाम प्रदान किया गया । मातृ-गर्भ मे आई राज्यश्री का वर्णन बाण ने इस प्रकार किया है, "देवी यशोवती ने देवी राज्यश्री को उसी प्रकार गर्भ मे धारण किया जिस प्रकार नारायण-मूर्ति ने वसुधा को ।···जिस प्रकार मेना ने सर्वजीवधारियो से अभ्यर्थित गौरी को उत्पन्न किया था, उसी प्रकार यशोवती ने दुहिता (राज्यश्री) को ।" पूर्वमध्य काल मे नारी पर नियन्त्रण और कठोर हो गए । धर्म और समाज की रक्षा के नाम पर अनेक ऐसी व्यवस्थाओ का नियमन हुआ जिससे स्त्रियो की दशा निरन्तर दयनीय होती गई ।

स्त्री की स्वतन्त्रता

वैदिक युग मे स्त्री स्वतन्त्र और मुक्त थी । वह सभी दृष्टियो से पुरुषो के समान थी । उस युग मे लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिक्ता, घोषा आदि अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियाँ थी, जिन्होने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ का प्रणयन किया था । वे याज्ञिक कार्यो मे भी अग्रणी थी । स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषो के साथ गोष्ठियो और दार्शनिक वाद-विवादों मे सम्मिलित होती थी । सामाजिक और धार्मिक उत्सवो, समारोहो मे वे अलंकृत होकर विना किसी नियन्त्रण के हिस्सा लेती थी ।[2] वे यज्ञ की अधिकारिणी थी ।[3] अकेला पुरुष यज्ञ के लिए अयोग्य था ।[4]

उत्तरवैदिक-काल से नारी की दशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी । उसपर सामाजिक और धार्मिक अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाये गए जो आगे चलकर और विस्तृत हो गए । धर्मसूत्रो और स्मृतियो के युग मे स्त्री की दशा पूर्णतः पतनोन्मुख हो गई । स्त्री के साथ भोजन करने वाले पुरुष को गर्हित आचरण करनेवाला व्यक्ति बताया गया ।[5] अब उस स्त्री की प्रशंसा की गई जो प्रतिवाद न करने वाली थी । उसका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त होता गया । पितृ-सत्तात्मक समाज मे उसकी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तता पर अनेक प्रकार के अंकुश लगाये जाने लगे । पूर्वमध्य युग मे उसके सारे अधिकार सीमित कर दिये गये तथा उसकी स्वच्छन्दता पर अनेक नियन्त्रण लगा दिये गए ।[6] विज्ञानेश्वर ने शंख का उद्धरण देकर टिप्पणी की है कि वह घर से विना कहे और बिना चादर ओढे वाहर न जाये, शीघ्रतापूर्वक न चले, वनिये, संन्यासी, वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी पर-पुरुष से बात न करे, अपनी नाभि खुली न रखे, एड़ी तक कपड़ा पहने, स्तनों पर से कपडा न हटाये, मुँह ढँके विना न हँसे, पति या सम्बन्धियो से घृणा न करे । वह धूर्त, वेश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू-टोना या गुप्त विधियाँ करने वाली

---

१. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ मनु० ९।३ ।

२. अथर्ववेद, २।३६।१ ।

३. अथर्ववेद, ११।१।१७।२७ ।

४. शत० ब्रा०, ५।१।६।१०, तै० ब्रा० २२।२।६ ।

५. बौ० ध० सू० १।१।१९ ।

६. मिताक्षरा, याज्ञ० २।१४।८; मेधातिथि, मनु० ५।१४७; कुल्लूक, मनु० ५।१४७ ।

दु:श्लील स्त्रियो के साथ न रहे। इनकी संगति से कुलगत स्त्रियो का चरित्र निम्न होता है।[१] अलबरूनी के अनुसार कन्या की अपेक्षा पुत्र का अधिक ध्यान रखा जाता था।[२]

नारी-शिक्षा

वैदिक युग में शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में स्त्री अग्रणी थी। उसे यज्ञ-सम्पादन और वेदाध्ययन करने का पूर्ण अधिकार था। वे दर्शन और तर्कशास्त्र में भी निपुण होती थी। कतिपय विदुषी स्त्रियो ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ के प्रणयन मे योगदान किया था। योगदान करने वाली ऐसी बीस कवियित्रियाँ थी। इनमें रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निवावरी, घोपा, लोपामुद्रा आदि स्त्रियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। सूत्र-काल तक स्त्रियाँ भी यज्ञ सम्पादित किया करती थी।[३] अनेक कन्याएँ ब्रह्मचर्य का अनुगमन करते हुए उपनयन संस्कार भी कराती थी। वैदिक युग मे छात्राओ के दो वर्ग थे, एक 'सद्योवधू' और दूसरा 'ब्रह्मवादिनी'। सद्योवधू वे छात्राएँ थी जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद-मन्त्र और याज्ञिक प्रार्थनाएँ पढ़ लेती थी तथा ब्रह्मवादिनी वे थी जो शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विवाह करती थी। कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ थी जो जीवन-पर्यन्त अध्ययन मे लीन रहती थी और विवाह नही करती थी। ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही थी। अनेक प्रमाणों से विदित होता है कि अब दर्शन जैसे गूढ़ और गम्भीर विषय मे भी वे पारंगत होने लगी थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी विख्यात दार्शनिका थी जिसकी रुचि अलंकारो मे न होकर दर्शनशास्त्र मे थी। विद्वद्गोष्ठी मे गार्गी ने अपनी अद्भुत् तर्कशक्ति से याज्ञवल्क्य जैसे महर्षि को चौका दिया तथा अपनी पृच्छाओ से उन्हे ही नही, बल्कि पूरे विद्वद्-समाज को स्तब्ध कर दिया था।

अनेक महिलाएँ अध्यापिकाओ का जीवन व्यतीत करती थीं, तथा अपना शिक्षण-कार्य उत्साह और लगन के साथ निष्ठापूर्वक करती थी। ऐसी स्त्रियाँ 'उपाध्याया' कही जाती थीं। ये छात्राओ को पढ़ाया करती थी तथा उन्हे अन्यान्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कराती थी। पाणिनि ने महिला-शिक्षणशाला का उल्लेख किया है।[४] इनमे महिलाएँ शिक्षा ग्रहण करती थी। ऐसी महिला शिक्षण संस्थाओ का प्रबन्ध उपाध्यायाएँ ही करती रही। उस युग मे सहशिक्षण का भी प्रचलन था। छात्र-छात्राएँ एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। वाल्मीकि आश्रम में आत्रेयी ने लव और कुश के साथ शिक्षा ग्रहण की थी।[५] भूरिवसु और देवरात् के साथ कामन्दकी ने अध्ययन किया था।[६] पुराणो से विदित होता है कि नारी-शिक्षा के दो रूप थे, एक आध्यात्मिक और दूसरा व्यवहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान मे बृहस्पति भगिनी, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरूपा आदि कन्याओ का उल्लेख हुआ है। ये ब्रह्मवादिनी थी। उमा, पीवरी, धर्मव्रता जैसी कन्याओ ने अपनी तपस्या के बल पर अपनी इच्छानुसार वर पाया था।

अनेक स्त्रियाँ नृत्य, संगीत, चित्रकला, आदि की शिक्षा ग्रहण करती थी। नृत्य और संगीत मे स्त्रियों की सदा से रुचि रही है।[७]

---

१. विज्ञानेश्वर, याज्ञ० १।८७।
२. ग्यारहवी सदी का भारत, पृ० १५४।
३. पाराशर गृह्यसूत्र २।२०।
४. 'छात्र्यादय शालायाम्' पाणिनी, ६।२।४६,
५. उत्तररामचरित्, अंक २।
६. मालती माधव, अंक १।
७. नारी वा कुरुते या तु विशोकद्वादशीव्रतम्।
नृत्यगीतपरा नित्यं सापि तत्फलमाप्नुयात्॥ —मत्स्य पुराण—८२।२०।

शिक्षा और अध्ययन आदि में रुचि रखने के परिणामस्वरूप अनेक नारियाँ शासन-व्यवस्था और राज्य के प्रबन्ध मे दक्ष होती थी तथा अभिभावक के रूप मे स्वयं प्रशासन का संचालन करती थी। सिकन्दर के आक्रमण का प्रतिरोध पति की मृत्यु के पश्चात् मस्सग की महारानी ने किया था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व मे आध्र-सातवाहन वंशीय राजमाता नयनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की अभिभाविका के रूप मे स्वयं प्रशासन का भार संभाला था। इसी प्रकार वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्र की अल्पवयस्कता के कारण स्वयं शासन किया था। कश्मीर की सुगंध और दिद्दा अपने प्रशासन और राज्य-कार्य के लिए विख्यात थी। अक्का-देवी और भैला देवी जैसी गुजरात की चालुक्य स्त्रियो ने अपने राज्य का कुशल प्रशासन किया।

स्त्रियों के कर्त्तव्य तथा अधिकार

प्राचीन भारतीय पारिवारिक जीवन के विषय मे विचार करते समय हम पत्नी, माता, पुत्री तथा बहन के रूप मे स्त्रियो के कर्त्तव्यो तथा अधिकारो की ओर संकेत कर चुके हैं। यहाँ पर इस विषय मे कुछ विस्तार से स्त्रियो के कर्त्तव्यो तथा अधिकारों के विषय मे विचार करना उचित होगा।

अति प्राचीन काल मे यह विश्वास व्याप्त था कि व्यक्ति तीन ऋणो के साथ जन्म लेता है; ऋषि-ऋण, देव-ऋण, एवं पितृ-ऋण और इन ऋणो से वह क्रम से ब्रह्मचर्य (छात्र-जीवन) द्वारा, यज्ञ करके एवं सन्तानोत्पत्ति करके उऋण होता था।[1] ऋग्वेद मे प्रार्थना है—"मैं सन्तान के द्वारा अमरता प्राप्त करूँ।" तथा नवविवाहिता वधु को १० पुत्रों के लिए आशीर्वाद दिया है। पत्नी अपने पति को दो ऋणो से मुक्त करती थी (१) यज्ञ में साथ देकर देवऋण से तथा (२) पुत्रोत्पत्ति कर पितृऋण से। सभी धर्मशास्त्रकार एकमत हैं कि पत्नी का सर्वप्रमुख कर्तव्य है पति की आज्ञा मानना एवं उसे देवता की भाति सम्मान देना। पत्नी को सदा हँसमुख, जागरूक, दक्ष, कुशल गृहिणी, बरतनो, पात्रो आदि को स्वच्छ रखनेवाली एव मितव्ययी होना चाहिये। मनु ने लिखा है धन सँजोना, व्यय करना, वस्तुओ को स्वच्छ एवं सजा कर रखना, धार्मिक कृत्य करना, भोजन पकाना तथा सभी प्रकार के गृह-सम्बन्धी कार्य करना आदि स्त्रियो के कर्त्तव्य है। उनके अनुसार आसव पीना, दुष्ट प्रकृति के लोगो के साथ रहना, पति से दूर रहना, दूर-दूर (तीर्थयात्रा मे या कहीं) घूमना, दिन मे सोना, अजनबी के घर मे रह जाना—ये छ: दोष विवाहित नारियो को नष्ट कर डालते हैं।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी के कर्त्तव्य हैं—घर के बरतन, कुर्सी आदि को उसके उचित स्थान पर रखना, दक्ष होना, हँसमुख रहना, मितव्ययी होना, पति के मन के योग्य कार्य करना, श्वशुर एवं सास के पैर दबाना, सुन्दर ढंग से चलना-फिरना एवं अपनी इन्द्रियो को वश में रखना।[3] शंख के अनुसार —बिना पति या बड़ो की आज्ञा के घर के बाहर न जाना, बिना दुपट्टा (उत्तरीय) ओढे बाहर न जाना, तेज न चलना, व्यापारी, संन्यासी, बूढे आदमी या वैद्य को छोड़कर किसी अन्य अपरिचित पुरुष से वार्तालाप न करना, नाभि को न दिखाना, साड़ी को एड़ी तक पहनना, कुच न दिखाना, हाथ से या

---

१. तैत्तिरीय संहिता ६।३।१०।५, शतपथ ब्राह्मण १।७।२।११, ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१।
२. मनुस्मृति ५।१५०; ९।११, ९।१३। ३ याज्ञवल्क्यस्मृति १।८३ तथा ८७।

वस्त्र से मुख ढँककर ही जोर से हँसना, अपने पति या सम्बन्धी से घृणा न करना, गणिका, जुआ खेलने वाली स्त्री, अभिसारिका (प्रेमियो से मिलने के लिये स्थान एवं काल ठीक करने वाली), साधुनी, भविष्य कहने वाली स्त्री, जादू-टोना एवं गुप्तक्रिया करनेवाली दुश्चरित्र स्त्री का साथ न करना चाहिए, क्योकि जैसा कि विज्ञ लोगो ने कहा है, अच्छे घर की स्त्री भी दुश्चरित्रो के साथ से बिगड़ सकती है। वृहस्पति के अनुसार स्त्री को अपने पति एवं अन्य गुरुजनो के पूर्व ही सोकर उठ जाना चाहिये, उनके खा लेने के उपरान्त भोजन एवं व्यंजन लेना चाहिये तथा उनसे नीचे आसन पर बैठना चाहिये।

पुराणो मे नारियो के कर्त्तव्यो को मुख्यतः स्त्रीधर्म की सज्ञा दी गई है। उनमे स्त्रीधर्म के विषय मे विस्तार से लिखा है। भागवत के अनुसार जो नारी पति को हरि के समान मानती है, वह हरि के लोक मे पति के साथ निवास करती है। स्कन्दपुराण ने पतिव्रता स्त्री के विषय मे लिखा है—"पत्नी को पति का नाम नही लेना चाहिये, ऐसे चाल-चलन से (पति का नाम न लेने से) पति की आयु बढती है, उसे दूसरे पुरुष का नाम भी नही लेना चाहिये। चाहे पति उसे उच्च स्वर से अपराधी ही क्यो न सिद्ध कर रहा हो, पीटी जाने पर उसे जोर से रोना भी नहीं चाहिये, उसे हँसमुख ही रहना चाहिये। पतिव्रता को हल्दी, सिन्दूर, अंजन कंचुकी (चोली), ताम्बूल, शुभ आभूषणो का व्यवहार करना चाहिये तथा अपने केशो को सवार कर रखना चाहिये।" पद्मपुराण मे कहा गया है कि वह स्त्री पतिव्रता है जो कार्य मे दासी की भाँति, संभोग मे अप्सरा जैसी, भोजन देने मे माँ की भाँति हो तथा विपत्ति मे मन्त्री हो।[1]

स्त्रियो की स्थिति के विषय मे यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि शनैः शनैः स्त्रियाँ क्रमश उपनयन, वेदाध्ययन तथा वैदिक मन्त्रो के साथ संस्कार-सम्पादन के सारे अधिकारो से वचित होती चली गयी, और इस प्रकार वे पूर्णतः पुरुषो पर आश्रित हो गयी। इस प्रकार, उनकी दशा, शूद्र की दशा के समान हो गयी। स्त्रियो एवं शूद्रो की हत्या पर समान दण्ड मिलता था। भेंट, दान, भूमि एवं घर की विक्री एवं वन्धक मे स्त्रियो द्वारा लिखे गये पत्र साधारणतः अस्वीकृत माने जाते थे, ऐसी लिखापढी बलात्कार या धोखे से की गयी लिखापढ़ी के समान मानी जाती थी।[3] उन दिनो स्त्रियाँ पढी लिखी कम थी, अतः ऐसे व्यवधान वरदान ही थे। कुछ विषयो मे स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक अधिकार एवं स्वत्व रखती थी। स्त्रियो की हत्या नही की जा सकती थी और न वे व्यभिचार मे पकड़े जाने पर त्यागी ही जा सकती थी। मार्ग मे उन्हे पहले आगे निकल जाने का अधिकार प्राप्त था। पतित की कन्या पतित नही मानी जाती थी। किन्तु पतित का पुत्र पतित माना जाता था।[4] एक ही प्रकार की त्रुटि के लिए पुरुष की अपेक्षा नारी को आधा ही प्रायश्चित करना पडता था।[5] वेदज्ञ ब्राह्मणो की भाँति सभी वर्णों की स्त्रियाँ भी कर-मुक्त थी।[6] उस अभियोग का विचार, जिसमें कोई स्त्री फँसी हो, या जिसकी सुनवाई रात्रि

---

१. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, अध्याय ४७, श्लोक ५५।

२ वौधायन धर्म सूत्र २।१।११-१२ तथा पाराशर ६।१६।

३. याज्ञवल्क्य २।३१।

४. वशिष्ठ धर्म सूत्र १३।५१-५३; याज्ञवल्क्य ३।२६१।

५. विष्णु धर्म सूत्र ५४।३३।

६. आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।१०।२६।१०-११।

में, या गाँव के बाहर, या घर के भीतर, या शत्रुओ के समक्ष हुई हो; पुनः होनी चाहिये।[1] स्त्रीधन के उत्तराधिकार मे पुत्रियो को पुत्रो की अपेक्षा प्रमुखता दी गयी थी। आपस्तम्बगृह्यसूत्र, आश्वलायनगृह्यसूत्र, मनु एवं वैखानस स्मार्त के अनुसार विवाह मे शिष्टाचार की जानकारी स्त्रियो से प्राप्त करने का प्रावधान था।

स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे स्त्रियो के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारो के विषय को गंभीरतापूर्वक लिया गया तथा काफी सीमा तक इस अधिकार को स्वीकार भी किया गया। इस अधिकार मे स्त्री दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ समझी जाती थी। ऋग्वेद के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति पर पुत्री का अधिकार था।[2] महाभारत मे भी इस स्वत्व को स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि अगर उसे पूरी सम्पत्ति नही मिलती तो आधी अवश्य मिलनी चाहिये। कौटिल्य ने भी अभ्रातृपुत्री को उत्तराधिकारिणी घोषित किया, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[3] याज्ञवल्क्य ने यह निर्देश दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव मे पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है।[4] अनेक शास्त्रकारो ने कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति की है।[5] पिता की मृत्यु हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का कर्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक चौथाई विवाह-कार्य मे व्यय कर सकता था।[6]

कतिपय प्रमाणो से विदित होता है कि विधवा को सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त था। यद्यपि वैदिक युग में उसके अधिकार को स्वीकृति नही थी तथापि पहली सदी ईस्वी मे व्यवस्थाकारो ने यह विचार किया कि अगर विधवा पुनर्विवाह नही करती है अथवा नियोग द्वारा पुत्र नही उत्पन्न करती है तो उसके भरण-पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति मे विधवा को पति की सम्पत्ति मे भाग प्रदान किया गया था। कौटिल्य ने विधवा के भाग को स्वीकार किया है।[7] गौतम ने सपिंडो के साथ विधवा के समान भाग को माना है। विष्णु का अभिमत है कि पुत्रो के अयोग्य होने पर विधवा उत्तराधिकारिणी होती है। इन मतो के विपरीत नारद ने उत्तराधिकार के अभाव मे मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य के अधिकार को स्वीकार किया है तथा विधवा को केवल भरण-पोषण प्रदान करने का निर्देश दिया है।

स्त्री-धन

अधिकाश व्यवस्थाकारो ने स्त्री-धन का उल्लेख किया है। मनु के मतानुसार वैवाहिक अग्नि के सम्मुख जो कुछ कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पति-गृह जाते समय मिलता है,

---

१. नारद १।४३ २ ऋग्वेद १।१२४।७

३. 'द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयु. कन्याश्च।' अर्थशास्त्र ३।५

५. याज्ञ० २।१३५।

४. जीमूतवाहन, दायभाग, ११।२।४; विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञ० २।१३५।

६ याज्ञ० २।१२४।

७. 'अदायादक राजा हरेत्स्त्रीवृत्तिप्रेतकदर्यवर्जम्' —अर्थशास्त्र, ३।५

जो स्नेहवश दिया जाता है, जो माता-पिता और भाई से मिलता है, वह स्त्री-धन छह प्रकार का कहा गया है।[1] विज्ञानेश्वर ने भी स्त्री-धन को कम-से-कम छह प्रकार का बताया है—पिता, माता, भ्राता और पति द्वारा दिया हुआ, अग्नि की सन्निधि मे विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त तथा अधिवंदन के निमित्त मिला हुआ धन। यही नही, विवाह होने के पश्चात् प्रीतिपूर्वक सास, श्वसुर आदि से पैर छूने की प्रथा मे स्त्री को जो प्राप्त होता था, वह भी स्त्री-धन था। अपरार्क ने सम्पत्ति-विभाजन के समय पत्नी या माता का पुत्र के समान अंश, भाइयो के अंश का चतुर्थांश आदि को भी स्त्री-धन के अन्तर्गत उल्लिखित किया है। पति द्वारा स्त्री को दी गयी, उत्तराधिकार मे उसे मिली हुई, आदि सम्पत्ति स्त्री का धन थी। आसुर विवाह मे कन्या के निमित्त जो धन लिया जाता था, वह भी स्त्री-धन कहा जाता था। स्त्रीधन के अन्तर्गत भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान वस्त्रा-भूषण भी होते थे।

स्त्रीधन के निक्षेपण (न्यसन) के विषय मे गौतम के तीन सूत्र हैं, किन्तु उन्होने न तो इसकी परिभाषा दी और न इसका विवेचन ही किया है। कौटिल्य ने स्त्रीधन की परिभाषा देते हुए लिखा है—"वृत्ति (जीवन-वृत्ति) एव आवघ्य (जो शरीर मे बाँधा जा सके, यथा आभूषण, जवाहरात आदि) स्त्रीधन है। वृत्ति अधिक से अधिक दो सहस्र पण हो सकती है, आवघ्य का कोई नियम (सीमा) नही है।"[2] कात्यायन एवं व्यास के अनुसार "पिता, माता, पति, भ्राता एवं अन्य ज्ञातियो (सम्बन्धियो) को चाहिये कि वे यथाशक्ति दो सहस्र पणो तक स्त्री को स्त्रीधन दे, किन्तु अचल सम्पत्ति न दें। स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ 'स्त्री की सम्पत्ति है। स्त्रीधन की एक विशेषता यह रही है कि गौतम के काल से आज तक यह प्रथमतः स्त्रियो को ही प्राप्त होता रहा है।

कात्यायन ने २७ श्लोको मे स्त्रीधन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होने मनु, याज्ञ०, नारद एवं विष्णु के छ. स्त्रीधन-प्रकारो का भी वर्णन किया है—"विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो दिया जाता है उसे बुद्धिमान् लोग अध्यग्नि स्त्रीधन कहते है। पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है उसे अध्यावहनिक स्त्रीधन कहा जाता है। श्वशुर या सास द्वारा स्नेह से जो कुछ दिया जाता है और श्रेष्ठ जनो को वन्दना करते समय उनके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उसे प्रीतिदत्त स्त्रीधन कहा जाना है। वह शुल्क कहलाता है जो बरतनो, भारवाही पशुओ, दुधारू पशुओ, आभूषणो एवं दासो के मूल्य रूप मे प्राप्त होता है। विवाहोपरान्त पति-कुल एव पितृ-कुल के वन्धु-जनो से जो कुछ प्राप्त होता है वह अन्वाधेय स्त्री-धन कहलाता है। स्नेहवश जो कुछ पति या माता-पिता से प्राप्त होता है वह अन्वाधेय कहलाता है।"

व्यास ने इसे यो समझाया है—"यह वह धन है जो किसी स्त्री को इसलिए दिया जाता है कि वह (प्रसन्नतापूर्वक) अपने पति के घर जाने को प्रेरित हो सके।" 'स्मृति चन्द्रिका' एवं 'व्यवहार प्रकाश' ने शुल्क को उन वस्तुओ का मूल्य माना है जिन्हे वर विवाह के समय या

---

१. अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति कर्मणि।
भ्रातृ मातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ —मनु० ९।१९४।

२. कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' ३।२।

गृहारम्भ करते समय दुलहिन को देता था। स्मृतियो के उल्लेखो से विदित होता है कि स्त्रीधन एक प्रकार का ऐसा धन है जिसमे पहले छ. प्रकार की सम्पत्ति की गणना होती थी और आगे चलकर वह नौ प्रकार का हो गया तथा कात्यायन के समय मे उसमे सभी प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी, जिसे कोई स्त्री कुमारी अवस्था में या विवाहित होते समय या विवाह के उपरान्त अपने माता-पिता या कुल या माता-पिता के सम्वन्धियो या पति एवं उसके कुल से प्राप्त करती थी। वह धन जिसे स्त्री विवाहोपरान्त स्वय (अपने परिश्रम से) अर्जित करती थी या बाहरी लोगो से प्राप्त करती थी स्त्रीधन नही था।

स्त्रीधन पर अधिकार—स्त्रीधन क्या है और उस पर स्त्री का क्या अधिकार है, यह निम्न तीन बातो पर निर्भर करता था सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर शासन होता है। कात्यायन का कथन है—"सौदायिक धन की प्राप्ति पर घोषित किया गया है कि स्त्रियाँ उस पर स्वतन्त्र अधिकार रखती है, क्योकि वह उनके सम्बन्धियो द्वारा इसलिए दिया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो सके। ऐसा घोषित है कि विक्रय या दान मे सौदायिक सम्पत्ति पर स्त्रियो का पूर्ण अधिकार है, इतना ही नही, सौदायिक अचल सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार है। विधवा हो जाने पर वे पति द्वारा दी गयी चल भेंटो को मनोनुकूल व्यय कर सकती है, किन्तु उन्हे जीवित रहते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिये या वे कुल के लिए व्यय कर सकती है। किन्तु पति या पुत्र और पिता या भाइयो को किसी स्त्री के स्त्रीधन को व्यय करने या विघटित करने का अधिकार नही है।"[1] याज्ञवल्क्य का कथन है—'दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि मे या बन्दी (ऋणदाता, राजा या शत्रु द्वारा) बनाये जाने पर पति यदि स्त्रीधन का व्यय करे तो उसे लौटाने के लिए उसे बाध्य नही किया जा सकता।"[2] पश्चात्कालीन स्मृतियो ने पति एव पत्नी की सम्पत्तियो को पृथक्-पृथक् माना है। पति के ऋण पत्नी को नही बाध सकते और न पत्नी के ऋण पति को बाध सकते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज मे स्त्री-धन नारी की सामाजिक और आर्थिक दशा मे दृढ़ता की ओर इगित करता है, जो उसकी विभिन्न अवस्थाओ से आवद्ध है। स्त्री के विपत्ति-काल मे उसके जीवन का संचालन उसके स्त्री-धन से ही हो सकता था।

व्यभिचारी स्त्रियाँ

प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन मे नारी के आदर्श स्वरूप की कल्पना की गई तथा उसके व्यवहार से परिवार और समाज का उत्कर्ष होना सम्भव माना गया। विश्व के किसी भी भाग में बसने वाले समाज मे अनेक ऐसी बाते तथा प्रकरण विद्यमान रहे है जिन्हे उस समाज मे हेय माना गया। इस सम्बन्ध मे, भारत मे स्त्री द्वारा अनैतिक शारीरिक सम्वन्ध स्थापिन करने को व्यभिचार माना गया। किन्तु, क्योकि इस विपय का सम्बन्ध व्यक्ति की प्राकृतिक यौन-उत्कंठा और तृष्णा से था अतः इस विषय में उदार और अनुदार दृष्टिकोण अपनाया गया।

यदि पत्नी का व्यभिचार सिद्ध हो जाय तो पति उसे घर के वाहर कर उसे छोड नही सकता था। गौतम के अनुसार सतीत्व नष्ट करने पर स्त्री को प्रायश्चित करना पड़ता था, किन्तु खाना-कपड़ा देकर उसकी रक्षा की जाती थी।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार "अपना सतीत्व नष्ट

---

१. कात्ययन ६०५-७, ६११। २. याज्ञवल्क्य २।१४७। ३. गौतम २२।३५।

करने वाली स्त्री का अधिकार (नौकर-चाकर आदि पर) छीन लेना चाहिए, उसे गन्दे वस्त्र पहना देने चाहिए, उसे उतना ही भोजन देना चाहिए जिससे वह जी सके, उसकी भर्त्सना करनी चाहिए और पृथिवी पर ही सुलाना चाहिए, मासिक धर्म की समाप्ति के उपरान्त वह पवित्र हो जाती है। किन्तु यदि वह व्यभिचार के सम्भोग से गर्भवती हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिए। यदि वह अपना गर्भ गिरा दे (भ्रूणहत्या कर ले), पति को मार डाले या कोई ऐसा पाप करे जिसके कारण वह जातिच्युत हो जाय तो उसे घर से निकाल देना चाहिए।"[१] मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य की व्याख्या मे लिखा है कि ब्राह्मणो क्षत्रियो एवं वैश्यो की पत्नियाँ यदि शूद्र से व्यभिचार करके गर्भ धारण न किये हो तो प्रायश्चित करके पवित्र हो सकती है, किन्तु अन्य परिस्थितियो में नही। मिताक्षरा ने यह भी कहा है कि त्यागे जाने का तात्पर्य है धार्मिक कृत्य न करने देना तथा संभोग न करना, न कि उसे घर के बाहर सडक पर रख देना। उसे घर मे ही पृथक् रखकर उसके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था कर देनी चाहिए। वसिष्ठ के मत से केवल चार प्रकार की पत्नियाँ त्यागे जाने योग्य है—शिष्य से सम्भोग करने वाली, पति के गुरू से संभोग करने वाली, विशेष रूप से वह जो पति को मार डालने का प्रयत्न करे और चौथे प्रकार की वह जो नीची जाति के किसी पुरुष से संभोग करे।[२] नारद ने लिखा है—"व्यभिचारिणी स्त्री का मुण्डन करा दिया जाना चाहिए, उसे पृथिवी पर सोना चाहिए, उसे निकृष्ट भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए और उसका कार्य होना चाहिए पति का घर-द्वार स्वच्छ करना।" नीच जाति के पुरुष के साथ व्यभिचार करने पर बहुत कड़े दण्ड की व्यवस्था थी अर्थात् उसे राजा की आज्ञा से कुत्तों द्वारा नोचवाकर मरवा डालना चाहिए।[3]

पूर्व मध्यकाल मे भाष्यकारों ने व्यभिचारिणी स्त्रियो के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया। अब निश्चित रूप से व्यभिचारिणी पत्नी के त्याग को अनुचित बताया जाने लगा। व्यास ने लिखा है कि व्यभिचार मे पकडी जाने पर पत्नी को घर मे ही रखना चाहिये, किन्तु धार्मिक कृत्यो तथा संभोग के सारे अधिकार छीनकर उसे सम्पत्ति से च्युत कर देना चाहिये।

वैश्याएँ (गणिकाएँ)

विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओ की भाँति भारत मे भी वैश्यावृत्ति का इतिहास अति प्राचीन काल से आरम्भ होता है। ऋग्वेद से स्पष्ट होता है कि उस काल मे कुछ ऐसी भी नारियाँ थीं, जो सभी की थी। ऋग्वेद मे मरुत्-गण (अन्धड़ के देवता) विद्युत् के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गये हैं, जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते हे।[४] एक अन्य सकेत से अभिव्यक्त होता है कि उस समय भी ऐसी नारियाँ थी जो गुप्त रूप से बच्चा जनकर उसे मार्ग के एक ओर रख देती थी। कई स्थानो पर जार (गुप्त प्रेमी) का उल्लेख हुआ है।[५] गौतम के अनुसार ब्राह्मणी वेश्या को मारने पर प्रायश्चित की कोई आवश्यकता नही है, केवल ८ मुट्ठी अन्न

१ याज्ञवक्ल्य १।७०-७२। २. वसिष्ठ २१।१०।

३. गौतम २३।१४;—शान्तिपर्व १६५।६४; मनुस्मृति ८।३७१।

४. 'परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षु.।' ऋग्वेद (१।१६७।४)।

५. ऋग्वेद २।२९।१, १।६६।४; १।११७।१८ तथा १।१३४।३।

दान कर देना ही पर्याप्त है ।[1] मनु ने वेश्या के हाथ का भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित माना है तथा धूर्त वेश्याओ को दण्डित करने के लिए राजा को प्रेरित किया है ।[2] महाभारत मे वेश्या-वृत्ति का एक स्थिर संस्था के रूप में उल्लेख है । गान्धारी के गर्भवती रहने के कारण धृतराष्ट्र की सेवा मे एक वेश्या रहती थी । युधिष्ठिर ने कौरवों की वेश्याओ को शुभ-सन्देश भेजे थे । जब श्री कृष्ण कौरवों की सभा मे शान्ति-स्थापना का सन्देश लेकर आये थे तो वेश्याएँ भी उनके स्वागतार्थ आयी थी । जब पाण्डवों की सेना ने युद्ध के लिए कूँच किया तो गाड़ियाँ, हाटे एवं वेश्याएँ उसके साथ चली ।[3]

याज्ञवल्क्य ने वैश्याओ को दो भागो मे बाँटा है—(१) अवरुद्धा तथा (२) भुजिष्या । नारद का कथन हैं—"अब्राह्मणी स्वैरिणी, वेश्या, दासी, निष्कासिनी यदि अपनी जाति से निम्नजाति की हो तो संभोग की अनुमति है, किन्तु उच्च जाति की स्त्रियो से ऐसा व्यवहार वर्जित हैं । यदि ये स्त्रियाँ किसी की रखैल हो तो उनसे सभोग करने पर वही अपराध होता है जो किसी की पत्नी से करने पर होता है । इन स्त्रियो के पास नही जाना चाहिए, क्योकि ये दूसरे की हैं ।"[4] जो लोग वेश्यागमन करते थे उन्हे प्राजापत्य प्रायश्चित्त करना पड़ता था ।[5] नारद ने लिखा है कि यदि शुल्क पा लेने पर वेश्या संभोग नही करती थी तो उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था । इसी प्रकार यदि संभोग कर लेने पर व्यक्ति शुल्क नही देता था तो उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था ।[6] यही व्यवस्था याज्ञवल्क्य एवं मत्स्यपुराण में भी पायी जाती हैं। कामसूत्र ने गणिका को वह वेश्या कहा है जो ६४ कलाओ मे दक्ष हो ।[7]

जातको मे सहृदय, क्रूर, छली आदि अनेक प्रकार की वैश्याओ का वर्णन किया गया है । धन-लिप्त और सम्पत्ति-आसक्त वैश्याएँ भी थीं, जिनके लिये मात्र धन ही सब कुछ था । एक श्रेष्ठि-पुत्र अपनी प्रेमिका गणिका को एक सहस्र कार्षापण प्रति रात्रि का प्रदान करता था । एक दिन ऐसा हुआ कि उसके पास एक भी मुद्रा नही थी और जब वह उस गणिका के पास गया तो उसने मुद्राएँ न पाने पर उस प्रेमी को निकाल बाहर कर दिया । परिणामस्वरूप वह सन्यासी बन गया ।[8] जातको की अनेक कथाओ से वैश्याओ की मानवता, सहृदयता, कोमलता, क्रूरता, धूर्तता, क्षुद्रता, धनलोलुपता और विश्वासघात आदि के विषय मे पता चलता है ।

समाज का एक वर्ग ऐसा था जो वैश्याओ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखकर उनके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था । इसका प्रधान कारण लोगो की काम-जनित भावना, संगीत-नृत्य के प्रति आकर्षण तथा सौन्दर्य-पिपासा थी । वैसे, अनेक प्रकार की गणिकाओ के वर्णन समयमातृका, कुट्टनी-मतम, प्रबन्ध चिन्तामणि, मानसोल्लास, राजतरंगिणी आदि ग्रन्थो मे मिलते हैं ।

---

१. गौतम २२।२७ २. मनुस्मृति ४।२०९, ८।२५९ ।

३. महाभारत आदिपर्व ११५।३९, उद्योगपर्व ३०।३८, ९८।१५; १५१।५८; वनपर्व २३९।३७ तथा कर्णपर्व ९४।२६ ।

४. नारद स्त्रीपुस ७८-७९ । ५. अत्रि २७१

६. नारद—वेतनस्यापकर्म १८ । ७. कामसूत्र १।३।२० ।

८. जातक ३, पृ० ४७५।७६ ।

विधवा (मृतभर्तृका)

प्राचीन काल मे पति की मृत्यु होने पर स्त्री के लिए दो प्रकार से जीवन यापन की प्रस्तावना की गई थी, एक-पति के साथ अनुमरण (सती) करना तथा दूसरा-विधवा धर्म का पालन करना।

ऋग्वेद मे 'विधवा' शब्द कई वार आया है, किन्तु यह विधवा की दशा पर कोई विशेष प्रकाश नही डालता। ऋग्वेद में आया है कि मरुतो की अति शीघ्र गतियो से पृथिवी पतिहीन स्त्री की भाति काँपती है। इससे प्रकट होता है कि विधवाएँ या तो दुःख के मारे या वलात्कार के डर से काँपती थी।[1]

वौधायनधर्मसूत्र के मत से विधवा को साल भर तक मधु, मास, मदिरा एवं नमक छोड़ देना चाहिये तथा भूमि पर शयन करना चाहिये। मनु के अनुसार "पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो, केवल पुष्पो, फलो एव मूलो को ही खाकर अपने शरीर को गला दे (दुर्वल बना दे), किन्तु उसे किसी अन्य व्यक्ति का नाम भी नही लेना चाहिए। मृत्यु-पर्यन्त उसे संयम रखना चाहिये, व्रत रखने चाहिये, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एवं गुणो की प्राप्ति की आकाक्षा करनी चाहिये। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् अपने सतीत्व की रक्षा मे लगी रहे, तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है, जैसा कि प्राचीन नैष्ठिक ब्रह्मचारियो ने किया था।"[2] कात्यायन के अनुसार "पुत्रहीन विधवा यदि अपने पति के विस्तर या सेज को बिना अपवित्र किये गुरुजनो के साथ रहती हुई अपने को संयमित रखती है तो उसे मृत्यु-पर्यन्त पति की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। उसके उपरान्त उसके पति के उत्तराधिकारी लोग सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। धार्मिक व्रतो, उपवासो एव नियमो मे संलग्न, ब्रह्मचर्य के नियमो से पूर्ण, इन्द्रियो को सयमित करती एवं दान करती हुई विधवा पुत्रहीन होने पर भी स्वर्ग को जाती है।" वृहस्पति का कथन है—"पत्नी पति की अर्धांगिनी घोपित हो चुकी है, वह पति के पापों एव पुण्यो की भागी होती है, एक सद्गुणी पत्नी, चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती है, अपने पति के आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।"[3] वृद्धहारीत ने उसकी आमरण दिनचर्या दी है—"उसे वाल सँवारना छोड़ देना चाहिए, पान खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिये, पीतल-काँसे के वरतन में भोजन नही करना चाहिये, दो बार भोजन करना, अंजन लगाना आदि त्याग देना चाहिये, उसे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिये, उसे इन्द्रियो एव क्रोध को दवाना चाहिए, धोखा-धडी से दूर रहना चाहिए, प्रमाद एवं निन्दा से मुक्त होना चाहिए, पवित्र एवं सदाचरण वाली होना चाहिए, सदा हरि की पूजा करनी चाहिए, रात्रि मे पृथिवी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए, मनोयोग एवं सत्संगति मे लगा रहना चाहिए।" वाण ने हर्षचरित मे लिखा है कि विधवाएँ अपनी आँखों में अंजन नही लगाती थी और न मुख पर पीला लेप ही करती थी, वे अपने वालो को यो ही वाँध लेती

---

१. 'प्रैषामज्मेपु वियुरेव रेजते भूमियमिषु युद्ध युञ्जते शुभे।'—ऋग्वेद १।८७।३।

२. मनस्मृति ५।१५७-१६०।

३. बृहस्पति (अपरार्क, पृ० १११ से उद्धृत)।

थी। आदिपर्व में आया है—"जिस प्रकार पृथिवी पर पडे हुये मांस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पडते हैं, उसी प्रकार पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं।" शान्तिपर्व में आया है—"बहुत पुत्रों के रहते हुए भी सभी विधवाएँ दु ख मे है।"[1] स्कन्दपुराण में विधवाधर्म के विषय मे कहा गया है—"अमंगलो में विधवा सबसे अमंगल है, विधवा-दर्शन से सिद्धि नही प्राप्त होती (हाथ मे लिया हुआ कार्य सिद्ध नही होता), विधवा माता को छोड़ सभी विधवाएँ अमंगल सूचक हैं, विधवा की आशीर्वादोक्ति को विज्ञ जन ग्रहण नही करते, मानो वह सर्पविष हो।" स्कन्दपुराण के काशीखंड मे कहा गया है—"विधवा के कबरीबन्ध (सिर के केशो को सँवार कर बाँधने) से पति बन्धन मे पडता है, अतः विधवा को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिए। उसे दिन मे केवल एक बार खाना चाहिये, या उसे मास भर उपवास करना चाहिये या चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। जो स्त्री पर्यंक पर शयन करती है वह अपने पति को नरक में डालती है। विधवा को अपना शरीर सुगधित लेप से नही स्वच्छ करना चाहिए, और न उसे सुगंधित पदार्थों का सेवन करना चाहिये, उसे प्रतिदिन तिल, जल एवं कुश से अपने पति, पति के पिता एवं पति के पितामह के नाम एवं गोत्र से तर्पण करना चाहिये, उसे मरते समय भी बैलगाडी में नहीं बैठना चाहिये, उसे कंचुकी (चोली) नही पहननी चाहिए, उसे रंगीन परिधान नही धारण करने चाहिए तथा वैशाख, कार्त्तिक एवं माघ मास मे विशेष व्रत करने चाहिये।"[2]

पति की मृत्यु पर विधवा का मुण्डन उसी प्रकार होता था जिस प्रकार पुत्रो का, तथा विधवा को आमरण मुण्डन कराना पडता था, यद्यपि यह बात पिताहीन पुत्रों के साथ नही लागू होती थी। मनु एवं याज्ञवल्क्य विधवाधर्म की चर्चा मे विधवा के मुण्डन की चर्चा नही करते। किसी अन्य स्मृति मे भी इसकी चर्चा नही हुई है। कुछ धर्मशास्त्रकारो ने विधवा को केश-शृंगार से दूर रहने की बात कही है। अत स्पष्ट है कि विधवाएँ केश रखती थी। बाण ने हर्षचरित मे विधवा के केश-बन्धन का उल्लेख किया है।[3]

"हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और उसका भाग्य तो किसी भी स्थिति मे स्पृहणीय नही माना जा सकता। वह अमंगल सूचक थी और किसी भी उत्सव में, यथा विवाह में, किसी प्रकार का भाग नही ले सकती थी। उसे न केवल पूर्ण रूप से साध्वी रहना पड़ता था, चाहे वह बचपन से ही विधवा क्यो न हो, प्रत्युत उसे संन्यासी की भाँति रहना पडता था; कम भोजन और कम वस्त्र धारण करना पडता था। उसके सम्पत्ति-अधिकार कुछ न थे। यदि उसका पति पुत्रहीन मर गया तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नही मिलता था। कालान्तर मे उत्तराधिकार के विषय मे उसकी स्थिति मे सुधार हुआ। किन्तु तब भी उसे केवल सम्पत्ति की आय मात्र मिलती थी, जिसे वह घर की वैधानिक आवश्यकताओ तथा पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए ही हस्तान्तरित कर सकती थी (अन्य कार्यों में नही)। हिन्दू सयुक्त परिवार मे विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार है (बंगाल में कुछ अधिक अधिकार हैं), जिसे वह व्यभिचारिणी हो जाने पर खो देती है। यदि वह पुन. नैतिक जीवन व्यतीत करने लगे तो उसे जीवन-चर्या का

---

१. आदिपर्व १६०।१२ तथा शान्तिपर्व १४८।२।

२. स्कन्द पुराण—काशी खंड ४।५५।७५।

३. 'बध्नातु वैधव्यवेणी वरमनुष्यता'। हर्षचरित, ५।

अधिकार प्राप्त हो सकता है। यदि पति की पृथक् रूप से सम्पत्ति हो गयी हो और उसे एक पुत्र या कई पुत्र हो तो उसकी विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। यह स्थिति अभी कुछ दिनों तक रही है किन्तु अब विधवा की अवस्था मे सुधार हो गया है।[1]

सती-प्रथा

'सती' का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य पर स्थिर रहने वाली' है। यह शब्द पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद्य संबंध भी व्यक्त करता है। 'सती' शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में 'अन्वारोहण' (मृत पति के साथ चिता पर चढना), सहगमन (मृत पति का अनुगमन करना), सहमरण (मृत पति के साथ मरना), और अनुमरण (यदि पति की मृत्यु विदेश-प्रवास काल मे हो गई तो उसका समाचार जानने के बाद, उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित थे। विधवाओ का सती, अर्थात् पति की चिता पर जल कर भस्म हो जाना केवल प्राचीन भारत मे ही नही, वरन् प्राचीन यूनानियो, स्लावो आदि जातियो मे भी प्रचलित था। सतीप्रथा का भारत मे कब से प्रारम्भ हुआ, यह विवादास्पद है। ऋग्वेद मे आये हुए एक शब्द को लेकर मतभेद है, कि उसमें 'अग्ने' शब्द का प्रयोग हुआ है या 'अग्रे' शब्द का। उक्त अंश का यह अर्थ है कि स्त्री अपने मृत पति के शव के साथ लेटती है। तत्पश्चात् उसे सबोधित किया जाता है, 'नारी उठो, पुन: इस ससार मे आओ।' इस अंश के आधार पर माना गया कि सती-प्रथा का प्रारम्भ पूर्ववैदिक युग मे ही हो गया था। सती प्रथा का इसी प्रकार का अर्थ व्यंजित करने वाले उत्तरवैदिक कालीन साहित्य के भी उद्धरण मिलते हैं। अथर्ववेद मे उल्लिखित है कि अपने मृत पति के शव के साथ विधवा नारी चिता पर चढा करती है और उसके बाद उसे चिता से उतर आने के लिए निर्देशित किया जाता है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य मे सती होने के विषय मे न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मन्त्र ही प्राप्त होते है। गृह्यसूत्रो ने भी इसके विषय मे कोई विधि नही प्रस्तुत की है। यह प्रथा यही उत्पन्न हुई, या किसी अभारतीय जाति से ली गयी, इस विषय मे प्रमाण उपलब्ध नही है। विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र ने भी सती होने के विषय मे कोई निर्देश नही किया है। मनुस्मृति इसके विषय मे सर्वथा मौन है। सिकन्दर के साथ यूनानियों ने पंजाब के कठाइयो (कठो) मे सती प्रथा देखी थी; उन्होने यह भी व्यक्त किया है कि यह प्रथा इस डर से उभरी कि पत्नियाँ अपने पतियो को छोड देगी या विष दे देगी।[2] विष्णुधर्मसूत्र मे लिखा है— "अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उनकी चिता पर चढ जाती थी (अर्थात् जल जाती थी)।"[3] महाभारत मे, सती होने के बहुत कम उदाहरण है; "पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया।" विराटपर्व मे कीचक के साथ जल जाने के लिए सैरन्ध्री को आज्ञा दी गई है। मौसलपर्व मे आया है कि वसुदेव की चार पत्नियो, देवकी, भद्रा, रोहिणी, एवं मदिरा ने अपने को पति के साथ जला डाला, और कृष्ण की रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या, हैमवती एवं जाम्बवती ने अपने को उनके (श्री कृष्ण के) शरीर के साथ जला

---

१. 'धर्मशास्त्र का इतिहास'—डा० पी० वी० काणे।

२. स्ट्रैबो १५।१।३० तथा।६२।

३. विष्णुधर्मसूत्र (२५।१४)

दिया तथा सत्यभामा एवं अन्य रानियों ने तप के लिये वन का मार्ग लिया।[1] विष्णुपुराण मे लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियो ने अग्नि मे प्रवेश कर लिया।[2]

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि सती-प्रथा विशेषत राजघरानो एवं वडे-वडे घरो मे तो अवश्य प्रचलित थी। अपरार्क ने पैठीनसि, अंगिरा, व्याघ्रपाद आदि की उक्तियाँ उद्धृत करके बताया है कि इस धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मण विधवाओ के लिये सती होना वर्जित माना है। निबन्धकारो ने इस निषेध को दूसरे ढग से समझाया है—"ब्राह्मणो की पत्नियाँ अपने को केवल पतियो की चिता पर ही भस्म कर सकती है, यदि पति कही दूर विदेश मे मर गया हो और वही जला दिया गया हो, तो उसकी पत्नी मृत्यु के समाचार से अपने को जला नही सकती।" उशना मे आया है कि ब्राह्मणी विधवा अपने को अलग नही जला सकती। सम्भवत इसी उक्ति को निवन्धकारो ने अपने मतो के प्रमाण मे रखा है। व्यासस्मृति मे आया है—"पति के शव का आलिंगन करके ब्राह्मणी को अग्नि प्रवेश करना चाहिये, यदि वह पति के उपरान्त जीवित रहती है तो उसे अपना केश-शृङ्गार नही करना चाहिये और तप से शरीर को गला देना चाहिये।"[3] रामायण मे एक ब्राह्मणी के सती हो जाने की ओर सकेत है—ब्रह्मर्षि की पत्नी एवं वेदवती की माता ने रावण द्वारा छेड़े जाने पर अपने को जला डाला।[4] महाभारत मे द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी विकीर्णकेशी के रूप मे रोती हुई युद्धभूमि मे आती है किन्तु अपने को जला डालने की कोई चर्चा नही करती है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणियो का विधवा रूप मे जल जाना क्षत्रिय विधवाओं के जल जाने की प्रथा के वहुत दिनों उपरान्त प्रारम्भ हुआ था।

वहुत-से अभिलेखो मे सती होने के उदाहरण प्राप्त होते है। इनमे सबसे प्राचीन गुप्त संवत् १९१ (५१० ई०) का है। एरण प्रस्तर स्तम्भ-अभिलेख मे गोपराज की पत्नी का पति के साथ सती हो जाता उत्कीर्ण है। बेलतुरु अभिलेख (९७९ शक संवत्) मे देकव्वे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता-पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसके माता-पिता उसकी स्मृति मे स्तम्भ खडा करते है।

पुरुष भी सहमरण या अनुमरण करते थे। वहुत-से पुरुप अपनी स्वामि-भक्ति तथा अन्य कारणो से भस्म हो जाया करते थे। इन सतियो एव पुरुपो की स्मृति मे प्रस्तर-स्तम्भ खडे किये जाते थे, जिन्हे मास्तिक्कल या विक्कल कहा जाता था। हर्पचरित मे वाण ने लिखा है कि प्रभाकर वर्धन की मृत्यु पर कितने ही मित्रो, मंत्रियो, दासो एव स्नेहपात्रो ने अपने को मार डाला। राजतरगिणी मे आया है कि अनन्त की रानी जव सती हो गयी तो उसका चटाई ढोनेवाला, कुछ अन्य पुरुष तथा तीन दासियाँ उनकी अनुगामी हो गयी।

प्रतीत होता है कि सती-प्रथा के पीछे कोई पौरोहितक या धार्मिक दवाव नही था, और न अनिच्छुक नारियाँ ऐसा करती थी। यह प्रथा कालान्तर मे वढती गयी, पर यह कहना कि पुरुपो ने इसके वढने मे सहायता की, अनुचित है। एक विशेप मनोभाव के कारण ही सती प्रथा का विकास हुआ। प्रथमत. यह राजकुलो एवं भद्र लोगों तक ही सीमित था, क्योकि प्राचीन काल मे विजित

---

१ आदिपर्व ९५।६५; विराटपर्व २३।८, मौसलपर्व ७।१८ तथा ७।७३-७४।

२ विष्णुपुराण ५।३८।२।

३ व्यासस्मृति २।५३

४. रामायण-उत्तरकाण्ड १७।१५।

५. महाभारत-स्त्रीपर्व २३।३५।

राजाओ एवं शूरो की पत्नियों की स्थिति वडी ही दयनीय होती थी। जीते हुये लोग विजित लोगों की पत्नियो से ही वदला चुकाते थे, उन्हे वन्दी वनाकर ले जाते थे और उनके साथ दासियों जैसा व्यवहार करते थे। एक वार जब यह प्रथा जड पकड़ गयी तो निबन्धकारों एवं टीकाकारो ने इसको वल दे दिया और सतियो के लिये भविष्य मे मिलने वाले पुण्य को बढा चढ़ा कर बताना शुरू कर दिया।

सती होने पर प्राप्त पुण्यो की चर्चा करते हुये कहा गया है कि जो नारी पति के मृत्यु का अनुसरण करती है, वह मनुष्य के शरीर पर पाये जानेवाले रोमो की संख्या के तुल्य वर्षों तक स्वर्ग मे विराजती है। जिस प्रकार साँप पकडने वाला साँप को विल मे से निकाल लेता है वैसे ही अधोगति से अपने पति को बचाकर उसके साथ स्त्री स्वर्ग को जाती है। पति का अनुगमन करने वाली स्त्री माता, पिता तथा भर्ता, तीनों के कुलो को पवित्र रखती है। वह पति मे अनुरक्ति रखनेवाली, उत्तम, परम आकांक्षावाली स्त्री पति के साथ स्वर्ग मे चतुर्दश इद्रो के समय तक विहार करती है। पति कृतघ्न अथवा मित्रघ्न ही क्यो न हो, उसका अनुगमन रखने वाली स्त्री उसे पवित्र करती है। पति के मरने पर साध्वी स्त्रियो का अग्नि-प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म विज्ञेय नही है। पति के मरने पर जब तक पतिव्रता अपने शरीर का दाह नही करती तब तक वह शरीर से किसी प्रकार भी मुक्त नही होती। मर कर पति के स्वर्ग जाने पर वियोग के क्षत (घाव) से कातर स्त्रियो का अग्नि-प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा मार्ग (धर्म) नही।[1]

कुछ प्राचीन टीकाकारों ने सती होने का विरोध किया है। मेधातिथि का कहना है कि यह आत्महत्या है और स्त्रियो के लिये वर्जित है। इसके विरुद्ध अंगिरा का मत है—"पति के मर जाने पर चिता पर भस्म हो जाने से वढ़कर स्त्रियो के लिये कोई अन्य धर्म नही है।"

देवण्ण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए विचार व्यक्त किया है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा वडा जघन्य है।[2] इन शास्त्रकारो और भाष्यकारो के पूर्व महाकवि वाण ने सती प्रथा का कडा विरोध किया है और इस कार्य को जघन्य बताते हुए भर्त्सना की है। उनका मत है कि स्त्री सती होकर आत्महत्या करती है। इस पाप के कारण वह नरक मे गमन करती है।[3] मृच्छकटिक मे भी सती प्रथा की आलोचना और निन्दा की गई है।[4] महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार मोह के कारण चितारोहण करने वाली नारी नरकगामिनी होती है।[5]

सती होने की प्रणाली के विषय मे कहा गया है कि विधवा स्नान करके दो श्वेत वस्त्र पहनती है, अपने हाथो मे कुश पकड़ती है, पूरव की अथवा उत्तर की ओर मुख करके खडी होती है और आचमन करती है। जब ब्राह्मण 'ओम् तत्सत्' उच्चारण करता है, तब वह भगवान् नारायण का स्मरण करती है। वह मास, तिथि और पक्ष का निर्देश करती हुई संकल्प करती है। अपने सहमरण अथवा अनुमरण के साक्षी होने के लिए दिक्पालो का आवाहन करती है। तीन बार चिता की प्रदक्षिणा करती है। उस समय ब्राह्मण 'इमा नारी' आदि वैदिक मन्त्रो का उच्चारण

---

१. अंगिरा का उद्धरण, कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकांड, पृ० ६२३-२४।

२. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ० ५६८।   ३. कादम्बरी, पूर्वार्ध, पृ० ३०८।

४ मृच्छकटिक, अंक १०।

५. 'मोहाद्भर्तृश्चितारोहाद्भवेन्नरयगामिनी'। महानिर्वाणतन्त्र, १०।७६,

करता है और फिर पौराणिक वचन, 'पति मे अनुरक्त ये भद्र और पवित्र स्त्रियाँ मृत पति के शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करें'[1] उच्चारण करता है। इसी के साथ चिता मे प्रवेश होता था।

परदा प्रथा अथवा अवगुंठन

प्राचीन भारत मे पहली शताब्दी ई० तक परदा प्रथा नही थी। वैदिक मन्त्रो मे स्त्रियो के स्वच्छन्द विचरण के अनेक उल्लेख मिलते हैं। सहशिक्षा का प्रचलन था। वधू सभी आगतो को दिखाई जाती थी[2] तथा यह आशा की जाती थी कि वह अपनी वृद्धावस्था तक जनसभाओ मे बोल पाएगी। यही नही, नवविवाहिता वहू सास, ससुर, ननद और देवरो पर सम्राज्ञी वनकर जाती थी, जो परदा के विरुद्ध उन्मुक्तता की ओर संकेत करता है। उस युग मे स्त्रियाँ विदथ (सभा और समिति) तथा समन मे समान रूप से सम्मिलित होती थी।[3] उस युग की प्रायः प्रत्येक सभा और गोष्ठी मे स्त्री हिस्सा लेती थी, वार्ता करती थी और विचारो का आदान-प्रदान करती थी। अनेक स्त्रियाँ सम्पत्ति-विपयक अधिकार के लिए न्यायालय मे भी जाती थी।[4] अष्टाध्यायी में पाणिनी ने 'असूर्यम्पश्या' का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है, वह स्त्री जिसे सूर्य भी नहीं देख सकता।[5] इसकी व्याख्या 'असूर्यम्पश्या राजदार.' से की गई है, अर्थात् राजा की स्त्रियाँ ही असूर्यम्पश्या होती थी। महाभारत मे परदे का प्रथा के रूप मे वर्णन नही किया गया है। द्रौपदी का जुआ खेलते समय सभाभवन मे आना परदा प्रथा के विरुद्ध प्रमाण है। कुन्ती, गाधारी आदि स्त्रियाँ परदा करते नही दीखती है। यद्यपि महाभारत के एक स्थल पर कहा गया है, "जिन स्त्रियो को न तो चन्द्रमा ने देखा था और न सूर्य ने, वे कौरवेन्द्र राजा धृतराष्ट्र के वन जाने पर शोकार्त होकर राजमार्ग पर चलने लगी।"[6] जातको मे वर्णित है कि कतिपय रानियाँ चारो ओर ढँके हुए रथो मे जाती थी। परन्तु प्राय. ये रानियाँ स्वय परदा नही किए होती थी और विना परदा के मन्त्रियो और अधिकारियो से वार्ता करती थी।[7] प्राय. स्त्रियाँ जब अपने से बड़े सम्बन्धियो के सम्मुख जाती थी तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिए परदा कर लेती थी। दुष्यन्त की राजसभा मे जब शकुन्तला गई तो उसने अपना मुँह आवरण से ढक लिया था जिसे वाद मे उसने मुख पर से हटा दिया।[8] 'हर्षचरित्' मे अवगुठन का वर्णन है तथा राज्यश्री द्वारा अपने पति के सम्मुख आवरण करने का सकेत है।[9] मृच्छकटिक मे उल्लिखित है कि वधू वनते ही वसंतसेना ने

---

१. याज्ञ, १।८७। पर अपरार्क का भाष्य।
२. ऋग्वेद, १०।८५।३३।
३. ऋग्वेद, १०।८५, १२।११।
४. अथर्ववेद, १४।१।२१, निरुक्त, ३।५।
५. या न शक्या पुरा द्रष्टु भूतैराकाशगैरपि।
   तामद्य सीता पश्यन्ति राजमार्गगता जना.॥ अष्टाध्यायी, ३।२।३६।
६. महाभारत, आश्रमपर्व, १५।१३।
७. जातक, ५, ४३९; ६, ३१।३३; ६, २३९, ३००।
८. रघुवश, १६।५९; कुमारसंभव, ७।२; शाकुन्तलम्, पृ० १०४; मालविकाग्नि-मित्र, २।४४, रघुवंश, १।३२; ४।६८, १६।२५।
९. तत्र-अरुणाशुकावगुठितमुखी वधूमपश्यत्। हर्षचरित्, उच्छ्वास ४।

अपना मुँह ढक लिया था।[१] किन्तु साधारण स्त्रियों मे परदे की कोई प्रथा नही था। साहित्यिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि तीसरी सदी ईस्वी के पश्चात् कुछ उच्च और राजकीय परिवारो मे परदे का शनै.शनैः प्रचलन वढ़ा। फाह्यान, युवान च्वांग और ईत्सिग ने कही भी स्त्री द्वारा परदे का उल्लेख नही किया है। वृहत्कथमंजरी और कथासरित्सागर जैसे ग्यारहवी सदी के कथा-साहित्य मे स्त्री के परदा-प्रथा का कही भी स्पष्ट संकेत नही है, वलिक कथासरित्सागर मे रत्नप्रभा ने परदे का विरोध किया है, "हे आर्यपुत्र, प्रसंग से कहती हूँ, सुनिए, अन्त.पुर मे स्त्रियों की रक्षा इस प्रकार हो, यह मेरा मत नही। स्त्रियो का कडा परदा और नियन्त्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नही। सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने सदाचार से ही सुरक्षित रहती हैं और किसी पदार्थ से नही।"[२] कल्हण की राजतरंगिणी मे भी पर्दा-प्रथा का कही कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। दसवी सदी के लेखक अबूजैद ने लिखा है कि उसके समय मे भारतीय रानियाँ परदे के विना ही राजसभा मे उपस्थित होती थी।

प्राप्त प्रमाणो से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारत मे परदा-प्रथा का प्रारम्भ १२वी शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ था। विदेशी आक्रमणकारियो की वासनायुक्त दृष्टि से वचने के लिये ही भारतीय स्त्रियो को अपना मुख तथा शरीर अच्छी तरह छुपाने के लिये परदे की आवश्यकता पड़ी थी। इस प्रथा का प्रचलन मुख्यत. उत्तरी भारत मे ही अधिक था।

स्त्रियों की स्थिति की विवेचना

प्राचीन भारत मे स्त्रियो की दशा के उपरोक्त वृत्तान्त से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है कि उसके प्रति दो दृष्टिकोण अपनाये गये थे। कभी उसे वहुत ही हीन कहा गया और कभी उसकी उपासना करने की प्रस्तावना की गई। कुछ शास्त्रकारो ने संसार की समस्त हीनताएँ उसमे आरोपित की। कहा गया कि यदि कोई व्यक्ति स्त्री के दोपो को ही अपने सौ वर्प के जीवन भर, सौ जिह्वाओ से गिनाता रहे, तो भी वह उसके दोपो का वखान पूरा किये ही मर जायेगा।[3] महाभारत मे उल्लिखित है, "यदि उनकी कामना करने वाला पुरुप न हो और उन्हे परिजनो का भय न हो, तभी मर्यादा मे रहने वाली स्त्रियाँ, मर्यादा मे रहती है।"[४] "अन्यथा वे कभी मर्यादा मे नही रहती। उन्हे अवसर और स्थान नही मिल पाता, न ही प्रार्थना करने वाले पुरुप, नही तो वे साध्वी नही रह सकती।"[५] इस सम्वन्ध मे मनु ने वड़े विस्तार से अपना विचार प्रकट किया है। उनका कथन है कि स्त्रियाँ सुन्दर रूप की परीक्षा नही करती, न ही युवावस्था का ध्यान रखती हैं, वल्कि पुरुप चाहे सुन्दर या कुरूप हो, उसके साथ सभोग करती है।[६]

---

१. मृच्छकटिक, अंक १०। २. कथासारित्सागर, ३३।६।७।

३. यदि जिह्वसहस्रं स्याज्जीवेच्च शरदा शतम्।
अनन्यकर्मा स्त्री दोपाननुक्त्वा निधनं व्रजेत ।। महाभारत, १२।७६।९।

४. अनर्थित्वान्मनुष्याणा भयात्परिजनस्य च।
मर्यादायामर्यादा स्त्रियस्तिप्ठन्ति भर्तृपु ।। वहीं, १३।३८।१६।

५. स्थान नास्ति क्षणे नास्ति न च प्रार्थयिता नर.।
तेन नारद नारीणा सतीत्वमुपजायते ।। पद्मपुराण, ४९।९।

६. नैता रूपं परिक्षन्ते नासां वयसि सस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येवभुजते ।। मनु०, ९।१४।

प्राचीन भारत मे स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान भी प्रदान किया गया। व्यवस्थाकार इस तथ्य को समझते थे कि स्त्री और पुरुष दोनो ही एक दूसरे के लिए आवश्यक है। पति और पत्नी को उपमान क्षेत्र और बीज माना गया। यह उपमान एक बहुत ही बड़े रहस्य को प्रकट करता है, साथ ही साथ स्त्रियों की वास्तविक सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डालता है। जिस प्रकार से क्षेत्र बीज के अभाव मे शक्ति रखते हुये भी निरर्थक सिद्ध होता है, तथा बीज क्षेत्र के अभाव मे अपने अन्दर निहित महती शक्ति को वृक्ष के रूप में प्रतिफलित करने मे असमर्थ रहता है, उसी भाँति पुरुष और स्त्री भी एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं तथा वे अन्योन्याश्रित हे। अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मे यह प्रश्न ही नही उत्पन्न होता है कि कौन किससे अधिक महत्व रखता है क्योकि दोनो ही का महत्व और स्थिति दूसरे के बिना असम्भव है। इस तथ्य को दृष्टि मे रख कर ही स्त्रियो की स्थिति की विवेचना की जा सकती है। जहाँ एक ओर पुरुष को गृहस्वामी का पद प्रदान किया गया, वहाँ स्त्रियो को गृहस्वामिनी के पद पर अधिष्ठित किया गया। यह तथ्य पुरुष और स्त्री की समानता को प्रतिपादित करता है। परन्तु इस समानता का यह अर्थ भ्रातिपूर्ण होगा कि स्त्रियो और पुरुषो मे कोई अन्तर ही नही है। विवेचनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनो की शारीरिक शक्ति, क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक स्तर मे पर्याप्त असमानता हे और इस अन्तर को ही पूर्ण करने की दृष्टि से अनेक नियम और विधान है। समाज को कामाग्नि की विभीषिका से परित्राण देने के लिए ही दोनों के ऐन्द्रिक दोषो को प्रकाशित कर, उनसे बचने के लिए इन्द्रिय निग्रह आदि पर विशेष ध्यान दिया गया। इसका अर्थ यह नही है कि "काम" को हीन दृष्टि से देखा जाता था।

परन्तु प्राचीन साहित्य मे अनेक ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते है जिनके आधार पर आलोचक स्त्रियो को हीन दृष्टि से देखने का दोपारोपण करते हे। मनु में दो विभिन्न स्थलो पर ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते है जिनमे उन्होने स्त्रियो के स्वभाव पर प्रकाश डाला है तथा यही आलोचको की पृष्ठभूमि बन जाती है। स्त्रियो के स्वभाव पर प्रकाश डालते हुये वे कहते है कि स्त्रियों का तो यह स्वभाव ही होता है कि वे पुरुपो को दूपित करे तथा वे विद्वान् अथवा अविद्वान् पुरुष को काम, क्रोध आदि के वशीभूत कर के कुपथ मे ले जाने मे समर्थ होती है। इसलिए विद्वान् को चाहिये कि वह माता, बहिन, पुत्री के साथ निर्जन स्थान मे न रहे। क्योकि इन्द्रियाँ बहुत बलवती होती हे, ये विद्वान् को भी परवश कर देती है। जब एक विद्वान् के लिए यह शंका हो सकती है कि वह अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण न रख सके तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसे (तथा विशेषकर अविद्वान् को) ऐसी परिस्थिति से सर्वथा दूर ही रहना चाहिये, जहाँ संयम खोने की सम्भावना है। सौदर्य की अपेक्षा स्त्रियो मे आकर्षण शक्ति अधिक रहती है, इसलिए उस स्वाभाविक आकर्पण के प्रति पुरुप को आकृष्ट होने से बचाने के लिए ही यह चेतावनी दी गई है। अत. यह चेतावेनी भी दोनो के अन्योन्याश्रित स्वभाव पर ही आधारित है।

स्त्रियो की स्वतन्त्रता के विपय मे भी कुछ भ्रातियाँ है। जहाँ स्त्री-स्वातन्त्र्य के विरोध का आभास मिलता है वहाँ यथार्थ मे यह बतलाया गया है कि स्त्री की विभिन्न अवस्थाओं मे कौन उनका भरण-पोपण करेगा। तब स्त्रियो के समानाधिकार वाला आधुनिक चित्र नही था। उनके सामने स्त्रियो का गृहिणी वाला चित्र था। घर की सम्पूर्ण व्यवस्था को ठीक रखना उनका काम

था तथा पुरुषों का उस व्यवस्था को ठीक रखने के लिए धनोपार्जन करना था। उस समय स्त्रियाँ न तो धनोपार्जन ही करती थी और न आजकल के समान उनके सामने सार्वजनिक जीवन ही था। धनोपार्जन न करने पर यह आवश्यक हो जाता था कि अपनी विभिन्न अवस्थाओ मे वे किसी न किसी के संरक्षण मे रहें। स्वतन्त्रता तथा गृह को व्यवस्थित रखने का अधिकार उसे सामान्य स्त्री की श्रेणी से उठाकर गृहिणी बना देता था। स्वतन्त्रता के इस स्वरूप को देखते हुए कोई भी यह नही कह सकता है कि स्त्रियाँ दासी के समान थी, तथा उनके व्यक्तित्व का कोई भी महत्व नही था। प्राचीन युग मे स्त्रियो को अनेक ऐसे अधिकार प्राप्त थे है जिन्हे आधुनिक युग में भी स्त्रियाँ प्राप्त नही कर सकी हैं। स्त्री का 'स्त्री-धन' पर पूर्ण अधिकार होता था तथा मातृधन पर पुत्री का अधिकार रहता था। उदाहरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में स्त्रियो को निष्पक्ष होकर अधिकार प्रदान किया।

किसी भी समाज के सांस्कृतिक उत्कर्ष का मूल्यांकन, उस समाज मे प्राप्त स्त्रियो के सम्मान के ही ऊपर आधारित रहता है। इस दृष्टि से स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान दिया जाना भारतीय संस्कृति की समृद्धि को स्पष्ट करता है। माता को त्यागना पाप और अपराध दोनो ही समझा जाता था चाहे वह पतित ही क्यों न हो। स्त्री के मातृस्वरूप को देव कोटि में रखा गया। समस्त मानवीय सम्मान प्रदान करने पर भी जब यह समझा गया कि अब भी उसके सम्मान मे कुछ त्रुटि रह गयी है तब उसे "मातृदेव" कह कर संबोधित किया गया। इसी प्रकार उसके भार्या तथा गृहिणी स्वरूप को भी इस स्थिति मे रख दिया गया था कि सभी देवताओं की प्रसन्नता का आधार स्त्रियो की पूजनीयता ही हो जाती थी। इस सम्मान के अभाव में सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते है। इसीलिये उन्नति चाहने वाले को संस्कार तथा उत्सव आदि के अवसरों पर सदा वस्त्र, अलंकार, आभूषणादि से इनको पूजित करते रहने का आदेश था। यह सम्मान न केवल पति के ही द्वारा प्राप्त होता था बल्कि बन्धु बांधव, पिता, श्वसुर आदि जितने भी सम्बन्धी हो अथवा सभी पुरुषों को स्त्रियो का इस प्रकार का सम्मान करना होता था। इस प्रकार के सम्मान का क्या कारण था? याज्ञवल्क्य इस प्रश्न का उत्तर देते है—"सोम देवता ने स्त्रियों को पवित्रता, गंधर्वों ने शुभ-वाणी तथा अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति प्रदान की है इसीलिए वे पवित्र हैं।[1]

प्राचीन काल मे स्त्रियो को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था। यह तथ्य प्रमाणित करता है कि उस काल मे भारतीय संस्कृति अति उर्वर थी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन भारत मे स्त्रियों के सामाजिक स्थान तथा उनकी शिक्षा का संक्षिप्त विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९६४, १९७४)

२. "प्राचीन भारत मे स्त्रियो की स्थिति में निरन्तर अवनति हुई।" विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९६८, १९७८)

---

१ सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः॥ याज्ञ० स्मृति।

३. वैदिक काल मे स्त्रियो की दशा का विवेचनात्मक परीक्षण कीजिये ।

(पी० सी० एस० १६७१)

४. प्राचीन भारत मे स्त्रियो की स्थिति का समीक्षात्मक वृतान्त लिखिये ।

(पी० सी० एस० १६७५)

५. प्राचीन भारत मे 'सती प्रथा' की उत्पत्ति एवं विकास का विवेचन कीजिये ।

(पी० सी० एस० १६७६)

६. स्मृतियो के आधार पर स्त्रियो के सम्पत्ति अधिकारो की संक्षेप मे विवेचना कीजिये ।

(पी० सी० एस० १६७७)

७. प्राचीन भारत मे विधवाओ के जीवन का उल्लेख कीजिये ।

८. 'स्त्रीधन' की परिभाषा कीजिये तथा उसके सम्बन्ध मे स्त्रियो के सम्पत्ति अधिकार की विवेचना कीजिये ।

९ प्राचीन भारत मे परदे की प्रथा के प्रचलन की समीक्षात्मक विवेचना कीजिये ।

१०. प्राचीन भारत मे व्यभिचारो स्त्री तथा वैश्याओ की क्या स्थिति थी ?

११. स्त्रियो के अधिकारो तथा कर्त्तव्यों का संक्षेप मे उल्लेख कीजिये ।

१२. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(1) सती प्रथा तथा विधवाओ का जीवन ।

(ii) वैश्यावृत्ति तथा व्यभिचारी स्त्री ।

(iii) परदा प्रथा तथा स्त्रियो की स्वतन्त्रता ।

अध्याय इक्कीस

प्राचीन भारतीय शिक्षा

शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानोद्भव का आधार-तत्व शास्त्र और विवेक माना गया है।[1] ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य जीवन मे निपुणता प्राप्त करता है।[2] समाज मे दो प्रकार के लोग होते है, एक तो वे जो प्रत्येक कार्य को समझ अथवा ज्ञान से करते हैं, दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते है। जो कर्म समझ कर ज्ञान से किये जाते है वे ही कर्म शक्तिशाली तथा सफल होते हैं।[3] अतः शिक्षा तथा विद्या का महत्व स्वयं सिद्ध है।

समाज मे शिक्षा के महत्व को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता है। समाज का विकास और पतन शिक्षा की व्यवस्था के ही ऊपर आधारित रहता है। शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर ही सास्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति संभव है। भारतीय मनीषियो ने शिक्षा को, उसकी व्यापकता के अनुसार ही महत्व प्रदान किया था। उन्होने शिक्षा के व्यापक प्रभाव तथा महत्व को दृष्टि मे रख कर संपूर्ण जीवन को ही शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्धारित किया था, परन्तु इस सामान्य विधान के साथ-साथ, प्रथम आश्रम को विशेष रूप से शिक्षा का काल घोषित किया था। आश्रम व्यवस्था का सार इसी तथ्य मे निहित है कि एक आश्रम मे रह कर ही दूसरे आश्रम के उत्तरदायित्वो को पूरा करने की योग्यता प्राप्त की जा सकती है। यह कम केवल प्रथम और द्वितीय आश्रम तक ही नही रहता था, वरन इसकी परिसमाप्ति तृतीय आश्रम और चतुर्थ आश्रमो के उत्तरदायित्वो की पूर्ति की योग्यता प्राप्त कर उन उत्तरदायित्वो को पूर्ण कर "मोक्ष" प्राप्ति मे ही थी। संपूर्ण जीवन शिक्षा के लिए था तथा शिक्षा संपूर्ण जीवन के लिए थी।

शिक्षा का अर्थ

शिक्षा शब्द का व्योत्पत्तिक अर्थ लेने पर उपर्युक्त कथन स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा, अभ्यास, विशेष शक्ति और इच्छा विशेष तथा सहन शक्ति की इच्छा के अर्थ मे प्रयुक्त

---

१. विष्णु पु०, ६।५।६१, २. वही, १।१९।४१, ३. छादोग्य उपनिषद्, १।१।१०,

मानी गई थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा शब्द अनुशासन के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता था। अनुशासन के भी पुनः दो भाग थे, पहला बौद्धिक अथवा मानसिक अनुशासन और दूसरा शारीरिक अनुशासन। वस्तुत. शिक्षा अनुशासन का दूसरा नाम था। बौद्धिक और शारीरिक क्षेत्र मे आत्मनिरोध की शक्ति होना ही अनुशासन है, इस अनुशासन के उपरान्त ही उक्त क्षेत्रो मे विकास संभव है। शिक्षा अपने एक अर्थ मे इसी के महत्व को प्रतिपादित करती थी। पराकाष्ठा ये लिए शिक्षा के दोनो ही स्वरूप अपेक्षित है। मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने इन्ही दोनो अर्थ को लेकर शैक्षिक कार्यों के विषय मे उपदेश प्रदान किया था।

प्राचीन भारत मे शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारत मे शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण विकास करना था। यह विश्वास व्याप्त था कि मनुष्य का जीवन ज्ञान से ही धर्मप्रवण, नैतिक मूल्यो से युक्त, उच्च आदर्शो से संवलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है अतः धार्मिक वृत्तियो का उत्थान, चरित्र का उत्थान, व्यक्तित्व का उत्थान, सामाजिक उत्तरदायित्वो का निष्पादन और सास्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य स्वीकार किये गये। सामान्य रूप से प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यो को, प्राप्त प्रमाणो के आधार पर, निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) **आध्यात्मिक उत्थान**—प्राचीन भारत में आध्यात्मिक मूल्यो को सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इससे व्यक्ति का जीवन भक्ति-प्रवण और धर्म-प्रवण होता था। दैनंदिन क्रिया, संध्योपासन, व्रतो का अनुपालन; धर्मसमन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान मे योग देते थे। व्रतो के पालन से सयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भान होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है।[1] मनु के अनुसार शौच, पवित्रता आचार, स्नान-क्रिया आदि, अग्निकार्य और सध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था।[2] उसे धर्म के पालन मे प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था।[3]

आध्यात्मिक उत्थान धार्मिक कृत्यी से संभव माना जाता था। सामान्यत. विद्यार्थी के लिए सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्नान आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गए थे। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से सभी धर्मो का क्षय हो जाता है।[4] विद्यार्थी आध्यात्मिक जगत् के विषय मे जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्विक जीवन को और तप शील करता था। मनुष्य के जीवन मे तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन अनिवार्य माने गये।[5] क्योकि आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ इन्ही तत्वो से प्रेरित होती थी।

---

१. व्रताना पालनेनैव तद्गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिना नूनमात्मविश्वासकारणम्॥ रश्मिमाला, १०।२,

२ मनु०, २।६६, ३ धर्मं चर...धर्मान्न प्रमदितव्यम्।...तैत्तिरीय उपनिषद्, १।११

४. सर्वे धर्मा क्षयं यान्ति यदि सत्य न विद्यते। अमृतमथन, १५।४,

५ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा.। छान्दोग्य उ० ३।१७।४।

आध्यात्मिक उत्थान की प्राप्ति हेतु, शिक्षा काल मे ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशो का पालन करता था। अगर उसे किसी वात पर शंका होती थी तो वह उसका निवारण करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में शंकालु ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है, "यदि तुम्हें कभी अपने कर्त्तव्य अथवा सदाचार के विषय मे सन्देह उपस्थित हो, तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्त्तव्यपरायण कोमलस्वभाव के धर्मात्मा ब्राह्मण विद्वान् हों उनकी सेवा मे उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियो के प्रति, जिनपर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार मे तुम्हे ऊपर वताये गये गुणो से युक्त ब्राह्मण विद्वानो के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिये।"[1]

(२) **व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान**—आध्यात्मिक उत्थान के लिए चारित्रिक श्रेष्ठता एक आवश्यक दशा होती है। यथा, प्राचीन भारतीय शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य चरित्र का उत्थान था। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना वडा महत्व था कि केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।[2] चरित्र का उत्थान सत्कर्मों से माना गया था। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के गुण थे।

ब्रह्मचर्याश्रम मे ब्रह्मचारी का जीवन तप और नियमों मे संयोजित था। इसीलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता है और उसमे समस्त देवता अधिवास करते हैं।[3] समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतो का पालन करते हुये ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोको को समुन्नत करता था।[4] ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान् था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे।

चरित्र के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद, अथवा दूसरे शब्दो मे, ज्ञान को प्राप्त करना था।[5] तप ब्रह्मचर्य-जीवन का आवश्यक अंग था। शौच, पवित्रता, आचार, स्नान क्रिया, अग्निकार्य और सध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार-तत्व थे।[6]

---

१. अथ यदि से कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणः सर्क्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा स्यु. यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा पत्र वर्तेथा। अथाभ्याख्यातेपु। ये तत्र ब्राह्मण संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्यु, यथा से तेपु वर्तेरन्, तथा तेहु वर्तेथा.। तैत्तिरीय उपनिषद्, १।११,

२. सावित्रीमात्रसारोऽपि वर विप्रः सुयन्त्रित ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ।। मनु०, २।११८,

३. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्त्ति। तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु। अथर्ववेद, ११।५।२४,

४ ब्रह्मचारी समिधा मेखलया। श्रमेण लोकास्तपसा पिपत्ति। अथर्ववेद, ११।५।४,

५. अमृतमन्थन, ११४५।

६. उपनीय गुरु शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादित ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ।। मनु, २।६६

व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास—शिक्षा का तीसरा प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। इस विकास द्वारा ही व्यक्ति मे आत्म संयम, आत्म चिन्तन, आत्म विश्वास, आत्म विश्लेषण, विवेक भावना, न्यायप्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होना संभव था। कर्मों और उत्तरदायित्वो को आत्म-विश्वास पर ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसी विश्वास के कारण शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जव उपनयन संस्कार होता था उसी समय विद्यार्थी का आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति मे वृद्धि करे।[1] आत्मसयम से आत्म नियन्त्रण उत्पन्न होता है। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखो को दूर करता है जो *यथायोग्य* आहार-विहार करनेवाला, कर्मो मे यथायोग्य रत रहनेवाला और यथायोग्य सोनेवाला और जागनेवाला होता है।[2]

(४) **सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजगता का विकास**—शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वो के प्रति सदैव सजग रहता है। विद्यार्थी के समावर्तन के उपदेश मे इसका *स्पष्ट उल्लेख किया गया था, "सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय मे* प्रमाद न करना। आचार्य के दक्षिणा दे लेने पर सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न करना, सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ-कार्य मे प्रमाद न करना। महान् बनने के सुअवसर से न चूकना। पठन-पाठन के कर्त्तव्य मे प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) से प्रमाद न करना। माता को देवी समझना। पिता को देवता समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना दोप-रहित कार्यो को करना।[3] इस कथन से स्पष्ट है कि विद्यार्थी इन उत्तरदायित्वो को विद्यार्जन द्वारा निभाता था।

(५) **पवित्रता का महत्व**—प्राचीन शिक्षा मे रहन-रहन आचार-व्यवहार आदि का सम्यक् ज्ञान प्रदान करना प्राथमिकता रखता था। इसको इतना महत्व प्रदान करने का कारण सर्वप्रथम यह था कि विद्यार्थी रहन-सहन के सामान्य स्तर को पवित्रता आदि के प्रारभिक ज्ञान के द्वारा ही सीख सकता था। पवित्रता ही शुद्ध विचारो की जननी कही गई है अतएव उसे इसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही था। शौचाचार की शिक्षा केवल सैद्धान्तिक नही थी,। अपने प्रत्येक कार्य को उसे पवित्रता के साथ संपादित करना पडता था। उपनयन के पूर्व बालक यथेच्छाचारी के रूप मे शौचाचार आदि के विपय मे विशेप रूप से नियमित

---

१. अयं ते इध्म आत्मा जात वेद. तेन वर्द्धश्व चेद्धि वर्द्धवा चारमान्। भा० गृ० सू०, १।५
२ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नातबोधस्य योगी भवति दु खहा।। गीता, ६।१७
३. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्ययान्मा प्रमद। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवी भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यनि कर्माणि ताने सेवितव्यानि। तैत्तिरीय उपनिपद १।११

नही रहते थे परन्तु शिक्षा प्रारम्भ होते ही जीवन को एक नियमित गति मे रखकर नियंत्रित करना आवश्यक था। याज्ञवल्क्य ने इस विषय की अधिक विस्तार के साथ विवेचना की है।

(६) **गायत्री मन्त्र का महत्व**—वेद वेदांग के अध्ययन के पूर्व गायत्री मंत्र का उपदेश बालक को प्रदान किया जाता था। गायत्री मत्र एक प्रकार से ज्ञान की कुजी था। गायत्री मंत्र बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्माजी ने प्रत्येक वेद, से अ, उ म् (ओ) इन तीन अक्षरो को निकाला। सावित्री मत्र को भी ऋक्, यजु. तथा साम वेदो से ही ब्रह्मा जी ने निकाला, अतएव यह ओकार तथा भू भुव स्व ये ज्ञान के अग्रगामी अक्षर कहे जा सकते हैं, इसीलिए इनको ही सर्वप्रथम•मनन करने का विधान स्मृतिया प्रदान करती हे। इस ओकार और गायत्री मंत्र को साय प्रात अभ्यास करना अनिवार्य था। एक प्रकार से इस प्रक्रिया के द्वारा विद्यार्थी को धीरे-धीरे वेद(ज्ञान) की महत्ता बतलानी थी। प्रारम्भ में उसे केवल ओकार तथा भू' भुवः स्व. का ही उपदेश दिया जाता था जब वह इनका अभ्यास कर लेता था तब उसे इन चार अक्षरों की सारगर्भिता का परिचय कराया जाता था। गायत्री मंत्र सूर्य को प्रेरित करता है जिससे कि वह शिक्षार्थी के ज्ञानतंतुओ को जागृत करे। इसी कारण गायत्री मत्र को इतना अधिक महत्व दिया गया है। वेद संहिताओ मे भी गायत्री मंत्र का वर्णन उपलब्ध होता है; गायत्री की शक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये ही "ओम्" और व्याहृति (भू भुव. स्व) का प्रयोग गायत्री मंत्र के पहले हुआ है। इस तरह से केवल गायत्री मत्र के उपदेश और उसके अभ्यास के द्वारा ज्ञान भंडार की गहनता और दुरूहता का परिचय प्राप्त हो जाता था। किसी भी पाठ्यक्रम के प्रारम्भ करने से पूर्व यह आवश्यक था कि उक्त पाठ्य-विषय का सक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाय। इस दृष्टि से गायत्री मंत्र विद्यार्थी की।अंत चेतना को वेदाध्ययन की ओर उन्मुख करता था। अध्ययन के लिये अत्यन्त आवश्यक मानसिक एकाग्रता भी इसी गायत्री मंत्र और "ओकार" के अभ्यास से साध्य थी।

(७) **शारीरिक क्षमता के विकास का महत्व**—शारीरिक क्षमता की वृद्धि पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। शारीरिक शक्ति की प्राप्ति के लिये प्राणायाम का विधान था। प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करते समय उतनी देर तक प्राणायाम करना चाहिये जितनी देर पंद्रह अक्षरो के उच्चारण मे लगती थी।[१] इस प्रकार प्राणायाम के उपरान्त प्रणवोच्चारण (ओकार) किया जाता था। प्राणायाम तथा गायत्री को प्रारंभिक पाठ कहा जा सकता है। इसके महत्व को बतलाते हुये मनु कहते है कि यह एकाक्षर (ओ) ही परब्रह्मप्राप्ति का साधन होने से सर्वश्रेष्ठ है। प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नही है, गायत्री से श्रेष्ठ दूसरा मन्त्र नही है।[२]

प्राचीन भारतीय शिक्षा की विशेषताएँ

प्राचीन भारतीय इतिहास की भाँति भारतीय शिक्षा का क्रमिक इतिहास ई० पू० २२०० वर्षों से प्रारम्भ होता है तथा इसका काल १२०० ई० तक माना गया है। इस काल मे भारतीय

---

१. कुल्लूक भट्ट, मनु, २, ७५

२. एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति······।। मनु०—२।८३

संस्कृति के प्रत्येक पक्ष पर वेदो, उपनिषदो, पुराणो आदि के जीवन-दर्शन की छाप पड़ी। अत: इस काल की शिक्षापद्धति पर इसी जीवन-दर्शन का प्रभाव बना रहा। ऐसी परिस्थिति मे प्राचीन भारतीय शिक्षा की सर्वप्रथम विशेषता जीवन-दर्शन तथा शिक्षा के बीच समन्वय है। जैसा जीवन था वैसी शिक्षा पद्धति थी।

शिक्षा की दूसरी विशेपता धार्मिक दर्शन का प्राधान्य था। प्राचीन काल का भारतीय जीवन धार्मिक विचारो, कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानो से पूर्ण था। जीवन के प्रत्येक अंग मे धर्म को मुख्य स्थान प्राप्त था। अत शिक्षा के उद्देश्यो, उपकरणो एवं आदर्शो मे धार्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता थी।

तीसरी विशेपता प्राचीन भारतीय शिक्षा की आदर्शवादिता थी। आदर्शवादी परम विचारक होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा मे आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना ही प्रबल बनी रही तथा ब्राह्मण एवं वैदिक कालीन शिक्षा मे वैयक्तिक आदर्श-प्राप्तियो की ओर ही सकेत रहा। इस समय के शिक्षा-केन्द्रो की व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम मे भी आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया गया।

प्राचीन शिक्षा की चौथी विशेपता तत्कालीन शिक्षा की व्यवस्था है। शिक्षा को दर्शन समझा जाता था तथा छ वेदागों मे शिक्षा भी एक वेदाग थी। वैदिक काल मे धार्मिक अनुष्ठानो एवं दैनिक क्रियाओ का पालन करने के लिये विविध नियम थे। इन नियमो का अभ्यास एवं ज्ञान गुरु द्वारा प्रदान किया जाता था। गुरु का स्थान सर्वोपरि था एवं उसके बिना कोई भी शिक्षित अथवा ज्ञानी नही बन सकता था। शिष्यो के लिये कठोर नियमो की व्यवस्था थी तथा शिक्षा का समस्त क्रम गुरुकुल मे ही सम्पादित होता था। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पारस्परिक मान्यताओ पर आधारित थे जो जीवन-पर्यन्त निभाने पड़ते थे।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की पाँचवी विशेषता तत्कालीन शिक्षा का परिणाम थी। शिक्षा का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना था। ज्ञान-प्राप्ति की जाच के लिये एक परिस्थिति पैदा की जाती थी। इसमे शिष्य को स्वयं अपने ज्ञान एव गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान की उपलब्धि का बोध हो जाता था।

'ज्ञान-प्राप्ति की विधि' प्राचीन भारतीय शिक्षा की छठी विशेपता थी। शिक्षा की विधि का आधार जिज्ञासा थी। शिक्षा का कार्य शिष्य के हृदय मे उत्पन्न जिज्ञासा की तृप्ति करना था। इस प्रक्रिया द्वारा गूढ़ से गूढ तथा गुप्त से गुप्त प्रश्न का हल स्वयं ज्ञात हो जाता था। प्राचीन शिक्षा-विधि मे पुनरावृत्ति पर विशेष बल दिया जाता था। इससे प्राप्त ज्ञान चिर-स्थायी हो जाता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की सातवी विशेषता शिक्षा काल के निश्चितीकरण मे थी। ब्रह्मचर्य-काल शिक्षा प्राप्त करने का काल था। इसमे मन, वचन तथा कर्म द्वारा ब्रह्मचर्य के नियमो का कठोरतापूर्वक पालन करते हुये ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता था। इसके द्वारा स्वय के ऊपर मानसिक, शारीरिक एवं व्यावहारिक नियन्त्रण रखा जाता था जिससे अनुशासन पैदा होता था और शिष्य के अन्दर आत्मबल विकसित होता था।

प्राचीन भारतीय इतिहास मे जब बौद्ध धर्म का आगमन हुआ तो शिक्षा मे कतिपय नयी

परम्पराओ का जन्म हुआ। वैदिक काल में शिक्षा कार्य निःशुल्क था परन्तु बौद्ध-काल में शिक्षा का शुल्क निश्चित होने लगा था। शिक्षक के वेतन की परम्परा का भी जन्म हो गया था। इसके परिणाम स्वरूप शिक्षा के विस्तार पर भी प्रभाव पडा। पहले शिक्षा तथा धर्म का वडा गहरा सम्बन्ध था परन्तु बौद्ध धर्म ने धार्मिक मान्यताओ मे परिवर्तन करके शिक्षा-क्षेत्र मे सामाजिक तत्वो का प्रवेश कर दिया। सामाजिक दृष्टिकोण के कारण सारी शिक्षा व्यवस्था मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। शिक्षा अन्य सामाजिक उद्देश्यो को प्राप्त करने का ही प्रमुख साधन वन गयी। भारतीय शिक्षा के इतिहास मे यह समय बड़ा ही महत्वपूर्ण था तथा इस समय ऐसी परम्पराओ ने जन्म लिया जो आज भी चली आ रही है।

शिक्षा का प्रारम्भ

विद्यारम्भ अथवा शिक्षा के प्रारम्भ मे होने वाले संस्कारो यथा विद्यारम्भ और उपनयन सस्कार का उल्लेख संस्कारो के अन्तर्गत किया जा चुका है। प्राय· पाँच वर्ष की अवस्था से विद्या का आरम्भ माना जाता था। उपनयन-संस्कार के पूर्व विद्यारम्भ हो जाता था। अपरार्क और स्मृतिचन्द्रिका ने मार्कण्डेयपुराण को उद्धृत करते हुए सन्तान के विद्यारम्भ की अवस्था पाँच वर्ष निर्देशित की है।[1] विद्यारम्भ मे बालक गुरु की वन्दना करता और उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। संभवत· यह संस्कार प्रारंभ मे चौलकर्म के साथ सम्वद्ध था। कौटिल्य के उल्लेख से विदित होता है कि चौलकर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[2] चौलकर्म मे शिक्षा का रखा जाना वंशगत वैदिक ऋषियो से घनिष्ठता-स्थापन का परिचायक था। प्रारम्भिक शिक्षा मे छात्र को लिखने के लिए काली पटिया और खड़िया दी जाती थी। वह लम्बवत् पटिया पर बाएँ से दाएँ खडिया से लिखने का अभ्यास करता था।

उपनयन संस्कार के पश्चात् वालक की सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ होता था। शूद्रो के अतिरिक्त अन्य तीनो वर्णो के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। प्राय तीनो वर्णो के बालक अपने कुटुम्ब से दूर गुरु के यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे।

गुरु का महत्व

उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरु-गृह में शिक्षा ग्रहण करने का प्रावधान था। उपनिषदो मे 'गुरुकुल' के स्थान पर 'आचार्य-कुल' का प्रयोग किया गया है। 'कुल' शब्द अत्यन्त सार्थक और सारगर्भित था। शिष्य अपने माता-पिता के कुल से आचार्य-कुल मे जाकर आचार्य मे पितृ-बुद्धि और आचार्य-पत्नी मे मातृ-बुद्धि की भावना करता तथा पारिवारिक वातावरण का अनुभव करता था।

शिक्षक प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का प्रधान आधार था, जिसे कई सज्ञाएँ मिली थी, यथा आचार्य, गुरु, उपाध्याय। अध्यापन अथवा शिक्षण मौखिक ही होता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि पढने वाला गुरु की वाते उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार एक मेढक टर्राने मे

१· अपरार्क, पृ० ३०-३१; । स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० २६.

२ वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत। अर्थशास्त्र, १।२,

दूसरे मेढक की वाणी पकड़ता है ।[1] प्राचीन काल में बच्चो को आचार्य के पास भेजा जाता था, और यह एक परिपाटी-सी हो गयी थी । गुरु की स्थिति को बड़ी महत्ता दी गयी थी । सारा का सारा अध्यापन मौखिक था, और विद्यार्थी गुरु के पास ही रहता था, अत: गुरु का पद स्वभावत: उच्च एवं महान् हो गया था । छान्दोग्योपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् मे गुरु को ईश्वर के पद पर रखा गया है और परम श्रद्धास्पद माना है । आपस्तम्बधर्मसूत्र मे लिखा है—"शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को भगवान् की भाँति माने ।"[2] मनु एवं अन्य स्मृतियो मे आचार्य की महत्ता के विषय मे कुछ मतान्तर है । मनु के अनुसार जनक और गुरु दोनो पिता हैं, किन्तु वह जनक (आचार्य), जो पूत वेद का ज्ञान देता है, उस जनक (पिता) से महत्तर है, जो केवल शारीरिक जन्म देता है, क्योकि आध्यात्मिक विद्या मे जो जन्म होता है वह ब्राह्मण के लिए इहलोक तथा परलोक दोनो में अक्षुण्ण एवं अक्षय होता है । किन्तु एक स्थान पर मनु ने आचार्य को उपाध्याय से दस गुना, पिता को आचार्य से सौ गुना तथा माता को पिता से सहस्र गुनी उत्तम माना है ।[3] गौतम ने आचार्य को सभी गुरुओ मे श्रेष्ठ माना है । किन्तु अन्य लोगो ने माता को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है ।[4] याज्ञवल्क्य ने माता को आचार्य से श्रेष्ठ माना है ।[5] गौतम वसिष्ठ-धर्मसूत्र मनु एवं याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि जो ब्रह्मचारी का उपनयन करता है और उसे सम्पूर्ण वेद पढाता है वही आचार्य है । निरुक्त मे लिखा है कि आचार्य विद्यार्थी को सम्यक् आचार समझने को प्रेरित करता है, या उससे शुल्क एकत्र करता है, या शब्दो के अर्थ एकत्र करता है या बुद्धि का विकास करता है । आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार—"विद्यार्थी आचार्य से अपने कर्तव्य (आचार) एकत्र करता है, इसीलिए वह आचार्य कहलाता है ।[6] यद्यपि आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय शब्द समानार्थक रूप मे प्रयुक्त होते हैं, किन्तु प्राचीन लेखकों ने उनमे अन्तर देखा है । मनु के अनुसार जो व्यक्ति किसी विद्यार्थी को वेद का कोई एक अंग या वेदांग का कोई अंश पढ़ाता है और अपनी जीविका इस प्रकार चलाता है, वह उपाध्याय है, और गुरु वह है जो बच्चे का संस्कार करता है और पालन-पोषण करता है । अन्तिम परिभाषा से गुरु तो पिता ही ठहरता है ।[7] वसिष्ठधर्मसूत्र विष्णुधर्मसूत्र एवं याज्ञवल्क्य ने मनु के समान ही उपाध्याय की परिभाषा की है । याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु वही है जो संस्कार करता है और वेद पढाता है । स्पष्ट है, आरम्भ मे पिता ही अपने पुत्र को वेद पढाता था । वास्तव मे, 'गुरु' शब्द पुरुष या स्त्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए अधिकतर प्रयुक्त होता था ।[8] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार पिता, माता एवं आचार्य तीन गुरु है ।[9] मनु ने इन तीनो के लिए स्तुति-गान किये है । देवल के अनुसार पिता, माता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, पति (स्त्री के लिए) की गुरुओ मे गणना होती है ।

---

१ ऋग्वेद ७।१०३।५, अथर्व० ११।७।१; गो० ब्रा० २।१; अथर्व० ११।७।३, आप० धर्म० १।१।१।१६-१८; शत० ब्राह्मण ११।५।४।१२; अथर्व० ११।७।६ एवं शत० ब्रा० ११।५।४।१-१७

२. छान्दोग्य उपनिषद ४।९।३, श्वेताश्वतरोपनिषद ६।२३, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।६।१३

३. मनुस्मृति २।१४६ तथा २।१४५ ।

४. गौतम २।५६

५ याज्ञवल्क्य १।३५

६. आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।१।१४

७. मनुस्मृति २।१४१ तथा १४२

८, याज्ञवल्क्य १।३४

९. विष्णुधर्मसूत्र ३२।१-२

आचार्य के गुणो के विषय मे कहा गया है कि उसे ब्राह्मण, वेद मे एकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन शुचि, श्रोत्रिय होना चाहिए, अपनी शाखा में प्रवीण एवं अप्रमादी होना चाहिये। यह भी प्रावधान था कि आपत्काल में अर्थात् जब ब्राह्मण न मिले तब क्षत्रिय या वैश्य को आचार्य बनाना चाहिए, किन्तु विद्यार्थी ऐसे गुरु के चरण नही पखार सकता, और न उसकी देह मल सकता है।[1] मनु ने शुभा विद्या (प्रत्यक्ष लाभकारी ज्ञान) के लिए ब्राह्मण को शूद्र से भी सीखने के लिए छूट दी है।

अध्ययन कार्य के लिये प्रार्थना करने पर अस्वीकार करने की दशा मे आचार्य को विफल माना जाता था। प्रश्नोपनिषद के अनुसार जो गुरु अपना ज्ञान नही बाँटता वह सूख जाता है। आचार्य द्वारा वर्ष भर ठहराने के उपरान्त भी शिष्य को न पढ़ाने पर उसे (गुरु) पाप भुगतना पडता था। ऐसे आचार्य त्याज्य और निन्दनीय कहे गये है।

कालिदास ने अध्यापक के लिए कहा है कि वह विद्वान् ही नही होता बल्कि शिष्ट-क्रियायुक्त साधु प्रकृति वाला पटु शिक्षक होता है। आचार्य के लिये कहा गया था, "वह अपने व्यवहार में औचित्य और अनौचित्य का ध्यान रखते हुए, सत्य भाषण करते हुए, तप का पालन करते हुए, इन्द्रियो का सयम करते हुए, मन को शान्त रखते हुए, सतानोत्पत्ति, संतान-पालन आदि गृहस्थ-धर्म का निर्वाह करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे। सर्वदा तपश्चर्या में निरत पुरुशिष्ट के पुत्र तपस को ही परम ध्येय कहते है। मुद्गल के पुत्र नाक का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन को ही मुख्य कर्तव्य मानना चाहिए, क्योकि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुपालन ही वास्तविक तप है।"[2]

स्पष्ट है कि आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन मे निहित थी। किन्तु इसके साथ-साथ उसमे सत्याचरण, सत्यभाषण, कष्ट-सहिष्णुता, संयम और चित्त की एकाग्रता का होना भी अनिवार्य था। अथर्ववेद मे उसके लिऐ कहा गया है कि वह पढने की दीक्षा लेने आए ब्रह्मचारी को गर्भ मे धारण करता है। अर्थात् जिस प्रकार माता अपने शिशु को गर्भ मे धारण कर लेने के बाद अपने आहार में से चाहकर भी आहार घटाकर शिशु को नही दे सकती, उसी प्रकार आचार्य भी अपने नवजात शिक्षार्थी को ज्ञानगर्भ के किसी भी ज्ञान से निराश नही कर सकता।[3]

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

प्राचीन भारत मे गुरु और शिष्य का आदर्शात्मक सम्बन्ध था। दोनो का सम्बन्ध पिता-पुत्र-सा था। यह कहा गया था कि शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य को पितृतुल्य और मातृतुल्य माने तथा किसी भी अवस्था मे उसके प्रति द्रोह न करे।[4] आचार्य की देवतुल्य और उच्चस्थ प्रतिष्ठा का संदर्भ महाभारत से भी मिलता है।[5] मनुस्मृति मे यह उल्लिखित है कि

---

१. आप० ध० सू० २।२।४।२५-२८; गौतम० ७।१-३; बौ० ध० सू० १।२।४०-४२ एव मनु २।२४१।

२, तैत्तिरीय उपनिषद्, १।९।१।

३. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त। अथर्ववेद, ११।५।३,

४. 'तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह। निरुक्त, २।४।

५. महाभारत, उद्योगपर्व ४४।६।२०।

विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मै तुम्हारा कोष हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरी निन्दा करने वालों के लिए मुझे मत दो, इससे मै अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी। जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो, उसे मुझे पढाओ। मनु के अनुसार द्विज बालक के दो जन्म होते हैं। इसीसे उसे 'द्विज' कहा जाता है। पहला जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन संस्कार से। द्वितीय जन्म ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है और इस द्वितीय जन्म में उसकी माता गायत्री (मन्त्र) होती है और पिता आचार्य होता है।[१]

कालिदास ने गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को 'गुरुप्रियम्' कहा है।[२] दशकुमारचरित् मे गुरु की प्रशंसा की गई है तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है। ईत्सिग ने लिखा है, "शिष्य गुरु के पास रात्रि के पहले और अन्तिम पहर मे जाता है, उसके शरीर की मालिश करता है, वस्त्र आदि संभालकर रखता है, यदा-कदा गुरु के आवास और आँगन मे झाड़ू लगाता है। फिर जल छानकर उसे पीने के लिए देता है। अपने मे वडे के प्रति आदर इसी प्रकार प्रदर्शित किया जाता है। पूर्वमध्ययुगीन साहित्य से भी यह विदित होता है कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था। शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह गुरु की दिन-रात सेवा करे और गुरु का यह कर्तव्य था कि वह स्नेहपूर्वक शिष्य से पुत्रवत् प्रेम करे तथा उसकी समस्त जिज्ञासाओ का समाधन करे। किसी भी अध्यापक को यह उचित नही था कि वह किसी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखता, वल्कि वह शिष्य को अनेकानेक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देता था।[३]

शिष्य की योग्यता तथा गुण

शिष्य अथवा विद्यार्थी के लिये विद्यार्जन के प्रति निष्ठावान तथा जिज्ञासु होना आवश्यक था। गुरु उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति और कर्तव्य-बुद्धि की जानकारी रखता था। प्रतिभावान और सुयोग्य शिष्य को चुनना गुरु की कुशलता का द्योतक था।[४] यह गुरु की विशेप कुशलता होती थी जब वह मन्दबुद्धि छात्र के मस्तिष्क मे ज्ञान का मंत्र फूंक सकने मे समर्थ होता था। आचार्य अपने शिष्य के विपय मे जब पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता था और सन्तुष्ट हो जाता था तब उसे अपना शिष्य स्वीकार करके शिक्षा प्रदान करता था।

शिष्यो के गुणो के विपय मे निरुक्त द्वारा उद्धृत विद्यासूक्त मे आया है कि जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखे, कुटिल एवं असंयमी हो, ऐसे शिष्य को विद्या-ज्ञान नही देना चाहिए, किन्तु जो पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी, गुरु के प्रति सत्यव्रती हो तथा जो अपनी विद्या की रक्षा धन-कोप की भाँति करे उसे शिक्षा देनी चाहिये।[५] मनु के अनुसार १० प्रकार के व्यक्ति शिक्षण प्राप्त करने योग्य है—गुरु-पुत्र, गुरुसेवी शिष्य, जो बदले मे ज्ञान दे सके, धर्मज्ञानी या जो मन-देह से पवित्र हो, सत्यवादी, जो अध्ययन करने एवं धारण करने मे समर्थ हो, जो शिक्षण के लिए धन दे सके, जो व्यवस्थित मन का हो और जो निकट-सम्बन्धी हो।[६] याज्ञवल्क्य ने इन

---

१. मनु०, २।११४-१५ तथा २।१६९-१७०। २. रघुवंश, ३।२९।
३. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी काड, १९९-२०१, २१०-२२७, २४०-४३।
४. मालविकाग्निमित्र, पृ० १६, तथा २।६।
५. निरुक्त २।४ ६. मनस्मृति २।१०९ तथा ११२

योग्यताओं के साथ कुछ और गुण भी जोडे हैं, यथा कृतज्ञ, गुरु से घृणा न करने वाला या गुरु के प्रति असत्य न होने वाला, स्वस्थ तथा व्यर्थ का छिद्रान्वेषण न करने वाला।[१] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी को सदा अपने गुरु पर आश्रित एव उनके नियन्त्रण के भीतर रहना चाहिए, उसे गुरु को छोड किसी अन्य के पास नही रहना चाहिये।[२] बहुत प्राचीन काल से ही यह बात प्रचलित सी रही है कि विद्यार्थी गुरु के पशुओ को चराये, भिक्षा मागे और गुरु को उसको जानकारी करा दे, गुरु की पवित्र अग्नि की रक्षा करे तथा गुरु-कार्य के सम्पादन के उपरान्त जो समय मिले उसे वेदाध्ययन मे लगाये।

गौतम के अनुसार शिष्य को असत्य भाषण नही करना चाहिए, प्रति दिन स्नान करना चाहिए, सूर्य की ओर नही देखना चाहिए तथा मधु-सेवन, मास, इत्र (गंध), पुष्प-सेवन, दिन-शयन, तेल-मर्दन, अंजन, यानयात्रा, उपानह (जूता आदि) पहनना, छाता लगाना, प्रेम-व्यवहार, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ विवाद, वाद्ययन्त्र-वादन, गर्म जल मे आनन्ददायक स्नान, वडी सावधानी से दाँत स्वच्छ करना, मन की उल्लासपूर्ण स्थिति, नाच, गान, दूसरो की भर्त्सना, भयावह स्नान, नारी को घूरना या युवा नारियो को छूना, जुआ, क्षुद्र पुरुष की सेवा (नीच कार्य करना), पशु-हनन, अश्लील बातचीत, आसव-सेवन आदि से दूर रहना चाहिए।[3] मनु के अनुसार उसे खाट या चौकी पर नही सोना चाहिए एव पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, स्वप्नदोष हो जाने पर उसे स्नान करना चाहिए, सूर्य की पूजा करनी चाहिए तथा "पुनर्माम्०" मन्त्र का तीन वार उच्चारण करना चाहिए।[४] आपस्तम्बधर्म सूत्र के अनुसार विद्यार्थी को साधारणतया गर्म जल से अंग नही धोने चाहिए, यदि अंग गन्दे एवं अपवित्र हो तो उन्हे गुरु से छिपाकर गर्म जल से धो लेना चाहिए; विद्यार्थी को क्रीडापूर्वक स्नान नही करना चाहिए, वल्कि पानी मे डण्डे के समान गतिहीन स्नान करना चाहिए, स्त्रियो से तभी बात करे जब कि अत्यावश्यक हो। विद्यार्थी को हँसना नही चाहिए, यदि वह अपने को रोक न सके तो उसे मुख को हाथो से बन्द करके हँसना चाहिए।[५]

गौतम एव बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार शिष्य को गुरु के साथ जाना चाहिए, उसे स्नान करने मे सहायता देनी चाहिए, उसके शरीर को दवाना चाहिए और उसका उच्छिष्ट खाना चाहिए, उसे गुरु को प्रसन्न करने वाले कार्य करने चाहिए, गुरु के बुलाने पर पढना चाहिए, उसे कपडे के टुकडे से अपना कण्ठ नही ढकना चाहिए, अपने पैरो को आगे कर गुरु के समीप नही बैठना चाहिए, अपने पाँव नही फैलाने चाहिए, जोर से गला नही स्वच्छ करना चाहिए, जोर से हँसना, जँभाई लेना, अँगुली चटकाना नही चाहिए, बुलाने पर तुरन्त आना चाहिए, भले ही बहुत दूर बैठा हो, गुरु से नीचे के आसन पर बैठना चाहिए, गुरु के सो जाने के उपरान्त सोना एवं उनके जगने के पहले जगना चाहिए। शिष्य को अपने गुरु की चाल-ढाल, वाणी एवं क्रियाओ की विदूषी नकल नही करनी चाहिये। मनु ने यह भी लिखा है कि शिष्य को अपने गुरु के विरोध में कहे जाते हुए शब्द नही सुनने चाहिए।

ऋग्वेद मे कई शिखाओ वाले बच्चो के बारे मे उल्लेख मिलते है। गौतम एवं मनु के

---

१. याज्ञवल्क्य १।२८   २. आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।२।१९

३ गौतम २।१३,१४,१८,१९,२२,२३,२५।

४. मनुस्मृति २।१८०, १८१, १९५   ५. आपस्तम्बधर्म सूत्र १।१।२।२८-३०

अनुसार ब्रह्मचारी का सिर मुड़ा रहना चाहिए, या जटाबद्ध रहना चाहिए या शिखा बिना पूरा घुटा रहना चाहिए। जनमार्ग पर चलते समय शिखा खोलने की मनाही थी।

अभिवादन तीन प्रकार का होता था। नित्य (प्रति दिन के लिए आवश्यक), नैमित्तिक (विशिष्ट अवसरो पर ही करने योग्य) एवं काम्य (किसी विशिष्ट काम या अभिकाक्षा से प्रेरित होने पर किया जाने वाला)। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार है—"प्रति दिन विद्यार्थी को रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उठना चाहिए और गुरु के सन्निकट खडे होकर यह कहना चाहिए कि 'यह मैं... प्रणाम करता हूँ', उसे अन्य गुरुजनो एवं विद्वान् ब्राह्मणो को प्रातः भोजन के पूर्व प्रणाम करना चाहिए"। नैमित्तिक अभिवादन कभी-कभी होता था यथा किसी यात्रा के उपरान्त। लम्बी आयु की आशा से, कल्याण के लिए कोई भी गुरुजनो को प्रणाम कर सकता था। मनु ने लिखा है कि जो ज्येष्ठ एवं श्रद्धास्पदों को प्रणाम करता है वह दीर्घ आयु, ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त करता है। गुरु के आश्रम मे शिक्षा प्राप्त करते हुये विद्यार्थी के साथ समानता का व्यवहार होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य कुलोत्पन्न द्विजाति बालक समान रूप से अपनी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर को दूर रख कर अध्ययन करते थे। उनमे वर्णानुकूल अन्तर प्रथम आश्रम की परिसमाप्ति के उपरान्त ही आता था। इसके अतिरिक्त गुरु के आश्रम मे विद्यार्थियो के मध्य मे धनी और निर्धन की भावना के लिए भी स्थान नही था। सभी ब्रह्मचारियो को चाहे वे राजकुल मे उत्पन्न हो अथवा अत्यन्त निर्धन कुल मे उत्पन्न हों, समान रूप से अध्यवसायी होना पड़ता था। विद्यार्थियो के सादे और व्रतपूर्ण जीवन मे धन की आवश्यकता नही थी, यदि उन विद्यार्थियो के लिए किसी प्रकार के द्रव्य की आवश्यकता पड़ती भी थी तो वह किसी एक विद्यार्थी के लिए नही वरन् वह आवश्यकता गुरु तथा विद्यार्थी समूह के लिये होती थी, और इसका उत्तरदायित्व सम्बन्धित अभिभावको पर नही रहता था, समाज सामूहिक रूप से उसका उत्तरदायित्व रखता था। शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य रूप से करना पडता था। मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारो के अनुसार ब्रह्मचारियो को मधु, मास आदि जिह्वा को अच्छे लगने वाले पदार्थों का परित्याग करना पड़ता था। इंद्रिय निग्रह के लिए ब्रह्मचारी अशलीलता आदि से सर्वथा दूर रहता था। मृदु स्वभाव तथा पर दुख-कातरता की अभिवृद्धि आदि के लिए उसे प्राणिवध से सर्वथा दूर रह कर अहिंसा व्रत का पालन करना पडता था। ब्रह्मचारी की वेशभूपा मृगचर्म, यज्ञोपवीत मेखला (कमर मे बाधी जाने वाली रस्सी) तथा पलाश (वृक्ष विशेप) दण्ड मात्र ही थी। उन्हे भावी जीवन मे कष्टसहिष्णु बनने के लिए यह आवश्यक था कि प्रथम आश्रम मे रहकर वे हर प्रकार की परिस्थितियो का सामना करना सीख लें। भिक्षावृत्ति के लिए यह आदेश था कि वे अपने संबधियो के कुल मे, अपने गुरु के कुल मे तथा अपनी जाति वालो के यहाँ न माँगे।[1] इसके अतिरिक्त नास्तिक, वेद-निन्दक, महापातकियो, अपने कुल तथा अपनी जाति मे भिक्षा माँगने का निपेध था। यह विधान विद्यार्थी को कष्टसहिष्णु बनाने के लिए ही था। भिक्षा की इतिवृत्ति केवल माँगने ही मे नही थी। यदि ब्रह्मचारी शारीरिक अस्वस्थता के न रहने पर सात दिन तक भिक्षाचरण, अग्निहोत्र आदि न करे तो उसे अवकीर्णि नामक व्रत करना पडता था। इसके अतिरिक्त उसे एक ही घर से पूर्ण भिक्षा ग्रहण करने का भी निषेध था। भिक्षा मे भी अधिक मात्रा मे लाकर सचित करने का निपेध

---

१. मनुस्मृति २।१८४।

था, उसे प्रति दिन ही भिक्षा माँग कर लाना होता था। यदि वह भिक्षा नही माँगता था तो भोजन करने का निषेध था। ब्रह्मचारी के इस प्रकार के जीवन को देख कर किसी एक कवि की उक्ति सुखार्थियो (सुख की आकाक्षा रखने वाले) को विद्या कहाँ तथा विद्यार्थियो को सुख कहाँ, चरितार्थ होती हुई प्रतीत होती है।'[1]

शरीर दण्ड

व्रती ब्रह्मचारी को पढाने मे गुरु को अधिक प्रयास करने की आवश्यकता नही पड़ती थी। वे स्वयं ही स्वाभाविक रूप अनुशासन का से पालन करते थे। परन्तु विद्यार्थी से भी त्रुटि हो सकती थी। मनु ने ऐसी त्रुटियो के लिए बहुत ही उदार दण्ड विधान किया है। मनु ऐसे अपराध करने वाले शिष्यो के लिए मधुर वाणी के प्रयोग की सराहना करते है। यदि इस प्रकार मधुर-वाणी से समझाये जाने पर भी कोई नही समझता था तो फिर अनुशासन के लिए रस्सी अथवा पतली बाँस की छडी से केवल पीठ पर ही मारने की अनुज्ञा देते है।[2]

गौतम ने लिखा है कि साधारणतः बिना मारे-पीटे शिष्यो को व्यवस्थित करना चाहिए, किन्तु यदि शब्दो का प्रभाव न पडे तो पतली रस्सी या बाँस की फट्टी (चीरी हुई पतली टुकड़ी) से मारना चाहिए, किन्तु यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकार (हाथ इत्यादि) से मारे तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।[3] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार शब्दो द्वारा भर्त्सना करनी चाहिए और अपराध की गुरुता के अनुसार निम्न दण्ड मे से कोई या कई दिये जा सकते हैं; धमकाना, भोजन न देना, शीतल जल मे स्नान कराना, सामने न आने देना।[4] महाभाष्य ने अनुदात्त को उदात्त ओर उदात्त को अनुदात्त कहने पर उपाध्याय द्वारा चपेटा (सम्भवतः पीठ पर) मारने की ओर सकेत किया है। नियम-विरुद्ध जाने पर शिक्षक को वही दण्ड मिलता था जो किसी चोर को मिलता था।[5] मनु ने लिखा हे कि चरित्र-सम्बन्धी सन्मार्ग में चलने की शिक्षा देते समय मधुर शब्दो का प्रयोग करना चाहिए।[6]

अतएव व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक होता था कि विद्यार्थियो के लिए प्रयुक्त होने वाला दंड विधान मनोवैज्ञानिकता पर आधारित हो। शरीर दंड विधान इसी कोटि मे आता था। विद्यार्थी के लिए इस प्रकार का दड विधान नही था जिससे वह अन्य विद्यार्थियो के लिए एक उदाहरण बन जाय वरन् यह दंड विधान उस विद्यार्थी के सुधार की दृष्टि मे रख कर ही किया गया था। यह पद्धति मनोवैज्ञानिकता का परिचय देती है।

गुरुकुलों का महत्व

गुरुकुल पद्धति मे शिष्य को गुरु के सम्पर्क मे आने और उसका अनुकरण करने का सुयोग और अवसर प्राप्त होता था। श्रेष्ठ और योग्य गुरुओ के आदर्श जीवन का सम्पर्क शिष्यो पर उत्तम प्रभाव डालता था। गुरुकुल का पुनीत वातावरण भी विद्यार्थी के

---

१. सुखार्थिन कुतो विद्या। कुतो विद्यार्थिन. सुखम्।

२. मनु० २, १५६; २९९।

३. गौतक २।४८-५०   ४. अपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।८।२९-३०।

५. मनुस्मृति ८।३००।   ६. मनुस्मृति १।१५९,

चरित्र और स्वभाव के निर्माण मे सहायक होता था। गुरुकुलों मे विद्यार्थी के ऊपर कुटुम्ब अथवा परिवार के सभी तत्व प्रभाव डालते थे।

प्राय: गुरुकुलो के विषय मे लोगो मे ऐसी धारणा है कि वे वनों मे स्थित होते थे। यह सत्य है कि वनो का शान्त वातावरण शिक्षा प्राप्त करने के लिए अच्छा होता था और वाल्मीकि और कण्व जैसे प्रसिद्ध मुनियो के आश्रम वनो मे ही थे किन्तु सभी गुरुकुल तपोवनो मे ही नही थे। गुरुकुलो की अधिक सख्या नगरो और ग्रामो के समीप मे ही थी। शिक्षक गृहस्थ होते थे और इसलिए गुरुकुलो का शहरो और गाँवो मे होना ठीक भी था। यह अवश्य था कि गुरुकुल किसी उपवन या दूसरे शान्त स्थान पर ही थे।

सामूहिक शिक्षा-व्यवस्था—प्राचीन भारत मे साधारणतया वैयक्तिक शिक्षा का चलन था। किसी आचार्य की प्रतिष्ठा सुनकर विद्यार्थी उससे शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। इस प्रकार से एक गुरु के पास १५ या २० से अधिक छात्र नही होते थे। उस समय आधुनिक विद्यालयो जैसी संगठित सस्थाओ की व्यवस्था नही थी। किन्तु कुछ स्थानो पर कई प्रसिद्ध शिक्षको के रहने के कारण वे स्थान शिक्षा के केन्द्रो के रूप मे प्रतिष्ठा पाते थे। ऐसी प्रसिद्धि के पीछे कई कारण होते थे। कुछ नगर तो राजधानी के कारण प्रसिद्ध विद्वानो के लिए आकर्षण बने रहते थे जहाँ उन्हे राजदरबार का सरक्षण और आश्रय मिल सकता था। तीर्थों मे भी विद्वानो और पडितो के एकत्रित होने के लिए सुविधायें थी। कुछ व्यापारिक नगर भी अपने वैभव के कारण शिक्षा के केन्द्र के रूप मे विकसित हुए। इस प्रकार के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रो मे तक्षशिला, वाराणसी धारा, उज्जयिनी, कल्याण और कन्नौज के नाम उदाहरणार्थ दिये जा सकते है।

प्राचीन भारत मे यदि शिक्षा की दृष्टि से कुछ व्यवस्था या सगठन था तो वह अग्रहारों मे मिलता है। कुछ पुनीत और विशेष अवसरो पर राजा विद्वान ब्राह्मणो को आमंत्रित कर उन्हें ग्रामो में बसा देते थे और उनके निर्वाह के लिए उन ग्रामो के राज्यकर का दान कर देते थे। ऐसे ग्रामो को अग्रहार कहते थे। इनमे रहने वाले ब्राह्मण अपने निजी धार्मिक कृत्यो के साथ-साथ शिक्षण का कार्य भी करते थे। प्राचीन काल के अनेक दानपत्रो मे उस समय के कई अग्रहारो के नाम मिलते है। ये देश के प्रत्येक भाग मे फैले हुए थे। इनमे काडिपुर और सर्वज्ञपुर के अग्रहार अधिक प्रसिद्ध थे। बौद्ध विहारो के अनुकरण पर आगे चलकर हिन्दू मन्दिरो ने भी सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था प्रारम्भ की।

शिक्षण शुल्क

शिक्षा के लिये कोई शुल्क निर्धारित नही था। परम्परा से भी ब्राह्मण शिक्षा प्रदान करने का कोई शुल्क नही लेता था। प्राय. सभी शास्त्रकारो ने शुल्क प्राप्त करके शिक्षा देने वाले आचार्य की प्रशसा नही की है। शिष्यो द्वारा भिक्षाटन मे लाया गया अन्न तथा दान-दक्षिणा मे प्राप्त धन ही आचार्य की आय थी। ब्राह्मण अत्यन्त सतोषी प्रकृति का होता था, इसीलिए वह प्राय. धन की माँग नही किया करता था। वह नि.संकोच भाव से विद्यार्थियो को निःशुल्क ज्ञानार्जन कराता था।

जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गोएँ, एक हाथी एवं एक बैल (शंकर के मता-

नुसार हाथी के समान बैल) देना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढाये शिष्य से कोई पुरस्कार नही लेना चाहिए।"[१] गौतम के अनुसार विद्या के अन्त मे शिष्य को गुरु से धन लेने या जो कुछ वह दे सके, लेने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जब गुरु आज्ञापित कर दे या बिना कुछ लिये जाने को कह दे तब शिष्य को स्नान करना चाहिए। (अर्थात् घर लौटना चाहिए)।[२] आपस्तम्बधर्मसूत्र मे लिखा है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त मे गुरुदक्षिणा देनी चाहिए, यदि गुरु तंगी मे हो तो उग्र या शूद्र से भी भिक्षा माँग कर उसकी सहायता करनी चाहिए; ऐसा करके शिष्य को घमण्ड नही करना चाहिए, और न इसका स्मरण रखना चाहिए।[3] वास्तव मे, शिष्य जो कुछ ज्ञान ग्रहण करता था, उसका प्रतिकार नही हो सकता था। मनु के अनुसार शिष्य 'स्नान' के पूर्व कुछ नही भी दे सकता है, घर लौटते समय वह गुरु को कुछ धन दे सकता है; भूमि, सोना, गाय, अश्व, जूते, छाता, आसन, अन्न साग-सब्जी, वस्त्र का अलग-अलग या एक साथ ही दान किया जा सकता है।[४] स्मृतियो के अनुसार यदि गुरु एक अक्षर भी पढा दे तो इस ऋण से उऋण होना असम्भव है। महाभारत के अनुसार शिष्य के कार्यों एव व्यवहार से प्रसन्नता प्राप्त ही वास्तविक गुरु-दक्षिणा है।

धन के लिए पढ़ाने एवं वेतनभोगी गुरु से पढ़ने को उपपानकों मे गिन जाता था। भृतकाध्यापक एवं उनके शिष्य श्राद्ध मे बुलाये जाने योग्य नही माने जाते थे। किन्तु शिष्य से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरु भृतकाध्यापक नही कहा जाता था, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढ़ाने की व्यवस्था की गयी थी। महाभारत मे आया है कि भीष्म ने पाण्डवो एवं कौरवो की शिक्षा के लिए द्रोण को धन एव सुसज्जित आवस-गृह दिया, किन्तु कोई निर्दिष्ट धन नही।

विद्वान् लोगो एवं विद्यार्थियों की जीविका का प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य था। राज्य मे कोई ब्राह्मण भूख से न मरे, यह देखना राज्यधर्म था। यदि गुरु विद्या के अन्त मे शिष्य से अधिक धन माँगे तो शिष्य सिद्धान्तः राजा के पास पहुँच सकता था।

अध्ययन के विषय

प्राचीन काल मे छात्रों को अनेक विषयो की शिक्षा दी जाती थी। विद्या के अध्ययन मे पहले तीन वेदो (त्रयी) को समाविष्ट किया गया था और बाद मे अथर्ववेद को जोड़कर चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) पूर्ण किये गए थे। वेद से ही सभी ज्ञान का नि.सरण हुआ माना जाता था। वेदाध्ययन का तात्पर्य मन्त्रो तथा विशिष्ट शाखा या शाखाओं के ब्राह्मण-भाग का अध्ययन था। वेदो को शाश्वत एवं अपौरुषेय माना जाता था। वेदो के अनादित्व एवं अपौरुपेयत्व को कई ढग से समझाया जाता था। पाणिनि ने लिखा है कि यद्यपि वेद का अर्थ शाश्वत हे, किन्तु शब्दो का प्रबन्ध अशाश्वत है और इसीलिए वेद की विभिन्न शाखाएँ पायी जाती है, यथा काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक आदि।

प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। शतपथ ब्राह्मण मे

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद ४।१।२। २. गौतम २।५४-५५।
३. आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।७।१६-२३। ४. मनु० २।२४५-२४६।

स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋचाओं, यजुओं, सामों, अथर्वांगिरसों (अथर्ववेद), इतिहास-पुराण, गाथाओं को गिना गया है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार इस प्रकार से सभी वेद कल्प, रहस्य, ब्राह्मणो, उपनिषदो, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन, वाकोवाक्य आदि के साथ उत्पन्न किये गये। उपनिषदो में प्रायः आता है कि ब्रह्मज्ञान की खोज मे आने के पूर्व लोग बहुत कुछ पढकर आते थे। छान्दोग्योपनिषद् मे नारद सनत्कुमार से कहते है कि उन्होने (नारद ने) चारो वेदो, पांचवें वेद के रूप मे इतिहास-पुराण, वेदो के वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि (अंक गणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथपोपकथन या हेतुविद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि-विद्या), भूत-विद्या (भूत-प्रेत को दूर करने की विद्या), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान, अभ्यंजन आदि) सीख ली थी। गौतम ने प्रजा को सँभालने के लिए वेद, धर्म-अगो, उपवेदो एवं पुराणो पर आश्रित रहने के लिए राजा को आदेशित किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति, मत्स्य, वायु पुराण, वृद्ध-गौतम आदि मे भी १४ विद्याओ का नाम लिया गया है यथा—४ वेद, ६ वेदाग, पुराण, न्याय, मीमासा एवं धर्मशास्त्र। वायुपुराण, गरुड-पुराण एव विष्णुपुराण मे ४ विद्याएँ और जोडकर १८ विद्याओ की चर्चा की गयी है, यथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र नामक ४ उपवेद। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कहा है कि विद्या-स्थान, जो धर्म की जानकारी के लिए प्रामाणिक माने जाते है, १४ या १८ हैं।

वात्स्यायन ने ६४ विद्याओं का उल्लेख किया है।[१] नारद ने सनत्कुनार से कहा था, "मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है। इतिहास-पुराण-रूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या (नृत्य-संगीत) आदि जानता हूँ।[२]" आतमा से सम्बन्धित विद्या आत्म विद्या कही जाती थी। बौद्धयुग मे वेद, वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद्; अर्थशास्त्र, शिल्प, वार्ता, दर्शन, धर्म आदि प्रमुख विषय थे। कौटिल्य ने भी आन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन) त्रयी (तीन वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और उनके ब्राह्मणादि), वार्ता (कृषि, पशु-पालन, चारा.भूमि, वाणिज्य-व्यापार) और दंडनीति (राजशास्त्र और शासन) का उल्लेख किया है। कालिदास ने चौदह विद्याओं का उल्लेख किया है—सागोपाग वेद (चारो वेद और छहो वेदांग), मीमासा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।

अलबरूनी ने चारो वेदो, अठारह पुराणो, बीस स्मृतियां, रामायण, महाभारत, गौडकृत ग्रंथ, पंतजलि-कृत ग्रन्थ, कपिल-कृत न्याय भाषा, जैमिनिकृत मीमांसा, बृहस्पति-कृत लोकायत, अगस्त्य-कृत, अगस्त्यमत, शर्ववर्मन-कृत उग्रभूति-कृत शिष्यहितावृत्ति, पुलिश का गणित-विषयक सिद्धान्त, वराहमिहिर आर्यभट्ट, आदि के विभिन्न विषयगत मतो और ग्रथो का उल्लेख किया है।

---

१. कामसूत्र, १।३, १।१५।

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदाना वेद पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। छां० उ०, ७।१।

शिक्षाप्रणाली

प्राचीन भारत मे मौखिक शिक्षा का ही चलन था। लिखने के लिए भोजपत्रों का प्रयोग किया जाता था। लिखने की सस्ती सामग्री के अभाव मे पाठ्य-पुस्तकें अधिक संख्या मे प्राप्य नही थी। फिर प्रारम्भ मे आर्यों ने वेदो को लिपिबद्ध नहीं किया। उन्हें आशंका थी कि प्रतिलिपि बनाने वालो की असावधानी से उनमे दोषो का प्रवेश होगा और पुस्तक-रूप मे होने से अपवित्र लोग भी उनका स्पर्श करेंगे। इसीलिए वेदो की शिक्षा मौखिक दी जाती थी। इसी विधि का प्रयोग दूसरी पुस्तकों और विद्याओं की शिक्षा में भी हुआ। पहले पाठ्य-सामग्री के कुछ अंश को गुरु पढकर शिष्यों को समझा देते थे। शिष्य वाद मे उन्हे याद करता था। विद्यार्थी को अपना कुछ समय पिछले पाठ को दुहराने मे लगाना पड़ता था। पाठ्यसामग्री को याद करने के कार्य को सुगम बनाने के लिए ग्रन्थों की रचना पद्य के रूप मे की जाती थी। शिक्षा का आदर्श भलीभाँति पाठ्य-सामग्री को समझ कर याद करना था।

इस प्रकार से शिक्षा देने की व्यवस्था मे सबसे बड़ा गुण यह था कि गुरु प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दे सकता था। अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी की निजी आवश्यकताओ और कठिनाइयो को समझता था और प्रत्येक के निजी मानसिक विकास के अनुसार ही उसे शिक्षा देता था। अध्यापक हर एक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाता था, उसके पाठ को सुन कर, अशुद्धियो को दूर कर उसे आगे का पाठ देता था।

प्राचीन काल मे शिक्षा प्रधानरूप से वार्तालाप और प्रश्नोत्तर की प्रणाली से भी दी जाती थी। जो बातें शिष्य की समझ मे नही आती थी उन पर वह गुरु से प्रश्न करता था, वाद-विवाद करता था। इस प्रणाली का यह लाभ था कि विद्यार्थी का मस्तिष्क सतत् जागरूक रहता था। वह पूरे मनोयोग से पाठ को समझने का प्रयत्न करता था। गुरु भी शिष्य के प्रश्नो से यह समझ जाता था कि उसने कितनी बाते ग्रहण की है। गीता मे भी ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपायों मे भगवान् कृष्ण ने परिप्रश्न को गिनाया है। वार्तालाप की पद्धति का ही आश्रय लेकर उपनिषद्कारों और गौतम बुद्ध ने दर्शन के जटिल तत्वो की शिक्षा दी है।

परीक्षा और उपाधियाँ

प्राचीन भारत मे गुरु प्रतिदिन परीक्षा लेता था। प्रत्येक शिष्य से अलग-अलग प्रश्न पूछ कर और यह समझ कर कि उसने पिछला पाठ ठीक से याद कर लिया है, गुरु दूसरा पाठ पढ़ाता था। विद्यार्थी को शिक्षा की समाप्ति के बाद भी अपने ज्ञान को बनाये रखना पडता था। उसे किसी भी अवसर पर वाद-विवाद मे अपनी योग्यता दिखलाने के लिए उपस्थित होना पडता था। इसीलिए उसे सदैव ही अपनी सारी विद्या अपनी जिह्वा पर रखनी पडती थी। कभी-कभी शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थी को स्थानीय विद्वत्परिषद् मे उपस्थित होकर कुछ प्रश्नो के उत्तर देने पड़ते थे। यह बात समावर्तन संस्कार के उपरान्त होती थी। इससे स्पष्ट है कि इस बात का निर्णय कि विद्यार्थी ने अपनी शिक्षा सफलतापूर्वक समाप्त कर ली उसके शिक्षक पर ही निर्भर था।

पूर्व मध्ययुग में उपाधि की परिपाटी का प्रारम्भ दिखलाई पड़ता है। पालवंश के राजा जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय के संरक्षक थे, विद्यार्थियो को समावर्तन के समय उपाधियाँ देते थे।

शिक्षण की अवधि

विद्या प्राप्ति तथा अध्ययन केवल ब्रह्मचर्याश्रम तक ही सीमित नही था। यह अध्ययन गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यास आश्रम मे भी अक्षुण्ण रखा जाता था। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी एक गृहस्थ अपने आश्रम के कर्त्तव्यो को पूरा करते हुए पूर्वाश्रम मे पढे हुए पाठ को नित्य ही पढता था।[1] शास्त्रो के विज्ञान तथा उसके रहस्यो को जितना मनन किया जाता था उतना ही वह स्पष्ट होता था तथा उसमे रुचि भी उत्पन्न होने लगती थी।[2] इसके अतिरिक्त शास्त्रो को सुरक्षित रखने के लिए, लिपिबद्ध न किये जाने के कारण यह आवश्यक था कि नित्य पाठ के द्वारा उसे मौखिक रूप से सुरक्षित रखा जाय। यह एक और तथ्य पर भी प्रकाश डालता है, वस्तुत एक विद्वान् की विद्वत्ता उसके मस्तिष्क की उर्वरता से ही परिलक्षित होती है। मस्तिष्क की यह उर्वरता तभी अधिक प्रतिफलित होगी जब ज्ञान का सचित कोप मस्तिष्क मे ही हो, पुस्तक मे लिखी हुई विद्या मे पारंगत हो जाने के उपरात यदि वह बुद्धिस्थ न हो सकी तो वह वस्तुत. कोई महत्व नही रखती है।[3] स्नातक होकर द्वितीय आश्रम मे प्रविष्ट होने वाला युवक अपने साथ पूर्व आश्रम मे पढ़े हुए वेद आदि ग्रन्थो को पुस्तकालय के रूप मे नही रखता था। वह तो स्वयं मे ज्ञान राशि को धारण करता था।

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति मे कहा गया है सावन अथवा भादो की पूर्णिमा से साढे पाँच मास तक वेदाध्ययन करना चाहिये, पूस अथवा माघ के पूर्वान्हि मे वेदोत्सर्ग का कर्म करना चाहिये।[4] इसके बाद उस दिन, रात्रि तथा दूसरे दिन तक कुछ भी अध्ययन न करने का विधान है। इस विश्राम के उपरान्त, शुक्लपक्ष मे मत्र, ब्राह्मण से युक्त वेद तथा कृष्ण पक्ष मे वेदाग का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन कर्म के साथ ही साथ यह भी विस्तार के साथ प्राप्त होता है कि किन अवसर मे अध्ययन नही करना चाहिये। इन अध्ययन के अवसरो को भी पुन दो भागो मे विभाजित किया गया गया है। नित्य और नैमित्तक अनध्याय। अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियो को नित्य ही अनध्याय रहता था। अनेक ऐसे अवसरो का भी उल्लेख मिलता है जिनके होने पर अनध्याय विहित था।[5]

---

१. नत्यं शास्त्रण्यवेक्षेत निगमाश्चेव वैदिकान् ॥ मनु० ४।१६

२. मनु० ४।२०

३. पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम् ॥

४ श्रीवण्या प्रौष्ठपद्पा वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दास्यधीयीत मासान्विप्रोर्ध—पंचमान् ॥
पुष्पे तु छन्दसा कुयद्धिहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वान्ह प्रथहेऽहनि ॥ मनु० ४।९५, ९६

५. अमावस्याचतुर्दश्या'. पौर्णमस्यष्टकासुच ॥ मनु० ४।११३ तथा १०२, १०३ १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९ आदि।

स्त्री शिक्षा

वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल मे स्त्रियो की शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था अधिक उच्चतर थी। बहुत-सी नारियो ने वैदिक ऋचाएँ रची है, यथा—अत्रि-कुल की विश्ववारा ने ऋग्वेद का ५।२८ वाला अंश, अपाला ने ऋग्वेद का ८।६१ वाला अंश, तथा घोषा कक्षीवती ने नाम से ऋग्वेद का १०।३६ वाला अश रचा था। प्रसिद्ध दार्शनिक ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी सत्य ज्ञान की खोज मे रहा करती थी और उसने अपने पति से ऐसा ही ज्ञान मांगा जो उसे अमर कर सके। विदेहराज जनक की राजसभा मे कई एक उत्तर-प्रत्युत्तरकर्ता थे, जिनमे गार्गी वाचक्नवी का नाम बडी श्रद्धा से लिया जाता है। गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसके प्रश्नो की बौछार से याज्ञवल्क्य की बुद्धि चकरा उठी थी। हारीत ने स्त्रियो के लिए उपनयन एवं वेदाध्ययन की व्यवस्था दी थी। आश्वलायनगृह्यसूत्र मे गार्गी वाचक्क्नवी, वडवा प्रातिथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी नामक तीन नारी-शिक्षिकाओ के नाम भी आते है।[1] नारी शिक्षिकाओ की परम्परा अवश्य रही होगी, क्योकि पाणिनि की काशिकावृत्ति ने 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' नामक शब्दो के साधनार्थ व्युत्पत्ति की है।[2] पतञ्जलि ने बताया है कि क्यो एवं कैसे ब्राह्मण नारी 'आपिशला' (जो आपिशलि का व्याकरण पढती है) एवं क्यो 'काशकृत्स्ना' 'जो काश्कृत्कन का मीमासा ग्रन्थ पढती है) कही जाती है। उन्होने "औदमेघा" उपाधि की व्युत्पत्ति की है, जिसका तात्पर्य है "औदमेघया नामक स्त्री-शिक्षिका के शिष्य।" गोभिलगृह्यसूत्र एवं काठक गृह्यसूत्र से पता चलता है कि दुलहिने पढ़ी-लिखी होती थी, क्योकि उन्हे मन्त्रो का उच्चारण करना पडता था। स्पष्ट है, सूत्रकाल मे स्त्रियाँ वेद के मन्त्रो का उच्चारण करती थी।[3] वात्स्यायन के अनुसार लडकियो को अपने पिता के घर मे कामसूत्र एव इसके अन्य सहायक अंग (यथा ६४ कलाएँ—गान, नाच, चित्रकारी आदि) सीखने चाहिये तथा विवाहोपरान्त पति की आज्ञा से इन्हे करना चाहिए।[4] ६४ कलाओ मे प्रहेलिकाएँ, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्या-पूरण, पिंगल एवं अलकार का ज्ञान भी सम्मिलित थे। महाकाव्यो एव नाटको मे नारियाँ प्रेम-पत्र लिखती दिखाई पडती है।

किन्तु कालान्तर मे नारियो की दशा अधोगति को प्राप्त होती गयी। धर्मसूत्रों एव मनु मे वेदाध्ययन के मामले मे उच्चवर्ण की नारियो को भी शूद्र की श्रेणी मे रखा गया है। विवाह को छोडकर स्त्रियो के अन्य सभी सस्कारो मे वेद-मन्त्रो का उच्चारण नही होता था। जैमिनि ने वैदिक यज्ञो मे पति-पत्नी को साथ तो रखा है किन्तु मन्त्रोच्चारण पति ही करता है। उसने दोनों को बराबर नही माना है। शबर ने अपनी व्याख्या मे स्पष्ट किया है कि पति विद्वान होता है और पत्नी विद्याहीन। मेधातिथि ने मनु की व्याख्या मे एक मनोरजक प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मचारी लोग भिक्षा माँगते समय स्त्रियो से "भवति भिक्षा देहि" वाला संस्कृत सूत्र क्यो बोलते है, जब कि वे यह भाषा नही जानती? शतपथ ब्राह्मण मे भी कहा गया है कि 'मधुविद्या पढते समय स्त्री, शूद्र, कुत्ते एवं कौवा पक्षी की ओर न देखो, क्योकि ये सभी असत्य है।[5]

---

१ आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४। २. पाणिनी ४।१।५६; ३।३।२१।

३ गोभिलागृह्यसूत्र २।१।१६-२० तथा काठकगृह्यसूत्र २५।२३।

४. वात्स्यायन-'कामसूत्र' १।२।१-३। ५. शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३।

शिक्षा के गुण दोष

प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति के गुण थे—(१) आचार्य को उच्च एवं सम्माननीय पद प्राप्त था, (२) गुरु-शिष्य में व्यक्तिगत सम्बन्ध था एवं शिष्यो पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था, (३) शिष्य गुरु के कुल के सदस्य के रूप मे रहता था, (४) शिक्षण मौखिक था एवं पुस्तको की सहायता सर्वथा नही ली जाती थी, (५) अनुशासन कठोर था, संवेगो एवं इच्छा का संयम किया जाता था, (६) शिक्षा सस्ती थी, क्योकि कोई निर्दिष्ट शुल्क नही लिया जाता था ।

भारतीय शिक्षण-पद्धति की अन्य विशेपताएँ भी थी, यथा—यह विद्यार्थियो को साहित्यिक शिक्षा देती थी, विशेषत वैदिक साहित्य, दर्शन, व्याकरण तथा इनकी अन्य सहायक शाखाएँ ही पढ़ी-पढ़ायी जाती थी । नवीन साहित्य-निर्माण पर उतना बल नही दिया जाता था, जितना कि प्राचीन साहित्य के संरक्षण पर ।

इस पद्धति के प्रमुख दोष निम्न रूप से वर्णित हो सकते है—(१) यह अत्यधिक साहित्यिक थी, (२) इसमे अत्यधिक स्मृति-व्यायाम कराया जाता था, (३) व्यावहारिक शिक्षा, यथा प्रतिदिन काम आनेवाले शिल्प आदि की शिक्षा पर विशेप वल नही दिया जाता था ।

प्रमुख शिक्षा केन्द्र

प्राचीन भारत मे शिक्षा प्रदान करने के प्रमुख केन्द्र तो सारे भारत मे विस्तृत अन्यन्य गुरुकुल ही थे । तव शासन, व्यक्ति या समाज की ओर से स्थापित एवं संचालित आधुनिक विद्यालयों जैसी संस्थाओ का प्रचलन नही था । बौद्ध धर्म के विस्तार के उपरान्त विद्यार्थी जैसी सस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ । बौद्ध धर्म मे भिक्षु तथा भिक्षुणियो के लिये विशिष्ट शिक्षा पर बल दिया जाने लगा । इस विशिष्ट शिक्षा के लिये बौद्ध विहार ही सर्वाधिक उपयुक्त थे [illegible] शिक्षा के केन्द्र वन गये । कालान्तर मे अनेक विहारो मे विद्या के सभी विषयो [illegible] प्रारम्भ हो गया और तव ये सभी के लिये खोल दिये गये ।

नालन्दा-विश्वविद्यालय

गाँव नामक स्थान मे स्थित
नालन्दा का विश्वविद्यालय पटना से ४० मील दक्षिण [illegible]चवी शताब्दी के मध्य के लगभग
था । ऐसे तो नालन्दा का बौद्ध-धर्म से प्राचीन संवंध था [illegible]त्कर्ष मे गुप्त-वंश के उदार सम्राटो
ही से शिक्षा के केन्द्र के रूप मे इसकी ख्याति हुई । [illegible]
के दान का बहुत सहयोग था । [illegible]ील लम्वा और आधा मील चौडा था । मध्य
नालन्दा का विश्वविद्यालय कम से कम [illegible] के लिए तीन-सौ छोटे कमरे थे । विश्व-
मे स्थित विद्यालय मे आठ वडे कमरे और वादलो को स्पर्श करते हुए से थे । विद्यार्थियो के
विद्यालय के भवन भव्य, कई मजिल ऊँचे कई विहार थे । इनमे से कुछ कमरो मे एक और
आवास के लिए कम से कम दो [illegible]वन्ध था । विश्वविद्यालय के स्वामित्व मे २०० दान दिये हुए
कुछ मे दो विद्यार्थियो के लिए निर्मूल्य भोजन, आवास और वस्त्र का प्रवन्ध था । सभी प्रकार
गाँव थे जिनसे विद्यार्थि[illegible] थे जिसकी सहायता के लिए दो परिपदे थी—एक शिक्षा और दूसरी
के प्रवन्ध कुलपति [illegible]
शासन से सं[illegible]

जब चीनी यात्री ईत्सिंग भारत आया उस समय नालन्दा में छात्रों की संख्या ३००० से अधिक थी। ह्वी ली, जिसने ह्वान च्वाङ की जीवनी लिखी है, के अनुसार सातवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध मे छात्रो की संख्या १०,००० थी। यह उल्लेख अतिरंजित है। फिर भी उस समय संख्या सभवत. ५००० के लगभग रही होगी।

नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो और शिक्षको के अध्ययन की सुविधा के लिए धर्मगंज नामक एक वृहत् पुस्तकालय था जो तीन भव्य भवनो मे स्थित था। महायान शाखा का केन्द्र होने के कारण स्वभावत' महायान-साहित्य का अध्ययन प्रमुख था। किन्तु साथ ही पाली में लिखे हीनयान शाखा के ग्रन्थ भी अध्ययन के विषय थे। नालन्दा के पाठ्यक्रम में वेद, वेदान्त, साख्य, दर्शन, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्सा-विद्या, अथर्ववेद ओर अन्य कई विपयों के ग्रन्थ भी सम्मिलित थे।

शिक्षा के केन्द्र के रूप मे नालन्दा की वडी ख्याति थी। यहाँ के विद्यार्थियो और शिक्षकों के ज्ञान का स्तर ऊँचा था। नालन्दा के कुछ भिक्षु-विद्वानो को अपने ज्ञान और पवित्र जीवन के कारण वहुत प्रसिद्धि प्राप्त थी। ऐसे कुछ आचार्यों के नाम ये धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिर-मति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र। नालन्दा में प्रवेश पाने के लिए लोगो को कडी परीक्षा देनी पड़ती थी। ऐसे प्रति दस प्रवेशार्थियो मे से केवल दो या तीन को ही सफलता मिलती थी।

नालन्दा की ख्याति केवल देश मे ही सीमित नही थी, इसकी प्रसिद्धि अन्तर्राष्ट्रीय थी। [illegible], तिव्वत और मध्य-एशिया से ज्ञान की खोज मे विद्यार्थी नालन्दा आते थे। आठवी शताब्दी के [illegible] नालन्दा के विद्वानो ने तिव्वत मे वौद्ध-धर्म के प्रचार के कार्य मे महत्वपूर्ण भाग लिया [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र के रूप मे महत्व इस वात से प्रकट होता हे कि नवी शताब्दी ईस्वी मे [illegible] और सुमात्रा के सम्राट् ने नालन्दा मे एक विहार का निर्माण कराया।

ग्यारहवी श[illegible] से पालवंश के राजाओ ने विक्रमशिला के विश्वविद्यालय की ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ कि[illegible] सरक्षण और प्रोत्साहन के अभाव में नालन्दा का वैभव कम-सा हो गया। इसी समय नालन्द[illegible] धर्म के तान्त्रिक स्वरूप के प्रभाव मे रंग गया था। अन्त में वारहवी शताब्दी की समाप्ति के [illegible] से मुसलमानो के आक्रमण के फलस्वरूप यह विश्वविद्यालय नष्ट हो गया।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय

विक्रमशिला का विश्वविद्यालय विहार
स्थापना का श्रेय पाल वश के राजा धर्मपाल (७[illegible]के भागलपुर जिले में स्थित था। इसकी
विद्यालय ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर लिया। विक्र[illegible]ई०) को है। शीघ्र ही इस विश्व-
लम्बी तालिका है। प्रारम्भ से ही इस शिक्षा-केन्द्र का ति[illegible] लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानो की एक
विक्रमशिला मे अध्ययन के लिए आने वाले तिव्वत के विद्वानो के साथ विशेप सम्वन्ध था।
थी। विक्रमशिला से कई विद्वान् तिव्वत गये थे जहाँ उन्होने कई ग्र[illegible] पृथक् अतिथिशाला
अनुवाद किया। इन विद्वानो मे सवसे अधिक प्रसिद्ध दीपङ्कर श्रीज्ञान थे जो [illegible]व्वती भापा मे
नाम से विख्यात हे। विक्रमशिला का पुस्तकालय वड़ा समृद्ध था। वारहवी श[illegible] अतीश के
[illegible]क्रम-

शिला मे अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो की संख्या ३००० थी। कुलपति ६ भिक्षुओं के एक मण्डल की सहायता से प्रवन्ध और व्यवस्था करता था। कुलपति के अधीन ४ द्वारपण्डितो की एक परिषद् प्रवेश प्राप्त करने के लिए आये विद्यार्थियो को परीक्षा लेती थी। इस विश्वविद्यालय मे व्याकरण, न्याय, दर्शन और तन्त्र के अध्ययन की विशेष व्यवस्था थी। इस विश्वविद्यालय की व्यवस्था अधिक संगठित थी। बंगाल के शासक शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थियों को उपाधि देते थे। १२०३ ई० में बख्तियार खिलजी ने इसे दुर्ग समझ कर नष्ट कर दिया।

यहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्वज्ञान, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियो की सुविधा के लिए पुस्तके उपलब्ध की जाती थी तथा उनकी जिज्ञासाओ का समाधान आचार्य द्वारा किया जाता था। देश के ही नही वल्कि विदेशों से भी छात्र यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। विदेशी छात्रो मे तिब्वत के अधिक छात्र होते थे। शिक्षा-समाप्ति के बाद विद्यार्थी को उपाधि प्राप्त होती थी जो उसके विपय की दक्षता का प्रमाण मानी जाती थी। यहाँ के विद्यार्थियो की सख्या काफी थी। वस्तुत. पूर्वमध्य युग मे इसे छोड़कर और कोई शिक्षा-केन्द्र इतना महत्वपूर्ण नही था कि सुदूर प्रदेशो के छात्र वहाँ जाएँ। इसलिए यहाँ छात्रो की अधिक संख्या होना स्वाभाविक था। यहाँ के अध्यापको की ही सख्या ३,००० के लगभग थी। अतः विद्यार्थियो का उनसे तीनगुना होना तो सर्वथा स्वाभाविक है।

इस विश्वविद्यालय के अनेकानेक विद्वानो ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की, जिनका बौद्ध साहित्य और इतिहास मे नाम है। उन विद्वानो मे प्रसिद्ध हैं रक्षित, विरोचन, ज्ञानपाद, वुद्ध, जेतारि रत्नाकर शान्ति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नवज्र, और अभयंकर। दीपंकर नामक विद्वान् भिक्षु ने सैकड़ो ग्रन्थो (सम्भवतः २०० ग्रंथो की) रचना की थी। वह इस शिक्षा-केन्द्र के महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे था।

वलभी

गुजरात-काठियावाड के समुद्र के निकट स्थित वलभी शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। सातवीं सदी तक इसका विकास हो चुका था। ईत्सिग के अनुसार वलभी का महत्व नालन्दा की ही तरह था। यहाँ अनेक विशाल बौद्ध विहार और मठ थे। वलभी विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति सुदृढ थी। वलभी में १०० करोडपति रहते थे, जिनका आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। अनेक राजाओ ने भी इसे दान और भेट स्वरूप समुचित धन प्रदान किया था। ग्रन्थो के लिए भी दान प्राप्त होते रहते थे। १२वी सदी के पश्चात् जव मुसलमानो का आक्रमण तीव्रता से होने लगा तव इस शिक्षा-केन्द्र पर भी उसका प्रभाव पडा और इसका महत्व घटने लगा। बौद्ध शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। गंगा की तलहटी से अनेक ब्राह्मण भी अपने पुत्रो को यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते थे। स्थिरमति और गुणमति नामक विद्वान् इसी विश्वविद्यालय मे थे। यहाँ पर प्रमुखतया तर्क, व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विभिन्न विपयो की शिक्षा दी जाती थी।

तक्षशिला

तक्षशिला तत्कालीन भारत में हिन्दू शिक्षा का प्रवल केन्द्र था। उल्लिखित है कि इसकी

स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौपा गया था।[१] अतः तक्ष के नाम पर इस स्थान का नाम तक्षशिला हुआ। महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यही किया था।[२] इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि तक्षशिला नगर के रूप मे उत्तरवैदिक काल मे ही विकसित हो चुका था। जातको से विदित होता है कि विभिन्न स्थानो से छात्र वहाँ जाकर आचार्यों के सान्निध्य मे शिल्प का ज्ञान प्राप्त करते थे।[३]

इस विश्वविद्यालय की इतनी ख्याति थी कि यहाँ पर वाराणसी, मिथिला, उज्जयिनी आदि प्रमुख नगरो से ज्ञान पिपासु विद्यार्थी ज्ञान-गरिमा से परिचित होने के लिए आते थे। कोशल-शासक प्रसेनजित्, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त, महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य, ख्यातिलब्ध वैद्य जीवक तथा वैयाकरण पाणिनि यही से शिक्षा ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्र मे विख्यात हुए थे। यहाँ विभिन्न विषयो की शिक्षा प्रदान की जाती थी। वेदत्रयी, अष्टादश शिल्प, व्याकरण, दर्शन आदि विभिन्न विषय यहाँ पढाए जाते थे। आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा, धनुर्विद्या तथा संबद्ध युद्ध-कला, ज्योतिष, भविष्य-कथन, मुनीमी, व्यापार, कृषि, रथ-चालन, इन्द्रजाल, नाग-वशीकरण, गुप्तनिधि-अन्वेषण, संगीत, नृत्य और चित्रकला अष्टादश शिल्प के अन्तर्गत आते थे।

जातको के अनुसार यहाँ पर एक आचार्य के निर्देशन में पाँच-पाँच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। पाठ्यक्रम निर्धारित होता था। छात्र अपनी इच्छानुसार विषय पढते थे। विद्यार्थियो से किसी प्रकार का भेद-भाव नही किया जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। धनी और निर्धन दोनों प्रकार के छात्र समान रूप से गुरु के शिष्य हो सकते थे। धनी छात्र धनराशि के साथ गुरु-दक्षिणा देता था और निर्धन छात्र श्रम करके गुरु-दक्षिणा प्रदान करता था।[४] धनी छात्रो द्वारा प्रायः एक सहस्र कार्षापण गुरु को दक्षिणा रूप में अर्पित किया जाता था।[५]

काशी

काशी को प्राचीनतम शिक्षा केन्द्र कहा जा सकता है। उपनिषद्-युग में काशी एक महत्वपूर्ण शिक्षा-केन्द्र के रूप मे विकसित हो चुका था। काशी नरेश अजातशत्रु अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए देश मे विख्यात था। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर देशो से विद्यार्थी काशी आते थे। बुद्ध के युग में भी काशी की महत्ता पूर्ववत् थी। वैदिक दर्शन और शिक्षा मे काशी अग्रणी था।

अलबरूनी ने प्रसगवश काशी के विद्या सम्बन्धी महत्व का वर्णन करते हुए कहा है कि हिन्दू विद्याएँ हमारे विजित प्रदेशो से भागकर कश्मीर और वाराणसी जैसे सुदूर स्थानो मे चली गई, जहाँ मेरे हाथ भी नही पहुँच सकते।[६] अलबरूनी ने वाराणसी मे श्रेष्ठतम विद्यालय होने का भी संकेत किया है।

---

१. रामायण, ७।१०१, १०।१६। २ महाभारत, १।३।२०।
३. जातक, ३, पृ० १५८। ४. मिलिन्द पन्हो, ६।२।
५. जातक, १, पृ० २७२, २८५, ४, पृ० ५०, २२४।
६. अलबरूनी—ग्यारहवी सदी का भारत, पृ० १७६।

कांची

दक्षिण भारत मे स्थित काची पल्लव-वंशीय शासको के नेतृत्व मे एक महान् शिक्षा-केन्द्र बन गया था। शिक्षा के क्षेत्र मे यह पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। काची के शिक्षा-केन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ था। भारत के विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। शूद्रक ने अपने नाटकों का प्रणयन यही पर किया था। कदम्ब-वंशी राजकुमार मयूरवर्मन ने काची में ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन और दिङ्नाग जैसे महान् ज्ञाता काची विश्वविद्यालय की शोभा बढ़ाते थे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन भारतीय शिक्षा के क्या आदर्श और उद्देश्य थे ?

(पी० सी० एस० १६६२, १६७५)

२. प्राचीन भारत में शिक्षा का संगठन तथा उन्नयन किस प्रकार किया गया ?

(पी० सी० एस० १६६६)

३. प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिये।

(पी० सी० एस० १६६८)

४. प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के गुण-दोषो का परीक्षण कीजिये।

(पी० सी० एस० १६७२)

५. प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली मे गुरू-शिष्य के सम्बन्ध निर्दिष्ट कीजिये।

(पी० सी० एस० १६६४, १६७१)

६. गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिये।

(पी० सी० एस० १६६६)

७. प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा के विपय में आप क्या जानते हैं ?

(पी० सी० एस० १६७४)

८. प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयो का परिचय दीजिये।

(पी० सी० एस० १६७६; १६७८)

६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(i) नालन्दा विश्वविद्यालय—(पी० सी० एस० १६६३, ६४, ६७, ७०, ७३, ७५)

(ii) स्त्री शिक्षा; (iii) शिष्य के कर्त्तव्य, (iv) अध्ययन के विषय,

(v) अध्ययन प्रणाली, (vi) शरीर दण्ड।

अध्याय बाइस

प्राचीन भारत में आर्थिक संघ

प्राचीन भारत मे आर्थिक संघो के उदभव, संगठन, विकास और कार्य प्रणाली का विवेचन करना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है, कि इन सघो के संगठन को राज्य द्वारा मान्य समझा जाता था और उनके धर्म, चरित्र और व्यवहार का सर्वत्र स्वागत भी होता था। आर्थिक संघों को अपने मध्य और राज्य से सम्बन्ध रखने वाले विषयो के बारे मे विधि और नियम बनाने, उन्हे क्रियान्वित करने और उनका अतिक्रमण करने पर दण्ड देने का अधिकार भी प्राप्त था। शासन के अन्तर्गत रहते हुए भी इन्हे पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त थी। इस संदर्भ मे आर्थिक संघो की स्थिति महत्वपूर्ण और उपयोगी थी।

आर्थिक संघों का उद्भव

प्राचीन भारत मे संगठित व्यापारिक समूह को 'श्रेणी' कहा जाता था। भिन्न-भिन्न श्रेणियां भिन्न-भिन्न व्यापारिक समूहो का प्रतिनिधित्व करती थी। प्राचीन साहित्य मे श्रेणी के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे, कुल, पूग, जाति, व्रात, संघ, समुदय, समूह, सम्भूय-समुत्थान, परिषत्, वर्ग, सार्थ और निगम। इस प्रकार के आर्थिक सघो का उदय पूर्ववैदिक युग मे ही हो चुका था। 'ऋग्वेद मे श्रेणी के लिए कहा गया है कि वह हंसों की तरह समूह मे कार्य करती थी।'[1] 'पणि' जैसे व्यापारियो का भी उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है जो सामूहिक रूप मे व्यापार के लिए जाते थे। श्रेष्ठि और गण जैसे शब्दो का भी उल्लेख वैदिक ग्रंथो मे हुआ है जो क्रमशः श्रेणी के मुखिया और नैगम संगठन की ओर इगित करते है। सहयोग और सहकारिता के आधारो पर वैश्य को 'गणश.' भी कहा जाता था।

उत्तर-वैदिक युग में ही विविध शिल्पो का अनुसरण करने वाले सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति अपने संगठन बनाकर आर्थिक उत्पादन मे तत्पर हो गये थे। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि वैसे शिल्पियो के लिए पूर्णतया स्वच्छन्द रूप से कार्य कर सकना सम्भव नही था। संगठित

१, हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते। ऋग्वेद, १।१६३।१०।

होकर ही वे अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित कर सकते थे। समाज के संगठन का विकास प्रदर्शित करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् मे पहले ब्रह्म और क्षत्र के निर्माण का प्रतिपादन कर 'विश:' के सम्बन्ध मे यह लिखा है, कि क्योकि अकेले ब्रह्म और क्षत्र से काम चल नही सकता था, अत: 'विश:' की उत्पत्ति की गई। ये 'विश.' गणो मे सगठित होकर ही अपने-अपने कार्य करते करते हैं।[1]

रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो मे शिल्पियो की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमो का अनेक स्थानो पर उल्लेख आया है। जव राम वनवास समाप्त कर अयोध्या वापस आये तो उनके स्वागत के लिये 'श्रेणि-मुख्य' भी उपस्थित हुए। इस प्रसग मे श्रेणिमुख्यो के साथ नैगमो का भी उल्लेख किया गया है, जो स्पष्ट रूप से शिल्पियो और व्यापारियो के सगठनो के सूचक है। शान्ति-पर्व मे 'श्रेणि-मुख्यो' का इस प्रसंग मे उल्लेख किया गया है, कि राजा उनमें शत्रुओ द्वारा भेदनीति का प्रयोग न करने दे। अन्यत्र एक स्थान पर श्रेणिमुख्यों के उपजाप (भेदनीति-मूलक षड्यन्त्र) से अमात्यो की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है।[2] इन निर्देशो से सूचित होता है कि महाभारत के काल मे शिल्पियो के गण भली-भाँति सगठित थे, और उनके 'मुख्यो' के उपजाप राजकीय कर्मचारियो को पथ भ्रष्ट कर सकते थे। शिल्पियो की श्रेणियाँ सैनिक भी रखती थी और उनके अनुकूल होने पर राजा उन सैनिको की सहायता का भरोसा कर सकता था। महाभारत-युग की श्रेणियों के भी अपने पृथक धर्म या कानून होते थे, इसका निर्देश शान्तिपर्व मे यह कह कर किया गया है कि जो व्यक्ति अपनी 'श्रेणि' के धर्म का अतिक्रमण करता है, उसका कोई भी धर्म नही होता।[3] महाभारत का यह निर्देश इस वात मे कोई सन्देह नही रहने देता, कि इस प्राचीन युग मे शिल्पी लोग श्रेणियो मे भली-भाँति सगठित थे।

मनु पर भाष्य करते हुए मेधातिथि का कथन है कि वेदज्ञ ब्राह्मण, वणिक्, शिल्पकार आदि के सघ ही श्रेणी है।[4] मिताक्षरा के अनुसार भिन्न जाति के लोगो का भिन्न सगठन श्रेणी था जो अपनी किसी एक वस्तु का विक्रय करता था।[5] नारद के अनुसार व्यवसायियो की सरकारी संस्था श्रेणी थी।[6] पूग का सर्वप्रथम उल्लेख कौपीतकि ब्राह्मण मे हुआ है, जहाँ रुद्र को पूग कहा गया है।[7] पाणिनि ने पूग, गण और सघ का एक साथ उल्लेख किया है।

वौद्धो के निग्रोध जातक मे एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सव 'श्रेणियो' के आदर के योग्य कहा गया है। उरग जातक मे एक 'श्रेणिप्रमुख' और दो राजकीय अमात्यो के झगड़ो का उल्लेख है। डा० फिक ने वौद्ध युग के आर्थिक सगठनो पर विशद रूप से विचार करके यह प्रतिपादित किया है, कि वौद्धकाल मे विविध व्यवसाय वशक्रमानुगत हो चुके थे। किसी व्यवसाय

---

१. 'स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत, यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते।'
वृह० १।४।१२

२ महाभारत शान्ति० १५८।५२।१०४।६४

३ 'जाति श्रेण्यधिवासाना कुलधर्माश्च सर्वत।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेपा धर्मो न विद्यते॥ महा० शान्ति० ३५।१६

४. मेधातिथि, मनु० ८।४१।

५. मिताक्षरा, २।१६२

६. नारद०, १।७

७. रुद्रो वै पूग:, कौषीतकि ब्राह्मण, १६।७।

का अनुसरण करने वाले लोग एक निश्चित स्थान व क्षेत्र में बस कर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। शिल्पियों की श्रेणियों के मुख्यो को 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहते थे। जातककथाओ मे 'कम्मारजेट्ठक', 'मालाकारजेट्ठक' आदि शब्दों के प्रयोग से यह बात भलीभाँति सूचित हो जाती है। इस युग में भाण्डागारिक नाम का एक राजपदाधिकारी भी होता था, जिसका कार्य इन शिल्पी व व्यावसायिक श्रेणियों के साथ सम्बन्ध रखने वाले वादो का निर्णय करना होता था।

संस्कृत साहित्य के दण्डनीति-विषयक ग्रंथो, स्मृतियो और धर्मशास्त्रों के अनुशीलन से आर्थिक संघो के संगठनो के सम्बन्ध मे और अधिक विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार कृषको, व्यापारियो, चरवाहो, साहूकारो और शिल्पियो को यह अधिकार प्राप्त था, कि वे अपने-अपने वर्गों के सम्बन्ध मे नियम बना सके। इन नियमो को राजा द्वारा स्वीकार किया जाता था, और ये नियम राजकीय न्यायालयो मे मान्य समझे जाते थे। इससे यह भी प्रगट होता है, कि इन व्यवसायियो और व्यापारियों के संगठन भी विद्यमान थे, जो अपने सम्बन्ध में नियमों का स्वयं निर्माण करते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र मे अनेक ऐसे निर्देश मिलते है, जिनसे कि शिल्पियो और व्यापारियों के सगठनो की सत्ता सूचित होती हैं। अर्थशास्त्र के 'कारुकरक्षणम्' प्रकरण में यह व्यवस्था की गई है, कि तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य नियत किए जाएँ, जिनका कार्य आर्थिक विपत्तियों का सामना करना, शिल्पियो पर नियन्त्रण रखना, अमानत को सुरक्षित रखना और स्वयं शिल्प का संचालन करना हो। ये प्रदेष्टा या अमात्य ऐसे होने चाहिए, जिनके प्रति 'श्रेणियो' का विश्वास हो। ये श्रेणियो का धन अमानत के रूप मे ग्रहण करें। जब श्रेणि विपत्ति आदि कारणो से अपने धन को वापस लेना चाहे, तो उनकी अमानत उन्हे वापस लौटा दी जाए।

शिल्पियो के 'श्रेणि-निकायों' के समान व्यापारियो के समूहो (सार्थ-समवायो) का भी अर्थ-शास्त्र मे उल्लेख किया गया है, और इन 'सार्थसमवायो' के वादो के सम्बन्ध मे विशेष व्यवस्थाएँ की गई है।

उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि समाज मे विभिन्न व्यवसाय और शिल्प से सम्बन्धित विभिन्न सगठित समूह बन गये थे, जिनका सांस्कृतिक और आर्थिक निर्माण मे अभूतपूर्व योग था। प्रारम्भ में जब व्यवसाय प्रारम्भ हुआ तब उसका कोई संगठित स्वरूप नही था किन्तु सुविधाओ और हितो को ध्यान मे रखकर व्यवसायगत और शिल्पगत स्वतन्त्र संगठनो का निर्माण होने लगा। ऐसे संगठन श्रेणी-समूहो के रूप मे बने। समाज में इन संगठनो का प्रभाव बढ़ने लगा तथा सदस्यों के पारस्परिक वाद-विवाद भी आपस मे सुलझने लगे। इस प्रकार की संगठनात्मक संस्थाएँ पूर्णरूपेण अधिकार-सम्पन्न होने लगी। शिल्पी व्यक्तियों द्वारा दुष्कार्य किये जाने पर उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार भी संगठन के पास था। वे अपने विवादों को स्वयं निपटा लेते थे।

आर्थिक संघों का विकास

प्रागैतिहासिक युग—प्रस्तर युग के आदिवासियो के संघ का परिचय उनके औजारों के कारखानो से मिलता है। परवर्ती युग मे सिन्धु-सभ्यता के लोगो के द्वारा निर्मित वस्तुओं के देखने से प्रतीत होता है कि उनकी समरूपता नियत करने वाली कोई गण-संस्था होगी, जो सरकार की

अध्यक्षता में काम करती होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की अनेक आर्येतर जातियाँ अपना जत्था बनाकर रहती थीं। प्रत्येक जत्थे का अपना एक व्यवसाय होता था। उस पूरे जत्थे मे पंचायती पद्धति से शासन-व्यवस्था चलती थी। जब कभी विजेता ऐसे जत्थो पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेते, तब भी उन जत्थों के व्यवसाय और शासन-विधान पूर्ववत् चलते रहे। सस्कृत साहित्य मे ऐसे औद्योगिक जत्थो के नाम सघ, पूग, श्रेणी, निगम, गण आदि मिलते है। कालान्तर मे इन्ही की अलग-अलग जातियाँ बन गईं, जो आज तक प्रचलित है। आज भी उनकी व्यवस्था पंचायती है।

वैदिक युग—आरम्भिक वैदिक काल से ही संघ-सस्था की स्थापना हो चुकी थी। ऋग्वेद मे गण के पति गणपति का उल्लेख मिलता है। उपनिषद साहित्य मे वैश्यो के गण की चर्चा मिलती है। वैश्य समाज मे उस समय गण बना लेने का प्रचलन विशेप रूप से था। वैदिक काल में श्रेष्ठी (सेठ) लोग संभवत. गणो के प्रधान होते थे।

वैदिक काल मे प्रत्येक जाति का अपना कोई न कोई निजी व्यवसाय था और उसी व्यवसाय के नाते उस जाति के सभी लोग आरम्भ मे सम्बद्ध हुये थे। प्रत्येक जाति की एक परिषद् बनती थी, जो उस जाति मे शान्ति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा करने के लिये नियम बनाती थी। निश्चय ही आर्थिक दृष्टि से जाति के अभ्युदय के लिये बनाई हुई योजनाओ का अतिशय महत्व ऐसी परिषदो के समक्ष था। उस युग मे प्रत्येक व्यवसाय के लिये स्थान-स्थान पर ऐसी परिषदें बन गई होगी।

बौद्ध युग—वैदिक काल के पश्चात् बौद्ध युग मे प्राय दो प्रकार के आर्थिक संघो के उल्लेख मिलते हे—व्यापारिक तथा शिल्पिक। व्यापारिक संघो की स्थापना जेट्ठक (प्रमुख) की अध्यक्षता मे होती थी। शिल्पिक सघ तत्कालीन सर्वश्रेप्ठ आचार्यो की अध्यक्षता मे अपन-अपने शिल्प की व्यक्तिगत विशेषताओ की परम्पराओ को अक्षुण्ण रखते हुए चलते थे। शिल्पिको के व्यवसायानुसार १८ प्रकार के प्रख्यात संघ होते थे। उस युग मे डाकुओ का सघ भी था। एक जेट्ठक के नेतृत्व मे ५०० डाकू अपना व्यवसाय करते थे। साझे मे काम करने वालो को बराबर मूलधन लगाना पडता और ऐसी परिस्थिति मे उनको लाभ भी समान ही बॉट लेने का नियम था। यदि कोई बेईमानी करके अधिक लाभ चाहता था तो उसे रोकने का उपाय किया जाता था।

आर्थिक सघ अपनी उन्नति के लिए योजनाएँ बनाकर उन्हे कार्यान्वित करने तथा आन्तरिक झगड़ो और विवादो को दूर करके सुव्यस्था की प्रतिष्ठा करने के लिए स्वतन्त्र थे।

सूत्र युग—आर्थिक सघो के सचालन-सम्बन्धी विधानो के उल्लेख सूत्र-युग मे भी मिलते है। गौतम के अनुसार कृषक, व्यापारी, पशुपालक, ऋणदाता और अन्य उद्योग धन्धो मे लगे हुये लोग अपने संघ का सचालन करने के लिए नियम बनाते थे। सघो के विधान केवल शासन-सम्बन्धी ही नही थे, अपितु सघ के सास्कृतिक विकास की दशा का निदर्शन भी इनके द्वारा हो सकता था। संघ के किसी सदस्य की स्त्री को भिक्षुणी बनाने से पहले ही सघ की आज्ञा लेना आवश्यक था। इस युग मे संघ, गण, पूग और सेणी (श्रेणी) को अपने सदस्यो पर कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हो चुके थे, जो साधारण प्रजा पर राजा का होता है।

महाकाव्य युग—रामायण और महाभारत के आर्थिक सघो के जो उल्लेख मिलते है उनसे ज्ञात होता है कि उनके नाम निगम, गण और श्रेणी आदि प्रचलित थे। ऐसी संस्थाओ की शक्ति

संवर्धित हो रही थी और राजाओ की ओर से उनको ऊँची प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। श्रेणी के मुख्य को राजा के प्रत्येक उत्सव मे स्थान मिलता था। उन सघों को अपनी रक्षा करने के लिए अपनी निजी शक्ति वढाने का अवसर प्राप्त था। रामायण मे केवटो के एक संघ का वर्णन मिलता है। इस गण का नेता राजा गुहवीर था। महाभारत मे श्रेणी की सेना के उल्लेख मिलते हैं। श्रेणी के नियमो के विरुद्ध आचरण करना पाप माना गया। कृष्ण और कस के मल्लयुद्ध मे श्रेणी और गण के लिए अलग-अलग मंच बने हुये थे।

मौर्य युग—अर्थशास्त्र युग मे गणना-विभाग का अध्यक्ष आर्थिक सघो के धर्म, व्यवहार, चरित्र और संस्थान का लेखा रखता था। सघो का धन कुछ उच्चकोटि के विश्वासपात्र नागरिको के पास जमा होता था और आवश्यकता पड़ने पर उसे लिया जाता था। राजधानी मे श्रेणियो के मुहल्ले में श्रेणीबद्ध व्यावसायिको के लिए विशेष रूप से स्थान नियत था। अर्थशास्त्र में सघ वनाकर काम करने वाले श्रमिको का नाम सघभृत मिलता है। सघो को जो पारिश्रमिक मिलता था, वह या तो सभी श्रमिक बराबर बाँट लेते थे अथवा पूर्व निश्चित भाग लेते थे। यज्ञ के पुरोहितो के संघ मे भी अनुशासन था। यदि यज्ञ कराते हुए संघ का कोई पुरोहित मर जाता तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी दक्षिणा का $\frac{1}{5}$ मिलता था।

आर्थिक सघो की शक्ति अर्थशास्त्र के युग मे अतिशय बढ़ चुकी थी। राजाओ ने उनके सम्बन्ध मे नीति का निर्धारण किया था, जिसके अनुसार संघ के नेताओ को दूसरो की हानि करने से रोकने की योजना वनाई गई थी।

तत्कालीन साहित्य मे स्वर्णकार, चित्रकार तथा रजकों के संघो के उल्लेख मिलते है। अन्य आर्थिक सघ कुम्हार, पटेल, सूपकार, गन्धिक, नाई, माली, काछी, चमार, तेली, गछिय (गमले बनाने वाले), छिम्पाय (छीट वनाने वाले), कँसेरे, दर्जी, भील, धीवर आदि के थे। राजा की न्याय-विधि मे संघो की इच्छा के अनुसार परिवर्तन हो सकता था। व्यापारिक संघो का नेता कुशल और शस्त्रधर शासक होता था। उसकी नियुक्ति राजा की ओर से होती थी। संघ के प्रमुख व्यक्ति की उपाधि सेठ थी।

कुषाण काल—कुषाण युग के कुछ आर्थिक एवं व्यावसायिक संघो के उल्लेख तत्कालीन शिलालेखो मे मिले है। इसके उस समय अनुसार त्योहारो और गंधिको के असंख्य संघ बने हुए थे। व्यापारिक सघो के नेताओ की उपाधि सार्थवाह प्रचलित थी। मथुरा के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि धार्मिक तथा पुण्यात्मक कामो को सदा प्रचलित रखने के लिए अपने दान को लोग संघो मे जमा कर देते थे।

गुप्तयुग—गुप्तयुग मे लाट प्रदेश से आकर दशपुर मे वसे हुए जुलाहो के एक सघ ने मन्दसौर मे सूर्य का भव्य मन्दिर बनवाया था। मन्दसौर के शिलालेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि इसके बनवाने मे अत्यधिक धन लगा होगा। इस मन्दिर के निर्माण से आर्थिक सघो के धार्मिक उत्साह की अभिव्यक्ति होती है। इस सघ का प्रमुख व्यवसाय वस्त्र वनाने का था, पर इसके सदस्यो मे से अनेक धनुर्धर, ज्योतिषी तथा धर्म और दर्शन के आचार्य भी थे।

आर्थिक संघो के कुछ न्यायालय सम्भवत. साधारण प्रजा के विवादो का भी निर्णय करते थे। तत्कालीन आर्थिक सघो को राजा यद्यपि उन्नति पथ पर बढाने के लिए समुचित प्रयत्न करता था पर वह सदैव ध्यान रखता था कि कोई सघ व्यवसाय-पथ से विमुख होकर कही अपनी ही

हानि न कर बैठे। स्कन्दगुप्त के इन्दौर के ताम्र-पट्ट लेख से ज्ञात होता है कि तेलियो के एक संघ में जमा किये हुए धन के सूद से सूर्यमन्दिर से सम्बद्ध दीप को नित्य जलाने के लिए तेल मिला करता था। गुप्तकालीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय शिल्पियो के संघ नगर-निर्माण का काम करते थे। ये संघ स्थापत्यकारों के रहे होगे। एक जाति के कारु और शिल्पियो का मिल जुल कर श्रेणी बनाने के विधान का उल्लेख अमरकोश से भी मिलता है। श्रेणी के प्रधान को कुलक और कुलश्रेष्ठी कहते थे।

आर्थिक संघों का संवैधानिक स्वरूप

लोकतान्त्रिक आधार पर संघो का अपना पृथक् संविधान होता था, जिसके अनुरूप वे कार्य करते थे। बृहस्पति स्मृति से इस विपय पर प्रकाश पड़ता है। श्रेणी-संगठन की एक प्रबन्धकारी समिति थी, जिसमे पाँच, तीन या दो सदस्य होते थे। उस समिति का एक प्रधान या अध्यक्ष होता था। प्रबन्ध समिति के सदस्य कार्य-निपुण, सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ, ज्ञाता, योग्य और उच्च कुल के होते थे।[1] ऐसी भी व्यवस्था की गई थी कि अगर कोई व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अपने कार्य सम्पन्न नही करता था तो उसे नगर से निष्कासित कर दिया जाता था। यदि वह अपने सहायको के साथ लापरवाही से कार्य करता था तो उन सब पर ६ निष्क या ४ सुवर्ण दण्ड लगता था। संगठन के सुनिश्चित नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति नगर से निकाल दिया जाता था। प्रवन्धकारी गलत कार्य करने वाले को प्रताड़ित भी करता था। इस सम्बन्ध मे बृहस्पति का कथन है, "इन लोगो (परिषदो के प्रमुखो) द्वारा दूसरे लोगो के प्रति कड़ा वा मृदुल जो भी व्यवहार नियमानुसार किया जाए उसे राजा भी अनुमोदित करे क्योकि ये लोग विधानो के अधि-कारी के रूप मे प्रख्यात होते है।" किन्तु विशेप स्थिति मे राजा हस्तक्षेप पर सकता था। किन्तु राजा का यह हस्तक्षेप विवाद की स्थिति मे ही था।

प्रत्येक संघ का एक कार्यालय भी होता था। सदस्यगण प्रायः इकट्ठे होकर सर्वसामान्य विषयो पर विचार-विमर्श करते थे। विचार व्यक्त करते समय अगर कोई युक्तिसगत कथन के लिए हानि पहुँचाता था, वक्ता के वोलने पर रुकावट डालता था अथवा अनुचित बात कहता था, तो उसे 'पूर्वसाहस' दंड मिलता था। संगठन की समस्त आय सदस्यो मे समान रूप से वितरित की जाती थी। यदि प्रबन्धकारी ऋण मे प्राप्त धन को श्रेणी के हित मे न व्यय करके निजी कार्यों मे व्यय करता था तो वह धनराशि उसे लौटानी पड़ती थी।

विभिन्न श्रेणियाँ

बौद्ध जातकों के अनुसार श्रेणियो की परम्परागत संख्या अठारह थी। संस्कृत के बौद्ध साहित्य में विशेष रूप से उन अठारह व्यवसायो का उल्लेख किया गया है जो श्रेणियो का उल्लेख है। वे डेढ हजार वर्ष से भी अधिक समय तक ईसापूर्व की छठी शताब्दी से लेकर सन् १००० ईस्वी के वाद तक बनी रही। संस्कृत के बौद्ध साहित्य मे दी गई अठारह श्रेणियो की सूची में

---

१. बृहस्पति स्मृति, १७।१८।

सम्मिलित श्रेणियाँ है : सुनारों (सौवर्णिक-हिरण्यक), लबादे बनाने या बेचने वालो (प्रावारिक), रत्नो को दमकाने वाले (मणि-प्रस्तरक), इत्र बेचने वालों (गाधिक), तेलियो (तैलिक), घी रखने के पात्र बनाने वालो (घृत-कुडिक), शीरा बनाने वालो (गोलिक), दही बनाने वालों (दधिक), सूती कपड़ा बनाने वालो (कार्पासिक), खाड बनाने वालो (खडकारक), हलवाइयो (मोदक-कारक), गेहूँ के आटे के व्यापारियों (समित-कारक), जौ पीसने वालो (सक्तु-कारक), फल विक्रेताओ (फल-वणिज), मूलो के व्यापारियो (मूल-वणिज), किराने का सामान बेचने वालो (अत्त-वणिज), आटा पीसने वालो (चूर्य-कुट्टक) और सुगन्धित तेलो के व्यापारियों (गंध-तैलिक) की श्रेणियाँ। इनके अतिरिक्त उत्कीर्ण लेखो मे कुछ अन्य श्रेणियो का, जैसे कि जुलाहो (कोटिकनिकाय), कुम्हारो (कुलीरक), जल-व्यवस्था के यंत्रो का काम करने वालो (औद्यत्रिक), अनाज के व्यापारियो (धान्निक), बांस का काम करने वालों (वेणकार) और चरवाहो (कंसकार) का भी उल्लेख है।

आर्थिक संघों के कार्य

मनुस्मृति मे भी श्रेणियो और 'श्रेणिधर्मों' का उल्लेख है, और यह व्यवस्था की गई है कि राजा अपने धर्म (कानून) का प्रतिपादन करते हुए जाति-जानपद धर्मों और श्रेणी धर्मों की समीक्षा करे, और उन्हे दृष्टि मे रखकर ही अपने कानूनो का निर्माण करे।[१] मनु ने इस प्रसंग मे यह भी लिखा है, कि ग्राम और देश के संघो के साथ कोई संविदा (समय या इकरार) करके यदि कोई मनुष्य लोभ के वश होकर उसका अतिक्रमण करे या उससे इन्कार कर दे, तो उसे राष्ट्र से निकाल दिया जाय।[२] याज्ञवल्क्यस्मृति मे स्पष्ट रूप से यह विधान है, कि यदि कोई व्यक्ति श्रेणी या किसी अन्य समुदाय की सम्पत्ति की चोरी करे, या उनके साथ की गई संविदा को स्वीकार न करे, तो उसे देश से बहिष्कृत कर दिया जाए, और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाय।[३] विष्णुस्मृति के अनुसार भी गण के द्रव्य का अपहरण करने वाले व्यक्ति को बहिष्कृत कर देना चाहिए।[४] याज्ञवल्क्यस्मृति से श्रेणि, निगम और पाषण्ड—तीनो प्रकार के समूहों के सम्बन्ध मे स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। इन समूहो के पदाधिकारी 'कार्यचिन्तक' कहाते थे। इस पद पर ऐसे व्यक्तियो को ही नियत किया जाता था, जो कि धर्म के ज्ञाता, शुचि और लोभ से विरहित हो। वे जो कोई भी आदेश दे, समूह के हित के लिए उसका पालन करना समूह के सब सदस्यो के लिए आवश्यक था। परस्पर मिलकर या सविदा करके ये समूह जो नियम या कानून बनाते थे, उनको 'समय' कहा जाता था। यदि इन कानूनो का राजकीय कानूनो से विरोध न हो, तो इन्हे भी नियमित रूप से कानून माना जाता था, और राजा का कर्तव्य था कि इनका पालन कराए, और इनका अतिक्रमण करने वालो को देश निकाले या जुर्माने आदि का दण्ड दे। 'समूह' के कार्य पर कार्यचिन्तक या समूहो के अन्य व्यक्ति समय-समय पर राजा से मिलते रहते थे। राजा दान और मान द्वारा उनका सत्कार करता था। स्पष्ट है, कि प्राचीन युग के सार्वजनिक जीवन मे इन समूहो की स्थिति अच्छी सम्मानास्पद थी। समूह के कार्य पर नियुक्त व्यक्ति को जो कुछ धन भेंट आदि मे प्राप्त होता था, उसे वह समूह को ही दे देता था। न देने पर उसे अर्थदण्ड के रूप मे कठोर दण्ड दिया जाता था।

---

१. मनुस्मृति ८।४१।
२ मनुस्मृति ८।२२०।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१८७।
४. 'गणद्रव्यापहर्ता विवास्यः।' विष्णु० ५।१६८।

आर्थिक संगठनों में श्रेणी, निगम आदि समूहों मे मुख्यों या कार्यचिन्तकों की शक्ति वहुत अधिक थी, पर सम्पूर्ण समूह की एक सभा भी होती थी, जो कि समूह के संगठन मे वहुत महत्व-पूर्ण स्थान रखती थी। इस सभा को 'समुदाय' कहते थे। नारद स्मृति मे इस सभा की कार्यविधि आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। वीरमित्रोदय से सूचित होता है, कि इस सभा की वैठक की सूचना ढोल आदि वजाकर दी जाती थी, और सभा में स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण दिये जाते थे। नये सदस्यों को स्वीकार करना गण के 'समुदाय' की सम्मति पर ही निर्भर करता था, पर पहले से विद्यमान कोई सदस्य स्वयं अपनी इच्छा से ही गण से पृथक् हो सकता था। श्रेणी, निगम आदि समूह अनेक प्रकार के सार्वजनिक हित के कार्य भी सम्पादित किया करते थे। सभाभवन का निर्माण, प्रपा (प्याऊ), देव मन्दिर, तालाव, पार्क आदि का निर्माण और मरम्मत, अनाथ, दरिद्र, आदि की सहायता, यज्ञो का अनुष्ठान आदि सार्वजनिक हित-कल्याण के कार्य भी उन द्वारा किए जाते थे। इन सव कार्यों को भी पत्र पर लिखा जाता था, और इन्हें भी संविदा (समय) का अंग समझा जाता था। इसमे सन्देह नही, कि शिल्पियो के 'समूह' (जिन्हे श्रेणी कहते थे) प्राचीन भारत में ऐसे महत्वपूर्ण संगठन थे, जो अपना आन्तरिक शासन स्वयं चलाते थे, और आपस मे मिलकर संविदा द्वारा अपने कानूनो का स्वयं निर्माण करते थे। इन कानूनो को प्रयुक्त करने के लिए वे न्यायालय का भी कार्य करते थे। यदि ये कानून देश के धर्म (कानून) के विरुद्ध न हो, तो ये राजकीय न्यायालयो मे भी मान्य होते थे और राजा भी इन्हे प्रयुक्त करता था। ये सार्वजनिक हित के अनेकविध कार्यों को भी सम्पन्न करते थे। इन समूहो का संगठन भी लोकतन्त्र आधार पर होता था, समूह के सव सदस्य मिलकर ही अपने 'सामयिक' (सविदा पर आश्रित) कानूनो का निर्धारण करते थे और अपने 'मुख्यो' पर नियन्त्रण रखते थे।

आर्थिक संघ कभी-कभी अपनी मुद्राएँ भी चलाते थे। तक्षशिला से प्राप्त तीसरी सदी ई० की मुद्राओ पर 'नैगम' अंकित है, जो उनकी स्थिति का भान कराता था। मुद्राओ के अतिरिक्त मुहरो का भी प्रचलन किया जाता था। वैशाली (वसाढ) से प्राप्त मुहरें उनकी नैगम व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करती है। श्रेणियाँ वैंक के रूप मे भी कार्य करती थी। लोगों को ऋण देती थी और व्याज के साथ रुपये वसूल करती थी। इस विपय पर अनेकानेक अभिलेख प्रकाश डालते हैं। १२० ई० के नासिक-अभिलेख से पता चलता है कि शक शासक नहपान के जामाता उपवदात ने गोवर्धन की जुलाहों की एक श्रेणी में २,००० कार्पापण और दूसरी में १,००० क्रमशः १२ और ९ प्रतिशत व्याज की दर से जमा कराया था।

आर्थिक संगठन के अन्तर्गत संगठित श्रेणियो की शक्ति वढ़ने पर उनका सैनिक कार्य भी होने लगा। कौटिल्य ने 'श्रेणी-वल' का उल्लेख करते हुए उनकी शक्ति की चर्चा की है।[1] वृहस्पति और याज्ञवल्क्य जैसे धर्मशास्त्रकारो ने भी श्रेणियो की सैनिक शक्ति का सन्दर्भ दिया है।[2] रामायण मे भी सयोध श्रेणी का उल्लेख हुआ है।[3] मंदसौर अभिलेख से विदित होता है कि रेशम वुनने वाली श्रेणी के लोग धनुर्विद्या में पारंगत होकर अच्छे योद्धा वने थे।[4]

---

१. अर्थशास्त्र, पृ० ३४०।
२. वृहस्पति०, १।२८-३०; याज्ञवल्क्य २।३०।
३. रामायण, २।१२३।५।
४. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, पृ० ८०।

इसमे सन्देह नही, कि प्राचीन भारत के सार्वजनिक जीवन में आर्थिक संघों का स्थान अत्यन्त महत्व का था। जहाँ तक शासन-संस्थाओ का सम्बन्ध है, उनमे भी इनकी स्थिति महत्व की थी, क्योकि इन द्वारा निर्धारित धर्म (संविदा द्वारा निर्धारित कानून) राज्य द्वारा मान्य समझे जाते थे। भारत की स्वायत्त जन-संस्थाओं में ये भी अन्यतम थी। इनकी स्थिति प्रायः वही थी, जो कि ग्रामों, पुरो और जनपदो के संघो की थी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन भारत में आर्थिक संघों की उत्पत्ति तथा विकास पर प्रकाश डालिये।
(पी० सी० एस० १९७१)

२. प्राचीन भारत मे आर्थिक श्रेणियो के संगठन तथा कार्यो की विवेचना कीजिये।
(पी० सी० एस० १९७५)

३. प्राचीन भारत मे आर्थिक श्रेणियों के संगठन तथा कार्यों के विषय मे आप क्या जानते हैं? (पी० सी० एस० १९६९)

४. प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन मे श्रेणियो की भूमिका का निरूपण कीजिये और पूर्व मध्यकाल मे उनकी स्थिति में हुए परिवर्तनो को इंगित कीजिये। (पी० सी० एस० १९७८)

अध्याय तेइस

प्राचीन भारतीय वाङ्मय

इस अध्याय मे हम १५०० ई० पू० से लगभग १२०० ई० के मध्य के प्राचीन भारतीय साहित्य से परिचय प्राप्त करेगे। इस काल मे अनेक आक्रमण एवं महान् राजनैतिक परिवर्तनों के होते हुए भी साहित्य की सभी शाखाओ मे यथेष्ट साहित्य की रचना हुई। यह उल्लेखनीय है कि यह परिचय न तो सर्वांगपूर्ण है और न ही वहुत अधिक विस्तृत। यहाँ प्रत्येक रचना का उल्लेख करना न तो अपेक्षित है और न ही संभव ही।

ऋग्वैदिक काल मे इस देश के आर्य एव आर्येतर मिलकर रहते थे, परस्पर सहयोग देते थे। वे ही तत्कालिक साहित्य, चिन्तनधारा एवं संस्कृति के सृजन के लिये जिम्मेदार थे। आदान-प्रदान एवं आत्मसात्करण का क्रम ऋग्वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो चुका था। उपनिषदकाल मे याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य जैसे ब्राह्मणो ने, जनक, अश्वपति कैकेय, प्रतर्दन जैसे क्षत्रियों ने तथा समुग्व रैक्व आदि शूद्रों ने तत्कालीन साहित्य एव चिन्तनधारा को अपना योगदान दिया था। यह विशेप रूप से ध्यान देने योग्य है कि स्त्रियाँ भी इसमे पीछे नहीं थीं क्योकि ऋग्वेद मे अपाला, विश्वारा, घोपा जैसी स्त्री-ऋपियो के सूक्तो की चर्चा है तथा उपनिपदों मे मैत्रेयी, गार्गी, वाचकण्वी आदि स्त्रियाँ-दार्शनिक परिचर्चा मे भाग लेती देखी जाती है। प्राचीन काल में शीला, विजयाङ्का, सुभद्रा, प्रभुदेवी, इन्दुरेखा, मरूला, मोरिका के समान अन्य अनेक प्रसिद्ध कवियत्रियो का उल्लेख भी मिलता है।

लौकिक साहित्य के अनेक ऐसे नाटककार एवं कवि उल्लेखनीय है, जो विभिन्न वर्गों एवं जातियों के थे। यहाँ निर्विवाद रूप से भास, धावक शूद्रक आदि कवियों के नाम गिनाए जा सकते है। एक सामान्य सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाएगा कि इसके साहित्य के सृजन मे राजाओं, मन्त्रियों, राज-कर्मचारियो तथा राजाश्रित विद्वानों का योगदान रहा है।

प्राचीन-साहित्य मे एक अपूर्व विविधता है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचारने पर हमे पता चलता है कि इसमे काव्यशास्त्र मे वर्णित विविध विधाओ जैसे महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य नीतिकथा और प्रेमाख्यान साहित्य आदि समाविष्ट हैं। इससे भी महत्वपूर्ण वात यह है कि इसमें चिकित्सा एवं शल्यशास्त्र, विधि, गणित, ज्योतिप एवं फलित ज्योतिप, दर्शन तथा इतिहास

जैसे विभिन्न विषयों पर भी पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। यह वैविध्य मोहक तो है ही, साथ-साथ चौंकाने वाला भी है।

इस लम्बे समय मे प्रायः सभी धर्मों तथा सम्प्रदायों ने साहित्य का उपयोग धार्मिक एवं लौकिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया है। वैदिक धर्म, कर्मकाण्डी ब्राह्मण, पौराणिक हिन्दू धर्मावलम्बी तथा जैनी साधुओं ने साहित्य को अपना विचार वाहन बनाया। यहाँ बौद्ध लेखकों में अश्वघोष, धर्मकीर्ति दिङ्नाग तथा जैन लेखको मे हरिभद्र तथा हेमचन्द्र के नाम लिए जा सकते हैं। तन्त्र-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

इस लम्बी अवधि मे विभिन्न जातियों एव धर्मों से सम्बन्धित राजाओं का साहित्य को संरक्षण प्राप्त होता रहा है। इस सन्दर्भ मे मौर्य, शुग तथा गुप्त राजाओ, शक-क्षत्रपो तथा उत्तर मे हर्षवर्द्धन और दक्षिण मे सातवाहन, पाण्ड्य तथा चोलो के नाम लिए जा सकते हैं।

प्राचीन काल मे सस्कृत समग्र भारतवर्ष की भाषा थी। नाटकों एवं शिलालेखों के संकेतों के अनुसार यद्यपि संस्कृत कुछ ही लोगो की बोलचाल की भाषा थी, किन्तु निश्चित रूप से विशाल जन-समूह इस भाषा को सरलता से समझता था। संस्कृत भाषा एव साहित्य के सृजन मे समग्र भारतवर्ष का योगदान रहा है। प्राचीन साहित्य का अधिकाश भारतीय वाङ्मय संस्कृत तथा संस्कृत से उत्पन्न भाषाओं मे विद्यमान है।

वेदो की भाषा को प्राचीन भारतीय या वैदिक या वैदिक संस्कृत या प्राचीन उच्च भारतीय कहते है। यह भाषा बोलियो पर आधारित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भाषा को पुरोहितों के समाज ने परम्परा द्वारा जीवित रखा है। ऐसा प्रतीत नही होता है कि यह कभी एक वास्तविक लोक-प्रचलित भाषा रही होगी। जिस बोली पर यह प्राचीन उच्च भारतीय भाषा आधारित है, वह आर्यो द्वारा भारत के उत्तर-पश्चिम मे बोली जाती थी। इस बोली का प्राचीन फारसी एवं अवेस्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध था और यह प्राचीन भारत—ईरानी भाषा से बहुत अधिक मिलती-जुलती थी। जब वेदो की भाषा की तुलना प्राचीन फारसी (कीलाक्षर लिपि मे प्राप्त अभिलेखो) तथा अवेस्ता की भाषा से की जाती है तब हमे इस प्राचीन भारत—ईरानी भाषा का अनुमान होता है। वेद एवं अवेस्ता की भाषाएँ एक दूसरे से इतनी अधिक समानता रखती हैं कि कुछ नियमो को याद करके एक भाषा का दूसरी भाषा मे सहज अनुवाद किया जा सकता है। वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत की ध्वनियो मे परस्पर बहुत अधिक साम्य है। जो संस्कृत में नही है।

संस्कृत को मृतभाषा कहना बहुत असंगत होगा। इसका विकास व्याकरण के नियमो द्वारा बाधित और अवरुद्ध कर दिया गया। पाणिनि ने इस भाषा के लिए एक नियत मानदण्ड बनाया जो आने वाले सारे समय के लिए आदर्श बना रहा। पाणिनीय व्याकरण के नियमो के अनुसार केवल संस्कृत ही शुद्ध भाषा है। व्याकरण के इस अवरोधक प्रभाव के होते हुए भी संस्कृत जीवित रही। यही लौकिक संस्कृत है। इसी लौकिक संस्कृत मे महत्वपूर्ण नाटक, पद्यात्मक तथा वैज्ञानिक साहित्य की रचना की गई।

१००० ई० के लगभग मध्य भारतीय बोलियो सेआधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ का विकास हुआ। साहित्य की रचना इन्ही भाषाओ में हुई और इस प्रसंग मे हम यहाँ हिन्दी का उल्लेख कर सकते है जिसकी बोलियो मे कन्नौजी, तुलसीदास की पूर्वी हिन्दी, ऊपरी दोआब की उच्च हिन्दी, बुन्देली तथा ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी—हिन्दी एवं फारसी, पंजाबी, राजस्थानी व अरबी

के तत्वों का मिश्रण है । इसी प्रकार गुजराती, नेपाली तथा मारवाड़ी का भी उल्लेख इसी प्रसग मे कर सकते है। अन्य भाषाओ मे लहँदा, सिधी, मराठी, बिहारी, उड़िया, वगाली तथा असमी है। कश्मीरी दार्दिक समूह की भाषा है। श्रीलंका की सिंहल भापा भी एक परिवार की है, जो कि मध्य भारतीय भापा की वंशज है। भारत में इन आर्य भापाओं के अतिरिक्त मुण्डा भाषाएँ, तिब्बत-बर्मी भाषाएँ तथा द्राविड़ भापाएँ (जिनमे मलयालम, कन्नड़, तेलुगु तथा तमिल प्रमुख भी है।

वैदिक साहित्य

भारत के आदि युग मे ऐसा बहुत सारा साहित्य मिलता है जिसे वैदिक साहित्य कहते है। इस साहित्य को संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यको, उपनिषदो तथा सूत्रो इत्यादि के सुविधा-जनक वर्गों मे बाँटा जा सकता है। इनमे से प्रत्येक वर्ग में अनेक रचनाएँ है। इस प्रकार से चार संहिताएँ है—ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और सामवेद। इन संहिताओ से सम्वद्ध अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जैसे ऐतरेय, कौपीतकि, तैत्तिरीय, शतपथ, गोपथ इत्यादि। इन ब्राह्मणो से सम्वद्ध आरण्यक ग्रन्थ हैं, जैसे ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय इत्यादि। आरण्यको की परिपूर्णता उपनिपदो से होती है जो कि १०८ या इससे भी बहुत अधिक हैं। इस युग को वैदिक साहित्य का सर्जनात्मक युग कह सकते है। इस युग के बाद वह युग आया जब कि इस महत्वपूर्ण साहित्य का विश्लेपण एवं सक्षेपण किया गया। विभिन्न वैदिक शाखाओ तथा चरणो मे इस साहित्य के अध्ययन के लिए पर्याप्त चेष्टा की गई एवं मार्ग-दर्शन के लिए नियमावलियाँ तैयार की गई। इस साहित्य का अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया, क्योकि परवर्तीकाल मे जो भी साहित्य विकसित हुआ उसके लिए इस साहित्य की अपेक्षा बनी रही। इसके ज्ञान के विना भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता को समझना कठिन होगा जिसका अद्‌भुत तारतम्य भारतीय जन-समाज ने हमेशा वनाए रखा है। इस साहित्य का कालक्रमिक अध्ययन हमे विचारो तथा प्रथाओ, शैलियो तथा साहित्य की विधाओ के विकास को समझने मे सक्षम बनाता है।

ऋग्वेद—वास्तव मे यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा कि सारे भारतीय साहित्य के क्षेत्र मे ऋग्वेद की तुलना मे कोई अन्य रचना इतनी महत्वपूर्ण एवं रुचिकर नही है। इसका रचनाकाल इसे और भी अधिक महत्वपूर्ण वना देता है, क्योकि यह आज संसार मे सवसे प्राचीन मानवीय प्रलेख है। ऋग्वेद हमे मानव जाति के इतिहास के ऐसे युग मे ले जाता है जहाँ आधुनिक पुरातत्व जैसे अन्य विज्ञान झाँक भी नही सकते है। ऋग्वेद के अध्ययन ने तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक पौराणिक कथाएँ, तुलनात्मक भापा शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र जैसे चिन्तन की नवीन शाखाओ को जन्म दिया है। ऋग्वेद के अध्ययन से हम संसार की सस्कृति मे भारतीयो के योगदान को समझने मे समर्थ होते हैं, तथा उसकी यूनानी तथा रोमन लोगो के योगदान से तुलना कर सकते हैं। ऋग्वेद की अपनी संहिता है। 'सहिता' शब्द अपने आप मे रुचिकर है क्योकि यह ऋग्वेद के पाठ के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। 'सहिता' का अर्थ है पाठो का एकत्र संग्रह, जिसका अभिप्राय है कि इस सहितीकरण की दशा से पूर्व सामग्री इधर-उधर विखरी पड़ी थी। संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता दस मण्डलो मे विभाजित की गई है। पहले तथा दसवे मण्डलो मे छोटे वंशो की रचनाएँ हैं। नवम मण्डल मे सोम मन्त्रो को एकत्र किया गया है। दूसरे मण्डल मे गृत्समद गोत्र के सदस्यो की

रचनाये है। तीसरे मण्डल मे विश्वामित्र गोत्र के सदस्यो की रचनाएँ हैं, चौथे मे वामदेव गोत्र रचनाएँ है। पाँचवे मे अत्रि गोत्र की रचनाएँ है। छठे मे भारद्वाज गोत्र की रचनाएँ हैं। सातवे मे वशिष्ठ गोत्र के सदस्यो की तथा आठवे मे कण्व तथा अङ्गिरस गोत्रो के सदस्यो की रचनाएँ है। यह सामान्यत· स्वीकार किया जाता है कि इन विभिन्न मण्डलो मे से दूसरे से सातवे मण्डलो मे सबसे पुरानी सामग्री सकलित है और इसके बाद लगभग कालक्रम मे आठवाँ, नौवाँ तथा अन्त मे दसवाँ मण्डल आते है जो ऋग्वेद के स्तुतिपरक काव्य की नवीनतर सामग्री का वर्णन करते हैं।

ऋग्वेद के विभिन्न संस्करणो मे से हमारे पास केवल शाकल सस्करण है, और अपने अध्ययनो मे जब कभी भी हम ऋग्वेद का उल्लेख करते है, तो हमारा अर्थ इसी से होता है। इस संस्करण मे १०१७ सूक्त है। ऋग्वेद को अपौरुपेय कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन ऋषियो को मन्त्रो का प्रकटीकरण हुआ था और इनकी रचना सामान्य रूप से नही हुई थी। ये मन्त्र सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) का नि श्वास अर्थात् 'नि.श्वसितम्' कहे जाते है। यह मानव आत्मा द्वारा श्रुत अनन्त की स्वरलहरी है। इनके ऋषियो के अनुसार ये मन्त्र है तथा उसी प्रवीणता से रचे गए है जिससे कि एक काष्ठकार या 'तक्षा' रथ बनाता है, या एक पुरोहित प्रवीणता से 'बर्हिस्' (कुशा) को छाँटता है। ऋषियो को यह आशा थी कि मन्त्र सम्बोधित देवताओ के हृदयो को छूलेगे और अभीष्ट सिद्धि मिल जाएगी।

ऋग्वेद की विपय-वस्तु इतनी विविध है कि वास्तव मे यह एक पुस्तकालय है, न कि पुस्तक। ऋग्वेद मे हम प्रारम्भ के आर्यो के धर्म, दर्शन एवं सस्कृति के प्रति विचारो की प्रगति देख सकते है। यह उस समय की ऐतिहासिक घटनाओ का भी विवरण देता है और हम उस समय की राजनैतिक परिस्थितियो की झलक देख सकते है। ऋग्वेद में ही सर्वप्रथम हमें मानव द्वारा, सृष्टिकर्ता तथा ससार के विकास के विपय मे मूल प्रश्न पूछे गये मिलते है। बहुत सारे सूक्तो मे ऐसे प्रश्न उठाए गये है और इन प्रश्नो का उत्तर पाने की गम्भीर चेष्टा की गई है। ऋग्वेद से हमे जिस सभ्यता और संस्कृति का बोध होता है उसका उल्लेख तीसरे अध्याय मे किया जा चुका है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद विषयवस्तु एवं भाव की दृष्टि से ऋग्वेद से तत्वतः भिन्न है। ऋग्वेद मे यदि हम देवताओ का उल्लेख पाते हैं जिन्हे प्रकृति की शुभ शक्तियाँ एवं ईश्वरीय प्राणी माना जाता है, तो अथर्ववेद मे हमे भूत-प्रेतों का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद के सूक्त विभिन्न प्रकार के मन्त्र-तन्त्र एवं वशीकरण-मन्त्र है जिनके द्वारा तन्त्रजालिक प्रेतात्माओ को वश मे करने के प्रयास करते है। इसके सूक्त अधिकतर व्यक्तिगत है, क्योकि इसके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिलाषाओं एवं आकाक्षाओ की पूर्ति करने का प्रयास करता है। प्रायः कहा जाता है कि अथर्ववेद के मन्त्रो का लक्ष्य संतुष्ट करना, वरदान देना एवं अभिशाप देना है।

अथर्ववेद ७३१ सूक्तो का संग्रह है, जिसमे लगभग ६००० मन्त्र हैं और यह २० काण्डो मे विभाजित है। अन्तिम दो काण्ड संहिता के भाग नही थे वल्कि बाद में जोडे गए हैं। लगभग सम्पूर्ण २०वें काण्ड की रचना ऋग्वेद मे अक्षरशः लिए हुए मन्त्रों के रूप में की गई है। इस प्रकार अथर्ववेद का बहुत बडा भाग ऋग्वेद से मिलता-जुलता है।

अथर्ववेद का वास्तविक महत्व इस तथ्य मे है कि इनमे हमें विशुद्ध लोकप्रचलित विश्वास,

धर्म एवं जादू-टोना का ज्ञान प्राप्त होता है जो कि पुरोहितों के धर्म से प्रभावित नही हुआ था। अथर्ववेद मानवविज्ञान-वेत्ता के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

यजुर्वेद—यजुर्वेद संहिता मे अध्वर्यु पुरोहित की प्रार्थना है। पतञ्जलि कहते है कि यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञीय अनुष्ठान, उनके सम्पादन की विधि एवं उनके महत्व के विषय मे मत-वैभिन्य के कारण इसकी इतनी अधिक शाखाये रही होगी। हमे यजुर्वेद की ५ संहिताएँ ज्ञात है। वे है—काठक संहिता, कपिष्ठल-कठ संहिता, मैत्रायणीय संहिता, तैत्तिरीय संहिता (आपस्तम्ब सहिता) तथा वाजसनेय सहिता। ध्यान देने की बात यह है कि पहली चार शाखाएँ आपस मे सम्बन्धित है और कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है और अन्तिम वाजसनेय संहिता दो पाठो में प्राप्त है—एक काण्व शाखा का एवं दूसरा माध्यन्दिन शाखा का जो शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्ध रखते है।

शुक्ल यजुर्वेद अर्थात् वाजसनेयि संहिता मे केवल मन्त्र, प्रार्थनाएँ एवं यज्ञीय सूत्र है जिनका उच्चारण पुरोहित द्वारा होता था, कृष्ण यजुर्वेद मे मन्त्रो के अतिरिक्त यज्ञ की विधि का विवरण और उसके विषय में विचार-विमर्श भी है। यह वास्तव मे ब्राह्मण ग्रन्थ है।

यजुर्वेद एक अनुष्ठान विषयक संहिता है जो अनिवार्य रूप से यज्ञ से सम्बद्ध है। वाजसनेय संहिता शुक्ल यजुर्वेद की संहिता है जिसमे केवल प्रार्थनाएँ एवं यज्ञीय सूत्र है। इनमे यज्ञीय अनुष्ठानो के बारे मे धर्म विषयक चर्चाएँ नही है अर्थात् वे ब्राह्मण भाग से रहित है। वाजसनेय सहिता की विषय-वस्तु के निम्नलिखित सक्षिप्त विवरण से हमे यजुर्वेद के स्वरूप का अनुमान होता है। वाजसनेय मे कुल ४० अध्याय है जिनमे से अन्तिम २२ बाद के हैं। प्रथम २५ अध्यायो मे अत्यधिक महत्वपूर्ण यज्ञो के लिए प्रार्थनाएँ हैं। प्रथम दो अध्यायो मे 'दर्शपूर्णमास' तथा 'पिण्ड-पितृयज्ञ' के लिए प्रार्थनाएँ है। तृतीय अध्याय मे दैनिक अग्निपूजा के लिए प्रार्थनाएँ है, जिन्हे 'अग्निहोत्र' तथा 'चातुर्मास्य' कहते हैं। चौथे से आठवें तक के अध्यायो मे सामान्य रूप से सोमयज्ञ और इससे सम्बद्ध पशुयज्ञ के लिए प्रार्थनाएँ है। सोमयज्ञ के दो प्रकार होते थे—एक वह जो एक दिन मे समाप्त हो जाता था (एकाह) और दूसरा वह जो कई दिनो तक चलता था।

यजुर्वेद मे विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ एवं यज्ञीय सूत्र है। ये आँशिक रूप से पद्य मे एवं आशिक रूप से गद्य मे हैं। गद्य भाग को 'यजुस्' कहते है और इसलिए इसका नाम यजुर्वेद है। प्रार्थनाएँ यज्ञीय भेंट के समर्पण, यज्ञीय कर्म का सकेत, देवताओ की प्रशसा या याचना, यज्ञकर्ता की इच्छाओ को अभिव्यक्त करने के लिए की जाती थी।

सामवेद—पुराणो से हमे ज्ञात होता है कि सामवेद की १००० संहिताएँ थी। इनमे से हमें केवल तीन ही उपलब्ध है—कौथुमस, राणारणीय एवं जैमिनीय की संहिताएँ। इनमे से कौथुमस की संहिता सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस सामवेद संहिता के दो भाग है—अर्चिका एव उत्तरार्चिका जो कि मन्त्रो के सग्रह है। अधिकतर छन्द ऋग्वेद से लिए गए है। इनके १८१० मन्त्रो मे से लगभग १७३५ ऋग्वेद संहिता मे पाए जाते है, विशेषकर आठवे एव नवम मण्डल मे। सामान्य रूप से इसमे गायत्री छन्द का प्रयोग हुआ है और प्रगाय शब्द की 'गा' धातु उनका सम्बन्ध संगीत से सूचित करती है। शेष छन्द भी अन्य संहिताओ तथा अनुष्ठानो से सम्बन्धित रचनाओ मे मिलते है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के महत्वपूर्ण अंग हैं। ये ग्रन्थ यज्ञीय सूत्रों एवं अनुष्ठानों से सम्बद्ध हैं और इनमें पुरोहितों द्वारा दिए गए धर्म विषयक स्पष्टीकरण एवं विचार विमर्श हैं। ये गद्य रचनाएँ हैं, जो विभिन्न वेदों से सम्बद्ध हैं।

चारो वैदिक संहिताएँ ब्राह्मण ग्रन्थो से सम्बद्ध हैं और ब्राह्मण साधारण रूप से एक या दूसरे वेद से सम्बद्ध हैं। अनुष्ठानो के विभिन्न सम्प्रदाय विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के लिए उत्तरदायी थे। ब्राह्मण साहित्य का प्रारम्भ कृष्ण यजुर्वेद के गद्य भाग के व्याख्या-खण्डो से होता है। प्रत्येक वैदिक सम्प्रदाय में अपना ब्राह्मण होता था, जो संहिता से सम्बद्ध होता था। वास्तविक ब्राह्मण साहित्य के अनुकरण से परवर्ती तथाकथित ब्राह्मण साहित्य की उत्पत्ति हुई, जो कि ब्राह्मणों की अपेक्षा वेदागो के अधिक अनुरूप हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थो की सृष्टि कथाओ मे यज्ञीय अनुष्ठान अध्यात्मवाद की अपेक्षा अधिक प्रधान है। ब्राह्मण ग्रन्थो का सबसे महत्वपूर्ण विचार उनका बन्धुत्व दर्शन, प्रत्यक्ष समरूपता के आधार पर एकात्मकता को बनाए रखने का भाव है। भारतीय दार्शनिक विचाधारा को ब्राह्मणों की यह अत्यधिक महत्वपूर्ण देन है, क्योंकि इन रहस्यमय तादात्म्यों से ही उपनिषदो के महान् तादात्म्य का विकास हुआ है।

आरण्यक

आरण्यकों की रचना वनों मे हुई। इनमें विचारकों का चिन्तन है जो इन्होंने वनो में रह-कर किया। ब्राह्मणों के प्रचुर कर्मकाण्डवाद, अनुष्ठान की उत्पत्ति, अभिप्राय एवं महत्व के विषय मे उनका चिन्तन और उसमे प्रतीकात्मकता ढूंढने के उनके प्रयास आदि ने विचारकों की आत्मा को वास्तव मे जाग्रत किया। वस्तुतः ऋग्वैदिक समय से ही समाज में ऐसे विचारक थे, जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डीय समुदाय से अलग थे और चिन्तन मे अधिक विश्वास रखते थे। ये लोग निरर्थक कर्मकाण्डो में और देवताओ को हवि अर्पण करने में विश्वास नहीं करते थे। ऋग्वैदिक समय के इन समुदायो मे सन्यासधर्म की उत्पत्ति हुई। भ्रमणशील संन्यासियों की संस्था चिन्तन-शील एवं विचारशील दर्शन के विकास के लिये उत्तरदायी थी। ब्राह्मणो में कल्प अर्थात् अनुष्ठानो के नियम, इतिहास अर्थात् पौराणिक कथाएँ एवं दन्तकथाएँ, पुराण अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति की पौराणिक कथाएँ, गाथा अर्थात् महाकाव्यीय गीत एवं नाराशंसी अर्थात् वीरों की प्रशस्तियाँ मिलती हैं। ब्राह्मणो में व्याकरण, ध्वनिविज्ञान एवं ज्योतिःशास्त्र की उत्पत्ति की पूर्वकल्पना मिलती है। दार्शनिक चिन्तन की जागृति ब्राह्मणो से पहले हुई न कि बाद मे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के सूक्तो और यजुर्वेद के कुछ भागों में यह दार्शनिक विचार धारा दिखाई देती है जो उपनिषदो एवं आरण्यको में परिपक्व होती है। आरण्यक ब्राह्मणो के परिशिष्ट के रूप मे है। इनमे यज्ञ के नियमो एवं विधि पर विचार विमर्श नहीं है; परन्तु यज्ञ एवं पुरोहितो के दर्शन का अध्यात्मवाद एवं प्रतीकवाद मिलता है। कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थ, जो यज्ञ विधि के बारे में निर्देशन करते हैं, गृहस्थ के लिए बने थे। इसके विपरीत आरण्यक एकान्तवासी वानप्रस्थो के लिए थे। आरण्यक एवं उपनिषद् दोनो वेद के अन्तिम भाग हैं। इसलिए इन्हें सामान्य रूप से वेदान्त कहते हैं। आरण्यक ब्राह्मणों की तरह जिनके वे अंग हैं, विविध वैदिक शाखाओ से सम्बद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद

के ऐतरेय ब्राह्मण का अंग है। इसी प्रकार कौपीतकि आरण्यक कौपीतकि ब्राह्मण का अंग है। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का अग्रभाग है। शुक्ल यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण में चौदहवे अध्याय का एक भाग आरण्यक है। प्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् एक आरण्यक भी है और सम्भवतः सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण से सम्बद्ध है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण भी सामवेद की जैमिनीय शाखो का एक आरण्यक है।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप+नि+सद् से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है गुरु के निकट शिक्षा प्राप्ति के लिए बैठना। यह शिक्षा साधारण रूप से गोपनीय होती थी और इसलिए शिष्य और गुरु का यह उपवेशन गुप्त होता था। इसलिए जो कुछ सिखाया जाता था वह गुप्त सिद्धान्त होता था। यही कारण है कि 'रहस्यम्' उपनिषद का पर्यायवाची शब्द बन गया है। ओल्डेनबर्ग इस शब्द को उपासना के अर्थ मे लेते है और इसलिए इसे उपासना से सम्बद्ध करते है। सेनार्त ने ध्यान दिलाया है कि उपनिषद् की क्रिया उप+आस् का अर्थ उपासना नही है, बल्कि ज्ञान प्राप्ति है और इसलिए उनके अनुसार उपनिषद् शब्द का अर्थ ज्ञान है। बोदास ने शिष्य को अग्नि के पास बैठा हुआ समझा है और उपनिषद् के संवादो को महायज्ञो के समय का सवाद समझा है। ह्यूअर इस उपवेशन को योग से सम्बद्ध करते है और इसलिए उपनिषद् का अर्थ तपस्या या ध्यान द्वारा विवेक की उपलब्धि समझा है। नारायण का आशय है कि इसका अर्थ पास बैठकर उच्चारित मूल पाठ से है और महान् शंकराचार्य उपनिषद् को अज्ञान का नाश करके मोक्ष प्राप्त कराने वाला ज्ञान समझते है।

कुछ विद्वानो का मत है कि उपनिषद् क्षत्रिय दर्शन-शास्त्रियों की शिक्षा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदो का दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुष्ठानो के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही नही बल्कि लगभग विद्रोह है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि उपनिषदो मे ब्राह्मण छात्रो के रूप मे वर्णित है जो क्षत्रिय राजाओ—जैसे जनक, अश्वपति, कैकेय, प्रतर्दन आदि के पास शिक्षा प्राप्ति के लिए जाते है। तीसरी बात यह है कि ब्राह्मणो के अनुष्ठान यहाँ 'ध्यान' की अपेक्षा अप्रधान है। वास्तव मे ब्राह्मण बाह्य कर्मकाण्डवाद की शिक्षा देते है जबकि उपनिषद् आन्तरिक ज्ञान पर बल देते हे। उपनिषद् गद्य एवं पद्य दोनो मे है और लगभग प्रत्येक उपनिषद् मे कुछ पूर्ववर्ती और कुछ परवर्ती काल के अंश मिलते है। ये ब्राह्मणो एवं आरण्यको के अन्तिम भाग है जो प्रायः उनके सदृश हैं, परन्तु इनका अपना ही अलग सौन्दर्य एवं महत्व है। ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौपीतकि तथा केन एवं इस वर्ग के अन्य कई उपनिषदो की रचना बुद्ध एवं पाणिनि से भी पूर्व हुई थी। प्रमुख उपनिषदों की सूची मे ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य एवं बृहदारण्यक है, जिनमे हमे विशुद्ध मौलिक वेदान्त के तत्व मिलते हे। उपनिषद् भी ब्राह्मणो की भाँति वेदो से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार ऐतरेय एवं कौपीतकि ऋग्वेद से सम्बद्ध हे। कठ, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी एवं महानारायण कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हे। ईश शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं।

कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक एवं प्रश्न आदि उपनिषदो का वर्ग वेदान्त तथा सांख्ययोग एवं ऐकेश्वरवाद के मिश्रित सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। उपनिषद् दो सौ से अधिक हैं, जिनमे से

अधिकांश बहुत बाद के है। साधारणतः शंकर ने जिन उपनिषदों पर भाष्य किया है, उन्हें श्रेष्ठ उपनिषद् समझा जाता है जो वास्तविक वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है।

उपनिषद् प्रायः संवादों के स्वरूप मे है—पिता व पुत्र—आरुणि व श्वेतकेतु के मध्य संवाद, पति व पत्नी—याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी, या राजसभा के एक दार्शनिक का अपने समय के अन्य दार्शनिको से संवाद—याज्ञवल्क्य एवं जनकसभा आदि। कभी-कभी एक गुरु अपने उत्साही शिष्य को शिक्षा देता है—जैसे यम नचिकेता को। अक्सर वे रूपक एवं उपमा का प्रयोग करते है और इस गद्य मे काव्य का पूर्णतया प्रगीतत्व है। विचारो एवं अभिव्यक्ति मे उपनिषद् की उत्कृष्टता मे कोई दो मत नही है और इसी मे इसकी महत्ता है।

वेदांग साहित्य

संहिताओं, ब्राह्मणो, आरण्यकों तथा उपनिषदों के अतिरिक्त वेदागो से भी तत्कालीन सभ्यता के ज्ञानार्जन मे अधिक सहायता मिलती है। वेदाग क्रमानुसार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष कहलाते है।

शिक्षा—शिक्षा के द्वारा वेदमंत्रो के उच्चारण का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद पढने के लिए उसका उच्चारण सीखना नितान्त आवश्यक है। बात यह है, वेद मे स्वरों की प्रधानता है। स्वर-भेद से अर्थात् ऊँचे स्वर से उच्चरित होने वाले शब्द का धीमे स्वर से उच्चारण करने मे अर्थ-भेद हो जाता है। यही कारण है महाभाष्यकार पंतजलि आदि ने उन आचार्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है जिन्होने उच्चारण विधान के समझाने मे सतर्कता से काम लिया है। 'शिक्षा' का ब्राह्मण, उपनिषद् आदि मे सर्वत्र ध्यान रक्खा गया है। 'शिक्षा' सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ पाए जाते है। इसका अध्ययन करने से कम से कम तत्कालीन संस्कृति की एक बात जानी जा सकती है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषाशास्त्र के उस अंग को समझने का कितना वैज्ञानिक प्रयास किया था।

कल्प—'कल्प' दूसरा वेदांग है, जिसमें वेद निहित कर्मो की विधि-पूर्वक व्यवस्था की गई है। उसमे कर्मकाण्ड तथा यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठानो का विशद वर्णन मिलता है। वेद मे तरह-तरह के यज्ञ, विविध संस्कार जैसे उपनयन, विवाह आदि का प्रतिपादन है, उन्ही का क्रम-बद्ध वर्णन 'कल्प' मे दिया है। 'यज्ञ' वैदिक कालीन आर्यों का विशेष धार्मिक कृत्य था। इनके लम्बे चौडे विधान वेदो में मिलते है। दैनिक व्यवहार के लिए इस बात की आवश्यकता समझी गई कि उस विधान को सूक्ष्म आकार मे प्रस्तुत किया जाय। फलतः कल्प-सूत्रो का निर्माण हुआ।

कल्प-सूत्र अपने समय की सभ्यता का ज्ञान कराने मे बड़े उपयोगी है। ये चार प्रकार के है। (१) श्रौतसूत्र मे यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठानो की चर्चा है। इन सूत्रो से हमे उस युग की धार्मिक रूढ़ियो, नियमो तथा विश्वासो के समझने मे सहायता मिलती है। (२) गृह्यसूत्रो में विशेषत. जन्म, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारो का वर्णन मिलता है। गृह-निर्माण, गृह-प्रवेश, उपाकरण (श्रावणी), ऋषि-तर्पण आदि का भी इनमें सुचारु रूप से वर्णन किया गया है। (३) धर्म सूत्रो में तत्कालीन सभ्यता की सामग्री सन्निहित है। धर्म सूत्रो मे भी गृह्यसूत्रो की भाँति यज्ञ और संस्कारो का वर्णन है। परन्तु इनमे आकार-प्रकार पर जोर न देकर कर्तव्य-कर्म और व्यवहार पर अधिक बल दिया गया है। धर्म सूत्रो में हमे ज्ञात होता है, पुत्रों के बीच सम्पत्ति का विभाजन किस प्रकार किया जाय। उनके दाय-भाग, स्त्रियो की स्थिति, व्यभिचार

के लिए प्रायश्चित, नियोग, नित्यनैमित्तिक कर्म की भी चर्चा है। धर्म सूत्रों में वौधायन, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्म-सूत्र प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं। इनका समय ५५० ई० पू० से लेकर ५० ई० पू० तक का माना जाता है। चौथा शुल्व-सूत्र है जिसमें वेदी के निर्माण की रीति का विधान है। यह आर्यों की प्राचीन ज्योमिति तथा गणना से सम्बन्धित है। अतएव इसका वैज्ञानिक महत्व है।

व्याकरण—व्याकरण का अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र। व्याकरण वेद-पुरुष का मुख माना गया है। अस्तु, इसकी महत्ता अतुलनीय है। यद्यपि विद्वानों ने पाणिनि से भी पहले वैयाकरणो की सत्ता स्वीकार की है, पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नही है। सास्कृतिक इतिहास के विद्यार्थी को पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से ही तत्कालीन भारत का चित्र देखने को मिलता है। पाणिनि को संस्कृत की छान बीन करने के लिए मनुष्य जीवन के विविध व्यवहारों का अध्ययन करना पड़ा। अस्तु, उनकी 'अष्टाध्यायी' तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोष है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक जीवन से अध्ययन के लिए पाणिनीय व्याकरण परमोपयोगी है। पाणिनि लगभग पाँचवी शताब्दी ई० पू० मे हुए।

निरुक्त—यह वेदो के अर्थ-वोध कराने में उपयोगी है। व्याकरण से शब्द का लक्षण ज्ञात होता है, निरुक्त के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से यह व्याकरण का पूरक है। निरुक्त का दूसरा नाम भापा-विज्ञान है। 'यास्क' रचित 'निरुक्त' वेदांग का प्रमुख ग्रन्थ है। इसका काल ईसा से छ: सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है।

छन्द—छन्द भी एक महत्वपूर्ण वेदांग है। इसका अर्थ सुस्पष्ट है। यह काव्य का शृंगार है। छन्द के पाश मे वंधकर भाव मर्मस्पर्शी और हृदय-संवेदक हो जाते है। मन्त्र रचना का प्रमुख उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न करना था। इसी कारण छन्द की आवश्यकता पडी। पिंगलाचार्य ने छन्द सूत्र की रचना की। इस वेदाग का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ज्योतिष—यज्ञादि सम्पादन के लिए ऋपियों ने उपयुक्त नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास ऋतु संवत्सर का चुनना आवश्यक समझा। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है : 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीन, शरदि वैश्य आदधीन'[1] अर्थात् ब्राह्मण वसन्त मे अग्नि की स्थापना करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में तथा वैश्य शरदऋतु में। यज्ञ की सफलता के लिए उपयुक्त समय की अपेक्षा होती थी।

महाकाव्य

महाभारत और रामायण ऐसे दो महाकाव्य है जिन पर भारत की साहित्यिक परम्परा को गर्व होना उचित ही है। परम्परा से व्यास महाभारत के तथा वाल्मीकि रामायण के रचयिता माने जाते हैं। इन दो महाकाव्यो ने भारतीय जनता पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। उनके जीवन के आदर्श और शिक्षाएँ भारतीय समाज में गहराई से व्याप्त है। ये दो महाकाव्य समस्त भारतीय समाज के लिए उसके कला, साहित्य और दैनिक व्यवहार के सम्बन्ध में भी संदर्भ स्रोत का कार्य करते हैं।

दोनों महाकाव्य अपने प्रभाव के विस्तार में समान है, किन्तु अन्य दृष्टियो से एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। रामायण आदि काव्य माना जाता है, जबकि विश्वकोप सदृश महाभारत को

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।

इतिहास कहते हैं। रामायण में एक निश्चित एकता है और यह अधिकांशतः एक लेखक की कृति है, जबकि महाभारत ठीक ही घोषित करता है कि वह संसार के सभी विषयों को स्पर्श करता है और कवियो की कई पीढ़ियो के प्रयत्नो का परिणाम है। व्यास की अपेक्षा वाल्मीकि का व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट है।

महाभारत—प्रारम्भिक वैदिक साहित्य महाभारत मे वर्णित घटनाओ के बारे मे व्यवहारतः मौन है। ब्राह्मणो और उपनिषदो में आख्यान, इतिहास, पुराण और गाथा नाराशंसी का प्रायः उल्लेख है, तथापि कुरुक्षेत्र मे लड़े गए महायुद्ध का कहीं भी संकेत नही है। ब्राह्मणो मे कुरुक्षेत्र के पवित्र स्थल का यज्ञ सत्रो और प्रीतिभोजो के स्थल के रूप मे उल्लेख है किन्तु, रणक्षेत्र के रूप मे नही। काठक संहिता मे कुरु-पाचालो के यज्ञभोज का वर्णन करते हुए, विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र की चर्चा है, किन्तु राजा पाण्डु, उसके पुत्र पाण्डव एव दुर्योधन, दु.शासन, कर्ण इत्यादि का कहीभी उल्लेख नही है केवल सांख्यायन श्रौतसूत्र मे हमे सर्वप्रथम कुरुक्षेत्र के युद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे कौरवो के नाश का वर्णन है। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे आचार्यो एव धर्मग्रन्थो की एक सूची में महाभारत का उल्लेख है जो वेदाध्ययन के उपरान्त मन्त्रो द्वारा सम्मानित किए जाते हैं। पाणिनि युधिष्ठिर, भीम और विदुर आदि नामो की व्युत्पत्ति बतलाते हैं और महाभारत शब्द की समास सम्बन्धी व्याख्या करते है। पतंजलि ने ही सर्वप्रथम कौरवो और पाण्डवो के महायुद्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है।

प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य के समाप्ति काल तक महाभारत महाकाव्य का अस्तित्व नही था, किन्तु ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी तक भारत या महाभारत नामक महाकाव्य का प्रादुर्भाव हो चुका था। इसमे कौरवो और पाण्डवो के युद्ध का वर्णन है जैसा कि साख्यायन, आश्वलायन और पाणिनि संकेत करते हे।

साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणो से स्पष्ट है कि ४०० ई० तक महाभारत एक पवित्र ग्रन्थ रूप में मान्य हो चुका था और जिस रूप मे महाभारत आज उपलब्ध है उससे अधिक भिन्न नही था। ७०० ई० मे कुमारिल महाभारत को व्यासरचित स्मृति ग्रन्थ मानते है और महाकाव्य के प्राय· सभी पर्वो से उद्धरण देते है। सुबन्धु और बाण (६००-६१० ई०) महाभारत को समस्त काव्य का चरमोत्कर्ष मानते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि बाण के समय मे उत्सवों के अवसर पर मन्दिरो मे महाभारत का पाठ होता था। पाँचवी और छठी शताब्दी के भूमिदान-पत्र दानधर्म के विषय मे महाभारत से श्लोक उद्धृत करते है। एक शिलालेख मे महाभारत शतसाहस्री संहिता—एक लाख श्लोको के संग्रह के रूप मे वर्णित है। इन सबसे यह प्रमाणित होता है कि तृतीय या चतुर्थ शताब्दी तक इसने वर्तमान रूप प्राप्त कर लिया था।

महाभारत की मुख्य कथा-वस्तु कौरवो की वीरगाथा है। इसके अतिरिक्त इसमे प्रसिद्ध राजाओ और प्राचीन काल के वीरो की गाथाएँ है, यद्यपि इनका केन्द्रीय कथावस्तु अर्थात् कुरुक्षेत्र से कोई सम्बन्ध नही। समग्र रूप मे महाभारत एक धार्मिक ग्रन्थ है जो विष्णु की उपासना की शिक्षा देता है, इसमें बहुत से ऐसे अंश भी है जो शैव मत से सम्बद्ध है। वैष्णवो की भाँति भागवतों ने भी महाकाव्य का संशोधन किया होगा, जिसमे हम कृष्ण को महायुद्ध में भाग लेने वाले, विदग्ध दार्शनिक और पाण्डवो के मित्र के रूप मे, कुछ स्थलो पर अवतार के रूप मे तथा कुछ अन्य स्थलों पर देवता के रूप में और अन्यत्र सर्वशक्तिमान रूप मे पाते हैं।

परम्परा से पाराशर और मत्स्यगन्धा के पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास इस महाकाव्य के रचयिता माने जाते हैं। डॉह्लमेन और सिल्वाँ लेवी मानते है कि यह महाकाव्य एक कवि के द्वारा रचित है। डॉह्लमेन के अनुसार यह बुद्ध के पूर्वकाल का महाकाव्य है और एक विधिशास्त्र के रूप मे है। लेवी के अनुसार यह सावयव और कलात्मक रूप से मुख्य कथावस्तु के चारों ओर फैला हुआ है और इसमे एक रस की प्रधानता है। हापकिन्स का मत है कि यह क्षत्रियवर्ग का धर्मग्रन्थ है। इन मतों को मानना बडा कठिन है, क्योकि महाभारत एक कवि की कृति नही है।

भगवद्गीता

महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश 'गीता' है। महाभारत को शास्त्रो मे 'पंचम वेद' कहा गया है। वस्तुतः जनसाधारण के लिए तथा विद्वानो के लिए भी महाभारत, उपयोगिता की दृष्टि से, वेदो से भी विशेष महत्व का समझा जाता है और इसके वचन को श्रुति के समान ही सभी प्रामाणिक मानते हैं। यही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमे समस्त ज्ञान भरा है और जो इसमे नही है, वह कही नही है। इस ग्रंन्थ को पढ़से का अधिकार वर्णों को, स्त्री तथा पुरुष को एवं म्लेच्छो को भी समान रूप से है।

इसकी रचना के समय के सम्वन्ध में वहुत-से विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है। चिन्तामणि विनायक वैद्य, करन्दिकर, आदि विद्वानों का कहना है कि महाभारत की लड़ाई दिसम्बर ११, ३१०२ ईसा पूर्व को आरम्भ हुई थी। प्रोफेसर अथवले का मत है कि ३०१८ ई० पू० मे लड़ाई आरम्भ हुई, प्रोफेसर तारकेश्वर भट्टाचार्य का कहना है कि १४३२-३१ ई० पू० मे लडाई आरम्भ हुई। ऐसी स्थिति में गीता की भी रचना महाभारत के समय मे ही हुई होगी।

महाभारत के साथ-साथ गीता के उपदेश को भी व्यास ने ही इस रूप मे लिखा। सञ्जय ने धृतराष्ट्र को युद्ध की बाते सुनाने के अवसर पर अर्जुन को दिये गये गीता के उपदेश को भी उन्हें सुनाया। अतएव महाभारत के युद्ध के पश्चात् व्यास ने अपनी दिव्यशक्ति से महाभारत की लडाई की सभी बातो को जानकर इस ग्रन्थ की रचना की।

कुछ लोगो के विचार से 'गीता' के आधुनिक पाठ के सम्बन्ध मे अनेक संशय है—(१) गीता की रचना महाभारत के पश्चात् हुई और वाद को महाभारत मे उसे जोड़ दिया गया। (२) गीता के उपदेश वहुत सक्षेप मे थे, बाद को उनका विस्तार किया गया। (३) गीता मे ७०० श्लोक है, यह सम्भव नही है कि इतने श्लोक पहले रहे होगे। इसके प्रमाण मे भोज-पत्र पर लिखी हुई गीता की पाण्डुलिपि का उल्लेख किया जाता है। वर्तमान गीता मे जो उपदेश है, वे युद्ध क्षेत्र मे, सेनाओ के वीच मे तथा इतने थोडे समय मे देने के योग्य नही है। वे तो एकान्त मे, किसी शान्त आश्रम मे ही बैठकर दिये जा सकते है। किन्तु इन समस्त आक्षेपो का पूर्णरूप से निश्चित निराकरण किया गया है।

भारतवर्ष के दार्शनिक-धार्मिक साहित्य मे भगवद्गीता का स्थान विशिष्ट है। कहा गया है कि भगवद्गीता मे उपनिषद्-रूपी गउओ का दुग्ध श्रीकृष्ण द्वारा दुहकर एकत्र कर दिया गया है, अर्जुन-रूपी वछडा इस दुहने की क्रिया का निमित्त मात्र है, उसका भोक्ता कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति हो सकता है। परम्परा के अनुसार उपनिषद् साहित्य श्रुति है और भगवद्गीता स्मृति।

गीता का उपदेश एक नैतिक अन्तर्द्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। इस प्रकार गीता की

शिक्षा में एक उदार समन्वय की भावना है, उसमें प्रायः किसी भी धर्म को मानने वालों के लिए रोचक एवं महत्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता मे कट्टर साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति नही पायी जाती, इसलिए भी वह सब प्रकार के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती है। भारतीय धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में गीता के महत्व का एक प्रमुख कारण उसकी समन्वय-दृष्टि है; तुलनात्मक धर्म के प्रसिद्ध अंगेजी विद्वान् जेनर ने भगवद्गीता के सन्देश एवं स्वर की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

स्वयं भारतवर्ष के प्रचुर धार्मिक साहित्य में भी भगवद्गीता का स्थान अद्वितीय है। वास्तव मे यदि किसी एक ग्रन्थ को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है तो वह भगवद्गीता ही है। सम्भवतः गीता ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ, लौकिक कर्ममय जीवन को उचित महत्त्व दिया गया है।

गीता की व्याख्या के रूप मे देश और विदेश में विस्तृत साहित्य की रचना हुई है। तिलक और गान्धी की व्याख्याओ के अलावा गीतोक्त 'कर्मयोग' के इधर के व्याख्याताओं में स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द घोष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। गीता की सबसे प्राचीन उपलब्ध व्याख्या शंकराचार्य का भाष्य है। महत्व की दृष्टि से पुराने टीकाकारों मे दूसरा स्थान रामानुजाचार्य का है। उक्त दोनो भाष्यो पर क्रमशः आनन्दगिरि और वेंटकनाथ ने टीकाएँ लिखी हैं। अन्य व्याख्याओ मे आनन्दतीर्थकृत (माध्व) भाष्य, जिस पर जयतीर्थमुनि की टीका है, श्री हनुमत्कृत 'पैशाच भाष्य', वल्लभानुयायी श्री पुरुषोत्तम जी कृत 'अमृततरंगिणी', श्री मधुसूदन सरस्वती कृत 'गूढार्थदीपिका', श्रीधर स्वामी कृत 'सुबोधिनी' आदि प्रसिद्ध है। अन्तिम दो लेखक अद्वैत मत के अनुयायी हैं। योरपीय ईसाई व्याख्याताओं में रुडॉल्फ ऑटो और आर० सी० जेनर के नाम उल्लेखनीय हैं।

रामायण

रामायण में सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड। इसमे २४,००० श्लोक है। रामायण की कहानी इतनी प्रचलित है कि यहाँ इसका वर्णन करना आवश्यक नही। रामायण के अध्ययन से आभास मिलता है कि प्रथम और सप्तम काण्ड बाद मे जोड़े गए है। यहाँ घटनाक्रम अनेक ब्राह्मण-ग्रंथो में वर्णित पौराणिक एवं दन्तकथाओ के समावेश से अवरुद्ध हो जाता है, जैसा कि महाभारत में भी है। उदाहरण के लिए प्रथम काण्ड मे ऋष्यश्रृङ्ग, वसिष्ठ, विश्वामित्र, मेनका, रम्भा, वामनावतार, गगावतार और समुद्र-मन्थन से सम्बन्धित कहानियो का उल्लेख किया जा सकता है। सातवें काण्ड मे हमे वे कथाएँ मिलती है जो महाभारत और पुराणो मे भी विद्यमान है। उदाहरणार्थ, ययाति और नहुष की कहानियाँ, इन्द्र द्वारा वृत्रासुर का वध, वसिष्ठ और अगस्त्य के जन्म तथा राजा इला के प्रसंग प्रस्तुत किये जा सकते है। इन सभी का मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नही है।

रामगाथा और वैदिक साहित्य के बीच अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि उपनिषदो के वैदेह जनक वही जनक हैं जो रामायण मे सीता के पिता के रूप मे वर्णित हैं। ऋग्वेद के 'पृथ्वीसूक्त' मे सीता की स्तुति पृथ्वी देवी के रूप मे की गई है। अतः पृथ्वी से उसका सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। इसलिए रामायण मे भी सम्भवतः सीता के इस स्वरूप को सुरक्षित रखा गया है जहाँ पृथ्वी के गर्भ से सीता की उत्पत्ति और अन्त मे उसी

में प्रवेश का वर्णन मिलता है। 'गृह्यसूत्र' सीता के व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से वर्णन करते है तथापि वैदिक सीता महाकाव्य की सीता से नितान्त भिन्न है।

भारतीय साहित्य मे वाल्मीकि की रामायण एक महान् प्रेरक स्रोत का कार्य करती रही है। उसने काव्य-शैली का आदर्श प्रस्तुत किया है। नैतिकता और चारित्रिक आदर्श प्रस्तुत किये है। भावो का उदात्त दर्शन यदि कही होता है तो वह रामायण मे ही है। संस्कृत साहित्य और भारतवासी वाल्मीकि और उनकी रामायण के चिरऋणी है।

पुराण

प्राचीनता की दृष्टि से पुराण की जड़े वैदिक साहित्य मे है। कई वैदिक गाथाएँ पुराणो मे पुन. प्रकट होती है। पुराण शब्द का अर्थ है प्राचीन घटना-वर्णन। वैदिक साहित्य मे यह सर्वदा इतिहास शब्द से सम्बद्ध है। अथर्ववेद चारो वेदो के साथ पुराण का सकेत करता है। सूत्र-साहित्य के समय मे वास्तविक पुराण प्रादुर्भूत हुए और गौतमसूत्र एक राजा को वेद और स्मृतिग्रन्थ के साथ पुराण को भी विधि के लिए प्रमाण मानने का परामर्श देता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे पुराण में तीन उद्धरण हैं जिनमे से एक भविष्यपुराण से है।

महाभारत से भी सकेत मिलता है कि पुराण अधिक प्राचीन है। महाभारत पुराण ग्रन्थो की भाँति प्रारम्भ होता है और कथावाचक उग्रश्रवस पुराणो मे निष्णात है। महाभारत मे पुराणो से आने वाले आख्यान, गाथाओं और श्लोको को परिवर्तित किया गया है। हरिवंश वायुपुराण को उद्धृत करता है और अनेक स्थलो पर वायुपुराण से साम्य रखता है। अनेक आख्यान महाकाव्य और पुराण मे समान है। महाभारत के एक परवर्ती श्लोक मे अठारह पुराणो का उल्लेख है। इसका तात्पर्य यह है कि पुराण महाकाव्यो से पहले विद्यमान थे। यह कहना उचित नही होगा कि सभी पुराण एक पुराण से निकले है। पुराण शब्द प्राचीन परम्परा के पौराणिक साहित्य को सूचित करता है।

पुराण के पाँच लक्षण हैं अर्थात् यह पाँच विषयो का वर्णन करता है—सर्गः, (सृष्टि) प्रतिसर्गः (पुन सृष्टि), वश., मन्वन्तरम् चवं वंशानुचरितम् (सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओ का इतिहास)। पुराण विष्णु, शिव इत्यादि किसी एक या दूसरे देवता की उपासना हेतु समर्पित है। उनमे—दर्शन साङ्ख्य, योग और वेदान्त पर भी सामग्री है। उनमे वर्णों और आश्रमो के कर्तव्य एवं अधिकार, ब्राह्मणो के सामान्य अधिकार, विशेपत, अन्त्येष्टि सस्कार (श्राद्ध), देवताओ के सम्मान मे उत्सव और अनुष्ठान पर भी अध्याय है। परम्परागत रूप से व्यास पुराणो के सकलन-कर्ता माने जाते हैं।

प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास के ज्ञान के लिए पुराण बहुमूल्य है। धर्म के इतिहास के लिए भी उनका बडा महत्व है। वे परम्परा से १८ उपपुराण विदित होते है, तथापि उनके नामो के बारे मे एकमत नही है। अठारह पुराण ये है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड।

धर्मशास्त्र

सूत्रकाल मे मार्गदर्शन के लिए सूत्रो की रचना विभिन्न चरणो मे हुई। सामान्यतया ये सूत्र

पूर्व वैदिक साहित्य पर आधारित थे। इनमें पारिवारिक अनुष्ठान, धार्मिक अनुष्ठान और दर्शन को गृह्यसूत्रो, श्रौतसूत्रो और ब्रह्मसूत्रो के रूप मे संहितावद्ध किया गया। ये धर्मसूत्र अपनी विषयवस्तु के लिए वैदिक परम्पराओं पर आधारित हे। उनमे यत्र-तत्र वैदिक साहित्य के अंश दिए हुए हे। इन धर्मसूत्रों से धर्मशस्त्र का आरम्भ होता है। धर्मसूत्र ग्रन्थों मे गौतम, वसिष्ठ, वौधायन, आपस्तम्व, मानव और अन्य सूत्रकारो के धर्मसूत्र हैं। इन सव ग्रन्थो की रचना दूसरी या तीसरी शताव्दी ई० पू० मे हो चुकी थी, परन्तु वैदिक साहित्य के अध्ययन के ह्रास के साथ-साथ इन धर्मसूत्रो का भी लोप होता गया। धर्मशास्त्रो का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, जो ब्राह्मणवाद के सिद्धान्तो के अनुसार जीवन को नियमित करने का प्रयत्न करते हे।

मनुस्मृति—मनुस्मृति एक विशिष्ट प्रकार का धर्मशास्त्र है, और महाभारत से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रथम अध्याय मे पौराणिक, वेदान्त सम्बन्धी और साख्य विचारधाराओं का विवरण है। द्वितीय अध्याय मे विधि के स्रोत और ब्रह्मचारियो के कर्त्तव्यो का विवरण दिया गया है। तीसरे से पाँचवें अध्यायो मे गृहस्थ के कर्त्तव्यो को वताया गया है, छठे अध्याय में जीवन के दो अन्य आश्रमो वानप्रस्थाश्रम और संन्यास के विषय मे वताया गया है। इस प्रकार दूसरे से छठे अध्याय तक व्यक्ति के जीवन पर चर्चा की गई हे। सातवें अध्याय मे राजा के कर्त्तव्यो का उल्लेख है। आठवें तथा नवें अध्यायो मे दीवानी और फौजदारी कानून और ऋण, धरोहर, उपहार, वेतन, मानहानि, प्रहार और क्षति, चोरी, उत्तराधिकार और विभाजन आदि कानून सम्वन्धी अठारह विषयो पर चर्चा की गई हे। दसवे अध्याय मे वर्ण-संकर के कर्त्तव्य और ग्यारहवे अध्याय मे उपहार, यज्ञ और पश्चाताप के नियम दिए गए हे। वारहवें अध्याय मे मोक्ष के नियम और दूसरे जन्म मे अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए पापी का मार्गदर्शन किया गया है। यहाँ पर दी गई विषयवस्तु पर वेदान्त, साख्य और योग का प्रत्यक्ष प्रभाव हे। विधि-निर्माता के रूप मे मनु को वहुत सम्मान से स्मरण किया जाता है। वैदिक काल में भी ऋग्वेद मे मनु का पिता के रूप मे उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति मे वर्णित विधान की प्रणाली ब्राह्मणवाद के सिद्धान्तो से अत्यधिक प्रभावित है। इसमे आदिकालीन कानून को मानव के अनुकूल वनाया गया हे। मनुस्मृति पर जो अनेक टीकाएँ की गई हे वे इसकी लोकप्रियता और उत्कृष्टता की द्योतक हैं। इस ग्रन्थ मे ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान तथा ब्राह्मणो के प्रभुत्व का वहुत अधिक उल्लेख है। इसकी भाषा वहुत सरल है। लेखक ने विषय का प्रतिपादन वहुत ही गम्भीरता और अधिकार से किया हे तथा शैली वहुत ही हृदयग्राही है।

याज्ञवल्क्यस्मृति—यह वहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और पर्याप्त प्रभावशाली भी। यह शुक्ल यजुर्वेद के पारस्कर-गृह्यसूत्र से सम्वन्धित है, तथा कुछ अश तक मानव-गृह्यसूत्र से भी। इसमे वृहदारण्यक उपनिषद का भी उल्लेख हे। स्पष्टत. यह मनु से काफी वाद की कृति है, क्योकि इसमे प्रमाण के रूप मे लिखित प्रलेखो का विवरण दिया गया है, पाँच कठोर आदर्शों को मान्यता दी गई है और ग्रीक ज्योतिष का इसमे उल्लेख है। इसमे सोने की मुद्रा के लिए नाणक शव्द का प्रयोग किया गया है, जिससे यह ३०० ई० से पूर्व की रचना नही हो सकती। याज्ञवल्क्य-स्मृति मे मनु की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील विचार दिए गए हैं और यह कृति मनु की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित ढग से लिखी गई है। मनु के अठारह विषयो मे दो और विषयों को जोड़ दिया

गया है और आचार-व्यवहार को अधिक व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादित किया गया है। यह सब होते हुए भी मनु और याज्ञवल्क्य मे अनेक समानताएँ है। दोनों मे की गई दार्शनिक चर्चाएँ वेदान्त, साख्य और योग सम्बन्धी विचारो से समान रूप से प्रभावित है। इसकी शैली भी मनुस्मृति से मिलती-जुलती है। मनु की भाँति याज्ञवल्क्यस्मृति पर भी अनेक टीकाये लिखी गई है। जिनमे विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

अर्थशास्त्र

यह एक भ्रामक धारणा है कि भारतीय अधिकांशतः परलोक के प्रति अधिक चिन्तनशील होते थे और इहलोक के बारे मे उनके कोई विचार नही है। आरम्भ में अर्थ धर्म का ही एक अंग था, और इसी कारण धर्मसूत्र और स्मृति उन विषयो पर चर्चा करते हुए दिखाई देते है, जो वस्तुत. अर्थशास्त्र के विषय है। महाभारत मे बृहस्पति, विशालाक्ष, उशनस्, प्रचेतस्-मनु और गौरसिरस आदि का धर्मशास्त्र और राज्यशास्त्र पर आधि कारिक विद्वान के रूप मे उल्लेख किया गया है। इसके बाद ऐसी शाखाएँ विकसित हुईं, जिन्होने अर्थ और काम का स्वतन्त्र विषयो के रूप मे अध्ययन किया। इस प्रकार अर्थशास्त्र का आविर्भाव हुआ।

संस्कृत मे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योकि इससे भारतीय जीवन के व्यावहारिक पक्ष की जानकारी मिलती है। अर्थशास्त्र १५ अधिकरणो और १८० प्रकरणो मे विभाजित है। अध्यायो का आगे विभाजन किया गया है। गद्य भागो के अन्त मे एक श्लोक दिया गया है जिसमे उस अंश का साराश है। प्रथम अधिकरण मे राजकुमार की शिक्षा के विषय मे बताया गया है, जिसमे साख्य, योग, लोकायत, वेद तथा वेदागो का अध्ययन शामिल है। राजा से दुर्वह कर्तव्यो का निर्वाह करने की उपेक्षा की गई है और उसे शासन चलाने मे मन्त्रीगण तथा गुप्तचर सहायता प्रदान करते है। दूसरे अधिकरण मे अधीक्षको की चर्चा की गई है, क्योकि इनके माध्यम से सारा शासन चलाया जाता है। तीसरे मे कानून तथा चौथे मे पुलिस द्वारा बदमाशो के दमन के बारे मे बताया गया है। इसमे एक बहुत ही दिलचस्प बात यह है कि ठगने वाले डाक्टरो और व्यापारियो की बदमाशो की तरह भर्त्सना की गई है और कृत्रिम मूल्य-वृद्धि, मिलावट तथा गलत माप-तौल को रोकने के लिए उपाय सुझाए गए है। पाँचवे अधिकरण मे राज्य के सात तत्वों और अन्तर्राज्य सम्बन्धो की चर्चा की गई है। छठे अधिकरण मे शान्ति और उद्योग का वर्णन है। सातवे अधिकरण मे कार्यो के छ सम्भव ढग सुप्रसिद्ध षाड्गुण्य का वर्णन है। आठवे मे राजा के दुर्गुण बताए गए है। नौवाँ तथा दसवाँ युद्ध के बारे में है। ग्यारहवें मे यह बताया गया है कि किस प्रकार वैरी की सेना मे भेदभाव पैदा कर उन्हे नष्ट किया जा सकता है। बारहवे अधिकरण मे यह बताया गया है कि अपने साम्राज्य का किस प्रकार विस्तार किया जाय, तेरहवें मे सेना से घिरे नगर को कब्जे मे कर लेने के बारे मे बताया गया है। चौदहवें अध्याय मे विष के वीभत्स प्रयोग के बारे मे बताया गया है। पन्द्रहवे और अन्तिम अध्याय मे कार्य की योजना और चर्चा के दौरान उपयोग मे लाए गए बत्तीस सिद्धान्तो का क्रमिक प्रतिपादन किया गया है।

अर्थशास्त्र का लेखक विष्णुगुप्त चाणक्य माना गया है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का ख्यातिप्राप्त मन्त्री था। यह भी निश्चित नही है कि उनका नाम कौटिल्य या कौटल्य था। कौटिल्य उन्हे कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कहा जाता था और कौटिल्य उनके गोत्र का नाम है। एक विचार यह भी है कि लेखक तक्षशिला मे राजनीति का प्राचार्य था और यह इस बात का द्योतक

है कि अनेक राजनीतिक और प्रशासनिक समस्याओं के प्रति उनके विचार विशुद्ध सैद्धान्तिक हैं। परन्तु पुस्तक मे ऐसे संदर्भ हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि लेखक पाटलिपुत्र के इर्द-गिर्द के क्षेत्र की स्थिति से पूरी तरह से परिचित था। पुराणो और मुद्राराक्षस से विदित होता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का मन्त्री था और वह नन्दवंश के उन्मूलन के लिए उत्तरदायी था। परन्तु मेगस्थनीज ने, जो काफी समय भारत मे रहा, कही भी चाणक्य या उसकी उपलब्धियो का उल्लेख नही किया है। अर्थशास्त्र मे उल्लिखित विधान छोटे राज्य के लिए उपयोगी हो सकते हैं, एक वडे साम्राज्य के लिए नही। स्टाइन ने अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरण मे समानता खोजने का प्रयत्न किया है, परन्तु उससे खास परिणाम प्राप्त नही हुए, क्योकि महत्वपूर्ण विवरणो मे कोई खास समानता नही है। यह वहुत ही आश्चर्यजनक वात है कि अर्थशास्त्र मे पाटलिपुत्र की लकड़ी की किलावन्दी का कोई भी उल्लेख नही किया हे, उवकि उसमे पत्थर के निर्माण कार्यो का विवरण अवश्य दिया हुआ है। इस सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष निकालना खतरे से खाली नही है।

अनेक विद्वान, जो चाणक्य को चन्द्रगुप्त का अमात्य नही मानते, साहित्यिक आधार पर अर्थशास्त्र को ३०० ई० की रचना मानते है। दण्डी इसे प्राचीन रचना नही मानते। कालिदास को इसकी जानकारी थी, जैन रचनाएँ, नन्दीसूत्र और अनुयोगाद्वारसूत्र जो ५०० ई० की रचनाएँ है, चाणक्य तथा कौटिल्य से परिचित थे। कामसूत्र जो सम्भवत. ४०० ई० की रचना है, अर्थशास्त्र के वाद की रचना लगती है। इन सभी तथ्यो से इस वात की पुष्टि होती है कि अर्थशास्त्र ३०० ई० की रचना है।

शुक्रनीतिसार

शुक्रनीतिसार प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र के अध्ययन के लिए वड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। इसमे भी राज्य अथवा शासन-तंत्र का सैद्धान्तिक विवेचन नही किया गया है परन्तु इसमे शासन-व्यवस्था का जैसा सागोपाग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद के किसी अन्य ग्रथ मे नही है। राजा और उसके मंत्रियो तथा कर्मचारियो के कार्यो के अतिरिक्त इसमें परराष्ट्र और राजनीति का वर्णन वड़े विस्तार से किया गया है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमे पूरा विवरण है। प्रसंग-वश समाजशास्त्र और समाजनीति के कुछ प्रश्नो पर भी विशद विचार किया गया है। चार प्रकार के न्यायालयो का पूरा वर्णन किया है; किन्तु विधिशास्त्र की चर्चा नही की गई है। शुक्र के मता-नुसार शासन-पद्धति का ध्येय समाज की सर्वांगीण उन्नति साध्य करना था न कि केवल डाकुओ को दण्ड देना या मदिरादि व्यसनो को काबू में रखना था। हर एक राज्य का यह कर्तव्य था कि वह रुग्णालय, धर्मशालाएँ इत्यादि का प्रवन्ध करे व विद्या को प्रोत्साहन दे। व्यापार की वृद्धि व खानो, उद्योग-धन्धो व जंगलो की सुव्यवस्था व प्रगति करके देश की आर्थिक प्रगति करना सवसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

शुक्रनीति से ऐसी अनेक वाते विदित होती है जो अन्य ग्रन्थों मे नही दी गयी हैं। दरवार मे विभिन्न वर्ग के दरवारी कहाँ-कहाँ वैठते थे, सामन्तो की विभिन्न श्रेणियाँ और उनकी आय क्या थी इन बातो का वर्णन इस ग्रथ मे मिलता है। मन्त्रिमंडल के हर एक मंत्री का कौन कार्यक्षेत्र था व उसके पद का नाम क्या था, इसका वर्णन सवसे पहले इस ग्रंथ में मिलता है। मन्त्री लोग रोज किस प्रकार अपना दैनिक कार्य करते थे, उनके कितने सहायक थे, राजा से उनका किस प्रकार का सम्बन्ध था, इसका सुन्दर चित्र शुक्र ने दिया है। शुक्रनीतिसार के विषय मे अनेक सन्देह भी उप-

स्थित किये गये हैं। यह भी विवादास्पद है कि उपलब्ध ग्रन्थ शुक्रनीतिसार है, शुक्रनीति नहीं। महाभारत के अनुसार शुक्रनीति एक सहस्त्र अध्यायो का ग्रन्थ होना चाहिये, परन्तु इसमे केवल चार ही अध्याय है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ मे 'ओम् नमश्शुक्र वृहस्पतिम्याम्' लिखा है इससे स्पप्ट होता है कि यह ग्रन्थ कौटिल्य के समय मे उपलब्ध था।

अष्टाध्यायी

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे पाणिनि एक ख्याति प्राप्त नाम है और उनकी अप्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्र है। यह आठ अध्यायो में विभक्त है। पहला अध्याय पारिभापिक शव्दावली और अर्थों से सम्वन्धित नियमो के वारे मे है। दूसरा अध्याय संज्ञाओं की रचना और कारक सम्वन्धो, तीसरा अध्याय धातु के साथ प्रत्यय जोड़कर संज्ञाओ की रचना, चौथा व पॉचवाँ अध्याय सज्ञा के साथ प्रत्यय जोड कर संज्ञाओ की रचना, छठा तथा सातवाँ अध्याय शव्दो के निर्माण मे स्वर तथा ध्वनि परिवर्तन और आठवाँ अध्याय वाक्य मे शव्दो के स्थान के वारे मे है। चरम संक्षिप्तता यहाँ ध्येय है, परन्तु जिस विधा का यहाँ निरूपण किया गया है, उसका पूर्णत. अनुपालन करना सम्भव नही। पाणिनि उपयुक्त पारिभापिक शव्दावली ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं और इसी कारण अनियमितताएँ पैदा होती है। प्राचीन भारत मे सारा साहित्य कंठस्थ रूप से चलता था और पाणिनि द्वारा निर्धारित क्रम से ग्रन्थ को कठस्थ करने मे सुगमता होती थी। अप्टाध्यायी के अध्ययन से विदित होता है कि पाणिनि को अपेक्षाकृत काठक और मैत्रायणीय संहिता का ज्ञान था। इस पुस्तक का मूल उद्देश्य क्रियाओ से संज्ञा वनाने के नियम तथा उपसर्गों और प्रत्ययो के महत्व को वताना है। यद्यपि इसमे ध्वनि परिवर्तन पर कोई अधिक ध्यान नही दिया गया है तथापि गुण और वृद्धि के कारण होने वाले परिवर्तनो का इसमे वहुत अच्छा विवरण है। नि.सदेह पाणिनि के विवेचन का मुख्य विपय वोलचाल वाली भापा हे, और विभिन्न तरीको से इसमे संक्षिप्तता लाई गई है। अनुवन्ध पाणिनि से पूर्वकाल के प्रतीत होते हैं। पाणिनि का काल अनिश्चित है, यद्यपि यह यास्क और शौनक से वाद का हे। उनका जन्म शलातुर स्थान मे हुआ था और माता का नाम दाक्षी था। इसमें कोई सन्देह नही कि वे उत्तर-पश्चिम प्रदेश के रहने वाले थे। परम्परानुसार उनका शरीरान्त, सम्भवत., सिंह द्वारा हुआ था। कात्यायन ने पाणिनि द्वारा प्रतिपादित नियमो मे जो संशोधन किए, उनको देखते हुए पाणिनि को कात्यायन से कुछ शताव्दी पूर्व का माना जाना चाहिए।

वौद्ध साहित्य

पालि साहित्य का प्राचीनतम रूप हमे वुद्ध के वचनो के संग्रह मे मिलता है। वुद्ध वचनो के संग्रह का नाम त्रिपिटक है जिसका अर्थ है तीन पिटक—'पेटतिशव्द करोति सर्वं समाहरति'। पिटक शव्द का सामान्य अर्थ हे विस्फोट, फोड़ा, पिटारी, पेटी, मंजूपा, टोकरी तथा विशेप अर्थ मे—पालि आगमों के तीन भेदो की ओर सकेत करता है। सम्पूर्ण वौद्ध साहित्य तीन पिटको मे समाहित किया गया है। वे तीन पिटक हैं (१) विनय पिटक, (२) सुत्तपिटक, तथा (३) अभिधम्म पिटक।

(१) विनय पिटक—मे वोद्ध-धर्म सम्वन्धी नियमो का निर्देश मिलता हे जिसमें वौद्ध-संघ के प्रवन्ध एवं भिक्षु-भिक्षुणियो के दैनिक कार्य-कलापों से सम्वद्ध नियम हैं। कहा जाता है कि इन

नियमों का निर्माण स्वयं भगवान् बुद्ध ने किया था। विनयपिटक की विषयवस्तु तीन भागों में अथवा तीन ग्रन्थो मे विभक्त है—(१) सुत्तविभंग, (२) खन्धक, तथा (३) परिवार अथवा परिवार पाठ।

(२) **सुत्तपिटक**—सुत्तपिटक मे तर्क और सम्वादो के रूप मे भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों का संग्रह है; इनमें गद्य संवाद है, मुक्तक छन्द हैं, प्राचीन छोटी-छोटी कहानियां हैं। यह पांच निकायों अर्थात् संग्रहो मे विभक्त हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) संयुक्त निकाय, (४) अंगुत्तरनिकाय, तथा (५) खुद्दक निकाय।

(३) **अभिधम्म पिटक**—अभिधम्म पिटक मे बौद्ध-धर्म का दार्शनिक चिन्तन निहित है। वस्तुत: इसकी विषय-वस्तु का सुत्तपिटक से पर्याप्त साम्य है, किन्तु अभिधम्मपिटक मे दार्शनिक निरूपण अधिक है। अभिधम्मपिटक मे सात बड़े-बडे ग्रन्थ हैं। धम्म-संगणि में चित्त चेतसिक तथा अव्याकृत धर्म का विश्लेपण है। गणनात्मक परिप्रश्नात्मक शैली पर मानसिक चित्तवृत्तियो तथा भौतिक जगत् की व्याख्या भी है। विभंग—वस्तुतः चित्तचेतसिक का सुसम्पादन मात्र है। धातुकथा मे विभंग के अठारह विभागो मे से केवल तीन भाग स्कन्ध, आयतन एवं धातु को ग्रहण किया गया है। पुग्गल-पञ्जत्ति में नैतिक दृष्टि से विकसित होने वाले व्यक्तियो का वर्णन है। कथा-वत्थु मे विभिन्न मतों का खण्डन कर स्थविरवाद की स्थापना है, जोकि २२ सर्गों मे विभक्त है। यमक मे प्रक जोडो का वर्णन है। पट्ठान में प्रतीत्यसमुत्पाद नामक बुद्ध के सिद्धान्त का वर्णन है।

इस पिटक-साहित्य के अतिरिक बौद्धो का अनुपिटक-साहित्य भी महत्वपूर्ण है। 'अनुपिटक' उस साहित्य का नाम है जिसकी रचना त्रिपिटक साहित्य के निर्माण के अनन्तर हुई। आज भी अनुपिटक-साहित्य का सृजन हो रहा है अतः इस सुदीर्घ काल मे निर्मित साहित्य के इतिहास को तीन भागो मे बांटकर अध्ययन किया गया है—(१) पूर्वबुद्धघोप युग, (२) बुद्धघोप युग, तथा (३) परवर्ती बुद्धघोष युग अथवा टीका युग। प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी तक के इस पूर्व बुद्धघोप युग मे (१) नेत्तिपकरण, (२) पेटकोपदेश, (३) सुत्तसंग्रह, (४) मिलिन्दपञ्ह तथा (५) दीप-वश की रचना हुई है। इनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण है 'मिलिन्दपञ्ह' तथा 'दीपवंश' यह ऐतिहासिक रचना है। 'अनुपिटक-साहित्य' के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोप के आविर्भाव काल से प्रारम्भ होता है। इस युग मे बुद्धघोप के प्रसिद्धि प्राप्त ग्रन्थ—'विशुद्धमग्ग' और उनकी अट्ठ कथाओ के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की 'अट्ठकथा' भी लिखी गई है। इस युग का रचना काल ५वी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक माना गया है। इस युग मे इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' कच्चान का व्याकरण तथा अनिरुद्ध का 'अभिधम्मत्थसंग्रह' भी रचित हुए है।

जैन आगम

जैन मतावलम्वी अपने धार्मिक साहित्य को सिद्धान्त या आगम कहते हे। इसमे १२ अंग, १२ उपाग, १० प्रकीर्ण, ६ छेद सूत्र, ४ मूल सूत्र और नन्दि सूत्र तथा अनुयोग सूत्र की गणना होती है। इनमें से अंगो को छोड़ कर शेप की सूची और नामों मे भी अन्तर मिलते है। उदाहरण के लिये प्रकीर्णो की संख्या अनिश्चित है। इसी प्रकार से सिद्धान्तो की परम्परागत संख्या ४५ है लेकिन विभिन्न स्थलो पर दी गई पुस्तको की सख्या ४५ और ५० के बीच आती है।

जैनों की धार्मिकपुस्तको में स्वयं इनका विभाजन दो प्रकार से किया गया है। अंग और अंगबाहिरिय (अंगों से बाहर दूसरे ग्रन्थ) अथवा अंग-पविट्ठ (जो अंगों के अन्तर्गत हों) और अडंग पविट्ठ (जो अंगों के अन्तर्गत न हो)।

संस्कृत साहित्य में जैनो ने भी कम योगदान नही किया है। उमास्वामी (दूसरा नाम उमास्वाति), तत्वार्थाधिगमसूत्र (छठवी शताब्दी) और सामन्तभद्र की आप्तमीमासा विशेष उल्लेखनीय है। ऐसी भी रचनाएँ है, जिनकी कुमारिल ने कटु आलोचना की है। सबसे महत्वपूर्ण हरिभद्र (आठवी शताब्दी) की रचनाएँ हैं, जिन्होने पड्दर्शनसमुच्चय, लोकत्तत्वनिर्णय, योगदृष्टिसमुच्चय इत्यादि रचनाएँ की। इन्होने मुख्यतः नीतिशास्त्र पर लिखा। हेमचन्द्र ने भी संस्कृत मे योगसूत्र और कई अन्य रचनाएँ की। मल्लिपेण (१२६२ ई०) ने स्यादवादमंजरी में जैनस्यादवाद के सिद्धान्तो का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीस भारत के अध्ययन के लिये महाभारत के महत्व का विवेचन कीजिये।

(पी० सी० एस० १७६७)

२. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये :—

(i) कौटिलीय अर्थशास्त्र। (पी० सी० एस० १६६६, १६७५)

(ii) शुक्रनीतिसार। (पी० सी० एस० १६७८)

(iii) वैदिक साहित्य, (iv) आरण्यक, (v) उपनिपद; (vi) स्मृतियाँ, (vii) रामायण तथा महाभारत, (viii) बौद्ध तथा जैन साहित्य, (ix) अष्टाध्यायी, (x) वेदांग, (xi) जैन आगम।

अध्याय चौबीस

प्राचीन भारतीय धर्म

धर्म अति व्यापक शब्द है। इसके उच्चारण मात्र से ही सम्बन्धित जाति या समाज का इतिहास और उसके जीवन की भूमिका सामने आ खड़ी होती है। 'धर्म' शब्द मे जाति विशेष की सभ्यता, सस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन-प्रणाली की प्रक्रिया और निदर्शन प्रस्तुत होता है। धर्म की परिभाषा भी हमारे दार्शनिको, चिन्तको और मनीषियों ने अपने-अपने समय, विचार और चिन्तन के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्तुत की है। 'धारणाद् धर्म इत्याहु.' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति में सहायक होता है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म वस्तुत: संकुचित नही, अपितु विशद, महान् और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है। संसार में जितने भी धर्म हैं, उनका अपना महत्व और स्वत्व तो है ही, किन्तु प्राचीन भारत मे धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। भारतीय धर्म अन्य सभी धर्मों और जातियो का समादर तथा सम्मान करने में अग्रणी रहे हैं।

प्राचीन भारत को धर्म के क्षेत्र मे अपनी उपलब्धियो के लिये जो सम्मान प्राप्त है, वह सर्वथा न्यायोचित है। भारत मे सत्य की खोज बहुत गहन रूप से की गई और बहुधा यह कष्ट साध्य भी रही। विचारो के क्षेत्र मे अनेक प्रयोगों द्वारा जो कुछ उपलब्ध, हुआ, उसकी कहानी बहुत वैविध्यपूर्ण है।

धर्म की परिभाषा

भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक विशद अंग धर्म के विषय में यह प्रश्न उठना अति स्वाभाविक है कि धर्म क्या है? क्या यह अंग्रेजी शब्द रिलिजन का पर्यायवाची है? "धर्म" अग्रेजी के "रिलिजन" का पर्यायवाची नही है। "धर्म" बहुत ही व्यापक अर्थ का सूचक है। "धर्म" के अनेकार्थों मे से एक अर्थ "रिलीजन" का पर्यायवाची हो सकता है, परन्तु वह (रिलिजन शब्द) धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति नही कर सकता है। मनुस्मृति मे प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक मे महर्षिगण मनु से प्रश्न करते है, और इसी प्रश्न के उत्तर मे धर्म की व्याख्या के सभी

विपय आ जाते हैं। स्थूल रूप से इस तथ्य को देखने से ज्ञात होता है कि मानव जीवन के सभी अगो को नियमित करने वाले सिद्धान्त धर्म की व्याख्या के विपय बन जाते है। मनुष्य समाज का सदस्य हैं, इस सदस्यता के कारण उसके ऊपर अनेक उत्तरदायित्व आ जाते है, इन्ही उत्तर-दायित्वो को सम्यक् रूप से निभाने की योग्यता प्राप्त करना तथा उसे इसके साधनो से अवगत करना धर्म का सर्वांगीण स्वरूप कहा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य मे धर्म शब्द उक्त व्यापकता के साथ ही प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द "धृ" धातु से निर्मित है (धृ धारणे)। "धृ" धातु का अर्थ धारण शक्ति है; इस प्रकार से किसी भी वस्तु की धारणा शक्ति को ही धर्म कहा जायगा। धारण शक्ति का अभिप्राय वस्तु के उस गुण से है जो वस्तु को अपने स्वरूप मे स्थिर रखती है, जिसके न रहने पर वस्तु अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए महाभारत मे कहा गया है "धारण करने के कारण धर्म कहलाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है, जो धारण संयुक्त है वह धर्म है यह निश्चय है।"[1] धर्म की इस प्रकार की विवेचना का निष्कर्ष यह निकलता है कि जो वस्तु के स्वरूप को धारण करता है, उसे नष्ट नही होने देता वह धर्म कहलाता है। अथवा जो वस्तु के द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म कहलाता है।

एक अन्य विचार भी मिलता है 'यो घृतः सनधारयते स धर्मः'। इस परिभाषा का अर्थ यह है कि जो धारण किया जाता है अथवा जो वस्तु के स्वरूप को धारण करता है अर्थात् उसे नष्ट होने से बचाता है वह धर्म है। कोई भी पदार्थ धर्मों का समुदाय ही कहा जायगा; सव धर्मो के समुदाय मे एकात्म्य रहता है, वही मुख्य है अतः उसे धर्म कहते है। इस समुदाय के मुख्य होने के कारण भिन्न-भिन्न धर्म गुण भी कहलाते है। पदार्थों मे जो गुण (धर्म) है उन्ही से पदार्थो की सत्ता स्थिर रहती है। उस पदार्थ से वे गुण हट जायँ तो उस पदार्थ का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अग्नि का अग्नित्व और चुबक का चुवकत्व ही उनके धर्म है।

धर्म का वैज्ञानिक विवेचन यह सिद्ध करता है कि वस्तु के स्वरूप निर्माण करने वाले गुण धर्म है। जो गुण आत्मा का अभ्युदय करने वाले है वे धर्म कहे जाते है, जो इसे गिराने वाले हैं, इसका पतन करने वाले हे वे पातक कहे जाते हे अत' अधर्म है। अच्छी व खराव, सब वस्तु यावन्मात्र परमेश्वर द्वारा सृष्ट है। इसीलिये मनु कहते है कि हिंसा करने वाले (व्याघ्रादि), न हिंसाकरने वाले (मृगादि), मृदु, क्रूर, धर्म अधर्म, सत्य, असत्य, इन सब का विधान भी परमेश्वर द्वारा हुआ।[2] इस प्रकार ससार की आत्मा के उत्थान (अभ्युदय) करने वाले धर्म तथा उसे गिराने वाले धर्म अधर्म कहे गये हे। परमात्मा एक है उसी का अश जीवात्मा है। अंश मे (जीवात्मा) और अशो मे अभेद होने के कारण वह अच्छेय है, अभेद्य है, नित्य है, व्यापक है।[3]

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ मे धर्म का विपय एक अति व्यापक विपय है, और उसके विषय मे वहुत कुछ लिखा जा सकता है। एक अध्याय मे इतने व्यापक विषय पर पूर्ण तो क्या,

---

१. धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय ॥—महाभारत कर्णपर्व ६९,५८

२. मनु १।२९ ३. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम—भगवद्गीता २।२४

पर्याप्त रूप से भी प्रकाश नही डाला जा सकता। फिर भी इस अध्याय मे सिंहावलोकन से पूरे विपय की रूपरेखा खीचने का प्रयत्न किया जायेगा, जो अधिक गहरे अध्ययन के लिये भूमिका का ही काम देगा। इस पृष्ठभूमि मे हम क्रमशः वैदिक धर्म, हिन्दू धर्म—पौराणिक धर्म, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन तथा बौद्ध धर्म के विपय मे विचार करेंगे।

वैदिक धर्म

भारत में धर्म का इतिहास वैदिक काल से पूर्व विनष्ट सिन्धुघाटी की सभ्यता के काल से प्रारम्भ होता है। इसके प्रमाणो का उल्लेख इस ग्रंथ के दूसरे अध्याय मे किया जा चुका है। सिन्धु सभ्यता के निवासियों के धर्म के कुछ मुख्य पहलू ये है कि वे एक ऐसे देवता की भी पूजा करते थे, जो शिव का आदि रूप था; वे ऐसी देवी की उपासनना करते थे जो मातृ देवी का प्रारम्भिक रूप थी, और इसके अतिरिक्त वे वृक्षो, नदियो, पशुओ और पक्षियो की भी पूजा करते थे। इन सभी मे वैदिक और हिन्दू धर्म के आगामी विश्वासो के बीज थे। सिन्धु घाटी के धार्मिक विश्वासो के उपरान्त भारतीय धर्म के इतिहास का अगला प्रतिबिम्ब ऋग्वेद मे मिलता है।

वैदिक युग के विभिन्न चरणो की सस्कृति का उल्लेख करते समय, तत्कालीन धार्मिक विश्वासो और धर्म के विभिन्न अंगो का वर्णन तत्सम्बन्धित अध्यायो मे किया जा चुका है। फिर भी यहाँ मोटे तौर पर उनका उल्लेख करना उचित होगा।

वैदिक धर्म का विकास

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में वेदों को धारण करना वैदिक धर्म था। दूसरे शब्दो मे वेदों के अनुसरण, अनुपालन और आचरण को वैदिक धर्म कहा जा सकता है। वैदिक धर्म के विकास के सम्बन्ध मे निश्चित जानकारी वैदिक साहित्य से ही उपलब्ध होती है। इस साहित्य मे भारतीयो की पैनी अन्तर्दृष्टि, तर्क, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि की प्रखरता भी दृष्टिगत होती है। वैदिक धर्म मे भारतीयो के चमत्कार के भी दर्शन मिलते हैं।

अनेक प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि वैदिक काल शताब्दियो तक चलता रहा और इस बीच वैदिक धर्म का निरन्तर विकास होता रहा। यह विकास केवल आन्तरिक विकास ही नही था, अपितु इसके पीछे वैदिक और अवैदिक सास्कृतिक धाराएँ भी क्रियाशील थी।

वैदिक धर्म के विकास पर तुलनात्मक भापाविज्ञान एवं तुलनात्मक पुराकथाशास्त्रपरक अध्ययन से बहुत प्रकाश पडा है। प्राचीन ईरानी, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, लेट्टिश, प्राचीन प्रुशन भापाओ मे वैदिक 'देव' शब्द के समानान्तर शब्द प्राप्त होते है, अतः 'देवता' की अवधारणा भारत-योरपीय युग तक पीछे चली जाती है। वैदिक देव द्यौस् पिता, अग्नि, सूर्य के समानान्तर शब्द अनेक प्राचीन भारत-योरपीय भापाओ मे प्राप्त होते है। इसी प्रकार चन्द्रमा, आपः, वायु, अपा नपात्, त्रित-आप्त्य, यम आदि देवों के समानान्तर शब्द प्राचीन ईरानी भापा मे मिलते है अतः इन देवो की प्राचीनता भारत-योरपीय एव भारत-ईरानी युग तक सिद्ध होती है।

वैदिक धर्म के विकास पर विचार करते हुए सामान्यतः पश्चिमी विद्वान् वैदिक धर्म मे भारत-योरपीय युग तथा भारत-ईरानी युग से प्राप्त प्रकृति-उपासना के तत्व स्वीकार कर

प्राचीन वैदिक धर्म को प्रकृति-उपासना-परक धर्म ही मानते है। उनके अनुसार वैदिक युग में प्रकृति के विभिन्न पक्षों की देवरूप मे कल्पना कर उनकी उपासना की जाती थी। किन्तु इस सम्वन्ध मे परम्परागत भारतीय दृष्टि भिन्न है। इसके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षो या उपादानो तथा भावों की उपासना नही, अपितु उनके अधिष्ठाता देवो की उपासना की जाती है। वैदिक धर्म के विकास के सन्दर्भ मे यही दृष्टि सत्य प्रतीत होती है।

वैदिक धर्म को प्रायः 'कर्मकाण्ड' कहा जाता हे, यद्यपि 'ज्ञानकाण्ड' मे वैदिक धर्म की परिणति होती हे। कर्मकाण्डपरक वैदिक धर्म को जानने और 'यज्ञ' के स्वरूप को समझने के लिए 'देव' का स्वरूप समझना आवश्यक है। यज्ञ मे देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग किया जाता है। जिस देवता के लिए हवि ली जाती हे, होता (ऋत्विक्-विशेष) उसका मन मे ध्यान करता है।

विकास की इस पृष्ठ भूमि मे अव हम वैदिक देवता, पूजन विधि, यज्ञ, नैतिक धारणा तथा के आध्यात्मवादि आदि पर कमानुसार विचार करेंगे !

वैदिक देवता

ऋग्वेद मे विविध देवताओं की सत्ता का आभास दिया गया है। प्रत्येक वैदिक देवता जगत् के स्रष्टा और नियन्ता के रूप मे दर्शित किया गया है, तथा अन्य देवताओ की उत्पत्ति उनसे मानी गयी है। इस सम्वन्ध मे यास्क का कथन है कि सृष्टि के मूल मे कार्यरत शक्ति पर आत्मा है, सभी देवता उस एक आत्मा (परमात्मा) के प्रत्यंग है और उसी परमात्मा का पूजन विभिन्न रूपों या प्रकार मे होता है। अत. वह आत्मा ब्रह्म की सत्ता है जो सर्वव्यापक है।[1] अनेकानेक देवताओ की विभिन्न अभिव्यक्ति और मूल सत्ता की एकता का भान ऋग्वेद से होता है।[2]

विभिन्न देवता—वैदिक देवताओ के तीन वर्ग हे। (१) द्युस्थानीय (आकाशवासी), (२) अतरिक्ष स्थानीय और (३) पृथिवीस्थानीय। द्युस्थानीय देवताओ मे सूर्य, सविता, विष्णु, वरुण, मित्र, अश्विन और उषा प्रधान हैं, अन्तरिक्षस्थानीय देवताओ मे इन्द्र, अपानपात्, पर्जन्य और रुद्र मुख्य हैं और पृथिवीस्थानीय देवताओ मे अग्नि, वृहस्पति और सोम आदि देवता हे।

इन विभिन्न देवताओ मे प्रमुख 'इन्द्र' अत्यन्त शक्तिशाली और पराक्रमी देवता था। वह दस्युओ का विजेता था। वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश से भी विशाल था। पृथ्वी से तो वह दस गुना वड़ा था। द्यावापृथ्वी (आकाश और पृथ्वी) मिलकर भी इन्द्र के आर्धे तक नही थे। उसकी मुट्ठी मे दोनो लोक आ सकते थे। उसका मुखमण्डल सूर्य के सदृश था। वह अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकता था। वह अपने वज्र से शत्रुओ पर भयंकर मार करता था। उसके लिए कहा गया है, "हे इन्द्र तुमने ही शुष्ण (दैत्य) के युद्धो से कुत्स की रक्षा की, तुमने शंवर (दैत्य) को मारा, तुमने वड़े अर्वुद (दैत्य) को इसलिए पैर से मसल दिया कि तुम अतिथि (संभवतः किसी दल का नाम) के साथियो की रक्षा कर सको। तुम हमारे शत्रुओ (दस्युओ) को वड़े बलपूर्वक मार रहे हो ?[3]

---

१. निरुक्त ७।४।८-९

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग्वेद ९।१०८।; १।१०५।१५

३. ऋग्वेद १।१५१।६।

वैदिक देवताओं में 'वरुण' का उल्लेख जगत् के नियन्ता और ऋत के अधिपति के रूप में हुआ है। वह आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता था। माया रूप में वह सर्वत्र रहता था। इसीलिए उसे विश्वतश्चक्षु' (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला), सुक्रतु (अच्छे कार्यों को करनेवाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला) और सम्राट् (समान रूप से प्रकाशनशील और शासक) कहा गया है तथा पक्षियों और नावों के मार्ग को जाननेवाला सर्वज्ञ माना गया। उसे समस्त प्राणियों के शुभ-अशुभ सभी कर्मों का ज्ञाता और तदनुरूप फल प्रदान करनेवाला माना जाता था।

वैदिक देव मण्डल में सूर्य देवता के प्रति बड़ी आस्था अभिव्यक्त मिलती है। वह अपने प्रकाश से समस्त जगत् को आलोकित करता था। उसकी उपासना पांच रूपों में की जाती थी— (१) प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप में, (२) सवित रूप में सूर्य की प्रेरक शक्ति का वाचक था। इस रूप की प्रार्थना में गायत्री मंत्र का उच्चारण किया जाता था (३) मित्र रूप में उसे सूर्य का अंश मान कर उपासना होती थी। यह आराधना ईरान में अधिक की जाती थी। वहां वह वरुण के साथ वर्णित किया गया है। (४) पूषन रूप में सूर्य शक्ति का परिचायक था जो औषधि और वनस्पति जगत् के संवर्द्धन में योगदान करता था। (५) विष्णु के रूप में वह आकाश से विचरण करता था। उत्तर वैदिक काल में वह स्वतन्त्र और शक्तिशाली देवता बन गया तथा पुराणों में उसे इसी वैदिक आधार पर वामन अवतार के रूप में स्वीकार किया गया।

वैदिक देवताओं में 'रुद्र' उग्र देवता था। उग्र रूप में वह रुद्र था तथा सौम्य रूप में शिव। जगत् का मंगल करने के कारण वह 'शिव' था। ऋग्वेद में रुद्र और शिव की अभिन्नता दर्शित होती है।[1] वह कृष्णोदर, लाल पीठवाला, धनुर्धारी, नीले केशवाला और सहस्राक्ष था।[2] उसकी उपासना उग्र और सौम्य दोनों रूपों में होती थी। उसे पशुपति भी कहा गया था।

'अग्नि' भी अन्यतम महत्वपूर्ण देवता था। अग्नि द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न होते थे। लौकिक कार्यों में भी अग्नि अत्यावश्यक थी। अग्नि देवता सूर्य के सदृश ही प्रकाशमान था। अग्नि को पुरोहित, होता और यज्ञिय भी कहा जाता था। वह आहुतियों का स्वामी और धर्मों का प्रधान था। उसी के माध्यम से आहुति देवताओं तक पहुँचकर सुख प्रदान करती थी। दाहकर्म भी अग्नि से ही होता था।

'सोम' आर्यों का अत्यन्त प्रिय पेय था, जिसे बाद में देवता की संज्ञा दे दी गयी थी। यह आनन्द और प्रफुल्लता का देवता था। ईरान में वह होम के रूप में तथा यूनान में डिआनिसस के रूप में पूजित होता था। ऋग्वेद में उसकी उत्पत्ति सूर्य और विद्युत से मानी गयी है। वह सूर्य के साथ प्रकाशित होकर अन्धकार का विनाश करता था। उसे चन्द्रमा भी माना गया था।[3]

अन्य वैदिक देवताओं में अश्विन, वायु, मरुत, पर्जन्य, यम आदि अनेक देवता थे। इनमें 'अश्विन' द्यौ का पुत्र था, जो अत्यन्त सुन्दर और तरुण था। 'मरुत' रुद्र का पुत्र था, इसलिए वह अपने पिता की ही तरह भयंकर था। वह झंझावत का देवता था। 'वायु' कल्याण-कारी देवता था। 'पर्जन्य' जल वर्षा और नदियों का देवता माना गया था।

---

१. ऋग्वेद २।३३।७

२. अथर्ववेद ११।१।७-८; ११।२।६; ११।२।२-७

३. ऋग्वेद ९।९३।१; ९।१।६; ९।९।९; ८।१०८।१२; १०।५।४।

देवताओं के साथ-साथ देवियों की भी कल्पना की गई थी। इनमें 'उषा' का प्रधान स्थान है। वह प्रातः कालीन अधिष्ठात्री देवी के रूप मे अत्यन्त मनोहारिणी कल्पना के साथ ऋग्वेद मे वर्णित की गई है। उसके लिये एक मंत्र में कहा गया है, "हे देवकन्ये उषा, हमारे लिए धन सहित प्रभात करो। देवी, दानशील होकर पशु-रूप-धन के साथ प्रभात करो।[1]

'अदिति' 'निस्सीम' सार्वभौम भावना की देवी थी। आर्यों ने उसे माता पिता, पञ्चजन, देवता, आकाश आदि सभी कुछ स्वीकार किया तथा उसमे भूत और भविष्य की भी कल्पना की। सिन्धु नदी को भी देवी रूप मे स्वीकार किया गया। वन-देवी की भी प्रतिष्ठा की गई थी जिसे 'आरण्यानी' कहा गया। मनुष्य की बुद्धि को भी देवी संज्ञा देकर सरस्वती का रूप प्रदान किया गया। आगे चलकर श्रद्धा और मन्यु जैसे अमूर्त्त गुणो को प्रतीक रूप मे देवत्व प्रदान किया गया। आकाशचारी देव योनियाँ, अप्सराएँ और गन्धर्व भी छोटे देवता के रूप मे उपास्य थे।

श्रेष्ठ देवता—अनगिनत देवताओ की कल्पना किये जाने के उपरान्त स्वाभाविक रूप से यह समस्या सामने आई कि कौन देवता किससे श्रेष्ठ है तथा सबसे पहले जन्म लेने वाले को किसने देखा है। वायु का उद्गम कहाँ से है तथा वह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है। इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठा कि किस देवता को हवि देनी चाहिए।[2] इन सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ देवता के विषय मे सोचा-विचारा गया। फलस्वरूप धीरे-धीरे देवताओ को कई कोटियो मे रखा जिससे उनकी संख्या मे कुछ कमी हुई। कभी-कभी कुछेक देवता एक दूसरे से सम्बन्धित बताये गए। इन्द्र का पिता द्यौस था तथा भाई अग्नि। मरुत उसका सहगामी था। उसने वृत्र से आप, उषा और सूर्य को मुक्ति दिलाई थी, इसलिए वह स्वभावतः उन देवताओ से श्रेष्ठ और शक्तिशाली था। सूर्य अग्नि का रूप था तथा सोम की बहने या माताएँ आप थी। मरुतो का पिता सूर्य था। सूर्य की प्रिया उषा थी और बहन रात्रि थी। सूर्य-पुत्री सूर्या का पति अश्विन था तथा अदिति के पुत्र आदित्य थे। इस प्रकार वैदिक समाज मे देवताओ की विभिन्न श्रेणियाँ बन गई जिनसे उनकी संख्या घटकर थोड़ी ही रह गई। कुछ देवताओ में श्रेष्ठता के लिए प्रयत्न भी हुआ। कभी अग्नि को सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता माना गया तो कभी सोम को। द्यावापृथ्वी को भी सम्पूर्ण देवो और मनुष्यों का जनक माना गया। कालान्तर मे वरुण ने अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली, जिससे सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सभी भय खाते थे। सरिताएँ उसी के आदेश से प्रवहमान थी तथा उसी की माया से जगत् का निर्माण और संचालन होता था। किन्तु उसकी प्रभुता अधिक काल तक न रह सकी। इन्द्र के उदय के साथ-साथ वरुण का महत्व घटने लगा। अनार्यो से युद्ध करने में इन्द्र ने कुशल नेतृत्व प्रदान किया अतः इन्द्र की श्रेष्ठता स्थापित हो गई तथा वह सभी देवताओ मे विशिष्ट माना गया।

एकेश्वरवाद—वैदिक बहुदेववाद के विकास क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब देवताओ की संख्या बढ़ी तो सर्वश्रेष्ठ देवता की कल्पना की गई। फिर देवताओ के वर्ग बन गये और उसके उपरान्त एकेश्वरवाद 'मोनोथीजम' की परिकल्पना की गई। इसीलिए चिन्तन करते

---

१. ऋग्वेद १।४८।१;

२. ऋग्वेद १।४।१६४; १।२४।१८५;

हुए यह कहा गया कि "सत् एक ही है जिसे विद्वान् अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं ।[1]

इस प्रकार बहुदेववाद से एकदेववाद या एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति का विकास हुआ । इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि प्रारम्भ मे इन्द्र का प्राधान्य रहा । कालान्तर मे सभी देवताओ को एक मे समेट कर विश्वेदेवा की कल्पना की गई और उसे सर्वोपरि माना गया । इस मूलतत्व की धारणा दो रूपो मे मिलती है—सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे सर्वेश्वरवाद की भावना मिलती है जिसका तात्पर्य यह है कि एक ही मूलतत्व (तदेकम्) सृष्टि के आदि मे था, उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वही पूर्णरूप से सृष्टि मे व्याप्त और परिसमाप्त है । सृष्टि के परे उसका कोई अस्तित्व और रूप नही है । एकत्ववाद की धारणा ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे मिलती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का वह कारणभूत मूलतत्व विराट पुरुष है जो विश्व मे व्याप्त होते हुए भी उसमे परिसमाप्त नही है अर्थात् वह कुछ अंशो मे विश्व के परे भी है ।

इसके साथ ही 'सत्' तत्व की प्रतिष्ठा ने आर्यों के विशिष्ट दर्शन का प्रतिपादन किया । वस्तुत. 'सत्' तत्व एक ही था जिसे विद्वानो ने अपनी विभिन्न शैली मे व्यक्त किया । उस परम सत् का साक्षात् करना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य था ।

पूजन-विधि

वैदिक पूजा-पद्धति मे जीवन के प्रति आस्था और अनुराग होता था । आर्य कल्याणमय जीवन के प्रति जागरूक थे तथा देवताओ से वे सौ वर्ष का जीवन, पुत्र धन-धान्य और विजय की कामना करते थे ।

पूजन विधि मे स्तुति अथवा प्रार्थना को प्रमुख स्थान प्राप्त था । वेदो की ऋचाएँ और सूक्त प्राय: स्तुतियाँ ही हैं, जिनमे देवताओ को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं । स्तुति सूक्ति, स्तवन, प्रशसा आदि से देवताओ को प्रसन्न किया जाता था तथा लौकिक सुखो की प्राप्ति की कामना की जाती थी । स्तुति की पद्धति सर्वथा सरल थी । वैदिक युग मे मन्दिरो या मूर्ति पूजा का कोई संकेत नही है । अतः उस समय मन्दिर और मूर्तिपूजा का सर्वथा अभाव था ।

यज्ञ

वैदिक धर्म के अनुसरण और अनुपालन मे यज्ञ को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था । यज्ञ का प्रमुख उद्देश्य देवताओ को प्रसन्न करके उनसे धन, सम्पत्ति, सुरक्षा, दीर्घायु, शत्रुदमन, विजय, सन्तान प्राप्ति आदि की अपेक्षा की जाती थी । यह विश्वास व्याप्त था कि यज्ञ द्वारा मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी । आर्य अग्नि के उपासक थे और यज्ञ का अग्नि से आधारभूत सम्बन्ध था । अग्नि दो प्रकार की मानी गयी स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि । अग्नि के इन स्वरूपो के अनुसार यज्ञो को गृह्य और श्रौत नामक दो भागो में विभाजित किया गया था ।

यज्ञ मन्त्रो द्वारा सम्पादित किये जाते थे । मन्त्रोउच्चारण के साथ घी, दूध, धान्य अथवा

---

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति । अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । ऋग्वेद १।१६८।४६ ।

मास की आहुति दी जाती थी तथा यह विश्वास किया जाता था कि ऊपर उठने वाली लम्बी-लम्बी लपटे हव्य को देवताओ तक पहुँचा देती है। ब्राह्मण पुरोहित ही यज्ञ सम्पन्न करते थे। उनके बिना यज्ञो की सम्पन्नता असम्भव थी। ऋग्वेद के युग मे ही यज्ञों की महत्ता बहुत अधिक बढ चुकी थी। एक स्थल पर कहा गया है, "हे अग्नि देव, जो मनुष्य तुम्हारा यज्ञ करता है वह स्वर्ग मे चन्द्र बन जाता है।"[1] यज्ञ देवताओ को प्रसन्न करने का प्रधान साधन था। यज्ञ सृष्टि का मूल था तथा देवता तक उससे शक्ति ग्रहण करते थे।[2]

यज्ञो के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया कि मनुष्य के सभी कर्मों में याज्ञिक क्रिया ही श्रेष्ठ थी।[3] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उल्लिखित है कि यज्ञ से ही सृष्टि हुई थी। यज्ञ सम्पन्न करने से समस्त पाप धुल जाते थे।[4] ऐसा भी विश्वास था कि यज्ञ के माध्यम से देवता वश मे हो जाते हैं तथा बाध्य होकर वे मनुष्य को मनोनुकूल वर प्रदान करते हैं।[5]

यज्ञो के कई प्रकार थे। अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमाश, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढ पशु बन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ, सोमयज्ञ, अग्निष्टोम, षोडशी, अतिरात्र, पुरुषमेध, पंचमहायज्ञ आदि प्रमुख यज्ञ थे। इन यज्ञो के अतिरिक्त गवामयन, वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञो का भी प्रचलन था।

कालान्तर मे यज्ञो का विधान जटिल होने लगा। मध्य वैदिक काल अर्थात् ब्राह्मणो के काल मे यज्ञो का कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष पर था। ब्राह्मणो मे यज्ञ-पद्धति का सागोपाग निरूपण मिलता है। कुछ सोम यज्ञो मे १६ पुरोहित रहते थे और ये यज्ञ महीनो तक चलते थे। पुरोहितो को सहस्रो गाये और प्रभूत धन दान मे दिये जाते थे। यज्ञ का महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि उसका तादात्म्य विश्व के अधिपति और स्रष्टा प्रजापति से किया गया।

कर्मकाडी यज्ञो की जटिलता मे वृद्धि होने के कारण, शनै. शनै. साधारण जनो मे इनके प्रति अनिच्छुकता और उदासीनता होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप उनके कर्मकाण्डीय और क्रियायुक्त विधानो का विरोध होने लगा। अनेक विद्वतजन यह कहने लगे कि ज्ञान के अभाव मे परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से सम्भव है और न तप से, बल्कि यज्ञ मे निहित धार्मिक भावना से ही वह सम्भव है।[6] आगे चल कर उपनिषदो मे ज्ञान तत्व की ही महत्ता प्रतिपादित की गयी। अतः आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान पर बल दिया गया।

इस प्रकार यज्ञो का विरोध तो हुआ पर तब भी वे वैदिक धर्म के अभिन्न अग रहे। भारतीय संस्कृति के विकास मे यज्ञो के महत्व का निरूपण करते हुए, इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि इनकी वेदी निर्माण पद्धति से रेखा गणित का विकास हुआ तथा इनकी रहस्यात्मकता ने आगे चल कर तन्त्र की विद्या मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया।

नैतिक धारणा

वैदिक धर्म मे परम तत्व की प्राप्ति के निमित्त पवित्र भोजन, शुद्ध पान और निष्कपट

---

१ ऋग्वेद १०।१।३।   २. पंचविंश ब्राह्मण, १।८।४।१।

३. यज्ञौ वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ ब्राह्मण, १।७।३।५।

४. शतपथ ब्राह्मण, २।३।१।६।   ५. पंचविंश ब्राह्मण, १।८।४।१।

६. शतपथ ब्राह्मण १०।५।४।१५।

विचार की अपेक्षा की जाती थी। इन आचारो के अनुपालन के विना ऋषि भी परम लक्ष्य तक नही पहुँच सकते थे। ऋग्वेद में एक उपासक अपने आराध्य देव से कहता है, "हे देव, यदि हमने अपने किसी सुहृद् के प्रति पाप किया हो, अपने बन्धु अथवा सहयोगी का अहित किया हो या कभी अपने साथ रहने वाले किसी पडोसी अथवा अपरिचित को भी कष्ट दिया हो तो हमे उस पाप से मुक्त कर।"[1] इसीलिए आर्य 'ऋत' को 'ज्योतिष्पतिः' कह कर उच्चस्थ स्थान प्रदान करते थे।[2] असत्यभाषी और नर-बधिक से घृणा की जाती थी। इनके अतिरिक्त कपटी, लोभी अभिमानी, क्रोधी, क्रूर, देवनिन्दक, द्वेषी, कृपण, चोर आदि घृणा के पात्र थे।

नैतिक अवधारणा मे आचार तत्व के साथ-साथ कर्म तत्व की भी प्रधानता थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि अच्छे कर्मो से पुण्य और सुख की प्राप्ति होती है तथा बुरे कर्म करने से पाप और दुःख की। अत. सत्कर्म का अनुपालन करना मनुष्य के लिए श्रेयस्कर था। 'पाप' और 'पुण्य' के साथ 'पुनर्जन्म' की भी कल्पना की गई। उनकी यह भावना थी कि पूर्व जन्मो के कर्मो का फल भोगने के लिए ही जीव इस संसार मे बराबर आया करता है। जीवन मे कर्म तत्व का प्रधान स्थान था। देवताओ के लिए ऐसे विशेषणो का प्रयोग हुआ है जो कर्म के सिद्धान्त को व्यंजित करते हैं—यथा 'शुभस्पति.' (अच्छे कर्म के रक्षक), 'धियस्पतिः' (सत्कर्मो के रक्षक), 'विचर्पणिः' और 'विश्वचर्पणिः' (शुभ और अशुभ कर्मो के द्रष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों के आधार), आदि।

पौराणिक धर्म

वैदिक कर्मकाण्ड तथा उपनिषदो मे धर्म और दर्शन के जिन सिद्धान्तो और व्यवहार का प्रतिपादन किया गया, वे जनसाधारण की धर्म सम्बन्धी भावनाओ से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित नही कर पाये। वस्तुत. वैदिक धर्म का व्यवहार साधारण बुद्धि वालो के लिये दुरूह था। समाज में ऐसे लोगो की संख्या शनै शनैः कम होती गई जो वैदिक कर्म और मन्त्रो के यथावत पालन के लिये विशिष्ट संस्कारो से युक्त हो। समय की इन विशेष परिस्थितियों मे वैदिक यन्त्रो के आधार पर भक्तिवादी धारा पनपने लगी। इस धारा मे वैदिक, अवैदिक तथा जनसाधारण के धार्मिक विश्वासो का समन्वय था। इसमे ग्राह्यता, आकर्षण तथा सरलता भी थी। इस धारा का साहित्य पुराणो के रूप मे पनपा। पुराणो के विषय मे पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है। विषयानुसार पुराणो के पाँच लक्षण हैं—(१) सर्ग (जगत् की सृष्टि), (२) प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार, विनाश और पुन सृष्टि), (३) वंश (राजाओ की वंशावली), (४) मन्वंतर (पृथक्-पृथक् मनुष्यो के समय घटित प्रसिद्ध घटनाएँ), और (५) वंशानुचरित् (अत्यन्त प्रसिद्ध राजवशो का सविस्तार वर्णन)। इस तरह पुराण धर्म और दर्शन के अतिरिक्त विविध विषयों से भी युक्त है। सृष्टि से लेकर आगामी प्रलय तक की घटनाओ और विवरणो को पुराण-लेखको ने लिपिबद्ध किया है।

वेदो और पुराणो में मौलिक और साधारण एकता है तथा दोनों के वर्ण्य विषय एक हैं, नाम, रूप और काल ही भिन्न हैं। वेद की जटिल और दुरूह पद्धति पुराणों में सरल और

---

१. ऋग्वेद ५।८५।७ २. ऋग्वेद १।२३।५।

सुबोध रूप में उभरी। वेदो में ज्ञान और कर्म के साथ-साथ भक्ति और रहस्य का भी वर्णन है। पुराणो मे ईश्वर के प्रति अगाध आस्था, अनुपम अनुरक्ति और गहन भक्ति की चर्चा है। उपनिपदो मे प्रतिपादित ज्ञान-तत्व को भी पुराणो ने एक नवीन सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। पुराणो के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य इनका मार्ग दर्शक है और इनमे ज्ञान और कर्म, अनुरागात्मिका भक्ति, शरणागतिभूता प्रपत्ति, भगवन्नाम का स्मरण, कीर्तन, मनन, गुरु की उपादेयता, मुमुक्षु की मोक्ष, साधना आदि का उल्लेख है।

पौराणिक धर्म की विशेपताएँ

पौराणिक धर्म मे समन्वयवादी दृष्टिकोण के दर्शन होते है। इसमे वैदिक धर्म के शिव, विष्णु आदि देवताओ के साथ साथ अवैदिक देवी-देवताओ की भी सत्ता का प्रतिपादन किया गया, इसके अतिरिक्त इसमे अनेक नये देवी-देवताओ की भी कल्पना करके उनकी पूजन-उपासना विधि निर्धारित की गई।

पौराणिक धर्म की अन्य विशेपता यह है कि इसमे उदार दृष्टिकोण अपनाया गया। वैसे तो इसमे एकेश्वरवाद पर जोर दिया गया, पर साथ ही देववादी प्रवृत्ति भी पनपती दृष्टिगत होती है। इसमे त्रिदेव को भी महत्व देकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को क्रमशः स्रष्टा, रक्षक और विनाशक मान कर प्रकृति की तीनो प्रवृत्तियो के वीच समन्वय स्थापित किया गया। पौराणिक धर्म में अनुष्ठानो का भी महत्व है परन्तु ये वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा अधिक सक्षिप्त और सरल है। इनमे मन्त्र, जप तथा ध्यान को सरल वनाया गया और यज्ञ न कर सकने की दशा मे पुष्प, धूप, दीप और प्रसाद द्वारा भी पूजन विधि का विधान वताया गया।

पुराणो की भापा सरल तथा विपय वर्णन की विधि मनोरंजक है। इनका अध्ययन करने के लिये कोई वन्धन नही था। अत. इनमे प्रतिपादित धर्म सभी के लिये ग्राह्य और आचरित हो सका। स्त्रियाँ, शूद्र और विदेशी आदि सभी पौराणिक धर्म का पालन कर सकते थे। भारतीय सस्कृति मे विदेशी तत्वो को अपने मे मिला लेने की शक्ति पौराणिक धर्म की ही देन है।

पौराणिक धर्म मे आचरण के वाह्य रूप का भी विधान है। तीर्थ-यात्रा, दान-दक्षिणा, मन्दिर आदि का निर्माण, मूर्तिपूजा, तिलक, चन्दन, शरीर पर भस्म मलना, उत्सव तथा धार्मिक भोज आदि की व्यवस्था किये जाने के कारण यह धर्म लोकप्रिय और उत्साहवर्धक बना।

उपरोक्त विशेषताओ के कारण पौराणिक धर्म ने बड़ी प्रगति की और समय बीतने पर इसका अतिशय विस्तार भी हुआ। इस सन्दर्भ मे ही पौराणिक धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो तथा विधियो का अध्ययन करना उचित होगा।

वैष्णव धर्म

उद्भव और विकास—भगवान् विष्णु को अपना प्रधान इष्टदेव मानने वाले भक्त वैष्णव कहे गए तथा तत्सम्वन्धी धर्म वैष्णव धर्म। वैष्णवो की दृष्टि मे विश्व विष्णु की ही शक्तियो की अभिव्यक्ति है। समस्त जगत् उन्ही की विलक्षण कृति है। उनमे (विष्णु अथवा हरि) और जगत् मे कोई भी भेद नही है। उनके अवतार सदैव होते रहते है। जिस प्रकार न सूखनेवाले सरोवर से सहस्रो कुल्याएँ (छोटी धाराएँ) निःसृत होती है उसी प्रकार उस सत्व-निधि

हरि से असंख्यों अवतारों का उद्गम होता है।[1] यद्यपि उनके अधिकतम अवतारों की संख्या २४ है और न्यूनतम १०, तथापि विष्णु के १० अवतार अधिक प्रख्यात हुए। ये दस अवतार—मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि हैं। इन अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं है, क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान् के साक्षात् स्वरूप हैं। वासुदेव, जो कृष्ण का प्रारम्भिक नाम था, पाणिनि के युग मे प्रचलित था। वासुदेव की उपासना करने वाले 'वासुदेवक' कहे जाते थे।[2] पतंजलि ने भाष्य करते हुए लिखा है कि वासुदेव 'पूजार्ह' (तत्रभवत:) अर्थात् भगवान् की सज्ञा है, जो दिव्य पुरुष है। वे सम्भवत: वृष्णि-वंशी रहे। पतंजलि के अनुसार वासुदेव विष्णु के रूप थे। तत्कालीन समाज मे कस और वासुदेव सम्बन्धी आख्यान प्रचलित हो चुके थे।[3] अत: पाणिनि के काल से वासुदेव का पूजन और वैष्णव धर्म का प्रसार तीव्र गति से प्रारम्भ हो चुका था।

महाभारत में वासुदेव का अनेक बार उल्लेख हुआ है। वासुदेव के सम्बन्ध मे भीष्म का कथन है, "इस नित्य, मगलमय, अद्भुत और अनुरागी देवता को वासुदेव रूप मे समझना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भक्ति सवलित कार्यों से उसकी पूजा करते है।[4] मौर्य-युग मे भी वासुदेव-पूजन प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मथुरा के 'सौरसेनोई' नामक जाति और 'जोवारेस' नामक नदी का उल्लेख किया है, जो क्रमशः 'सूरसेन' और 'यमुना' शब्दो को व्यंजित करते हैं। ऐसा लगता है कि भागवत धर्म का उदय मौर्य-युग के बहुत पहले हो चुका था, जो सम्भवत: बौद्ध-युग के पूर्व का समय था। वासुदेव के लिए 'नारायण' का भी उल्लेख मिलता है। 'नारायण' का 'नाडायन' शब्द से व्यजना की गई है। 'नर' शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है, इसलिए 'नारायण' शब्द 'देवों का आश्रय' अर्थ अभिव्यक्त करता है। विष्णु पुराण मे उल्लेख है कि "नर (परम पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार' कहते हैं, वह नार (जल) ही उनका प्रथम अयन (आवास) है, इसलिए भगवान् को नारायण कहते है।[5] मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड पुराणो मे नारायण को विष्णु का स्वरूप माना गया है।

विष्णु का महत्व—ऋग्वेद मे देवता के रूप मे विष्णु की स्तुति की गई है। उनके विक्रम और यश मे समस्त जगत समाविष्ट था। उत्तरवैदिक काल से समाज मे विष्णु का प्रभाव बढ़ने लगा, जो महाकाव्य-काल मे आकर और अधिक बढ़ गया, जिसने उन्हे सृष्टिकर्त्ता और जगन्नियन्ता का पद प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रन्थो मे विष्णु को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। देवताओ और असुरो के बीच हुए सघर्ष मे विष्णु ने देवताओ की महनीय सहायता की थी। उपनिषदो मे भी विष्णु को परम ब्रह्म के रूप मे स्वीकार करके परम पद की प्राप्ति की बात कही गई है। महाकाव्यो के समय तक विष्णु परम ब्रह्म परमेश्वर का पद प्राप्त कर चुके थे। महाभारत

---

१. अवतारा ह्यसंख्येया हरे. सत्वनिधेर्द्विजा: ॥
यथाऽविदासिन: कुल्या. सरस: स्यु सहस्रश: ॥ भागवत पुराण, १।३।२६।

२. वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्। अष्टाध्यायी, ४।३।९८।

३. महाभाष्य, ३।२।१११, ३।१।२६।

४. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ६६। ५. विष्णु-पुराण १।४।६।

के अनेक स्थलों पर नारायण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है तथा उन्हें वासुदेव भगवान् के रूप में वर्णित किया गया है। विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामधारी वर्णित किया गया है। उनका 'विष्णु' नाम इसलिए था कि समस्त जगत उन्ही की शक्ति से व्याप्त था। पुराणों में कहा गया है कि उन्होने अपने तीन पदो से लोको को विजित करके इन्द्र को प्रदान कर दिया।

पाँचरात्र अथवा वैष्णव धर्म का ज्ञान तत्व—तीसरी ई० पू० के लगभग पांचरात्र मत का विकास हुआ। यह वैष्णव-धर्म का प्रधान मत था। 'पांचरात्र' शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन काल में कभी हुई थी। नारद के अनुसार इसमें परम तत्व, मुक्ति, युक्ति, योग और विपय (संसार) जैसे पांच पदार्थ हैं, इसलिए यह 'पाचरात्र' कहा गया। इसका आचार पक्ष वैदिक आचार के ऊपर आश्रित है। 'पांचरात्र' एकायन (मोक्ष प्राप्ति) विद्या का भी सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। 'वैष्णव' और 'भागवत' विष्णु के भक्त थे। बहुत पहले पाचरात्र और भागवत एक ही थे, किन्तु बाद मे उनमें अन्तर हो गया। पाचरात्र साहित्य की कुछ संहिताएँ चौथी और सातवी सदी के बीच कश्मीर मे भी लिखी गयी।

वैष्णव धर्म की पराकाष्ठा का काल—गुप्त काल मे वैष्णव धर्म अपनी पराकाष्ठा पर था। तत्कालीन युग मे विष्णु या नारायण अथवा नर-नारायण का पूजन और मूर्ति-निर्माण बहुत अधिक प्रचलित था। उस युग के अधिकाश शासक वैष्णव थे इसलिए वैष्णव स्थापत्य और साहित्य का अधिकाधिक विकास होना स्वाभाविक था। कालिदास ने नारायण और विष्णु को समान माना है। कालिदास के ही अनुसार भगवान् विष्णु सागर-तल पर सहस्र फणो वाले शेपनाग की शैया पर विश्राम करते है और उनके फैले हुए चरण उनके पाद-प्रदेश मे बैठी हुई लक्ष्मी की गोद में शोभायमान हैं। उसकी चार भुजाएँ है, जिनमे क्रमश शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभित है। उनके वक्ष पर कौस्तुभ नामक मणि शोभायमान है तथा निकट ही उनका वाहन गरुड सेवा के लिए खड़ा है।[1]

गुप्त सम्राटो की मुद्राओ पर उनकी उपाधि 'परम भागवत' उत्कीर्ण है, जो उनके वासुदेव-उपासक और वैष्णव-धर्मावलंबी होने का प्रवल प्रमाण है। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त जैसे शासक की मुद्राओ और तत्कालीन अभिलेखो मे वैष्णव धर्म सम्बन्धी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। गंगधर-अभिलेख मे विष्णु को 'मधुसूदन' के नाम से अभिहित किया गया है। उड़ीसा-स्थित उदयगिरि मे चतुर्भुज विष्णु की एक प्रतिमा है, जो ४०० ई० की है। कुमारगुप्त के गढ़वा-अभिलेख मे विष्णु को 'भागवत्' कहा गया है। स्कन्दगुप्त-कालीन जूनागढ का अभिलेख (४५६ ई०) विष्णु-मन्दिर के निर्माण का वर्णन करता है तथा वामन रूपधारी विष्णु द्वारा बलि से लक्ष्मी को छल से हर लेने की बात उल्लिखित करता है। मेहरौली के लौह-स्तम्भ से ज्ञात होता है कि चन्द्र नामक सम्राट् ने विष्णु-ध्वज का निर्माण करवाया था। पूर्वी चालुक्यों का राजचिन्ह ही 'गरुड़' था जो उनके वैष्णव होने का प्रबल प्रमाण है। गुप्तकालीन पुराणो मे विष्णु के समस्त अवतारो का विशद विवरण मिलता है। इनमे मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि नामक दस अवतारों का उल्लेख है। वराहमिहिर ने अपने 'बृहत्संहिता' नामक ग्रंथ में 'विष्णु' और 'भागवत' की चर्चा की है। अमरसिंह ने अपने कोश ग्रंथ 'अमरकोश' में विष्णु के

---

१. रघुवंश, १०७-८; ६।४६; १०।१०; १०।१३।

३६ विभिन्न नामों की चर्चा करते हुए 'वसुदेव' को उनका पिता माना है। हर्ष के युग में भी वैष्णव धर्म की बड़ी प्रतिष्ठा थी। भागवत लोग वासुदेव विष्णु की उपासना करते तथा अवतार-वाद के सिद्धान्त को मानते थे। हर्ष के समकालीन प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के शासक भास्कर वर्मा के कुटुम्ब के लोग वैष्णव धर्म के मानने वाले थे।

वैष्णव धर्म का प्रसार राजपूत-युग में भी काफी था। खलीमपुर-दानपत्र से विदित होता है कि विष्णु का पूजन 'ओम् नमो नारायण' के नाम से किया जाता था। कभी-कभी 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' भी कहा जाता था। पूर्व मध्य युग मे विष्णु सहस्त्र नामो मे प्रचलित थे जिसमे वासुदेव, नारायण, कृष्ण, मुरारि, आदिकेशव, हरि, माधव आदि नाम अधिक प्रचलित थे।

समाज मे वैष्णव धर्म सम्बन्धी अनेकानेक समारोह और त्योहार भी प्रचलित हो गए थे जिनका उल्लेख पुराण आदि विभिन्न कृतियो मे हुआ है। इस सम्बन्ध मे गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के उदय गिरि-अभिलेख मे 'शयन एकादशी' का उल्लेख है जो आषाढ मास के शुक्ल पक्ष के ग्यारहवे दिन मनाया जाता था। गंग-धर-अभिलेख मे कहा गया है कि यह दिन सभी के लिए प्रफुल्लता लाता है। अलबरूनी ने भी अनेकानेक वैष्णव त्योहारो का उल्लेख किया है, जिनमे देवशयनी एकादशी, कृष्ण-जन्माष्टमी, देवोत्थान एकादशी, रामनवमी आदि विशेष प्रसिद्ध थे।

उत्तर भारत की भाँति दक्षिण भारत मे भी वैष्णव धर्म का प्रसार तीव्र गति से हुआ। दक्षिण मे भागवत धर्म के उपासक संत आलवार कहे जाते थे। उस समय वैष्णव धर्म के सतो के दो वर्ग थे, एक आलवार और दूसरा आचार्य। आलवार अनुयायियो की विष्णु अथवा नारायण के प्रति अपूर्व निष्ठा और आस्था थी, जो भजनो की रचना करके अपने इष्ट देव का गुणगान करते थे। इनमे रामानुज का प्रमुख स्थान है। उनका जन्म ६३८ शक स० में हुआ था। काची के यादवप्रकाश के वे शिष्य थे, किन्तु बाद मे उनसे अलग होकर स्वतंत्र चिंतन करने लगे। वेदात-सार, वेदार्थसंग्रह, वेदांतदीप, ब्रह्मसूत्र भगवद्गीता-भाष्य आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ है। उन्होंने वेदान्त-सिद्धात का प्रतिपादन किया था, जिसमें तीन नित्य-तत्वो की चर्चा की गई है—(१) जीव (चित्त), (२) जड जगत् (अचित्) और (३) परमात्मा (ईश्वर)। आगे चल कर मध्वाचार्य (ग्यारहवीं सदी) ने शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के प्रतिकूल पाँच नित्य भेदो का वर्णन किया—(१) ईश्वर और जीवात्मा, (२) ईश्वर और जड जगत्, (३) जीवात्मा और जड़ जगत्, (४) एक जीवात्मा और दूसरी जीवात्मा, तथा (५) एक जड पदार्थ और दूसरा जड़ पदार्थ। मध्व के अनुयायियो ने वैशेषिक पद्धति का अनुसरण किया जिसके अनुसार परमात्मा में अनन्त गुण थे।

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत निम्बार्क सम्प्रदाय का भी विकास हुआ। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे, जो बेल्लारी जिले के निम्ब नामक ग्राम के रहने वाले थे। उन्होने अपने मत के प्रचार के लिए संस्कृत भाषा अपनायी। उन्होने खंडित किया तथा यह माना कि जड़ जगत्, जीवात्मा और पर-मात्मा एक दूसरे से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

पूर्वमध्य युग में वैष्णव धर्म का प्रसार महाराष्ट्र में भी हुआ। इसका प्रधान केन्द्र भैमरथी (भीमा) नदी के तट पर बसा पण्ढरपुर नामक नगर था, जहाँ विठोवा का मन्दिर स्थित है। भग-

वान् विष्णु के लिए 'विट्ठल' शब्द का व्यवहार किया गया है। वैष्णव धर्म के उपरोक्त विकासक्रम को दृष्टिगत करते हुए यह कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का प्रसार भारत में भक्ति और ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से हुआ था, जिसमे विष्णु के विभिन्न अवतारो की उपासना और साधना भी समाविष्ट थी।

वैष्णव धर्म के सामान्य सिद्धान्त—वैष्णव धर्म मे ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय किया गया। ये तीनो सिद्धान्त गीता मे भी मिलते है। गीता में अधर्म के बढने पर ईश्वर का अवतार लेने की बात कही गई है। वैष्णव धर्म मे यही भावना अधिक दृढ और स्पष्ट ज्ञान से अभिव्यक्त की गई और विष्णु के दशावतारो की बात कही गई। इन अवतारो मे कृष्ण-वासुदेव तथा राम आज भी प्रत्येक हिन्दू के हृदय मे निवास करते है। वैष्णव धर्म मे व्यूहवाद के सिद्धान्त का भी खूब विकास किया। कृष्ण की उपासना का अर्थ केवल मात्र कृष्ण के प्रति भक्ति ही नही अपितु उनके निकटस्थ सम्बन्धियो के प्रति भी भक्ति रखने को प्रेरित करती है। उनके कुछ सम्बन्धियो मे संजयगण, अनिरुद्ध, प्रदुम्न प्रमुख थे। ये व्यूह कहे जाते थे। रामानुज, माध्व तथा चैतन्य के कृतकृत्यो और प्रतिपादित सिद्धान्तो से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव धर्म के अनुसार भक्ति मार्ग से ही मुक्ति को सुलभ बताया गया और कर्म तथा ज्ञान को आंशिक रूप से सहायक माना गया।

शैव धर्म

शैव धर्म का उद्भव और विकास—शैव धर्म का सम्बन्ध शिव से है तथा इस मत के अनुयायियो के इष्टदेव भगवान शिव है। वैष्णव मत के विपरीत शैव धर्म मे भगवान शिव के अवतारो की कल्पना नही की गई है। शैव धर्म वैष्णव धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन भी है। यह कहा गया है कि किसी न किसी रूप मे शैव धर्म अनार्य लोगो मे प्रचलित था। कुछ विद्वानो ने सैन्धव घाटी से प्राप्त एक मुद्रा पर अंगधारी मानवाकार अंकन को पाशुपत शिव का आदि रूप माना है। ऋग्वेद मे शिव के लिए 'रुद्र' नाम का व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद के अनुसार उनके द्वारा फेंके गए बाण तीव्र रूप से स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते है।[1] वे अपने से मनुष्य और गाय को हत करते है।[2] अत: ऋषियो ने उनकी प्रार्थना की कि वे अपने आयुधो को दूर रखे तथा द्विपदो और चतुष्पदो की रक्षा करे।[3] उत्तरवैदिक काल मे रुद्र को 'शतरुद्रिय' और 'शिवातनु' (मंगलमय) कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हे गिरिश और गिरित्र नाम से अभिहित किया गया।[4] समाज मे रुद्र की विशिष्टता और उत्कृष्टता बढती गई। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण मे उन्हे सहस्राक्ष कहा गया है।[5] उसकी आराधना करते हुए कहा गया कि वह विनाश, विष और अग्नि से रक्षा करे।[6] ब्राह्मण ग्रन्थो मे उन्हे उषा का पुत्र बताया गया है। प्रजापति द्वारा रखे गए उनके आठ नामो मे से एक नाम 'अशनि' (वज्र) था।[7]

---

१. ऋग्वेद, ७।४६।३ २. वही, १।११४।१०
३. वही, १।११४।१ ४, तै० सं०' ४।५।१
५. अथर्ववेद, ११।२।७, शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।६ ६. अथर्ववेद ११।२।६
७. शतपथ ब्राह्मण ६।१।३७ कौपीतकि ब्राह्मण ६।१।७।

उनके आठ नामों में से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम विध्वंसकारी और विनाशकारी थे तथा चार नाम, भव, पशुपति, महादेव और ईशान, कल्याणकारी थे। यद्यपि समस्त देवगण उनकी रुद्रता से भयग्रस्त थे।[1]

सूत्र ग्रन्थों में उनको प्रसन्न करने के लिए पशुवलि की व्यवस्था की गई थी, जो ग्राम की सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम में नहीं लायी जाती थी।[2] उन बारह नामों में 'अशनि' को छोडकर पूर्ववर्ती सात नाम थे तथा पाँच और नाम संयुक्त किये गए थे, जो इस प्रकार हैं—हर, मृड, शिव, भीम और शंकर। उनके साथ इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी भवानी नामक चार पत्नियाँ भी जोड़ दी गईं। श्वेताश्वर, अथर्वशिरस् जैसे उपनिषदों में शिव के दर्शन और ज्ञान-तत्व की मीमासा की गई है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति-तत्वों से स्थापित किया गया है। उन्हें सर्वोच्च देव का पद प्राप्त था। इस युग तक रुद्र-शिव की प्रतिष्ठा बढ गई थी। महाभारत में शिव का उल्लेख श्रेष्ठ देवता के रूप में हुआ है, जिसने पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पडा था। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्रदान किया।[3] सौप्तिक पर्व मे उल्लेख है कि शिव की कृपा से अश्वत्थामा को एक खड्ग मिला था जिससे उसने पाण्डव-पुत्रों का वध कर डाला।

मेगस्थनीज ने ई० पू० चौथी शताब्दी में शैवमत का उल्लेख किया है। वस्तुतः शैव धर्म के इस प्रसार का प्रारम्भ शुंग-सातवाहन-काल से हुआ जो गुप्त-काल मे चरम परिणति पर पहुंचा। उस युग में अनेकानेक शैव मन्दिरो के निर्माण के साथ शिव की महिमा से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की भी रचना हुई। गुप्तकाल में शैवधर्म का पर्याप्त विस्तार हुआ। यद्यपि गुप्त-सम्राट वैष्णव धर्मावलम्बी थे तथापि शैव धर्म का समाज में यथोचित प्रसार हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का मन्त्री वीरसेन शैव था। कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीसेन ने शिव-मन्दिर को दान प्रदान किया था। स्कन्दगुप्त का अधीनस्थ सामन्त महाराज हस्तिन शिवोपासक था। स्कन्दगुप्त के वैल-प्रकार के सिक्के उसकी शैव धर्म के प्रति आस्था व्यक्त करते है। इस युग के साहित्य मे शिव के विभिन्न स्वरूपों, मतों और सिद्धान्तों का उल्लेख है। महेश्वर, ईश, ईश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्ति, वृषभध्वज, शूलभूत, पशुपति, त्र्यंवक, त्रिनेत्र, स्थाणु, आयुग्मनेत्र, नीलकण्ठ, नीललोहित, शितिकण्ठ, चण्डेश्वर, विश्वेश्वर, शंभु, हर, गिरीश, महाकाल, भूतेश्वर, शिव, शंकर, पिनाकी आदि नामों से शिव का उल्लेख हुआ है। कालिदास के साहित्य में गोकर्ण के शिव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के महाकाल-ज्योतिर्लिङ्ग का संकेत मिलता है। पुराणो मे शिव की महिमा का खूब गुण-गान किया गया है। उन्हे देवो में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है।[4] स्कन्द पुराण में पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब तत्वों के मूल तत्व तथा सनातन भगवान रुद्र ने कहा है कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से भी पहले मैं ही अकेला ईश्वर था, वर्तमान मे भी मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य मे भी मैं ही एकमात्र ईश्वर रहूँगा। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नही है।[5] उनकी इस प्रतिष्ठा और महानता का

---

१. एषोऽत्र रुद्रो देवता...तस्माद्देवा अविभयुः। श० ब्रा० ६।१।१।१।

२. आपस्तम्बगृह्य सूत्र ४।६।

३. महाभारत, वनपर्व, ३८-४०।

४. देवेषु महान् देवो महादेवस्ततः स्मृत। वायु पुराण, ५।४१।

५. स्कन्द पुराण, १।२।७-८।

कारण यह था कि उन्होंने अपने ऐश्वर्य से देवताओं को, शक्ति से असुरों को, ज्ञान से मुनियों (ऋषियो) को तथा योग से प्राणियों को पराजित किया था।[1]

शिवोपासना का लिंगपूजा से सम्बन्ध अति प्राचीन है। ऋग्वेद मे शिश्न (लिंग) पूजको को घृणा की दृष्टि से देखा गया है। पुराणो मे शिश्न-पूजा (लिंग-पूजा) का भी उल्लेख है। एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु मे श्रेष्ठता का विवाद चल रहा था तब उन्होने दीप्तिमान् अव्यक्त लिंग देखा।[2] मत्स्य पुराण के अनुसार त्रिपुर के दग्ध होने के समय बाणासुर ने शिवलिंग को सिर पर रखकर शिव की पूजा की थी।[3]

गुप्त-काल मे पाशुपत संप्रदाय का विकास भी हुआ। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के तीन अंग है—(१) पति (स्वामी), (२) व्यक्ति, आत्मा या 'पशु' और (३) पाश (बन्धन)। इनके अतिरिक्त चार पाद है—(१) विद्या या ज्ञान, (२) क्रिया अथवा कर्म, (३) योग (ध्यान) और (४) चर्या अथवा आचार। पशुपति के रूप मे भगवान शिव की उपासना समाज मे प्रचलित थी।

शिव की कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप मे भी की गई। इसके अन्तर्गत पुरुष और नारी को एक ही शरीर के भाग के रूप मे स्वीकार किया गया। फलत. शिव और पार्वती-युक्त 'अर्धनारीश्वर' की मूर्ति इसी कल्पना पर आधारित थी।

शिव की पूजा त्रिमूर्ति के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु के साथ होती थी, जिसका प्रारम्भ गुप्त-युग मे हुआ था। कालिदास ने अपने ग्रन्थो मे इन तीनो देवताओ की वन्दना की है तथा उनके सम्मान और वैभव का वर्णन किया है। एलीफैण्टा की त्रिमूर्ति अत्यन्त विख्यात है, जिसमे ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) है। ब्रह्मा सर्जन, विष्णु पालन, महेश सहार के प्रतीक है।

शिव को हरिहर के रूप मे विष्णु के साथ दर्शित किया गया था। इससे 'द्विदेव' की कल्पना का विकास हुआ। यह वैष्णव और शैव धर्म के समन्वय का प्रमाण है। वैष्णव और शैव के समन्वय की जो परम्परा कालिदास ने प्रारम्भ की थी वह निरन्तर अबाधित रूप मे चलती रही। इसका चरम रूप तुलसी रचित 'रामचरितमानस' में मिलता है।

शैव मत को बगाल के शशाक, थानेश्वर-कन्नौज के पुष्यभूति वंश के शासको और वलभी के मैत्रको ने भी सरक्षण प्रदान किया था। हूण राजा मिहिरकुल भी शैव-मतावलबी था। सातवी शताब्दी ई० के मध्य मे आये चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसाग ने पाशुपतो के सप्रदाय का और महेश्वर के उन मंदिरो का, जिनमे ये पशुपत पूजा करते थे, कई जगह उल्लेख किया है। इस सप्रदाय मे तपस्वी अर्थात् वैरागी, जो अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे और गृहस्थ लोग भी सम्मिलित थे। पाशुपतो के अतिरिक्त अन्य शैव सप्रदायो के भी उल्लेख है। उत्तर काल मे शैव मत जिन संप्रदाओं मे बिखर गया प्रतीत होता है, वे शैव मत से संबधित धार्मिक तथा दार्शनिक चिंतन की उन्नति या अवनति के साथ, मुक्ति प्राप्त करने की विशिष्ट विधियो पर आधारित थे। शिव ने जो अपनी सौम्य आकृति के लिये और अपने भक्तो पर आसानी से प्रसन्न हो जाने के लिये प्रसिद्ध हैं, अपने अनुयायियो मे किसी भी प्रकार के सांप्रदायिक

---

१. वायु पुराण, १०।६१-६२।

२. मत्स्य पुराण, ६०।४; ब्रह्माण्ड पुराण, २।२६।२१; वायु पुराण, ५५।२१।

३. उत्थितः शिरसा कृत्वा लिंगं…। मत्स्य पुराण, १८८।६१।

मतभेद की संभावना को समाप्त कर दिया था। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के उपासकों के तीन वर्ग थे : याजक अर्थात् तपस्वी उनके सामान्य अनुयायी और जन-साधारण, जिनका किसी विशेष संप्रदाय से कोई संबंध नहीं था।

शैव मत के सिद्धांत—शैव मत आस्तिकवादी (ईश्वरवादी) है। यह वैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधार पर टिका है। इसकी आधारभूत संकल्पना यह है कि एक परिवर्तनशील ब्रह्मांडीय शक्ति विश्व का सृजन भी करती है और विनाश भी। सिद्धान्त रूप मे शिव अवतार रूप में प्रकट नही होता फिर भी 'वायु पुराण' तथा 'लिंग पुराण' मे यह कहा गया है कि शिव ने लकुलिद् नामक एक ब्रह्मचारी के रूप मे अवतार धारण किया था और उसके चार शिष्य थे : कुशिक, गार्ग्य कौरूप और मैत्रेय। लकुलिन् ने जिस पाशुपत पद्धति की स्थापना की थी उसमे से चार सम्प्रदाय वन गये थे। पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख 'महाभारत' के नारायणीय खंड मे है।

शिव उस शक्ति का प्रतीक है, जो विश्व पर शासन करती है। वह सृष्टि करता है और संहार करता है और इस प्रकार एक परिवर्तन लाता है। पाशविक तथा मानवीय अस्तित्व काम-वासना का फल है। पुरुष और प्रकृति का संयोग एक अतहीन प्रक्रिया है, जो उन व्यष्टियो मे निरंतर प्रकट होती रहती है, जिनका आदि और अंत अवश्यभावी है। प्रभु स्रष्टा और संहर्ता दोनों ही है। शिव की गतिविधियो के कारण उन्हे महान् तपस्वी कहा गया है और वह प्रकृति की शक्यियो मे मूर्त रूप भी माने गये। उनका काल (महाकाल) और मृत्यु से भी तादात्म्य स्थापित किया गया है, सृजन का अध्यक्ष होने के नाते वह अर्धनारीश्वर (आधा नर ओर आधा नारी) है। वह महादेव अर्थात् महान् देवता है; वह हर अर्थात पकड़ लेने वाला है, भैरव अर्थात् भयकर, भवेश अर्थात् ससार का स्वामी और पशुपति अर्थात् पशुओ का जो मानव आत्माओ के प्रतीक है, स्वामी है। शिव का रूप शक्तिशाली, क्रोधी, शीघ्र ही प्रसन्न तथा रुष्ट होने वाले परन्तु उदार और कठोर हृदय देवता के रूप मे निरूपित किया गया है।

शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

जैसा कि पहले कहा जा चुका है उत्तर काल मे शैव धर्म का विभिन्न सम्प्रदायो के रूप में विकास हुआ। इन सम्प्रदामो मे कालानन या कारुक, पाशुपत-लकुलीश और कापालिक आदि प्रमुख थे। शैवागम मे ऐसे शैव सम्प्रदायो की संख्या चार वताई गई है—(१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कापालिक और (४) कालामुख।

१. शैव सिद्धान्त—इस मत के अनुयायियो की दृष्टि मे जगत् के तीन रत्न है—शिव, शक्ति और विन्दु। कर्त्ता शिवा है, कारण शक्ति और उपादान विन्दु। अत: शैव सिद्धान्त के ये तीन रत्न हैं, जो इस मत के समर्थको को ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक होते है। इसमे पति का अर्थ शिव से लिया गया है तथा शिव को सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और ऐश्वर्य-सम्पन्न माना गया है। वे सर्व-द्रष्टा और कर्त्ता है। उनमे अर्थज्ञान और क्रियाशक्ति का समन्वित रूप है। उनका कर्मफल-रूप शरीर नही है, वल्कि उनका शरीर शक्तिरूप (मंत्र-रूप) है। प्रधानत: उनके पॉच कार्य है सृष्टि (उद्भव), पालन (स्थिति), सहार (आदान), तिरोभाव (आवरण) और प्रसाद (अनुग्रह)। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जीवात्मा के लिये पशु का व्यवहार किया गया है।

पाश का अभिप्राय बंधन से मानते हुए यह कहा गया हे कि शिवरूप होने पर भी जीव

की पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश के चार प्रकार निर्दिष्ट किये गए हैं—मल, कर्म माया और रोध शक्ति। प्रलयकाल मे जीवो को अपने मे लीन करने वाली शक्ति और सृष्टि-काल मे उन्हे उद्भूत करने वाली शक्ति को 'माया' की संज्ञा दी गई तथा शिव की शक्ति को, जो जीवो के स्वरूप का तिरोधान करती है, 'रोध' कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव तो वस्तुत: शिवरूप ही है, किन्तु पाशो के कारण वह बंधनयुक्त रहता है। अत: क्रिया के माध्यम से जीव को मुक्ति मिलती है। शिव की उपासना अथवा साधना का मार्ग सन्ध्योपासन, मंत्रसिद्धि, पूजा, जप, हवन, आनन्दानुभूति के लिए नैमित्तिक कर्म आदि है। शैव धर्म मे शैव सम्प्रदाय के अनुयायी इसी साधना-मार्ग को अपनाकर परम तत्व शिव की कामना करते है।

२. **पाशुपत सम्प्रदाय**—शैव मत का सबसे पुराना संप्रदाय पाशुपत है, जिसका उल्लेख महाभारत मे है। शुरू की अवस्थाओ मे इसका सबंध 'पशुओ के पति' से किया गया था, परन्तु बाद मे उस प्रभु (पति) से जोड दिया गया, जो प्राणियो (पशु) की बंधन (पाश) से मुक्ति पाने मे सहायता करता है। बाद मे, इसका संबंध लकुलीश से जोड़ा गया, जिसे शिव का अवतार माना जाता है। एक उपासना पद्धति (संप्रदाय) के रूप मे इसका उल्लेख उत्कीर्ण लेखो में तथा साहित्य मे है। शकर और कुमारिल ने इसकी निंदा की, क्योकि इसने विकृत हो कर दुराचार का रूप धारण कर लिया था। पाशुपतो की एक और शाखा ग्यारहवी शताब्दी मे प्रमुख बन गई; इसके अनुयायियो को 'कालमुख' अर्थात् 'काले मुख वाले' कहा जाता था। वे कापालिको, कनफटो, अघोरियो तथा अन्य वाममार्गी सप्रदायो के अग्रदूत थे। ये कालमुख अपने माथे पर काला तिलक लगाते थे। इस सम्प्रदाय के साथ जिन पॉच वस्तुओ का सबध जुडा हुआ है, वे है (१) कारण, जिसे ईश्वर, महेश्वर, और प्रधान भी कहा जाता है, (२) कार्य, जिसे महत् कहा जाता है और जो प्रधान से उत्पन्न होता है; (३) योग, ओ३म् अक्षर का चिंतन या ध्यान, (४) विधि, अर्थात् दिन मे तीन बार भस्मी रमाना; और अत मे (५) दु खात, अर्थात् परम मुक्ति। कालान्तर में यह सम्प्रदाय विकृत हो गया और इसमे जादू-टोने और एक प्रकार का नर-मास भक्षण—नर कपालो मे मास खाना और मदिरा पीना—शुरू हो गया तथा इनके अनुष्ठानो मे संभोग की मुद्राओ का अनुकरण किया जाने लगा।

(३) **कापालिक सम्प्रदाय**—कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी सुरापान करते और भोजन में घृणित पदार्थ ग्रहण करते है, और ऐसा विश्वास रखते है कि इस प्रकार से ज्ञान-शक्ति तीक्ष्ण होती है। ये लोग सर्वदा भैरवी से आलिंगित रहने का समर्थन करते है। कापालिको के इष्ट देव भैरव है, जो शकर के अवतार माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भैरव को ही सर्जन और संहार करने वाला मानते है। कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी तामसी क्रियाओ के माध्यम से अपने उपास्य देव और भैरव को प्रसन्न करते है। कापालिको का चरित्र और स्वभाव अत्यन्त क्रूर और भयंकर होता है। सिर पर जटाजूट, गले मे रुद्राक्ष-माला, शरीर पर श्मशान-भस्म, हाथ मे नर-कपाल धारण करना कापालिकों के प्रधान लक्षण हैं। उनका मत है कि छह मुद्रिकाओ के प्रयोग से भगासन पर बैठकर परम ब्रह्म 'आत्मा' का चिन्तन करने से मुक्ति सम्भव

है। उनकी छह मुद्राएँ हैं (१) कंठिका, (२) रुचक, (३) कुंडल, (४) शिखामणि, (५) भस्म और (६) यज्ञोपवीत।[1]

(४) कालामुख सम्प्रदाय—कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी कापालिकों के ही वर्ग के थे, किन्तु वे उनसे भी अधिक अतिवादी और भयंकर प्रकृति के थे। शिवपुराण में उन्हे महाव्रतधर कहा गया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी नर-कपाल में ही भोजन, जल तथा सुरापान करते और शरीर पर चिता की भस्म मलते है।

(५) लिंगायत सम्प्रदाय—दक्षिण भारत में शैव धर्म के अन्तर्गत वीर शैव सम्प्रदाय का बड़ी तीव्र गति से विकास हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'लिंगायत' या 'जंगम' कहे जाते थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिवलिंग को चाँदी के सम्पुट मे रख कर गले मे लटकाए रहते थे। इनका आचरण वर्णव्यवस्था के प्रतिकूल होता था। इनकी विचारधारा के अनुसार एक परम ब्रह्म, जो सत्ता (सत्), बुद्धि (चित्) और आनंद स्वरूप है, शिव का सार (शिवतत्त्व) है, और उसे स्थल कहा जाता है, क्योकि पुरुष और प्रकृति से उत्पन्न होने वाला यह शिव उसी मे विद्यमान रहता है और अंत मे उसी मे लौट जाता है। नैसर्गिक शक्ति से भरे विक्षोभ के द्वारा यह स्थल लिंगस्थल (मूर्त तथा पूजित शिव या रुद्र) और अगस्थल (जीवात्मा या उपासक) मे विभक्त हो जाता है। शक्ति भी अपनी इच्छा से दो भागो मे विभक्त हो जाती है, जो शक्ति शिव मे जाती है, वह काल, और जो जीवात्मा मे जाती है, वह भक्ति कहलाती है। यह अन्ततोगत्वा आत्मा और शिव का सम्मिलन है। भक्ति जीवात्मा का गुण है। यह ईश्वर के प्रति अनुराग है। इस प्रकार भक्त वह है, जो अपने मन को सासारिक विषयो से विमुख कर लेता है। लिंगायत सम्प्रदाय के विचार के अनुसार, मुक्ति प्राप्त करने का उपाय भक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति प्रेम द्वारा और नैतिक तथा आत्मिक अनुशासन के अभ्यास द्वारा है, जिससे शिव के साथ सामरस्य प्राप्त होता है।

शाक्त धर्म

वैसे तो मातृ देवी की उपासना का सूत्र प्राक्-वैदिककाल मे भी खोजा जा सकता है, परतु शक्ति की उपासना का सम्प्रदाय वैदिककाल जितना ही प्राचीन है। इसे मूल तत्त्व (प्रकृति) के साथ आत्मा (पुरुष) के सम्मिलन का प्रतीक कह कर इसके लिए एक दार्शनिक प्रामाणिकता प्रस्तुत की गई। यह माना गया है कि सहचर नारी तत्त्व मे एक प्रकार की सक्रियता और व्यक्तित्व विद्यमान है। शक्ति संप्रदाय का शैव मत के साथ घनिष्ठ सबध है और इसे वैदिक नाम नाना से लेकर अंबा, दुर्गा, गौरी, पार्वती तक तथा अन्य कई नाम दिए गए हैं। पुराणो के अनुसार, शक्ति की उपासना मुख्यतया काली और दुर्गा की उपासना तक ही सीमित है, जिन्हे महिषासुरमर्दिनी (महिषासुर का वध करने वाली), शुम्भ और निशुम्भ को मारने वाली आदि जैसे नाम भी दिए गए है। उसे चामुडा भी कहा जाता है, क्योकि उसने चंड और मुड नामक दानवो का वध किया था। कुछ लोगो का कहना है कि सात शक्तियाँ नामशः ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नृसिंही, और एन्द्री, उन-उन देवताओ की शक्तियो या भावनाओ की प्रतीक है, जिन पर उनके नाम रखे गए है। ये सब नाम एक ही देवी के हैं, जिसे आम तौर पर शक्ति कहा जाता है।

---

१. ब्रह्मसूत्र, २।२।३५-३६

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार, जिस देवी ने महिषासुर का वध किया था, वह शिव, विष्णु और ब्रह्मा के तेज से मिलकर बनी थी और अन्य सब देवताओ ने उसके अग-प्रत्यंगों के निर्माण के लिए अपना-अपना अंश दिया था।

शाक्त सिद्धान्त—शाक्तों की साधारण प्रथाओ तथा अनुष्ठानों के साथ संबधित अनेक तत्त्व-मीमांसात्मक सिद्धांत है। इनके अनुसार शिव और शक्ति आद्य मूल तत्त्व है। प्रकाश रूपी शिव विमर्श या स्फूर्ति-रूपी शक्ति के अन्दर प्रवेश करता है और एक विन्दु (वूद) का रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार शक्ति शिव के अन्दर प्रवेश करती है और उस विन्दु अर्थात् वूद का विकास करती है, और तव उसमे से नारी तत्त्व निकलता है, जिसे नाद (ध्वनि) कहा जाता है। ये दोनो तत्त्व परस्पर मिल जाते है। नारी और नर ऊर्जाओ के मध्य तीव्र आकर्षण काम (प्रेम) कहलाता है। विन्दु और नाद के साथ श्वेत नर विन्दु और लाल नारी विन्दु मिल जाते है और नर विन्दु नारी विन्दु मे गर्भाधान कर देता है। जव ये चार तत्त्व मिलकर किसी एक वस्तु, कामकला, का रूप धारण कर लेते हैं, तव इस संसार का सृजन शुरू हो जाता है। इसलिए, सृजनशील अभिकरण वह देवी है, जिसे सर्वोच्च दैवीय शक्ति माना जाता है और जिसके अनेक नाम, जैसे कि परा, ललिता, भट्टारिका और त्रिपुर-सुन्दरी आदि रखे गए है। श्रद्धालु भक्त के दीक्षा ग्रहण कर लेने के वाद उस देवी की आराधना तीन प्रकार से की जाती है: समाधि (ध्यान) द्वारा, रहस्यपूर्ण चक्र की पूजा (चक्रपूजा) द्वारा जिसे वाह्ययोग अर्थात् भौतिक उपासना भी कहा जाता हैं, और सत्य सिद्धांत के अध्ययन द्वारा।

कालान्तर मे शाक्त विचारधारा हिन्दू धर्म का प्रभावकारी और चमत्कारी सम्प्रदाय वन गया। धीरे-धीरे 'शक्ति' के साथ अनेक नाम जुट गए, जो उनके विकसित होनेवाले क्रमिक रूपो के परिचायक हैं। काली, चामुण्डा, चण्डी, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम शाक्त-शैव सम्वन्ध को व्यक्त करते है। इसके साथ ही लक्ष्मी, वैष्णवी, ब्राह्मी, इन्द्राणी आदि विभिन्न नाम भी उनको प्रदान किये गए जो उनके उत्तरोत्तर वृद्धिशील स्वतन्त्र अस्तित्व को स्पष्ट करते है, न कि दूसरे देवताओ के प्रभाव को। वाग्देवी, सरस्वती से भी उनका सम्वन्ध स्थिर किया जाता है तथा उन्हें वुद्धि और प्रज्ञा की देवी माना जाता है। मध्यकाल तक आकर शक्ति की उपासना वहुत अधिक वढ़ गई तथा उसे सृष्टि, पालन और संहार का रूप प्रदान करके उनकी आराधना की जाने लगी।

शक्ति का स्वरूप—वैदिक साहित्य मे उमा, पार्वती, अम्बिका, हेमवती, रुद्राणी और भवानी जैसे नाम मिलते है। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे एक पूरा सूक्त ही शक्ति की उपासना मे विवृत है जिसे तान्त्रिक 'देवीसूक्त' कहते हैं। महर्षि अभृण की ब्रह्मवादिनी दुहिता का नाम 'वाक्' था, जिसकी देवी के साथ अभिन्नता थी। उसी के उद्गार इस सूक्त में दर्शित होते हैं। उस वाक् शक्ति का कथन है, "मैं ही ब्रह्म के द्वेपियो को मारने के लिए रुद्र का धनुप चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओ को मैदान मे ला खड़ी करती हूँ। मै ही आकाश और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हूँ।"[1] निश्चय ही यह कथन शक्ति की महत्ता और तेजस्विता को व्यक्त करता है। वह अन्यत्र कहती है,

---

१. अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ऋग्वेद, १०।१२५।

"मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली, साक्षात् करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप मे जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि शक्ति अद्वैत रूप में व्याप्त है। जगत् के उद्‌भव, पालन और संहार की जो कथा देवी की शक्ति से सम्बद्ध की गई, उसका सूत्र ऋग्वेद में ही है। 'शक्ति' का तत्व अत्यन्त विस्तृत है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से परे है (परो दिवा पर एना पृथिव्या)। इसी प्रकृति की शक्ति को प्रधानता प्रदान करके माया के रूप में 'नित्या शक्ति' की भी अभिव्यजना की गई। 'माया' को प्रज्ञा और स्वप्न दोनों माना गया। शक्ति, ज्ञान और मोह को उद्‌भूत करनेवाली क्रिया, शक्ति सृजन अथवा सृष्टि शक्ति से सम्बन्धित मानी गई।

मार्कण्डेय पुराण मे वर्णित 'दुर्गासप्तशती' अत्यन्त महनीय और प्रख्यात अश है, जिसमें शक्ति की व्यापकता और महत्ता विवृत है। उसमे शक्ति के तीन रूपों का वर्णन है—(१) महाकाली (प्रथम अध्याय), (२) महालक्ष्मी (२ से ४ अध्याय) और महासरस्वती (५ से १३ अध्याय)। उक्त पुराण मे देवी को ही समस्त प्राणियो मे शक्ति, दया, शाति, क्षाति, तुष्टि, बुद्धि और माता के रूप मे अवस्थित बताया गया है। शक्ति ही पृथ्वी रूप मे सृष्टि की आधारशिला है तथा जल रूप मे सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करती है। अपार बल से युक्त होकर वह वैष्णवी है। वह जगत् की कारणभूता परा माया है। जीव का बन्धन और मोक्ष उसी से है। सम्पूर्ण विद्याएँ उसी मे स्थित हैं।

हिन्दू धर्म में अन्य देवताओं की तुलना मे देवी-शक्ति का वैभव और ऐश्वर्य धीरे-धीरे अत्यन्त शक्तिशाली होने लगा तथा मधु-कैटभ, महिषासुर, शुंभ, निशुंभ, चंड-मुंड, रक्तबीज जैसे भयंकर असुरो का विनाश करके वे सर्वश्रेष्ठ हो गईं, क्योंकि उन अत्याचारी असुरो का वध कर डालने का बल ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि बलशाली देवताओ के पास भी नही था। इसके साथ ही 'अर्धनारीश्वर' के रूप में शक्ति और शिव दोनो की स्थितियाँ संयुक्त हुईं तथा शिव और शाक्त सम्प्रदायों मे काफी निकटता आ गई।

शाक्त धर्म के विकास और प्रगति को प्रमाणित करने के अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं। भेड़ाघाट (जबलपुर) के निकट ६४ योगिनी का मन्दिर है, जिसमें ६००-११०० ई० के बीच देवी की प्रतिमाएँ गढ़ी गईं। उसमे शक्ति की ४४ प्रतिमाएँ हैं, जो प्रधानत: दुर्गा और सप्तमातृकाओ की हैं। उनमे कुछ पर अभिलेख भी खुदे हैं। इसी तरह के मन्दिर खजुराहो और सुराडा (उडीसा) मे भी हैं। राजस्थान और मध्यप्रदेश जैसे कुछ अन्य स्थानों मे सप्तमातृकाओ के अतिरिक्त दुर्गा की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। बंगाल से चामुण्डा, चण्डी, काली आदि के रूप में दुर्गा की उग्र मूर्तियाँ मिली हैं। आसाम स्थित कामाख्या देवी का मन्दिर आज भी प्रसिद्ध है, जो देवी के काम रूप को अभिव्यक्त करता है। जम्मू के निकट स्थित वैष्णो देवी का मन्दिर शक्ति के सौम्य रूप का प्रतीक है।

शाक्त उपासना पद्धति—शाक्तो के दो वर्ग हैं, कौलमार्गी और समयाचारी। पूर्ण रूप से

---

१ अहं राष्ट्री-सगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तिम्॥ ऋग्वेद, १०।१२५।३।

अद्वैतवादी साधक 'कौल' कहे जाते है, जो कर्दम और चन्दन में, शत्रु और पुत्र में, श्मशान और भवन में तथा कांचन और तृण मे कोई भेद नही समझते। समयाचारी शाक्त आन्तरिक विधि से साधना करने मे अधिक समय व्यतीत करते है। कौल मार्गी 'पंचमकार' की उपासना करते है, जिसमे मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन है, जो 'म' से प्रारम्भ होते है। तामस साधक भौतिक आधार पर इनका अनुगमन करते हैं और क्षणिक सिद्धि प्राप्त करते है। वस्तुत पंचमकार के लाक्षणिक अर्थ हैं। 'मधु' अथवा 'मद्य' का अर्थ है सहस्रदल कमल से क्षरित होने वाली सुधा। 'मास' का अभिप्राय है, पाप और पुण्य का नाश और हनन। शरीरस्थ इडा और पिंगला मे प्रवाहित होने वाले श्वास और प्रश्वास को मत्स्य की संज्ञा दी गई है। असत् सग के त्याग की स्थिति है मुद्रा। मैथुन का अभिप्राय सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुडलिनी शक्ति का योग या सुषुम्ना नाड़ी मे प्राणवायु का सम्मिलन है, जो असीम आनन्द प्रदान करता है।

जैन धर्म

जैन धर्म की प्राचीनता—कतिपय विद्वानो का मत है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक काल मे जन्म ले चुका था। कुछ अन्य विद्वानो के विचारानुसार सिन्धु घाटी से प्राप्त योगिराज की मूर्ति किसी जैन तीर्थंकर की है। कुछ विद्वान जैन धर्म को बौद्ध धर्म का अंग मानते है। प्रतीत होता है कि उपरोक्त तीनो मत केवल अनुमान पर आधारित है। यदि प्राप्त प्रमाणो तथा साहित्यिक सामग्री का विवेचनात्मक निरीक्षण किया जाये तो हमे इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि जैन धर्म का जन्म वैदिक काल के अन्तिम चरणो मे हुआ था। परन्तु जैन ग्रन्थो के अनुसार पार्श्वनाथ से पहले जैन धर्म के २२ तीर्थंकर हो चुके थे—तो निश्चय ही यह धर्म वैदिक धर्म का समकालीन रहा होगा। इस कारण जैन धर्म की प्राचीनता को और पीछे ले जाया जा सकता है। परन्तु पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी के पूर्व के किसी तीर्थंकर के विपय मे कोई सूचना नही मिलती। इस विवाद मे न पड़कर हम इतना तो निश्चयपूर्वक कह सकते है कि छठी शति ई० पू० मे धार्मिक क्राति के समय जैनधर्म ने नवीन परिवेश धारण करके धार्मिक जगत को अत्यधिक प्रभावित किया।

जैन धर्म के तीर्थंकर—जैन धर्म के सन्त तथा प्रमुख अधिष्ठाता तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकरो को जितेन्द्रिय ज्ञानी माना जाता है। जैनधर्म के अनुसार 'तीर्थ' शब्द का अर्थ उस निमित्त से है जिसका अवलम्ब लेकर मनुष्य सासारिक मोह माया से विरक्त हो, दु:खो से मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त करता है। अत "तीर्थंकर" ऐसे महात्मा पुरुष तथा ज्ञानी थे जो निमित्त की खोज करके मोक्ष प्राप्ति का साधन निर्दिष्ट करते थे। जैन साहित्य के अनुसार जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर हुए है। जिनके नाम क्रमश. इस प्रकार है—

(१) ऋषभ, (२) अजीत, (३) सम्भव, (४) अभिनन्दन, (५) सुमति, (६) पद्मप्रभ, (७) सुपार्श्व, (८) चन्द्रप्रभ, (९) सुविधि, (१०) शीतल, (११) श्रेयाँस, (१२) वासुपूज्य, (१३) विमल, (१४) अनन्त, (१५) धर्म, (१६) शान्ति, (१७) कुन्थ, (१८) अर, (१९) मतिल, (२०) मुनि सुव्रत, (२१) नेमि, (२२) अरिष्ट नेमि, (२३) पार्श्वनाथ, (२४) महावीर स्वामी।

उपरोक्त तीर्थंकरो में से अधिकांश के विषय में न तो कोई ऐतिहासिक जानकारी है और न ही उनके जीवन-चरित, कार्य-कलापो आदि का विवरण ही प्राप्त है। जैन धर्म के तेइसवें तथा

चौबीसवें तीर्थंकर क्रमश: पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी के जीवन चरित एवं विचारों से जैन धर्म सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

पार्श्वनाथ

जीवन चरित—जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जैकोबी महोदय तो इन्हे जैन धर्म का संस्थापक ही मानते हैं। ब्राह्मणों की परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ की गणना भगवान के चौबीस अवतारों में की जाती है। कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुआ था। उनके पिता अश्वसेन वाराणसी के राजा थे तथा उनकी माता का नाम वामा था। उनका प्रारम्भिक जीवन उत्तराधिकारी राजकुमार के रूप मे व्यतीत हुआ तथा युवावस्था मे उनका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु मे वे गृह त्याग कर सन्यासी हो गये तथा ८३ दिनो तक कड़ी तपस्या करने पर ८४वें दिन उनके हृदय मे ज्ञान ज्योति का प्रकाश प्रस्फुटित हुआ। उनकी ज्ञान प्राप्ति का स्थान सम्मेय पर्वत था। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात सत्तर वर्ष तक इन्होंने अपने मत तथा विचारों का प्रचार किया तथा सौ वर्ष की आयु मे उन्होंने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया। उनके प्रचार कार्य मे अन्य अनेक प्रचारकों के अतिरिक्त उनकी माता वामा तथा पत्नी प्रभावती ने प्रचुर योगदान किया। पार्श्वनाथ ने चार गणों या संघों की स्थापना की। प्रत्येक गण एक गणधर के अन्तर्गत कार्य करता था। उनके अनुयायियों मे स्त्री और पुरुष का समान महत्व प्राप्त था।

महावीर स्वामी

जीवन चरित—छठी शताब्दी ई० पू० मे वज्जि गणराज्य संघ में ज्ञातिक कुल के प्रधान सिद्धार्थ थे। सिद्धार्थ बहुत सम्माननीय तथा उच्च कुल से संबंधित थे। सिद्धार्थ के तीन सन्तानें थीं—एक कन्या तथा दो पुत्र। सबसे छोटे पुत्र का नाम वर्धमान था। इनका जन्म ५९९ ई० पू० मे हुआ था। यही वर्धमान कालान्तर मे महावीर स्वामी के रूप मे जैन धर्म के प्रमुख प्रतिष्ठाता बने।

वर्धमान (महावीर) का प्रारम्भिक जीवन राजकुमारों की भाँति व्यतीत हुआ था और उन्होंने अनेक राजकीय विद्याओं में कुशलता प्राप्त की। ऐसा संभवत: इस लिए हुआ कि उनके पिता देवज्ञों की भविष्यवाणी के अनुरूप उन्हें चक्रवर्ती सम्राट बनाना चाहते होंगे। तीस वर्ष की आयु होने पर उनके पिता का देहावसान हो गया। फलत. चक्रवर्ती सम्राट बनाने के आकांक्षी पिता के नियन्त्रण की समाप्ति हो गई। अब वर्धमान के हृदय में विरक्ति उत्पन्न होने लगी तथा उन्होंने सन्यास धारण कर लिया। सन्यास धारण करने पर महावीर जैन भिक्षु के रूप में दीक्षित हुए। भिक्षु जीवन में उन्होंने घोर तपस्या, शारीरिक यन्त्रणा तथा आत्महनन आदि साधनों के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा की।

बारह वर्ष की घोर यन्त्रणापूर्ण तपस्या के उपरान्त तेरहवें वर्ष में महावीर को 'कैवल्य' (ज्ञान) प्राप्त हुआ। उनके ज्ञान प्राप्ति का स्थान 'जम्भियगाम' (जृम्भिका) के निकट उज्जुवालिया (ऋजुपालिका) नदी पर स्थित था।

महावीर स्वामी ने अपनी इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया था अतः उन्हे 'जिन' कहा गया

है। तपस्वी जीवन में महान पराक्रम प्रदर्शित करने के कारण वे "महावीर" कहलाये। कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त करने के कारण वे "केवलि" अथवा "केवलिन" कहे जाते है। बौद्ध साहित्य में उन्हे "निगण्ठ-नारपुत्र" कहा गया है। उन्हे अर्हंत (पूज्य) भी कहा जाता है।

महावीर द्वारा धर्म प्रचार—"कैवल्य" प्राप्ति के उपरान्त महावीर स्वामी ने धर्म प्रचार तथा प्रसार का क्रम प्रारभ किया। तपस्वी जीवन मे अनेक घोर कष्टो को भोगने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का सहज ही सामना करते हुये वे अकेले ही प्रचार कार्य मे जुट गये। कुछ समय उपरान्त नालन्दा मे उन्हे अपना प्रथम सहयोगी गोशाल मिला परन्तु लगभग ६ वर्ष पश्चात उसने महावीर का साथ छोड दिया। यह धार्मिक क्राति का युग था तथा देश मे अनेक मत तथा सम्प्रदाय अपने-अपने विचारो का प्रचार कर रहे थे। महावीर स्वामी के समक्ष दो विकल्प थे—या तो वे प्रचलित मतो का विरोध करते अथवा उनसे सहिष्णुता स्थापित करते। महावीर स्वामी ने मध्य मार्ग अपनाया। भाग्य ने उनका साथ दिया तथा उन्हे अनेक राज्यो तथा शासकों का समर्थन प्राप्त हो गया। लिच्छवी राज चेटक की पुत्री तथा चम्पा नरेश दधिवाहन की पत्नी पदमावती उनकी प्रथम शिष्या बनी। मगध नरेश बिम्बिसार, सिन्धु सौवीर के नरेश उदायिन, कौशाम्बी नरेश स्तानिक, अवन्ति नरेश प्रद्योत आदि ने महावीर स्वामी के धर्म प्रचार मे बडा सहयोग दिया। महावीर स्वामी के प्रचारक शिष्यो मे कामदेव, चुलानिपिया, सुरदेव, चुल्लसयग, आनन्द, कुन्डकोलिय, महासयग, साल्हीपिया, नन्दिनीपिया, सद्धाल तथा पुत्त विशेप उल्लेखनीय हे।

ई० पू० ५२७ मे राजगृह के समीप पावा मे ७२ वर्ष की आयु मे महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था।

जैन धर्म के सिद्धान्त

जैन धर्म के सिद्धान्तो को तीन प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त, (२) व्यावहारिक सिद्धान्त, तथा (३) अन्य विभिन्न दृष्टिकोण। इस वर्गीकरण के अनुसार जैन धर्म के सिद्धान्तो तथा मान्यताओ का वर्णन निम्न-लिखित है—

जैन धर्म के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्त

(१) **निवृत्ति मार्ग**—जैन धर्म के अनुसार सारे सुख, प्राप्तियाँ, भोग, काम आदि दुखमूलक हैं तथा मनुष्य का जीवन मृत्यु के भय से सन्त्रस्त है। शरीर नाशवान है, क्षणभगुर है, अत. भौतिक सुखो की प्राप्ति निरर्थक, निराधार तथा अर्थहीन है। महावीर स्वामी का सन्देश है कि वास्तविक सुख की प्राप्ति ससारत्याग मे है। मानव को उस संसार से विमुख हो जाना चाहिये जिसमे अन्तहीन दुख भरे हुए हैं। 'सम्पत्ति परिवार, समाज आदि का त्याग कर, भिक्षु बनो एवं परिभ्रमण करते रहो।' इस प्रकार जैन धर्म मे निवृत्ति मार्ग की प्रस्तावना की गई है।

(२) **कर्म तथा पुनर्जन्म**—जैन धर्मानुसार कर्म ही जीवन का कारण है तथा कर्म ही मृत्युदायी भी है। मनुष्य को कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है। मनुष्य का जीवन आठ कर्मों मे वँधा हुआ है—यथा (१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावर्णीय कर्म, (३) वेदनीय कर्म, (४) मोहनीय कर्म, (५) आयु कर्म, (६) नाम कर्म, (७) गोत्र कर्म, तथा (८) अन्तराय कर्म। जैन मतानुसार कर्म द्वारा ही पुनर्जन्म होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म विमुख होना आवश्यक है। यदि कर्म

नही होगा तो पुनर्जन्म भी नही होगा और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त हो जायेगा।

(३) त्रिरत्न—क्योकि मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मविमुख होना आवश्यक है अत. पूर्वजन्म के कर्मों से मुक्ति पाने के लिये त्रिरत्नों का पालन आवश्यक है। सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन तथा सम्यक चरित्र त्रिरत्न हैं। त्रिरत्नो का पालन करने से सासारिक विषयों मे आत्मा का प्रवेश नही होगा तथा मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

(४) स्यादवाद—ज्ञान क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण तथा अनुभव द्वारा देता है। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की होती है। जैन मतानुसार व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही ज्ञान भेद का कारण है। अतः मनःस्थिति, वैचारिक शक्ति एवं योग्यता की क्षमता सभी मे समान नही होती।

(५) अनेकात्मवाद—जैन धर्म आत्मा की एकता मे विश्वास नही रखता है। सूत्रकृताग मे कहा गया है कि "यदि सारे जीवित प्राणियो मे एकात्मता होती, तो वे, उनका रूप रग, गतिविधि एक समान होती। पृथक-पृथक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कीड़े मकोड़े, पक्षी और सर्प न होते। सभी या तो मनुष्य होते या देवता।" इस प्रकार, जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है परन्तु परम-आत्मकता को अस्वीकार करता है। जैन मतानुसार आत्मा तथा धर्म का कोई संबंध नही है। उनका विश्वास है कि कर्मों के कारण आत्मा मुक्ति से विमुख हो जाती है।

(६) अनीश्वरवाद—जैन धर्म अनीश्वरवादी है। वे ईश्वर को सृष्टि का निर्माता नही मानते है। उनके अनुसार ईश्वर आत्मा के श्रेष्ठतम गुणो एवं ज्ञान का व्यक्तिकरण मात्र है। इस मत के आधार पर जैन मतावलम्वी ईश्वर की अपेक्षा उन जैन तीर्थंकरो की पूजा अर्चना करते है जिनकी आत्माएँ वन्धन मुक्त हो गई हैं।

(७) निर्वाण—जैन धर्म का परम उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। उनके अनुसार कर्म फल से मुक्ति मिलने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती हे। निर्वाण वह अवस्था है जवकि न तो सुख होता है और न ही दुख,न कर्म होता है और न ही उसका फल। निर्वाण के पश्चात पूर्ण निर्वन्धता, अनन्त शान्ति तथा असीमित ज्ञान प्राप्त करके आत्मा को जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा मिल जाता है।

(८) अहिंसा—जैन धर्म मे अहिंसा पर अतिशय जोर दिया गया है। जैन मतानुसार ६ प्रकार के जीवो के प्रति सयमपूर्ण व्यवहार अहिंसा है। ये जीव हे–(१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) वायुकाय, (४) अग्निकाय, (५) वनस्पतिकाय, तथा (६) त्रसजीवा (चलने फिरने वाले जीव)। उनके अनुसार मन, वचन तथा शरीर की हिंसा करना अनुचित तथा धर्म विरुद्ध है।

जैन धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त—धर्म के व्यावहारिक नियमो के पालन द्वारा ही चिन्तनशील अवस्था को प्राप्त किया जाता है। जव जीवन नियमित तथा कर्म फल कामना रहित होगा तभी ज्ञान प्राप्ति सभव हे। इस मान्यतानुसार, जैन तीर्थंकरों ने जिन व्यावहारिक सिद्धान्तो की व्यवस्था की—वे निम्नलिखित है

(१) पंच महाव्रत

(i) अहिंसाव्रत—जैन मान्यतानुसार अहिंसा ही परम धर्म है।

(ii) असत्यरहित त्यागव्रत—भाषण एवं कर्मक्षेत्र मे सत्य का पालन करने के लिए पंच व्रतो का पालन करना चाहिये।

(iii) **अस्तेय महाव्रत**—किसी भी दशा मे पराई वस्तु को ग्रहण न करके उसे वास्तविक स्वामी को लौटा देना—अस्तेय कहलाता है।

(iv) **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—जैन धर्म ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन पर विशेप बल दिया।

(v) **अपरिग्रह व्रत**—अपरिग्रह का अर्थ है बिना आवश्यकता के किसी भी प्रकार के धन का सग्रह न करना। जैन मतानुसार गृहस्थ तो धन संग्रह कर सकते है परन्तु भिक्षुओ के लिये ऐसा करना निपिद्ध है।

गृहस्थो के लिए अनिवार्य व्रत

उपरोक्त पंच महाव्रतो का पालन गृहस्थो के लिये संभव नही था। अतः गृहस्थ अनुयायियो के लिये पंच अणुव्रतो के पालन का नियम बनाया गया। ये व्रत है—(1) **पंच अणुव्रत**, (क) **अहिंसाणुव्रत**—जहाँ तक संभव हो, हिंसा न करे। (ख) **सत्याणुव्रत**—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सत्य का अनुसरण करे। (ग) **अस्तेयाणु व्रत**—कोई ऐसा कार्य न करे जिससे दूसरे गृहस्थ के कार्यो मे हस्तक्षेप हो, (घ) **ब्रह्मचर्याणु व्रत**—पर-स्त्री के विपय मे न सोचे तथा गृहस्थ सीमाओ मे ही ब्रह्मचर्य का पालन करे; तथा (च) **अपरिग्रहाणुव्रत**—जितना आवश्यक हो केवल उतने ही धन का सग्रह करे।

(ii) **तीन गुणव्रत**—उपरोक्त पच अणु व्रतो के अतिरिक्त गृहस्थो को समय समय पर तीन गुणव्रतो का पालन करना चाहिये—(क) प्रत्येक गृहस्थ को सुविधानुसार अपने कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करनी चाहिये, (ख) केवल योग्य तथा अनुकरणीय कार्य करे, तथा (ग) अपने भोजन तथा भोग की सीमा निर्धारित करके, उसका उल्लघन न करे।

(iii) **चार शिक्षाव्रत**—प्रत्येक गृहस्थ के लिये चार शिक्षा व्रतो का भी पालन करना आवश्यक है—(क) **देश विरति**—एक ऐसे क्षेत्र का निर्धारण करे जिसमे कभी भी पदार्पण न करे और न ही उसके विपय मे सोचे, (ख) **सामयिक व्रत**—तीनो सध्याओ को सासारिक कार्यो से विरत होकर चिन्तन करे, (ग) अष्टमी तथा चतुर्दशी को मुनियो के समान जीवन व्यतीत करे तथा धार्मिक कथाओ का श्रवण करे; तथा (घ) विद्वानो, भिक्षुओ तथा मुनियो का सदैव अभिनन्दन तथा स्वागत करे।

जैन धर्म के अन्य विभिन्न दृष्टिकोण

(1) **नारी स्वातन्त्र्य**—जैन मान्यतानुसार नारी को भी आध्यात्मिक क्षमता के विकास द्वारा निर्वाण प्राप्त करने का उतना ही अधिकार प्राप्त था, जितना पुरुप को। पार्श्वनाथ तथा महावीर नारी स्वातन्त्र्य के समर्थक थे। इस कारण से अनेक सम्भ्रान्त तथा विलक्षण नारियो ने जैन धर्म की दीक्षा ली। श्रमणी तथा श्राविका के रूप मे जैन धर्म मे दो नारी वर्गों की स्थापना की गई थी।

(ii) **आचार तत्व**—जैन धर्म आचार तत्व प्रधान है। व्रतबद्ध, संयमित तथा सदाचारी जीवन को निर्वाण प्राप्ति का साधन मानते हुए, जैन धर्म ने बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्त करण की शुद्धि पर विशेप बल दिया। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन मे कहा गया है कि "धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तिवीर्य है तथा जो चरित्राचार के गुणो से सम्पन्न है, जो सर्वोत्तम संयम का

पालन करता है, जिसने समस्त आश्रयो पर नियन्त्रण पा लिया है—वही विपुल, उत्तम तथा परम मोक्ष को प्राप्त करता है।" जैन धर्म के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि इसने जन्मगत आधार पर मान्य वर्ण व्यवस्था का घोर विरोध किया तथा आचारतत्व को प्रमुख माना।

(iii) **नग्नता**—जैन मतानुसार आसक्ति तथा लज्जा को त्याग कर आत्मबल एवं कठोर तपस्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये नग्नता आवश्यक मानी गई है। जैन धर्म द्वारा नग्नता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति तथा कर्म से विमुखता प्राप्त होगी एव वह लज्जा, अपरिग्रह और कायाक्लेश का परित्याग कर देगा। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को वस्त्र धारण करने की अनुमति दे दी थी, परन्तु महावीर स्वामी ने पूर्ण नग्नता का समर्थन किया।

(iv) **पाप**—जैन धर्म मे जहाँ एक ओर पालन योग्य व्रतो का निर्धारण किया गया है, वही दूसरी ओर उन पापो का भी उल्लेख किया गया हे जो निर्वाण प्राप्ति मे बाधा उत्पन्न करते हे। जैन मतानुसार पापो के भार से जीव भारी होकर नरक गामी हो जाता है। व्यावहारिक तथा दार्शनिक दृष्टि से पाप अमानवीय माने गये हे। आवश्यक सूत्र में १८ प्रकार के पापो की सूची दी गई है—जो इस प्रकार है—(१) प्राणतिपात, (२) असत्य, (३) मैथुन, (४) चोरी, (५) अपरिग्रह, (६) मान, (७) क्रोध, (८) माया मोह, (९) लोभ, (१०) राग, (११) दोषा-रोपण, (१२) निन्दा, (१३) द्वेष, (१४) कलह, (१५) चुगली, (१६) असंयम, (१७) छल कपट (१८) मिथ्यादर्शन।

जैन धर्म का प्रसार

जैन धर्म के प्रसार के विषय मे जो प्रमाण प्राप्त हुए हे उनसे विदित होता है कि भारत मे इस धर्म को अधिक व्यापकता प्राप्त नही हुई। उत्पत्ति काल से लेकर आज तक इसका प्रसार क्षेत्र सीमित रहा है। महावीर स्वामी ने अपने सतत प्रयासो द्वारा इस धर्म के कई केन्द्र बनाये तथा अनेक तत्कालीन नरेशो का संरक्षण एवं सहानुभूति भी प्राप्ति की। मगध तथा अनेक गणराज्यो मे अपनी जड़ें जमाने के बाद इस धर्म ने दक्षिण भारत की ओर भी प्रसार किया। ह्वेनसांग के वर्णन से विदित होता है कि उसके भारत आगमन तक इस धर्म का प्रसार तमिलनाडु से लेकर बगाल तक हो चुका था। बारहवी शताब्दी तक इस धर्म ने अपने प्रसार क्षेत्र मे काफी वृद्धि कर ली थी परन्तु इतना सब होते हुए भी जैन धर्म कभी भी अखिल भारतीय धर्म नहीं बन पाया।

जैन धर्म के सीमित विस्तार के कारण

अपनी दीर्घकालीन निरन्तरता के विपरीत भी जैन धर्म भारत भूमि पर सर्वव्यापी नही हो पाया। अपनी व्यावहारिक, वैचारिक तथा सैद्धान्तिक श्रेष्ठता के बावजूद भी इस धर्म के अखिल भारतीय धर्म न होने के अनेक कारण हैं।

(१) **जैन धर्म के व्यावहारिक नियमो की कठोरता**—जैन धर्म के अनुसार गृहस्थ जीवन मे जिन अहिंसा के नियमो के पालन को आवश्यक बताया गया—वे बड़े ही कठोर है। इस धर्म के अहिंसा व्रतो का पालन अनेक अर्थों मे अव्यावहारिक भी है। वस्त्रविहीनता, केशविहीनता, कष्टप्रद जीवन तथा आमरण अनशन आदि सिद्धान्त जनसाधारण के लिये अनाकर्षक है। इस प्रकार अपने

व्यावहारिक नियमों की कठोरता के कारण जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही रही।

(२) **मानव स्वभाव का असन्तुलित वर्गीकरण**—महावीर स्वामी ने वर्ण-व्यवस्था तथा जातिगत भेदभाव का विरोध करते हुए, कर्म को प्रधानता दी, जो एक अच्छी बात थी। परन्तु-उन्होंने मानव स्वभाव के आधार पर मनुष्यों को तीन वर्गों में वर्गीकृत कर दिया—यथा, अव्रती, अणुव्रती तथा सर्वव्रती। वास्तविकता तो यह है कि कोई भी मनुष्य न तो पूर्णतः अवगुणी होता है न ही पूर्णत सदगुणी। जैन धर्म ने केवल सर्वव्रती स्वभाव वालो को संघ प्रवेश की अनुमति देकर, भेदभाव को समाप्त करने की बजाय उसे मूक रूप से स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म मे उच्च जातीय वर्ण को प्राथमिकता मिली। फलत. इस धर्म को समाज के जनसाधारण का पूर्ण सहयोग नही मिल पाया और इसका विशेप प्रसार नही हो पाया।

(३) **जैन सिद्धान्तो पर ब्राह्मण सिद्धान्तो का प्रभाव**—यद्यपि जैन धर्म ने प्रारम्भ मे ब्राह्मण धर्म का घोर विरोध किया परन्तु कालान्तर मे ब्राह्मण धर्म ने जैन धर्म को बहुत प्रभावित किया। ब्राह्मणो के भक्तिवाद तथा सामाजिक सस्कारो को जैन धर्म ने भी स्वीकार करना शुरू कर दिया तथा अनेक जैन मतानुयायी ब्राह्मण देवी देवताओ की उपासना करने लगे। इस प्रभाव के परिणाम स्वरूप जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो मे परिवर्तन आने लगा। ब्राह्मण जैन मतो के सम्मिश्रण द्वारा, जैन धर्म के प्रसार मे बाधा उत्पन्न होने लगी तथा इसका विस्तार क्षेत्र सीमित ही बना रहा।

(४) **उत्साही प्रचारको का अभाव**—जैन धर्म ने जब ब्राह्मण धर्म की विरोधी प्रतिक्रिया के रूप मे विकास करना प्रारम्भ किया तो उसके प्रचारको मे बडा उत्साह था परन्तु जब ब्राह्मण धर्म ने समय के साथ अनुकूलन स्थापित किया तो जैन धर्म के प्रचारको के उत्साह मे कमी आ गई। साथ ही, अनेक दोषो के होते हुए भी ब्राह्मण धर्म के अनुयायियो की सख्या काफी थी। अपने मत का प्रचार करने के लिये जैन धर्म को काफी बडी सख्या मे प्रचारको की आवश्यकता थी परन्तु ऐसे उत्साही व्यक्तियो की कमी के कारण जैन धर्म का अधिक प्रचार न हो सका। यदि अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, धर्मकीर्ति तथा कुमारजीव जैसे प्रचारक अधिक संख्या मे रहे होते तो जैन धर्म अन्य धर्मो की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा स्थायी बन सकता था।

(५) **अप्रजातान्त्रिक स्वरूप**—सभी जैन मतानुयायियो को समान स्वतन्त्रता प्राप्त नही थी। उच्चपदस्थ भिक्षुओ ने प्राय· निरकुश दृष्टिकोण भी अपनाया था। इस कारण से साधारण अनुयायी तथा भिक्षु, धर्म से विमुख होते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म के प्रचार साधन सीमित तथा प्रसार अति सीमित हो गया।

(६) **उच्चवर्ग को प्रमुखता**—प्रत्येक धर्म के प्रसार के लिये जिस धन तथा सामग्री की आवश्यकता होती है—जैन धर्म को वह सब कुछ उपलब्ध थी। परन्तु जैन धर्म ने इस सामग्री की प्राप्ति के लिये अनेक उच्चवर्गीय श्रद्धालुओं तथा शासको का सहारा लिया। फलस्वरूप इस धर्म मे उच्च वर्ग को प्रमुखता प्राप्त हो गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि धनी तथा साधारण मतानुयायी मे भेद किया जाने लगा। जैन धर्म के सीमित प्रसार का यह एक प्रमुख कारण था।

(७) **राज्याश्रय का अभाव**—महावीर स्वामी के स्वयं राजकुल से सम्बन्धित होने के कारण, उनके जीवन काल मे अनेक राजाओ ने जैन धर्म को राज्याश्रम प्रदान किया, परन्तु उसके बाद के अनेक राजाओ ने जैन धर्म स्वयं तो स्वीकार किया परन्तु उसे राजधर्म की मान्यता नही

दी। इसके अलावा कई नरेश जैन धर्म के प्रति सहिष्णु तो थे परन्तु उन्होंने इसके प्रचार तथा प्रसार मे कोई सहायता नही दी।

(८) **कला अभिव्यक्ति का अभाव**—साधारण जनता धर्म के विशाल रूप के प्रति आकृष्ट होती है तथा इस विशाल रूप की अभिव्यक्ति कला द्वारा ही की जा सकती है। जैन धर्म की प्रमुख दुर्बलता यह थी कि उसमें अपने रूप की कलाभिव्यक्ति का सर्वथा अभाव था। जैन धर्म के उत्कर्ष काल में किसी भी धर्म प्रधान भवन या स्थापत्य कला के निर्माण आदि के प्रति कोई रुचि नही दिखाई गई। इसका परिणाम यह हुआ कि यह धर्म कलाभिव्यक्ति द्वारा जनसाधारण को अपनी ओर नहीं खीच पाया।

जैन धर्म के सीमित प्रसार के कारणो के उपरोक्त वर्णन से हम इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कोई भी धर्म केवल अपनी सैद्धान्तिक श्रेष्ठता तथा व्यावहारिकता के आधार पर ही विस्तृत प्रसार पाने मे सफल नही हो सकता। प्रसार के लिये जिन आवश्यक साधनो की आवश्यकता होती हैं, उनमे जनसाधारण को प्रभावित करने की क्षमता होना आवश्यक है। जैन धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त कष्टमय तथा कठोर होने के कारण, जनसाधारण इसे कौतूहलवश अपना तो सकते थे, परन्तु उनको जीवन-पर्यन्त निभा नही सकते थे।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

यद्यपि भारत मे जैन धर्म का प्रसार सीमित रहा है तथापि उसने अन्य भारतीय धर्मों की भाँति ही भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की निम्नलिखित देन है—

(१) **दार्शनिक देन**—कालक्रमानुसार जैन दर्शन की उत्पत्ति वैदिक दर्शन के उपरान्त हुई थी। अपने सिद्धान्तो, चिन्तन तथा वैचारिक प्रणाली मे वैदिक तथा जैन दर्शन विशुद्ध रूप से भारतीय हैं। इन दोनो धर्मों का दर्शन लगभग समान है परन्तु उनकी दिशा भिन्न है। अपनी इस विशिष्टता द्वारा जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन को एक नवीन शाखा प्रदान की। जैन धर्म की मुख्य दार्शनिक देन स्यादवाद की व्याख्या है। इसके अनुसार जैन धर्म ने सत्य के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या करते हुए सत्य ज्ञान का नया मार्ग प्रशस्त किया। इस धर्म की दूसरी दार्शनिक देन 'अनेकान्तवाद' दर्शन है। यह बिलकुल मौलिक चिन्तन था तथा इसने भारतीय धार्मिक दर्शन को बहुत प्रभावित किया है। जैन धर्म के आत्मवादिता, कर्म, व्रत, पुर्नजन्म आदि विचार भी मौलिक थे।

(२) **अहिंसा**—वैदिक धर्म में हिंसा को केवल हेय माना गया परन्तु जैन धर्म ने अहिंसा के सिद्धान्तो का विस्तृत तथा नियमबद्ध निरूपण किया। यदि कहा जाये कि जैन धर्म की आधारभूत विशेषता अहिंसा है तो यह अत्युक्ति न होगा। अहिंसा की इतनी तीव्रता किसी अन्य धर्म मे अप्राप्य है। अत: जैन धर्म ने अहिंसा की विचारधारा के रूप मे भारतीय संस्कृति को अमूल्य देन दी।

(३) **साहित्यिक देन**—जैन धर्म की साहित्यिक देन का प्रमाण जैन धर्म के ग्रन्थ है। जैन धर्म के १२ अग, ११ उपाग, १० पैन्न, ४ मूलसुत्त, १ नन्दीसुत्त तथा ७ छैयसुत्त प्राकृत भाषा मे रचे गये। जैन साहित्य के अनेक ग्रन्थो की रचना अपभ्रंश शैली मे भी हुई थी। धार्मिक ग्रन्थों

के अतिरिक्त जैन साहित्यकारों ने अनेक लौकिक तथा कथा ग्रन्थ भी रचे। जैन विद्वानो ने 'पंच-तन्त्र' पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे। मध्यकाल के लगभग जैन ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा मे भी होने लगी। जैन साहित्यिक रचनाओ की विविधता, भाषा शैली तथा विषय वर्णन ने भारतीय संस्कृति को प्रमुख योगदान दिया।

(४) **कलात्मक देन**—उदयगिरी की 'टाइगर' गुहा तथा एलोरा की इन्द्र सभा की कलात्मक अभिव्यक्ति मे जैन धर्म की कलागत विशेपता तथा देन का आभास मिलता है। ई० पू० दूसरी शताब्दी मे उड़ीसा की हाथी गुम्फा नामक गुफाओ मे जैन कला के श्रेष्ठता उदाहरण विद्यमान है। मथुरा से प्राप्त जैन धर्म के स्तूप, विहार का पार्श्वनाथ पर्वत, सौराष्ट्र मे गिरनार तथा पालीथाना, राजस्थान मे आवू, मध्य भारत मे ऊन तथा वडवानी, पावापुरी एव राजगृह मे स्थित अनेक जैन मन्दिर, मूर्तियाँ, स्तूप आदि जैन धर्म की कलात्मक देन है।

जैन धम का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव तथा भारतीय सस्कृति को उसके योगदान का उपरोक्त वर्णन यह प्रमाणित करता है कि अपने सीमित प्रसार के विपरीत जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को अनेकानेक मौलिक गुण प्रदान किये। अपनी मान्य परम्पराओ के आधार पर जैन धर्म ने अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर आज तक की भारतीय सस्कृति को काफी प्रभावित किया है।

बौद्ध धर्म

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म का उदय भी आचार शास्त्र के रूप मे हुआ जो व्राह्मण धर्म विरोधी प्रतिक्रिया का परिणाम था। बौद्ध धर्म के प्रवंतक महात्मा वुद्ध थे।

महात्मा बुद्ध की जीवनी

वौद्ध आख्यानो मे महात्मा वुद्ध को राजा का पुत्र कहा गया है। उनके कुल को 'उत्तम' तथा 'अविच्छिन्न क्षत्रिय वश' वताया गया है। शाक्यो का यह कुल कोसल की राजधानी साकेत से निर्वासित होकर हिमालय की तराई वाले प्रदेश मे कपिल-वस्तु की स्थापना करके वस गया था। सिंहली ग्रन्थो मे महात्मा वुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम महामाया वताया गया है। सिंहली अनुश्रुति, खारवेल के अभिलेख, अशोक की सिंहासना-रोहण की तिथि, कैण्टन के अभिलेख आदि के विवेचनात्मक अध्ययन द्वारा महात्मा वुद्ध की जन्म तिथि ५६३ ई० पू० स्वीकार की गई है। वौद्ध साहित्य के अनुसार राजा शुद्धोदन की आयु के ४५वे वर्ष मे इस महान धार्मिक विभूति ने भौतिक जगत मे अपनी आँखे खोल दी—राजा शुद्धोदन तथा 'महामाया को पुत्र रत्न प्राप्त हो गया।

पुत्र जन्म होने से पूर्व महात्मा वुद्ध की माता ने अद्भुत स्वप्न देखे थे। जव उन्होने पति शुद्धोदन को इन स्वप्नो का वृत्तान्त सुनाया, तो शुद्धोदन ने आठ प्रमुख भविष्य वेत्ताओ से इस विषय मे प्रश्न किये। इन सभी विद्वानो ने कहा कि महामाया को अद्भुत पुत्र रत्न प्राप्त होगा, यदि वह घर मे रहा तो चक्रवती सम्राट वनेगा और यदि उसने गृहत्याग किया तो सन्यासी बन कर अपने ज्ञान प्रकाश द्वारा सारे विश्व को आलोकित कर देगा।

प्रारम्भिक जीवन—पाँचवे दिन नामकरण सस्कार द्वारा शिशु का नाम सिद्धार्थ रखा गया। पुत्र जन्म के सातवे दिन महामाया का देहान्त हो गया तथा सिद्धार्थ के लालन-पालन का भार

उनकी विमाता तथा मौसी महाप्रजापतिगौतमी ने ग्रहण किया। भविष्य वक्ताओं की बात को ध्यान में रखते हुए, राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को चक्रवर्ती सम्राट वनाना चाहा तथा उसमे क्षत्रियोचित गुण उत्पन्न करने के लिये उचित शिक्षा का प्रवन्ध कर दिया। सिद्धार्थ ने शीघ्र ही घुड़सवारी, शस्त्रप्रयोग तथा राजविद्या मे निपुणता प्राप्त कर ली परन्तु स्वभावत वह किसी चिन्ता मे डूवा रहता था। पिता शुद्धोदन को इस वात की आशका सदैव सताती रहती थी कि सिद्धार्थ सन्यासी न वन जाये।

भोग विलास मे लिप्त करने का प्रयत्न—सिद्धार्थ के मन को सासारिक प्रवृत्ति मे जकड़ने के लिये, उनके पिता शुद्धोदन ने तीनो ऋतुओ के अनुकूल राजप्रासादो का निर्माण कराया—परन्तु इनका आकर्षण व्यर्थ सिद्ध हुआ। एक रात्रि को अतीव सुन्दरी गणिकाओं के वीच उनको अकेला छोड़ दिया गया। इन गणिकाओ ने अनेक हाव-भाव प्रदर्शन द्वारा सिद्धार्थ को प्रेमपाश मे जकड़ना चाहा—परन्तु यह भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। सिद्धार्थ सो गये तथा गणिकाएँ भी क्लान्त होकर सो गईं। आधी रात वीतने पर सिद्धार्थ की आँखे खुली तो उन्होने देखा कि जागृतावस्था मे जो गणिकाएँ वडी सुन्दर लग रही थीं अव कान्तिविहीन एव कुरूप लग रही हे। किसी के केश उलझे है तो कोई दुस्वप्न देखकर भयभीत हो रही है। सिद्धार्थ चिन्तित हो उठे तथा अपने महल को लौट गये।

विवाह—शुद्धोदन अपने प्रयत्नो मे लगे रहे। अव उन्होने विवाहपाश का प्रयोग किया। बौद्ध साहित्य मे सिद्धार्थ की पत्नी के अनेक नाम प्राप्त होते हे—यथा, 'भट्टकक्षा', 'विम्वा', 'गोपा' तथा 'यशोधरा'। वस्तुत उनकी पत्नी के नामो मे भिन्नता है परन्तु उनकी पत्नी केवल एक ही थी।

चार प्रमुख सत्यो से साक्षात्कार—एक दिन नगर भ्रमण के लिये रथ पर विचरण करते हुए सिद्धार्थ ने एक कृशकाय वृद्ध को देखा। वृद्ध के शरीर पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थी तथा शीत के कारण उसके दाँत किटकिटा रहे थे। लकडी का सहारा लेकर वह घिसटता हुआ चल रहा था। सिद्धार्थ ने सोचा कि युवावस्था मे शरीर पर गर्व करने वाला मनुष्य वृद्धावस्था के अपार कष्टो से अनभिज्ञ रहता है। मनुष्य अज्ञानी है। यह प्रथम सत्य दर्शन था।

एक अन्य अवसर पर उन्होने एक व्यथित रोगी को देखा। रोगी का शरीर ज्वर से तप रहा था तथा उसके मुख पर मृत्यु का भय था। सिद्धार्थ ने सोचा "धिक्कार है ऐसे शरीर एवं स्वास्थ्य को, जिसका नाश रोग द्वारा होता है।" यह द्वितीय सत्य दर्शन था।

तीसरे अवसर पर सिद्धार्थ ने एक मृतक की अर्थी को देखा। मृतक के सम्वन्धी रो रहे थे। सिद्धार्थ ने सोचा "जीवन के प्रति आकर्षण व्यर्थ है। जब मृत्यु से इतना दुख होता है तो आसक्ति ही क्यों पैदा की जाये ? न जीवन के प्रति आसक्ति होगी और न मृत्यु से दुख होगा।" यह तृतीय सत्य दर्शन था।

एक अन्य अवसर पर सिद्धार्थ ने एक प्रसन्नचित सन्यासी को देखा। सौम्य, सरल, शान्त, तेजस्वी सन्यासी वन्धनहीन तथा दुखरहित प्राणी की भाँति विचरण कर रहा था। इस दृश्य ने सिद्धार्थ को बहुत प्रभावित किया तथा उनके हृदय मे प्रवृत्ति मार्ग की निस्सारता तथा निवृत्ति मार्ग की सन्तोषी भावना उत्पन्न कर दी। यह चतुर्थ सत्य दर्शन, सिद्धार्थ के जीवन का अर्थ वन गया।

पुत्र जन्म—विवाह के दस वर्ष पश्चात सिद्धार्थ को पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। पुत्र जन्म का समाचार पाते ही उनके मुख से 'राहु' शब्द निकला—जिसका अर्थ है 'बन्धन'। उन्होने सोचा कि यह एक बन्धन है। उनके इस पुत्र का नाम राहुल रखा गया।

अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)—इसके विपरीत कि सासारिक बन्धन उन्हे प्रभावित करे, सिद्धार्थ ने सासारिक बन्धनो को छिन्न-भिन्न करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हे प्रत्येक सुख विष ज्वाला के समान प्रतीत होने लगा और उन्होने मन ही मन गृह त्याग का निश्चय कर लिया। तब एक महान रात्रि का आगमन हुआ और २९ वर्ष के युवा सिद्धार्थ के चरण, ज्ञान प्रकाश की तृष्णा को तृप्त करने के लिये घर से बाहर निकल पडे।

ज्ञान की खोज में—गृहत्याग के उपरान्त सिद्धार्थ ज्ञान की खोज मे भटकने लगे। बिम्बि-सार, उद्रक, आलार कालाम नामक साख्योपदेशक आदि से मिलते हुए, वे उरुवेला की सुरम्य वनस्थली मे जो पहुँचे। यहाँ पर उन्हे कौण्डिन्य आदि पाँच साधक मिले। उन्होने ज्ञान प्राप्त के लिये घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी।

ज्ञान प्राप्ति—अथक परिश्रम तथा घोर तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्ति मे असफल होने पर गौतम ने अपने स्वभावानुसार चिन्तन करना शुरू कर दिया। वे गया के निकट वट वृक्ष के नीचे आसन जमाकर बैठ गये और निश्चय किया कि 'चाहे मेरे प्राण निकल जाये, मै तब तक समाधिस्थ रहूँगा, जब तक ज्ञान प्राप्त न कर लूँ।'' सात दिन और सात रात्रि बीतने पर भी उनका घोर चिन्तन तथा अखण्ड समाधि निरन्तर रहे। आठवे दिन वैशाख पूर्णिमा को उन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ और इसी दिन वे 'तथागत' हो गये। जिस वट वृक्ष के नीचे उन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ, वह आज भी 'बोधिवृक्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान प्राप्ति के समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष की थी।

प्रथम ज्ञानदान—ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महात्मा बुद्ध को अपने दो गुरुओ यथा आलार और उद्रक की याद आई—परन्तु वे अब तक स्वर्गवासी हो चुके थे। फिर उन्हे अपने उन पाँच साथियो का ध्यान आया, जिन्होने उन्हे पथभ्रष्ट समझ कर त्याग दिया था। किन्तु इसी समय तपस्सु तथा काल्लिक नामक दो शूद्र उनके पास आये। महात्मा बुद्ध ने ज्ञानदान द्वारा उन्हे बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम अनुयायी बना लिया।

धर्म चक्र प्रवर्तन—बोध गया से चलकर वे सारनाथ पहुँचे तथा वहाँ पर अपने पूर्वकाल के पाँच साथियो को उपदेश देकर अपना शिष्य बना लिया। महात्मा बुद्ध के धर्म प्रचार क्रम का यह प्रथम उपदेश, बौद्ध परम्परा मे 'धर्म चक्र प्रवर्तन', के नाम से विख्यात है। काशी मे प्रचार करने के उपरान्त वे उरुवेला, राजगृह, मगध आदि प्रदेशो मे होते हुये, कपिलवस्तु पहुँचे। अपने सम्ब-न्धियो आदि के अतिरिक्त अनेकानेक जनो को प्रवज्या देकर वे पुन: राजगृह पहुँचे। प्रतीत होता है कि मगध को उन्होने अपना प्रमुख प्रचार केन्द्र बनाया था। मगध के अतिरिक्त वे काशी, कोसल तथा वज्जि जनपदो में आते जाते रहे।

प्रचार लगन—महात्मा बुद्ध की कार्य क्षमता अद्भुत थी। वे जहाँ कही भी जाते, अथाह सागर की भाँति जनसमुदाय उनके दर्शनार्थ उमड़ आता था। इनमे साधारणजन से लेकर राजे-महाराजे भी होते। वर्षाकाल को छोडकर, शेष सभी ऋतुओ मे वे प्रचार कार्य के लिये भ्रमण करते रहते थे। एक बार उन्होने अपने शिष्य सारिपुत्त से कहा था 'अशन, पान, खादन, शयन,

मलमूत्र त्याग के समय को छोड कर, निद्रा एवं विश्रान्ति के समय के अतिरिक्त तथागत की धर्म-देशना सदा अखण्ड रहेगी।"

अन्तिम काल तथा रुग्णता—जीवन काल के ७९वे वर्ष मे वे राजगृह से चल कर वैशाली पहुँचे तथा वेलुग्राम में कठिन रोग से पीडित हो गये। वे रुके नही तथा चलते चलते पावा पहुँचे वहाँ पर चुन्द कम्मार पुत्त (लुहार) के यहाँ भोजन करते ही उनके उदर मे तीव्र पीड़ा होने लगी। इसी अवस्था मे वे हिरण्यवती नदी के तट पर पहुँच कर रुक गये। उन्होने सोचा कि उनका अन्त होने पर कही चुन्द को दोप न दिया जाय। अतः उन्होने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से कहा "वह भोजन तथागत के भौतिक शरीर का अन्तिम भोजन होना निश्चित था।" विश्रामोपरान्त वे हिरण्यवती नदी को पार करके कुसीनारा पहुँचे तथा कुसीनारा के परिव्राजक सुभच्छ को अपना अन्तिम उपदेश दिया। महात्मा बुद्ध की रुग्णता को जान कर भिक्षु वडे चिन्तित हुए। भिक्षुओ की इस मनोदशा को समझ कर तथागत ने कहा—

"तुम सोचते हो कि तुम्हारा आचार्य तुमसे विदा माँग रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैने बताये है वही तुम्हारे परम आचार्य है। पुत्रो सुनो! जो आता है वह जाता है। तुम विना रुके प्रयत्न किये जाओ।"

महात्मा बुद्ध के अन्तिम शब्द—अपना अन्तिम समय निकट आया जान कर, तथागत ने उपस्थित भिक्षुओ से कहा—

"हो सकता है, किसी के मन मे कोई शंका या सन्देह रह गया हो। भिक्षुओ उसे पूछ लो। किसी के मन मे पीछे ऐसा न हो कि हम शास्ता के रहते हुए, न पूछ सके।"

यह सुनकर समस्त भिक्षु चुप रहे। दूसरी वार, फिर तीसरी वार उन्होने ये ही शब्द दुहराये और तब उनके मुख से अन्तिम शब्द निकले—"हदं दानि भिक्खवे, आमंतयामि वो, वयधम्मा सखारा, अप्पमादेन सम्पादेथाति"

अर्थात, "हे भिक्षुओ, इस समय आज तुमसे इतना ही कहता हूँ कि जितने भी संस्कार है, सब नाश होने वाले है, प्रमाद रहित होकर अपना कल्याण करो।"

.........और वे निर्वाण प्राप्त कर गये। यह ४८३ ई० पू० की घटना है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो को प्रमुखत दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) बौद्ध धर्म के दार्शनिक तथा (२) बौद्ध धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त। इन सिद्धान्तो का वर्णन निम्नलिखित है—

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त—महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक सिद्धान्तो मे किसी भी दार्शनिक तत्व का विवेचन या प्रतिपादन नही किया है। उनका कहना था कि "मैं पुरातनकाल से चले आ रहे धर्म की स्थापना मात्र कर रहा हूँ।" यह सब कुछ होते हुए भी बौद्ध धर्म के आधार स्वरूप जिन तत्वो का प्रतिपादन किया गया उनमे निहित विचारो द्वारा हमे अनेक दार्शनिक सिद्धान्तो का परिचय मिलता है। नैतिकता, कर्मप्रधान तथा निर्वाण के तत्वो से परिपूर्ण महात्मा बुद्ध के उपदेशो मे जिन दार्शनिक सिद्धान्तो की प्राप्ति होती है, उनका वर्णन निम्नलिखित है—

(१) **कर्मवाद**—तथागत के अनुसार मनुष्य को उसके कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है।

निर्वाण की प्राप्ति सम्यक कर्म द्वारा ही हो सकती है। मनुष्य अपने ही कर्म का उत्तराधिकारी होता है तथा कर्मानुसार ही जन्म, मृत्यु तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म ही सब कुछ है। महात्मा बुद्ध के कर्मवाद मे समाज के नैतिक आदर्शों के प्रति घोर आस्था व्यक्त की गई है। इस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रथम दार्शनिक आधार कर्मवाद है।

(२) **कारणवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद**—महात्मा बुद्ध की मान्यता थी कि जिस प्रकार रोग के कारण को समझे बिना रोग का निदान नही हो सकता उसी प्रकार दुख का कारण समझे बिना वास्तविक धर्म की स्थापना नही हो सकती। इस प्रकार धर्म की स्थापना के लिये कारण का अन्त होना आवश्यक है। जब कारण का अन्त हो जायेगा तो दुख भी समाप्त हो जायेगा। धर्म की उत्पत्ति कारण द्वारा ही हुई है तथा धर्मानुचरण द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होने पर कारण का अन्त हो जाता है। बौद्ध धर्म के आदि, मध्य तथा अन्त मे कारण को प्रमुखता दिये जाने के कारण इस धर्म का द्वितीय दार्शनिक आधार कारणवाद है। कारणवाद के माध्यम से ही, महात्मा बुद्ध ने, प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिपादन किया है।

(३) **प्रयोजनवाद**—बौद्ध धर्म की वैचारिक प्रणाली मे प्रयोजनवाद है। महात्मा बुद्ध ने व्यर्थ की प्रणालियाँ यज्ञ-हवनादि की उपेक्षा की तथा उन्ही विषयो की चर्चा की जो कि निर्वाण प्राप्ति के लिये आवश्यक थे। उनका विचार था कि निष्प्रयोजन बातो पर मौन धारण करना ही उचित है।

(४) **अनीश्वरवाद**—महात्मा बुद्ध का विचार था कि निर्वाण का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नही है। वे किसी भी कारण मे ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही करते तथा उन्होने अपने किसी भी उपदेश मे ईश्वर का नाम नही लिया।

(५) **अनात्मवाद**—महात्मा बुद्ध से जब यह पूछा गया कि मृत्यु के बाद क्या होता है, तो उन्होने उत्तर स्वरूप मौन धारण कर लिया। उनका विचार था कि शरीर अनेक तत्वो से बना है तथा मृत्यु होने पर प्रत्येक तत्व अपने मूल स्रोत मे विलीन हो जाता है।

(६) **क्षणवाद**—बौद्ध धर्म का विचारणीय एवं अनोखा विचार जगत को प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानते हुए क्षण भंगुरता का प्रतिपादन किया जाना हे।

(७) **निर्वाण**—महात्मा बुद्ध के अनुसार निर्वाण, उस जीवित अवस्था का नाम है जिसमे ज्ञान की ज्योति द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार की समाप्ति हो जाती है। जहाँ से निर्वाण प्रारम्भ होता है वही पर शोक, सन्ताप, तृष्णा, पाप आदि का नाश हो जाता है।

बौद्ध धर्म के व्याहारिक सिद्धान्त—बौद्ध धर्म जीवित जीवन मे विश्वास रखता है अत. अपने प्रत्येक अर्थ मे इसका दृष्टिकोण पूर्णतया व्यावहारिक है। महात्मा बुद्ध की मान्यता थी कि "धर्म जीवन का विषय है, मृत्यु का नही।" फलत उन्होने जिस धर्म का प्रचार किया उसमे व्यावहारिकता पर विशेष बल दिया गया। बौद्ध धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त निम्मलिखित हे—

(१) **चार आर्य सत्य**—महात्मा बुद्ध ने अपने सर्वप्रथम सारनाथ उपदेश मे 'महाधर्म चक्र-प्रवर्तन' मे 'चार आर्य सत्यो' यथा 'चत्वारि आर्य सत्यानि' का प्रतिपादन किया। ये चार आर्य सत्य इस प्रकार है—

(1) **सर्वं दुःख दुःखम**—इस सत्य के अनुसार सर्वत्र दुख ही दुख व्याप्त है। प्रताडना, रोग

निर्बलता, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि इस दुख के ही विभिन्न रूप हैं। जन्म, जीवन तथा अन्त में दु ख है। इस प्रकार जीवन का प्रत्येक भाग तथा अग दुखमय है।

(ii) **दुःख का आधार**—तृष्णा दु ख का कारण है। सतृष्ण मनुष्य कभी भी दुख से मुक्त नही हो सकता। जव मनुष्य जन्म लेकर शव्द, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श आदि मानसिक विकारों तथा विचारो का अनुभव करता है तव इच्छा उत्पन्न होती है—इससे तृष्णा की उत्पत्ति है तथा तृष्णा की पूर्ति के लिये जव मनुष्य विभिन्न उपाय करता है तो दुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार तृष्णा द्वारा दुख उत्पन्न होता है।

(iii) **दुःख निरोध**—दुख से कैसे छुटकारा मिले ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा बुद्ध ने दुख निरोध का मार्ग बताया। उनका उपदेश था कि "संसार में जो कुछ भी प्रिय लगता है, जिसमे भी रस मिलता है, उसे जो दुख रूप समझेंगे, रोग रूप समझेंगे, डरेंगे, वे ही तृष्णा को छोड़ सकेंगे।" इस प्रकार तृतीय आर्य सत्य द्वारा महात्मा बुद्ध ने तृष्णा के मूलोच्छेदन द्वारा दुख निरोध का प्रतिपादन किया।

(iv) **दुःख निवारण मार्ग**—तृष्णा से विरक्त होने के लिये दुख निवारण मार्ग पर चलने का आदेश देते हुए, तथागत ने कहा "जिस प्रकार भिक्षुओ ! गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू और महानदियाँ पूर्व की ओर वहने वाले सागर की ओर जाती है, उसी प्रकार भिक्षुओ ! अभ्यास करने से आष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जाने वाला होता है।"

(२) **आर्य आष्टांगिक मार्ग**—दुख को हरने वाले तथा तृष्णा का नाश करने वाले आर्य आष्टांगिक मार्ग के आठ अंग है, इन्हे 'मज्झिमा परिपदा' अर्थात 'मध्यम मार्ग' भी कहते है। आष्टांगिक मार्ग के तीन प्रमुख भाग है—(१) प्रज्ञा ज्ञान, (२) शील, तथा (३) समाधि। इन तीन प्रमुख भागो के अन्तर्गत जिन आठ उपायो की प्रस्तावना की गई है, उनका विवरण निम्नलिखित है—

(१) **सम्यक दृष्टि**—यह दृष्टि आवरण भेदी है। इसके द्वारा सत्य-असत्य; पाप-पुण्य, सदाचार तथा तृष्णा-अतृष्णा के वीच के भेद को समझा जा सकता है। चार आर्य सत्यो को पहचानने के लिये सम्यक् दृष्टि का होना अति आवश्यक है।

(२) **सम्यक संकल्प**—सम्यक् सकल्प का अर्थ सभी प्रकार के भौतिक सुखो के प्रति आकर्षक का त्याग करके अपने आपको संकल्पवद्ध करना है। इसके अन्तर्गत सासारिक वस्तुओ का परित्याग, सगे-सम्वन्धियों से विमुखता तथा हिंसा का परित्याग करना आदि संकल्प है।

(३) **सम्यक वचन अथवा सम्यक वाणी**—अपनी समस्त मानसिक एवं आत्मिक शक्ति द्वारा असत्य का वहिष्कार, सदैव सत्य वोलना, निन्दा तथा कठोर वचनो के प्रयोग से दूर रहना तथा किसी भी परिस्थिति मे अपशव्द का प्रयोग न करना—सम्यक् वाणी है। सम्यक् वाणी के अन्तर्गत सत्य वचन, विनम्रता एवं मृदुता आदि गुण है।

(४) **सम्यक कर्म**—इस मार्ग का अभिप्राय सत्कर्मों मे लगे रहना है। दान, दया, सेवा, सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि का पालन तथा आत्मनिष्ठ शारीरिक विपय वासनाओ के प्रति उदासीनता सम्यक् कर्म हैं। तथागत का उपदेश है कि सम्यक् कर्म द्वारा मनुष्य सदाचारी वन जाता है तथा तब वह अहिंसाप्रिय एवं जितेन्द्रिय कहलाता है।

(५) **सम्यक आजीव**—इस मार्ग का सम्बन्ध जीवनयापन की प्रणाली से है। जीविकोपार्जन मे ईमानदारी का व्यवहार करना, शोषण द्वारा प्राप्त धन संग्रह से बचना, कसाई, विष

विक्रय, दासों का क्रय विक्रय आदि निपिद्ध जीविकोपार्जन के साधनों के परित्याग आदि द्वारा सम्यक् आजीव का पालन होता है।

(६) **सम्यक प्रयत्न**—इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण रखना, बुरी भावनाओ का परित्याग करना तथा इसके साथ-साथ अच्छे प्रयत्नो का करना सम्यक् प्रत्यन्न है।

(७) **सम्यक स्मृति**—बौद्ध व्यवस्था मे सम्यक् स्मृति के चार रूप बताये गये हैं—(१) कार्य में स्मृति, (२) वेदना मे स्मृति, (३) चित्त की स्मृति, तथा (४) धर्म मे स्मृति। सम्यक् के अन्तर्गत अपने मन, कर्म, वचन, काया, चित्त तथा धर्म मे सत्कर्मों को स्मरण रखना चाहिये।

(८) **सम्यक समाधि**—सम्यक् समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता तथा ध्यानावस्थित अवस्था। सम्यक् समाधि मे लीन होने से आध्यात्मिक प्रगति होती है, धार्मिक ज्ञान का विकास होता है तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(३) **दस आचरण**—आष्टागिक मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य अपने जीवन को आदर्श एवं सफल बना सकता है, परन्तु निर्वाण तथा जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिये दस आचरणो का पालन आवश्यक है। दस आचरण निम्नलिखित है :—

(१) सत्य बोलना,
(२) अहिंसा का पालन करना,
(३) ब्रह्मचर्यानुसार जीवन व्यतीत करना,
(४) चोरी न करना,
(५) धन संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग करना,
(६) सुगन्धित पदार्थो का त्याग करना,
(७) कोमल शैय्या का त्याग करना,
(८) नृत्य, गायन, मादक एव कामोत्तेजक वस्तुओ का त्याग करना,
(९) असमय भोजन का त्याग करना, तथा
(१०) कुविचारो का त्याग करना।

महात्मा बुद्ध के अनुसार सद्गृहस्थो के लिये केवल प्रथम पाँच तथा भिक्षुओ के लिये सम्पूर्ण दस आचरणो का पालन अनिवार्य है। इनका पालन करने पर ही भिक्षुगण आर्य-आष्टागिक मार्गी हो सकते है।

(४) **चार सम्यक् प्रधान**—बौद्ध धर्म के कर्मवादी होने के कारण इसके व्यावहारिक सिद्धान्तो मे चार सम्यक् प्रधानो को विशेप महत्व दिया गया है। ये सम्यक् प्रधान निम्नलिखित है—

(१) **प्रथम सम्यक् प्रधान**—इस प्रधान के अनुसार यदि दोप उत्पन्न नही होगे तो धर्म ज्ञान सरलता से प्राप्त हो जायेगा।

(२) **द्वितीय सम्यक् प्रधान**—यदि दोपपूर्ण सस्कार उत्पन्न हो गये है तो उनका निराकरण करना चाहिये।

(३) **तृतीय सम्यक् प्रधान**—इस प्रधान के अनुसार दोपपूर्ण संस्कारो का मूलोच्छेदन करके, उचित सस्कारो को उत्पन्न करना आवश्यक है।

(४) **चतुर्थ सम्यक् प्रधान**—उचित सस्कारो को उत्पन्न करके उनकी रक्षा करनी चाहिये तथा उचित सस्कारो की वृद्धि करनी चाहिये।

चार ऋद्धिपाद—बौद्ध धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत आत्मोकर्ष के लिये चार ऋद्धिपाद आवश्यक हे। ये इस प्रकार है—(१) चन्द, (२) वीर्य, (३) चित्त, तथा (४) विमर्श।

(५) पाँच इन्द्रियाँ—'इन्द्रि' का अर्थ है 'शक्ति। पाँचो इन्द्रियों अथवा शक्ति का विकास आवश्यक है। बौद्ध साहित्य मे वर्णित पांच इन्द्रियाँ निम्नलिखित है—

(१) श्रद्धा—इसके द्वारा चित्त मे वह अनुभूति उत्पन्न होती है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत प्रेममय प्रतीत होता हे।

(२) वीर्य—पुरुपार्थ तथा प्रयास द्वारा वीर्येन्द्रि को शक्ति प्राप्त होती है।

(३) स्मृति—इसका अर्थ सजगता है। चेष्टा, प्रयास एवं पुरुपार्थ के प्रति सजग एवं जागरूक रहना चाहिये।

(४) समाधि—दत्तचित्त, एकाग्र एवं स्थिर हो कर चिन्तन प्रणाली से सामाधिस्थ होना चाहिये।

(५) प्रज्ञा—यह ज्ञान प्राप्ति की अवस्था है।

उपरोक्त पाँच इन्द्रियो के व्यायाम द्वारा मानव का आध्यात्मिक विकास होता है तथा फल-स्वरूप निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(६) पाँच बल—प्रत्येक इन्द्रि के व्यायाम या विकास द्वारा उस इन्द्रि के विशिष्ट क्षेत्र मे जिन पाँच बलो की प्राप्ति होती है—वे निम्नलिखित है।

(१) श्रद्धा बल, (२) वीर्य बल, (३) स्मृति बल, (४) समाधि बल, तथा (५) प्रज्ञा बल।

(७) सात बोध्यंग—'बोध' का अर्थ ज्ञान है, यथा बोध्यंग का अर्थ हुआ ज्ञान प्राप्त करने के अग। बौद्ध मतानुसार निम्नलिखित अंगों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है—(१) स्मृति, (२) धर्म विजय, (३) वीर्य, (४) प्रीति, (५) प्रश्रब्धि, (६) समाधि, तथा (७) उपेक्षा।

महापरिनिब्बानसुत्त के उल्लेखानुसार महात्मा बुद्ध ने अपने निर्वाण के समय भिक्षु समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा था—"भिक्षुओ। वे कौन से धर्म है जिन्हे स्वय जान कर, स्वय अनुभव कर, मैंने तुम्हे उपदेश दिया है, जिन्हे तुम्हे बढ कर सीखना है? वे है–चार स्मृति प्रधान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यंग तथा आर्य अष्टागिक मार्ग।" इस प्रकार बौद्ध धर्म मे उपरोक्त वर्णित कुल सैंतीस सिद्धान्त है।

निष्कर्ष—बौद्ध धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्तो के प्रचार तथा बौद्ध धर्म के अतिशय प्रसार से यह सिद्ध होता है कि इसकी सफलता के कारण—स्वयं इस धर्म के सरल, सुगम, जन भाषा युक्त, बोधगम्य तथा स्पष्ट नियम थे।

बौद्ध संघ

ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त तथागत के मन मे प्राप्त ज्ञान के प्रचार हेतु उत्कट इच्छा का जन्म हुआ। महात्मा बुद्ध एक दूरदर्शी व्यक्ति थे और वे भली भाँति जानते थे कि किसी धर्म का प्रचार प्रसार तथा स्थायित्व तभी स्थिर हो सकता हे जब कि उसमे संगठनात्मक गुण हों। यथा, महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार तथा धर्म के स्थायित्व के लिये बौद्ध संघ की स्थापना की। बौद्ध संघ का निर्माण गणतन्त्रीय प्रणाली के सिद्धातो के अनुसार किया गया था। पन्द्रह वर्ष की आयु का कोई भी व्यक्ति

संघ का सदस्य हो सकता था। संघ में जातिगत अथवा वर्णगत भेदभाव के लिये कोई स्थान नहीं था। संघ का सदस्य होने पर, एक निश्चित अवधि के लिये एक भिक्षु के शिष्यत्व में रहकर धार्मिक शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। इस प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त ही कोई व्यक्ति सघ में सम्मिलित हो सकता था, प्रत्येक भिक्षु के लिए संघ के नियमो को पालन करना आवश्यक था। भिक्षु बनते समय, प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में आने की शपथ लेनी पड़ती थी।

प्रत्येक बौद्ध संघ का अपना पृथक अस्तित्व होता था तथा इसके निर्णय गणतन्त्रात्मक पद्धत्ति से लिये जाते थे। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार पढा जाता था तथा इसके पश्चात् बहुमत के आधार पर प्रस्ताव पारित होते थे। बौद्ध धर्म के प्रसार तथा प्रचार मे बौद्ध संघो ने बडी सहायता पहुँचाई थी।

बौद्ध धर्म की संगीतियाँ (अधिवेशन)

महात्मा बुद्ध ने अपने दीर्घकालीन धम्म प्रचार काल मे अनेकानेक उपदेश दिये थे। तथागत के निर्वाणोपरान्त, महात्मा बुद्ध के उपदेशो को स्पष्ट करने के लिए तथा स्वयं बौद्ध भिक्षुओ के मध्य मे उत्पन्न मतभेदो के निराकरण हेतु चार सगीतियो का आयोजन किया गया। इन संगीतियो का विवरण निम्नलिखित हैं—

(१) **राजगृह की प्रथम बौद्ध संगीति**—महात्मा बुद्ध के निर्वाणोपरान्त, सुभद्र नामक भिक्षु ने कहा कि "हम तथागत द्वारा प्रतिपादित अनेक नियमो तथा निषेधो से मुक्त हो गये है।" इस कथन से सम्पूर्ण सघ मे हलचल मच गई। परिणामस्वरूप, तथागत के समस्त उपदेशो तथा बौद्ध धर्म के सिद्धातो को सग्रहीत तथा सकलित करने के लिये महाकस्सप नामक बौद्ध भिक्षु की अध्यक्षता मे पाँच सौ भिक्षुओ के सम्मेलन अथवा सगीति का आयोजनराजगृह के निकट सप्तपर्णी नामक गुहा मे किया गया था। इस सगीति के कार्यकलापो के परिणामस्वरूप तथागत की शिक्षाओ को 'धम्म-पिटक' तथा 'विनय-पिटक' नामक दो ग्रंथो मे सग्रहीत कर दियागया। दोनों पिटको मे भिक्षुओ के व्यावहारिक तथा नैतिक नियमो की व्याख्या की गई है।

(२)**वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति**—वैशाली के भिक्षु, तथागत द्वारा प्रतिपादित 'दस आचरणो' में विश्वास रखते थे परन्तु 'यस' नामक भिक्षु ने इसे धर्म विरुद्ध घोषित कर दिया। इस घोषणा के परिणामस्वरूप अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये, जिनके निराकरण हेतु ३८७ ई० पू० मे वैशाली की द्वितीय बौद्ध सगीति का आयोजन किया गया। वैशाली के भिक्षु अपने विश्वास पर अडिग रहे, जबकि अन्य भिक्षुओ ने इसका विरोध किया। इस मतभेद का पूर्ण निराकरण नही हो सका। जिन भिक्षुओ ने परम्परागत 'विनय' मे आस्था रखी, वे 'स्थविर' कहलाये तथा जिन्होंने संशोधित मत के प्रति आस्था व्यक्त की वे 'महासन्धिक' कहलाये।

(३) **पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध संगीति**—लगभग २५१ ई० पू० मे आचार्य मोग्गिलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र से तृतीय बौद्ध सगीति का आयोजन किया गया। इस संगीति द्वारा दो प्रमुख कार्य किये गये—

(१) बौद्ध साहित्य का नया वर्गीकरण करके 'अभिधम्म' नामक तीसरे पिटक की रचना की गई।

(२) संघ भेद के विरुद्ध कठोर नियमो का प्रतिपादन करके वौद्ध धर्म को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया ।

(४) **काश्मीर की चतुर्थ बौद्ध संगीति**—काश्मीर तथा गान्धार के वौद्ध भिक्षुओ के मध्य उत्पन्न मतभेदो के निराकरण हेतु कनिष्क के राज्यकाल मे काश्मीर मे बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति का आयोजन किया गया । मतभेद दूर करने के लिये त्रिपिटको पर एक विभापाशास्त्र तथा तीन महाभाष्यो की रचना की गई तथा इन्हे ताम्र पत्रो पर उत्कीर्ण करवाकर एक स्तूप मे संरक्षित कर दिया गया । इस संगीति के कार्यकलापो के फलस्वरूप बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायो, यथा, हीनयान तथा महायान मे विभक्त हो गया ।

हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय

महात्मा बुद्ध के प्रतिभा एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के अभाव मे वौद्ध धर्म मे अनेकानेक मतभेद उत्पन्न हो गये । उनके निर्वाणोपरान्त चार संगीतियो का आयोजन किया जाना —इस बात का प्रमाण है कि वौद्ध मतानुयायी अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त होने लगे थे । इन सम्प्रदायो मे हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय विशेप उल्लेखनीय है ।

हीनयान सम्प्रदाय—यह कट्टरपन्थी वौद्ध भिक्षुओ का सम्प्रदाय था । इनके अनुसार बौद्ध संगीतियो द्वारा किया गया परिवर्तन धर्म विरुद्ध था । ये देववाद के विरोधी थे । इस सम्प्रदाय की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) महात्मा बुद्ध के सिद्धातो का अक्षरश· पालन करने पर ही निर्वाण प्राप्ति हो सकती है ।

(ii) निर्वाण प्राप्ति के लिये किसी देवी-देवता की उपासना करना निरर्थक है ।

(iii) सृष्टि का आधार कर्म है ।

(iv) पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही वर्तमान जीवन का निर्धारण होता है ।

(v) मनुष्य स्वावलम्ब तथा स्वय के प्रयत्नो द्वारा ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।

(vi) निर्वाण मार्ग कठिन तथा दुस्सह है ।

(vii) बुद्ध की भगवान रूप मे उपासना नही करनी चाहिये ।

(viii) वौद्ध संगीतियो द्वारा किया गया परिवर्तन धर्म विरुद्ध है ।

(ix) ये पवित्रता, सदाचार, व्यवहारनिष्ठा तथा धर्म नियमो मे पूर्ण आस्था रखते थे ।

(x) इस सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ पाली भाषा मे है ।

(xi) इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की संख्या सीमित है ।

महायान सम्प्रदाय—इस प्रश्न पर कि वौद्ध धर्म के कठोर तथा परम्परागत नियमो मे परिवर्तन किया जाये, परिवर्तन के पक्षपातियो ने महायान सम्प्रदाय की नीव डाली । इस सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धात तथा मान्यताएँ निम्नलिखित है—

(i) इस सम्प्रदाय का उद्देश्य सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके समस्त मानवजाति के दुखो का निवारण करता था । (ii) महायान सम्प्रदाय के अनुसार इसी जीवन मे जीवित रहते हुए, निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है । (iii) महायान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी उपासना करते थे । (iv) इस सम्प्रदाय के नियम अत्यन्त सरल, स्पष्ट, आकर्षक,

उदार तथा व्यावहारिक है। (v) महायान सम्प्रदाय मूर्तिपूजा का समर्थक तथा संस्कारो का पक्षपाती है। (vi) यह सम्प्रदाय समयानुकूलन मे आस्था रखता है तथा इसके अनुयायी रूढिवाद के विरोधी है।

महायान सम्प्रदाय के प्रयास स्वरूप बौद्ध धर्म मे समय के साथ चलने की शक्ति आ गई तथा यह शीघ्र ही जन-साधारण का प्रिय धर्म बन गया। डा० हूशी के अनुसार "महायान सम्प्रदाय के धर्म प्रचार द्वारा चीन मे ताओवाद तथा कन्फ्यूशियस के मत खण्डित होने लगे तथा चीन मे आत्मा के अमरत्व के सिद्धात की मान्यता जम गई।"

बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण

तथागत को ज्ञान प्राप्ति के क्षण से प्रारम्भ होकर, भारतीय सीमाओ को लाँघ कर, बौद्ध धर्म लंका, बर्मा, चीन, जापान, स्याम, तिब्बत, जावा, सुमात्रा तथा चम्पा आदि देशो मे अपनी जडे जमाकर मध्य एशिया तक जा पहुँचा। इन सभी देशो मे बौद्ध धर्म ने गहरी जडे जमा ली तथा साथ ही एशिया के अधिकाश मे इसका व्यापक प्रसार हो गया। परिस्थितियो से अनुकूलन की क्षमता, वैचारिक, दार्शनिक तथा व्यावहारिक क्षेत्रो मे श्रेष्ठ होने की वजह से बौद्ध धर्म शीघ्र ही प्रगति, विस्तार, विकास तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो गया। यह धर्म जनसाधारण का, जन-साधारण के लिये तथा जन-साधारण द्वारा था अत इसके प्रसार मे आनुपातिक वृद्धि हो गई और एक दिन देशकाल की सीमाओ को लाँघ कर यह चिरस्थायी हो गया। धर्म चक्र प्रवर्तन की धूरी घूमती रही, दीप से दीप जलते गये। बौद्ध धर्म के आश्चर्य-जनक उत्थान के अनेक कारणो का विवरण निम्नलिखित है—

१. बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो की सरलता—बौद्ध धर्म के उत्थान तथा प्रसार का प्रमुखतम कारण इसकी सरल जीवन प्रणाली, नियमो की बोधगम्यता तथा सरल व्यावहारिक सिद्धान्त थे। इसने जिन सिद्धातो का पालन करने की व्यवस्था की, वे पूर्वगामी वैदिक धर्म के जटिल, दुर्बोध तथा कठिन नियमो की अपेक्षा अधिक लचीले, अनुकरण योग्य तथा व्यावहारिक थे। इस धर्म से जिस नैतिकता का प्रतिपादन किया वह समस्त मानव जाति के लिये शान्ति तथा कल्याणदायी था। बौद्ध धर्म ने जिन समस्याओ का हल प्रस्तुत किया वे सारी मानवजाति की समस्याएँ थी। बौद्ध धर्म के जीवन के चरमोद्देश्य यथा निर्वाण का द्वार-स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य, देशी-विदेशी आदि सभी के लिये खुला हुआ था। 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ' का धम्म घोष समस्त प्रताडित मानवता के लिए था। बौद्ध धर्म विश्लेपणात्मक न होकर जीवन यापन की सरल प्रणाली पर आधारित था। जिस धर्म का आदि, मध्य तथा वर्तमान मानव कल्याणकारी भावना से ओत-प्रोत हो, वह जनता मे कैसे प्रसारित न होता ?

२ हिन्दू धर्म की विरोधी प्रतिक्रिया—बौद्ध धर्म के प्रचार मे, परोक्ष रूप से हिन्दू धर्म के आडम्बर का विशेष योगदान था। यह बात कहने मे हमारा अभिप्राय यह है कि क्योकि बौद्ध धर्म ने आडम्बर, विशद याज्ञिक आयोजनो, बलियो, कर्मकाण्डी जटिलताओ आदि का विरोध किया अत इसे शीघ्र ही सर्वमान्यता प्राप्त हो गई। बुद्ध धर्म की मान्यता थी कि धर्म किसी भी जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही होती, मोक्ष प्राप्ति के लिये किसी भौतिक माध्यम की आवश्यकता नही होती तथा उपास्य एवं उपासक के बीच कोई पुरोहित नही होता। इस समय ऐसे ही सिद्धान्तो की आवश्यकता थी। लोग हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता से उकता कर किसी

जनता आँधी की भाँति उमड आती थी। लोग कहते "आज वह मुण्डित शीश, काषाय वस्त्रधारी इसी ग्राम मे आ रहा है।" कोई पूछता "कौन है ?" तो उत्तर मिलता 'वही जिसने पीड़ित मानवता का करुण रोदन सुनकर राजसुखों का परित्याग कर दिया, जिसे नव युवती पत्नी का प्यार, नवजात शिशु का स्नेह भी नही बांध सका। जिसकी वाणी मे जादू है, जिसके मुख पर तेज है।" महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रभावशाली होने के कारण बौद्ध धर्म जनता का धर्म बन गया तथा इसका प्रसार अबाधगति से हुआ।

(१०) **प्रबल विरोध का अभाव**—बौद्ध धर्म के शीघ्र प्रसार का कारण प्रबल विरोध का अभाव भी था। प्रबल विरोध के अभाव के भी कई कारण थे। लोग हिन्दू धर्म से तो उकता ही चुके थे साथ ही हिन्दू धर्म भी अब कुछ कुछ शक्तिहीन सा हो रहा था। बौद्ध धर्म ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया तथा हिन्दू धर्म के अनेक श्रेष्ठ गुणो को ग्रहण भी किया। आरम्भ मे बौद्ध धर्म का कोई घोर विपक्षी नही था। इस्लाम तथा ईसाई धर्म अभी तक भविष्य के गर्भ मे थे। विपक्षियो के अभाव के कारण बुद्ध धर्म के प्रचार मे न तो कोई अड़चन ही उपस्थित हुई और न ही इसका विरोध किया गया।

(११) **ब्राह्मणो तथा विद्वानो का समुचित आदर**—महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मणो को समुचित आदर प्रदान किया। ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मणो को तथागत से मिलने की छूट थी। बौद्ध धर्म मे ब्राह्मण तथा सन्यासियो के लिये संघ प्रवेश मे कोई प्रतिबन्ध नही था। इसका कारण यह था कि इस वर्ग के लोग आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ तथा ऊँचे माने जाते थे। अशोक ने भी इस प्रकार के आदेश दिये थे कि ब्राह्मणो का समुचित आदर किया जाये। इन कारणों से ब्राह्मण तथा विद्वानो ने बौद्ध धर्म का खण्डन मण्डन करने की प्रवृत्ति को त्याग कर उसके प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई।

(१२) **अनुकूलन की शक्ति**—किसी भी परिस्थिति, वातावरण तथा विरोध के साथ अनुकूलन शक्ति से सम्पन्न होने के कारण बौद्ध धर्म सदेव फलता-फूलता रहा। अपनी अनुकूलन शक्ति के कारण बौद्ध धर्म ने विदेशो मे तो तहलका मचा दिया तथा चीन, जापान, बर्मा, कोरिया, तिब्बत आदि मे अपनी जड़ें मजबूत की।

बौद्ध धर्म के पतन के कारण

महात्मा बुद्ध ने कहा था "जिस प्रकार जन्म का कारण होता है उसी प्रकार मृत्यु का भी कारण होता है। सत्कर्मों द्वारा ही कारणो का मूलोच्छेदन किया जा सकता है।" तथागत की यह उक्ति बौद्ध धर्म के उत्थान तथा पतन के कारणो की सारगर्भित अभिव्यक्ति का प्रतीक है। जिस मार्ग पर चलने से बौद्ध धर्म का उत्थान तथा शीघ्र प्रसार हुआ—उस मार्ग से पथभ्रष्ट हो जाने पर यह धर्म पतनोन्मुख हो गया।

(१) **राज्याश्रय की समाप्ति**—बौद्ध धर्म की अवनति का प्रमुख कारण राज्याश्रय की समाप्ति थी। कुछ सम्राटो का विश्वास था कि बौद्ध धर्म से सामरिक भावना का नाश हो जाता है, अतः कालान्तर मे बौद्ध-धर्म, राज्य-धर्म न रह सका। मौर्यो एव कुषाण राज्यवंशो के पश्चात् बौद्धो को राजकीय सहायता एव संरक्षण अनुपलब्ध हो गया। हर्ष तथा पाल-सम्राटो के अतिरिक्त शेष सभी ने हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना की।

(२) **ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना**—मौर्यवंश के पतनोपरान्त तथा गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष के साथ-साथ ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के आन्दोलन भी अत्यधिक गतिशील हो गए। इन सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म और उसकी संस्कृत भाषा को राज्याश्रय दिया। बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय तो ब्राह्मण-धर्म के अत्यधिक निकट आ गया था। बौद्ध धर्म की उदारता, सहिष्णुता, सक्रिय सहयोग और संरक्षण से प्रभावित होकर ब्राह्मण-धर्म के विचारकों और दार्शनिकों ने ब्राह्मण-धर्म के दोषो को दूर करके उसे अधिक आकर्षक एवं श्रेष्ठ धर्म बना दिया। भक्ति मार्गी संतो ने भी इसी बीच भक्ति के सरल माध्यम द्वारा ब्राह्मण-धर्म को और भी लोकप्रिय बना दिया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि वैदिक धर्म मे आस्था बढ़ने लगी तथा ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान होना बौद्ध-धर्म के ह्रास का कारण बन गया।

(३) **हिन्दू-धर्म का उत्थान एवं एकीकरण**—ब्राह्मण-धर्म में अन्य धर्मों के सिद्धान्तो, विश्वासो, धारणाओ आदि को अपनाकर उनका समन्वय करने की विलक्षण शक्ति है। ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तो का एकीकरण कर लिया गया और बुद्ध को ईश्वर का अवतार मान लिया गया। इससे ब्राह्मण धर्म के अनुयायियो की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। हिन्दूधर्म की जिस शिथिलता के कारण बौद्ध-धर्म का अभ्युदय हुआ था—अब स्वयं हिन्दू धर्म उस शिथिलता को दूर करने लगा। शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर तथा रामानन्द जैसे उद्भट विद्वान एव उत्साही प्रचारक सम्पूर्ण भारत मे भ्रमण करके बौद्ध-भिक्षुओं से शास्त्रार्थ करने लगे। जनता मे पुनः हिन्दू-धर्म मे आस्था जाग्रत होने लगी। समयानुसार हिन्दू-धम मे एकीकरण की प्रवृत्ति प्रबल होने लगी। हिन्दू धर्म ने एकीकरण के प्रयास द्वारा बौद्ध-धर्म के सर्वमान्य सिद्धान्तो, नियमो एव व्यवहारो को स्वय मे विलीन कर लिया। परिणामत. बौद्ध-धर्म की पृथकता एव नवीनीकरण का भेद समाप्त हो गया। अब वह हिन्दू-धर्म की छाया-मात्र रह गया। बौद्ध मतावलम्बी धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म को अपनाने लगे तथा बौद्धो की संख्या शनैः शनै. घटने लगी

(४) **संघीय व्यवस्था का विकारग्रस्त होना तथा भिक्षुओ के आचरण की पथ-भ्रष्टता**—बौद्ध संघो को राज्याश्रय प्राप्त हुआ अत वहाँ अतुलित धन-राशि जमा हो गयी। इसके अतिरिक्त बौद्ध विहारो मे उपहार एवं भेट स्वरूप प्राप्त स्वर्ण, चाँदी, रत्न तथा सम्पत्ति आदि के रूप मे अत्यधिक धन इकट्ठा हो गया। फलस्वरूप विहार, भोग-विलास, सुख-वैभव और षड़यन्त्रों का केन्द्र बन गये। बुद्ध के अनुशासन के दस नियमो की अवहेलना की जाने लगी और भिक्षु तथा भिक्षुणियो का सादा, सरल, पवित्र, त्याग, सेवा और परोपकार का जीवन समाप्त हो गया। मगध के विहारों मे हजारो भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ आनन्दमय जीवन विताने लगे। अब वे नाम-मात्र के भिक्षु रह गये थे—भिक्षा-पात्र लेकर माँगने एवं प्रचार करने की आवश्यकता समाप्त हो गयी। बौद्ध-भिक्षु पथभ्रष्ट, विलासी, कामुक एवं विलासमय जीवन मे रुचि लेने लगे। विहार तथा मठो मे युवको तथा युवतियो का भिक्षु तथा भिक्षणी रूप मे साथ निवास करने के कारण उनके आचरण तथा संयम मे गिरावट आ गयी। अब विहारो का सात्विक एवं शुद्ध वातावरण समाप्त हो गया। इससे जनसाधारण की दृष्टि मे बौद्ध-भिक्षुओ के प्रति श्रद्धा विनष्ट हो गयी तथा बौद्ध संघ और विहारो का पतन हो गया।

(५) **बौद्ध धर्म में दोषों का प्रवेश**—बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव और प्रचार एक सादे, सरल, सुबोध धर्म के रूप मे हुआ था किन्तु कालान्तर मे वह विविध नियमो और निषेधो से परिपूर्ण हो

गया। इसका कठोर अनुशासन एवं संघ का संयमी जीवन इसके मानने वालों के लिए कष्टकारक हो गया। परिणामस्वरूप अनेक बौद्ध धर्मावलम्बियो ने अन्य धर्म अपना लिए। इसके अतिरिक्त जिन दोषो के विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने आवाज उठायी थी वे ही धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में प्रवेश करने लगे। महात्मा बुद्ध के सरल एवं बोधगम्य उपदेशों के स्थान पर मूर्तिपूजा, रथोत्सव तथा अन्य संस्कार आदि जन्म लेने लगे। धर्म की सरलता नष्ट हो गयी तथा ढकोसलो, अन्धविश्वासों एवं मिथ्याचार ने प्रबलता धारण कर ली। बौद्ध-आचार्य सैद्धान्तिक मतभेदो का शिकार होने लगे तथा इनमें आपस मे प्रतिस्पर्धा एवं द्वेष की भावना उत्पन्न हो गयी। एक तरफ तो बौद्ध-भिक्षु घोर अनीश्वरवादी हो गये, दूसरी ओर उनमें देवत्व के प्रति श्रद्धा भी हो गयी। अन्तर्भेद के कारण उनकी मतैक्यता नष्ट हो गयी। सुधारात्मक प्रवृत्ति का स्थान अनुकरणात्मक प्रवृत्तियो ने ले लिया। फलतः बौद्ध-धर्म मे अनात्मवाद और अनीश्वरवाद या उसकी नास्तिकता की प्रवृत्ति से अनेक लोग बौद्ध-धर्म से अलग हो गए थे। इस प्रकार बौद्ध-धर्म अपने उच्च आदर्शो से गिर कर पतनोन्मुख हो गया।

(६) सम्प्रदायों का जन्म—कालान्तर मे बौद्ध मतावलम्बियों मे कई गहन सैद्धान्तिक मत-भेद हो गये। बौद्ध-धर्म मे सम्प्रदायवाद जन्म ले चुका था जिसके कारण आपसी मतभेद बढ़ गये तथा संघ छिन्न-भिन्न होने लगा। महात्मा बुद्ध की मृत्योपरान्त ही संघ-भेद की आशंका से प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया था। मतभेद का क्रम बढ़ता ही गया तथा चार संगीतियों के आयोजन द्वारा भी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हुईं। पाँचवी शताब्दी में बौद्ध-धर्म अट्ठारह सम्प्रदायो मे विभक्त हो चुका था। इनमे हीनयान, वज्रयान तथा महासांघिक प्रमुख हैं। इस सम्प्रदायवाद ने बौद्ध-धर्म को आन्तरिक रूप से जर्जरित कर दिया। फलत. बौद्ध-धर्म से लोगों की आस्था उठ गयी।

(७) बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो में परिवर्तन—शनै. शनै. बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त परिवर्तित हुए और नये-नये सम्प्रदायो का उदय हुआ, जैसे महायान, मन्त्रयान, तन्त्रयान, वज्रयान आदि। इन नवीन परिवर्तनो के अन्तर्गत बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियाँ निर्मित कर पूजी जाने लगी। इस मत का प्रतिपादन किया जाने लगा कि बुद्धदेव की मूर्ति की पूजा, अर्चना और भक्ति मात्र से ही निर्वाण प्राप्ति हो सकती है। वज्रयान सम्प्रदाय के अन्तर्गत बौद्ध धर्म मे हठयोग, तन्त्र-मन्त्र, सुरा, सुन्दरी और भोग-विलास का प्रवेश हुआ जो बौद्ध-धर्म की नैतिकता के सर्वदा विपरीत थी। बौद्ध भिक्षु और विद्वान अब सरल, पवित्र एवं सन्यासी न रहे। वे तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने के निपुण पंडित हो गए और वे अनैतिक कार्य की ओर प्रेरित हुए। वे तन्त्र-मन्त्र द्वारा ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी शक्तियो और आध्यात्मिक सत्ता प्राप्त करने का दावा करने लगे। फलत. बौद्ध धर्म की समस्त पवित्रता और नैतिकता नष्ट हो गयी और बौद्ध विहार तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने के गढ़ बन गए। वे अपने उच्चादर्शों से गिर गए और उन्होने अपना गौरव खो दिया।

(८) प्रभावशाली बौद्ध धर्माचार्यों और दार्शनिकों का अभाव—बौद्ध धर्म में पाँचवी शताब्दी के बाद प्रकाण्ड विद्वान, प्रख्यात धर्म-परायण भिक्षु और दार्शनिकों का अभाव हो गया। बौद्धो का संगठन करने और उनकी शक्ति को बढ़ाने के लिए योग्य, अनुभवी संगठनकर्ता भी नहीं थे। इसके विपरीत इस युग मे ब्राह्मण धर्म के शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, रामानुज आदि के समान बौद्ध धर्म में प्रसिद्ध प्रभावशाली विचारक, दार्शनिक, धर्म-प्रचारक और धर्माचार्य नहीं थे जो

जनसाधारण को प्रभावित कर सकते और धर्म प्रसार में पूर्ण योगदान देते। बौद्ध-धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए इस युग मे कोई धार्मिक संगीति, सभायें या अधिवेशन भी नही हुए जो संघ मे फैले भ्रष्टाचार का निवारण करते और वौद्ध धर्म की पुरातन शुचिता, सरलता और ग्राह्यता को पुनः स्थापित करते।

(९) **राजपूतों का अभ्युदय**—राजपूतो का अभ्युदय भी बौद्ध धर्म के पतन का कारण वना। राजपूत-जाति स्वाभिमानी, स्वतन्त्रताप्रिय थी। उनके अनुसार अहिंसा निष्क्रियता को जन्म देती है। इनकी युद्धप्रियता, आखेट मे रुचि तथा सामरिक गुणो की प्रधानता बौद्ध-धर्म के अहिंसा एवं सदाचार के प्रतिकूल थी। अत. राजपूतो ने सच्चे हृदय से ब्राह्मण-धर्म को संरक्षण प्रदान किया तथा वौद्ध-धर्म का विरोध किया।

(१०) **विदेशियों के आक्रमण**—वौद्ध-धर्म की रही सही शक्ति का नाश हूणो एवं मुसलमानों के आक्रमणो ने कर दिया। तुर्कों के बर्बर आक्रमण के समक्ष नैतिक एवं आचार की दृष्टि से शिथिल वौद्ध-धर्म जनता मे विश्वास एवं आस्था की ज्योति नही जाग्रत कर सका। जनता के लिए अहिंसा का अर्थ केवल अत्याचार का सहना मात्र रह गया। तुर्कों ने बौद्ध-मठो, विहारो तथा ब्राह्मणो के मन्दिरो को विनष्ट किया परन्तु हिन्दू-धर्म के उपदेशको ने अपनी शिक्षाओ को नैतिकता एवं सदाचार की शृंखला मे जकड़ कर, जनता का आदर एवं श्रद्धा प्राप्त की। यही कारण है कि हिन्दू-मन्दिरों का तो पुनरुद्धार हो गया परन्तु एक वार विनष्ट हो जाने पर वौद्ध-मठ एव विहार खण्डहर ही वन कर रह गए, उनका पुनरुद्धार न हो सका।

मुसलमानो ने अधिकतर उत्तर भारत पर ही हमले किये। अत. मगध के महाविहार, सघाराम के नष्ट हो जाने पर भिक्षुओ का जीवन निराश्रयपूर्ण हो गया। इसके विपरीत रामानुज एवं शकराचार्य जैसे प्रवल हिन्दू प्रचारको के केन्द्र दक्षिण भारत की ओर थे, अत. वे मुसलमानी आक्रमणो से सुरक्षित रहे। मुसलमान आक्रमणकारिमो का यह विश्वास था कि बौद्ध-सघो एव मठो के पास अपार धन है अत. उन्होने नालन्दा के सुप्रसिद्ध विहार एवं विश्वविद्यालय को नष्ट कर दिया। इससे वौद्ध-धर्म को अपार क्षति पहुँची। नैतिक दृष्टि से पतित एवं शक्तिहीन भिक्षु मुसलमानो का सामना न कर सके तथा भारत छोड़ कर भाग निकले।

इस प्रकार चौदहवी शती तक यह धर्म मध्यप्रदेश से लुप्तप्राय हो गया। अवशिष्ट रूप मे स्थानीय ढंग पर कुछ दिन तक विराजमान रहने के पश्चात् वौद्ध-धर्म अपनी जन्म-भूमि को छोड़ विदेशो की ओर वढ़ गया। यह आश्चर्यजनक बात है कि जिस दीपक को महात्मा बुद्ध ने भारत-भूमि पर जलाया था वह प्रकाश सहित कही और चला गया। आज भी विदेशो की लगभग एक चौथाई जनसंख्या बौद्ध-सिद्धान्तो मे आस्था रखती है।

भारतीय संस्कृति को योगदान

वौद्ध धर्म का जन्म हुए, आज लगभग ढाई हजार वर्ष बीत चुके है तथापि भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के अनेक अंगों पर इस धर्म की अमिट छाप है। कहते हैं—कि वक्त सब कुछ मिटा देता है परन्तु भारतीय संस्कृति पर वौद्ध धर्म के प्रभाव पर वक्त भी कोई असर नही डाल सका है। प्रश्न उठता है कि वौद्ध धर्म की इस अद्‌भुत उपलब्धि के क्या कारण है? अपने उत्पत्ति काल से लेकर आज तक की भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन तथा प्रभाव का वर्णन निम्नलिखित हैं :—

(१) **ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव**—बौद्ध धर्म ने भारत के प्राचीनतम धर्म—यथा ब्राह्मण धर्म की आँखें खोल दी। जिस समय वैदिक धर्म अपनी जटिलताओ तथा अनेकानेक अव्यावहारिकता के कारण समयानुकूलन नही कर पा रहा था उसी समय तथागत ने सरल, स्पष्ट तथा अतिव्यावहारिक धार्मिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके ब्राह्मण धर्म को अपना दृष्टिकोण वदलने के लिये विवश कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति में जो स्थिरता आ गई थी—वह पुन क्रियाशील हो गई। यह भारतीय संस्कृति के लिये एक वरदान प्रमाणित हुआ।

(२) **सरल, स्पष्ट तथा व्यावहारिक धर्म की स्थापना**—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त तथा मान्यताएँ सरल, स्पष्ट तथा व्यावहारिक थी। इससे पूर्व के धर्म मे कतिपय जटिलताओ के कारण, जनसाधारण ने शीघ्र ही बौद्ध धर्म मे घोर श्रद्धा व्यक्त करनी प्रारम्भ कर दी। ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने इस परिस्थिति को समझ कर अपनी वैचारिक तथा दार्शनिक पद्धतियों मे जनसाधारण के हितो की ओर ध्यान दिया तथा उन अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया—जिनके आधार पर वे बौद्ध धर्म के वढते हुए प्रभाव के समक्ष टिक सके। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो का धर्म के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। धर्म क्षेत्र मे सरल, स्पष्ट, उदार तथा व्यावहारिकता के सिद्धान्तो को अपनाये जाने के कारण भारतीय संस्कृति ने अनेकानेक विशिष्टताएँ प्राप्त की।

(३) **मूर्ति पूजा पद्धति का नवीन रूप**—कतिपय विद्वानो का विश्वास है कि भारत में मूर्ति पूजा का जन्म बौद्ध धर्म द्वारा हुआ था। परन्तु हम इस मत से सहमत नही हैं। मूर्ति पूजा का प्रचलन बौद्ध धर्म के उदय से पहले ही हो चुका था। सिन्धु घाटी से मूर्ति पूजा के अनेक प्रमाण मिलते है। बौद्ध धर्म ने मूर्ति पूजा को नवीन रूप दिया। महायान सम्प्रदाय ने तथागत को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी मूर्तियो की विधिवत उपासना प्रारम्भ की। इससे प्रभावित हो कर हिन्दू धर्मानुयायियो ने राम तथा कृष्ण को अवतार मान कर, उनकी मूर्तियो की उपासना प्रारम्भ कर दी। जब मूर्ति पूजा की यह नवीन पद्धति प्रारम्भ हुई तो कालान्तर में अनेकानेक मन्दिरो, मठों, विहारों आदि का निर्माण हुआ।

(४) **धर्म प्रचार की नई पद्धति तथा शैली का विकास**—महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार की नई शैली को जन्म दिया। उपदेश तथा प्रश्नोत्तर द्वारा जनसाधारण के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने के साथ-साथ, धर्म प्रचार के लिये विभिन्न नियम आदि भी वनाये गये। इससे पूर्व धर्म प्रचार की शैली पारस्परिक वाद-विवाद द्वारा विरोधी को परास्त कर देना मात्र थी। बौद्ध धर्म की नवीन शैली को ब्राह्मण धर्म के प्रचारको ने भी अपनाया।

(५) **धार्मिक संघो की स्थापना**—वैदिक काल मे सन्यासी, परिव्राजक आदि एकान्तवास के लिये वनों, पर्वत कन्दराओ आदि मे निवास करते थे। तव धर्म प्रचार तथा चिन्तन के लिये संगठन की व्यवस्था का जन्म नही हुआ था। बौद्ध-धर्म को इस वात का श्रेय प्राप्त है कि उसने धार्मिक संगठन के लिये संघों की स्थापना की। कालान्तर मे बौद्ध संघो की प्रणाली को लगभग सभी भारतीय धर्मों ने अपना लिया।

(६) **एकता की स्थापना**—बौद्ध धर्म में एकता का अनुपम उदाहरण मिलता है। बौद्ध धर्म द्वारा प्रतिपादित एकता केवल धार्मिक जीवन से ही सम्बन्धित नही थी अपितु इसने जनसाधारण के सांस्कृतिक जीवन को भी एकता से युक्त कर दिया। देश की जातिगत, सामाजिक तथा राज-

नैतिक अनेकता को समाप्त करके भारतीय राष्ट्रीयता का अखण्ड दीप जलाने का श्रेय वौद्ध को ही दिया जाना चाहिये।

(७) **साहित्यिक देन**—वौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य को नया जीवन प्रदान किया। अपनी साहित्यिक उपलब्धियो द्वारा, इस धर्म ने विद्या तथा ज्ञान का प्रसारकिया। चन्द्रगोविल का व्याकरण तथा अमरसिंह द्वारा रचित 'अमरकोष' बौद्ध साहित्यिक क्षमता की ही देन है। वौद्ध साहित्य की जातक कथाये तो विश्व भर में प्रसिद्ध है। पाली भाषा मे त्रिपिटक ग्रन्थो की रचना करके बौद्ध साहित्यकारो ने भारतीय साहित्य को धनी वना दिया।

(८) **बौद्धिक स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापन**—महात्मा बुद्ध ने बौद्धिक स्वतन्त्रता पर विशेप बल दिया। वे कहा करते थे कि "तुम स्वयं के लिये दीपक वनो।" उनका विश्वास था कि बौद्धिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति स्वयं के चिन्तन द्वारा होती है। उन्होने अन्धानुकरण का विरोध करके व्यक्तिगत चिन्तन तथा चेतना के विकास को महत्व प्रदान किया।

(९) **भारतीय कला को देन**—बौद्ध धर्म ने भारतीय कलाकार के मस्तिष्क को वहुत प्रभावित किया। तथागत के जीवन के प्रसंगो का चित्रण करने मे भारतीय कलाकारो ने अपनी कला मे सजीव, सुन्दर, विशाल गुणो का परिचय दिया। साँची तथा भरहुत बौद्ध धर्म की ही देन हैं। कोहन महोदय के अनुसार "यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला हम सव के लिये एक गम्भीर अनुभव है। सभी क्षेत्रो मे, यथा—स्थापत्य, चित्रकला, वास्तुकला तथा शिल्प मे—बौद्ध धर्म ने ऐसी कला-कृतियो का निर्माण किया है जिनकी तुलना पाश्चात्य कला की श्रेष्ठतम कृतियो से की जा सकती है।"

(१०) **भारतीय संस्कृति का विदेशो मे प्रसार**—बौद्ध धर्म ने भारतीय सस्कृति का विदेशो मे प्रसार किया। इस विपय मे श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा है—"बौद्ध धर्म ने भारत तथा विदेशो के मध्य निकट सम्बन्ध स्थापित किये। यह देश का विश्वव्यापी आन्दोलन था तथा इसमे जाति एवं देश के वन्धनो को कोई स्थान प्राप्त नही था। सभी प्राचीन पूर्वी देशो ने इसे स्वतन्त्रता पूर्वक अपना लिया।.........इस धर्म को मानने वाले विदेशी—भारत को पवित्र तीर्थ तथा अपने धर्म का मूल स्रोत मानने लगे और परिवार सहित भारत की यात्रा को तीर्थ यात्रा समझने लगे।" बौद्ध धर्म द्वारा वैदेशिक सम्बन्धो की स्थापना का परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति का रूप वृहद हो गया।

(११) **सामाजिक समानता की स्थापना**—बौद्ध धर्म मे सामाजिक समानता को सर्वोपरि महत्व प्राप्त था। तथागत ने अपने अनेक उपदेशो मे वर्णव्यवस्था तथा जातिगत विषमता को अनुचित तथा अप्राकृतिक वताया। बौद्ध धर्म के द्वार सभी के लिये खुले हुए थे। अपनी इस विशिष्टता के कारण बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया।

बौद्ध धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव तथा उसके योगदान के उपरोक्त विवरण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि भारतीय संस्कृति बौद्ध धर्म की वहुत आभारी है। यद्यपि अनेक कारणो से बौद्ध धर्म भारत की अपेक्षा विदेशो मे अधिक प्रभावशाली हो गया तथापि भारतीय सभ्यता एव संस्कृति पर इस धर्म की अमिट छाप है। भारतीय धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, जीवन प्रणाली तथा सोचने के ढंग पर आज भी इस धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हमारी वैदेशिक नीति, शान्तिप्रियता तथा सदभावना का आधार बौद्ध धर्म ही है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. धर्म की परिभाषा कीजिये। वैदिक धर्म के विकासक्रम को स्पष्ट कीजिये।

२. पौराणिक धर्म से आप क्या समझते हैं? पौराणिक तथा वैदिक धर्म का भेद स्पष्ट कीजिये।

३. छठी शताब्दी ई० तक वैष्णव धर्म के इतिहास पर प्रकाश डालिये।
(पी० सी० एस० १९७४)

४. शैव धर्म की उत्पत्ति एवं विकास का विवेचन कीजिये। (पी० सी० एस० १९७५)

५. शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो का उल्लेख कीजिये।

६. शाक्त धर्म के विकास का उल्लेख करते हुए उसके सिद्धान्तो पर प्रकाश डालिये।

७. तीर्थंकर महावीर के जीवन तथा शिक्षाओ का उल्लेख कीजिये।
(पी० सी० एस० १९६९, १९७४)

८. जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की संक्षिप्त विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९७२)

९. महात्मा बुद्ध के जीवन तथा उपदेशों का विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९७१)

१०. आप महात्मा बुद्ध को समाज सुधारक या आध्यात्मिक नेता मे से क्या समझते हैं?
(पी० सी० एस० १९६२)

११. "बौद्ध मत ब्राह्मण एकाधिकारवाद तथा वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति क्रान्ति मात्र था।" क्या आप इस मत से सहमत हैं? (पी० सी० एस० १९६३)

१२. 'ईश्वर' और 'आत्मा' के बिना बौद्ध धर्म के सफल प्रसार के क्या कारण थे?
(पी० सी० एस० १९६४)

१३. बौद्ध मत कहाँ तक एक विचारवादी धर्म है? (पी० सी० एस० १९६५)

१४. बौद्ध धर्म के पतन और लोप के क्या कारण थे?
(पी० सी० एस० १९६६ तथा १९६७)

१५. विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार मे बौद्ध धर्म के योगदान का महत्व इगित कीजिये। (पी० सी० एस० १९६९, १९७३)

१६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(i) बौद्ध सगीतियाँ (अधिवेशन) (पी० सी० एस० १९६३)
(ii) महायान सम्प्रदाय (पी० सी० एस० १९६३, ६८, ६९, ७१, ७५)
(iii) हीनयान सम्प्रदाय (पी० सी० एस० १९७०)
(iv) तीर्थंकर महावीर (पी० सी० एस० १९७१)
(v) स्यादवाद सिद्धान्त (पी० सी० एस० १९७३)
(vi) पाशुपत सम्प्रदाय (पी० सी० एस० १९७६)
(vii) प्रतीत्यसमुत्पाद (पी० सी० एस० १९७८)

अध्याय पचीस

प्राचीन भारतीय दर्शन

पूर्वाभास

मानव प्राणी ने जन्म लेते ही अपने चारो ओर छाये हुए वातावरण के विपय मे सोचना आरम्भ किया था। चिन्तनक्रम निरन्तर वना रहा, सभ्यता और सस्कृति की कड़ियाँ वनती गईं और इसी के परिणामस्वरूप हम आज की विकासावस्था को प्राप्त कर पाये है। सोचने का तरीका, तर्क वुद्धि पर पडने वाले जोर और प्रभाव के कारण अनेक सैद्धान्तिक मान्यताएँ निर्धारित होने लगी और विभिन्न विचारको की रुचियो एवं चिन्तन शक्ति के अनुरूप विविध दर्शन पद्धतियो का विकास होता रहा। चिन्तन से ज्ञान का परिष्कार होता है, विचारधारा परिपक्व होती है, अन्धविश्वासो और अनुपयोगी वातो से छुटकारा मिलता है। यही प्रक्रिया दर्शन का आधार है और इसके विकास से ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो पाया है। इस पृष्ठभूमि मे जव हम भारतीय दर्शन के विपय मे विचार करते है तो हमे विदित होता है कि भारत की विशेप भौगोलिक परिस्थितियो ने अनादि काल से यहाँ के रहने वालो को शान्त और गम्भीर वना रखा है। "जीवन का सादापन, उच्चविचार, प्रेम, अन्त करण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, ससार को पारमार्थिक कारणो से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति मे श्रद्धा, भक्ति और आत्म समर्पण, जीवन की उलझनो को सुधारने मे तत्परता, परमसुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिये पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह आदि गुण साधारण रूप मे प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यो मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते है।"[१] इन गुणो से अभिभूत भारतीय मनीपी सृष्टि के रहस्यो को सुलझाने मे लगे रहे है। भारत की दार्शनिक धारा अनादि काल से निरन्तर वहती चली आ रही है।

भारतीय दर्शन का अर्थ तथा परिभापा

हिन्दी भापा मे प्रयुक्त 'दर्शन' शव्द 'दृश्' धातु से वना है। 'दृश्' का शव्दार्थ है 'देखना'।

१ 'भारतीय दर्शन'—डा० उमेश मिश्र।

'दृश्' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय लगा देने से 'दर्शन' शब्द बनता है। 'दर्शन' शब्द की व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि जिससे देखा जाये, उसे दर्शन कहते हैं—'दृश्यते इति दर्शनम्'। देखने का स्थूल साधन आँखे है। इनके द्वारा देख कर जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह चाक्षुस प्रत्यक्ष है—यह स्थूल दर्शनो का मत है। सूक्ष्म दर्शनो का मत है कि सभी कुछ आँखो द्वारा नही देखा जा सकता। उन न दिखाई देने वाली वस्तुओ के लिये तात्विक बुद्धि, प्रज्ञाचक्षु, ज्ञानयक्षु या 'दिव्य दृष्टि' है। इसके अनुसार दर्शन का अर्थ हुआ—वह माध्यम जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। स्मृतियो मे 'सम्यक दर्शन' तथा 'आत्म दर्शन' का उल्लेख मिलता है। अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना आत्मदर्शन या सम्यक दर्शन है। बौद्धन्याय मे इसे सम्यग्दृष्टि तथा जैनन्याय मे सम्यग्दर्शन कहा गया है। सामान्यतया, यह संसार क्या है? जीवन-मृत्यु का रहस्य क्या है? सुख दुख का सार क्या है? मैं क्या हूँ-कौन हूँ? इन सभी के मूल मे अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है।

भारतीय दर्शनों का विकास

भारतीय दर्शनो की उत्पत्ति एक ही समय मे नही हुई थी। इनका विकास शताब्दियो तक साथ-साथ होता रहा है। भारत मे दर्शन को जीवन का एक अग माना गया है। यहाँ ज्यो ही किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन होता था त्यो ही उसके अनुयायियो का एक सम्प्रदाय स्थापित हो जाता था। सम्प्रदाय के सभी सदस्य उस दार्शनिक विचार को अपने जीवन का अंग मानते थे, तथा उसी के अनुसार अपना जीवन विताते थे। भारत के विभिन्न दर्शन निरंतर कई शताब्दियो तक प्रचलित रहे।

भारतीय दर्शन अपने-अपने क्षेत्र मे ही सीमित नही रहते थे, वरन् उनमे पारस्परिक आलोचनाएँ चलती रहती थी। वस्तुतः भारतीय दर्शनो मे प्रतिपक्षी के आक्षेप का युक्ति-पूर्वक खंडन करने की एक प्रथा चल गई थी। इसी पारस्परिक-आलोचना के फल-स्वरूप भारत मे सहस्रों दार्शनिक ग्रन्थो की रचना हो गई। आलोचना-प्रत्यालोचना का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारतीय दार्शनिको मे अपने विचारो को स्पष्ट तथा अभ्रान्त रूप से व्यक्त करने का एक व्यसन हो गया। अपने विचारो को सर्वथा दोप-रहित तथा आक्षेप-हीन बनाने के लिये वे स्वभावतः प्रयत्न करते थे। इस प्रकार भारतीय दर्शनो मे विचारो के आदान-प्रदान की प्रथा थी। प्राचीन समय मे दार्शनिक विवेचन मौखिक होता था। गुरु-शिष्यो मे भी विचार-विनिमय मौखिक ही हुआ करता था। अतः, यह आवश्यक था कि दार्शनिक समस्याओ को, उनके आक्षेपो तथा समाधानो को, स्मरण रखने के लिये, संक्षिप्त रूप दिया जाय। इसी प्रकार सूत्र-ग्रन्थो की उत्पत्ति हुई है। सूत्र-ग्रन्थ, विपय-भेद के अनुसार, अध्याय, पाद, अधिकरण आदि मे विभक्त रहता है। बादरायण के ब्रह्म-सूत्र मे वेदो के, विशेपतः उपनिपदो के, दार्शनिक विचारो का सग्रह है, तथा उन्हे एक सुव्यवस्थित रूप दिया गया है। वेद तथा उपनिपद् के दार्शनिक विचारो के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं उनका समाधान भी ब्रह्म-सूत्र मे किया गया है। ब्रह्म-सूत्र ही वेदान्त का सबसे पहला क्रम-बद्ध ग्रन्थ है। इसी तरह मीमासा के लिये जैमिनि ने, न्याय के लिये गौतम ने, वैशेषिक के लिये कणाद ने, योग के लिये पतंजलि ने सूत्र-ग्रन्थो की रचना की है। कपिल साख्य-दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं।

भारतीय दर्शनों के प्रकार

भारतीय दर्शनों के प्रकार, संख्या तथा उनके क्रम को किसी नियत सिद्धान्त के अनुसार विभाजित नही किया जा सकता। इस देश में दर्शन की जिन विभिन्न शाखाओ या सम्प्रदायो का विकास हुआ—उसके आधार पर भी दर्शनों की संख्या निर्धारित नही की जा सकती। सामान्यतया तीन नास्तिक दर्शन—(चार्वाक, बौद्ध तथा जैन) तथा ६ आस्तिक दर्शनो (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त) भारतीय दर्शनो के मुख्य प्रतिनिधि दर्शन हैं।

भारतीय दर्शन के मूल तत्व तथा विशेषताएँ

प्राचीन भारतीय दर्शन भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर हैं और इसके अध्ययन से हम गौरवान्वित होते है। वस्तुत दर्शन एक बहुत ही कठिन विषय है। इसमे इतिहास की अटकलबाजी लगाने या मात्र वैज्ञानिकता का ढोल बजाने से कुछ भी नही जाना जा सकता। दर्शन मे जीवन के मूल्यो के सम्बन्ध मे व्यवस्थित चिन्तन किया जाता है। जहाँ जीवन के यात्रा के साधनो को जुटाने के लिये विज्ञान की उपयोगिता है, वहाँ जीवन को दिशा और उद्देश्य देने के लिये दर्शन आवश्यक है। भारतीय दर्शन अपने आदि काल से ही जीवन के चरम लक्ष्य और प्रयोजन की खोज करता चला आया है। इस सन्दर्भ में, भारतीय दर्शन के तत्वो तथा विशेषताओ को निम्नलिखित रूप से निर्दिष्ट कर सकते है :—

१ आध्यात्मिक खोज—भारतीय दर्शन मे दो प्रमुख क्षेत्रो से सम्बन्धित विषयो पर विशेष विचार हुआ है—एक क्षेत्र अध्यात्मविद्या अथवा मोक्ष शास्त्र है और दूसरा ज्ञान-मीमासा अथवा प्रमाण शास्त्र है। दोनो ही क्षेत्रो मे भारतीय दर्शन ने नितान्त सूक्ष्म और विविध चिन्तन किया है जिसका, विश्व-सस्कृति की पृष्ठभूमि मे, विशेष महत्व और विशिष्ट स्थान है।

२. **मोक्षवाद**—भारतीय दर्शन का उदय मुख्यत आध्यात्मिक जिज्ञासा मे हुआ। धर्म-ग्रन्थ बतलाते है कि जीवन का ध्येय मोक्ष है, लेकिन मोक्ष का स्वरूप और उसके उपाय क्या है, यह दर्शन बतलाता है। यही नही, प्रत्येक दशन मोक्ष-तत्व की अलग व्याख्या देता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जहाँ मोक्ष की अवधारणा के सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनो के अलग-अलग मत हैं, वहाँ वे मोक्ष की साधना अर्थात् मोक्ष की ओर बढ़ने वाले सन्त-जीवन के सम्बन्ध मे, बहुत कुछ एक-सा मत रखते हैं। मोक्ष का पारिभाषिक अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा। भारतीय दर्शन का विश्वास है कि जब तक, प्रत्येक नये जन्म मे, शरीर से सम्पर्क हैं, तब तक दु:ख-निवृत्ति नही हो सकती।

३. **आत्मा सम्बन्धी कल्पना**—भारतीय दर्शनो मे आत्मा की कल्पना बड़ी सूक्ष्म और भव्य है। ईसाई धर्म तथा इस्लाम मे ईश्वर को आत्मा का स्रष्टा बताया जाता है; ईश्वर आत्मा को नष्ट भी कर सकता है। किन्तु भारतीय दर्शनो के अनुसार आत्मा अनादि, अजर और अमर है। अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य अपने शरीर आदि मे ममत्व-बुद्धि रखने लगता है, यही बन्धन है। दुनिया की वस्तुओ मे आसक्ति इसी ममत्व-बुद्धि का परिणाम है, क्योकि वस्तुओ की जरूरत शरीर और मन को ही होती है।

४. **मुक्ति**—मुक्ति का अर्थ है पुरुष की अपने स्वरूप मे अवस्थिति। साख्य तो पुरुष से भिन्न ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता स्वीकार ही नही करता। योग दर्शन मे ईश्वर का उल्लेख है, पर

वह ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है। अद्वैत वेदांत में आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार मल-रूप कर्म पुद्गल से पूर्णतया अलग हो जाना ही जीव की मुक्ति है। मुक्त जीव विशुद्ध चैतन्य-रूप, सर्वज्ञ, अनन्त वीर्ययुक्त और स्वयं में सुखी होता है। बौद्ध धर्म मे निर्वाण की दो कल्पनाएँ है। हीनयानी दर्शनो के अनुसार निर्वाण का अर्थ पचस्कन्धो का निरोध (प्रति-संख्या-निरोध) है, इसमे योग की क्रियाएँ विशेप सहायक होती है। पाली पिटको मे वुद्ध यह कहते पाये जाते है कि निर्वाण न अस्ति-रूप है, न नास्ति-रूप, निर्वाण का भापा मे वर्णन सम्भव नही है। जीवन के दु:खो की—राग, द्वेप और मोह की—समाप्ति ही निर्वाण हे। भारतीय दर्शनो के अनुसार शरीरादि से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान राग, द्वेप आदि दोपो को हटाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनात्मा को मायामय जानकर, उसमे आत्मा के अध्यास का परित्याग कर, आत्मा अपने स्वरूप को पहचानती और मुक्त होती है।

मुक्ति की धारणा भारतीय धर्म-दर्शन की सवसे महत्वपूर्ण देना है। आध्यात्मिक सत्य केवल वुद्धि द्वारा जानने अथवा श्रद्धा द्वारा स्वीकार करने की चीज नही है, उसकी सार्थकता इसी मे है कि वह हमारे जीवन को प्रभावित करे। भारतीय दर्शनो का यह दावा हे कि अपने इसी जीवन मे शान्ति-लाभ करके हम आध्यात्मिक सत्य को प्रमाणित कर सकते है।

५ कर्म तथा ज्ञान का समन्वय—भारतीय दर्शनो के अनुसार सकाम कर्म ही वन्धन के हेतु होते है। कई पाश्चात्य लेखको ने भारतीय संस्कृति पर यह अभियोग लगाया हे कि यह सस्कृति जीवन-निपेधक और पलायनवादी है। भारत के विचारक जगत् को मिथ्या घोपित करते हुए जीवन और जगत् से वैराग्य की शिक्षा देते है, वे यह प्रेरणा नही देते कि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन को सुखी और सक्षम वनाये तथा इतिहास के निर्माण मे योग दे। इस अभियोग मे आशिक सचाई है। भारतीय दर्शन कर्म और कर्म-फल को वन्धन-रूप या वन्धन का हेतु मानता है। सव प्रकार के कर्मों के फल से छुटकारा पाये विना मुक्ति सम्भव नही है। कर्म का आधार अनात्मा मे आत्मा, आत्मा में अनात्मा का अध्यास है, जो मोक्ष का विरोधी है। कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयत्न भगवद्गीता मे किया गया है। गीता के अनुसार सकाम कर्म ही वन्धन का हेतु होता है, अत. मनुष्य को निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए।

६. भौतिक तथा पारलौकिक सुख का समन्वय—भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करना भारतीय दर्शन की आधारभूत विशेपता है। प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन मे पुरुपार्थ-चतुष्टय को प्रमुख स्थान दिया गया तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना में जीवन के कर्त्तव्यो को वाँधा गया। पुरुपार्थ चतुष्टय की साधना से ही अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति भारतीय जीवन दर्शन में विभिन्न दृष्टिकोणों से अभिव्यक्त की गई है। भारत मे न तो पूर्णरूप से भौतिकता को नकारा गया और न ही मात्र आध्यात्मिक जीवन को ही महत्व दिया गया। इन दोनो के मध्य समन्वय स्थापित करने की चेष्टा मे भारतीय दर्शन का विकास हुआ।

७. दर्शन तथा धर्म का गहरा सम्वन्ध—भारत मे दर्शन और धर्म को एक दूसरे का पूरक माना गया है। एक के विना दूसरे को अपूर्ण मानते हुए इन दोनो का जीवन से अति घनिष्ट सम्वन्ध स्वीकार किया गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन का उद्देश्य सर्वांगपूर्ण जीवन की संभावनाओं के विपय मे चिन्तन करना था।

८. चिन्तन का महत्व—मनुष्य अपने समस्त कार्यो का सम्पादन सोच-विचार कर करता

है। इस कारण उसके मन में विषयों के प्रति निरन्तर जिज्ञासा होती रहती है। जिज्ञासा से चिन्तन उत्पन्न होता है और चिन्तन द्वारा जिज्ञासा का समाधान होता है। वृहदारण्यकोपनिषद मे याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी संवाद मे आत्मतत्व के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं— "अयमात्मा द्रष्टव्य. मन्तव्य निदिध्यासितव्य"— अर्थात मनुष्य को आत्मतत्व का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। चिन्तन द्वारा अनुभूत ज्ञान ही दर्शन है।

९. **आध्यात्मपरकता**—केवल चार्वाक दर्शन को छोड कर शेष सभी भारतीय दर्शनो का उद्देश्य आध्यात्मिक जगत के रहस्यो का उद्घाटन करना है। उपनिषदों मे आध्यात्मिक जगत के विषय में उत्कट जिज्ञासा के दर्शन होते है। आत्मा क्या है? वह नित्य है अथवा अनित्य? वह एक है अथवा अनेक? आत्मा-परमात्मा का क्या सम्बन्ध है? आदि समस्याओ का समाधान भारतीय दर्शन का आधारभूत विषय है।

१०. **परलोक तथा पुनर्जन्म के प्रति आस्था**—भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शन पुनर्जन्म और परलोक पर आस्था और विश्वास व्यक्त करते हैं। इसलिए यहाँ के मनुष्य तथा दर्शन नैतिकता का विशेष ध्यान रखते है। इस नैतिकता के मूल मे यह आस्था निहित है कि इस सृष्टि के मूल मे एक शक्ति अपना कार्य सचालन करती रहती है। वह मानव के शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य सभी प्रकार के कर्मो की व्यवस्था करती है।

११ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय-दर्शन पर आक्षेप लगाते हुए, इसे निराशावादी दर्शन कहते है, किन्तु उनका यह आक्षेप एकागी है। वेदान्त का ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, इस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न निराशावादी नही कहे जा सकते है। गौतम बुद्ध ने ससार से विरक्त होकर भी ससार के कल्याण के लिए ही प्रयत्न किये थे। भारतीय-दर्शन सर्वथा आशावादी है,

उपनिषदों का दर्शन

दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्या है कि जीवन क्या है? अथवा, विश्व का तत्व क्या है? इन प्रश्नो का कोई बँधा-बँधाया उत्तर स्वीकार नही किया जा सकता। आध्यात्मिक यथार्थ सत्ता का अनुभव करना और ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सर्वोच्च देववाद अथवा एकेश्वरवाद इन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त कराने मे तथा वैदिक विचारकों को अन्तिम रूप से सन्तुष्ट करने मे असमर्थ रहा। जिज्ञासा, अविश्वास और संशय की इन प्रवृत्तियो से ही दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है। एक ओर तो इनसे एक सर्वोच्च सत्ता की कल्पना हुई, किन्तु यह एकेश्वरवाद भी प्रश्नो का पूर्ण समाधान न कर सका। यदि एक सर्वोच्च देव के नीचे सभी देवो को मान ले तो भी प्रश्न उठते हैं—"प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा?" "कौन इसे जानता है?" "कौन बतायेगा?" "कहाँ से वह पैदा हुआ?" "कहाँ से आया?" स्वयं देवता भी इसके बन जाने के बाद आये हैं, फिर कौन जानता है कि यह कहाँ से आया? उपनिषदो मे आध्यात्मवाद का विकास इसी प्रकार के चिन्तन से हुआ।

उपनिषदों की पृष्ठभूमि

कर्म प्रधान वैदिक धर्म जब जटिल और हिंसा प्रधान हो गया तो तत्कालीन विचारकों ने उसका विरोध प्रारम्भ कर दिया। अनेक दार्शनिको ने पुरोहितो द्वारा बताये गये भोगवादी, स्वार्थपूर्ण तथा आडम्बरयुक्त कर्मकाण्ड को हेय बताया। इसके परिणामस्वरूप कर्मकाण्ड का जन्म

हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद थे। उपनिषदों में भारतीय दर्शन पद्धति की पराकाष्ठा है। इनमें नवीन खोजों तथा नये चिन्तन के अनेक परिणाम हैं।

वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग था, अतः वेदो में आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्म-फलवाद की कोई चिन्ता नही है। यद्यपि वेदों में आत्मा और शरीर की पृथकता का विचार है परन्तु उनमे आत्मा के आवागमन की वात नही कही गई है। इन विपयों पर उपनिपदों द्वारा भरपूर प्रकाश डाला गया। वेदो के आनन्दमय और प्रेममय जीवन में निरानन्द और उदासी, चिन्ता और भय का उदय उपनिषदो की रचना के वाद हुआ। उपनिपदो द्वारा ही सर्वप्रथम जन्म, मरण, सन्यास, वैराग्य आदि पर गम्भीर चिन्तन किया गया।

'उपनिपद्' शब्द का अर्थ

'उपनिपद्' शब्द 'उप' एवं 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगा कर बना है। 'सद्' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का' अर्थ है 'निश्चयपूर्वक'। इस अर्थ के अनुसार 'उपनिपद' शब्द से निकलने वाले अर्थ हैं—वह विद्या, या शास्त्र या विपय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से 'अविद्या' का निश्चित रूप से नाश हो, जो मोक्ष की इच्छा करने वाले को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे; और जो संसार के वन्धनो को शिथिल कर दे। ये सभी अर्थ वस्तुतः एक ही विपय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन करते हैं।

उपनिपदो मे 'अविद्या' के नाश के उपाय कहे गये हैं, और 'विद्या' या 'परब्रह्म' या 'परमात्मा' के स्वरूप का निरूपण है उपनिपद के ध्येय विपय हैं। किस प्रकार उस परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है तथा दु ख की चरम निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उपनिपद् की वातों की शिक्षा देने वाले आचार्य ब्रह्मज्ञानी थे तथा शिष्य ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थे। ये सभी वातें कठोपनिपद् मे यमराज एवं नचिकेता के कथोपकथन से स्पष्ट होती है।

उपनिषदों का वर्गीकरण

ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों की तरह उपनिपद भी भिन्न-भिन्न संहिताओ से सम्वद्ध हैं। यद्यपि परम लक्ष्य एक ही है, वहाँ तक जाने का मार्ग भी एक ही है, तथापि उस परब्रह्म परमात्मा के अनन्त रूप होने के कारण अनन्त प्रकार से भक्तो की दृष्टि उन पर पड़ी। अतएव दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक, हर वात मे ऋग्वेदीय, सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय विभाग हो गये। न केवल कर्मकाण्ड में, अपितु, ज्ञानकाण्ड मे भी दृष्टि-भेद हो गये। अतएव ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों की तरह ऋग्वेद के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के विचार वाले उपनिषद 'ऋग्वेदीन उपनिषद्' कहे जाने लगे, इसी प्रकार सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय उपनिषदों का भी वर्गीकरण हो गया।

इसी परम्परा के अनुसार 'ऐतरेय' तथा 'कौपीतकि' ऋग्वेद उपनिषद् है; 'तलवकार' या 'केन' तथा 'छान्दोग्य' सामवेदीय; 'संहिती', 'वारुणी', 'महानारायण', 'कठ', 'श्वेताश्वतर' तथा 'मैत्रायणी' कृष्ण-यजुर्वेदीय; 'वृहदारण्यक' तथा 'ईशावास्य' शुक्ल-यजुर्वेदीय उपनिषद् है। अथर्ववेद के लगभग सत्ताईस उपनिपद है जिनमे 'मुण्डक', 'प्रश्न', 'माण्डूक्य' तथा 'जावाल' विशेष महत्व

के हैं, परम्परा से अनेक उपनिषदो के होने पर भी, केवल 'ईश', 'केन', 'कठ', 'प्रश्न', 'माण्डूक्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय', 'छान्दोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' ही दस मुख्य एवं प्राचीन उपनिषद माने जाते है। सब मे एक मात्र तत्व 'ब्रह्म' का प्रधान रूप से वर्णन है।

उपनिषदों का दर्शन

वेदो के तीन प्रमुख भाग है—कर्म, उपासना तथा ज्ञान। ब्राह्मण तथा संहिताओ मे कर्म विषय का प्रतिपादन हुआ, संहिता एव आरण्यको मे उपासना का वर्णन किया गया, तथा उपनिषदो मे मोक्ष का साधन बताते हुए विद्या का प्रतिपादन किया गया।

विद्या—उपनिषद दर्शनानुसार विद्या दो प्रकार की है—परा और अपरा। चारो वेद तथा ६ वेदाग अपरा विद्या है। अपर ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या परा है। उपनिषद ग्रन्थ परा विद्या को ब्रह्मविद्या मानते हुए, श्रेष्ठ विद्या मानते है। अपरा विद्या मुक्ति का कारण नही हो सकती, परन्तु परा विद्या मोक्षदायिनी है। फिर भी अपरा विद्या द्वारा परा विद्या के ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

विद्या-अविद्या—ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या कहते है। 'मुण्डकोपनिषद' मे कहा गया है कि अविद्या मे लिप्त अज्ञानी पुरुष अहंकारी हो जाते है। रागासक्त होने के कारण वे विद्या को नही जान पाते। अविद्या से घिरे ये लोग इस प्रकार का व्यवहार करते है जैसे 'अन्धे को अन्धा ले जा रहा हो' (अन्धनेव नीवमान यथान्धा)। जो पुरुष केवल अविद्या कर्म की उपासना करते है वे सासारिक अज्ञान मे प्रवेश करते है। पुरुष के लिये यह उचित है कि वह वेदविहित कर्मो को करते हुए आत्मज्ञान (विद्या) के लिये यत्न करे। जो पुरुष विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्मानुष्ठान) दोनो को एक साथ जानता है वह मृत्यु को दूर करके मोक्ष प्राप्त करता है, अर्थात अविद्या को त्याग कर विद्या को प्राप्त करता है।

प्रकृति या माया—उपनिषदो के अनुसार जगत का अस्तित्व प्रकृति से है और प्रकृति ब्रह्म की माया है। प्रकृति माया के रूप मे जगत के कार्यो का सचालन करती है। प्रकृति जिन तत्वो द्वारा स्वय को अभिव्यक्त करती है, वे है—(१) चार देहधारी-उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज, (२) पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक, हस्त, पाद, वायु और उपस्थ, (३) नौ ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, वृक्, मन, बुद्धि, चित्त और अहकार, तथा (४) विषय।

आत्मा—उपनिषदो मे आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन माना गया है। मुण्डक उपनिषद मे कहा गया है—"जिसमे द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणो सहित मन ओत-प्रोत है, उस एक आत्मा को ही जानो, और सब बातो को छोड दो।······यह आत्मा सदैव सत्य, तप, सम्य ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्तव्य है।" नचिकेता को उपदेश देते हुए, कठोपनिषद मे यमराज ने आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है—"यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मती है और न मरती है। न यह किसी दूसरे से उत्पन्न हुई है और न कोई दूसरा ही उससे उत्पन्न हुआ है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नही मरती।······यह शरीर रथ है, आत्मा रथ का स्वामी रथी नाम से कहलाता है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द स्पर्शादि विषय उनके दौड़ने की भूमि है। इस शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते है।"

ब्रह्म का स्वरूप—उपनिषद दार्शनिक परम्परा में ब्रह्म को सत्, ज्ञानमय, ज्ञेय तथा निर्गुण-सगुण (ऐक्य) माना गया है। ब्रह्म के सत् स्वरूप के अनुसार उसे सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त, शुद्ध और चैतन्य कहा गया है। वही सब का आत्मा है, उसी से जगत की उत्पत्ति हुई है, उसी से यह स्थिर है और उसी मे इसका विलय हो जाता है। ब्रह्म के ज्ञानमय स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म का स्वरूप विज्ञानमय और आनन्दमय है। वह अन्तस्थ, कूटस्थ, नित्य और विभु है तथा उसको विवेक द्वारा ही जाना जा सकता है। उपनिषदो मे ब्रह्म को ज्ञाता कहा गया है। ब्रह्म को ज्ञाता का ज्ञान बताते हुए यह प्रमाणित किया गया है कि उसके द्वारा ही सब कुछ देखा जा सकता है। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण स्वरूप में एकता स्थापित किया जाना, उपनिषदो की देन है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से दार्शनिक साम्यवाद कहा जा सकता है। उपनिषद दर्शन के अनुसार सगुण तथा निर्गुण अथवा अपर ब्रह्म की शक्तियाँ अनन्त है। एक अगोचर है तथा दूसरा सगोचर। दोनो मे कोई बडा नही है। परिणाम तथा फल मे दोनो ही समान है। दोनो एक रूप है। स्वरूप, विचार, कर्म आदि किसी भी दृष्टिकोण से इन दोनो मे अनेकता अथवा भिन्नता नही है।

जीव और आत्मा—जीव और आत्मा का भेद स्पष्ट करते हुए, उपनिषदो मे कहा गया है कि जीव वैयक्तिक आत्मा है और आत्मा परम-आत्मा है। मुण्डक उपनिषद मे स्पष्ट करते हुए उल्लेख है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी सखा और सहचर के रूप मे रहते है। उनमे से एक खाता है दूसरा कुछ नही खाता। फल को खाने वाला जीव है और न खाने वाला आत्मा है। जीव की चार अवस्थाएँ निर्धारि करते हुए कहा गया है कि 'जाग्रत अवस्था' मे जीव संसार कहलाता है। 'स्वप्नावस्था' मे वह तैजस कहलाता है, 'सुस्वप्नावस्था' मे वह प्राज्ञ कहलाता है और 'तुरीय अवस्था' में वह आत्मा हो जाता है। जीव का आत्मा हो जाना ही ब्रह्म है। जीव का लक्ष्य इसी तक पहुँचना है।

ब्रह्म और जगत—मुण्डकोपनिषद मे ब्रह्म और जगत का सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है "जिस प्रकार मकडा अपने अन्दर से तन्तु निकाल कर जाल बनाता है और फिर तन्तुओ को अपने मे समेट लेता है, जिस प्रकार बिना प्रयत्न के पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और उसी में लीन हो जाती है, और जिस प्रकार बिना चेष्टा किये पुरुष के केश और रोम उत्पन्न होते है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति होती है।" इस प्रकार ब्रह्म अनन्त है और जगत उसका अंश है।

बन्धन तथा मोक्ष—उपनिषदो का मन्तव्य बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना है। उपनिषदो की दार्शनिक मान्यतानुसार अनेक प्रकार के बन्धनो से जकड़ा जीवन दुख मूलक है। जन्म और मृत्यु के चक्र बन्धन से मुक्ति दिलाने का साधन उपनिषदो मे प्रतिपादित विद्या है। 'ईशावास्योपनिषद' मे बन्धन से मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हुए कहा गया है कि वेदनिहित कर्मोपासना से मृत्यु का संतरण और विद्या से अमृत्व की प्राप्ति होती है। जो इस विद्या (ज्ञान) को जानता है वह ऐसे परम पद को प्राप्त करता है जहाँ से लौट कर फिर उसे बन्धन मे बँधने के लिये जन्म नही ग्रहण करना पडता।

निष्कर्ष

उपनिषदो के दर्शन की उपरोक्त विवेचना द्वारा हमें इस निष्कर्ष की प्राप्ति होती है कि इस दार्शनिक व्यवस्था द्वारा ब्रह्मा की सत्ता, जगत ब्रह्म का सम्बन्ध, ब्रह्म -जीवात्मा का स्वरूप,

ब्रह्म की उपलब्धि का मार्ग, ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का रहस्य तथा ब्रह्म से साक्षात्कार करने का परिणाम स्पष्ट किया गया है। उपनिपदो के निरीक्षण द्वारा अग्रलिखित प्रवृत्तियो का भी वोध होता है—(१) आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति, (२) तात्विक ज्ञान की प्रवृत्ति, (३) श्रेय. और प्रेय: का विवेक, (४) मृत्यु, पुनर्जन्म, और अमृत्व प्राप्ति का विचार तथा (५) वैराग्य और सन्यास की प्रवृत्ति।

सृष्टि-प्रक्रिया—उपनिपदो मे सृष्टि की प्रक्रिया भी वर्णित है। इसके अनुसार सृष्टि के आदि में कुछ भी नही था। केवल मृत्यु थी। वाद को मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और अन्त मे प्रजापति की सृष्टि हुई। इसके पश्चात् सुर और असुर हुए। यह भी कहा गया है कि सवसे प्रथम पुरुप का और वाद को स्त्री का स्वरूप उत्पन्न हुआ और इन दोनो से विश्व की सृष्टि हुई। इसी वात को 'द्यावा-भूमि जनयन् देव एक.' कहा गया है। आकाश से सृष्टि होती है और उसी मे जगत् का लय भी होता है। इस प्रकार अनेक रूपो मे सृष्टि का वर्णन है। सभी के अध्ययन से यही मालूम होता है कि सवसे पहले एक अव्यक्त रूप था और उसी से व्यक्त रूप मे जगत् की सृष्टि हुई है। यह अव्यक्त रूप ही तो 'परब्रह्म' है और समस्त जगत् इसी से उत्पन्न होता है एवं अन्त मे इसी मे लय को प्राप्त करता है। अतएव ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उत्पादन दोनो कारण है।

कर्म विचार—उपनिपदो मे भी कर्म की गति का सविस्तार वर्णन है। 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग का वर्णन है। पुण्य-कर्मों से अच्छी योनि मे तथा पाप-कर्मों से कुत्सित योनि मे जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

विवेचना

यह उल्लेखनीय हे कि उपनिपदो मे ब्रह्म तथा जीव और जगत के सम्बन्ध मे विभिन्न स्थानो पर विभिन्न प्रकार के विचार मिलते है। इन्ही के आधार पर वाद मे अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय बन गये। भारतीय संस्कृति को उपनिपदो की देन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इनका प्रभाव भारत के प्राय सभी दर्शनो पर पडा। उपनिपद् ही वेदान्त-दर्शन के मूल है। उपनिपदो का ही सार गीता मे मिलता है।

गीता का दर्शन

उपनिपदो द्वारा ज्ञान का विस्तार तो हुआ, परन्तु यह ज्ञान सवके मानसिक स्तर को सुलभ नही हो सका। उपनिपदो के मन्त्र रहस्यपूर्ण थे तथा उन्हे सभी नही समझ सकते थे। अत गीता मे ज्ञान को सभी के लिये सुगम रूप से सुलभ वनाया गया। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश है। अर्जुन बहुत ही पराक्रमी थे। उस समय इनके समान वीर कोई दूसरा नही था। इनमे शक्ति, उत्साह, पौरुप और साधन आदि सभी पर्याप्त मात्रा मे थे। महाभारत के युद्ध मे इनकी जय निश्चित थी। परन्तु अर्जुन मे अभिमान की मात्रा अत्यधिक वढ़ गयी और युद्ध-क्षेत्र मे सुसज्जित रथ पर पहुँचते ही मोह ने अर्जुन को अभिभूत कर लिया। अतएव पौरुपहीन हो कर, अपने अहकार की पराजय मान कर भगवान् के प्रति अर्जुन ने आत्म-

समर्पण किया। उनके प्रिय मित्र अर्जुन ने जब उनके प्रति आत्मसमर्पण किया, अपनी हार मानी, अर्थात् अपने अभिमान का तिरस्कार किया और अपने को उनका शिष्य बताया—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मा त्वाम् प्रपन्नम्',[१] तब भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान का उचित उपदेश दिया। उपदेश का मुख्य विषय तो एक मात्र यह है कि 'मृत्यु' कोई अपूर्व वस्तु नही है। कोई मरता नही है। 'आत्मा' अजर और अमर है। जिस प्रकार पुराने फटे हुए वस्त्र को छोड़कर मनुष्य नवीन वस्त्र को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा जर्जर और अकर्मण्य शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर का ग्रहण करती है और उससे पुनः तत्वज्ञान की प्राप्ति के मार्ग मे आगे बढ़ती है।[२] इन उपदेशो के साथ-साथ और भी अनेक ज्ञान की बाते भगवान् ने अर्जुन से कही। इनके उपदेश को सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया और वे अपने कर्त्तव्य के मार्ग पर आगे बढे।[३] उपदेश सुनने के अनन्तर अर्जुन ने कहा—

'नष्टो मोह. स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥'

गीता का यही साराश है।

गीता मे विभिन्न मार्ग—गीता मे जितने भी मतो, तथा मार्गों का निर्धारण किया गया है, वे सभी समन्वयात्मक है। गीता मोक्ष-प्राप्ति के किसी मार्ग का तिरस्कार नही करती। इसके विपरीत उसने सभी मार्गों की प्रशंसा की है। किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है। फलतः हर मार्ग के साथ गीता कर्मयोग को जोड देती है।

गीता और योग—गीता मे 'योग' की पारिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है। 'समत्व का ही नाम योग है'। 'कर्मों मे कुशलता को ही योग कहते है' (योगः कर्मसु कौशलम्), आदि। गीता के योग शब्द का सामान्य अर्थ अपने को लगाना या जोड़ना है। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ अपने को सामाजिक कर्त्तव्यो की पूर्ति मे लगाना। फलाकाक्षा न रखकर कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करने का नाम ही कर्म-योग है। किन्तु गीता को उस योग से कोई द्वेष नही है, जो समाधि का साधन या समाधि-रूप है। छठे अध्याय मे तो इस प्रकार के योगी को तपस्वियो से, कर्म-काण्डियो से और ज्ञानियो से भी श्रेष्ठ कहा गया है। 'एकान्त मे मन और इन्द्रियो की क्रियाओ को रोककर, सिर, ग्रीवा और शरीर को अचल स्थिर करके, शान्त होकर, चित्त की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए।' 'पाप-रहित होकर जो नित्य योगाभ्यास करता है उसे ब्रह्म-सस्पर्श का आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है।' परन्तु ऐसे योगी को भी कर्म का अनुष्ठान छोड देना चाहिए, यह गीता की सम्मति नही है। अर्जुन को योगी बनना चाहिए (तस्माद्योगी भवार्जुन), परन्तु इसका अर्थ युद्ध से विरक्ति नही है। यह योगनिष्ठा ही कर्म योग है।

गीता और ज्ञानमार्ग—ज्ञान मार्ग या ज्ञान निष्ठा को साख्य निष्ठा या कर्म सन्यास भी कहा जा सकता है। अपने समस्त कार्यो, इच्छाओ और अपने आप को अभिमान-रहित होकर, उस परमेश्वर मे मिला देना ही ज्ञान मार्ग का अनुसरण है। ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही गीता का उद्देश्य है। ज्ञान से बढकर पवित्र करने वाला कुछ भी नही है (न हि ज्ञानेन सदृशं

---

१. गीत, २-७। २. गीता, अध्याय २। ३. गीता, १८-७३।

पवित्रमिह विद्यते); ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती है (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन)। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता-सूँघता-खाता हुआ, साँस लेता हुआ और सोता हुआ हमेशा यह समझता है कि मै कुछ नही करता; प्रकृति के तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं। भक्तो में भगवान् को ज्ञानी भक्त सबसे प्रिय हैं। सारी इच्छाओ को छोडकर ममता और अहंकार-रहित पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है। यह ब्राह्म स्थिति है, इसे प्राप्त करके मनुष्य का मोह नष्ट हो जाता है, लेकिन ऐसे नि स्पृह ज्ञानी को भी गीता के मत मे, कर्मत्याग करने का अधिकार नही है। भगवान् कृष्ण कहते है कि उन्हे संसार मे कुछ करना शेष नही है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नही है, तो भी वे लोगो के सामने उदाहरण रखने के लिए लोकसंग्रहार्थ कर्म करते है।

कर्म योग

गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म योग है, फलत. गीता जगह-जगह, अनेक रूपों में उसकी शिक्षा देती और उसका समर्थन करती है। इस सम्बन्ध मे गीता की पहली मान्यता यह है कि समस्त कर्मों का त्याग सम्भव नही है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्म कृत्
कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै ॥

क्षण भर के लिए भी कोई बिना कर्म किये नही रह सकता। प्रकृति के गुणो द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करने पडते है। कर्म किये बिना जीवन-रक्षा या शरीर-निर्वाह भी नही हो सकता। दूसरे, यदि सब कर्म करना छोड दे तो सृष्टि-चक्र का चलना बन्द हो जाय। 'यज्ञ-सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ने कहा—इससे तुम देवताओ को सन्तुष्ट करो, देवता तुम्हारी इच्छाएँ पूरी करें। कर्म वेद से उत्पन्न हुए है, और वेद ब्रह्म से; इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ मे प्रतिष्ठित है। जो ब्रह्मा के प्रवर्तित इस चक्र का अनुसरण नही करता, वह पातकी है। जो सिर्फ अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते है।' कतिपय कर्मो का त्याग न करने के पक्ष मे गीता ने तीसरा हेतु भी यह दिया है कि यज्ञ, दान और तप से सम्बद्ध कर्म विद्वानो को पवित्र करने वाले होते है। गीता के अनुसार ये कर्म सदैव करणीय है। 'शरीर से, मन से, बुद्धि से और सिर्फ इन्द्रियों से भी योगी लोग आसक्ति को त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है।'

'गीता' के कर्म सिद्धान्त से परिचय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन की उक्तियों का जानना आवश्यक है। 'गीता' में एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, "हे अर्जुन, युद्ध करने से गुरुजन, स्वजन आदि आत्मीयो की हिंसा करनी पड़ेगी और उससे पाप होगा, इस भय से धर्मयुद्ध मे प्रवृत्त होने के लिये तुम्हे संकोच हो रहा है, यह उचित नही है, क्योकि सुख दुःख लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर युद्ध मे प्रवृत्त होने से तुम पाप के भागी न बनोगे।"

सुखदु.खे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह बात केवल आश्वासन देने मात्र के लिए नही कही थी, बल्कि सुख-दुःख, पाप-पुण्य के एकमात्र निर्णेता भी वे स्वयं थे। निष्ठावान् कर्मयोगी के लिये श्रीकृष्ण ने

जो परमोच्च स्थान निर्धारित किया है उसको जान कर सहज ही में 'गीता' के कर्मरत् मार्ग की फल प्राप्ति का रहस्य समझ मे आ जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा है, 'शास्त्रोक्त, काम्य या (विहित) नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य, सभी कर्मों को जो भी व्यक्ति सर्वदा मुझसे आश्रित होकर करता है, वह मेरी कृपा से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त करता है।' उन्होंने अन्यत्र कहा है, 'सब कर्मों का फल मुझमे संन्यस्त करके अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुये जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ मुझ मे आश्रित अपने उन भक्तो को मैं शीघ्र ही इस मरणशील संसार सागर से पार कर देता हूँ।''

कर्मयोगी का कर्त्तव्य—यही 'गीता' के कर्मयोग की विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग 'गीता' का मुख्य विषय है, जिसको श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम विवस्वान् से कहा है।

इमं विवस्वते योगप्रोक्तहवानमव्ययम्।

उसी कर्मयोग को उन्होने अर्जुन से कहा और अर्जुन को यह निर्देश दिया कि वह प्रतिफल मेरा स्मरण कर धर्मयुद्ध में प्रवृत्त हो जाये—

तस्मात्सर्वेपु कालेपु मामनुस्मर युध्यच।

कर्मयोगी की अवस्था—'गीता' के कर्मयोग का नायक अर्जुन, श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि जो पहले सकीर्ण सुख-दु.ख के बन्धनो से जकडा था उसी के मुँह से अठारहवे अध्यय मे कहा गया यह श्लोक 'गीता' के कर्मयोग को कितने प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युनः।
स्थितोऽस्मि गनसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

अर्थात् ''मेरी विपरीत बुद्धि अव नष्ट हो चुकी है, पूर्व स्मृति' जग चुकी है। हे अच्युत, तुम्हारे ही अनुग्रह से मुझे यह लाभ हुआ है। अव कर्त्तव्य के विपय मे मेरे सव सन्देह दूर हो चुके है, मैं स्थिर चित्त हो गया हूँ। अव से मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारे उपदेश के अनुसार ही कर्ममार्ग मे प्रवृत्त होऊँगा।''

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्त्तव्यनिष्ठ रहने के लिये जो उपदेश दिया था उसको सुनकर अर्जुन के सब शोक, मोह नष्ट हो गये और स्थितप्रज्ञ होकर वह कर्त्तव्य का अनुसरण करने के लिये कटिवद्ध हो गया। भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति कहा गया यह सदुपदेश ही 'गीता' का मर्म हे। श्रीकृष्ण का उद्देश्य था अर्जुन को कर्मपथ पर लाकर खडा कर देना।

भक्ति, ज्ञान और कर्म—कर्म के महत्व को वताने के लिये 'गीता' मे वडी सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया गया है। 'गीता' ब्रह्मविद्या है, क्योकि वह सव उपनिपदो का सार है। जिस साधन के द्वारा उस ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार किया जा सकता है उस योग का भी गीता में प्रतिपादन है। इसी हेतु 'गीता' को, प्रत्येक अध्याय के अन्त मे 'योगशास्त्र' से अभिहित किया गया है। गीता का यह योग तीन तरह से कहा गया है—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। योग के ये तीन अंग ब्रह्म तत्व के साक्षात्कार के लिये असाधारण एवं अभिन्न अंग है।

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणा श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपयोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

एक ही तत्व के तीन खंड होने के कारण प्रकृत रूप से उनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के विना दूसरे की स्थिति नही है। ज्ञान तथा भक्ति से निरपेक्ष कर्म, कर्म तथा ज्ञान से निरपेक्ष भक्ति, और कर्म तथा भक्ति से निरपेक्ष ज्ञान फलप्रद नही होते। इसलिये 'गीता' को प्रवृत्ति प्रधान और निवृत्ति प्रधान शास्त्र कहा गया है।

'गीता' का कर्म योग बताता है कि जब तक मनुष्य मे जीवन है तब तक उसको संकल्प का परित्याग करके कर्म करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार के लिये कोई उत्तम साधन दूसरा नही है। 'गीता' की यह कर्मदृष्टि महान् और सर्वाङ्गीण है। 'गीता' का यह कर्मयोग जितना उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है। क्योकि उसमे बताया गया है कि प्रत्येक कर्मयोगी को सबसे पहले अजेय प्रभुशक्ति सम्पन्न होने के कारण अपने उद्यत प्रियजनो का सहार करना पडता है। अर्जुन न केवल अपने बन्धु-बान्धवो एवं गुरुजनो को ही नष्ट नही किया वल्कि स्वयं भी पुत्रहीन हो गया।

कर्म से मोक्ष प्राप्ति—'गीता' के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उसके अनुसार कर्म-मार्ग पर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के मन से अपने-पराये की भावना मूल से नष्ट हो जाती है। 'गीता' के कर्मयोग के लिये इस प्रकार के अवरोध तो महान् लक्ष्य की प्राप्ति मे सभव ही है। वह महान तथा अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष का। 'गीता' मे मोक्ष-प्राप्ति दो तरह से बताई गई है—(१) ज्ञान या कर्मसन्यास से और (२) कर्मयोग या निष्काम कर्म से। इन दोनो मे भी दूसरा तरीका श्रेष्ठ वताया गया है। गीता का कथन है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान करने से मोक्ष की उपलव्धि नही होती। वह तो ऐसे निष्काम कर्म करने से प्राप्त होती, जिसमे अपने व्यक्तिगत लाभ या कल्याण का कोई स्वार्थ निहित न हो। इस निष्काम कर्म को गीता मे यज्ञ कहा गया है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग समाचरः॥

अर्थात् यज्ञ के निमित्त किये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मो मे लगा हुआ मनुष्य ही कर्मों मे बँधता है। अत. हे अर्जुन, आसक्ति से रहित होकर तू यज्ञ (निष्काम कर्म) के लिये ही कर्म कर। इसलिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—हे अर्जुन, तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्यमुक्त कर्मो को करता जा। अनासक्त होकर कर्म करने वाला पुरुप परमात्मा को प्राप्त करता है—

तस्मादसक्त सतत कार्य कर्म समाचर.।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुप॰॥

यह कर्मश्रृंखला इतनी व्यापक और दृढ है कि उससे न केवल अर्जुन और उसकी भाँति असंख्य जीव बँधे है, वल्कि उसका अनुशासन कर्मो के अधिष्ठाता पर भी है। अपने अधिष्ठाता के ऊपर भी उसका शासन है। 'गीता' की यह कर्त्तव्य महानता वस्तुत. वडी ही सार्वभौम है। गीता का कर्म हमे यह नही वताता कि उपदेष्टा उससे मुक्त रहे, बल्कि वह भी इस कर्मश्रृंखला से आवद्ध है। 'गीता' मे श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, "यदि कदाचित् असावधानीवश मै कर्म का अनुसरण न करूँ तो, हे अर्जुन, सब प्रकार के मनुष्य मेरे आचरण का अनुकरण करने लगेंगे और कर्मच्युत होने से मेरी गणना वर्णसकरो मे की जायेगी और मै सारी प्रजा का विनाशक वन जाऊँगा।"

गीता के कर्म सिद्धान्त की श्रेष्ठता—गीता के उक्त कथन से कर्मयोग की महानता का सहज

ही में स्पष्टीकरण हो जाता है। उसकी महानता का दूसरा भी कारण है। गीता का यह कर्माचरण अपने लिये तो मोक्षदायक है ही, दूसरे के लिये भी कल्याणकारी है। इससे लोककल्याण और लोकसंग्रह भी होता है। इसलिये गीता के कर्मयोग का एक परार्थ दृष्टिकोण यह भी हुआ कि अपने लिये न सही, लोककल्याण के लिये कर्म करने चाहिये। गीता मे कहा गया है 'जनकादि ज्ञानी-जन भी अनासक्त कर्माचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त करते है। इस परमसिद्धि को प्राप्त करने तथा लोकसंग्रह को देखते हुये, हे अर्जुन तुझे भी कर्म करना चाहिये'—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता· जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

कर्म सिद्धान्त का मनोविज्ञान—गीता में स्वभावनियत अथवा सहज कर्मों को करते रहने के लिये जोर दिया गया है। स्वभाव से नियत किये गये कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नही होता। स्वाभाविक कर्म को, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यो न हो, त्यागना नही चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार धुएँ से अग्नि आच्छादित रहती है उसी प्रकार सभी कर्म किसी न किसी दोष से ढँके रहते हैं। स्वाभाविक तथा सहज कर्मभावना के सम्बन्ध मे गीता में कहा गया है, 'कर्मयोगपरायण तत्वविद् कर्म मार्ग मे प्रवृत्त होकर, मैं कुछ भी नही करता हूँ, वलिक परमेश्वर की इच्छानुसार ही सब होता है। इस प्रकार का विचार करे। देखना, सुनना आदि जितनी भी क्रियाये है उनके सम्वन्ध मे यही सोचे कि वे स्वाभाविक रूप से हो रही है। इस प्रकार परमेश्वर के ऊपर सब कर्मों को निर्भर करके कर्मफलो के प्राप्त होने की इच्छा का परित्याग करके जो मनुष्य कार्य करता है वह जल के साथ कमल की भाँति किसी भी पाप से लिप्त नही होता।'

गीता का यह स्वभावनियत कर्म-सिद्धान्त वस्तुत: व्यक्ति के भीतरी गुणों से सम्वन्ध रखता है। व्यक्ति का गुण ही उसका स्वभाव है और उसी से व्यक्ति के कर्त्तव्य का निर्णय होता है। इसी स्वभाव या गुण के अनुसार गीता में प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न कार्य निर्धारित है।

गीता का यह कर्मयोग मनुष्यमात्र के लिये एक जैसा है। स्वाभाविक रूप से सभी अव-स्थाओ में सभी कार्यो का उक्त रीति से अनुष्ठान करना ही वास्तविक कर्मयोग है। यदि व्यावहा। रिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कर्म के विना जीवन-यापन असम्भव है। इसलिए वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक बताया गया है और कहा गया है कि—स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर· ।

यद्यपि अनेक द्विानो ने 'गीता' के कर्मयोग को सद्व्यवहारशास्त्र आदि अनेक नाम दिये हैं, किन्तु उनकी सारी पद्धति पारलौकिक दृष्टि से शून्य है। गीता का कर्मसिद्धान्त पारलौकिक दृष्टि पर आधारित है और उससे समस्त भारतीय धर्मपद्धति का मर्म समझ मे आ सकता है। 'गीता' के कर्मयोग की यही विशेषता है। गीता के कर्म सिद्धान्त की विवेचना से यह भी अर्थ निकलता है कि केवल मनुष्य ही नही वरन् ईश्वर भी कर्म करता है। ईश्वर सव कुछ करते हुए भी किसी कर्म मे आसक्ति नही रखता। वह कर्म के लिये कर्म करता है। इस रूप में जो कर्म किया जाता है वही कर्म वास्तविक है। यही निष्काम कर्मयोग है। गीता मे कहा गया है कि कर्म और अकर्म एक ही हैं। निष्कामता से सभी कर्मों को यन्त्रवत करना और उनसे निर्लिप्त रहना ही कर्मयोग है। जो इसे समझता है वही ब्राह्मण है, पण्डित है, ज्ञानी है। गीता के कर्मयोग मे उपनिषदो का सार है ' अपने कर्म के सिद्धात के कारण गीता को ब्रह्मविद्या माना जा सकता है।

भक्ति मार्ग

गीता ने एक ओर कर्मयोग को ज्ञानमार्ग से जोड़ने की कोशिश की है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग से। हमे अपने कर्त्तव्य कर्म करते हुए उनका फल भगवान को अर्पित कर देना चाहिए। कर्मों का अनुष्ठान एक प्रकार की भगवान् की पूजा है—स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।' तथा 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत्र संसिद्धि लभते नर.।' अपने अपने कर्म मे लगा हुआ मनुष्य सिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है, यदि उसकी यह भावना हो कि वह अपने कर्मों द्वारा भगवान् की अर्चना (पूजा) कर रहा है। इसी मे कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय है। कर्म के साथ जुडी हुई भक्ति-भावना साधक के जीवन को अधिक रसमय और रोचक बना देती है। फलाकाक्षा से रहित कर्म का जीवन कुछ लोगों को नीरस प्रतीत हो सकता है, वैसा जीवन कुछ हद तक निरुद्देश्य भी जान पड़ सकता है। शायद उस तरह का जीवन व्यतीत करना मनुष्य की पुरुषार्थ-भावना के विपरीत है। मनुष्य या तो यह समझकर निष्काम भाव से कर्तव्य-कर्म, या ऊँचे कर्म करे कि वह मनुष्य जाति के इतिहास को आगे बढ़ा रहा है या फिर इस भावना से कि वह भगवान को प्रसन्न करने के लिए कर्म कर रहा है। पहला विकल्प मानववादियो का है, जो ईश्वर और परलोक को नही मानते; दूसरा विकल्प ईश्वर-भक्तो के लिए है। गीता इसी विकल्प की शिक्षा देती है। भगवान् को प्रसन्न करने का उद्देश्य एक ही जीवन को सार्थक, पवित्र और ऊँचा बनाने वाला है—'मेरे लिए ही कर्म करने वाला, आसक्ति-हीन, सब प्राणियो मे वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है' 'अर्जुन! तुम मुझमे ही अपना मन लगाओ, मेरी ही भक्ति करो, मेरे ही लिए यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो।' परम पद के जिज्ञासु को अपने कर्मो के फल की इच्छा कभी न करनी चाहिए। अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिए। यद्यपि 'गीता' मे अन्त मे ज्ञान को ही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है और ज्ञान की ही प्राप्ति से परम पद की प्राप्ति होती है, किन्तु कर्म और भक्ति के विना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। बिना परा भक्ति के ज्ञान भी नही प्राप्त किया जा सकता और यह भी सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म किये विना भक्ति नही मिलती। इन तीनो का परस्पर अति घनिष्ठ और एक प्रकार से अभिन्न सम्बन्ध है।

गीता के अन्य विविध विषय

तीन प्रकार के तत्व—गीता मे तीन प्रकार के तत्वो का वर्णन है—(१) क्षर, (२) अक्षर और (३) पुरुषोत्तम। इस ससार के सभी जड-पदार्थ 'क्षर' है। इसे ही 'अपरा प्रकृति', 'अधिभूत', 'क्षेत्र' और 'अश्वत्थ' भी कहते है। विकारो का, करणो का तथा भूतो का यह मूल कारण है। आकाश आदि पॉच भौतिक परमाणु तथा पॉच तन्मत्राएँ 'विकार' है। मन, अहंकार, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पॉच कर्मेन्द्रियाँ 'करण' कहलाती है। इनके अतिरिक्त इनसे उत्पन्न रोग, द्वेप, सुख, दु ख, परमाणु का सघात, चेतना तथा घृति, ये 'क्षर' है इनमे से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनस्, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भगवान् की 'अपरा प्रकृति' के रूप है।

अपरा प्रकृति—'अपरा प्रकृति' भगवान् के साथ अनादि काल से सम्वद्ध है। इससे बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलय मे समस्त भूत इसी मे लीन हो जाते है और इसी से पुन. सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न होते हैं। इसी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर भगवान् सृष्टि की रचना करते

है। इसीलिए भगवान् ने इस प्रकृति को 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' और अपने को 'अहं वीजप्रदः पिता' कहा है। यह प्रकृति भगवान् की 'माया' से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए भगवान् ने स्वयं कहा है कि अपनी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर अपनी 'माया' की सहायता से मैं संसार मे अवतार लेता हूँ।

परा प्रकृति—'अक्षर तत्व' को 'जीव', 'परा प्रकृति', 'अध्यात्मा', 'पुरुष' तथा 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते है। यह 'अपरा प्रकृति' से ऊँचे स्तर की है और यही जगत् को धारण करती है। भूतो का कारण, भगवान् का अंश तथा मरने पर एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करने वाली और इन्द्रियों के द्वारा विषयो का भोग करने वाली यह भगवान् की दूसरी 'प्रकृति' है। केवल अविद्या के कारण यह तत्व भगवान् से भिन्न दीख पडता है।

माया—गीता मे माया को ईश्वर की दैवी शक्ति माना गया है। यह सदैव ईश्वर के साथ रहती है। 'माया' अचिन्त्य है, अतएव इसे न 'सत्' और न 'असत्' कहा जा सकता है। वेदान्त की भाँति गीता मे माया को अविद्या स्वरूपा नही कहा गया है। माया दृश्य जगत की अधिष्ठात्री है। गीता मे मायामय भगवान के दो भाव वताये गये है—अपराभाव और पराभाव। भगवान वह अपराभाव है जिसके अनुसार वे योगमाया से युक्त होकर जगत को अभिव्यक्त करते है।

उपसंहार

गीता की शैली सीधी और हृदयस्पर्शिनी है। गीता की एक दूसरी विशेपता भी है; वह साधक को उपदेश ही नही देती, उसकी कठिनाइयो से सहानुभूति भी प्रकट करती है। गीता मानती है कि मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है; साथ ही वह बतलाती है कि अभ्यास और वैराग्य से उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है। कुल मिलाकर गीता का दर्शन आशावादी है। 'हे अर्जुन, अच्छे कर्म करने वाला कभी दुर्गति को नही प्राप्त होता', और 'इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।'

गीता की वैचारिक विशेपताएँ उसे हिन्दू धर्म और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रथ वनाती है। उसकी सरल सजीव शैली ने उसे हिन्दुओ का और कुछ हद तक विश्व भर के साधको का, लोकप्रिय ग्रथ बना दिया है। गीता का विशेप महत्व उसकी मौलिक विवेक-दृष्टि के कारण है। उसमे समन्वय की वह प्रवृत्ति भी पायी जाती है जो हिन्दू धर्म की निजी विशेषता है 'कर्तव्य-अकर्तव्य के मामले मे तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है', गीता की यह उक्ति आज के प्रगतिकामी विचारको को पसन्द आने वाली नही है। हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था और उस पर आधारित आचार-शास्त्र जनतन्त्र के विरोधी है। लेकिन यहाँ भी गीता की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार है। कृष्ण कहते है—'मेरे द्वारा चार वर्णो की सृष्टि गुण और कर्म के विभाग के अनुसार की गयी'। यहाँ जन्म की अपेक्षा विभिन्न मनुष्यो के गुणो और कर्मों पर अधिक बल दिया गया है।

"यद्यपि गीता कोई दर्शन-शास्त्र नही, किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना इसका उद्देश्य नही, फिर भी कर्तव्यपथ को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन के धर्म, अर्थात् कतव्य का तथा दर्शन के चरम लक्ष्य का एवं दु.ख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय का सुन्दर उपदेश इस ग्रन्थ मे दिया है। निष्पक्षपात दृष्टि से इसके उपदेशो को पढ़ने से एवं मनन

करने से यह मालूम होता है कि यह जीवन की झंझटों मे फँसे हुए लोगों का उद्धार करने वाला एक मात्र ग्रंथ है। यह वास्तविक तत्व का प्रतिपादन करता है। अतएव इसका किसी भी मत से सम्बन्ध नही है और फिर भी यह सभी को प्रसन्न करने वाला ग्रन्थ है। यह सभी स्तर के साधको के लिए, ज्ञानियो के लिए, साधारण लोगो के लिए, एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमे सभी की श्रद्धा है, भक्ति है तथा विश्वास है। इस प्रकार का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ हमारे साहित्य में दूसरा नही है।'[1]

गीता ने साख्य यानी ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की उपेक्षा नही की है; वल्कि अपनी तत्व विचार योजना मे उन्हे समुचित स्थान दिया है और उनका कर्मयोग के साथ मेल कर तीनो मार्गो—ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग मे समन्वय स्थापित किया है। यही गीता का वैशिष्ट्य है। निष्काम कर्म करने के लिए शुद्ध वुद्धि की आवश्यकता है और परिष्कृत हृदय की भी। मानव जीवन मे ज्ञान, भक्ति और कर्म इस प्रकार जुड़े हुए है कि उन्हे एक दूसरे से सर्वथा अलग करना कठिन है। वल्कि ये एक दूसरे के पूरक है। इन तीनो का—वुद्धि, हृदय और कर्म का—जिनके जीवन मे पूर्ण समन्वय साधित हुआ है उनका जीवन आदर्श जीवन कहा जा सकता है। ये मार्ग कोई सर्वथा अलग अलग नही है, वल्कि एक दूसरे से सटे हुए ही चलते है और अन्त मे तीनों व्रह्मसागर (भूमा) मे मिल जाते है। हाँ, कुछ ज्ञानप्रधान प्राणी होते है, कुछ भावप्रधान और कुछ कर्मप्रधान होते है, किन्तु एक की प्रधानता होने से दो का सर्वथा अभाव नही हो जाता। ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनो की परिसमाप्ति व्राह्मीस्थिति या स्थितिप्रज्ञता मे होती है। यदि स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है तो चाहे कोई ज्ञानमार्ग से चले या भक्तिमार्ग से चले या कर्ममार्ग से चले तो वह एक ही स्थान पर पहुँचेगा। लक्ष्य की दृष्टि से तीनो साधन समान दर्जे के है। गीता इससे आगे जाती है। वह स्थितिप्रज्ञता की स्थिति की प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य तो समझती है; किन्तु स्थितप्रज्ञ हो जाने पर लोक-संग्रह के लिये नियत कर्म करते रहना अधिक श्रेयस्कर और श्रेष्ठ समझती है। गीता सिद्धि होने के पूर्व भी कर्म करने को कहती है, किन्तु फलासक्ति छोड कर निष्काम भाव से काम करने का उपदेश करती है। यह उपदेश मानव समाज के करोडो लोगो के लिए हे। क्योकि यदि समाज मे सभी लोग अपना काम धन्धा छोड कर विरक्त हो ज्ञान प्राप्ति के लिए सन्यासी हो जायेगे तो सृष्टि-कार्य रुक जायेगा और यह सभव भी तो नही है। निष्काम कर्म करते करते पूर्ण निष्कामता की स्थिति आ जाती है। यही मानसिक स्थिति ही स्थितिप्रज्ञता है। गीता का यह मूल मन्त्र समाज के करोड़ो लोगो के लिये है। सिद्धि हो जाने पर अपने आप मे ही निमग्न रहने की अपेक्षा लोकसग्रह के लिए वरावर कर्म करते रहने का उपदेश गीता करती है।

गीता साम्प्रदायिक वांधो को तोड़ कर उन्मुक्त हो कर वहती है। इसमे साम्प्रदायिकता की गध नही। यह विशाल, व्यापक गम्भीर है। इसमे जाति, वर्ण, और लिग का भेद-भाव नही। यह सवके लिए है। सर्वकालीन और सार्वदेशिक है। सम्पूर्ण वैदिक और औपनिषदिक तत्वो को मथकर गीता ने निष्कामता रूपी नवनीत काढ़ निकाला है जिसके सेवन से दिव्य दृष्टि और दिव्य जीवन प्राप्त होता है और अमृतत्व की प्राप्ति होती हे। अमृतत्व क्या है? मृत्यु के भय से पूर्णतया

---

१. भारतीय दर्शन—डा० उमेश मिश्र।

मुक्त हो जाना ही अमृतत्व की प्राप्ति है। गीता कल्पतरु है जिसकी शीतल छाया में आने से सम्पूर्ण दैहिक, दैविक और भौतिक ताप मिट जाते हैं।

आस्तिक-नास्तिक दर्शन

भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ हैं—आस्तिक धारा ईश्वरवादी तथा नास्तिक धारा अनीश्वरवादी है। वेदों में नास्तिक शब्द का प्रयोग वेदो के विरोधियों के लिये किया जाता था। समग्र रूप मे, आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का वर्गीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि वेदों को प्रामाणिक न मानने वाले चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक तथा शेप—न्याय, वैशेपिक, सांख्य, योग, मीमासा और वेदान्त आस्तिक दर्शन है। यहाँ पर हम इसी क्रम में दर्शनों के विपय में विचार करेंगे।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन के अनुसार ईश्वर, परलोक, स्वर्ग, नरक तथा आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। यह दर्शन भौतिक जगत को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। यह संसार ही जीव का क्रीड़ा स्थल है, इसके परे परलोक जैसा न तो कोई स्थान है और न ही उसका कोई अदृश्य अस्तित्व ही है। शरीर ही—जब तक वह जीवन्त है—सब कुछ है और जब तक प्राण है तभी तक सुख की चिन्ता करनी चाहिये। इस दर्शन मे पुरुपार्थ चतुप्टय के धर्म के लिये भी कोई स्थान नही है। इसके अनुसार जीवित रहते हुए, जीवन मात्र के लिये ही विपयों और सुख की चिन्ता करनी चाहिये। आध्यात्म, पाप-पुण्य को निरर्थक बताते हुए इस दर्शन मे यह प्रस्तावना की गई है कि दृश्य जगत मे चार तत्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों के ही संयोग से जीव उत्पन्न होता है और उनका असयोग होते ही नप्ट हो जाता है। क्योंकि मृत्यु के उपरान्त जीव प्रत्यक्ष दृश्य नहीं होता—अतः मरणोत्तर दशा का कोई प्रमाण नही है। इस दर्शन मे अनुमान, कल्पना और अदृश्य पर आधारित प्रमाणो को स्वीकार नही किया गया है।

चार्वाक दर्शन का प्रारम्भिक नाम 'लोकायत' है। विचार और अनुमान रहित आचरण करने के कारण ही इस दर्शन के अनुयायियों को 'लोकायतिक' तथा उनके दर्शन को लोकायत कहा गया। इस दर्शन को प्राय. 'वैतण्डिक' भी कहा जाता था। जिसका कारण सम्भवतः यह था कि इस दर्शन के मानने वाले अपने मत के समर्थन की पुष्टि करने के विपरीत दूसरे मतों का खण्डन ही किया करते थे। बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन को चार्वाक कहा गया। खाओ, (चर्व भोजन करना) पीओ, मौज उड़ाओ—इस सिद्धान्त के कारण चार्वाक संज्ञा भी मानी जाती है। गुणरत्न का कहना है कि पुण्य-पापादिक परोक्ष वस्तुजात को चर्वण कर जाने से (चट कर जाने से) इन दार्शनिको का नाम चार्वाक पड़ा। इनका यह नाम 'चारु वाक्' धुआँधार भापण करने के कारण भी पड़ा। इस दर्शन का एक अन्य नाम 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी है, क्योंकि भारतीय दर्शन के इतिहास मे इस दर्शन के उपदेष्टा आचार्य बृहस्पति माने जाते है।

चार्वाको के जीवन का मुख्य उद्देश्य द्रव्य प्राप्ति तथा भोग है। इनके मत में वेदो के निर्माता धूर्त, भाण्ड और निशाचर थे। इस दर्शन का मूलग्रन्थ "बार्हस्पत्य सूत्र" उपलब्ध नही है, किन्तु 'सर्वदर्शन संग्रह' के प्रथम अध्याय मे इनके सिद्धान्त दिये गये है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन को षडदर्शनों के क्रम मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। इस दर्शन के प्रवर्तक गौतम ऋषि माने गये हैं। न्याय-दर्शन का विषय 'न्याय' का विवेचन तथा प्रतिपादन है। न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणो की सहायता से वस्तुतत्व की परीक्षा।[1] इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से यह दर्शन न्याय दर्शन के नाम से पुकारा जाता है।

साहित्य—न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम थे जो ईसा के पूर्व ६ठी सदी मे मिथिला में उत्पन्न हुए थे। न्याय दर्शन का प्रथम ग्रन्थ गौतम रचित 'न्याय सूत्र' है। गौतम ने स्थूल जगत् के तत्वों पर विचार किया और उनके ज्ञान के लिए प्रमाणो का निरूपण किया। यद्यपि 'न्याय सूत्र' ग्रन्थ मे उनका लक्ष्य नि श्रेयस या परम तत्व की प्राप्ति है, तथापि इसमे मुख्यत· प्रमाणों द्वारा तर्क किये जाने की विधि समाविष्ट है। इसी ग्रन्थ के आधार पर न्याय दर्शन के विविध साहित्य की रचना हुई। पूर्व मे इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी थी, किन्तु वात्स्यायन का 'भाष्य' सबसे प्राचीन व्याख्या है। इनका समय सम्भवतः ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। 'भाष्य' के ऊपर उद्योतकराचार्य ने अति विस्तृत 'वार्तिक' लिखा, जिसमे उन्होने कहा है कि "दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतर्तिको के ज्ञान को दूर करने के लिए मैने यह ग्रन्थ लिखा है।"[2] इस ग्रन्थ मे बौद्ध मत का तार्किक रूप से खण्डन किया गया है। इसके उपरान्त दसवी शताब्दी ई० में मिथिला के प्रकाण्ड विद्वान वाचस्पति मिश्र (प्रथम) ने 'न्याय सूची-निबन्ध' की रचना की। इसके उपरान्त दसवी सदी ई० मे ही मिथिला के 'करओन' गाँव मे उदयनाचार्य का जन्म हुआ था। इन्होने 'तात्पर्यटीका' पर 'परिशुद्धि' नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी है। 'न्याय-कुसुमांजलि' मे इन्होने बौद्धो के मत का खण्डन कर 'ईश्वर' की पृथक् सत्ता का और 'आत्मतत्व-विवेक' मे 'आत्मा' की पृथक् सत्ता का अकाट्य युक्तियों के द्वारा निरूपण किया। मध्य-काल मे भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' ग्रन्थ की रचना की और स्वयं ही उस पर टीका भी लिखी। ग्यारहवीं सदी मे जयन्तभट्ट ने कतिपय न्यायसूत्रो पर 'न्यायमंजरी' नाम की एक बड़ी टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानो ने न्यायसूत्र पर टीकाएँ लिखी है, जिनमे कुछ तो अभी तक अप्रकाशित है। बारहवी सदी मे गंगेश के तत्व-चिन्तामणि ग्रन्थ से नव्य न्याय का प्रारम्भ हुआ। मध्ययुग में नवदीप या नदिया (बंगाल) मे न्याय दर्शन के प्रख्यात पण्डित थे वासुदेव, प्राचार्य चैतन्य, दीधिति, रघुनाथ, जगदीश और गदाधर।

न्याय दर्शन का स्वरूप और मान्यताएँ—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, न्याय दर्शन का विषय 'न्याय' की विवेचना तथा प्रतिपादन करना है। न्याय दर्शन यह मान कर चलता है कि जिन वस्तुओं की सत्ता है, वे सभी ज्ञेय हैं, अर्थात् जो ज्ञेय नहीं हैं उनका कोई अस्तित्व भी नही है। न्याय दर्शनशास्त्र मे सोलह तत्व है—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, और (१६) निग्रह स्थान।

---

१. 'प्रमाणैर्थपरीक्षणं न्याय'—वात्स्यायन—न्यायभाष्य १।१।१।

२. कुतार्किकज्ञाननिवृत्तिहेतुः—मंगलाचरण।

न्यायदर्शन की यह मान्यता है कि ये सोलह तत्व निःश्रेयस की प्राप्ति के हेतु हैं तथा इनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। उपरोक्त तत्वों में प्रमाण तथा प्रमेय प्रधान तत्व हैं तथा शेष चौदह को गौण स्थान प्राप्त है। 'यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्"—यथा-यथार्थ अनुभव के साधन प्रमाण हैं। प्रमाण ही ज्ञान के साधन हैं। ये चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग से उत्पन्न अनुभव "प्रत्यक्ष", किसी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना "अनुमान" माना जाता है। पहले से ही ज्ञात वस्तुओं के साध्य के द्वारा किसी पद का उसके अर्थ से सम्बन्ध का ज्ञान "उपमान" प्रमाण से होता है। "शब्द" प्रमाण यथार्थ ज्ञान कराने वाले वाक्य हैं जैसे वेद। ये ज्ञान के चार स्रोत हैं। अनुमान तीन प्रकार का माना है—कारण से कार्य, कार्य से कारण और निष्कर्ष। न्याय के संवाक्य के पाँच भाग हैं—प्रस्थापना, कारण, दृष्टान्त, कारण की पुनरावृत्ति और निष्कर्ष। प्रमाण द्वारा जिस पदार्थ का ज्ञान होता है उसे प्रमेय कहते हैं। न्यायशास्त्र में निम्नलिखित बारह पदार्थ प्रमेय या ज्ञातव्य माने गये हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मनस, प्रवृत्ति, दोष, प्रेम्यभाव, पुनर्जन्म, फल दु ख तथा अपवर्ग।

आत्मा तथा मुक्ति सम्बन्धी मान्यता—न्याय दर्शनशास्त्र के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ और मन से आत्मा पृथक् है। आत्मा सनातन, अनादि और अनन्त है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो जाना ही जन्म है और आत्मा का शरीर से त्याग कर देना मृत्यु है। प्रत्येक व्यक्ति की सुख-दुःख की अपनी निजी अनुभूतियाँ हैं। न्याय दर्शन आत्मा को अनेक मानता है। आत्मा के कर्तव्य और भोक्तत्व मे उसका विश्वास है। संसार का सृजन करने वाली आत्मा ईश्वर है। ईश्वर की सिद्धि के लिये न्याय ने प्रबल युक्तियाँ दीं तथा ईश्वर को उचित लक्ष्यो की प्राप्ति मे सहायक माना है। न्यायदर्शन के अनुसार मुक्ति दु ख का भाव है। दु.ख के लिये शरीर अपेक्षित हैं। आत्मा को तभी तक जन्म बन्धन मे बँधना पड़ता है, जब तक उसे कर्मों का फल भोगने के लिये शरीर का माध्यम आवश्यक होता है। ज्यो ही ऐसे कर्मों की परम्परा का अन्त हो जाता है, पुनर्जन्म नही होता। यही मुक्ति की अवस्था है। न्यायदर्शन में सिद्धान्तो का निर्धारण तर्क पद्धति द्वारा किया गया है। इसमे चिन्तन, विचार तथा तर्क के नियम भी निर्धारित हैं। इस दर्शन मे किसी भी वस्तु को अज्ञेय या अप्रमेय नही माना गया है।

विवेचना

न्यायदर्शन की उपरोक्त मान्यताओ और सिद्धान्तो की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि इस दर्शन मे तत्वो के सम्बन्ध मे व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। न्याय-दर्शन प्रमाण-विचार पर ही अवलम्बित है। न्याय का प्रमाण-शास्त्र केवल न्याय वैशेषिक दर्शन का ही आधार नही है। न्याय दर्शन में आत्मा और पारमार्थिक सत्ता सम्बन्धी प्रश्नो का समाधान तर्क-युक्ति के द्वारा ही किया गया है। इसी के द्वारा यह यथार्थज्ञान पाने का प्रयत्न करता है और इसी के द्वारा अपने विरुद्ध किये गये आक्षेपो का खंडन भी करता है। किन्तु इसका सत्ता-सम्बन्धी जो बहुसत्तावाद-मत है वह उतना मान्य नही है जितना इसका तर्क-शास्त्र है। न्याय के अनुसार इस संसार मे परमाणु, मन, आत्मा और ईश्वर नामक अनेक स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, जो दिक्, काल और आकाश में एक दूसरे से अलग-अलग स्थित हैं। न्याय सम्पूर्ण विश्व के

अन्तर्गत एक ही परम सत्ता का अस्तित्व नही मानता और इस तरह अद्वैतवाद को प्रश्रय नहीं देता। दार्शनिक दृष्टि से न्यायदर्शन साख्य या वेदान्त की तुलना मे महत्वहीन सा प्रतीत होता है। इसका कारण इस दर्शन की आत्मा सम्बन्धी मान्यता है। न्याय के अनुसार आत्मा का शरीर से संयुक्त होना ही चेतन है—अन्यथा यह आत्मा को चेतन नही मानता। न्याय यह भी मानता है, कि मुक्त आत्मा चेतना-हीन होती है और इसलिये जडद्रव्यो से इसको पृथक् करना कठिन है। न्याय-दर्शन मे ईश्वर को संसार का कर्त्ता माना गया है अर्थात् उसे केवल निमित्त-कारण माना गया है उपादान-कारण नही।

वैशेषिक दर्शन

वैशेपिक दर्शन, प्राचीन दर्शनो मे से एक है। केवल कुछ सिद्धान्तो के अतिरिक्त इस दर्शन तथा न्याय दर्शन मे पर्याप्त समानता है। वैसे यह न्याय दर्शन की अपेक्षा अधिक उच्चस्तरीय प्रतीत होता है। वैशेपिक दर्शन की पैठ सूक्ष्म है तथा यह वाह्य जगत की विस्तृत व्याख्या करता है। न्याय दर्शन मे 'प्रमाणो के विचार' की प्रधानता है तथा वैशेपिक दर्शन मे 'प्रमेयो के विचार' को प्रमुखता प्राप्त है। पर्याप्त समानता तथा मेल-जोल के कारण न्याय तथा वैशेपिक दर्शन को 'समानतन्त्र' भी कहा जाता है। वैशेपिक-दर्शन का पृथक् वर्गीकरण कव हुआ, यह कहना कठिन है। वौद्धमत के ग्रन्थो मे इस दर्शन का उल्लेख मिलता है। जैन-दर्शन मे भी इसके पदार्थों की चर्चा है। इन वातो को ध्यान मे रखकर यह कहा जा सकता है कि इसका वर्गीकरण वौद्धमत के अवान्तर मतो के वर्गीकरण के पूर्व ही हुआ होगा। इस दर्शन को वैशेपिक दर्शन कहने का कारण—इसमे 'विशेप' पदार्थ को स्वीकार किया जाना है। यह 'विशेप' पदार्थ किसी अन्य दर्शन मे नही है। कभी-कभी इस दर्शन को 'कणाद दर्शन' तथा 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन का साहित्य—वैपेशिक दर्शन के आदि प्रवर्तक 'कणाद' 'कणभुक्' या कण-भक्ष थे। उन्होने 'वैशेपिक दर्शन' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सूत्र रूप मे है तथा यह गौतम सूत्र से अधिक प्राचीन भी है। कणाद सूत्रो पर 'रावण' ने 'भाष्य' लिखा था। यह ग्रन्थ तो नही मिलता, किन्तु ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य की टीका 'रत्नप्रभा' मे इस भाष्य की चर्चा है। छठी सदी ई० के पूर्व 'प्रशस्तपाद' या 'प्रशस्तदेव' नाम के विद्वान् ने वैशेपिक-दर्शन के कतिपय सूत्रो का उल्लेख करते हुए 'पदार्थधर्मसंग्रह' नाम का एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ इतना व्यापक हुआ कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी, जिनमे व्योमशिवाचार्य रचित 'व्योमवती', उदयनाचार्य रचित 'किरणावली' तथा श्रीधराचार्य रचित 'कन्दली' नाम की टीका है। वारहवी सदी ई० में वैशेपिक दर्शन पर वल्लभाचार्य ने 'न्यायलीलावती' नाम का ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी, जिनमे गगेश उपाध्याय के पुत्र वर्द्धमान का 'प्रकाश,' शकर मिश्र का 'कण्ठाभरण' तथा रनुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति' बहुत प्रसिद्ध हैं।

वैशेषिक सिद्धान्त

पदार्थो का विचार—जिस प्रकार न्याय-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमाण' का विचार करता है वैशेपिक-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमेय' का निरूपण करता हे। वैशेपिक के मत मे जगत् की सभी वस्तुएँ सात पदार्थों मे वांटी गयी है। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप, समवाय तथा अभाव

हैं। द्रव्य नौ हैं—भू, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन। इनमें प्रथम चार द्रव्यों के नित्य तथा अनित्य भेद है। आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा 'विभु' द्रव्य है। मन अभौतिक परमाणु तथा नित्य है। इसमें आत्मा तथा मन का स्वरूप न्याय दर्शन के समान माना गया है।

वैशेषिकों के अनुसार गुणो की संख्या चौबीस है—ये है—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, विभाग, संयोग, वियोग, परिणाम, पृथकत्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दुःखेच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेप, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व, तथा वेग। कर्म के पाँच—उत्क्षेप, अवक्षेप, अवकुञ्चनक, प्रसारण तथा गमन भेद है। सामान्य दो प्रकार का—पर तथा अपर होता है। विशेप द्वारा वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध की जानकारी होती है। आधार आधेय भूत अयुत सिद्धो का जो सम्बन्ध रहता है उसे 'समवाय' कहते है, जैसे पट मे तन्तु। इन पड्भाव पदार्थों की भाँति 'अभाव' नामक द्रव्य भी वास्तविक, यथार्थ तथा महत्वपूर्ण पदार्थ है। इन पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर तथा आत्मा के स्वरूप परिचय से ही मोक्षोपलब्धि सम्भव है। इस दर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण है।

ये सभी पदार्थ न्याय-दर्शन के 'प्रमेयो' के अन्तर्गत हैं। इसलिये न्याय-दर्शन मे इनका पृथक् विचार नही है, किन्तु वैशेपिक-दर्शन मे तो विशेप रूप से इनका विचार है। वैशेपिक-मत के अनुसार सातो पदार्थो का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से 'मुक्ति' मिलती है। न्याय तथा वैशेपिक दर्शन मे पदार्थो के स्वरूप मे इतना भेद रहने पर भी दोनो दर्शन एक मे ही मिले रहते हैं, इसका कारण है कि दोनो शास्त्रो का मुख्य प्रमेय है 'आत्मा'। 'आत्मा' का स्वरूप दोनो दर्शनो मे एक-सा ही है।

परमाणुवाद—वैशेपिक दर्शन की सर्वोपरि विशेपता परमाणुवाद है। वैशेपिको के परमाणुवाद के अनुसार भौतिक जगत परमाणुओ द्वारा ही निर्मित हुआ है। जगत के उपादान के ये परमाणु अनन्तकाल से कभी पृथक तथा कभी संयुक्त माने गये है। अग्नि तथा पृथ्वी के परमाणुओं से ईश्वर के ध्यान मात्र से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति मानी गई है और यह प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर जगत और, ब्रह्मा को उत्पन्न करता है।

प्रलय, सृष्टि का कारण तथा प्रक्रिया—वैशेपिको के मतानुसार सभी कार्य-द्रव्यो का नाश हो जाता है और वे परमाणु-रूप मे आकाश मे रहते है। यही अवस्था 'प्रलय' कहलाती है। इस अवस्था मे प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस के साथ तथा पूर्व-जन्मो के कर्मो के संस्कारो के साथ तथा 'अदृष्ट'-रूप मे धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परन्तु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नही होता। कारण-रूप मे सभी वस्तुएँ उस समय की प्रतीक्षा मे रहती है, जब जीवो के सभी 'अदृष्ट' कार्य-रूप मे परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते है। उत्पन्न होने वाले जीवों के कल्याण के लिए ईश्वर मे 'सृष्टि करने की इच्छा' उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवो के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख हो जाते है। परमाणुओ मे एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु दूसरे परमाणु से सयुक्त हो जाता है। इसी तरह जल, तैजस आदि मे संयुक्तता होती रहती है। द्रव्य उत्पन्न होने से गुण उत्पन्न होते है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है।

संसार मे जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती है, सभी उत्पन्न हुए जीवो के भोग के लिए ही है।

अपने पूर्व-जन्म के कर्मो के प्रभाव से जीव संसार में उत्पन्न होता है। एक विशेप प्रकार के कर्मो का भोग करने के लिए एक जीव उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते है। जब वह विशेप भोग समाप्त हो जाता है, तव उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपनें-अपने भोग के समाप्त होने पर सभी जीवो की मृत्यु होती है।

ज्ञान सम्बन्धी विचार—वैशेषिक दर्शन मे 'बुद्धि', 'उपलब्धि', 'ज्ञान' तथा 'प्रत्यय', समान अर्थ के बोधक शब्द है। 'बुद्धि' के प्रधान रूप से दो भेद है—विद्या और अविद्या। 'अविद्या' के चार भेद है—सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न। वैशेपिक मत मे 'ज्ञान' के अन्तर्गत ही 'अविद्या' को रखा है और इसीलिए 'अविद्या' को मिथ्या ज्ञान कहते है। 'विद्या' भी चार प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्ष।

कर्म सम्बन्धी विचार—वैशेषिक दर्शन मे कर्म का वहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमे कायिक चेष्टाओ को ही 'कर्म' कहा है। सभी चेष्टाएँ प्रयत्न के तारतम्य से ही होती है। वैशेपिक दर्शन मे कोई 'कर्म' प्रयत्न-पूर्वक होते है, जिन्हे 'सत्प्रत्यय-कर्म' कहते है, कोई विना प्रयत्न के होते है, जिन्हें 'असत्प्रत्य-कर्म' कहते है इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे 'कर्म' होते है, जैसे पृथिवी आदि महाभूतो मे, जो विना किसी प्रयत्न के होते है, उन्हे 'अप्रत्यय-कर्म' कहते है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन की तुलना

न्याय तथा वैशेषिक-दर्शनो मे ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का कारण माना गया है। ये दोनो दर्शन अनेकतत्ववादी है क्योकि इनमे भौतिक परमाणु काल, दिग्, आत्मा आदि सभी की स्वतन्त्र सत्ता है। इन दर्शनो के अनुसार आत्मा, शरीर और मन से भिन्न है। वह नित्य तथा विभु (सर्वव्यापक) है। इन दर्शनो मे आत्मा अनेक है। न्याय तथा वैशेपिक दोनो के अनुसार आत्मा का मन और शरीर के साथ संयुक्त होना ही दु ख का कारण है।

वैशेषिक दर्शन की महत्वपूर्ण देन है पदार्थो का वर्गीकरण और परमाणुवाद। यह भाव और अभाव-पदार्थो के भेद की समीक्षा करते हुए, दोनो को यथार्थ या वास्तविक समझता है। भाव-पदार्थों मे भी सत्ता और वृत्ति का अन्तर किया गया है। वैशेपिको द्वारा पदार्थों का वर्गीकरण व्यावहारिक रूप मे किया गया है। वैशेपिक मत मे जड़ परमाणु, जीवात्मा और परमात्मा, सभी एक ही पदार्थ, द्रव्य के अन्तर्गत चले आते है। इस वर्गीकरण की यही विशेपता है कि इसमे ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व को ध्यान मे रखते हुए पदार्थों की पूरी तालिका तैयार की गई है।

वैशेपिक दर्शन की एक अन्य विशेपता है मन और आत्मा का पृथक अस्तित्व स्वीकार करना। यह परमाणुवाद का ईश्वरवाद के साथ समन्वय करता है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता और कर्म-फलदाता के रूप मे स्वीकार किये गये हैं, परन्तु परमाणुओ का जीवात्माओ के कर्त्ता के रूप मे नही। वैशेषिको के अनुसार ईश्वर सर्वस्रष्टा नही है, वरन वह नियमो का सचालन करता है।

सांख्य दर्शन

साख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। इसकी प्राचीनता इसी वात से सिद्ध होती है कि श्रुति, स्मृति; पुराण आदि समस्त पुरातन कृतियो मे इस विचारधारा की झलक दिखाई पड़ती है।

शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के शारीरिक भाष्य मे कहा है कि मनु आदि ने कुछ सीमा तक सांख्य के सिद्धान्तो को ग्रहण किया।

साख्य दर्शन का उदगम

सांख्य दर्शन के उदगम की समस्या भारतीय दर्शनो की कठिनतम समस्याओ मे से एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि साख्य दर्शन के विकास की कई अवस्थाएँ थी। चीनी स्रोतो से विदित होता है कि इसके अठारह सम्प्रदाय थे। साख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते है। वे उपनिषदकालीन ऋषि थे। किन्तु साख्य विचार अपने मूल रूप मे उनसे भी अधिक प्राचीन माने जाते है। 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रेय' आदि उपनिषदो तथा महाभारत एव गीता आदि अनेक ग्रन्थो मे साख्य के सिद्धान्त प्रचुर रूप मे मिलते है। उसकी प्राचीनता इसी बात से सिद्ध होती है कि श्रुति, स्मृति, पुराण आदि समस्त पुरातन कृतियो मे इस विचारधारा की झलक दिखाई पड़ती है। साख्य-योग के महाभारत इत्यादि मे पाये जाने वाले उल्लेखो से पता चलता है कि इस दर्शन का किसी समय व्यापक प्रभाव था। आधुनिक विद्वान् साख्य के प्रारम्भ के विषय मे मतभेद रखते ह। यह तो सभी स्वीकार करते ह कि उपनिषदों मे, विशेष रूप से उनमे जो बाद के है, साख्य-योग सिद्धान्त के उल्लेख हुए हे परन्तु कतिपय विद्वानो का यह अभिमत है कि इस दर्शन का प्रारम्भ स्वतन्त्र रूप से हुआ था तथा यह दर्शन उपनिषदो के समय में विकसित हुआ था।

साख्य का अर्थ

साख्य के अर्थ के विषय मे कई मत है। कतिपय विद्वानो का विचार है कि इस दर्शन का 'साख्य नामकरण इसलिये हुआ, क्योकि इसमे सर्वप्रथम पच्चीस तत्वो की सख्या निर्धारित की गयी। 'भागवत' मे इसी उद्देश्य से प्रस्तुत दर्शन को 'तत्व-सख्यान' कहा गया है, जिसको टीकाकार श्रीधर स्वामी ने 'तत्वगणक' कहा है। अत तत्वो की प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक गणना का आधारभूत शास्त्र होने के कारण इसको साख्य कहा गया। 'साख्य' शब्द के इस अर्थ के विपक्ष मे दूसरे विद्वानो का अभिमत है कि ज्ञान का सम्यक् दर्शन होने के कारण उसका नाम 'साख्य' पड़ा। साख्य शब्द का अर्थ सम्यक् ज्ञान का सम्यक् विचार भी है।

साख्य साहित्य

लगभग पाचवी शताब्दी से ईश्वर कृष्ण रचित 'साख्यकारिका' सांख्य दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है। 'साख्यकारिका' मे उल्लेख है कि यह पवित्र शास्त्र कपिल मुनि द्वारा आसुरि को निरूपित किया गया, जिन्होने इसे पंचविश को दिया और उन्होने इसे कई शिष्यो को दिया। तत्पश्चात आचार्यो और शिष्यो की परम्परा मे बढ़ता हुआ ईश्वर कृष्ण के पास आया तथा उन्होने इसे श्लोको मे सक्षिप्त किया।[१] इसमे यह प्रमाणित होता है कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रथम उद्घोषक थे। वैसे तो साख्य दर्शन के विषय मे अनेक ग्रन्थ मिलते है किन्तु तीन ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है—(१) कपिल रचित 'साख्य सूत्र', (२) कपिल द्वारा ही रचित 'तत्वसमास' तथा (३) ईश्वर रचित 'साख्यकारिका' या 'साख्यसप्तमी'।

---

१. 'साख्यकारिका'—ईश्वर कृष्ण—७०-७१।

सांख्य दर्शन के सिद्धान्त

साख्य दर्शन मे ये तत्व है—मूल प्रकृति; सात कोटियाँ (जो प्रकृति तथा विकृति में है); पाँच तन्मात्राएँ; सोलह विकार; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; पाँच कर्मेन्द्रियाँ; पाँच इन्द्रिय पदार्थ, पाँच तत्व; तेरह कारण (जिनमे तीन अन्त.करण है); पाँच विपर्यय; अट्ठाइस प्रकार की अशक्ति; नौ प्रकार की तुष्टि; आठ प्रकार की सिद्धियाँ। अपरार्क ने देवल का एक लम्बा उद्धरण देते हुए सांख्य की परिभाषा मे कहा है कि साख्य मे पच्चीस तत्व पाये जाते है तथा इनको पूर्णरूप से जानने पर मुक्ति प्राप्त होती हैं।

मौलिक धारणाएँ—साख्य दर्शन की मौलिक धारणा यह है कि अनादि काल से दो भिन्न सत्ताएँ पायी जाती हैं—(१) प्रकृति—जिसे प्रधान एव अव्यक्त भी कहा जाता है, तथा (२) पुरुष। पुरुष अनेक है। साख्य की अन्य मौलिक धारणा है तीन गुण या तत्व। ये सत्व, रज तथा तम है। प्रकृति का निर्माण इन्ही तीन गुणो से माना गया है। ये तीनो तत्व विभिन्न अनुपातो मे मिलकर इस विश्व का निर्माण करते है। साख्य दर्शन मे प्रकृति को अनादि एवं अनन्त कहा गया है। इसमे स्रष्टा के रूप मे ईश्वर की कल्पना नही की गई है। साख्य सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरुष या प्रकृति के पीछे कोई धार्मिक या आध्यात्मिक पहलू नही है। पुरुष किस प्रकार प्रकृति के चंगुल मे फँस जाता है? इसका उत्तर देते हुए, साख्य दर्शन यह कहता है कि विवेकहीनता के कारण पुरुष प्रकृति के चंगुल मे फँस जाता है। प्रकृति से बुद्धि और चेतना की उत्पत्ति होती है, इससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से एक ओर पाँच तन्मात्राओ (शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस तथा रूप) तथा दूसरी ओर मन एव दस ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति होती है। पाँच तन्मात्राओ से पंचतत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ये कुल २४ तत्व है और स्वय पुरुष पच्चीसवाँ तत्व है। पुरुष प्रकृति के मूल तत्वो से भिन्न है। पुरुष भोक्ता है कर्ता नही। प्रकृति एव पुरुष इसलिये साथ होते है कि पुरुष प्रकृति की क्रिया देखे। जब पुरुष अपने तथा प्रकृति मे निहित गुणो के अन्तर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे मुक्ति मिल जाती है। साख्य दर्शन मे ईश्वर की अपेक्षा नही है तथा यह इस बाह्य जगत को वास्तविक मानते हुए आत्मा की अनेकता स्वीकार करता है। साख्य के अनुसार आत्मा नित्य एवं अपरिवर्तनशील है। साख्य का अन्य मौलिक सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। इसके अनुसार कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान रहता है तथा इसकी उत्पत्ति अभाव से नही होती।

ईश्वर सम्बन्धी धारणा—ईश्वर के सम्बन्ध मे साख्यकारो के दो मत है। कुछ विचारक तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नही समझते और कुछ ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते है। जिन्होंने ईश्वर की आवश्यकता न समझी वे अपने तर्क मे कहते है कि ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता नही है। साख्य दर्शन में ईश्वर को नित्य, निर्विकार तथा अक्षर कहा गया है। अत. ऐसा ईश्वर कर्मों का फल देने वाला नही हो सकता है। ईश्वर-विरोधी साख्यकारो का मत है कि प्रकृति की क्रिया-शक्ति ईश्वर नही है। प्रकृति के द्वारा सृष्टि का जो संचालन और नियमन होता है, वह एक क्रिया है। अतः क्यो न प्रकृति को ही संचालक और नियामक माना जाय? ईश्वर जगत् का 'उपादान' कारण नही है।

विवेचना

वास्तव में साख्य-दर्शन मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्व स्थूल नही वरन् बौद्धिक हैं। इस जगत् मे केवल सूक्ष्म ही तत्व है। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म है। अतएव जिसमें जितनी बुद्धि होती है, वह उतना सूक्ष्म विचार कर सकता है।

प्राय: यह कहा जाता है कि साख्य के ज्ञान के बिना कोई विद्वान ज्ञानी नही हो सकता। इस दर्शन के प्रवर्तक कपिल 'आदि विद्वान्', कहे गये है। शास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि साख्यशास्त्र के समान व्यापक शास्त्र कोई दूसरा नही हुआ। सांख्य सिद्धान्तों के विषय में अनेक मतभेद हे। इन मतभेदो को देखने से यह मालूम होता है कि विद्वान सांख्य के तत्वों का विशेष विवेचन करते थे। जिन्हे जिस प्रकार का विशेष अनुभव हुआ, उन्होने उसी प्रकार सांख्य को समझा और उसी तरह उनका विश्लेषण भी किया।

प्रारम्भ मे साख्य दर्शन अनीश्वरवादी था। परन्तु परवर्तीयुगीन साख्य आचार्यों ने ईश्वर को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार ईश्वर "पुरुष" का नियोजक और वह "पुरुष" और "प्रकृति" के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला माना गया। सांख्य मोक्ष में विश्वास करता है। अपने जीवनकाल में जिस व्यक्ति को तत्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन-मुक्त हो जाता है। साख्य दर्शन मे मानव का सर्वोच्च कर्तव्य है अपने स्वरूप का तात्विक ज्ञान कि में 'पुरुष' हूँ। साख्य में ज्ञान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई तथा ज्ञान का मार्ग सभी वर्णों को समान रूप से उपलब्ध कराया गया।

योग दर्शन

बडे दर्शनो में योग दर्शनशास्त्र होने के साथ-साथ जीवन के साथ भी घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ के साधन से शरीर, इन्द्रियों एवं चित्त की शुद्धि तथा नियन्त्रण आवश्यक हे। 'चित्त' को स्थिर करना भी आवश्यक है। इन बातो के लिए हमे योगशास्त्र की ही शरण लेनी पडती है। 'चित्तवृत्ति के निरोध' को ही 'योग' कहा जाता है। शरीर, इन्द्रियो तथा मन पर वश पाने से ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है। आत्मा का साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है। योग इस साक्षात्कार का यथार्थ ज्ञान कराने वाला साधन है। इसलिये 'योग' को ही 'निदिध्यासन' कहते है।

योग की प्राचीनता तथा अर्थ

उपनिषदो, महाभारत, गीता तथा पुराणो मे योग का उल्लेख मिलता है।[१] ऋग्वेद मे 'योग' शब्द कई अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। योग 'युज्' (जोड़ना या मिलाना, रुधादि वर्ग की धातु) से निष्पन्न हुआ है। सायण ने कई वचनो मे 'योग' का अर्थ 'जो पहले से प्राप्त हो, उसे प्राप्त करने' के रूप मे लिया है। ऋग्वेद मे 'योग' को 'युग या जुआ में लगाना' के रूप मे भी प्रयुक्त किया गया

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद ६।१३; वनपर्व—महाभारत २।१५; शान्ति पर्व—महाभारत २२८।२८, २८६।१, ३०६।६५, अनुशासन पर्व—महाभारत १४।३२३; भगवदगीता, ५।४-५; पद्मपुराण ८५।११।

है।[1] कुछ उपनिषदों में 'योग' शब्द योग सूत्र के अर्थों में ही प्रयुक्त किया गया है। श्वेताश्वतर, उपनिषद में 'ध्यानयोग' शब्द मिलता है। उपनिषदों में न केवल योग शब्द का प्रयोग ही है वरन योग की उन विधियों और प्रकार का भी उल्लेख है जिनके द्वारा परमात्मा की अनुभूति होती है। इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है योग दर्शन अति व्यापक तथा प्राचीन है। वस्तुतः यह दर्शन ऋषियों द्वारा अनुभूत तत्वो के फल को जानने का साधन है। इसी कारण से योग दर्शन में भिन्न-भिन्न अनुभवों के ज्ञान से साक्षात्कार होता है।

योग दर्शन के ग्रन्थ

अति प्राचीन काल से ही योग सिद्धान्तों का प्रचलन होने के कारण योग की अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ हैं। प्रमुख तथा महत्व की दृष्टि से योग दर्शन का मूल ग्रन्थ योगसूत्र है। विद्वानो का कहना है कि 'योगसूत्र' के रचयिता, 'व्याकरण-महाभाष्य' के निर्माता तथा 'चरकसहिता' के रचयिता एक ही व्यक्ति 'पतंजलि' है। इन्होने ईसा से पूर्व दूसरी सदी मे जन्म लिया था। कहा जाता है कि यह 'शेषनाग' के अवतार थे। शेषनाग के रूप को धारण करते हुए इन्होने 'महाभाष्य की रचना थी और शिष्यो को पढाया था। 'योगसूत्र' के चार पाद है—(१) 'समाधिपाद', (२) साधनापाद', (३) 'विभूतिपाद' तथा (४) 'कैवल्यपाद'। योगसूत्र पर व्यास का भाष्य है। ये 'व्यास' महाभारत के रचयिता से भिन्न है। दसवी शताब्दी ई० के वाचस्पति मिश्र की 'तत्ववैशारदी' नाम की भाष्य की टीका सरल और बोधगम्य है। इसके पश्चात् विज्ञान भिक्षु ने भाष्य के ऊपर एक 'वार्तिक' लिखा। योगसूत्र पर 'भोज' की एक 'वृत्ति' है। रामानन्द की 'मणिप्रभा' नाम की टीका पाण्डित्यपूर्ण है। इनके अतिरिक्त और छोटे-छोटे ग्रन्थ है, परन्तु वे बहुत प्रसिद्ध नही है।

योग दर्शन के सिद्धान्त

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते है। चित्त त्रिगुणात्मक है, सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण है। चित्त के विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते है। चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। चित्त की पाँच भूमियाँ है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त एकाग्र एवं निरुद्ध। चित्त की पहली तीन भूमियाँ योग के लिये उपयोगी नही है। एकाग्र एवं निरुद्ध भूमि में होने वाला वृत्तिनिरोध ही योग कहा जाता है। वृत्ति-निरोधात्मक योग दो प्रकार का है :—(१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात योग मे सूक्ष्म विषयो से सम्बन्धित वृत्तियाँ रहती हैं। असम्प्रज्ञात योग या समाधि चित्त की संस्कार-शेष अवस्था है; उस अवस्था मे चित्त की वृत्तियाँ उद्‌बुद्ध या अनुभव का विषय नही होतीं।

वृत्ति-विचार—योग के अनुसार तेरह करण हैं—बुद्धि, अहंकार तथा ग्यारह इन्द्रियाँ। बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति, अहंकार की अभिमानात्मिका वृत्ति, मन की संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति तथा इन्द्रियों की आलोचनात्मिका वृत्ति कही गई है। करणो की ये विशिष्ट वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम की पाँच सामान्य वृत्तियो से युक्त है।

---

१. 'कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः'—ऋग्वेद १।५२।

किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण—सभी में योगाभ्यास की चर्चा है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्वोत्तम साधन है। इससे शरीर और मन की शुद्धि हो जाती है। इसी लिये सभी भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तो को यौगिक रीति से ध्यान धारण आदि के द्वारा स्पष्ट अनुभव करने के लिये प्रयत्न करते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में योग की विधि एवं विधानों के ज्ञाता को योगी कहा गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि योगी मन से इन्द्रियो को स्थिर कर देता है, बुद्धि से अपने मन को निश्चल बना देता है, वह पाषाण की भाँति अडिग पेड के तने की भाँति अकम्पित है और पर्वत की भाँति गतिहीन हो जाता है। विज्ञ लोग उसी को योगी कहते हैं जो न सुनता है, न गन्ध लेता है, न स्वाद लेता है, न देखता है न स्पर्श करता है। उसके मन में परिवर्तनशील संकल्प नही उठते और वह आत्मा के वास्तविक तथा भौतिक रूप की अभिज्ञता प्राप्त कर लेता है।[1] शताब्दियों से भारत में योगियो को व्यापक सम्मान दिया जाता रहा है। श्राद्ध के अवसर पर योगी को विशिष्ट रूप से निमन्त्रित करने की प्रथा रही है और उसे सहस्त्रो ब्राह्मणों के समान माना गया है। भगवदगीता में उल्लेख है कि "योगी तप करने वालो से उत्तम होता है, वह उनसे भी उत्तम होता है जो दार्शनिक ज्ञान पर अधिकार रखते हैं और वह उनसे भी उत्तम होता है जो वैदिक कृत्य करते है। अत. हे अर्जुन, वैसे योगी बनो जो कर्म करता हे।" याज्ञवल्क्य स्मृति मे योग को वेदान्त के अभिन्न भाग के रूप मे सर्वोच्च सम्मान दिया गया है और योग द्वारा आत्म दर्शन को सर्वोच्च धर्म कहा है। योग कठिन है किन्तु फिर भी सहस्त्रों वर्षों से भारत में अनेक महान व्यक्ति इसका अनुसरण करके अविद्या से आत्मा को स्वतन्त्र करके जन्म मरण से मुक्त होने के लक्ष्य को प्राप्त कर सके है।

पूर्व मीमांसा दर्शन

षड्दर्शनो के तीन जोड़े हैं—न्याय और वैशेषिक, साख्य और योग तथा पूर्व और उत्तर मीमांसा। प्रथम दो जोड़ो के विषय मे विचार करने के उपरान्त अब हम मीमांसा दर्शन की शाखाओं पर विचार करेंगे। पूर्व और उत्तर मीमांसा का घनिष्ट सम्बन्ध है। इनका भेद केवल 'पूर्व' और 'उत्तर' में है। यह भेद इनके उत्पत्ति काल के आधार पर नही है, प्रत्युत पूर्व मीमासा का विषय 'धर्म जिज्ञासा' है और उत्तर मीमासा का विषय 'ब्रह्म जिज्ञासा' है। क्रमानुसार 'धर्म जिज्ञासा' को 'ब्रह्म जिज्ञासा' से पहले होना चाहिए।

मीमांसा का अर्थ

मीमांसा शब्द अति प्राचीन है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है—" ब्रह्मवादी विज्ञ मीमांसा करते हैं कि एक मिति (दिन) त्यागी जाये या नही।" यहाँ 'मीमासा' का अर्थ यह लगाना चाहिये कि किसी सन्देह की स्थिति मे विषय पर विचार करके किसी निर्णय पर पहुँचना। मीमांसा दर्शन के सन्दर्भ मे 'मीमासा' का अर्थ उच्च दार्शनिक विषयों पर विचार विमर्श करना है।

---

१. शान्तिपर्व-महाभारत २९४।१४-१७।

किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण—सभी में योगाभ्यास की चर्चा है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्वोत्तम साधन है। इससे शरीर और मन की शुद्धि हो जाती है। इसी लिये सभी भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों को यौगिक रीति से ध्यान धारण आदि के द्वारा स्पष्ट अनुभव करने के लिये प्रयत्न करते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में योग की विधि एवं विधानो के ज्ञाता को योगी कहा गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि योगी मन से इन्द्रियों को स्थिर कर देता है, बुद्धि से अपने मन को निश्चल बना देता है, वह पाषाण की भाँति अडिग पेड़ के तने की भाँति अकम्पित है और पर्वत की भाँति गतिहीन हो जाता है। विज्ञ लोग उसी को योगी कहते हैं जो न सुनता है, न गन्ध लेता है, न स्वाद लेता है, न देखता है न स्पर्श करता है। उसके मन मे परिवर्तनशील संकल्प नही उठते और वह आत्मा के वास्तविक तथा भौतिक रूप की अभिज्ञता प्राप्त कर लेता है।[1] शताब्दियों से भारत मे योगियो को व्यापक सम्मान दिया जाता रहा है। श्राद्ध के अवसर पर योगी को विशिष्ट रूप से निमन्त्रित करने की प्रथा रही है और उसे सहस्त्रों ब्राह्मणो के समान माना गया है। भगवदगीता मे उल्लेख है कि "योगी तप करने वालो से उत्तम होता है, वह उनसे भी उत्तम होता है जो दार्शनिक ज्ञान पर अधिकार रखते हैं और वह उनसे भी उत्तम होता है जो वैदिक कृत्य करते हैं। अतः हे अर्जुन, वैसे योगी बनो जो कर्म करता है।" याज्ञवल्क्य स्मृति मे योग को वेदान्त के अभिन्न भाग के रूप मे सर्वोच्च सम्मान दिया गया है और योग द्वारा आत्म दर्शन को सर्वोच्च धर्म कहा है। योग कठिन है किन्तु फिर भी सहस्त्रों वर्षों से भारत में अनेक महान व्यक्ति इसका अनुसरण करके अविद्या से आत्मा को स्वतन्त्र करके जन्म मरण से मुक्त होने के लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं।

पूर्व मीमांसा दर्शन

षड्दर्शनों के तीन जोड़े हैं—न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग तथा पूर्व और उत्तर मीमांसा। प्रथम दो जोड़ो के विषय में विचार करने के उपरान्त अब हम मीमांसा दर्शन की शाखाओं पर विचार करेंगे। पूर्व और उत्तर मीमांसा का घनिष्ट सम्बन्ध है। इनका भेद केवल 'पूर्व' और 'उत्तर' मे है। यह भेद इनके उत्पत्ति काल के आधार पर नही है, प्रत्युत पूर्व मीमांसा का विषय 'धर्म जिज्ञासा' है और उत्तर मीमांसा का विषय 'ब्रह्म जिज्ञासा' है। क्रमानुसार 'धर्म जिज्ञासा' को 'ब्रह्म जिज्ञासा' से पहले होना चाहिए।

मीमांसा का अर्थ

मीमांसा शब्द अति प्राचीन है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है—" ब्रह्मवादी विज्ञ मीमांसा करते हैं कि एक मिति (दिन) त्यागी जाये या नही।" यहाँ 'मीमांसा' का अर्थ यह लगाना चाहिये कि किसी सन्देह की स्थिति मे विषय पर विचार करके किसी निर्णय पर पहुँचना। मीमासा दर्शन के सन्दर्भ मे 'मीमासा' का अर्थ उच्च दार्शनिक विषयो पर विचार विमर्श करना है।

---

१. शान्तिपर्व-महाभारत २६४।१४-१७।

मीमांसा का साहित्य

पूर्व मीमांसा का मूल ग्रन्थ जैमिनि के सूत्र हैं, जिनकी संख्या २७४५ है। मीमांसा सूत्र बारह अध्यायो में विभक्त है—इस कारण इसे द्वादशाध्यायी मीमांसा भी कहते है। वाद में जैमिनि ने चार और अध्यायों की रचना की, जिन्हें संकर्ष काण्ड कहते हैं। इसमे ४३६ सूत्र है। उत्तर मीमांसा का मूल ग्रन्थ वादरायण के ब्रह्म सूत्र हैं। इनमें उपनिपदो की शिक्षाओं को व्यवस्थित रूप दिया गया है। जैमिनि के सूत्रों का उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में निर्णय देना है। जैमिनि वादरायण के शिष्य थे और स्थान-स्थान पर वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि में वादरायण की ओर संकेत करते है।

पूर्व मीमासा के सिद्धान्त

पूर्व मीमासा का सार यह है कि वेद, नित्य, स्वंयभू, अपौरुपेय तथा अमोघ है। इसके समर्थन मे यह तर्क दिया गया है कि वेद के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नही है कि किसने इसका प्रणयन किया या किसने इसे सर्वप्रथम पढ़ा। यद्यपि स्मृतियो और पुराणो मे यह कहा गया है कि प्रजापति ने वेद का प्रणयन किया पर यह केवल अर्थवाद मात्र है जो किसी साक्ष्य पर आधारित नही है। ऐसा केवल वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये कहा जाता है। पूर्व मीमांसा की अन्य प्रमुख धारणा यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। कोई भी ऐसा विज्ञ नही है जो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध समझाने मे समर्थ हो सका हो। पूर्व मीमांसा मे आत्मा के अस्तित्व के विषय मे कोई स्पष्ट बात नही कही गई हैं। इसी कारण से पूर्व मीमासा को प्राय: अनीश्वरवाद कहा जाता है। फिर भी कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व मीमांसा दर्शन मे उपलक्षित ढंग से आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास किया गया है। इसमे यह माना गया है कि आत्मा जिस शरीर से सम्वद्ध होती है, उसका वह अध्यक्ष रूप मे संचालन करती है। आत्मा की शक्ति से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है।

पूर्व मीमासा दर्शन मे यज्ञो का विशेष महत्व है। जैमिनि के मत मे यज्ञ मे 'हवि' प्रधान है तथा देवता गौण। उदाहरण के लिये यह कहा जा सकता है कि सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को इन्द्र एवं अग्नि के लिये हवि देना चाहिये, तब इन्द्र उसे सन्तान देता है। इस प्रकार फल की प्राप्ति यज्ञ से होती है, न कि देवताओ से। पूर्व मीमासा मे आत्मज्ञान की सर्वथा उपेक्षा नही की गयी है। कर्म को मोक्ष का प्रधान साधन मानने वाले मीमासकों ने ज्ञान को सहकारी कारण माना है।

पूर्व मीमासा दर्शन का प्रधान क्षेत्र धर्म का ज्ञान है। इसमें धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेदो के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नही माना गया। वेदो को प्रमाण मानकर ही धर्म का विवेचन हो सकता है। पूर्व मीमासा का मुख्य उद्देश्य है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण करे। प्रारम्भ मे इस दर्शन में ईश्वर का कोई स्थान नही था। कुमारिल ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि ईश्वर नही है और सृष्टि-सृजन से उसका कोई सम्बन्ध नही है। परवर्ती युग में मीमांसा दर्शन प्रणाली में ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई।

आत्मा की भाँति, प्रारम्भ में मीमासा दर्शन में मोक्ष की कल्पना स्पष्ट नहीं थी। जैमिनी और शबर मीमांसको ने यज्ञो के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति मानी थी। वैदिक कर्म का फल स्वर्ग-प्राप्ति समझा गया था। परवर्ती युग मे पुनर्जन्म और मोक्ष को स्पष्ट किया गया। मोक्ष का साधन निष्काम धर्माचरण माना गया। मीमासकों की धारणा है कि आत्मा की मोक्षावस्था निर्द्वन्द की अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने शुद्ध-रूप में विद्यमान रहती है। इस मुक्तावस्था में जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध नष्ट हो जाते है। पूर्व मीमासा दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त है। ईश्वर का सृष्टि-रचना से कोई सम्बन्ध नही है। मीमासा दर्शन मे ईश्वर का कोई व्यावहारिक रूप दृष्टिगत नही होता। मूल रूप से मीमांसा दर्शन का महत्व इस बात मे है कि इसमे जिन युक्तियो और सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है वे उच्चकोटि के है।

वेदान्त दर्शन

भारतीय-दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में मिलता है। इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते है। वेदान्त शब्द से ही स्पष्ट है कि इसका अर्थ है 'वेद का अन्त।' वेदों के अन्तिम भाग मे कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व दिया गया। वेदान्त से उपनिषद का बोध भी होता है। उपनिषदो को वेदो के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण से 'वेदान्त' शब्द से अभिहित करना उचित भी है। किन्तु उपनिषदो की संख्या बहुत है, प्रत्येक उपनिषद् के अपने-अपने सिद्धान्त हैं। उनके सिद्धान्तो मे विरोध भी है। इस विरोध के परिहार के लिए वेदान्त दर्शन का आविर्भाव बादरायण व्यास ने किया था। बादरायण ने इस सम्बन्ध मे कुछ सूत्रों की रचना की थी जिन्हे वेदान्त सूत्र या ब्रह्मसूत्र कहते है। ब्रह्मसूत्र पाणिनि से भी प्राचीन हैं, क्योकि पाणिनि ने अपने सूत्र 'पाराशर्य शिलालिभ्या भिक्षु नटसूत्रयो'' मे पाराशर्य (पाराशर के पुत्र-व्यास) निर्मित जिन सूत्रो का निर्देश किया है, वे ब्रह्म-सूत्र ही हैं। ये ब्रह्म-सूत्र अल्पाक्षर हैं, भाष्यो के अभाव मे अर्थ का ज्ञान करना सम्भव नही है। भाष्यो ने अपने-अपने विभिन्न मन्तव्य इन सूत्रों से निकाले हैं।

वेदान्त-सूत्रो की अनेक आचार्यो ने व्याख्याये की है। इन समस्त आचार्यो की विचारधारा को मोटे रूप मे दो भागो मे बाँटा जा सकता है—अद्वैतवाद तथा ईश्वरवाद। अद्वैतवाद मे परम सत् ब्रह्म निर्विशेष (निर्गुण) तत्व के रूप में माना जाता है और ईश्वरवाद मे सविशेष (सगुण) ईश्वर के रूप में। इस समय वेदान्त सूत्रो पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाले ग्यारह भाष्य है। इनके सूत्रो की संख्या मे भेद है। इनके नाम और काल का विवरण इस प्रकार है—

१. शाकरभाष्य (७८८-८२०), २. भास्करभाष्य (नवीं शताब्दी), ३. रामानुजभाष्य (बारहवी शताब्दी), ४. निम्बार्कभाष्य (तेरहवी शताब्दी), ५. माध्वभाष्य (तेरहवी शताब्दी), ६. श्रीकण्ठभाष्य (तेरहवी शताब्दी), ७, श्रीकरभाष्य (चौदहवी शताब्दी), ८. वल्लभभाष्य (१४७६-१५४४), ६. विज्ञानभिक्षुभाष्य (सोलहवी शताब्दी), १०. बलदेवभाष्य (अठारहवीं शताब्दी), एवं ११. शक्तिभाष्य (बीसवी शताब्दी)।

वेदान्त दर्शन का स्वरूप

वेदान्त दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है—'तत् त्वं असि' अर्थात् वह तू है। यह जीवात्मा और

परमात्मा (ब्रह्म) की एकता का सूचक है। नित्य, असीम तथा अपरिवर्तनशील ब्रह्म अविभाज्य है; और जीवात्मा उसका एक भाग या उसमें से निकली कोई वस्तु नही है, अपितु वह ब्रह्म से अभिन्न ही है। अज्ञान के परिणाम स्वरूप माया के रूप में विभिन्न दृश्य वस्तुएँ और घटनायें उत्पन्न होती हैं। इस अज्ञान को केवल उपनिषदों से, जो वेदो का सैद्धांतिक तथा दार्शनिक भाग है, सच्चा ज्ञान प्राप्त करके ही हटाया जा सकता है। वेदान्त में ज्ञान के दो अलग अलग रूप बताए गए हैं—परा विद्या और अपरा विद्या। इनमे से पहले का संबंध परम तथा व्यक्तित्वरहित से है, जो रूप तथा गुणों से रहित है और दूसरे का संबंध उस वैयक्तिक ब्रह्म से है, जो ईश्वर अर्थात् इस संसार का स्रष्टा है। इनमे से निम्नतर रूप उच्चतर रूप का एक मायामय रूप मात्र है, जो अज्ञान से उत्पन्न होता है।

वेदान्त विवर्तवाद के सिद्धान्त को मानता है। यह संसार ब्रह्म से रचा गया है और उसी में लीन होता है। ब्रह्म की सत्ता सत्य है और शेष जगत् का प्रपञ्च मिथ्या है। मानव भ्रम से सब को सत्य मान वैठता है जैसे अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को भ्रम से व्यक्ति सर्प समझ लेता है। इस भ्रम से पूर्ण मानसिक आरोप को शङ्कराचार्य ने अध्यासवाद कहा है।

जगत् की सृष्टि के लिए माया के रूप का ज्ञान आवश्यक है। माया ब्रह्म की शक्ति है। उसके बिना ब्रह्म सृष्टि करने में प्रवृत्त नही होता। शकर ने इसी माया को अविद्या नाम दिया है। ब्रह्मज्ञानी को माया का ज्ञान नही होता। आवरण और विक्षेप नाम की माया की दो शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति के द्वारा वस्तु के असली रूप को छिपा लिया जाता है और विक्षेप शक्ति के द्वारा उसी वस्तु में नवीन वस्तु की कल्पना की जाती है। अपनी आवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा उसमे आकाश, पृथिवी आदि अनेक पदार्थो का आरोप कर लेती है और ब्रह्म का रूप ज्यो का त्यो वना रहता है। इसी प्रकार माया अपना रूप दिखाया करती है और व्यक्ति उसे सत्य मानता रहता है। माया से आवृत होने पर ब्रह्म ईश्वर कहा जाता है और वही संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है।

वेदान्तदर्शन ने प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन प्रकार की सत्ता मानी है। प्रातिभासिक सत्ता क्षणिक है और थोड़ी देर के लिए रहती है जैसे रज्जु में सर्प का शुक्ति मे रजत का आभास। संसार के सव व्यवहार के लिए दिखाई देने वाले पदार्थों में व्यावहारिक सत्ता होती है। यह पूर्व की सत्ता की भाँति क्षणिक नही। संसार के पदार्थों मे अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम यह पांच धर्म होते है। इनमे पूर्व के तीन ब्रह्म के धर्म हैं और शेष दो ससार के धर्म हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई नाम एवं रूप अवश्य होता है। व्यवहारकाल मे वही सत्य प्रतीत होता है। पारमार्थिक सत्ता सत्य है, क्योकि यह संसार सव को सत्य प्रतीत होता है, किन्तु किसी ज्ञानी की दृष्टि से देखने पर संसार असत्य लगने लगता है।

वेदान्तदर्शन का कहना है कि चैतन्य का विम्व भिन्न-भिन्न स्थानो पर पड़ने से वह भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेता है। चैतन्य का प्रतिविम्व जव माया या अविद्या पर पड़ता है तो वह ईश्वर चैतन्य कहा जाता है परन्तु वही प्रतिविम्व जव अन्त.करण पर पड़ता है तो वह जीव चैतन्य कहलाता है। अत. अन्त.करण से अविच्छिन्न चैतन्य ही जीव है इसी जीव और ब्रह्म में अभेद है।

यही वेदान्त का मूल उपदेश है। श्रवण-मनन के द्वारा जब जीव की अविद्या हट जाती है तब उसे ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है वह 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करने लगता है।

वेदान्त के सिद्धान्तों में पारस्परिक मतभेद मुख्यतः जीव और ईश्वर के स्वरूप के विषय में है। शंकराचार्य ईश्वर और जीव का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। शंकर का सिद्धान्त है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है), 'जीवो ब्रह्मैवनापरः' (जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है), 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' (यह सब कुछ ब्रह्म है, "तत्वमसि' (तू वही है)। शंकर का दूसरा सिद्धान्त मायावाद है। मायावाद का आशय यह है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सत्य नहीं है, वह केवल आभासमात्र है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में ब्रह्म इस जगत् के रूप में दृष्टिगत होता है। ब्रह्म का जगत् के रूप मे दिखाई पड़ना उसके माया रूप का ही परिणाम है। जीव को मायान्वित ब्रह्म भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अनेकत्व केवल आभासमात्र है, व्यावहारिक है किन्तु एकत्व एकमात्र सत्य या पारमार्थिक है। शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण दो रूप माने हैं। मायाविशिष्ट ब्रह्म सगुण है तथा यही ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्ममाया के सम्बन्ध से रहित, सर्वश्रेष्ठ, अखण्ड, व्यापक और सच्चिदानन्द है।

शंकर का अद्वैत दर्शन

अद्वैत दर्शन के संस्थापक आदि श्री शंकराचार्य भारतवर्ष के सन्तो, दार्शनिकों, और धार्मिक आचार्यो में प्रथम श्रेणी की विभूति हुए हैं। इनका जन्म केरल देश के कलादी ग्राम में शिवगुरु-आर्याम्बा नामक दम्पति के कुटुम्ब मे सन् ७८८ ई० मे हुआ बताया जाता है। ३२ वर्ष की स्वल्प इहलीला में उन्होंने विद्या प्राप्त की और युवावस्था में ही संन्यास लेकर हिन्दू-धर्म के उद्धार का बीड़ा उठाया। काश्मीर और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, सारे देश के मुख्य-मुख्य स्थानों में वे गये, और शास्त्रार्थ करके बौद्धों, जैनियो, पाशुकालान्मुख, कापालिक, स्मार्तो और अन्य विभिन्न साम्प्रदायिकों को शास्त्रार्थ मे पराजित करके उनको आर्य परम्परानुगत सीधा मार्ग दिखाया। वैष्णव, शैव और शाक्त सभी मतो के उद्धार के लिए उन्होंने स्मरणीय कार्य किया। वे प्रमुख रूप से शैव थे। उन्होने केदारनाथ (हिमालय), द्वारका, पुरी और शृंगेरी में भारत के चार सीमान्त कोणो मे—प्रसिद्ध मठ कायम किए। प्रचलित साधु मण्डलों को १० वर्गों मे संगठित किया। प्रस्थानत्रयी अर्थात्, १० मुख्य उपनिषद, ब्रह्मसू, और श्रीमद्भगवद्गीता के अधिकृत भाष्य लिखे। ये भारतीय धार्मिक साहित्य की आज भी सर्वोच्च कृतियाँ मानी जाती हैं। यह सब करते हुये उन्होंने एक नवीन दर्शन—'अद्वैतवाद' का निरूपण किया जो आज समग्र भारतीय अध्यात्म का तानाबाना बन चुका है। ऐसी अद्भुत विभूति की उत्तरवर्ती भक्तों ने स्वयं शंकर भगवान का अवतार मान लिया। शंकर के व्यक्तित्व में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वया मिलता है। उनके भाष्यो में चिन्तन का अपूर्व गाम्भीर्य, अतुलनीय सूक्ष्मता और अगम्य प्रतिभा का प्रदर्शन है जिसे आज विश्व भर के दार्शनिक नतमस्तक होकर मानते हैं।

वेदान्त के अनुसार जगत् में जो नाना दृश्य दिखाई दे रहे हैं, वे सब परिणामी और अनित्य हैं। वे बदलते रहते है, किन्तु उनका ज्ञान करने वाला या द्रष्टा आत्मा सदा एकस्वरूप रहता है। ब्रह्म नित्य-स्वरूप या आत्मा-स्वरूप है। नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञात के ही सगुण, सोपाधि या माया-

त्मक रूप हैं, ऐसा जानकर ज्ञात और ज्ञेय के द्वैत का वेदान्त समाधान कर देता है।

भारतीय षड्दर्शनों में अद्वैत दर्शन का विशिष्ट स्थान है। शंकर अद्वैत में ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थ असत हैं। जगत् माया है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है और मोक्ष मे जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है। व्यावहारिक पक्ष में यह कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता और एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का उपाय मानता है। शंकराचार्य ने अन्वय दृष्टि के बल पर ब्रह्मपाद की और व्यतिरेक दृष्टि के आधार पर मायावाद की स्थापना की।

ब्रह्म और ईश्वर—व्यावहारिक दृष्टि से जो ईश्वर है वही परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म है। जैसे व्यावहारिक दृष्टि से जो जीव है वही पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा या ब्रह्म है। परन्तु उपनिषदों मे दो ब्रह्म कहे गये हैं, परब्रह्म और अपरब्रह्म। इनको क्रमश निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म भी कहा जाता है। इन्ही को संक्षेप मे ब्रह्म और ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर समष्टि है और जीव व्यष्टि है। शंकराचार्य का कहना है कि परमार्थत ईश्वर असंसारी है। किन्तु उपाधिवश संसारी है। किन्तु ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है और जीव सृष्टिकर्त्ता नही है। यही दोनो का मुख्य भेद है। शंकर ने परब्रह्म को ही सृष्टि का मूल कारण माना है।

यदि ईश्वर अपरब्रह्म है और परम ब्रह्म की अपेक्षा करता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है और ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता नही है। शंकराचार्य ने माना है कि परब्रह्म ही सृष्टि का मूल है। उनकी दृष्टि मे ब्रह्म और ईश्वर एक ही हैं। शंकराचार्य देवताओ की उपासना की भी उपयोगिता मानते हैं; क्योंकि उससे अज्ञानो की नास्तिकता दूर होती है।

आत्मा और ब्रह्म—शंकर का मत विशुद्ध अद्वैतवाद है। उसके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय से सद्, ज्ञाता, ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद, ये सब माया की सृष्टि है। शंकर का मत है कि वस्तुतः तत्व एक ही है। उपनिषदो मे जीव और ब्रह्म की जो एकता बार-बार दिखाई गई है, उसका वे पूर्णत. समर्थन करते हैं। इसका ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कुछ अन्तर नही। तत्वमसि—जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है। आत्मा व परमात्मा एक हैं। वह स्वतःप्रकाश, अनन्त एवं चैतन्य-स्वरूप है।

आत्मा का स्वरूप—इन्द्रियों के द्वारा जो स्थूल शरीर दिखाई देता है, उसके भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है जो अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रियो का समूह है। सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ दूसरे स्थूल शरीर मे चला जाता है। ये दोनो शरीर—स्थूल और सूक्ष्म माया के कार्य हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनन्दस्वरूप है। शंकर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए युक्ति देने की आवश्यकता नही समझते। आत्मा प्रत्येक जीव में स्वत प्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है 'मैं हूँ'। 'मैं नही हूँ' ऐसा कोई नही अनुभव करता। प्रत्येक आनन्द का मूल स्रोत आत्मा ही है। जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे किसी विषय की आकांक्षा नही रहती।

मोक्ष—अद्वैतवाद के अनुसार सत् एक और अद्वितीय है। वह आत्मा या ब्रह्म है। आत्मा ही ब्रह्म है—किन्तु हमे ऐसा अनुभव नही होता। इसका कारण अविद्या है। अविद्या से हम अपने को बन्धन में समझते हैं और दुखी होते हैं। कारण के नाश से कार्य का नाश होता है, इसी तरह ब्रह्म को घेरे हुए अज्ञान का नाश होने पर अन्त मे एकमात्र ब्रह्म रह जाता है। यही, साक्षात्कार

है। इस स्थिति को मोक्ष कहा जाता है। शंकर आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वभाव वाला मानते हैं। अतः उनके मत से पर्याप्त साधन होने पर जीवन के अन्दर ही मुक्ति मिल सकती है।

ब्रह्म या आत्मा—'ब्रह्म' निर्विशेष तत्त्व है। यह सर्वव्यापी और चेतन है। वस्तुत. इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नही है, यह स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है, अज्ञान से मुग्ध जीव इसे नहीं देखता। इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्ति जीव को घेरे रहती है। वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन इस भ्रान्ति को दूर करना है।

अविद्या और माया—शंकर ने 'अविद्या' और 'माया' में कोई भेद नही किया है। 'माया' से आच्छन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' तथा 'अविद्या' से आच्छन्न ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं। माया 'ब्रह्म' के समान 'सत्' नही है। यह त्रिगुणात्मिका है, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों का स्वरूप है। यह ज्ञान-विरोधी है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से इस माया का नाश होता है।

'अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है', इससे 'माया' का भान होता है। इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—'आवरण' और 'विक्षेप'। आवरण सर्वव्यापी 'आत्मा' को आच्छादित करता है, जिससे आत्मा बद्ध हो जाती है। तब साधक आत्मा को नही देख पाता। 'आत्मा' के स्वरूप को आवरणशक्तिसम्पन्न के प्रभाव से न देखकर, उसके स्थान में उसे आकाश आदि समस्त जगत् समझ लेना भ्रान्ति है। यह अज्ञान की विक्षेप-शक्ति है। इसी शक्ति के प्रभाव से समस्त विश्व का आरोप आत्मा मे होता है। इसी 'शक्ति' के द्वारा 'आब्रह्मस्तम्ब' पर्यन्त जगत् की सृष्टि होती है।

सृष्टि का कारण—इन दोनो शक्तियों से आत्मा में क्रिया होती है और इसी क्रिया के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। सृष्टि क्रमशः होती है। प्रथम सूक्ष्म, फिर स्थूल तथा स्थूलतर एवं स्थूलतम इसी क्रम से सृष्टि होती है। यह क्रमिक विकास समस्त ब्रह्माण्ड में होता है।

ईश्वर का महत्व—समस्त अज्ञानो से अविच्छिन्न 'चैतन्य' 'ईश्वर' है। समस्त अज्ञानो को प्रकाशित करने के कारण 'ईश्वर' 'सर्वज्ञ' है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण यह 'सर्वेश्वर' है। सभी जीवो को अपने-अपने कर्मों मे प्रेरणा देने के कारण यह 'सर्वनियन्ता' है। प्रमाणो के द्वारा यह जाना नही जा सकता, इसी लिए यह 'अव्यक्त' भी है। 'ईश्वर' केवल लीला के लिए, विना किसी प्रयोजन के सृष्टि करता है। समस्त विश्व का कारण-शरीर भी 'ईश्वर' है। इस कारणावस्था मे प्रकृति और पुरुष (अर्थात् माया और ब्रह्म) के अतिरिक्त न तो कोई स्थूल और न सूक्ष्म कार्यरूप प्रपञ्च विद्यमान रहता है, इसीलिए यह 'आनन्दमय' अवस्था है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के साथ चित्त मे जो 'प्रतिविम्ब' होता है, वह भी 'ब्रह्मस्वरूप' हो जाता है। पुनः 'ब्रह्म' को छोड़ कर कुछ भी नही वचता। जीव और ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है।

जीव और ब्रह्म का ऐक्य—जीव और ब्रह्म के एक हो जाने से तथा उस जीव के लिए माया के विलीन हो जाने से, 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन', यह श्रुतिवाक्य प्रमाणित हो जाता है। इसी अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करने पर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है और दुःख से सर्वदा के लिए छुटकारा भी प्राप्त कर लेता है।

अद्वैत दर्शन की विशेषताएँ

उपरोक्त रूपरेखा के आधार पर हम शंकराचार्य के अद्वैतवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ इंगित कर सकते हैं :—

१—शंकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' में कहा है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" अर्थात ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, और जीव ब्रह्म है, दूसरा नही।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि अद्वैत दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही 'अद्वैत तत्व' है।

२—शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन द्वारा 'अभेद' की प्रतिष्ठापना की है। उनके अनुसार भेद मायाकृत हैं और भूठे हैं।

३—अद्वैतवाद के अनुसार माया ब्रह्म का आच्छादन है। मोक्षावस्था मे माया नही रहती केवल अद्वितीय ब्रह्म ही रहता है।

४—शंकराचार्य के वेदान्त मे जीव और परमात्मा या ब्रह्म का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीवन काल मे ही जीव की मुक्ति हो जाती है।

५—शंकराचार्य के अद्वैतवाद मे 'ब्रह्म' चेतन और आनन्दस्वरूप है। इसके अनुसार 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' की अनुभूति अपने शरीर में ही की जा सकती है।

६—शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है।

७—अद्वैतवाद के अनुसार अनेकत्व केवल आभास मात्र है किन्तु एकत्व एकमात्र सत्य या पारमार्थिक है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद

१०१७ ई० मे जन्म लेने वाले महान दार्शनिक चिन्तक श्री रामानुजाचार्य ने 'ग्रन्थ वेदान्त सार', 'वेदार्थ संग्रह', 'गीता की टीका' तथा 'वेदान्त दीप' मे अपने दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति की है। उन्होने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया।

विशिष्टाद्वैत का दर्शन और सिद्धान्त

तत्व-विचार—रामानुज ने शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत का खण्डन किया, और वेदान्त दर्शन में भक्ति की स्थापना की। रामानुज के अनुसार चित् (जीव), अचित् (जगत्) तथा ईश्वर ये ही तीन मूल तत्व हैं।

ईश्वर—उपरोक्त मूल तत्वो में ईश्वर की प्रधानता है। वह स्वतन्त्र तथा नियामक है। चित् (आत्मा-या जीव) तथा अचित् (जड़ जगत) ईश्वर के आश्रित है। जीव तथा जगत वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, परन्तु वे ईश्वर की अधीनता में रहते है। जीव भोक्ता है। जड पदार्थ भोग्य है। ईश्वर अन्तर्यामी रूप से इन दोनो को प्रेरणा दिया करता है। तभी वह अन्तर्यामी कहलाता है। चित्, अचित उसके अंग हैं और वह अंगी है। वह अंशी है, ये दोनो उसके अंश है।

वेदान्त का ईश्वर, वास्तव में, ईश्वर नही ब्रह्म है। उसे विश्व के प्रपंच से कोई सरोकार नही। उसने संसार की रचना नही की, न वह भक्तो की प्रार्थना ही सुनता है। वह शुद्ध, बुद्ध, निराकार और निर्विकार है। रामानुज ने ब्रह्म में ईश्वरत्व का आरोप किया। उनका ईश्वर आनन्द, ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त, जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला है। वह भक्तों का एक मात्र आश्रय है। वह अज्ञानियों के लिए ज्ञान राशि, निरावलम्बों के लिए एक मात्र अवलम्बन, अपराधियों के लिए क्षमा स्वरूप, कुटिलों के लिए सरल और दुष्टो के लिए सुहृद स्वरूप है। रामानुज ने ईश्वर के पाँच स्वरूपों की चर्चा की वे हैं—

(१) पर—इस रूप में वह वैकुण्ड मे वास करता है जहाँ देवता, देवियाँ तथा अन्य मुक्त

आत्माएँ उसे देखती रहती हैं। (२) व्यूह—यह स्वरूप विश्व की लीला के निमित्त है। यह संकर्षण, प्रदुम्न तथा अनिरुद्ध के स्वरूप में विद्यमान रहता है। उसका ज्ञान और बल संकर्षण के स्वरूप में, ऐश्वर्य तथा वीर्य प्रदुम्न के रूप में तथा शक्ति और तेज अनिरुद्ध के रूप मे प्रकट होता है। (३) विभव—अनन्त होकर भी उसके गौण और मुख्य दो भेद रहते हैं। मुख्य विभव मुमुक्षों के लिए उपास्य है, तथा गौण उनके अवतार के रूप मे प्रत्यक्ष होता है। (४) अन्तर्यामी—इस रूप में वह अन्तःकाल से निवास करते हैं और योगियों के ध्यान में उनका दर्शन करते हैं, तथा (५) अर्चावतार—भक्त अपनी रुचि के अनुसार उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है।

जीवात्मा—चित्-तत्व ही जीवात्मा है। यह स्वप्रकाश है, आनन्द-स्वरूप है, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य निरवयव निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर ही इसका नियामक है। जीव जो कुछ करता है सब ईश्वर प्रेरित होकर ही करता है।

आत्माएँ तीन वर्गों मे विभक्त है। बुद्ध वे आत्माएँ हैं जिनका सांसारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। मुक्त वे आत्माएँ हैं जो संसार के कर्त्तव्यों को भगवान की आज्ञा मानकर सेवक के समान उनका पालन करती हैं। नित्य जीव वे हैं जिनका संसार मे कभी आना नही हुआ।

अचित्-तत्व—यही जड अथवा जगत् है। यह तीन प्रकार का है। प्राकृत—प्रकृति से सम्बन्धित जगत। अप्राकृत—प्रकृति से बाहर का जगत, जैसे भगवान का लोक, वैकुण्ठ धाम, गोपुर आदि। काल भी अचेतन पदार्थ है। काल जगत् का नियामक होकर भी ईश्वर के अधीन है, और उसी की नियम श्रृंखला में बँधा हुआ है।

ईश्वर की प्राप्ति—ईश्वर की प्राप्ति भक्ति के द्वारा होती है। अपने आपको भक्ति के योग्य बनाने के लिए कर्त्तव्यो का पालन करना पडता है, फिर त्याग, ध्यान, धारण आदि से आत्म-शुद्धि करनी पड़ती है। परन्तु इस भक्ति मार्ग के सभी अधिकारी नही हैं। केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य ही को भक्ति का अधिकार है। शूद्र के लिए शरणागति मार्ग बतलाया गया है। जो अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर दे, वे ही प्रपन्न कहलाते है। शरणागति का ही दूसरा नाम प्रपत्ति है। यहाँ पर यह बात समझ लेनी चाहिए आलवार संत वर्णाश्रम के विधि-निषेधो के कायल न थे। रामानुज ने द्विताजियो के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति विहित बताया, किन्तु प्रपत्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त कर दिया। इस प्रकार रामानुज ने वर्णाश्रम की रक्षा की और उनके दायरे मे वह जितना उदार हो सकते थे, उतनी उदारता उन्होने दिखलायी। इस प्रकार अनेक शूद्र उनके सम्प्रदाय मे सम्मिलित होकर वैष्णव बने और अपने आचरण धर्मानुकूल कर सके।

रामानुज की विशेषता—(१) रामानुज ने ब्रह्म में ईश्वरतत्व का आरोप किया। शंकर का ब्रह्म निराकार और निर्विकार होने के कारण विश्व के पचड़ो मे नही पडता। रामानुज ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया वह भक्तो का दुख दूर करने के लिए नंगे पैर दौड पडता है।

(२) रामानुज ने भक्ति मार्ग को प्रधानता दी। उन्होने सिद्ध किया कि भक्ति का दर्शन केवल आलवार तथा नायनार के हृदय द्वारो मे ही नहीं मिलता है वरन् प्रस्थानत्रयी (वेदान्त सूत्र, उपनिषद् और गीता) से भी इसकी सिद्धि होती है।

(३) शंकर केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व मानते है, रामानुज ईश्वर (ब्रह्म) के साथ जीव और जगत् को भी अनादि मानते है।

(४) रामानुज ने शरणागति तथा प्रपत्ति का मार्ग सबके लिए खोल दिया।

शंकर तथा रामानुज के विचारों मे अन्तर

रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार शंकर से भिन्न हैं। शंकर ब्रह्म तत्व को यथार्थ मानते हैं और उसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को स्वीकार नहीं करते। परन्तु रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में तीन तत्वो की सत्ता आती है—चेतन तत्व (आत्मा), जड़ तत्व (समस्त भौतिक पदार्थ) तथा परमचेतन तत्व (ईश्वर)।

शंकर निर्गुण और सगुण दोनो ही ब्रह्म को स्वीकार करते हैं परन्तु रामानुज सगुण ब्रह्म पर विशेष बल देते हैं। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म जगत् का कारण है, अतः समस्त जगत् बीज रूप मे ब्रह्म में विद्यमान रहता है।

शंकर ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, एवं जगत् को मिथ्या। परन्तु रामानुज जगत् को भी सत्य मानते हैं। उनके अनुसार जगत् ईश्वर की कृति है, अत. वह भी सत्य है।

शंकर जगत् को माया की कृति मानते है और इसलिए उसको मिथ्या कहते है। उनके अनुसार यह विवर्तमात्र है परन्तु रामानुज सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है। रामानुज का जगत् कारणवाद, ब्रह्म परिणामवाद कहा जाता है और शंकर का जगत् कारण विवर्तवाद। परन्तु दोनो ही सत्यकार्यवाद के सिद्धान्त को मानते हैं और दोनो ही के अनुसार जगत् बीज रूप मे ईश्वर मे विद्यमान रहता है।

शंकर के मतानुसार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित कारण दोनों ही है परन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर "कारण ब्रह्म" और "कार्य-ब्रह्म" दोनो है। रामानुज प्रकृति को अचित या जड़त्व मानते हैं।

रामानुज और शंकर दोनों ही इस बात को मानने वाले है कि जगत् की रचना मे ईश्वर का कोई प्रयोजन नही है। विश्व की रचना उसकी एक क्रीड़ामात्र है।

रामानुज के अनुसार प्रकृति सत् है। उसे असत् या अनिर्वचनीय नही कहा जा सकता है। शंकर की माया न तो पूर्ण रूप से सत् है और न पूर्ण रूप से असत्। रामानुज के अनुसार प्रकृति का कारण जगत् की रचना होती है और इसका विश्वरूप ज्ञान पूर्णरुपेण सत्य है। किसी भी प्रकार का तत्व मिथ्या नही है। नानात्मक जगत् मिथ्या नही है। विश्व माया की रचना है इसका ज्ञान सदैव भ्रमात्मक और अयथार्थ है। रामानुज इसके मूल मे एकत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस बहुलता का नियंत्रण एक शाश्वत सत्ता ईश्वर के द्वारा हुआ है। शंकर नानात्व को मिथ्या मानते हैं क्योकि नानात्व मे भेद है और अभेद ही सत्य है।

रामानुज के अनुसार प्रकृति अचित् तत्व है और बीज रूप मे ईश्वर की ही शक्ति है। उसके द्वारा ईश्वर संसार की रचना करता है। अचेतन तत्व का यथार्थ परिमाण ही प्रकृति है। शंकर के अनुसार माया ईश्वर की सहायक है। उसके द्वारा ही नानात्मक विश्व रूप प्रकट होता है। वह तत्व रूप में ईश्वर में विद्यमान नही है बल्कि ईश्वर की इच्छा-मात्र है।

रामानुज जगत् को प्रकृति के अवयवो का व्यक्त रूप मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति मे सारा जगत् व्याप्त है। परन्तु शंकर के अनुसार जगत् मिथ्या तो है पर माया नही। मिथ्यात्व माया का विवर्त मात्र है। माया मे स्वयं कोई परिवर्तन नही होता।

रामानुज जगत् का परिणामवाद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संसार की सभी चीजें

प्रकृति का परिमाण या व्यक्त रूप हैं। शंकर विवर्तवाद का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार विश्व आभास-मात्र है। वह सत्य नही है। केवल वास्तविक-सा प्रतीत होता है। वह ब्रह्म का विवर्तमात्र है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. भारतीय दर्शन के मूल तत्व क्या हैं? (पी० सी० एस० १९६४)

२. भारतीय दर्शन के विकास पर प्रकाश डालते हुए उसकी विशेषताओ को स्पष्ट कीजिये।

३. भारतीय षड-दर्शन की मूलभूत विशेषताओ का वर्णन कीजिये। (पी० सी० एस० १९६२)

४. आस्तिक-नास्तिक दर्शनो के विषय मे संक्षिप्त विवरण देते हुए, चार्वाक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिये।

५. वैशेषिक-दर्शन के प्रमुख विचारो को स्पष्ट कीजिये। (पी० सी० एस० १९७२)

६. साख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९६५, ७६)

७. साख्य अथवा योग दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९६८ तथा १९७०)

८. भारतीय जीवन और विचारो मे उपनिषदो के महत्व का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९६५)

९. उपनिषदो के ब्रह्मवाद को समझाइये। (पी० सी० एस० १९६७)

१०. उपनिषदो के दर्शन पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (पी० सी० एस० १९७२)

११. गीता मे ज्ञान कर्म और भक्ति का समन्वय किस प्रकार किया गया है? (पी० सी० एस० १९६५; १९७१, ७२)

१२. शकर के जीवन चरित का संक्षिप्त विवरण देते हुए, प्राचीन भारतीय दर्शन को उनकी देन का उल्लेख कीजिये। (पी० सी० एस० १९६३, १९७७)

१३. शकर के अद्वैत वेदान्त के विषय मे आप क्या जानते है? (पी० सी० एस० १९६६, ७४)

१४. ब्रह्म और माया के विषय मे शंकर और रामानुज के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिये। (पी० सी० एस० १९६९)

१५. रामानुज के दार्शनिक विचारो की व्याख्या कीजिये। शंकर के विचारों से उनमे क्या अन्तर है? (पी० सी० एस० १९७५)

१६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(i) शंकराचार्य (पी० सी० एस० १९६४)

(ii) गीता का दर्शन (पी० सी० एस० १९६८, १९७०, ७५)

(iii) न्याय दर्शन।

अध्याय छब्बीस

भारतीय संस्कृति का प्रसार

विदेशो मे भारत का राजनैतिक और सास्कृतिक प्रसार को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग हिमालय के पार की ओर तथा दूसरा भाग समुद्र के पार की ओर के देशो से सम्वन्वित है। पश्चिमी एशिया मे भारतीय प्रभाव के चिन्ह लगभग १४०० ई० पू० के समय से मिलने लगते है जवकि समुद्र पार के देशो मे यह प्रभाव काफी वाद मे दिखाई देता है। वोगज-कोई उत्कीर्ण लेख मे वैदिक देवताओ के समानार्थक शब्द मिले हैं। मौर्यो के समय से तो इस ओर के देशो से भारत के सम्पर्क के निश्चित प्रमाण मिलने लगते है। अशोक और उसके पिता विन्दु-सार के समकालीन पश्चिम एशिया के शासकों के तो नाम भी मिलते है, जिनसे इन दोनों भारतीय शासको के दौत्य सम्वन्ध थे। वाद मे अनेक व्यापारी, विद्वान, धर्म जिज्ञासु तथा प्रचारक पश्चिम तथा मध्य एशिया मे जाते-आते रहे। मध्य एशिया मे उत्खनन के परिणाम स्वरूप ऐसी वहुत सी सामग्री प्राप्त हुई है, जिसके आधार पर यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि पंजाव और काश्मीर से अनेक भारतीय तारीम नदी की घाटी मे जाकर वस गये थे। ओरेलस्टाइन ने तो यहां तक कह डाला है कि जव वह उस प्रदेश मे खोज कार्य कर रहा था तो उसे प्रतीत हुआ, जैसे वह पंजाव मे है। खोतान मे तो एक भारतीय राज्य भी था--जिसकी स्थापना अशोक के नेत्रहीन पुत्र कुणाल ने की थी। भारतीय संस्कृति के प्रसार का विशेष श्रेय उन वौद्ध विद्वानो को प्राप्त है, जिन्होने अपने मान्य धर्म का अनुवाद चीनी भाषा मे करके उसे सुदूर पूर्व के देशो तक पहुँचाया था। चीनी भाषा का नाम आते ही चीन का स्मरण भी हो आता है। भारतीय संस्कृति के विस्तार से परे, यदि सम्पूर्ण एशिया की संस्कृति का अध्ययन किया जाये, तो इस परिणाम की प्राप्ति होती है कि सम्पूर्ण एशियाई सस्कृति के वीच एक विभाजन रेखा है, जिसके वाईं ओर के देशो मे श्री लंका, वर्मा, स्याम, इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन का कुछ भाग है और दूसरी ओर के देशो मे मध्य एशिया, कोरिया और जापान आदि है। पहले समूह पर भारतीय और दूसरे समूह पर चीनी प्रभाव के लक्षण पर्याप्त रूप में स्पष्ट हैं। ये प्रभाव रोचक भी है और गंभीर भी। इस सम्वन्ध में यह वात विशेष रूप से ध्यान मे रखनी चाहिये कि किसी संस्कृति विशेष के विषय मे किसी दूसरी संस्कृति

की अपेक्षा श्रेष्ठता की दृष्टि से नही सोचना चाहिये। हर संस्कृति की अपनी विशेष लाक्षणिकताएँ होती है और यदि यह कहा जाये कि अमुक संस्कृति अमुक संस्कृति से श्रेष्ठ थी—तो यह अच्छी बात नही है। फिर भी ऐसा कहने की इच्छा अदम्य रूप से उत्पन्न तो होती ही है। इस अध्याय मे हमारा लक्ष्य भारतीय संस्कृति की विदेशो मे प्रक्रिया की मुख्य लाक्षणिकताओ का उल्लेख करना ही है।

मध्य एशिया मे प्रसार

रोम और चीन के बीच रेशम व्यापार के लिये प्रसिद्ध मार्ग पर स्थित होने के कारण मध्य एशिया अनेक संस्कृतियों का मिलन केन्द्र रहा है। उत्तरी मार्ग कूचा, कर्शर (प्राचीन अग्निदेश) और तुर्फान को छूता था और दक्षिणी मार्ग यारकद, खोतान और मीरान हो कर जाता था। ये दोनो मार्ग अंत मे चीन के पश्चिम सीमात पर तुन-हुआग मे जा कर मिल जाते थे। तुन-हुआग बौद्ध धर्म के साथ-साथ ब्राह्मण धर्म का भी केन्द्र था। मध्य एशिया मे हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ भी पाई गई है। पूर्वी तुर्किस्तान के खोतानी-शक प्रलेखो मे बुद्ध को नारायण नाम दिया गया है। खोतान मे गोमति नामक महान बौद्ध प्रतिष्ठान था। काशगर, यारकन्द तथा कुचि भी बौद्धमत के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। यह भी कहा जाता है कि मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म की जडें कुषाणो के काल से पहले ही जम चुकी थी और प्रसिद्ध बौद्ध धर्मशास्त्री घोषक, कनिष्क के काल मे पुष्पपुर मे हुई बौद्ध परिषद् के प्रमुख नेताओ मे से एक था। मध्य एशिया मे कुछ हिन्दू संप्रदाय, देवता और देविया भी लोगो को ज्ञात थी।

मध्य एशिया के खरोष्ठी लिपि मे उत्कीर्ण प्रलेखो मे शासको के लिए प्रयुक्त की गई उपाधियाँ पूर्णतया भारतीय जान पड़ती है, जैसे महारायस रायातिरायस (महाराज राजातिराज) या सचधम्मस्तिदस्स (सत्यधर्मस्थितस्य)। इस प्रकार की उपाधियो से कुषाण नरेशो द्वारा, जिन्हें देवपुत्र कहा जाता था, प्रयुक्त इनसे मिलती-जुलती उपाधियो का स्मरण हो आता है। राजत्व मे यह देवतत्व का अंश हिन्दू धारणा के अनुरूप ही था। खरोष्ठी प्रलेखो से यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ भारत के समान ही पितृ प्रधान परिवार का प्रचलन था।

इन प्रलेखो मे वर्णित इन लोगो का सामाजिक-आर्थिक जीवन भी भारतीय जीवन से भिन्न प्रतीत नही होता। निया प्रलेखो से एक पितृ प्रधान परिवार का अनुमान होता है, जिसमे परिवार का मुखिया पितु (पुरुष) अन्य सदस्यों पर अधिकार रखता था। पिता का बहुत आदर किया जाता था और अच्छे काम करने तथा पवित्र जीवन विताने पर जोर दिया जाता था। स्थानीय प्रभाव तथा प्रथाओ का समाज पर प्रभुत्व था, क्योकि लडकियो और दासो के क्रय-विक्रय का बारंबार उल्लेख मिलता है, जो निया समाज की एक विशेषता थी। समाज का उच्च वर्ग भारतीय पद्धतियो से जैसे व्याकरण (शब्द), सगीत (गान्धर्व), खगोलशास्त्र (ज्योतिष), काव्य, नृत्य (तालवी) और चित्रकला (चित्रग्राम) से परिचित था। प्रलेखो मे बारह नक्षत्रो अर्थात् ग्रहो का भी उल्लेख है। सुवर्ण तथा कनक शब्दो के प्रयोग से प्रकट है कि यहाँ पर भारतीय मुद्रा भी प्रचलित थी।

सुदूर पूर्व में प्रसार

चीन, कोरिया, जापान और मंगोलिया मे भारतीय संस्कृति का प्रसार अधिकाशतः बौद्ध भिक्षुओ ने किया। चीन मे बौद्धमत का इतिहास हानवंश के सम्राट मिंग-टी के शासन काल से

आरम्भ होता है। ६७ ईस्वी में बौद्ध मूर्तियों और धर्म ग्रन्थों के साथ दो भारतीय भिक्षु, काश्यप मातंग और धर्मरक्ष यहाँ आए। इसके उपरान्त कुमारजीव, परमार्थ तथा गुणवर्मन आदि बौद्ध भिक्षु चीन गये। जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश, धर्मगुप्त, बोधिरुचि तथा शुभाकर सिंह आदि ने चीन में बौद्ध धर्म को एक बड़ी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया। चीन से भी भारत में फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग नामक प्रख्यात यात्री भारत आये।

सन् ३७४ ईस्वी मे अताओ और शुन्ताओं नामक दो भिक्षुओं को उत्तरी चीन से कोरिया में कोर्यो (आधुनिक पेन्यांग) की राजधानी में निमंत्रित किया गया। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक बौद्ध धर्म धुर दक्षिण तक पहुँच गया था। सन् ५२८ ईस्वी मे बुद्ध की पूजा को अधिकृत रूप से मान्यता दी गई और उसके बाद मन्दिरो का निर्माण तथा बौद्ध अनुष्ठानों का पालन आरंभ हुआ। डेढ़ शताब्दी मे बौद्ध धर्म सारे कोरिया मे फैल गया था और वहाँ से यह जापान पहुँचा।

जापान मे रूढिवादी शक्तियाँ प्रबल थी अतः यहाँ पर बौद्ध धर्म के विस्तार की गति मन्द रही। जापान मे बौद्ध धर्म का प्रवेश कोरिया से हुआ। आत्रजको ने बुद्ध की एक सुनहले झोल वाली प्रतिमा ५३४ ईस्वी मे अधिकृत रूप से जापानी दरबार को भेट की। इन उपहारों के साथ बौद्ध धर्म का अनुसरण करने वाले लोगो को होने वाले लाभ भी बताए गए थे। सन् ५८७ ईस्वी में बौद्ध धर्म की प्रगति के लिए निर्णायक कदम उठाये गये और राज्य के व्यय से एक मंदिर बनवाया गया। राजा शोतोकू के समय (५९३-६२२ ईस्वी) बौद्ध धर्म जापान का राजधर्म बन गया। इस काल मे कोरिया से धर्म प्रचारक तथा विद्वान् भिक्षु बुलवाये गये और जापानी भिक्षुओ को अध्ययन के लिए चीन भेजा गया। कोरियाई तथा जापानी भिक्षुओं के अलावा कुछ चीनी, भारतीय तथा अन्य भिक्षुओ ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य किया। इनमें सबसे प्रसिद्ध कान्जिन और बोधिसेन थे। बोधिसेन अपने अनामी तथा चीनी अनुयायियो के साथ सन् ६३६ ईस्वी मे जापान आया था।

पंजाब और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त से मिले रहने के कारण अफगानिस्तान मे हिन्दू और बौद्ध धर्म समान रूप से अवस्थित थे। अफगानिस्तान मे बौद्ध धर्म के केन्द्रो मे बेग्राम (प्राचीन कपिशी), हड्डा (प्राचीन नगरहार), कुन्दोज (तुखारिस्तान की प्राचीन राजधानी), बामियान, तथा अन्य बीसियों स्थान थे। इनमे बामियान सबसे महत्वपूर्ण था। यहाँ पर ब्राह्मण या हिन्दू धर्म भी खूब प्रचलित था। यहाँ से शिव, विष्णु, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, स्कन्द-कार्तिकेय, गंगा, दुर्गा की मूर्तियाँ तथा अन्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

दक्षिण पूर्वी एशिया में प्रसार

दक्षिण-पूर्व एशिया में आधुनिक ब्रह्मा, मलाया, इन्डोनेशिया, स्याम और इन्डोचायना, बोर्नियो और फिलिप्पीन द्वीपसमूह सम्मिलित माने जाते हैं। इन सभी देशो की प्राचीन अनुश्रुतियो से प्रकट होता है कि इनमें से अधिकाश देशो मे वहाँ के सबसे प्राचीन शासन और राज्य प्रवासी भारतीयों द्वारा स्थापित हुए थे। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि ब्रह्मा में, बुद्ध से भी ६०० वर्ष पहले, इरावती नदी के ऊपरी काठे में, 'संकिशा' नामक राज्य कपिलवस्तु के एक राजकुमार ने स्थापित किया था। दक्षिण युन्नान (चीन) के एक प्राचीन राजवंश को अशोक का वंशज कहा जाता है। इन्डोचाइना के कम्बुज राज्य का प्रस्थापक इन्द्रप्रस्थ का एक प्रवासी राजकुमार बताया

जाता है, आदि-आदि। इन अनुश्रुतियों का ऐतिहासिक मूल्य जो कुछ भी हो, परन्तु उनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भारतीय लोग इन देशो को बहुत प्राचीन काल से ही जाने लगे थे और वहाँ छोटी-बड़ी भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो गई थी। बहुत से इतिहासज्ञ ऐसा मानते हैं कि यह प्रवास प्रागैतहासिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था और उसका आधार सम्भवतः स्थानीय उत्पादनो का पारस्परिक विनिमय था।

ऐतिहासिक युग मे, यह सम्पर्क और बढा। सम्राट् अशोक ने "स्वर्णभूमि" नाम के एक देश को दो धर्म प्रचारक भेजे थे जिन्होने वहाँ बौद्ध मत का प्रचार किया। सम्भवत. यह प्रदेश अराकान, पीगू या सुमात्रा था। कालान्तर में, पहली दूसरी शताब्दि ई० पू० से पुरातात्विक और उसके बाद से चीनी इतिहासो मे दिये हुये उल्लेख तथा स्थानीय अभिलेख एवं कलावशेष इस सम्पर्क की बहुलता और घनिष्ठता को और स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं। दूसरी-तीसरी शताब्दि ई० से यहाँ अनेक बौद्ध अथवा शैव और वैष्णव मतानुयायी राज्य स्थापित और पल्लवित हुए। सैकड़ो वर्षों तक उनका शासन यहाँ के विभिन्न भागो मे बना रहा। राजद्रोह और क्रान्तियो के बावजूद भी इन राज्यो का "हिन्दू" बानक स्थिर रहा। राजाओ के नाम और विरुद, प्रशासकीय व्यवस्था, नीति विधान, वर्गविन्यास, धर्म, कला, भाषा, लिपि, रस्मोरिवाज—सभी भारतीय बने रहे। वस्तुत, यह स्थिति १४वी १५वी सदी तक चलती रहती रही। इन्डोनेशिया का एक द्वीप, बाली, आज भी एक 'हिन्दू' देश है। इन देशो की सभ्यता पर, भारत की संस्कृति का रग ऐसा गहरा चढा रहा कि आज भी सब विद्वान, उन्हे, 'हिन्दू राज्यो' की संज्ञा देते है। आरम्भ से ही यहाँ के 'हिन्दू' राज्यो का समग्र सास्कृतिक जीवन भारतीय पद्धति के राजतन्त्र, सस्कृत भाषा और भारतीय लिपियो के प्रयोग, भारतीय मतमतातरो, पौराणिक परम्पराओं, मानव धर्म शास्त्र मे वर्णित सामाजिक और नैतिक व्यवस्था पर आधारित था।

दक्षिण-पूर्व एशिया मे भारतीय संस्कृति का प्रसार किसी भारतीय साम्राज्य की सत्ता के आधार पर नही बल्कि भारत के साहसी भ्रमणकारियो, व्यापारियो, विद्वान् और धर्म प्रचारको के प्रयासो द्वारा हुआ। इन देशो के राज्य काल और अभिजात वर्ग भारतीय मतमतातरों को मानते थे। वे संस्कृत पढते और लिखते थे, मन्दिर और विहार बनवाते तथा 'हिन्दू' नाम रखते थे, परन्तु यहाँ के जन-साधारण की भाषा, धार्मिक परम्पराएँ आदि बहुत कुछ अपरिवर्तित ही रही और धीरे-धीरे वे बौद्ध और हिन्दू मतो मे भी घुस आयी। भारतीय सस्कृति से इतना प्रभावित होते हुए भी, यहाँ की स्थानीय संस्कृतियाँ सदैव जीवित और सक्रिय रही और भारत से सास्कृतिक प्रेरणा लेकर उन्होने अपनी विशिष्ट कला शैलियो का विकास और परिष्कार किया जो कई दिशाओं मे भारत से भी अधिक समुन्नत हुई। अंगकोरवाट जैसे विशाल और अद्भुत 'हिन्दू' मन्दिर और जावा के बोरोबुदूर स्तूप जैसा सुन्दर, वैभवशाली और विशाल बौद्ध स्तूप इसके उदाहरण है।

यह भी स्पष्ट है कि इन देशो मे, सारे ऐतिहासिक काल मे भारत और चीन की संस्कृतियों का संघर्ष रहा। साधारण ढंग से यहाँ अनाम के पश्चिमी पहाडों के पूर्व और उत्तर के देश चीनी संस्कृति और राजनीति से अभिभूत रहे और अब भी हैं। उनके पश्चिम मे और दक्षिण में भारतीय प्रभाव का प्राधान्य रहा। इन देशो मे भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारण ही इन्हे चीनी साम्राज्य और संस्कृति हड़प न सकी।

भारतीय संस्कृति के प्रसार के उपरोक्त अध्ययन से न केवल यह प्रकट हो जाता है कि भारतीय प्रभाव किस सीमा तक वढ़ा हुआ था, अपितु एक लघु भारत का ही चित्र उपस्थित हो जाता है। भारतीय प्रसार और प्रभाव कही वहुत तीव्र और गहरा रहा और कही उसे स्थानीय प्रभाव से समन्वय करना पड़ा। अंत में जा कर स्थानीय संस्कृति की विजय हुई, क्योकि भारतीयों के मातृभूमि से संपर्क टूट गए और अन्य नये संपर्क वन गए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ भारतीय प्रभाव समाप्त हो गया। इंडोचाइना अभी तक भी वौद्ध-प्रधान देश है और इंडोनेशिया और वाली में अव भी अनेक भारतीय रहते हैं। इन देशो ने अपने भव्य स्मारको को परिरक्षित रखा है, जिन्हे देख कर इन क्षेत्रो मे भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के किसी समय उज्ज्वल रहे समय का स्मरण हो जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्राचीन काल मे भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रसार के विषय में संक्षिप्त विवरण दीजिये।

२. भारतीय सस्कृति के दक्षिण पूर्वी एशिया मे प्रसार का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिये।
(पी० सी० एस० १९६३)

३ दक्षिण पूर्वी एशिया से प्राचीन भारत के सास्कृतिक सम्वन्धो का संक्षिप्त विवरण दीजिये। (पी० सी० एस० १९७१ तथा १९७३)

४. दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रवेश और प्रसार का आलोचनात्मक वृत्तान्त लिखिये। (पी० सी० एस० १९७५)

५. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—

(१) मध्य एशिया मे भारतीय संस्कृति का प्रसार।

(२) सुदूर पूर्व मे प्राचीन भारतीय संस्कृति।

अध्याय सत्ताइस

प्राचीन भारत के नगर तथा तीर्थ

(१) अंग—अंग प्राचीन भारत का एक सम्पन्न और समृद्धिशाली महाजनपद था। इसको षोडश महाजनपदों मे प्रमुख स्थान प्राप्त था। प्राचीन काल मे यहाँ के निवासियो को भी अंग कहा जाता था। अथर्ववेद मे अंगो के प्रदेश का वर्णन तो नही है परन्तु उन्हे शिष्टजन वताया गया है। कन्नौज की महारानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख मे अंग मोहन नामक उपराजा द्वारा प्रशासित वताया गया है। वायुपुराण तथा विष्णुपुराण मे अंगो की राजधानी चम्पा वताई गई है। महाभारत में चम्पा को एक तीर्थ स्थान कहा गया है। फाह्यान ने गंगा के प्रवाह का अनुसरण करते हुए पूर्व की ओर १८ योजन आगे गंगा के दक्षिणी तट पर चम्पा राज्य की स्थिति बताई है। युवान च्वाग ने इसे गगा के दक्षिण की ओर स्थित वताया है। अग मे ईरणपर्वत सम्मिलित था। रामायण के अनुसार सुग्रीव ने सीता की खोज मे पूरव दिशा मे स्थित जिस प्रदेश में भेजा था, उसमें अंग भी सम्मिलित था। जिस समय महात्मा बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण किया था, उस समय मगध का राजा सेणिय विम्विसार था। समय-समय पर अंग और मगध के वीच युद्ध होते रहे थे। वाद में अंग विम्विसार के अधीन हो गया था।

(२) अंजनगिरि—इसका उल्लेख रामायण और मार्कण्डेय पुराण मे मिलता है। यह महावन मे स्थित था। यह पंजाव की खन्जन पर्वतश्रेणी है जिसे प्राचीन समय मे अंजनगिरि कहा जाता था। यह पर्वत श्रेणी पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा पंजाव को विलोचिस्तान से अलग करती है। इसके उत्तर मे गोमल नदी और दक्षिण मे सिन्ध नदी है। इस पर्वतमाला मे कई दर्रे हैं जिनसे होकर भारत से विलोचिस्तान जाने का मार्ग है। स्कन्दपुराण में इसे स्वर्णनिर्मित वताया गया है।

(३) अजन्ता—अजन्ता की गुफाएँ वम्वई में फरदपुर से लगभग सात किलोमीटर दूर, औरंगावाद से लगभग १०० किलोमीटर उत्तर मे और जलगाँव से लगभग ६० किलोमीटर दूर स्थित हैं। अजन्ता के सम्वन्ध मे प्राचीनतम उल्लेख ह्वेनसांग के भारत यात्रा विवरण में मिलता है। यह आश्चर्य की वात है कि इसके वाद १८१९ ई० मे सर जेम्स अलेक्जेन्डर ने शिकार करते समय अनायास इस स्थान को देखा और इस महान कला केन्द्र पर से विस्मृति का आवरण उतार

फेंका । अजन्ता की गुफाएँ बड़े-बड़े पर्वतो को काट कर डेढ़ किलोमीटर के अर्द्धवर्गाकार घेरे मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक बनी हैं। ये गुफाएँ भारतीय वास्तुकला और चित्रकला के अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करती है। पर्वत श्रृंखलाओ को काट कर बनाई गई, इन गुफाओ की भित्तियो, स्तम्भो, छतो पर निर्मित चित्र पूर्ववत आकर्षक और मनोहारी है। शुग सातवाहन युग से लेकर सातवी शती ई० तक के समय मे निर्मित होने वाली इन गुफाओ और उनके चित्रो के विकास में तत्कालीन शासको, शिल्पकारो और चित्रकारो का महान योग रहा। अजन्ता मे कुल २६ गुफाएँ है। कलामर्मज्ञो ने इन गुफाओ की वास्तुकला तथा चित्रकला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

(४) अमरकंटक—अमरकण्टक कालीदास के नाटक मेघदूत मे वर्णित है। यह एक पहाड़ी है जो नागपुर क्षेत्र के गोंडवाना मे मेखल पहाड़ियों का एक भाग है। कुछ विद्वानो के अनुसार यह मेकाल पर्वतमाला के सबसे पूर्वी कोने पर रीवां मे स्थित है जो शहडोल रेलवे स्टेशन से ४० किलोमीटर दूर है। यह हिन्दुओ का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। मार्कण्डेय पुराण मे इसे सोम-पर्वत कहा गया है।

(५) अमरावती—दक्षिणी भारत मे स्थित अमरावती को धरणिकोट नदी के समीप स्थित आधुनिक अमरावती नगर से समीकृत किया जा सकता है। यह प्राचीन अमरावती से दो किलो-मीटर पश्चिम मे अवस्थित है। यहाँ का भग्न स्तूप बेजवाडा से २८ किलोमीटर दूर कृष्णा नदी के दाहिने तट पर स्थित है। अमरावती मे अमरेश्वर नामक प्राचीन मन्दिर है। अमरावती का नाम धान्यकट था। अमरावती मुख्यतः अपने उस स्तूप के लिये प्रसिद्ध है जिसका निर्माण बौद्ध मतावलम्बी आन्ध्रभृत्य नरेशो ने कराया था। धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार महात्मा बुद्ध अपने पूर्वजन्म मे सुमेध नामक ब्राह्मण के रूप में इसी नगर मे पैदा हुए थे।

(६) अयोध्या—सरयू नदी के तट पर स्थित अयोध्या का प्राचीन नगर आधुनिक फैजाबाद रेलवे स्टेशन से आठ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। समुद्रगुप्त के एक ताम्रपत्र अभिलेख से विदित होता है कि यहाँ गुप्तो का एक जयस्कन्धावार था। रामायण मे कोशल की प्राचीन राजधानी के रूप मे इसका वर्णन मिलता है। जैन उल्लेखों के अनुसार अयोध्या बारह योजन लम्बी और छह योजन चौड़ी नगरी थी। बौद्ध काल मे दक्षिण कोसल की राजधानी अयोध्या मे थी। रामायण के अनुसार अयोध्या एक सुसज्जित, उद्यान कुजो से भरी पूरी और धन-धान्यपूर्ण नगरी थी। महाभारत मे अयोध्या को 'पुण्यलक्षणा' से युक्त नगरी कहा गया है। यह हिन्दुओ के सात तीर्थ स्थानो मे से एक माना गया है। फाह्यान ने इस नगर को 'शा-चे' और टालमी ने 'सोगोड' कहा है। इस नगर को विनीता, साकेत, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी और कोशल भी कहा गया है। भागवत पुराण मे अयोध्या को 'मछली' के आकार का नगर बताते हुए, उसका विस्तार पूर्व पश्चिम मे एक योजन, सरयू से दक्षिण मे और तमसा से उत्तर मे एक-एक योजन बताया गया है। योगिनीतन्त्र मे भी अयोध्या का उल्लेख हुआ है। अयोध्या से बहुत बडी सख्या मे मुद्राओ, अभि-लेखो तथा अन्य पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्यो की प्राप्ति हुई है।

(७) अरिकामेडु—अरिकामेडु पाडिचेरी से तीन किलोमीटर दक्षिण मे भारत के पूर्वी समुद्रतट पर, उष्णबन्धीय कोरोमण्डल तट पर स्थित है। यहाँ पर १६४५ ई० मे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने खोज कार्य करते हुए, उत्खनन किया था। यहाँ से प्राप्त सामग्री द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण और निर्धारण मे बड़ी सहायता मिली है। यह भारतीय

संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से अनेक मन्दिरो के ध्वंसावशेष भी प्राप्त हुए हैं। इनकी शैली तथा प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ से भारतीय संस्कृति का अन्य देशों को प्रसार हुआ था।

(८) अरिष्टपुर (अरिट्ठपुर)—जैन पण्हा वागरनेमि की टीका में उल्लिखित यह नगर शिवि राज्य की राजधानी था। पाणिनी ने अपने एक सूत्र में इसका उल्लेख किया है। शिवि राज्य को पंजाब के शोरकोट प्रदेश से समीकृत किया जाता है। कई यूनानी लेखकों ने सिब्रोई नामक देश का उल्लेख किया है।

(९) अवन्ती—अवन्ती प्राचीन भारत के षोडश महाजनपदों में एक था। यह बड़ा ही समृद्धिशाली, उर्वर तथा सुसम्पन्न था। महाभारत मे इसे पश्चिमी भारत मे अवस्थित बताया गया है। रिस डेविड्स के अनुसार अवन्ती विन्ध्य पर्वत के उत्तर मे और बम्बई के पूर्वोत्तर मे स्थित था। दूसरी शताब्दी तक इसे अवन्ती तथा सातवीं शती ई० के पश्चात मालवा कहा जाने लगा। अवन्ती के निवासी प्राचीन काल मे बड़े शक्तिशाली थे। उन्होंने विन्ध्य पर्वत के उत्तर मे स्थित प्रदेशो को विजित किया। छठी शती ई० पू० यह भारत के चार प्रमुख जनपदों में से एक था। बाद मे यह मौर्य साम्राज्य मे मिल गया। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में तथा पातंजलि ने 'महाभाष्य' मे इसका उल्लेख किया है। भागवतपुराण, स्कन्दपुराण तथा योगिनीतन्त्र मे इसका एक नगर के रूप मे वर्णन मिलता है। यह बौद्ध धर्म का एक जागृत केन्द्र था। बुद्ध के समकालीन चण्डप्रद्योत अवन्ती के शासक थे। अवन्ती एवं कौशाम्बी के राजकुलो मे वैवाहिक सम्बन्ध थे। अशोक अवन्ती देश के कुमारामात्य के रूप मे नियुक्त हुआ था। अवन्ती प्राचीन भारत का एक व्यस्त व्यापारिक तथा शिक्षा का महान केन्द्र था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

(१०) अस्सक या अश्मक—अश्मक या अस्सक गोदावरी के तट पर स्थित था। इसे असक भी कहा जाता है। रिस डेविड्स ने इसे अवन्ती के ठीक उत्तर पश्चिम मे स्थित बताया है। सुत्त-निपात मे कहा गया है कि बावरी नामक एक ब्राह्मण कोशल जनपद को छोड़ कर दक्षिणापथ में गोदावरी के तट पर स्थित अस्सक नामक देश मे बस गया था। असंग के सूत्रालंकार मे अश्मक देश को सिन्धु घाटी मे स्थित बताया गया है।

(११) अहिच्छत्र—महाभारत के अनुसार अहिच्छत्र उत्तर पांचाल की राजधानी था। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में अच्युत नामक राजा का उल्लेख है। इस राजा की मुद्राएँ अहि-च्छत्र से प्राप्त हुई है। यह नगर उत्तर प्रदेश के बरेली जिले मे स्थित आधुनिक रामनगर है। सातवी शती मे युवान च्वांग यहाँ आया था। उसने इस देश की परिधि ३००० ली तथा नगर की परिधि १८ ली बताई है। कैप्टेन हाग्सन ने इस नगर के विषय मे सूचना देते हुए कहा है कि यह नगर अब कई मीलों तक फैले हुए किसी प्राचीन दुर्ग का भग्नावशेष मात्र है।

(१२) आबू—आबू राजस्थान मे सिरोही के दक्षिण मे राजपूताना—मालवा रेलवे लाइन पर आबू रोड स्टेशन से २८ किलोमीटर पश्चिमोत्तर मे स्थित है। यह एक पहाड़ी है जिसे प्लिनी ने 'माउन्ट केपिटेलिया, कहा है। आबू—बम्बई से ७१० किलोमीटर दूर है। राज-पूतो की उत्पत्ति से सम्बन्धित यज्ञ द्वारा उत्पन्न होने वाले वंशो के कारण यह स्थान अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ पर अनेक मन्दिर है जिनमे विमलशाह का मन्दिर, वस्तुपाल तथा तेजपाल का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है।

(१३) **इन्द्रप्रस्थ**—इन्द्रप्रस्थ भारत का अति प्राचीन नगर था। यह यमुनातट से आधुनिक दिल्ली में, लगभग चार किलोमीटर दक्षिण मे स्थित है। पठन पुराण में उल्लेख है कि इस नगर में इन्द्र ने अनेक यज्ञ किये थे। इसी कारण इस नगर का नाम इन्द्रप्रस्थ पड़ा। महाभारत मे इस नगर को वृहस्थल भी कहा गया है। महाभारत के ही अनुसार यह पाण्डवों की राजधानी थी तथा उन्होंने इस नगर की स्थापना की थी। महाभारत से ज्ञात होता है कि इस नगर के चारों ओर उच्च प्राकार थे और यह खाइयो से घिरा हुआ था। यहाँ पर विविध भाषायी जन रहते थे तथा धनार्जन की इच्छा से प्रेरित होकर सभी दिशाओ से वणिक यहाँ पर आते थे। इस नगर मे सभी प्रकार के शिल्पी और कर्मकार उपलब्ध थे। इन्द्रप्रस्थ मनोहर चित्रशालाओ, रमणीक वाटिकाओं, जल प्लावित एवं कमल युक्त सरोवरो से भरा पूरा था। आजकल इन्द्रप्रस्थ आधुनिक दिल्ली का भाग है।

(१४) **उज्जयिनी**—भारतीय लोक साहित्य में विक्रमादित्य तथा उसकी सभा के नवरत्नो से सम्बन्धित कहानियो मे इन नगर का वर्णन है। इन कहानियो मे यह ध्वनित होता है कि यह नगर प्राचीन काल मे विद्या तथा संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था। प्राचीन काल मे यह अवन्ती या पश्चिमी मालवा की राजधानी थी। इसकी स्थिति मध्य प्रदेश मे चम्बल की सहायक नदी शिप्रा के तट पर है। दीपवंस के अनुसार इस नगर का निर्माण अच्युतगामी ने कराया था। युवानच्वांग के अनुसार इस नगर का क्षेत्र ६००० ली था। यहाँ पर कई सघाराम थे, जिनके भग्नावशेष आज भी दृष्टव्य हैं। लगभग चौथी शती ई० मे यहाँ के शासक की राजसभा मे कालीदास के नाटक अभिनीत होते थे। यह व्यापार का जागृत केन्द्र था तथा यहाँ पर तीन प्रमुख व्यापार मार्ग मिलते थे। यहाँ पर स्थित महाकाल का मन्दिर भारत के प्रसिद्ध बारह शैव मन्दिरो से एक था। उज्जयिनी लिंगायत सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी था। उज्जयिनी के प्रख्यात राजा विक्रमादित्य को ३७५ ई० के चन्द्रगुप्त द्वितीय से समीकृत किया जाता है। यहाँ के उत्खनन से दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती ई० तक के मिट्टी के पदक तथा अभिमुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। दूसरी शती ई० पू० से पाँचवी शती ई० तक के कुछ मृण्पात्र भी मिले है।

(१५) **उदयगिरि**—उदयगिरि एक पहाडी है, जो खण्डगिरि पहाडी के साथ बालकाश्मशिला का एक कटिबन्ध निर्मित करती है तथा उडीसा की स्फटिक पहाडी के तल को छूती हुई दक्षिण दिशा मे चिल्का झील तक फैली हुई है। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख मे उदयगिरि का उल्लेख है। उदयगिरि का शिखर ११० फिट ऊँचा है। इसकी पहाडी मे ४४ गुफाएँ हैं जिनमे हाथीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजयगुम्फा, बाघगुम्फा तथा राणीगुम्फा उल्लेखनीय है। उदयगिरि की तलहटी मे एक वैष्णव मन्दिर भी है।

(१६) **उरुवेला**—यह स्थान महात्मा बुद्ध के सन्यासी जीवन से सबधित है। उरुवेला मगध मे था। उरुवेला को बोधगया के समीप स्थित उरेल नामक आधुनिक ग्राम से समीकृत किया जाता है। महात्मा बुद्ध ने यहाँ के सुन्दर वृक्षो, मनोहर झीलो, मैदान तथा नेरजना झील की प्रशंसा की थी। गृहत्याग के उपरान्त महातमा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस स्थान को चुना था। ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त बुद्ध नेरंजना नदी के तट पर अजपाल नामक वटवृक्ष के नीचे उरुवेला मे रहते थे।

(१७) एरण्डपल्ल—इस नगर का समीकरण दो स्थानो से किया जाता है। पहले समीकरण के अनुसार यह आन्ध्र प्रदेश के समुद्रतट पर शिकाकोल के निकट स्थित एरण्डपल्ली है तथा दूसरे समीकरण के अनुसार यह महाराष्ट्र के पूर्वी खान देश जिले मे इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर माना जाता है। एरण्डपल्ल का उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग स्थित स्तम्भ लेख मे किया गया है।

(१८) एल्लोर—एल्लोर या एलोरा औरगाबाद से लगभग २५ किलोमीटर दूर महाराष्ट्र राज्य के पश्चिमोत्तर में स्थित है। यह बौद्ध गुफाओ के लिये बहुत प्रसिद्ध है। इन गुफाओं में अधिकाश बौद्ध तथा कुछ ब्राह्मण और जैन गुफाएँ भी हैं। बौद्ध गुफाओ मे महात्मा बुद्ध धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा प्रवचन मुद्रा मे अंकित किये गये है।

(१९) कन्याकुमारी—हिन्द महासागर के बिलकुल तीर पर स्थित कन्याकुमारी आधुनिक समय मे 'विवेकानन्द रॉक' के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यह एक तीर्थ स्थल भी है। भौगोलिक स्थिति के कारण यह स्थान दर्शनीय है। इसका तमिल नाम कन्निकुमारी या कन्नियाकुमारी है। इसे गगेकोण्डचोलपुरम भी कहा जाता है। यूनानी लेखक इसे कुमारिया अकोन या केप कोमारिया कहते थे। यहाँ से कुलोतुग चोल प्रथम का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। यहाँ पर कन्याकुमारी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी है।

(२०) कपिलवस्तु—डा० स्मिथ ने कपिलवस्तु को नेपाल सीमा पर स्थित बस्ती जिले के उत्तर मे पिपरावा से समीकृत किया है। रिस डेविडस ने इसे तिलौरा कोट से समीकृत किया है। प्राय कपिलवस्तु को तौलिव से तीन किलोमीटर दूर उत्तर मे स्थित तिलौरा से समीकृत किया गया है। तिलौरा गोरखपुर के उत्तर मे नेपाल की तराई मे नेपाली ग्राम निग्लोव से ५ किलोमीटर दूर दक्षिण पश्चिम में है। कपिलवस्तु शाक्यों की राजधानी था तथा महात्मा बुद्ध का जन्म स्थान। दिव्यावदान मे कपिलवस्तु को कपिल ऋषि से सम्बन्धित बताया गया है। चीनी यात्री फाह्यान ने इस नगर की बडी प्रशसा की है। युवान-च्वाग ने इस नगर की परिधि चार हजार ली बताई है। ललितविस्तर के उल्लेखानुसार कपिलवस्तु उद्यानो, महलो, भवनो तथा हाट बाजारों से सुसज्जित था। इसमे चार नगर द्वार तथा अनेक मीनारे थी। रुम्मिनदेई अभिलेखानुसार बुद्ध के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अशोक यहाँ पर आया था। उसने यहाँ के निकट स्थित लुम्बिनी ग्राम को कर मुक्त भी कर दिया था। महात्मा बुद्ध के उपरान्त, बौद्ध धर्म के अनुयायियो ने कपिलवस्तु मे अनेक मन्दिरो तथा स्तूपो का निर्माण कराया था।

(२१) कम्बोज—कम्बोज पश्चिमोत्तर भारत मे गान्धार के निकट स्थित था। यहाँ के निवासी भौगोलिक रूप से उत्तर मे पश्चिमी हिमालय के रहने वाले बताए गये है। कम्बोज अपने सुडौल तथा वेगवान अश्वो के लिये प्रसिद्ध था। यह षोडश महाजनपदो मे से एक था। जातको से ज्ञात होता है कि कम्बोज निवासी अपनी मौलिक आर्य परम्परा को विस्मृत करके बर्बर हो गये थे। कम्बोजो का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी, पातंजलि के महाभाष्य तथा अशोक के पाँचवें शिलालेख मे मिलता है।

(२२) कर्ण सुवर्ण—कर्ण सुवर्ण मुर्शिदाबाद जिले में गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित था। यह आधुनिक राँगा माटी है। यह बन्देल से १५० किलोमीटर दूर चिरती रेलवे स्टेशन से दो किलोमीटर दक्षिण पूर्व में स्थित है। यहाँ से कुषाण तथा गुप्त कालीन मुद्राएँ, मिट्टी के टीले तथा

तालाब प्राप्त हुए हैं। भास्करवर्मन के निधानपुर अभिपत्रों को प्रचलन करते समय कर्ण सुवर्ण पर उसका अधिकार था। यह नगर शशाक की राजधानी भी रह चुका था। यहाँ पर कतिपय संघाराम एवं देवमन्दिर भी थे। यहाँ से महिषासुरमर्दिनी अष्टभुजी देवी की एक पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है।

(२३) कलिंग—कलिंग भारत के पूर्वी समुद्रीतट पर महानदी और गोदावरी नदियो के मध्य स्थित था। कलिंग देश के अन्तर्गत आधुनिक उडीसा मे वैतरणी के दक्षिण मे स्थित और विजगापट्टम तक के समुद्र तटीय क्षेत्र सम्मिलित थे। कलिंग को अशोक के भीषण आक्रमण का सामना करना पडा था तथा यहाँ पर अपरिमित नर संहार के कारण उसका हृदय परिवर्तन हुआ था। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातंजलि के महाभाष्य मे कलिंग का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र के अनुसार कलिंग के हाथी श्रेष्ठ होते थे। कालीदास के अनुसार कलिंग गोदावरी तक फैला हुआ था। सातवी शती ई० में युवान च्वाग कलिंग आया था। उसने इसकी परिधि ५००० ली बताई है। कलिंग की जनसंख्या विशाल थी तथा यहाँ की जलवायु गरम है। यहाँ के निवासियो को उग्र, प्रचण्ड तथा रुक्ष कहा गया है। हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार खारवेल ने कलिंग नगर के भवनों, द्वारो तथा इसिताल सरोवर का जीर्णोद्धार कराया था। खारवेल को कलिंगाधिपति भी कहा गया है।

(२४) कांञ्ची—अति प्राचीन काल से यह एक प्रमुख तीर्थस्थल रहा है। इसकी स्थिति मद्रास के दक्षिण पश्चिम मे लगभग ७० किलोमीटर पलार नदी के तट पर है। यह चोलो की राजधानी था। इस नगर के पश्चिमी तथा पूर्वी भागो को क्रमश. शिवकाँञ्ची और विष्णु काँञ्ची कहा जाता था। यहाँ के मन्दिरो मे कामाक्षी मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा दर्शनीय है। यहाँ बौद्ध शिक्षा का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर छठी शताब्दी ई० मे निर्मित कैलाशनाथ स्वामिन मन्दिर है जो पल्लव शैली मे बना है। शान्तिवर्मन के तालगुण्ड अभिलेख मे काँञ्ची का वर्णन है। एहोल अभिलेख के अनुसार काँञ्ची पर पुलकेशिन ने विजय प्राप्त की थी।

(२५) कान्यकुब्ज (कन्नौज)—कान्यकुब्ज नगर उत्तरी भारत के पाचाल राज्य मे स्थित था। इसकी प्राचीन राजधानी का नाम कुसुमपुर बताया गया है। युवान च्वाग के अनुसार कान्यकुब्ज के पश्चिम मे गंगा बहती थी परन्तु कनिंघम का मत है कि वह पूर्व मे बहती थी। युवान च्वाग ने इसकी परिधि ४००० ली बताई है। उसके अनुसार यहाँ के निवासी सुखी, समृद्ध, ईमानदार, सज्जन और ज्ञान के पिपासु थे। उसके समय मे यहाँ का शासक हर्ष था। हर्षवर्द्धन से पहले कान्यकुब्ज मौखरी नरेशो की राजधानी था। रामायण के अनुसार यह विश्वामित्र का जन्म स्थान था। भागवत पुराण मे कान्यकुब्ज का वर्णन अजामिल के नगर के रूप मे किया गया है। बाण ने हर्ष चरित मे कान्यकुब्ज की राजकुमारी राज्यश्री का वर्णन किया है। ग्यारहवी शती ई० मे कान्यकुब्ज गागेय देव के पुत्र कर्ण के अधीन था। गहडवाल नरेश गोविन्द चन्द्र के पाँच ताम्रपत्र कान्यकुब्ज से मिले है। प्राचीन समय में कान्यकुब्ज को गाधिपुर, कुश स्थल तथा महोदध भी कहा जाता था।

(२६) कल्याण—कल्याण दक्षिणी भारत का एक विख्यात नगर था। पेरिप्लस ने इसे 'कल्लिलेन' के नाम से पुकारा है और उसके कथानानुसार यह दक्षिणापथ का व्यापारिक नगर था। पेरिप्लस के आने के समय यहाँ पर विदेशी व्यापार निषिद्ध था। कन्हेरी और जुन्नर के गुहा-

लेखों में कल्याण का नाम एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र के रूप में वर्णित मिलता है। इन गुहा-लेखों में कल्याण के धनिक सौदागरो तथा व्यावसायियों का नाम भी वर्णित मिलता है।

पेरिप्लस के समय में व्यापार निषेध का एक मुख्य कारण था। इस समय तक शक दक्षिणी भारतवर्ष मे सातवाहनो को शोषित करते जा रहे थे। कल्याण सातवाहन-राज्य के विदेशी व्यापार का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। इसलिए कल्याण राज्य को हानि पहुँचाने के हेतु शको ने कल्याण जाने वाले विदेशी जहाजों को लूटना आरम्भ किया होगा और वे उन्हें पकड़ कर भड़ौच ले जाते होगे। उस समय भड़ौच पर शकों का अधिकार था। अतः व्यापार-निषेध का परिणाम यह हुआ कि कल्याण की व्यापारिक महत्ता क्रमशः घटती जा रही थी। यही कारण है कि द्वितीय शताब्दी के लेखक टालमी के विवरण में पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों मे कल्याण का नाम नहीं मिलता। द्वितीय शताब्दी के भारतीय अभिलेखो मे भी कल्याण का उल्लेख नही हुआ है।

सातवाहन शक्ति का पुनरुद्धार होने के उपरान्त कल्याण का व्यापार पुनः खुल गया। कास्मस इण्डिको प्लाइस्टस ने लिखा है कि कल्याण उस समय भारतवर्ष के ६ प्रसिद्ध व्यापार केन्द्रो मे से एक था। कल्याण मे लकड़ी, काँसा और कपडे का व्यापार उन्नतिशील था। समुद्र के किनारे बसा हुआ यह नगर धनधान्य तथा रत्नो से परिपूर्ण था। चालुक्य शासकों के समय मे इस नगर की समृद्धि का विवरण विक्रमाङ्कदेव चरित में मिलता है।

(२७) कुशीनगर—कुशीनगर राजनीतिक केन्द्र होने के अतिरिक्त धार्मिक तथा व्यापारिक केन्द्र भी था। गौतम बुद्ध को यह नगर बहुत ही प्रिय था। मल्लो की राजधानी तथा गौतम बुद्ध की निर्वाण भूमि होने के कारण कुशीनगर की गणना कपिलवस्तु एव पावा के साथ की जा सकती है। साँची, भरहुत तथा अमरावती की कला मे इस नगर की दीवाल, परिखा तथा प्रधान नगरद्वार का अङ्कन मिलता है। गौतम का निधन (प्राणान्त) नगर की दक्षिण पश्चिमी दिशा मे स्थित शालवन मे हुआ जिसके पश्चात् उनके प्रशंसक तथा अनुयायी मल्लो ने उनके दाह-संस्कार का सम्पादन बडे ही आडम्बर तथा प्रदर्शन के साथ किया था। गौतम बुद्ध के निधन के अनन्तर कुशीनगर बौद्धो का तीर्थस्थल हो गया। कुशीनगर व्यापारिक क्षेत्र के रूप मे भी प्रख्यात हो चुका था। पालि ग्रन्थो से स्पष्ट है कि यह भारतवर्ष का एक प्रख्यात क्रय-विक्रय केन्द्र था।

फाह्यान जब भारत आया तो यह नगर उजड़ चुका था। उसके विवरण से विदित होता है कि शालवन हिरण्डवती नदी के तट पर स्थित था। ह्वेनसांग के कथनानुसार यह नगर (कु-शिह्-न-क-लो) रामग्राम से २४० किलोमीटर की दूरी पर पूर्व मे स्थित था। ह्वेनसांग लिखता है कि इन दोनों नगरों को मिलाने वाला मार्ग अधिक खतरनाक था। इस मार्ग पर जंगली पशुओं के हमले का भय सदैव बना रहता था। ह्वेनसांग के अनुसार नगर की परिधि चार किलोमीटर के लगभग थी। उसके अनुसार कुशीनगर के उत्तर-पूर्व कोने पर अशोक निर्मित एक स्तूप विद्यमान था।

(२८) **कावेरीपत्तन**—यह नगर दक्षिण भारत में समुद्रतट के निकट कावेरी के मुहाने पर स्थित था। 'पत्तन' शब्द का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि यह नगर एक बन्दरगाह भी था। कावेरीपत्तन नगर पूर्व निर्धारित सुव्यवस्थित योजना के अनुसार निर्मित प्रतीत होता है। यह १६ किलोमीटर लम्बा तथा इतना ही चौडा था। तामिल ग्रन्थों मे इस नगर के दो अन्य

नाम—कावेरीप्युम-पट्टीनम्' तथा 'कावेरीपटीनम' मिलते है। कावेरीपत्तन के दो भाग थे—पट्टिनपाक्कम तथा मरुवरपाक्कम। इन दोनो भागों के मध्य में स्थित खुले भू-भाग में केन्द्रीय बाजार था। पट्टिनापाक्कम मे राज्य प्रासाद तथा राजकीय पदाधिकारियो के आवासीय भवन थे। मरुवरपाक्कम मे व्यापारी तथा व्यवसायियो के आवासीय भवन थे। शिलप्पदिकारम मे इस नगर का विविध तथा रोचक वर्णन मिलता है। यहाँ पर सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ, न्यायालय तथा मन्दिर आदि थे। नगर के मार्ग चौड़े तथा लम्बे थे। नगर मे अनेक अट्टालिकाओ से युक्त भवन थे।

(२९) काम्पिल्य—यह आधुनिक कम्पिल है जो गंगा तट पर वदायूँ और फर्रुखावाद के वीच मे स्थित है। यह उत्तर पूर्व रेलवे लाइन पर कायमगंज रेलवे स्टेशन से ४७ किलोमीटर दूर है। इस नगर पर अनेक प्रसिद्ध राजाओ ने शासन किया था। महाभारत की द्रौपदी के पिता द्रुपद ने यहाँ पर शासन किया। काम्पिल्य नरेश धर्मरुचि वहुत ही पवित्रात्मा माना गया है। यह दक्षिण पाचाल की राजधानी था। रामायण मे इसे इन्द्रपुरी अमरावती की भाँति भव्य और सुन्दर कहा गया है। यह जैन धर्म का एक पवित्र तीर्थ स्थल भी था। इसे तेरहवे जैन तीर्थंकर का जन्म स्थान वताया गया है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि प्रसिद्ध ज्योतिषि वाराहमिहिर इसी नगर मे जन्मे थे। यहाँ पर द्रौपदी का स्वयम्वर हुआ था। आधुनिक काम्पिल्य मे दो प्रसिद्ध जैन मन्दिर हैं।

(३०) काशी—काशी इलाहावाद से १२८ किलोमीटर आगे गंगा के उत्तरी तट पर स्थित है। इसके उत्तरी तथा दक्षिणी भाग मे वरण तथा असी नदियो के वहने के कारण इसे वाराणसी कहा गया है। भारत के प्राचीनतम तीर्थ स्थानो मे काशी या वाराणसी का अपना विशिष्ट स्थान है। यह पोडश महाजनपदो मे एक था। काशी को काशीनगर या काशीपुर भी कहा जाता था। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार इस नगर का निर्माण शूलपाणि महादेव ने किया था। यह उद्योग तथा व्यापार का प्रमुख केन्द्र था तथा काशी, श्रावस्ती और तक्षशिला मे गहरे व्यापारिक सम्वन्ध थे। यह अत्यन्त घना तथा समृद्ध नगर था। काशी या वाराणसी की गणना आनन्द द्वारा वुद्ध के परिनिर्वाण के लिये वताये गये वड़े नगरो मे की गई थी। चीनी यात्रियो ने इसे पो-लो-नि-स्से कहा है। उनके अनुसार इस नगर की परिधि ४००० ली थी। उन्होने यहाँ के निवासियों को नास्तिक तथा कुछ को वौद्धधर्मावलम्वी वताया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी तथा पातंजलि ने महाभाष्य मे काशी का उल्लेख किया है। कुछ गहड़वाल अभिलेखो से ज्ञात होता है कि काशी के उत्तर वरुणा तथा गंगा के संगम के पास स्थित आदिकेशवघट्ट को काशी का भाग समझा जाता था। काशी जनपद के उत्तर मे कोसल, पूर्व मे मगध, तथा पश्चिम मे वत्स स्थित थे। वैदिक साहित्य तथा पुराणो मे काशी का कई वार उल्लेख किया गया है। महाभारत मे काशी के नरेशो से सम्वन्धित अनेक रोचक गाथाएँ मिलती हैं। जैनियों के अनुसार पार्श्वनाथ काशी या वाराणसी मे उत्पन्न हुए थे। काशी के निकट मृगवन था, जहाँ पर ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महात्मा वुद्ध ने प्रथम उपदेश दिया था।

(३१) कुन्तल—यह कर्णाट देश का एक जिला है। कुछ विद्वानों के अनुसार कुन्तल भीमा और वेदवती के वीच स्थित है, जिसमे महाराष्ट्र के कन्नड़ जिले, मद्रास और मैसूर राज्य का कुछ भाग सम्मिलित था। ग्यारहवी तथा वारहवी शताब्दियो के कुछ अभिलेखों मे कुन्तल मे दक्षिणी

मराठा प्रदेश और निकटवर्ती कन्नड़ जिले सम्मिलित थे। कहा जाता है कि कुन्तल पृथ्वी देवी के वालों (कुन्तल) के समान है अतः इसे कुन्तल कहा गया। यहाँ पर नन्दो ने भी शासन किया था। अजन्ता के एक अभिलेख के अनुसार वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण प्रथम ने कुन्तलेश्वर पर विजय प्राप्त की थी। कर्ण के रीवा शिलालेख मे कुन्तल को उत्तरकालीन चालुक्यो का देश कहा गया है।

(३२) कुरुक्षेत्र—कुरुक्षेत्र मे दिल्ली के निकट यमुना के पश्चिम का सम्पूर्ण प्रदेश तथा सरस्वती और दृपद्वती नदी के मध्य का भूभाग सम्मिलित था। भगवदगीता मे इसे धर्मक्षेत्र कहा गया है। स्कन्दपुराण मे, तथा धर्मशास्त्रकार मनु ने कुरुक्षेत्र को पवित्र स्थान कहा है। छठी शताब्दी ई० पू० मे यह षोडश महाजनपदो मे से एक था। महाभारत की पृष्ठभूमि मे कुरुक्षेत्र का ही महत्व प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार यहाँ की रज से पापियो के पाप मिट जाते थे। योगिनीतन्त्र मे तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी कुरुक्षेत्र का उल्लेख मिलता है। सौरपुराण मे इसे तीर्थ स्थल कहा गया है। कुरुक्षेत्र कौरव और पाण्डवो के प्रसिद्ध धर्म युद्ध का स्थल था, जिसमे भारत के समस्त राज्य दोनो पक्षो मे से किसी न किसी के साथ सगठित थे।

(३३) कुशीनारा—कुशीनारा गोरखपुर जिले के पूर्व मे तथा देवरिया जिले के निकट स्थित है। डा० विन्सेन्ट स्मिथ कुशीनारा को नेपाल की पहाड़ियो की पहली शृंखला के पार स्थित मानते हैं। कुशीनारा के निकट हिरण्यवती या छोटी गण्डक बड़ी गण्डक से १३ किलोमीटर पश्चिम मे गोरखपुर जिले की ओर मुडकर घाघरा नदी मे मिलती है। दीघनिकाय के अनुसार कुशीनारा मल्लो का नगर था। यही पर महात्मा बुद्ध ने चुन्द के घर अपना अन्तिम भोजन पाया था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक यहाँ पर तीर्थ यात्रा करने आया था। कुशीनारा मल्लो का संथागार था जहाँ पर राजनैतिक आदि विषयो पर विचार होता था। बुद्ध के निर्वाणोपरान्त मल्ल संथागार मे एकत्र हुए थे तथा बुद्ध के अवशेषो का सम्मान करने के विषय में यहाँ पर विचार किया गया था।

(३४) कोशल (कोसल)—कोशल षोडश महाजनपदो मे से एक महत्वपूर्ण महाजनपद था। यह कुरु और पाचांल के पूर्व में तथा विदेह के पश्चिम मे स्थित था। सादीनारा नदी, जिसे गण्डक से समीकृत किया जाता है, कोशल को विदेह से अलग करती थी। रामायण मे कोशल की महत्ता का वखान किया गया है। राम के पश्चात कोशल दो भागो मे विभक्त हो गया। उनका ज्येष्ठ पुत्र कुश दक्षिण कोशल का तथा छोटा पुत्र लव उत्तर कोशल का शासक था। कोशल शासक सूर्यवंशी थे तथा इक्ष्वाकु द्वारा मनु के वंश से सम्वन्धित वताए गये हैं। वौद्ध तथा जैन ग्रन्थो के अनुसार काशी तथा कोशल मे प्रभुत्व के लिये प्रतिद्वन्द्विता थी। वाद में काशी कोशल जनपद मे सम्मिलित कर लिया गया था। भागवत पुराण मे कोशल का वर्णन एक देश के रूप मे किया गया है।

(३५) कौशाम्वी (कोसम्वी)—इलाहावाद से ४८ किलोमीटर दूर दक्षिण-पश्चिम मे यमुना-तट पर स्थित कौशाम्वी, प्राचीनकाल मे एक महत्वपूर्ण नगर था। जैन ग्रन्थो के अनुसार यह छठे तीर्थंकर का जन्म स्थान था। पतजलि ने महाभाष्य मे इसका उल्लेख किया है। यहाँ से भद्रमघ नामक नरेश के शासन काल का कोसम अभिलेख प्राप्त हुआ है। उत्तर से साकेत को दक्षिण में गोदावरी तट पर स्थिति पैठन से मिलाने वाले व्यापारिक मार्ग पर यात्रा करने वालों के लिये कौशाम्वी को एक महत्वपूर्ण विश्राम स्थल माना गया है। सातवीं शती ई० में युवान च्वांग यहाँ

आया था। उसके अनुसार इसकी परिधि ३० ली थी। यहाँ पर दस से अधिक बौद्ध विहार थे जो अब जीर्णावस्था मे हैं। इलाहाबाद स्तम्भ लेख मे कौशाम्बी का उल्लेख है। किसी समय यहाँ पर प्रद्योत द्वारा निर्मित कराया गया दुर्ग था। यहाँ पर प्रद्नप्रभु का मन्दिर है जिसमे चन्दन बाला की प्रतिमा भी है। चन्दनबाला ने महावीर के सम्मान मे यहाँ पर ६ माह का उपवास किया था। यहाँ के उत्खनन द्वारा पुरातत्व के अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

(३६) खजुराहो—खजुराहो मे भारतीय कला के विकास की चरम सीमा को दृष्टिगत किया जा सकता है। यह मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले मे झाँसी से लगभग १६० किलोमीटर दूर दक्षिण पूर्व मे स्थित हे। इसकी ख्यति अन्तर्राष्ट्रीय है। प्रतिवर्ष हजारो यात्री यहाँ की मूर्तिकला की भावभिव्यक्ति का दर्शन करने आते है। युवान च्वाग ने खजुराहो मे अनेक विहार तथा दस मन्दिर देखे थे। यहाँ पर महात्मा बुद्ध की एक अति विशाल प्रतिमा है जिस पर आठवी शती ई० की लिपि मे लोक धम्म उत्कीर्ण है। यहाँ पर अनेक भव्य मन्दिर भी है जो तीन भागो मे विभक्त किये जा सकते हे—पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिण पूर्वी। पश्चिमी मन्दिर समूह मे ब्राह्मण, शैव तथा वैष्णव मन्दिर है। उत्तरी मन्दिर समूह मे एक अति भव्य तथा कुछ लघु वैष्णव मन्दिर हैं। दक्षिण पूर्वी मन्दिर समूह मे अनेक जैन मन्दिर है। खजुराहो का सबसे प्राचीन मन्दिर चौखंड योगिनी मन्दिर है।

(३७) गान्धार—यह षोडश महाजनपदो मे से एक था। अशोक के पचम शिलालेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तर पंजाब तथा निकटवर्ती प्रदेश को गान्धार कहा जाता था। इस प्रकार यह सिन्धु नदी के दोनो ओर अवस्थित था। प्राचीन काल मे, इसमे रावलपिण्डी और पेशावर सम्मिलित थे। गान्धार की प्राचीन राजधानी पुष्करावती थी। कुछ विद्वानो का विचार है कि गान्धार जनपद मे काश्मीर तथा तक्षशिला के प्रदेश सम्मिलित थे। युवान च्वाग ने गान्धार को पूर्व से पश्चिम तक १००० ली तथा उत्तर से दक्षिण मे २०० ली तक विस्तृत बताया है। उसके अनुसार यह देश खाद्यान्नो से प्रचुर था तथा यहाँ की जलवायु गरम थी उसने गान्धार मे एक सहस्र जीर्ण विहार देखे थे।

(३८) गया—गया विहार प्रान्त मे है। इसके उत्तर की ओर साहबगज और दक्षिण की ओर प्राचीन गया नगर है। गया तीर्थ स्थान है। वायुपुराण के अनुसार यहाँ पर गयासुर ने तपस्या की थी। महाभारत मे इसे एक पुण्य स्थल कहा गया है। बौद्ध साहित्य मे गया का उल्लेख एक ग्राम और तीर्थ के रूप मे मिलता है। महात्मा बुद्ध गया गये थे। गया के दक्षिण पश्चिम मे स्थित गया पर्वत पर अशोक ने १०० फुट ऊँचा पाषाण स्तूप बनवाया था। फाह्यान तथा युवान च्वाग ने गया का उल्लेख किया है। युवान च्वाग के अनुसार नगर के उत्तर मे एक स्रोत था, जिसका जल पवित्र माना जाता था। आधुनिक समय मे गया का महत्व पितरो का तर्पण करने के लिये है।

(३९) गिरनार (गिरिनगर)—इसे गिरनार या गिरिनगर कहा जाता है। अभिलेखो मे इसका उल्लेख ऊर्जयत के नाम से हुआ है। महाक्षत्रप रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख मे कहा गया है कि अशोक के शासन काल मे तुषास्फ नामक एक अधीनस्थ यवनराज राज्यपाल के रूप मे सुराष्ट्र पर राज्य करता था, जिसकी राजधानी गिरिनगर थी। जैनग्रन्थ अनुयोगद्धार के अनुसार यह ऊर्जयतपर्वत के समीप स्थित था। यह जैनियो का तीर्थ स्थान है तथा यहाँ पर जैन तीर्थंकर नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ के मन्दिर भी स्थित हैं। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार यहाँ पर

वृद्धावस्था मे अरिष्टनेमि ने शरीर त्याग किया था। ल्यूडर्स की तालिका में गिरिनगर का वर्णन एक नगर के रूप मे किया गया है।

(४०) **गिरिव्रज**—इसे राजगृह भी कहा जाता है, जो मगध की प्राचीन राजधानी था। रामायण, आदिकाण्ड मे इस नगर के निर्माता का नाम वसु बताते हुये, इसे वसुमती कहा गया है। इस नगर का विस्तृत विवरण राजगृह नगर के अन्तर्गत किया जायेगा।

(४१) **गोकर्ण**—रामायण, महाभारत तथा अनेक पुराणो मे इस नगर का उल्लेख मिलता है। रामायण के अनुसार भागीरथ नामक ऋषि ने इस स्थान पर सन्तान प्राप्ति के लिये तपस्या की थी, महाभारत तथा पद्मपुराण मे गोकर्ण को तीर्थस्थान कहा गया है। सौरपुराण मे इसे रेवा नदी के तट पर स्थित कहा गया है। इसी पुराण मे सिन्धु नदी के तट पर स्थित दक्षिणी गोकर्ण का विवरण मिलता है। रामायण मे वर्णित गोमुखि को गोकर्ण से समीकृत किया जा सकता है।

(४२) **गोवर्धन**—मथुरा जिले मे वृन्दावन से लगभग ३० किलोमीटर दूर पर गोवर्धन पर्वत (पहाड़ी) स्थित है। इसका उल्लेख महाभारत, भागवत पुराण, कालीदास रचित रघुवंश तथा योगिनीतंत्र मे मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व मे कहा गया है कि अतिवृष्टि के कारण इन्द्र से अपनी गायो तथा पुरवासियो की रक्षा करने के लिये भगवान कृष्ण ने इसे अपनी कनिष्ठिका पर छत्र के रूप मे धारण किया था। भागवत पुराण के अनुसार गोवर्धन पहाडी पर चक्रेश्वर महादेव का मन्दिर तथा श्रीनाथ (गोपाल) की मूर्ति स्थित है।

(४३) **घोषिताराम**—घोपिताराम कौशाम्वी के दक्षिणपूर्व मे स्थित था। सातवी शताब्दी ई० मे युवान च्वांग ने कौशाम्वी जाते समय जिन दस ध्वस्त विहारो को देखा था, उनमे से घोपिताराम का विहार भी था। इसके दक्षिण पूर्व तथा पूर्व में क्रमश: कुक्कुटाराम और पावरिया आम्रवन विहार थे। घोपिताराम के विहार का निर्माण घोपित नामक श्रेष्ठी ने कराया था। अशोक ने इसके समीप २०० फीट से भी अधिक ऊँचा स्तूप बनवाया था। दीघनिकाय से पता चलता है कि मण्डिस तथा जालिय नामक दो परिव्राजक यहाँ पर महात्माबुद्ध से मिले थे। संयुक्त निकाय के अनुसार महात्माबुद्ध के निर्वाणोपरान्त आनन्द यही पर रहते थे।

(४४) **चम्पा**—चम्पा नगर आधुनिक भागलपुर के निकट स्थित है। पूर्वकाल मे चम्पा अगो की राजधानी थी तथा तब इसका नाम मालिनी था। बाद में चम्पा नामक राजा ने इसका नाम चम्पा रख दिया। दीघनिकाय के अनुसार इस नगर का निर्माण महागोविन्द ने कराया था। यहाँ पर महात्माबुद्ध तथा महावीर स्वामी आये थे। महावीर स्वामी ने तो यहाँ पर तीन बार चातुर्मास्य व्यतीत किये थे। युवान च्वांग ने चम्पा को एक तीर्थस्थान कहा है। दशकुमारचरित में चम्पा नगर मे दुष्टो का बाहुल्य बताया गया है। जैनग्रन्थ चम्पकश्रेष्ठिक मे चम्पा को एक समृद्धिशाली नगर कहा गया है।

(४५) **चित्रकूट**—इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम मे १०४ किलोमीटर दूर बाँदा जिले मे स्थित चित्रकूट एक पहाड़ी है। रामायण (अयोध्याकाण्ड) मे इसे भारद्वाज आश्रम से २० मील दूर स्थित कहा गया है। अयोध्या काण्ड के अनुसार भगवान राम ने पयस्विनी या मंदाकिनी के तट पर स्थित इस पहाड़ी पर निवास किया था। भारद्वाज आश्रम से लौटते समय वे यहाँ पर आये थे। चित्रकूट में मंदाकिनी तथा मालिनी नामक नदियाँ प्रवाहित होती थी। महाभारत मे चित्रकूट पर्वत तथा मंदाकिनी नदी का उल्लेख मिलता है। भागवत पुराण तथा ललित विस्तार मे

चित्रकूट का एक पहाड़ी के रूप मे उल्लेख है। जैनग्रन्थ भगवती-टीका मे चित्रकूट को चित्तकुड कहा गया है। कालीदास ने रघुवश मे इसका वर्णन करते हुए इसे किसी वन्य वृषभ द्वारा अपने सीगो द्वारा सर पर उठायी गई चट्टान की भाँति वताया है।

(४७) तंजौर—तंजौर एक प्राचीन नगर है। यह दक्षिण भारत में कावेरी नदी के तट पर मद्रास से दक्षिण पश्चिम में ३८५ किलोमीटर दूर स्थित है। प्राचीन काल में इसे चोल नरेशो, नायक तथा मराठा राजाओ की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हो चुका है। यहाँ पर भारत का सर्वोच्च मन्दिर वृहदेश्वर है। इसमे एक विशाल शिवलिंग है जो २१७ फीट ऊँचा है। यह चारो ओर से एक लम्वी परिखा से परिवेष्ठित है। वृहदेश्वर मन्दिर के सामने पाषाण निर्मित एक विशाल नन्दि वैल बना हुआ है। मन्दिर मे विशाल तोरण एवं मण्डप भी है। सुदूर दक्षिणी तंजौर से होयसल नरेश सोमेश्वर और रामनाथ के अभिलेख भी मिले है। तंजौर के अन्य मन्दिरो मे चण्डेश्वर का मन्दिर भी प्रमुख है।

(४८) तक्षशिला—प्राचीन काल मे तक्षशिला उत्तर-पश्चिमी भारत का एक इतिहास प्रसिद्ध नगर था। यह प्रारम्भ मे पूर्वी गान्धार की राजधानी था। रामायण के अनुसार भरत के पुत्र तक्ष द्वारा इसकी स्थापना किये जाने के कारण इस नगर का नामकरण तक्षशिला हुआ। पाणिनि तथा पातजलि ने इस नगर का उल्लेख किया है। अशोक के शासनकाल मे तक्षशिला सदैव विद्रोहशील प्रान्त था। एरियन ने इस नगर को विशाल, समृद्ध तथा जनाकीर्ण कहा है। युवान च्वाग ने तक्षशिला की परिधि २००० ली तथा इसकी राजधानी की परिधि १० ली वताई है। वौद्ध तथा जैन परम्पराओ मे इस नगर को शिक्षा का प्रमुख केन्द्र कहा गया है—जो सत्य है। यहाँ पर विविध विपयक शिक्षा प्राप्ति के लिये भारत के विभिन्न भागो से अनेक विद्यार्थी आते थे। कोशल नरेश प्रसेनजित तथा मगध नरेश विम्बिसार के प्रख्यात राजवैद्य जीवक ने यही पर शिक्षा प्राप्त की थी। बिन्दुसार के शासनकाल मे अशोक तथा अशोक के शासन काल मे कुणाल यहाँ का राज्यपाल था। मौर्यो के उपरान्त तक्षशिला इन्डोवैक्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया। उनके पतनोपरान्त यह क्रमशः शको और पहलव राजाओ के अधीन हो गया। चौथी शती ई० के अतिम चरणो मे फाह्यान इस नगर मे आया तथा उसने यहाँ पर कई स्तूप देखे। आधुनिक समय में तक्षशिला के अवशेप रावलपिण्डी से ३२ किलोमीटर दूर उत्तर पश्चिम मे मिले है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस नगर का निर्माण सुनियोजित ढग से किया गया था। तक्षशिला के स्मारको मे 'धर्मराजिका स्तूप' उल्लेखनीय है। यह नगर गान्धार कला के भी कई अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(४९) ताम्रलिप्ति—यह नगर पूर्वी समुद्रतट पर सवसे वड़ा वन्दरगाह था। इस स्थान पर पश्चिमी वंगाल का तामलुक नगर स्थित है। गंगा का मार्ग वदल जाने के कारण आधुनिक नगर समुद्रतट से दूर हो गया है। ताम्रलिप्ति के प्राचीन नगर का वर्णन महाभारत मे मिलता है, जिसके अनुसार ताम्रलिप्ति तथा सुह्म दो पृथक प्रदेश थे। टालमी ने इसे 'टेमेलाइटीज' कहा है। मौर्यों के अधीन यह मगध साम्राज्य का भाग था। ताम्रलिप्ति से ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान ने स्वदेश के लिये प्रस्थान किया था। सातवी शती ई० मे ताम्रलिप्ति के प्रसिद्ध वराह विहार मे ईत्सिग ठहरा था। युवान च्वाग के अनुसार इस नगर की परिधि दो मील थी। दशकुमार चरित

से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से भारतीय व्यापारी सिंहल, यूनान, जावा तथा चीन देश को जाते थे। इस नगर मे बौद्ध धर्म पर्याप्त सक्रिय था। महावश के अनुसार अशोक के धर्म प्रचारको ने इसी बन्दरगाह से लंका के लिये प्रस्थान किया था। १९४० ई० मे पुरातत्व विभाग द्वारा ताम्रलिप्ति मे उत्खनन कार्य किया गया। यहाँ से प्राप्त सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि मिस्र तथा भारत के बीच यहाँ से व्यापार होता था। कालीदास के रघुवंश के अनुसार पूर्वी द्वीप समूह से यहाँ पर मसाले आते थे। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार इस नगर को 'तामलिप्त', 'तमालिनी,' 'स्तम्बपुर' तथा 'विष्णु गृह' भी कहा जाता था।

(५०) **तिरुपति**—तिरुपति मद्रास से ११५ किलोमीटर पश्चिमोत्तर मे आधुनिक आन्ध्र प्रदेश मे स्थित है। यहाँ पर सात पहाडियो का अति रमणीक झुण्ड है जिसके शिखर पर तिरुपति मन्दिर स्थित है। ये सात पहाड़ियाँ उस साँप के सात शीर्ष की प्रतीक है जिस पर वेंकटाचलपति अथवा भगवान वेंकटेश्वर रहते है। सर्प के शरीर का मध्य भाग नरसिंह का है तथा उसकी पूंछ वाला छोर मल्लिकार्जुन का आवास है। यह विश्व का सर्वाधिक धनी मन्दिर है तथा आधुनिक समय मे यहाँ पर सर्वाधिक भक्तगण दर्शनार्थ आते है। मनोकामना पूर्ण होने पर यहाँ देवता को केश भेट किये जाते है। रख रखाव, स्वच्छता तथा अनुशासन की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ठ तीर्थ स्थान है। इस मदिर की निर्माण कला दक्षिण भारतीय स्थापत्य का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

(५१) **थानेश्वर**—संस्कृत साहित्य मे वर्णित यह एक प्रख्यात प्राचीन नगर है। यह आधुनिक दिल्ली तथा प्राचीन इद्रप्रस्थ नगर के उत्तर मे अम्बाला और करनाल के बीच स्थित था। यह ब्रह्मावर्त क्षेत्र का केन्द्र बिन्दु था, जहाँ भारतीय आर्यो का सबसे पहले विस्तार हुआ। इसी के निकट कुरुक्षेत्र स्थित है, जहाँ कौरवो-पाण्डवो के बीच अठारह दिन तक युद्ध हुआ था जो महाभारत महाकाव्य का प्रमुख विषय है। थानेश्वर को स्थानेश्वर भी कहते थे, जो शिव का पवित्र स्थान था। छठी शताब्दी के अंत मे यह पुण्यभूति वंश की राजधानी बना और इसके शासक प्रभाकर वर्धन ने इसे एक विशाल साम्राज्य का, जिसके अंतर्गत मालवा, उत्तर-पश्चिमी पंजाब और राजपूताना का कुछ भाग आता था, केन्द्रीय नगर बनाया।

प्रभाकर वर्धन के छोटे पुत्र हर्ष वर्धन के काल (६०६-६४७) मे इसका महत्व घट गया। उसने अपने अपेक्षाकृत अधिक विशाल साम्राज्य की राजधानी कन्नौज को बनाया। सातवी और आठवी शताब्दी मे हूण आक्रमणो के फलस्वरूप इस नगर का तेजी से पतन हो गया, फिर भी यह हिन्दुओ का पवित्र तीर्थस्थल बना रहा। १०१४ ई० मे यह सुलतान महमूद द्वारा लूटा तथा नष्ट किया गया और अन्ततः पजाब के गजनवी राज्य का अग हो गया। इसके इर्द-गिर्द क्षेत्र मे तराइन के दो तथा पानीपत के तीन युद्ध हुए जिन्होने कई बार भारत के भाग्य का निर्णय किया। तृतीय मराठा-युद्ध के उपरान्त यह भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य का अंग हो गया।

(५२) **दशपुर**—बृहत्सहिता मे एक नगर के रूप मे इसका वर्णन मिलता है। पश्चिमी रेलवे की राजस्थान-मालवा शाखा पर यह एक सुप्रसिद्ध स्थान है। इसे मध्यप्रदेश के मंदसोर जिले से समीकृत किया जाता है। बाणकृत कादम्बरी के अनुसार यह उज्जयिनी के निकट मालवा मे स्थित था। सभवत. यह पश्चिमी मालवा मे था। प्राचीन दशपुर शिप्रा की एक सहायक नदी सिवन के उत्तरी या बाएँ तट पर स्थित था। बन्धुवर्मन के मंदसोर-अभिलेख मे लाट एवं दशपुर का वर्णन

है। क्षहरात क्षत्रप नहपान के शासनकाल में उसके दामाद उपवदात ने दशपुर में अनेक लोकोपयोगी कार्य करके अशोक जैसी ख्याति अर्जित की थी। दशपुर एवं विदिशा दो पडोसी नगर थे जो गुप्तकाल मे उज्जयिनी से स्पर्धा करते थे। जैनग्रंथ आवश्यक चूर्णी से विदित होता है कि दशपुर मे कुछ व्यापारी निवास करते थे और तब से इसे दशपुर कहा जाता था।

(५३) द्वारका—इसे कुशस्थली भी कहा जाता है। स्कन्दपुराण के अनुसार यह एक तीर्थस्थान है। योगिनीतंत्र में भी इसका उल्लेख हुआ है। जैनग्रथ नायाधम्मकहाओ मे कहा गया कि वारवै द्वारावती कृष्ण वासुदेव (कण्ह वासुदेव) का निवास-स्थान था। हरिवंश के अनुसार यह नगर फाटको द्वारा समुचित रूप से सुरक्षित, अतिसुन्दर भित्तियो से अलंकृत, परिखाओं द्वारा परिवेष्टित, प्रासादो से युक्त, पुष्करो और निर्मल जलवाली लघुसरिताओ तथा वाटिकाओ से सुसज्जित था। यह सात पुनीत नगरियो मे से एक था। ऐसा प्रतीत होता है कि दो द्वारकाएँ थी, जिनमे एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। प्राचीन द्वारका कोडिनर के पास थी। सोमात एवं सिंगाव्र नदियो के मुखो के बीच समुद्र-तट पर जो छोटा ढूह है और जो कोडिनर से लगभग तीन मील दूर है, वह एक मंदिर के भग्नावशेष से घिरा हुआ है। इसे हिन्दू लोग मूल द्वारका कहते हैं जहाँ पर कृष्ण रहते थे, और यहीं से वे ओखामण्डल की द्वारका मे गये। जरासंध के लगातार आक्रमणों से विवश होकर कृष्ण ने इसे बसाया था। इसका उद्यान रैवतक एवं पहाड़ी गोमन्त थी। यह लम्बाई मे दो योजन एव चौडाई मे एक योजन थी। ब्रह्मपुराण मे आया है कि वृष्णियो एवं अन्धको ने कालयवन के डर से मथुरा छोड दी और कृष्ण की सहमति लेकर कुशस्थली चले गये और द्वारका का निर्माण किया। कृष्ण ने समुद्र से १२ योजन भूमि माँगी, वाटिकाओं, भवनो एवं दृढ दीवारो के साथ द्वारका का निर्माण किया और वहाँ मथुरावासियो को बसाया। जब कृष्ण का देहावसान हो गया तो नगर को समुद्र ने डुबा दिया और उसे बहा डाला, जिसका उल्लेख भविष्यवाणी के रूप मे मौसल पर्व तथा ब्रह्मपुराण मे हुआ है। उद्योग पर्व मे यह आनर्त की राजधानी कही गयी है। आधुनिक द्वारका काठियावाड़ मे ओखा के पास है। प्रभास-खण्ड (स्कन्दपुराण) मे द्वारका के विषय मे ४४ अध्यायो एवं २००० श्लोको का एक प्रकरण आया है। इसमे कहा गया है–'जो पुण्य वाराणसी, कुरुक्षेत्र एवं नर्मदा की यात्रा करने से प्राप्त होता है, वह द्वारका मे निमिष मात्र मे प्राप्त हो जाता है,' 'द्वारका की तीर्थयात्रा मुक्ति का चौथा साधन है। व्यक्ति सम्यक् ज्ञान (ब्रह्मज्ञान), प्रयाग-मरण या केवल कृष्ण के पास गोमती-स्नान से मुक्ति प्राप्त करता है'।

(५४) द्वारसमुद्र—द्वारसमुद्र आधुनिक हैलविड़ का प्राचीन नाम है। यह होयसल राजाओ की राजधानी थी जो वर्तमान कर्नाटक क्षेत्र पर शासन करते थे। इस राजधानी की स्थापना विहिग ने की जो बाद में विष्णुवर्धन (लगभग ११११ १४ ई०) के नाम से विख्यात हुआ। यह नगर वैष्णव धर्म का केन्द्र था। विख्यात वैष्णव संत रामानुज को विष्णुवर्धन की ही संरक्षकता प्राप्त थी। इस राजा ने कई भव्य विष्णु मंदिर बनवाये थे। द्वारसमुद्र मे बना विष्णु मंदिर अपने सौंदर्य और कला के लिए बहुत विख्यात हुआ। किसी समय द्वारसमुद्र का राज्य देवगिरि तक फैला हुआ था। १३२६ ई० में सुल्तान मुहम्मद तुगलक की मुस्लिम सेना ने इस नगर को लूट-पाट कर बरबाद कर डाला।

(५५) नालन्दा—यह सातवी शताब्दी का एक विश्वविख्यात बौद्ध विद्यापीठ था। नालन्दा दक्षिणी बिहार में राजगिरि (राजगृह) के निकट स्थित है और उसके ध्वंसावशेष बड़गाँव नामक

ग्राम में दूर तक बिखरे पडे हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि कब और किसने नालन्दा महाविहार की नींव डाली। फाहियान ने, जिसने पाँचवी शताब्दी में पाटलिपुत्र और आस-पास के क्षेत्रो में भ्रमण किया था, इसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत भ्रामण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस प्रकार नालन्दा महाविहार ने, विश्वविद्यालय के रूप में पाँचवी और छठी शताब्दियों में विशेष कीर्ति अर्जित कर ली थी। वस्तुतः ह्वेन-साग का कथन है कि गुप्त सम्राट् नरसिंहगुप्त बालादित्य (लगभग ४७० ई०) ने नालन्दा में एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया और उसमे ८० फुट ऊँची ताँबे की बुद्ध प्रतिमा की स्थापना की। जिन दिनो ह्वेनसांग नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उस समय शीलभद्र नामक बंगाली बौद्ध भिक्षु वहाँ का महास्थविर था। प्राय: इसी काल मे शैलेन्द्र शासक बालपुत्र देव ने मगध के तत्कालीन शासक देवपाल की अनुमति से नालन्दा में एक नये विहार का निर्माण इस आशय से कराया कि जावा से नालन्दा शिक्षा प्राप्त करने आने वाले भिक्षुओं को निवास की सुविधा प्राप्त हो सके।

वास्तव मे नालन्दा विहार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय था। वहाँ केवल भारत से नही, बल्कि सुदूर तिब्बत, चीन, जावा और लंका से अनेकानेक विद्यार्थी और विद्वान आते रहते थे। यद्यपि यहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी तथापि बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से होता था। वहाँ हस्तलिखित ग्रंथो का एक विशाल पुस्तकालय, जो तीन विशाल भवनों मे, जिनमे से एक नौ खंडों (मंजिलों) का था, स्थापित था। आज के किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय को यह श्रेय प्राप्त नही है। वहाँ का अनुशासन कठोर था और समय की सूचना जलघडी द्वारा विधिवत् दी जाती थी। सभी प्रश्नो एवं समस्याओ पर खुलकर वाद-विवाद होते थे। शिक्षा के इस महान केन्द्र का कब और कैसे विनाश हुआ, यह निश्चय पूर्वक ज्ञात नही है, किन्तु ध्वंसावशेषो के अध्ययन से प्रतीत होता है कि एक भयंकर अग्निकाड इसका कारण था।

(५६) **नासिक**—नासिक पुराणो मे वर्णित नासिक्री या नैसिक तथा रामायण का जनस्थान है। यह बृहत्संहिता मे वर्णित नासिक्या है। ल्युडर्स की तालिका में इसका वर्णन एक नगर के रूप मे हुआ है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार यह नर्मदा के तट पर स्थित था। लक्ष्मण द्वारा यहाँ शूर्पणखा की नाक काट लिए जाने के कारण इसका नाम नासिक पडा। नासिक आधुनिक नासिक है जो बंबई से लगभग १२० किलोमीटर पश्चिमोत्तर मे स्थित है। नासिक जिले का मुख्यावास नासिक गोदावरी के दाहिने तट पर नासिक रोड स्टेशन से लगभग ६ किलोमीटर पश्चिमोत्तर मे स्थित है। आध्र के सातवाहन-नरेशो के शासन-काल मे नासिक बौद्धो के भद्रयानिक संप्रदाय का गढ़ था। नौ पहाड़ियो पर स्थित होने के कारण इस मत की पुष्टि होती है कि यह नौ कोणो वाला था। नगर के तीन भाग हैं: गोदावरी नदी के बाएँ तट पर स्थित पञ्चवटी या प्राचीन नासिक, पञ्चवटी के दक्षिण मे गोदावरी नदी के दाहिने तट पर नौ पहाड़ियों पर स्थित मध्य नासिक और पञ्चवटी के पश्चिम मे उक्त नदी के दाहिने तट पर स्थित आधुनिक नासिक। नासिक की बौद्ध गुहाएँ सुविख्यात है। उनको पण्डुलेण कहा जाता है। वे सडक-तल से लगभग ३०० फीट की ऊँचाई पर हैं। वे हीनयान बौद्धो के एक संप्रदाय भद्रयानिको द्वारा खुद-

वायी गयी हैं। वहाँ पर कुल तेईस गुफाएँ हैं। सबसे प्राचीन चैत्य गुफा है जिसकी तिथि ईस्वी सन् के प्रारंभ मे है।

(५७) पाटलिपुत्र—पाटलिपुत्र को मगध साम्राज्य की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। इसके राजोद्यान के अहाते में उगे वहुसंख्यक पुष्पों के कारण इसके प्राचीन नाम कुसुमपुर और पुष्पपुर भी थे। यह नगर सोन और गंगा नदी के संगम पर आधुनिक पटना तथा वांकीपुर के निकट स्थित था। मगध से वैशाली जाते समय महत्मा बुद्ध ने अजातशत्रु के अमात्यो को इस नगर का मापन करतेहुए देखा था। पाटलिपुत्र का दुर्ग राजा अजातशत्रु (लगभग ४६४–४६७ ई० पू०) वनवाया और उसके पौत्र उदयी (लगभग ४४३–४१८ ई० पू०) ने पाटलिपुत्र दुर्ग के पडोस मे गंगा तट पर कुसुमपुर की स्थापना की। दोनो नगर शीघ्र मिलकर एक हो गये और मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के अधीन पाटलिपुत्र नगर का राजधानी के रूप मे विकास हुआ। नगर के चारो ओर लकड़ी की प्राचीर वनी हुई थी, जिसमे ५७० वुर्ज तथा ६४ द्वार थे। प्राचीर के वाहर नगर की रक्षा के निमित्त गहरी खाई थी, जिसमे सोन नदी का पानी भरा रहता था। प्राचीर के भीतर राजा का महल था, जिसके ध्वंसावशेष आधुनिक कुमराहार ग्राम के निकट मिले हैं। राजा का महल इतना भव्य था कि मेगस्थनीज ने उसके सामने सूसा तथा एकवताना के राज महलो-को हेय वताया था। राज महल लकडी का वना हुआ था और अव लगभग नष्ट हो गया है। वाद में अशोक ने नगर के अंदर पत्थर का महल वनवाया। यह महल भी नष्ट हो गया है, किन्तु पांचवी शताव्दी ई० मे जव फाहियान पाटलिपुत्र आया था, यह वर्तमान था। चीनी यात्री इस भव्य महल को देखकर इतना चकित हो गया कि उसे विश्वास नही हुआ कि यह मनुष्यो का वनाया हुआ हैं, वह इसे असुरो के द्वारा निर्मित समझता था।

पाटलिपुत्र शुंग और कण्व वश के राजाओं की राजधानी रहा। उड़ीसा के राजा खारवेल और संभवत भारतीय यवन राजा मिनाण्डर ने इस पर आक्रमण किया, फिर भी नगर फलता-फूलता रहा। यह गुप्त सम्राटो की राजधानी रहा, जिन्होने ३२० ई० से ५०० ई० तक राज्य किया। उनका राज्य काल भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल माना जाता है और पाटलिपुत्र उस युग में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का महान् केन्द्र था। गुप्त वंश के पतन के वाद इस नगर का महत्व घटने लगा। सातवी शताव्दी ई० मे इसका स्थान कन्नौज ने ले लिया। वाद मे नवी शताव्दी मे पाल राजाओं ने मुद्गगिरि (मुगेर) को अपनी राजधानी वनाया। मुसलमानो के शासन काल मे पाटलिपुत्र को दुर्दिन देखने पड़े। प्राचीन पाटलिपुत्र के निकट स्थित पटना अव विहार की राजधानी है।

(५८) पावा—पावा गोरखपुर जिले के पूर्व मे छोटी गडक नदी के तट पर स्थित है। कनिंघम ने अति प्राचीन स्थल पावा को पड़रौना से समीकृत किया है। यह जैनियों का एक तीर्थ स्थान समझा जाता है। पावा नरेश पष्ठिपाल के प्रासाद मे रहते समय महावीर ने अपने पार्थिव शरीर को छोड़ा था। यह वही नगर था जहाँ वुद्ध चन्द लोहार के घर पर अपना अंतिम भोजन करके पेचिश के शिकार हुये थे। पावा से कुशीनारा आते समय महाकस्सप ने बुद्ध के महापरि-निर्वाण के विषय में सुना था। महापरिनिर्वाण-सूत्र के फा-ह्यान संस्करण के अनुसार वह राजगृह के दक्षिण मे दक्षिण-गिरि मे और महासंघिक विनय के अनुसार गृध्रकूट पर थे। इस पुर मे मल्ल जन रहा करते थे जो निष्ठापूर्वक महावीर एवं बुद्ध के निष्ठावान उपासक थे।

(५९) **पुष्कलावती**—सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित यह गंधार की प्राचीन राजधानी थी। इसे स्वात एवं काबुल नदी के संगम से थोडा पहले स्थित आधुनिक चारसद्दा से समीकृत किया जाता है। कुछ विद्वानो के अनुसार, प्रकारातर से पुष्कर नाम से विख्यात इस नगर को स्वात नदी के तट पर पेशावर से २८ किलोमीटर पूर्वोनर मे स्थित आधुनिक प्राग एवं चारसद्दा से समीकृत किया जा सकता है। बताया जाता है कि इसकी स्थापना भरत के पुत्र एवं राम के भतीजे पुष्कर ने की थी। सिकन्दर के अभियान के समय (३२६ ई० पू०) यह भारतीय राजा हस्ति की राजधानी थी। टॉलेमी ने इसे 'प्रोक्लाइस' कहा है जो एक विशाल एवं जनाकीर्ण नगर था। माविस (लगभग ७५ ई० पू०) के शासनकाल मे यहाँ पर शको का शासन हो गया। तारानाथ के अनुसार कनिष्क का पुत्र यहां रहा करता था। वृहत्सहिता मे इसका उल्लेख एक नगर के रूप मे हुआ है।

(६०) **प्रयाग**—प्रयाग का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। इसके अनुसार यह अति पवित्र तीर्थ था तथा यहाँ पर 'सित'-'असित' (गंगा-यमुना) एक दूसरी से मिलती थी। रामायण मे कहा गया है कि राम, लक्ष्मण एवं सीता ने, जब वे अयोध्या से गंगा-यमुना के संगम पर आये, इस पवित्र नगर से धुआँ उठते हुए देखा था। महाभारत के अनुसार यह सम्पूर्ण संसार का पवित्रतम स्थान है। हरिवंश के अनुसार महान् ऋषियों ने इसकी बडी प्रशंसा की है। योगिनीतंत्र में इसका उल्लेख किया गया है। कूर्म पुराण एवं पद्म पुराण मे भी इस प्रसिद्ध तीर्थ स्थान का वर्णन प्राप्त है। भीटा से प्राप्त कुछ अभिलेखो मे महाराज गौतमीपुत्र श्री शिवमघ, राजन् वाशिष्ठीपुत्र भीमसेन (द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई०) तथा महाराज गौतमीपुत्र वृषध्वज (तृतीय या चतुर्थ शती ई०) का उल्लेख है जो प्रयाग से सम्बन्धित थे। आदित्यसेन के अफसढ शिलालेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त ने, जिसने मौखरि नरेश ईशानवर्मन पर विजय प्राप्त की थी, प्रयाग मे धार्मिक आत्मोत्सर्ग किया था।

प्रयाग (चीनी, पो-लो ये-किया) आधुनिक इलाहाबाद है। भागवत पुराण के अनुसार यह एक धर्म क्षेत्र है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे पयाग या प्रयाग गंगा तट पर स्थित एक तीर्थ या घाट बतलाया गया है। प्रयाग मे गगा, यमुना एवं सरस्वती नामक नदियो का सगम है। हिन्दू इस संगम को बहुत पुनीत मानते है। सौर पुराण मे गगा-यमुना के सगम का उल्लेख है। कालिदास ने रघुवंश मे इस संगम का उल्लेख किया है। महाभारत के अनुसार सरस्वती सगम सार्वलौकिक रूप से पुनीत माना गया है। इस संगम पर स्नान करने से मनुष्य अत्यधिक पुण्यार्जन करता है। अयोध्या काण्ड रामायण के अनुसार राम, लक्ष्मण एवं सीता ने गंगा-यमुना के सगम पर जल के दो प्रकार के रंग देखे थे। प्रयाग नाम की उत्पत्ति 'यज्ञ' धातु से हुई। जिसका अर्थ 'यज्ञ' होता है। महाभारत के अनुसार यहाँ पर ब्रह्मा ने यज्ञ किया था। प्रयाग को 'तीर्थराज' भी कहा गया। यह सभी तीर्थो मे श्रेष्ठ था। ब्रह्म पुराण के अनुसार कुरु, दुष्यन्त एवं भरत नामक तीन राजाओ ने यहाँ शासन किया था। विक्रमोर्वशी का नायक पुरुरवा यहाँ का शासक बतलाया गया है। प्रयाग धंग के अधिकार में था, जिसके बारे मे कहा जाता है कि उसने जाह्नवी एवं कालिंदी के जल में अपना शरीर परित्याग करके परमगतिप्राप्त की थी। कमौली दानपत्र के अनुसार गहड़वाल-नरेश जयचंद्र ने प्रयाग की त्रिवेणी मे स्नान किया था।

प्रयाग में 'दान' का बड़ा महत्व था। यह विश्वास व्याप्त था कि इस जीवन में यहाँ दान

करने से स्वर्ग और पुनर्जन्म मे सम्राट पद की प्राप्ति होती है। हर्ष यहाँ पर अपना सभी कुछ दान कर दिया करता था। यहाँ पर संगम स्नान का भी विशेष महत्व था। कूर्म पुराण के अनुसार संगम स्नान से स्वर्ग लोक को प्राप्त कर पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है। पद्म पुराण के अनुसार प्रयाग मे निवास स्थान वनाने वाला सभी पापो से मुक्त हो जाता है। प्रयाग मे आत्महत्या धर्म संगत मानी जाती थी। प्रयाग मे श्राद्ध भी किये जाते थे। यहाँ पर प्रति वारहवे वर्ष 'कुम्भ' पर्व का आयोजन होता चला आया है। आधुनिक समय मे भी प्रयाग का महत्व पूर्वकाल के समान ही वना हुआ है।

(६१) **प्रतिष्ठान**—महाराष्ट्र के औरंगावाद जिले मे गोदावरी के उत्तरी तट पर स्थित प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठान) को साहित्य मे शातकर्णि (सातवाहन या सालिवाहन) और उसके पुत्र शक्ति कुमार (जिन्हे साधारणतया नानाघाट अभिलेखो में वर्णित राजा शातकर्णि और राजकुमार शक्तिश्री से समीकृत किया गया है,) की राजधानी वतलाया गया है। महाराष्ट्र मे गोदावरी-तट पर स्थित पैठान या प्राचीन प्रतिष्ठान या सुप्रतिष्ठाहार या सुप्रतिष्ठित वह स्थान था, जहाँ से गोविन्द तृतीय के तीन अभिपत्र उपलब्ध हुए हैं। प्रतिष्ठान का उल्लेख वाकाटक रानी प्रभावतीगुप्ता के पूना अभिपत्रों मे भी हुआ है। अशोक के पाँचवें और तेरहवें अभिलेखो मे वर्णित पेतेनिक लोगो को गोदावरी-तट-निवासी पैठान के निवासियो से समीकृत किया गया है। पैठान प्राचीन प्रतिष्ठान का आधुनिक नाम है, जो सातवाहन-नरेशों के शासनकाल मे एक समृद्धिशाली नगर था। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि वे पैठान के सातवाहन राजाओ के पूर्वज थे। इसे दक्षिणापथ का सवसे वडा नगर वतलाया गया था।

(६२) **पुरी**—यह उडीसा के पुरी जिले मे है। व्रह्मपुराण के अनुसार यह पवित्र नगर समुद्रतट पर स्थित है। योगिनीतंत्र मे इसे पुरुपोत्तम कहा गया है। कालिकापुराण में भी इसे इसी नाम (पुरुपोत्तम) से सम्वोधित किया गया है। यह रेतीला और दस योजन विस्तृत है तथा यहाँ प्रसिद्ध देवता पुरुपोत्तम का आवास है। इसमे दो स्पष्ट भाग सम्मिलित है। वालुखंड, स्वर्गद्वार और चक्रतीर्थ नामक दो पुण्य-तीर्थो के वीच में स्थित है। यह जगन्नाथ के हिंदू मंदिर के लिए प्रसिद्ध है और ठीक वंगाल की खाड़ी के समुद्रतट पर स्थित है। प्रकारातर से इसे श्री क्षेत्र भी कहा जाता है, जो हिंदुओ का एक अत्यन्त पुण्य क्षेत्र है। इसे पुरुपोत्तम क्षेत्र भी कहा जाता है। यह पश्चिम मे लोकनाथ मन्दिर से, पूर्व मे वालेश्वर मन्दिर तक, दक्षिण मे स्वर्गद्वार से पूर्वोत्तर में मटिया नदी तक फैला हुआ है। इसका आकार शख के समान है, जिसके केंद्र मे जगन्नाथ मन्दिर स्थित है। स्थापत्य की दृष्टि से यह मन्दिर उतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि भुवनेश्वर का। मुख्य मदिर के अतिरिक्त, यहाँ पर अनेक लघु मदिर यथा मार्कण्डेश्वर लोकनाथ, नीलकण्डेश्वर तथा कुछ अन्य तालाव है।

(६३) **प्राग्ज्योतिषपुर**—महाभारत मे उल्लिखित आसाम के आधुनिक प्रान्त का प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिष है। प्राग्ज्योतिषपुर की पहचान दक्षिण आसाम की घाटी मे स्थित गौहाटी नगर से भी की जाती है। हेमचन्द ने 'अभिधान-चिन्तामणि' मे प्राग्ज्योतिष को कामरूप का दूसरा नाम वताया है। कामरूप का यह नाम शकद्वीपी ज्योतिष मर्मज्ञ व्राह्मणो के वहाँ आगमन के कारण था। उनके ज्योतिष ज्ञान के कारण कामरूप और ज्योतिष शास्त्र का सम्वन्ध स्थापित हुआ था।

काल मे इसे पो-लु-का-चे-पो कहा जाता था। भृगुकच्छ, भरुकच्छ का संस्कृत रूप है जिसका तात्पर्य ऊँचा तट-प्रदेश है। यह नगर ठीक एक ऊँचे तट देश पर स्थित था। इसका वर्णन हुविष्क के मथुरा बौद्ध-प्रतिमा-लेख में भी मिलता है। गुर्जर-नरेश जयभट्ट तृतीय के एक दानपत्र में भी इस नगर का वर्णन हुआ है। भागवतपुराण मे इसे नर्मदा के उत्तरी तट पर स्थित बतलाया गया है। यूनानी भूगोलवेत्ता टॉलेमी के अनुसार समुद्र से कोई तीन मील दूर पर, नर्मदा नदी के उत्तर की ओर स्थित बैरीगाजा एक बडा पुर था। मार्कण्डेयपुराण मे इसे वेण्वा नदी पर स्थित बतलाया गया है। दिव्यावदान के अनुसार भरुकच्छ घना बसा हुआ एक सम्पन्न एवं समृद्धिशाली नगर था। युवान-च्वांग, ने इसकी परिधि २४०० या २५०० ली बतलाया है। यहाँ की भूमि लवणयुक्त थी। यहाँ समुद्री जल को गरम करके नमक बनाया जाता था और लोगो की जीविका का आधार समुद्र था। वृक्ष एवं झाड़ियाँ कम एवं बिखरी हुयी थी। यहाँ के निवासी क्षुद्र, धोखेबाज, मूर्ख एव कट्टरपंथ तथा विधर्म दोनो मे विश्वास करते थे। यहाँ पर दस से अधिक बौद्ध विहार थे जिनमें महायान स्थविर सम्प्रदाय के अनुयायी ३०० भिक्षु रहते थे। यहाँ पर लगभग दस देव मन्दिर थे जिनमे विविध सम्प्रदायो के मतावलम्वी रहते थे।

(७२) भुवनेश्वर—यह खुर्द तहसील मे स्थित एक गांव है, जो कटक से ३० किलोमीटर दूर दक्षिण और पुरी शहर से ४८ किलोमीटर उत्तर मे स्थित है। यह बलुये पत्थर के छोटे टीलो के ऊपर मखरला धरती पर स्थित है। ग्रीष्म ऋतु मे यहाँ बहुत गर्मी पड़ती है। बलियान्ती नदी के तट पर स्थित यह न केवल एक तीर्थ ही है वरन् स्वास्थ्यवर्धक स्थान भी है। यहाँ पर थोड़ी किंतु ठिठुराने वाली शीत भी पड़ती है और वर्षा ऋतु मे भी यहाँ सुहावना लगता है। यहाँ पर कुचला के बहुत वृक्ष हैं। यहाँ पर अनेक सरोवर हैं जिनमे से कुछ का यथा, केदारेश्वर के समीप, केदारगौरी, ब्रह्मेश्वर के निकट ब्रह्मगौरी और कपिलेश्वर मन्दिर के बाहर, कपिलह्रद का नामोल्लेख किया जा सकता है। सबसे बड़ा सरोवर बिन्दुसागर है। केदारगौरी सरोवर का जल मन्दाग्नि के लिए अतीव लाभकर है। यहाँ का प्रधान मन्दिर लिंगराज मन्दिर स्थापत्य कला के दृष्टिकोण से अद्वितीय है। लिंगराज को प्रकारातर से भुवनेश्वर या त्रिभुवनेश्वर भी कहा जाता है। इसके निर्माण की सभावित तिथि शक संवत् ५८८ (६६७ ई०) है। ययाति केशरी ने इस मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कराया था, जिसे ललाट केशरी ने पूर्ण किया था। भुवनेश्वर मे परशुरामेश्वर मन्दिर भी है।

(७३) मथुरा—यह नगर यमुना तट पर स्थित है और उत्तरप्रदेश के आगरा मंडल मे स्थित है। यह कौशाम्बी के ठीक उत्तर-पश्चिम मे ३४७ किलोमीटर दूर स्थित है। इस शहर को मधुपुरी भी कहा जाता था जिसे आधुनिक मथुरा नगर से २ किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम मे स्थित वर्तमान महोली से समीकृत किया जाता है। चीनी तीर्थयात्री फा-ह्यान ने इसे मा-ताऊ-लो कहा है। युवान च्वाङ ने इसे मो-तू-लो कहा है। एरियन ने अपनी पुस्तक इंडिका मे मेगस्थनीज के आधार पर इस शहर को शूरसेनो की राजधानी बताया है। टालेमी ने भी इसका वर्णन किया है। जैन लोग इसे सौरि-पुर या सूर्यपुर कहते थे। मथुरा एक धनी, प्रगतिशील और घनी आबादी वाला नगर था। यहाँ पर अनेक समृद्ध और बड़े व्यापारी रहते थे। मथुरा के राजा यादव वंश के थे। मथुरा वैष्णव संप्रदाय का केन्द्र था। आधुनिक वैष्णव मत का जनक, भागवतधर्म भी यही प्रतिपादित किया

गया था। कई शताब्दियों तक बौद्ध मत मथुरा में प्रबल था। इस नगर में दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य से जैन धर्म की गहरी जड़े जम गयीं। फा-ह्यान ने मथुरा में भिक्षुओं से भरे हुए अनेक विहार क्षेत्र देखे थे। तब इस नगर मे बौद्ध-मत विकासशील था। युवान-च्वाङ् ने इसे ५,००० ली से भी अधिक विस्तृत और इसकी राजधानी की परिधि लगभग २० ली बतलायी है। यहाँ पर अशोक द्वारा निर्मित तीन स्तूप भी स्थित थे। गुप्तवंश के उत्कर्ष के पूर्व यहाँ पर सात नाग-नरेश राज्य कर रहे थे। मगध-नरेश जरासंध ने अपनी सत्ता के चरमोत्कर्ष काल मे मथुरा तक और उसके समीपवर्ती प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, जहाँ के यादव-नरेण कंस ने अपनी दो पुत्रियो का विवाह उससे कर दिया और उसे अपना अधिराट् माना था। महाभारत एव पुराणो के अनुसार मथुरा का राजवंश यदु अथवा यादवो का था। यादव-जन विविध कुलो मे विभक्त थे। समुद्रगुप्त से पराजित होने के पूर्व, मथुरा मे नाग एव यौधेय शासन करते थे। पंजाब और काबुल नरेश मेनेन्डर ने भी इस पर अधिकार किया था।

मथुरा वैष्णव-संप्रदाय का केंद्र था। शक-कुषाणकाल मे मथुरा भागवत धर्म का गढ नहीं रह गया था। वृन्दावन मे दोल्लीला-समारोह मे सम्मिलित होने के पश्चात् अक्रूर के साथ श्री कृष्ण यहाँ आये थे। कृष्ण ने यहाँ पर एक धोबी की हत्या की थी तथा सुदामा नामक किसी माला-कार को वरदान एव त्रिवक्रा नामक एक कुब्जा को दिव्य सौंदर्य दिया था। अपने एवं अपने भाई बलराम को वस्त्र पहनाने के कारण एक बुनकर को पुरस्कृत किया था।[1] उन्होने कस के हाथी एवं अंत मे मथुरा के अत्याचारी राजा कंस का वध किया था।

(७४) **मदुरा**—रामायण के अनुसार यह रमणीक नगर बहुत दिनो तक राक्षसो से परिपूर्ण था। यह नगर वैगाई नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह मद्रास से लगभग ५५० किलोमीटर दूर दक्षिण के मुख्य रेलमार्ग पर स्थित है। यह मन्दिरो से भरा हुआ एक धार्मिक नगर है। यहाँ के विष्णु मन्दिर का भीतरी भाग काले संगमरमर से निर्मित है, जिसमे प्रदक्षिणा के लिए पथ की भी व्यवस्था है। मदुरा का सबसे बडा मदिर मीनाक्षी का है जो लक्ष्मी ही हैं। यह मंदिर एक विस्तृत क्षेत्र मे बना हुआ है जिसका एक भाग मीनाक्षी के लिए और दूसरा शिव के लिए सर्मपित है। मदुरा, पाण्ड्य राजाओ की राजधानी थी। यह जटावर्मन की राजधानी थी जो तेरहवी शताब्दी ईसवी मे सिंहासनारूढ हुआ था और जिसने कर्णाटक के होयसल-नरेश सोमेश्वर पर विजय प्राप्त की थी।

(७५) **महाबलिपुरम**—यह स्थान मद्रास के दक्षिण मे लगभग ५६ किलोमीटर दूर तथा चिंग-लपुत् से दक्षिण-पूर्व मे ३२ किलोमीटर दूर पर समुद्र-तट पर स्थित है। एक वैष्णव संत के अनुसार यहाँ पर शिव, विष्णु के साथ रहते थे और इसी कारण हमे यहाँ दोनो देवताओ के मंदिर एक दूसरे के पास स्थित मिलते हैं। यह सात पगोडाओ का स्थान है। यहाँ पर कई प्राकृतिक एव कृत्रिम गुफाएँ है। उनमे से कुछ मे हमे पौराणिक दृश्यो के अत्यंत आकर्षक सास्कृतिक चित्रण मिलते हैं। राक्षसो का दमन करती हुयी महिष-मर्दिनी, अर्जुन की तपश्चर्या, वर्षा के देवता इन्द्र के क्रोध के कारण पशुओ की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धनधारण आदि कुछ उल्लेखनीय

---

१. भागवत पुराण, स्कन्ध x, अध्याय, ४१-४२।

मूर्तियाँ है। विष्णु के वराह अवतार को शेषनाग पर विश्राम करते हुये उनके दाहिने पैर पर खड़े और पृथ्वी देवी को उनकी दायी जंघा पर विश्राम करते हुये अंकित किया गया है।

(७६) **मिथिला**—मिथिला विदेह की राजधानी थी। भविष्य पुराण के अनुसार निमि के पुत्र मिथि ने मिथिला की स्थापना की थी। मिथिला को नेपाल की सीमा पर स्थित आधुनिक जनकपुर नामक कस्बे से समीकृत किया जाता है। इसके उत्तर मे मुजफ्फरपुर तथा दरभंगा के जिले जुड़े हुये है। रामायण के अनुसार विदेह राजा जनक के शासनकाल मे विश्वामित्र को अयोध्या से मिथिला पहुँचने मे चार दिन का समय लगा था। रीज डेविड्स के अनुसार मिथिला वैशाली से ५६ किलोमीटर दूर थी। रामायण मे मिथिला के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। मिथिला के राजाओ मे जनक अयोध्या नरेश दशरथ के सम्बन्धी थे। शिव के धनुष का भंग होने पर परशुराम यहाँ पर प्रतिशोध लेने आये थे। महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध मिथिला में आये थे। मिथिला की गणना पंचभारत मे की जाती थी। यह मनोरम और स्वच्छ नगर था तथा यहाँ के निवासी स्वच्छ और सुसंस्कृत थे। गंगेश ने यहाँ पर तर्कशास्त्र की शाखा का प्रतिपादन किया था और यहाँ से यह मत बंगाल के नवद्वीप मे प्रचलित हुआ था।

(७७) **मोहनजोदड़ो**—यह सिंध (पाकिस्तान) के लरकाना जिले मे है। यहाँ के अवशेष तृतीय सहस्राब्दी के उत्तरार्ध की एक सुविकसित नागरीय सभ्यता का परिचय देते है। मोहनजोदड़ो में ताम्रपाषाणिक युग की सभ्यता के प्रचुर अव शेष हमे प्राप्त होते हैं। अभी तक उत्खनित सिन्धु-घाटी के प्रागैतिकहासि स्मारको का अध्ययन सतर्कतापूर्वक विभिन्न दृष्टिकोणो से किया जा चुका है किंतु अभी तक की शोधो का सर्वाधिक अद्भुत अंश सिन्धु के अभिलेखो को पढना अभी शेष है। यहाँ की भूमिगत जलनि.सारण प्रणाली सुन्दर थी। यहाँ के ३९ फीट लम्बे, २९ फीट चौडे एवं ८ फीट गहरे विशाल स्नानागार में नीचे उतरने के लिये सीढियाँ बनी हुयी थी।

(७८) **राजगृह**—बिहार मे पटना जिले के अन्तर्गत आधुनिक राजगीर नामक छोटे से नगर का प्राचीन नाम राजगृह है। इसका निर्माण राजा बिम्बिसार (ई० पू० छठी शताब्दी) तथा उसके पुत्र अजातशत्रु ने कराया था। बुद्ध के महानिर्वाण के कुछ ही महीनो उपरान्त यही पर प्रथम बौद्ध संगीति हुई थी। आजकल यह स्थान गरम-जल के स्रोतो के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं। इस नगर के समीप ही पौराणिक शासक जरासन्ध की राजधानी के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए है। इसके अतीत गौरव का इतिहास कुछ कम रोचक नही है। मगध की पहली राजधानी यहीं पर विद्यमान थी। यह पांच पर्वत-श्रेणियों द्वारा चारो ओर से घिरा हुआ था। इसीलिए इसको गिरिनगर भी कहा जाता था। कौटिल्य ने लिखा है कि बाहरी हमलो से सुरक्षित होने के कारण गिरि-दुर्ग बहुत उत्तम कोटि का नगर होता है। राजगृह की गणना गिरि-दुर्ग की कोटि में की जाती है। इसका प्राचीन नाम 'गिरिव्रज' था। भारत मे राजगृह की पर्वतमालाओ को सिद्धो और मुनियों की खान कहा गया है। 'बुद्धचरित' के अनुसार किसी समय गौतम बुद्ध इस नगर मे आये थे। प्रथम बौद्ध संगीति यही पर हुई थी। जिस समय फाहियान यहाँ पहुँचा, उस समय यह नगर अपने दुर्दिन व्यतीत कर रहा था। युवान च्वाग ने इस नगर के प्राचीन महत्वपूर्ण स्थानों तथा स्मारको का उल्लेख किया है। वहां पर उसने एक स्तूप देखा था, जिसका निर्माण अजातशत्रु ने कराया था। उसमें गौतम बुद्ध की अस्थियाँ रखी हुई थी। उसने राजगृह में विपुलो नामक

गिरिश्रृंग का उल्लेख किया है। इसका भारतीय नाम विपुल-श्रृंग है, जिसका वर्णन महाभारत में हुआ है।

(७९) रामेश्वरम्—बंगाल की खाडी में स्थित यह एक पवित्र द्वीप है। यहाँ का रामनाथ-स्वामी मंदिर सुविख्यात है। अनुश्रुतियो के अनुसार इसे भगवान रामचन्द्र ने तब स्थापित किया था, जब वे लंका के अत्याचारी राजा रावण के चंगुल में बंदिनी अपनी पत्नी सीता को छुडाने के लिए यहाँ से लंका गये थे। यह द्रविड़ स्थापत्य का एक सुंदर नमूना है, जिसमे बडे बुर्ज, नक्काशी की गई दीवाले और विस्तीर्ण गलियारे हैं। मंदिर चारो ओर से एक ऊँची प्राचीर से परिवेष्टित है, जो लगभग ९०० वर्ग फीट जगह घेरे हुए है। गढ़े हुये पत्थरो से निर्मित इसमे अनेक गोपुरम् है। मंदिर के भीतर तालाब है। मंदिर मे एक शिवलिंग और अन्नपूर्णा, पार्वती तथा हनुमान की मूर्तियाँ हैं।

(८०) लुम्बिनीग्राम—अशोक के रुम्मिनिदेई-अभिलेख मे लुम्बिनीग्राम का वर्णन प्राप्त होता है जो अब रुम्मिनिदेई या रूपदेई नामक छोटे से गाँव के नाम से विख्यात है। इसका नाम रुम्मिनिदेई के मंदिर के आधार पर पड़ा है। रुम्मिनिदेई कपिलवस्तु से केवल १६ किलोमीटर दूर पूर्व मे, भगवानपुर से तीन किलोमीटर उत्तर मे तथा पड़ेरिया से कोई डेढ किलोमीटर दूर उत्तर मे स्थित है। चीनी यात्री फा-ह्यान एव युवान-च्वाङ् लुम्बिनी वन आये थे। फा-ह्यान के अनुसार यह कपिलवस्तु से पचास ली दूर, पूर्व मे स्थित था। युवान-च्वाङ् ने यहाँ पर अशोक द्वारा स्थापित एक स्तम्भ का उल्लेख किया है जिसके सिर पर घोडे की एक मूर्ति थी। युवान-च्वाङ् ने यह भी बताया है कि उक्त अशोक स्तम्भ के समीप दक्षिण-पूर्व की ओर बहने वाली एक छोटी सरिता थी, जिसे वहाँ के लोग तिलौर (तेल की नदी) कहते थे। उक्त अनुश्रुति वहाँ अब भी प्रचलित है और इस नदी को अब तिलार-नदी कहते हैं। रुम्मिनिदेई मे अपेक्षाकृत बाद का बना हुआ एक मदिर भी है जिसमे बुद्ध के जन्म को प्रस्तुत करते हुए एक चित्रित शिला-पट्ट है, जो उक्त स्थान के लुम्बिनीवन होने के विषय मे एक और प्रमाण है। अशोक के रुम्मिनिदेई स्तम्भ लेख में यह बताया गया है कि अपने राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष मे राजा अशोक स्वयं वहाँ गया था और उसने उस स्थान की पूजा की थी। उसने लुम्बिनीग्राम को करों से मुक्त कर दिया था।

(८१) वल्लभी—यह गुर्जर देश मे एक समृद्धिशाली नगर था जहाँ पर शीलादित्य नामक राजा राज्य करता था। वलभी या वल्लभी नगर के अवशेष गुजरात के पूरब मे भावनगर के समीप प्राप्त हुये हैं। पाँचवी शताब्दी ई० के एक अभिलेख में इसका वर्णन वलभद्र की सुंदर राजधानी के रूप मे हुआ है। युवान-च्वाङ् ने इसे फा-ल-पी कहा है। युवान-च्वाङ् के अनुसार वलभी राज्य मे संपूर्ण गुजरात प्रायद्वीप, भड़ौच तथा सूरत के जिले सम्मिलित थे। पाँचवी शताब्दी मे वल्लभी की नीव मैत्रको ने डाली थी। इस राज्य के अंतर्गत मूलतः पूर्वी काठियावाड़ आता था। वल्लभी नगर अब वालाघाट गाँव बन गया है। इसका प्रथम राजा द्रोण-सिंह था, जिसने महाराज की पदवी धारण करके छठी शताब्दी के प्रारम्भ मे शासन किया। इस राजवंश की एक शाखा मोला-पो अर्थात् पश्चिमी मालवा मे स्थापित हुई। राजा शीलादित्य, धर्मादित्य इसी शाखा का था, जिसने सातवी शताब्दी के प्रथम दशक मे शासन किया। शीलादित्य

के भतीजे ध्रुवसेन (जो ध्रुवभट भी कहलाता था) के शासनकाल में दोनों शाखाएँ संयुक्त हो गयीं। ध्रुवसेन का विवाह हर्षवर्धन की पुत्री से हुआ था।

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त वल्लभी राज्य उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता गया, किन्तु ७७० ई० मे अरबों ने उसे ध्वस्त कर डाला। वल्लभी नगर धन-धान्य से सुसम्पन्न था और वहाँ अनेक ख्याति प्राप्त बौद्ध आचार्य रहते थे। यह विद्या का महान् केन्द्र था और सातवी शताब्दी मे नालन्दा के समान प्रसिद्ध था। दूर-दूर से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिये यहाँ आते थे। चीनी यात्री ह्वेन-साग भी यहाँ आया था।

(८२) **विदिशा**—विदिशा के कई नाम मिलते है जो 'वेदिस,' 'वैदिश' या 'वैदश' आदि है। भिलसा से ३ किलोमीटर पर मध्यप्रदेश मे बेतवा तथा वेस नदी के काँठे मे वेसनगर का विदिशा प्राचीन नाम है। यह पूर्वी मालवा की राजधानी था। कालीदास ने 'मेघदूत' मे इस नगर का वड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। गरुड़पुराण में इस नगर को धन-सम्पदा से परिपूर्ण कहा गया है। पाटलिपुत्र से कौशाम्बी होते हुए जो मार्ग उज्जयिनी को जाता था वह विदिशा मे से गुजरता था। वाण की कादम्वरी के अनुसार शूद्रक नामक राजा विदिशा पर शासन करता था। अशोक के समय मे यह बौद्ध धर्म तथा आगे चल कर वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र था। यह नगर हाथी दाँत की कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिये प्रख्यात था। जातकों के अनुसार यह तीक्ष्ण-धार वाली तलवारे बनाने के लिये भी प्रसिद्ध था। विदिशा मे अनेक स्तूप भी थे। शुगों के समय मे इस नगर के राजनैतिक महत्व मे वृद्धि हुई थी। उनके उपरान्त यह नाग शासकों के अधीन हो गया। भरहुत अभिलेखानुसार विदिशा निवासी बडे दानी थे। (विस्तृत विवरण के लिये वेसनगर भी देखिये।)

(८३) **वाराणसी**—यह गंगा के उत्तरी तट पर उसकी दो सहायक नदियो, वरुणा और अस्सी के बीच मे स्थित है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद मे काशी राज्य की राजधानी के रूप मे हुआ है। सामान्यत. इसे काशी के ही नाम से पुकारते है। अति प्राचीनकाल से हिन्दुओ की सात पवित्र नगरियों मे से एक के नाम से इसकी प्रसिद्धि रही है। काशी का राज्य कालातर मे कोशल के बड़े राज्य में विलीन हो गया किन्तु काशी अथवा वाराणसी नगर भारतीय इतिहास मे, पवित्र नगरी तथा प्रमुख विद्या-केन्द्र के रूप मे सदा ही फलता-फूलता रहा। गौतम बुद्ध के समय वाराणसी धर्म, संस्कृति और ज्ञान का इतना मवत्वपूर्ण केन्द्र था कि बुद्ध ने अपना प्रसिद्ध प्रथम धर्मोपदेश धर्मचक्र-प्रवर्तन यहाँ ही किया था। जैन भी इसे विद्या का महत्वपूर्ण केन्द्र मानते हैं और यह दावा करते है कि उनके धर्मप्रवर्तक स्वामी पार्श्वनाथ वाराणसी के ही एक राजकुमार थे। मध्यकाल के प्रारम्भ मे वाराणसी कन्नौज के गहड़वाल राजाओ की अधीनता मे था।

तीर्थ-केन्द्र के रूप में वाराणसी का मुख्य आकर्षण विश्वनाथ (शिव) मन्दिर है। यह ज्ञात नही है कि सर्वप्रथम इस देव मन्दिर की स्थापना किसने की और मूल मन्दिर कैसा था। सम्भवत: प्राचीन देवस्थान विश्वेश्वर मन्दिर के पिछवाड़े था। बाद मे स्थापित मुख्य मन्दिर को १६६९ ई० मे औरंगजेब ने ढहा दिया और उसके स्थान पर नष्ट हुए मन्दिर के मलवे से एक मस्जिद बनवायी। आधुनिक मन्दिर का निर्माण अहल्याबाई होलकर के प्रयास से बाद मे हुआ। वाराणसी न केवल विद्या-केन्द्र है वरन् औद्योगिक केन्द्र भी है। इसके सूती वस्त्र अपनी उत्कृष्टता के लिए

कौटिल्य अर्थशास्त्र के काल मे भी प्रसिद्ध थे। वाराणसी आज भी रेशमी, जरी, धातु के काम तथा सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। (विस्तृत विवरण के लिये काशी देखिये।)

(८४) वैशाली—वैशाली के समीकरण के विषय मे मतभेद है। होये महोदय ने इसे छपरा के 'चेरन्द' नामक स्थान से समीकृत किया है। कनिंघम महोदय का विश्वास है कि वैशाली का नगर विहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में आधुनिक बसाढ में स्थित था। समस्त साक्ष्यों के निरूपण द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि वैशाली का बसाढ़ के साथ समीकरण ही अधिक तर्क संगत है। वैशाली प्राचीन काल मे भारत का बड़ा ही वैभवशाली और प्रसिद्ध नगर था। रामायण के अनुसार अलम्बुषा नामक अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न, इक्ष्वाकु नामक नरेश के पुत्र विशाल ने विशाला (वैशाली) की स्थापना की थी। बालकाण्ड रामायण मे उल्लेख है कि भगवान राम ने मिथिला जाते समय गंगा के उत्तरी तट पर खडे हो कर दूर से वैशाली नगर को देखा था। छठी शताब्दी ई० पू० मे स्थित गणराज्यो मे वैशाली प्रमुख गणराज्य था। यह लिच्छवियों की राजधानी था। ललितविस्तार मे वैशाली को महानगर कहा गया है। महात्मा बुद्ध को इस नगर से विशेष लगाव था। इस नगर की निवासिनी आम्रपाली (जो वैशाली की नगर वधु थी) ने महात्मा बुद्ध से प्रवज्या ली थी। मगध नरेश अजातशत्रु ने वैशाली गणराज्य मे भेद नीति का प्रयोग करके, उसकी सत्ता का हनन किया और उसे मगध राज्य मे सम्मिलित कर लिया। यहाँ के नागरिक सुसभ्य, सुशिक्षित, सुसस्कृत, तथा शिष्टाचारी थे। वैशाली पर नन्दों, मौर्यो तथा शुंगवंशी शासको का भी आधिपत्य रहा। गुप्त काल मे वैशाली तीरमुक्ति (विहार प्रान्त) की राजधानी था। फाह्यान ने वैशाली के तीन स्तूपो तथा आम्रपाली द्वारा बनवाये गये विहार का उल्लेख किया है। सातवी शती मे युवान-च्वांग भी वैशाली आया था। उसने इस नगर की बड़ी प्रशंसा की है। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने इसी नगर मे जन्म लिया था।

(८५) वृन्दावन—भगवान कृष्ण की लीलाओ की रंगभूमि वृन्दावन मथुरा के उत्तर मे ९ किलो मीटर दूर पर स्थित है। यहाँ पर वृन्दा (जो राधा के सोलह नामों में से एक है) ने तप किया और अपना भौतिक शरीर त्यागा था। यहाँ की देवी राधा है। केशी राक्षस वृन्दावन मे ही मारा गया था। हरिवंश मे वृन्दावन का वर्णन यमुना तट पर स्थित एक रमणीक वन के रूप में किया गया है।

(८६) श्रावस्ती—कोसल जनपद के प्रमुख नगर श्रावस्ती का आधुनिक समानार्थक सहेठ-महेठ है। यह उत्तर प्रदेश मे गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित है। बुद्ध घोष के अनुसार सवत्थ नामक ऋषि का आवास स्थान होने के कारण इसे सावत्थी कहा जाता था। विष्णु पुराण के अनुसार इस नगर का निर्माण राजा स्रावस्त या श्रावस्तक द्वारा कराया गया था।

(८७) साँची—साँची मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से ३२ किलोमीटर दूर पूर्वोत्तर मे स्थित है। इसका प्राचीन नाम काकनाद था। यह बौद्ध धर्म का केन्द्र था। आज भी यह प्राचीन बौद्ध स्तूपो के लिये प्रसिद्ध है।

(८८) साकेत—टालमी ने इसे सागेद कहा है। पाणिनि ने दृष्टान्त देते हुए कहा है, यह मार्ग साकेत को जाता है, तथा 'यवन ने साकेत पर घेरा डाल दिया।' फाह्यान ने इसे 'शा-ची' तथा युवान च्वांग ने 'विसाख' कहा है। अभिधानचिंतामणि मे साकेत, कोसल तथा अयोध्या को एक माना गया है। रिजडेविड्स महोदय इसे अयोध्या से भिन्न मानते हैं। साकेत उत्तर कोशल की

राजधानी होने के साथ ही साथ कोशल जनपद का महत्वपूर्ण नगर था। जातको मे भी साकेत को महत्वपूर्ण नगर कहा गया है। विनयपिटक के अनुसार साकेत से श्रावस्ती जाने वाले मार्ग पर दस्यु रहते थे।

(८९) **सारनाथ**—यह वाराणसी से लगभग ११ किलोमीटर दूर स्थित है। इसका प्राचीन नाम इसिपतनमिगदाय (ऋपिपत्तन मृगदाव) है। यहाँ पर महात्मा बुद्ध ने 'धर्म चक्र प्रवर्तन' किया था। अशोक ने इसी स्थान पर स्मारक स्वरूप भव्य प्रस्तर स्तम्भ की स्थापना की थी। इसका शीर्ष सिंह भारत का राज चिन्ह है। युवान-च्वांग ने यहाँ पर १५०० वौद्ध भिक्षुओ को हीनयान सम्प्रदाय के मत का अध्ययन करते हुये पाया था। सारनाथ मे अनेक वौद्ध विहारों तथा स्तूपो के ध्वंसावशेप हैं।

(९०) **शाकल**—इस नगर को आधुनिक स्यालकोट से समीकृत किया जाता है। वौद्ध ग्रथों मे शाकल को 'सागल' तथा यूनानी लेखो मे 'संगल' कहा गया है। एरियन, कर्टियस तथा डिओ-डोरस के अनुसार यहाँ पर कठ जाति ने सिकन्दर के आक्रमण का सामना किया था। मिलिन्दपन्हो मे इसे 'योनकानं नगरम्' कहा गया है। यहाँ पर यवन नरेश मिनेण्डर (मिलिन्द) की राजधानी थी। 'मिलिन्दपन्हो' के उल्लेखानुसार इस नगर मे विस्तृत तथा सुन्दर राज-मार्ग, चौराहे, जल निकास के लिये नालियाँ तथा सहस्रो पक्तिवद्ध उत्तुगं प्रासाद आदि थे। युवान-च्वाग के आगमन के समय यह नगर ध्वस्त हो चुका था। फिर भी वहाँ पर एक मठ था जिसमे हीनयान मतानुयायी रहते थे।

(९१) **हस्तिनापुर**—यह उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले मे गंगा तट पर स्थित था। इसे मेरठ जिले की तहसील मवाना के मेराट नामक प्राचीन ग्राम से भी समीकृत किया जाता है। पणिनि ने इसे 'हास्तिनापुर' कहा है। महाभारत के अनुसार हस्तिन नामक व्यक्ति ने इस नगर की नीव डाली थी। यह कौरवो की राजधानी थी। वाद मे अर्जुन का प्रपौत्र परीक्षित हस्तिनापुर का शासक हुआ। भागवतपुराण मे इस नगर का नाम 'गजाह्वय' है। प्रथम तीर्थंकर ऋपभदेव को हस्तिना-पुर निवासी कहा गया है। महाभारत के अनुसार यह वहुत ही सुरक्षित नगर था तथा इसके गोपुर वहुत ऊँचे थे। ललितविस्तर मे इसे महानगर कहा गया है। पुराणो के अनुसार अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के शासनकाल मे यह गगा की वाढ़ से नष्ट हो गया और तव निचक्षु ने कौशाम्वी को राजधानी वनाया। हस्तिनापुर से उत्खनन द्वारा पर्याप्त सामग्री मिली है जो इस तथ्य की पुष्टि करती है कि कौशाम्वी और हस्तिनापुर में काफी साम्य था।

अध्याय अट्ठाइस

दक्षिण भारत की संस्कृति

यद्यपि भारत देश का स्मरण करते समय हमारे मन मस्तिष्क मे सम्पूर्ण उत्तरी तथा दक्षिणी एवं पूर्वी तथा पश्चिमी भारत का चित्र उभरता है तथापि इस देश की भौगोलिक रचना ने प्राचीन काल में उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से इतना पृथक किया हुआ था कि इन दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक गतिविधियां, लगभग अलग-थलग रही। बहुत समय तक दक्षिणी भारत का सांस्कृतिक विकास स्वतन्त्र रूप से होता रहा तथा उसका उत्तरी भारत से बहुत ही कम सम्पर्क रहा। राजनैतिक दृष्टि से दक्षिणी भारत के भी दो भाग बने रहे—दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण। कृष्णानदी के उत्तर के प्रदेश को दक्षिणापथ कहा जाता है। इस प्रदेश में चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों ने शक्तिशाली राज्यो की स्थापना की। सुदूर दक्षिण मे पाण्ड्य, चेर, पल्लव आदि अपनी पृथक तथा स्वतन्त्र सत्ता बनाये रहे। प्राचीन काल में सुदूर दक्षिण का उत्तरी भारत से तो बहुत ही कम सम्बन्ध रहा। दक्षिणी भारत में द्रविड़ जाति बहुसंख्यक रही है तथा इनकी प्रमुख भाषायें तेलगू, तामिल, कन्नड़ तथा मलयालम हैं। इन भाषाओं का प्रयोग करने वालो को द्रविड़ जाति का माना जाता है। द्रविड जाति में तामिल भाषाभाषी बहुसंख्यक रहे हैं तथा उन्होंने जिस संस्कृति का विकास किया उसे तामिल संस्कृति की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। यद्यपि द्रविड़ संस्कृति का इतिहास बहुत प्राचीन है तथापि वह तामिल साहित्य, जो हमे प्राप्त हो सका है, मौर्य युग के लगभग का है। तामिल साहित्य का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ, तिरुवल्लुवर रचित 'कुरल' है। लगभग दो सौ ई० पू० मे रचित इस ग्रन्थ का महत्व कौटिल्य के अर्थशास्त्र से कम नही है। तामिल साहित्य के अन्य ग्रन्थो में 'पत्युपात्तु', 'एत्तुथोकई' तथा 'पडिनेन्किल्कनक्कू' विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल में अनेक तामिल महाकाव्यो की भी रचना हुई थी। इनमें 'शिलपाधिकारम,' 'नणिमेखलाई,' 'जीवकचिन्तामणि,' 'वलयपति' तथा 'कुण्डल केशी' प्रमुख हैं। उपरोक्त तामिल साहित्य तथा पुरातात्विक सामग्री आदि द्वारा तामिल संस्कृति के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। इस सामग्री के आधार पर तामिल संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है।

सामाजिक जीवन

तामिल प्रदेश के निवासियो को उत्तरी भारत की वर्ण व्यवस्था का परिचय बाद से प्राप्त

हुआ। इसके पूर्व का तामिल सामाजिक संगठन का आधार कार्य कुशलता तथा कर्म था। कृषक, आखेटक, उद्यम करने वालो के अतिरिक्त मछुवारों का वर्ग प्रमुख था। सागरतटीय प्रदेश होने के कारण मछुआरो की संख्या पर्याप्त थी परन्तु उन्हें समाज मे निम्नतम स्थान प्राप्त था। कृषक काफी सम्माननीय थे तथा वे धर्म कर्म भी करते थे। आखेटक आखेट करने के साथ-साथ सैनिक कार्य भी करते थे। उत्तरी भारतीय वर्ण व्यवस्था से परिचित होने के उपरान्त, तामिल प्रदेश में भी वर्ण व्यवस्था को मान्यता प्राप्त हो गई तथा यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के समानान्तर वर्ण वन गये। उत्तरी भारत की भाँति यहाँ पर ब्राह्मण वर्ण ने सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लिया। तामिल प्रदेश में क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण का अभाव सा बना रहा। तामिल निवासियों का मुख्य आहार चावल था। वे मांस का भी प्रयोग करते थे। यहाँ पर मदिरा पान भी प्रचलित था। समृद्ध तथा विलासी व्यक्ति रोम और यूनान से आयातित मदिरा पीते थे। तामिल प्रदेश मे अधिक शीत नही पड़ता था अतः यहाँ के सामान्य लोग सूती वस्त्रों का तथा धनी वर्ग के व्यक्ति बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों को धारण करते थे। धोती तथा पगड़ी प्रमुख वस्त्र प्रकार थे। स्त्रियो के सबसे प्रिय आभूषण नाक की लौंग, चूड़ियाँ, हार तथा भुजबन्ध थे। पुरुष प्रायः गले मे हार धारण करते थे। तामिल स्त्रियों को विवाह में स्वेच्छा प्राप्त थी। स्त्रियो को समाज मे पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। यहाँ पर मातृसत्तात्मक परिवार प्रणाली भी प्रचलित थी। निकट रक्त सम्बन्धी से भी विवाह की अनुमति थी। बहु विवाह की प्रथा थी।

आर्थिक दशा

खेती, पशुपालन तथा मत्स्यपालन प्रमुख व्यवसाय थे। बहुसंख्यक लोग ग्रामनिवासी थे। वस्त्र व्यवसाय की अवस्था बड़ी उन्नत थी। मलमल के बने वस्त्र विदेशो तक मे प्रख्यात थे। मदुरा से बहुसंख्यक रोमन सिक्को की प्राप्ति से यह संकेत मिलता है कि यहाँ से भारी मात्रा में व्यापारिक सामग्री निर्यात की जाती थी। व्यापार के लिये स्थल मार्गों का प्रयोग तो होता ही था, साथ ही सामुद्रिक मार्ग के लिये भी विशेष प्रबन्ध था। व्यापारी बड़े-बड़े जल पोतो मे सामग्री भर कर विदेश ले जाते थे। दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीपो तथा राज्यों पर भारत का व्यापारिक प्रभुत्व था। इस प्रकार के व्यापार ने भारतीय संस्कृति के विस्तार मे भी बडा योग दिया। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक तथा वाह्य व्यापार काफी उन्नतावस्था में था। अनेक व्यवसाय प्रचलित थे तथा कुशल कारीगर समाज की आवश्यकता पूर्ति के साथ-साथ आर्थिक समृद्धता भी प्राप्त कर रहे थे।

धार्मिक जीवन

यद्यपि तामिल प्रदेश में वैदिक धर्म का बड़ा प्रसार था तथापि इतिहासकारों का मत है कि वैदिक धर्म के तामिल प्रदेश मे आगमन से पूर्व यहाँ पर बहुदेववाद का विशेष प्रचलन था। इस काल की धार्मिक मान्यताएँ लगभग सिन्धुघाटी के धार्मिक विश्वासों के समान थी। प्राचीन तामिल जन शिवोपासना मे अधिक विश्वास रखते थे। जब वैदिक धर्म का प्रसार हुआ तो भी तामिल प्रदेश में शिवोपासना का प्राबल्य रहा। विद्वानों का अभिमत है कि आर्यों में शिवोपासना का प्रचलन तामिल प्रभाव के कारण हुआ। इसी प्रकार कार्तिकेय तथा गणेश पूजा को आर्यों ने

तामिलों से ही ग्रहण किया था। तामिल धार्मिक क्षेत्र सहिष्णु थे तथा उनके धार्मिक विश्वासों, पद्धतियो तथा मान्यताओ का स्वरूप वैदिक धर्म के समान जटिल या कर्मकाण्डी नही था। तामिल प्रदेश में वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रसार हुआ। जैन आचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण भारत में जैन धर्म का बड़ा प्रचार किया। अशोक ने यहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। कांजीवरम बौद्ध धर्म का प्रबल केन्द्र था। ह्वेनसांग के अनुसार यहाँ पर एक सौ बौद्ध मठ तथा ६०,००० बौद्ध भिक्षु थे। भारतीय इतिहास का मध्यकाल आने तक तामिल प्रदेश में हिन्दू धर्म को प्रमुख स्थान प्राप्त था। जैन धर्म के भी पर्याप्त अनुयायी थे परन्तु बौद्ध धर्म का कोई विशेष प्रसार नही था।

साहित्य

प्राचीन तामिल साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ तिरुवल्लुवर रचित 'कुरल' है। १२३ परिच्छेद वाले इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। इस ग्रन्थ का अनुवाद अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषाओ मे किया गया है। तामिल साहित्य का विकास 'संगम' नाम से प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों मे हुआ। तामिल अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन समय मे तीन संगम थे। इनमें से प्रथम दो के विषय मे कोई जानकारी प्राप्त नही हुई है। तीसरा संगम मदुरा में था। इसका काल ५०० ई० पू० से ५०० ई० माना जाता है। 'संगम' को पाण्ड्य नरेशों का संरक्षण प्राप्त था। 'संगम' द्वारा मान्यता प्राप्त रचना को ही साहित्यिक स्थान प्राप्त होता था। 'संगम' साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ पत्युपात्तु, एत्तुगोकई, पडिनेन्किस्कनक्कु, मणिमेखलाई, जीवक चिन्तामणि, वलयपति तथा कुण्हेलकेशी आदि हैं।

कला

संगम साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि तामिल प्रदेश में वास्तुकला का विकास बहुत पहले हो चुका था। बड़े नगरों मे कई मंजिलो के घर होते थे। नगरों के चारों ओर बनी ऊँची दीवारो में नगर प्रवेश के लिये द्वारो का निर्माण किया जाता था। इन्हे 'गोपुरम' कहते थे। मदुरा नगर का 'गोपुरम' इतना चौड़ा था कि उसमे तीन हाथी एक साथ प्रवेश कर सकते थे। वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रसार होने पर यहाँ पर अनेक स्तूपों, चैत्यो, गुफाओं तथा विहारो का निर्माण हुआ। चैत्य तथा विहारो की ईटो द्वारा तथा पहाड़ काट कर भी बनाया जाता था। तामिल साहित्य से विदित होता है कि प्रारम्भ मे यहाँ पर लकड़ी, मिट्टी, चूने तथा हाथी दाँत की मूर्तियाँ बनाई जाती थी। मूर्तिकला के ये उदाहरण मन्दिरों में प्राप्त हुये है। देवी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने में उनके रूप, वेशभूषा तथा मुद्रा अंकन करने के लिये नियम नियत थे। पाषाण मूर्तियाँ पहाड़ काट कर भी बनाई जाती थी। अनेक मूर्तियों मे मथुरा, कुषाण तथा गुप्त शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। तामिल मूर्तिकार की कला में अंगविन्यास, छवि चित्रण की सूक्ष्मता तथा चित्र सामंजस्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। डा० कुमारस्वामी के अनुसार यहाँ की मूर्तिकला 'भारत की सूक्ष्मतम तथा सरसतम कला थी। यद्यपि संगम साहित्य में चित्रकला के अनेक प्रसंग हैं तथापि दुर्भाग्यवश हमे इसका कोई उदाहरण प्राप्त नहीं हो सका है। फिर भी अजन्ता की गुफा संख्या नौ और दस में इस काल की चित्रकला के कतिपय चित्र उपलब्ध हुये हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तामिल चित्रकार ने अपनी चित्रकला मे कल्पना

आदर्श तथा स्वाभाविकता आदि गुणों का समन्वय किया हुआ था। दक्षिण में 'पल्लव-चोल कला' नामक नवीन शैली का भी जन्म हुआ। इस शैली के प्रयोग द्वारा जिन मन्दिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण हुआ, उनको आज भी कलाविदों की प्रशंसा प्राप्त है।

तामिल तथा आर्य संस्कृतियों का सम्बन्ध

एक लम्बे समय तक, भौगोलिक परिस्थितियो के कारणवश पृथक रहने के पश्चात जब तामिल और आर्य संस्कृतियो ने एक दूसरे को गले लगाया, तो भारतीय संस्कृति को अनेक नवीन उपलब्धियो की प्राप्ति हुई। अनेक जनश्रुतियो से विदित होता है कि दक्षिण प्रदेश में आर्य संस्कृति की निधि को लेकर अगस्त्य ऋषि आये थे। अगस्त्य ऋषि का समय उत्तर वैदिक युग के लगभग माना जाता है। 'रामायण' महाकाव्य से विदित होता है कि भगवान राम इस प्रदेश में आये थे। अगस्त्य ऋषि तथा अन्य अनेक वैदिक ऋषि मुनियों के प्रयत्नो के फलस्वरूप लगभग ४०० वर्ष ई० पू० मे आर्य संस्कृति ने तामिल प्रदेश मे भली-भाँति प्रवेश कर लिया था। इस समय तक बौद्ध तथा जैन धर्म भी यहाँ पर अपना विस्तार कर रहे थे। प्राचीन समय में कांची को ब्राह्मणो का नगर कहा जाता था। साहित्य के 'सगम' क्षेत्र मदुरा मे ब्राह्मण, जैनियो तथा बौद्धो का प्रभाव होने के कई प्रमाण मिलते हैं। पल्लवकाल के आगमन तक तो कांची मे संस्कृत विश्वविद्यालय की भी स्थापना हो चुकी थी। इस समस्त प्रमाणो के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तामिल प्रदेश में आर्य संस्कृति ने काफी विस्तार कर लिया था।

प्रारम्भ में आर्य संस्कृति ने तामिल प्रदेश मे शस्त्र बल के आधार पर प्रवेश नही किया था। परन्तु बाद मे मौर्यों तथा गुप्तो ने अपनी राजनैतिक महत्वाकांक्षा के परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र की ओर सैनिक प्रयाण किया था। यद्यपि मौर्य अधिक समय तक इस क्षेत्र में अपना प्रभाव नही रख पाये तथापि उनका राजनैतिक प्रभाव अवश्य ही बना रहा। आर्यों का तामिल प्रदेश से सम्बन्ध स्थापित होने पर यहाँ संस्कृत भाषा ने गहरा प्रभाव जमाया। यद्यपि तामिल वर्णमाला संस्कृत के समान नही है तथापि उसके उच्चारण मे संस्कृत का प्रभाव आज भी अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार आर्यों ने तामिल भाषा पर विशेष प्रभाव डाला। जहाँ तक धार्मिक प्रभाव का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि इस क्षेत्र में आर्यों ने तामिल प्रभाव को शिवोपासना के रूप ग्रहण किया परन्तु स्वयं अपने धार्मिक विचारों द्वारा प्राचीन तामिल धार्मिक विश्वासों को ऊपर से नीचे तक अपने प्रभाव मे ले लिया। जबकि यह सत्य नही है तब भी प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि तामिल धर्म शुरू से वैदिक धर्म के समान रहा हो। अतः हम कह सकते हैं कि आर्य-तामिल संस्कृति के सम्मिलन द्वारा तामिलो पर आर्य धार्मिक विश्वासों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। धर्म के समान ही तामिल सामाजिक जीवन को भी आर्यों ने बहुत प्रभावित किया। इसका उदाहरण वहाँ पर वर्ण व्यवस्था का प्रचलन होना है। धर्म और समाज की मान्यताओं के प्रभावान्तर्गत आ जाने के कारण शिक्षा, साहित्य और कला के सम्बन्धो मे भी काफी निकटता आ गई। परन्तु इन सांस्कृतिक प्रसंगो मे आर्य तथा तामिलो ने एक दूसरे को सन्तुलित रूप से प्रभावित किया।

आर्य तथा तामिल संस्कृतियो के सम्मिलन मे समन्वयकारी प्रवृत्ति तथा सहिष्णुता के भाव बने रहे। मूल रूप से इन दोनो सांस्कृतिक धाराओ ने प्रेमवश आलिंगन किया। इस प्रसंग में इस बात को कोई विशेष महत्व नही दिया जाना चाहिये कि किसने किसको अधिक दिया या लिया।

भारतीय संस्कृति को योगदान

अनेक भौगोलिक बाधाओ के कारण प्राचीन दक्षिण भारत का इतिहास उत्तरी भारत के प्राचीन इतिहास से प्रायः अलग-थलग रहा है परन्तु सांस्कृतिक रूप से समस्त भारत एक ही सूत्र में बंधा रहा। यह बात अलग है कि स्थानीय परम्परावों तथा जीवन यापन के तरीकों में अन्तर होने के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के लोग कुछ अलग-अलग से प्रतीत होते रहे हो, परन्तु इन दोनों का सांस्कृतिक प्रेम बड़ा ही प्रगाढ़ रहा है। वैसे तो हमें भारत को उत्तर या दक्षिण और पूरब या पश्चिम के रूप मे नही देखना चाहिये। ऐसा करने से सम्पूर्ण भारत के प्रति दृष्टि-कोण मे कुछ विभेद सा उत्पन्न होने की आशंका रहेगी परन्तु फिर भी भारत के सांस्कृतिक रूप की विशिष्टताओं का सूक्ष्मतम अध्ययन करने के लिये दक्षिण तथा उत्तर भारत को दो विभिन्न धारा मान कर ही उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों का पता लगाया जा सकता है। भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की क्या देन है इसकी चर्चा निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :—

(१) विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

पूर्वी द्वीप समूह तथा एशिया के अन्य भागो में भारतीय संस्कृति के प्रसार का प्रमुख श्रेय दक्षिण भारतीय संस्कृति को प्राप्त है। बंगाल की खाड़ी के निकट स्थित दक्षिण पूर्वी द्वीप समूहों में सभ्यता का आगमन काफी बाद मे हुआ। इस क्षेत्र मे चीन तथा भारत ने व्यापक रूप से प्रभाव बढ़ाया। चीन ने अपना प्रभाव बढ़ाने मे राजनैतिक शक्ति का प्रयोग किया परन्तु भारत ने अपनी संस्कृति के आधार पर प्रभाव स्थापित किया। दक्षिण भारत के व्यापारी काफी समय से इन क्षेत्रों में आया जाया करते थे। चोल नरेशों ने इस क्षेत्र मे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव बढ़ाया। राजेन्द्र चोल ने तो अपनी सेना के साथ इस क्षेत्र की पूरी परिक्रमा भी की। परन्तु वास्तविक रूप में दक्षिण भारत के नरेशों ने यहाँ पर अपना सास्कृतिक प्रसार ही किया। कम्भोज में पल्लव लिपि का बड़ा प्रसार हुआ। चम्पा के मन्दिरो तथा अन्य भवनों पर पल्लव कला का बड़ा प्रभाव पड़ा। जावा, सुमात्रा और मलाया द्वीप समूहो के शैलेन्द्रवंशी नरेशों ने दक्षिण भारत के साथ अति निकट सम्बन्ध स्थापित किये। सुमात्रा के अनेक नरेशो के नामों से दक्षिण भारतीय नरेशों के नाम मिलते-जुलते हैं। यही नही, धर्म, साहित्य, कला तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी इस क्षेत्र के लोगों ने भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वो को यथावत ग्रहण किया। इस प्रकार हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि दक्षिण भारत ने भारतीय संस्कृति का विस्तार करने में अपूर्व योग दिया।

(२) धार्मिक क्षेत्र मे योगदान

भक्ति सम्प्रदाय—भागवत पुराण के अनुसार 'भक्ति' का प्रादुर्भाव दक्षिणी भारत में था। दक्षिणी भारत में विष्णु की भक्ति करने वालों मे आलवार सन्त प्रमुख थे। आलवार सन्तों के गीतों को आज भी वेदो के समान आदर प्राप्त है। शैव धर्म के भक्तो में नायन्मार सन्त प्रमुख थे। शैव और वैष्णव धर्म के इन सन्तों ने भक्तिवाद को बड़ा प्रोत्साहन दिया। भक्ति सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य को आगम कहा जाता है। दक्षिण भारत मे भक्तिवाद का इतना अधिक प्रसार हुआ कि जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव घटने लगा। भक्तिवाद की मान्यता के अनुरूप दक्षिण भारत में अनेक विशाल तथा भव्य मन्दिरो का भी निर्माण हुआ। अनेक विद्वानो का मत है कि

दक्षिणी भारत की भक्तिवादी मान्यता को उत्तरी भारत में बडा आदर मिला तथा यहाँ पर भक्तिवाद का प्रचलन हो गया।

शैव-धर्म—तामिल साहित्य तथा मदुरा के 'संगम' स्वीकृत साहित्य से पता चलता है कि दक्षिण भारत शैव धर्म का बड़ा ही सक्रिय केन्द्र था। केवल साहित्य ही नहीं अपितु पुरातत्व विषयक अवशेष भी यह प्रमाणित करते है कि भगवान शिव दक्षिण भारत के मन, मस्तिष्क हृदय और कल्पना में निवास करते थे। पल्लव और चोल राजाओं ने शैव धर्म को वहुत प्रोत्साहन दिया था। शैव सन्तों को 'नायन्मार' कहा जाता था। पशुपति, कापालिक और लिंगायत शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय थे। इस सन्दर्भ मे दक्षिण भारत के शैव धर्म का उत्तरी भारत पर प्रभाव साफ दृष्टिगोचर होता है।

वैष्णव धर्म—गुप्तकालीन उत्तर भारत मे वैष्णव धर्म का अति व्यापक प्रसार था। ठीक इसी समय मे दक्षिण भारत मे वैष्णव धर्म को बडी मान्यता प्राप्त हुई। वैष्णव धर्म के प्रसार मे दक्षिणी भारत के आलवार सन्तो ने वडा योग दिया। ये सन्त वैष्णव धर्म के भक्ति सम्प्रदाय के रूप को अधिक मानते थे। इस प्रकार वैष्णव धर्म द्वारा उत्तरी तथा दक्षिणी भारत की संस्कृति ने एक दूसरे से मुक्त रूप मे प्रेम किया।

जैन-धर्म—जैन-धर्म का जन्म यद्यपि उत्तरी भारत को ही माना जायेगा तथापि इस धर्म ने भौगोलिक सीमाओ को लाँघ कर दक्षिणी भारत के सुदूर प्रदेशो में प्रवेश किया। जैन धर्म के अनेक प्रमुख ग्रन्थ कन्नड़ भाषा मे भी रचे गये थे। गंग, कदम्ब तथा चालुक्यो के समय मे दक्षिणी भारत में जैन धर्म ने काफी प्रसार कर लिया था। सुदूर दक्षिण मे जैन संघ को 'मूल सघ' कहा जाता था। प्राय. ऐसा भी समय आता रहा जबकि जैन धर्म उत्तरी भारत से अधिक दक्षिण भारत मे लोकप्रिय रहा। दक्षिण भारत तथा उत्तरी भारत की संस्कृतियों के संगम मे जैन धर्म ने वड़ा ही योग दिया।

(३) दर्शन के क्षेत्र में योगदान

भक्तिवाद के अतिशय प्रसार को काफी विरोध का भी सामना करना पड़ा। वैदिक कर्म-काण्ड के प्रबल समर्थक कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की तथा अपने दार्शनिक सिद्धान्तो द्वारा भक्तिवाद का विरोध ही नही किया बल्कि अनेक नवीन दार्शनिक प्रणालियो को भी जन्म दिया। दर्शन क्षेत्र में दक्षिण भारत की महान उपलब्धि शंकराचार्य का अद्वैतवादी दर्शन है। कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों ने वैचारिक हलचल मचा दी तथा इसके परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में यमुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक हुए। इसी प्रकार षड्दर्शनों की जो दार्शनिक परम्परा आज भी प्रचलित है उसके अनेक प्रतिपादक तथा मीमांसक दक्षिणी भारत मे ही उत्पन्न हुए।

(४) साहित्यिक योगदान

साहित्यिक क्षेत्र में दक्षिण भारत ने भारतीय संस्कृति को पर्याप्त रूप से धनी बनाया है। दक्षिणी भारत मे चोल काल को साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस समय मे कवि कम्बन ने 'रामावतारम्', पुगलेन्दि ने 'नलवेम्ब' जयन्गोन्दार ने 'कलिंगत्तुपर्णि', सेक्किलर ने 'परिया-पुराणम' आदि साहित्यिक ग्रन्थो की रचना की। पल्लव काल में काँची विश्वविद्यालय साहित्य

व शिक्षा का प्रख्यात केन्द्र था। 'न्याय भाष्य' का लेखक वात्स्यायन तथा सम्भवतः दिगनाथ काँची विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे। स्वयं पल्लव नरेशो को साहित्य तथा विद्या से बड़ा लगाव था। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम ने हास्यरस के ग्रन्थ 'मत्तविलास प्रहसन' की रचना की। दन्डिन नामक प्रसिद्ध विद्वान तथा साहित्यकार पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन की सभा में रहता था। एक धारणा के अनुसार 'किरातार्जुनीयम' के रचयिता भारवि को सिंह विष्णु का राज्याश्रय प्राप्त था। पल्लव-कालीन अनेक अभिलेखों में भी साहित्यिकता का पुट है। तामिल साहित्य तो विशेष रूप से धनी था। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष उच्चकोटि का विद्वान था। उसे कन्नड भाषा के सर्वप्रथम काव्यशास्त्र 'कविराज मार्ग' की रचना का श्रेय प्राप्त है। इसी समय मे जिनसेन ने 'हरिवंश' तथा 'पार्श्वाभ्युदय,' शकटायन ने 'अमोघवृत्ति,' हलायुध ने 'कविरहस्य,' पम्पा ने 'आदि पुराण' तथा 'विक्रमार्जुन विजय' एवं पोन्ना ने 'शान्ति पुराण' की रचना की। राष्ट्रकूटो के समय में कन्नड़ तथा संस्कृत भाषा की समान प्रगति हुई।

दक्षिण भारत की उपरोक्त साहित्यिक निधियों तथा उपलब्धियो ने दक्षिणी भारत के साहित्य को प्रभावशाली बना दिया तथा इसने अनेक अप्रत्यक्ष रूपों मे सम्पूर्ण भारत की अन्य साहित्यिक गतिविधियो को प्रोत्साहन दिया। इतने प्राचीन काल में 'संगम' जैसी साहित्यिक सस्था का होना दक्षिण भारतीयों की साहित्यिक परिष्कृति का परिचायक है।

कला-क्षेत्र में योगदान

दक्षिणी भारत विभिन्न कलाओ का बड़ा ही सक्रिय केन्द्र था। इसका पहला प्रमुख कारण शायद यह भी था कि यहाँ पर विदेशी आक्रमणो का क्रम लगभग नगण्य रहा। दूसरे, यहाँ के सभी राजवंश कला प्रेमी भी प्रतीत होते है। इन दोनो प्रकरणो से प्रोत्साहन तथा सरक्षण प्राप्त करके, दक्षिण भारतीय कला मे रूप-माधुर्य तथा कला-वैविध्य के दर्शन होते हैं। दक्षिण भारत ने मन्दिरों के निर्माण तथा मूर्तिकला के क्षेत्र मे अभूतपूर्व उन्नति की। यहाँ पर विशाल गुहा मन्दिरों तथा विशाल एवं भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ। अपने रूप तथा अभिव्यक्ति मे दक्षिणी भारतीय कला समस्त भारत की कला में अग्रणी है। दक्षिण भारत के मन्दिर मात्र उपासना के केन्द्र ही नही थे अपितु मानव जीवन की सम्पूर्ण सस्कृति के भी केन्द्र थे। यहाँ के मन्दिरो मे सभाभवन, नाटक मंच तथा पाठशालाएँ भी हुआ करती थी। कला और जीवन का यह समन्वय दक्षिणी भारत की कला को विशिष्टता तो प्रदान करता ही है साथ ही साथ यह उत्तरी भारत की कला का प्रेरणा स्रोत भी है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

१. दक्षिण भारत की सांस्कृतिक विविधताओ का संक्षेप मे उल्लेख कीजिये।

२. धर्म, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दक्षिणी भारत के योगदान का विवेचनात्मक उल्लेख कीजिये।

३. भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत के सांस्कृतिक योगदान का महत्व स्पष्ट कीजिये।

जैन विचारको के अनुसार मनुष्यों में पहले राज्य का अभाव था। तब किसी वस्तु की कमी नहीं थी। यह युग देर तक स्थिर नही रह सका। धीरे-धीरे पदार्थों की कमी होने लगी। इससे उनमें लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद और हर्ष उत्पन्न हुये। मनुष्यों का नैतिक पतन हो जाने और धर्म का लोप हो जाने से यह आवश्यकता प्रतीत हुई, कि राज्य द्वारा मनुष्यो मे मर्यादा और नियन्त्रण की स्थापना की जाये। तब स्वयं मनुष्यो ने राज्य की रचना की। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार बौद्ध सहित्य में भी पाये जाते हैं। बौद्ध विचारकों के अनुसार पहले राज्य का अभाव था। जब लोगों मे लोभ और मोह उत्पन्न होने के कारण धर्म नष्ट हो गया, तो उन्हे राज्य के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिये वे एक स्थान पर एकत्र हुए और अपने मे जो सबसे अधिक योग्य, बलवान, बुद्धिमान, और सुन्दर व्यक्ति था, उसे उन्होंने राजा बनाया। सबने उसके साथ इस ढंग से समझौता किया—"अब से तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो जो दण्ड देने के योग्य हो, और उसे पुरस्कृत किया करो जो पुरस्कृत करने के योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हे अपने क्षेत्रो की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।"

इस प्रकार प्राचीन भारत मे अनुबन्ध सिद्धान्त को जिस ढंग से प्रतिपादिन किया गया है, उसमें निम्नलिखित विशेपताएँ थी :—(१) अराजक दशा मे किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नही था। (२) इस दशा से परेशान होकर लोगों ने पहले परस्पर समझौता किया, कि जो कोई मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति व स्वतन्त्रता में बाधा डालेगा, उसे बहिष्कृत कर दिया जायगा। (३) पर, सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिए उन्होने केवल बहिष्कार के साधन को अपर्याप्त समझा, और ब्रह्मा के परामर्श के अनुसार मनु को अपना राजा व शासक बनाना निर्धारित किया। (४) प्रजा ने मनु से यह समझौता किया, कि वे उसे अपनी आमदनी का निश्चित भाग के रूप में या उसकी वृत्ति के रूप मे प्रदान किया करेंगे और उसके आदेशों का पालन करेंगे। इसके बदले मे मनु उसकी रक्षा व पालन करेगा।

(२) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

ऋग्वेद मे राजा को देव माना गया है।[1] यजुर्वेद मे राजा को 'दिवः सूनु.' कहा गया है तथा साथ ही इसमे अनेक ऐसे प्रसंग है जिनके द्वारा राजा (राज्य) की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गई है।[2] मनुस्मृति के अनुसार संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर (देवताओ) से अंश लेकर किया। इसीलिए वह सबकी आंखो और मनों को सूर्य के समान अपने तेज से तप्त करता है, और पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति उसकी ओर आंख उठा कर नही देख सकता। राजा अपने प्रभाव के कारण ही स्वयं अग्नि, वायु, सूर्य, सोम (चन्द्रमा), कुबेर, वरुण और महेन्द्र होता है। यदि कोई बालक भी राजा हो, तो यह समझ कर उसका अपमान नही करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है। राजा देखने में यद्यपि एक साधारण मनुष्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसे एक महान् देवता समझना चाहिए।"

मत्स्यपुराण में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसमें लिखा है—"सब प्राणियों की रक्षा

---

१. ऋग्वेद १३।२४।१, ४।१।२। २. यजुर्वेद २१।६; २८।१०; ३०।१०; २४।१०।

के प्रयोजन से और न्यायपूर्वक दण्ड के प्रणयन के लिए देवताओ के अंश लेकर स्वयम्भू ने राजा की सृष्टि की है।"

महाभारत से भी राजा का दैवी होना सूचित होता है। शान्ति-पर्व में एक स्थान पर देवों और नरदेवों (राजाओ) को एकतुल्य कहा गया है। शान्तिपर्व के अनुसार सब देव लोग प्रजापति विष्णु की सेवा में उपस्थित हुए, और उन्होंने उनसे पूछा—मनुष्यो मे ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो उनमे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के योग्य है। इस पर विष्णु ने एक मानस पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम विरजस था। पर उसने मनुष्यो का राजा होना स्वीकार नही किया। तब उसका पुत्र कीर्तिमान् राजा बना, और फिर क्रमशः कर्दम, अनंग और अतिवल राजा बने। इस कथा के अनुसार भगवान् विष्णु द्वारा मनुष्यो के राजा को निर्धारित किया जाना प्रमाणित होता है। महाभारत के हो अनुसार "राजा भी एक मनुष्य है" समझकर उसका अपमान नही करना चाहिये, क्योकि वह मनुष्य के रूप मे वस्तुतः एक 'मद्रती देवता' होता है। समय के अनुसार उसके पाँच रूप होते हैं, अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुवेर और यम। जब वह अपने महान् तेज द्वारा पापी लोगो का दहन करता है तो वह अग्नि का रूप धारण करता है।"

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र मे राजा के दैवी होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने लिखा है कि 'राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है, कृपा और कोप उसमें प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। जो कोई उसका अपमान करता है, उसे दैवी दण्ड भी मिलता है। इस कारण राजाओ का कभी अपमान नही करना चाहिये।'

इसमें सन्देह नही, कि भारत के प्राचीन साहित्य मे राजा के दैवी होने के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया था। इस कारण भारत के प्राचीन राजा अपने को कभी इस ढंग से दैवी नही समझते रहे, जैसे कि इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट राजा समझते थे। प्राचीन भारत का दैवी सिद्धान्त इससे सर्वथा भिन्न था। भारत में सृष्टि, ज्ञान आदि सभी का उद्गम ईश्वर द्वारा माना जाता था। जहाँ एक ओर 'बालोपि नावमंतव्य"—आदि कह कर राजा के बालक होने पर भी देवत्व समझकर अपमान न करने का आदेश दिया गया, वहाँ पर यह भी कहा गया कि राजा अपने दैवी गुणो का उत्तरोत्तर विकास करता हुआ प्रजा के हित मे ही शासन करेगा। राजा निरंकुश न होकर सर्वथा दण्ड के अधीन भी था। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार, जैसा कि मनु ने भी स्पष्ट शब्दो मे कहा, यदि राजा अपनी दैवी शक्ति की आड़ मे अत्याचारी का व्यवहार करता है तो उसे भी राजसिंहासन से अलग कर देना चाहिये। भारतीय सिद्धान्त मे राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना गया है और न उसके अत्याचारो को प्रति विद्रोह को ईश्वर के प्रति विद्रोह कहा गया है। राजा और दण्ड सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई मान कर राजा को दण्ड से श्रेष्ठ नही माना गया है।[1]

(२) युद्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति

ऐतरेय ब्राह्मण मे राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ था। 'देवो और असुरों मे युद्ध हो रहा था। असुरों ने देवो को परास्त कर दिया।

---

१. 'हिन्दू ज्यूडीशियल सिस्टम' पृष्ठ २२-२३ एस० वर्दाचारियर